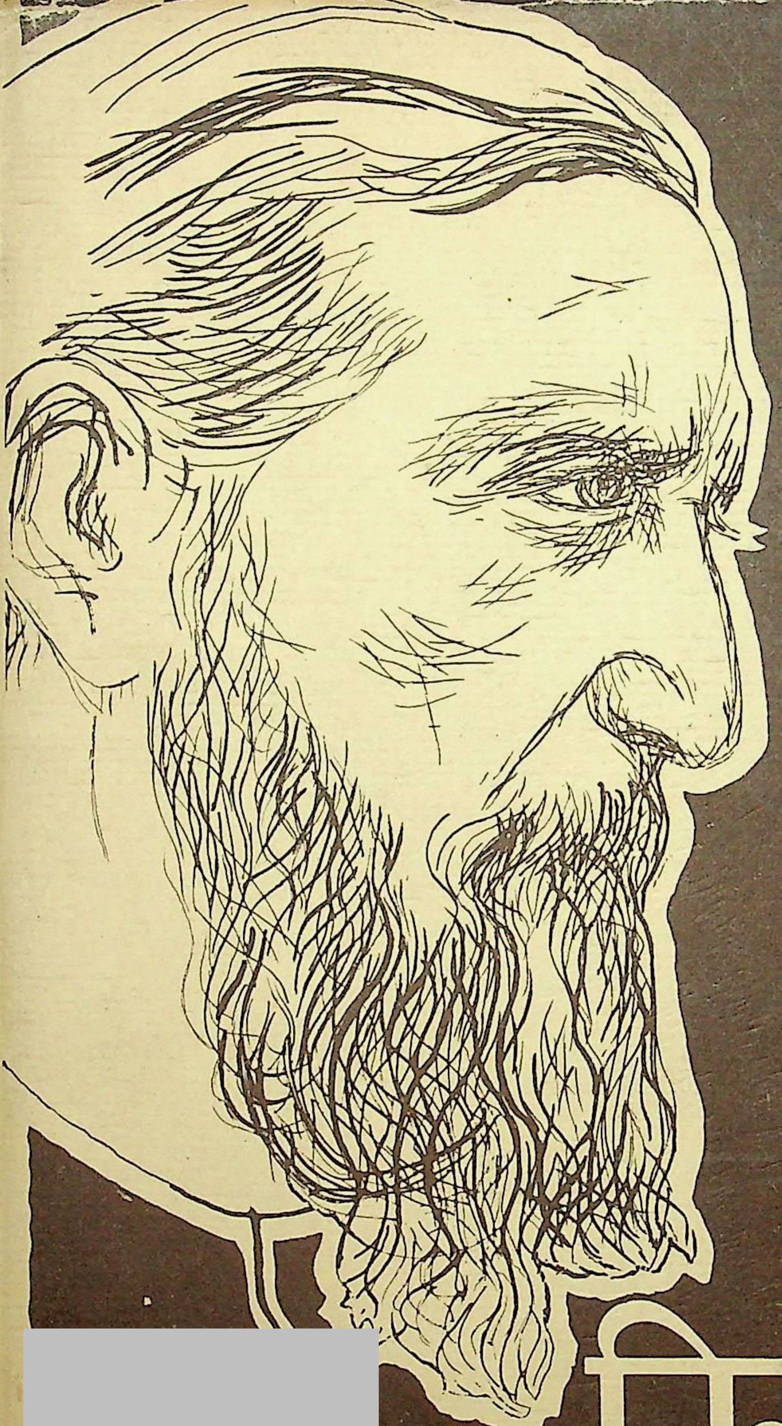

# निराला रचनावली

6

काव्य, कथा-साहित्य, आलोचनात्मक निबन्धों के अलावा **निराला** ने देश की राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं पर बहुत-कुछ लिखा है। ऐसी काफी सामग्री 'सुधा' की सम्पादकीय टिप्पणियों में बिखरी हुई है। इसका अध्ययन **निराला** के कलात्मक साहित्य के भरे-पूरे विवेचन के लिए आवश्यक है, उस युग की राजनीति के अन्तर्विरोधों को समझने के लिए आवश्यक है, सबसे अधिक आज की राजनीतिक परिस्थिति को समझने के लिए आवश्यक है। आज देश में जो कुछ हो रहा है, उसका गहरा सम्बन्ध स्वाधीनतापूर्व के भारत से है। प्रेमचन्द और **निराला** अपने युग के दो अत्यन्त जागरूक साहित्यकार थे। इनकी राजनीतिक विचारधारा का अपना – उनके साहित्य से स्वतन्त्र – महत्त्व है। उसके अध्ययन से हम उस समय के राजनीतिज्ञों, उनकी विचारधारा, उनकी कार्यवाही को नये सिरे से परखना सीखेंगे। **निराला** साम्राज्यवाद के आर्थिक रूप का विश्लेषण करते हैं, उसके राजनीतिक दाँवपेंच की छानबीन करते हैं, साम्राज्यवाद से भारतीय सामन्तों के गठबन्धन को जाँचते हैं, इस चौखटे में जाति-प्रथा, हिन्दु-मुस्लिम-एकता, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रभाषा आदि समस्याओं पर विचार करते हैं। उसी सन्दर्भ में वह साहित्य और दर्शन के क्षेत्रों में नये चिन्तन, नये विचारों के प्रसार पर बल देते हैं। दर्शन, साहित्य, राजनीति, समाज – सभी क्षेत्रों में उनके विचार परस्पर सम्बद्ध हैं। इनकी परस्पर सम्बद्धता को ध्यान में रखते हुए ही **निराला** के चिन्तनशील व्यक्तित्व की सही तस्वीर खींची जा सकती है। ...**निराला** के गद्य की गति द्रुत नहीं है; अर्थवक्रता, गूढ़ व्यंग्य, अलंकरण-सौन्दर्य के कारण वाक्य धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं, उन्हें जल्दी-जल्दी पढ़ना उनके साथ अन्याय करना है। लेकिन **निराला** का यह प्रयत्न प्रायः सर्वत्र रहता है कि लिखें थोड़ा और लोग समझें बहुत।... भाषा को बोलचाल की तरह सहज रूप देने के लिए वह वाक्य-रचना का ढंग बदल देते हैं, वाक्यांश या शब्दखण्ड रचे हुए गद्य की तरह नहीं, बोले हुए गद्य की तरह, जगह बदलते हैं।

**रामविलास शर्मा**

वस्तुतः भाषा, साहित्य, समाज, राजनीति आदि विषयों पर महाकवि की रचनात्मक चिन्ताओं को **रचनावली** का यह खण्ड अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत करता है। कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक निबन्धों के अतिरिक्त इसमें संकलित सम्पादकीय टिप्पणियाँ और पुस्तक-समीक्षाएँ भी अपने विषय-विवेचन और आन्तरिक तर्क-संगति के कारण लघु निबन्धों की तरह सार्थक हैं।

R
०८१
नि ६२ नि.६

73797

72797

# निराला रचनावली

## विविध विषय

भाषा, साहित्य, समाज, राजनीति
आदि विषयों पर लेख, सम्पादकीय
टिप्पणियाँ और पुस्तक-समीक्षाएँ

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता

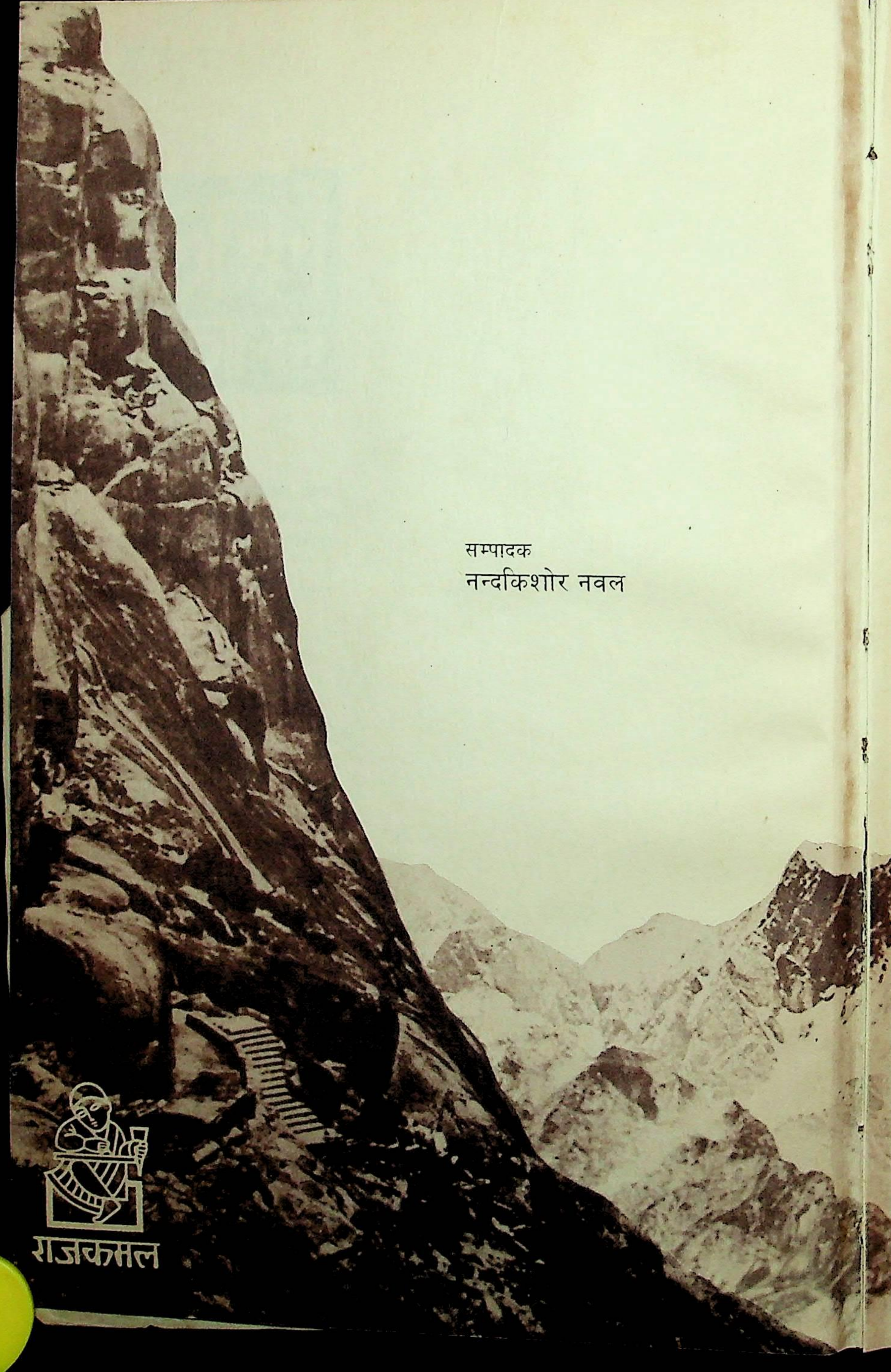


सम्पादक
नन्दकिशोर नवल

72797
72797
72797-

# निराला रचनावली

# 6

**मूल्य**
प्रति खण्ड रु० 75.00
सम्पूर्ण सैट रु० 600.00

© रामकृष्ण त्रिपाठी

**द्वितीय संस्करण**
मार्च, 1983

**प्रकाशक**
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

**मुद्रक**
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ :
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागंज, नयी दिल्ली

**कला-पक्ष**
आवरण के लिए
निराला का रेखांकन :
हरिपाल त्यागी

कला - संयोजना :
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

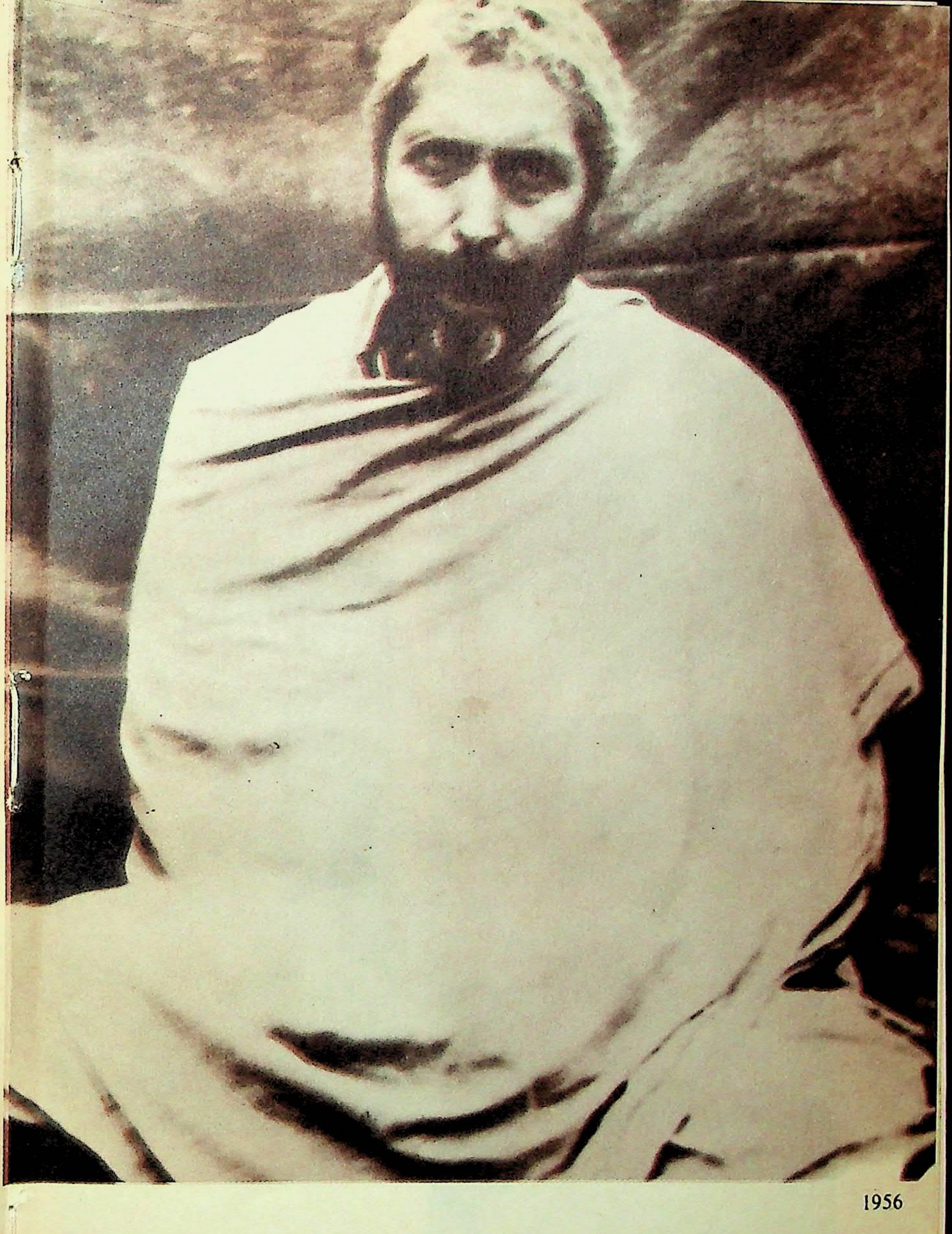

1956

172797

▲ 1947

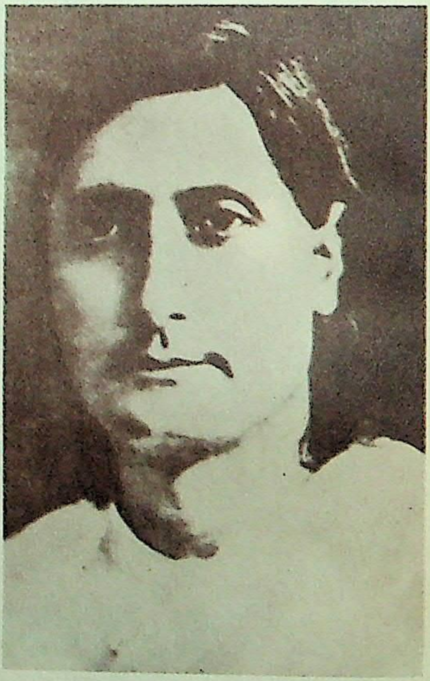

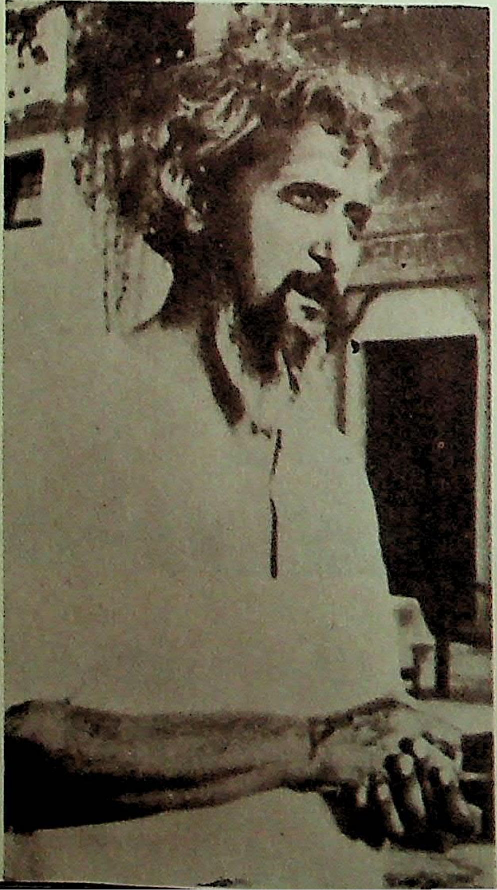

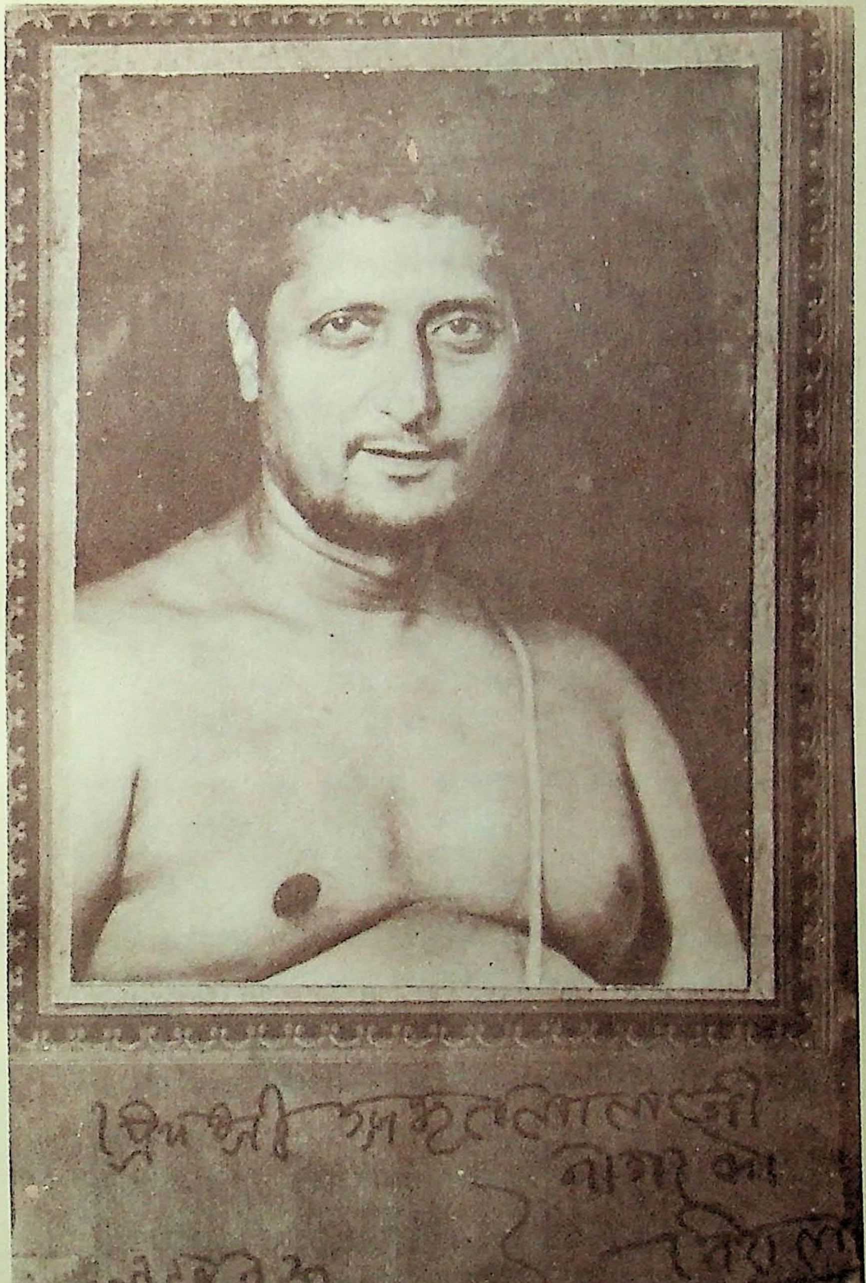

72797

गीत

रस की बूँदें बरसो, नव घन!
पावन सावन सरसो, नव घन!
कमलों के वन वारि-विमोचन,
छा लो गगन बलाहक-वाहन,
धान-जुवार-उड़द-अरहर-धन
धारण कर कर हरसो, नव घन!
खेत निराती ग्राम-कामिनी
नम-नयनों झुमकती झामिनी,
लखकर लौटी वास भामिनी,
सुख-समीर तन परसो, नव घन!

७/४६ — निराला

कब तक इस तट के निकट
खड़े हुए चुपचाप
प्रखर उत्ताप के काल से रहोगे क्षाम,
मृतक, निष्प्राण, जड़?

— सूर्यकान्त त्रिपाठी, निराला
२०.११.४२

निराला की हस्तलिपि में उनके दो गीत

पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है,
आशा का प्रदीप जलता है, हृदय-कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ्निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र-पुंज में।
लीला का सम्वरण-समय फूलों का जैसे ऊपर
फलों फले या झरे अफल, पातों के
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव ।
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।
स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्य की, हेम लोमों आच्छादित,
शिशिर भिद्य, बौरा वसन्त आमों आमोदित;
बीत चुका है दिक्चुम्बित चतुरङ्ग, काव्य, गति
यति वाला, ध्वनि, अलङ्कार, रस, राग बन्ध के
वाद्य छन्द के रणित गणित छुट चुके हाथ से।
क्रीड़ाएँ व्रीड़ा में परिणत। मल्ल भल्ल की
मारें मूर्छित हुईं, निशाने चूक गये हैं।
झूल चुकी है खाल [illegible] की तरह तनी थी।
पुनः सवेरा एक और फेरा है जी का।

निराला की अन्तिम कविता

72797

## आभार

**निराला रचनावली** प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयीं। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयों को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

**रचनावली** में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी हैं और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

**रचनावली** में जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

**रचनावली** के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए हैं। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

**शीला सन्धू**

19 जनवरी 83

72797

## छठा खण्ड

प्रस्तुत खण्ड में निराला की ऐसी रचनाएँ संकलित की गयी हैं, जिनका सम्बन्ध किसी एक विषय से न होकर अनेक विषयों से है। उनमें समाज, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि तमाम विषय आते हैं। सारी रचनाएँ इस क्रम से सजायी गयी हैं—स्फुट निबन्ध, टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ। निबन्धों में से अधिकांश संकलित हैं, निराला के निबन्ध-संग्रहों में, जिनके प्रकाशनकाल पर पिछले खण्ड की भूमिका में विचार किया जा चुका है। निबन्धों के साथ उनमें कुछ टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ भी संकलित हैं, लेकिन उनकी संख्या नगण्य है। हमने निबन्धों, टिप्पणियों और समीक्षाओं को अलग-अलग रचना-क्रम/प्रकाशन-क्रम से दिया है। तीन निबन्धों का रचना-काल या प्रकाशन-काल हमें नहीं मालूम हो सका। वे हैं—'शून्य और शक्ति', 'हमारा समाज' और 'कला और देवियाँ' शीर्षक निबन्ध। इन्हें हमने यथास्थान इस सूचना के साथ लगा दिया है कि वे किन पुस्तकों में संकलित हैं। इससे इतना ज्ञात हो जाता है कि वे पुस्तक-विशेष के प्रकाशन-काल के पूर्व रचे गये। समीक्षाओं में एक जगह व्यतिक्रम हुआ है। 'मतवाला' में 'चाबुक' और 'कसौटी' स्तम्भों में निराला करीब-करीब एक साथ लिखा करते थे और कभी-कभी एक समीक्षा कई अंकों तक चलती थी। निरन्तरता की रक्षा के लिए पहले 'चाबुक' की समीक्षाएँ दी गयी हैं, फिर 'कसौटी' की। यहाँ यह सूचित कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि निबन्धों और टिप्पणियों के नीचे कहीं-कहीं निराला ने जो रचना-काल दिया है, वह सब जगह सही नहीं है। उदाहरण के लिए उनका 'कविवर श्रीचण्डिदास' शीर्षक निबन्ध 'सुधा' के अप्रैल, 1928 के अंक में प्रकाशित हुआ, जबकि इसका रचना-काल उन्होंने 1920 ई. बतलाया है। (**प्रबन्ध-प्रतिमा**, द्वितीय संस्करण) सात-आठ वर्षों तक लेखक की कोई रचना अप्रकाशित रह सकती है, लेकिन निराला के प्रसंग में यह बात अविश्वसनीय लगती है। हमारा अनुमान है कि यह निबन्ध 1920 ई. के बाद लिखा गया और इसके नीचे गलत रचना-काल का उल्लेख मुद्रण की भूल के कारण है। इसी पुस्तक में संकलित निबन्ध 'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म' ? के नीचे जो रचना-काल दिया गया है, उसमें मुद्रण की भूल बहुत स्पष्ट है। यह निबन्ध 'माधुरी' के फरवरी, मार्च और जुलाई, 1933 के अंकों में किस्तवार प्रकाशित हुआ था, जबकि इसका रचनाकाल 1962 ई. बतलाया गया है। यहाँ '१९३२' '१९६२' हो गया है, जो कि सर्वथा सम्भव है।

निबन्धों की कुल संख्या छियालीस है। इनमें से तेरह निबन्ध ऐसे हैं, जो अब तक असंकलित थे। वे हैं—'जातीय जीवन और श्रीरामकृष्ण', 'हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए', 'परमहंस श्रीरामकृष्ण देव', 'श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी

महाराज से वार्तालाप', 'भारत का नवीन प्रगति में सामाजिक लक्ष्य', 'जेनरल प्राइमो डी रिवेरा', 'चरित्र', 'वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत', 'क्षमायाचना के लिए धमकी', 'स्वकीया', 'श्रीरामकृष्ण मिशन (लखनऊ)', 'हिन्दी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचन्दजी' और 'बलभद्रप्रसाद दीक्षित'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये निबन्ध हमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्राप्त हुए। 'हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए!' यह निबन्ध 'समन्वय' में प्रकाशित हुआ था, बिना लेखक के नाम के। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है : "हिन्दी राष्ट्रभाषा है, उसका रूप कैसा हो, इस विषय पर भी वह (सूर्यकान्त) विचार किया करते थे।" 'हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए!' इस लेख में उन्होंने मत प्रकट किया कि "राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी को सरल और तेजस्वी होना चाहिए।" इसके साथ भी लेखक का नाम नहीं छपा। [**निराला की साहित्य-साधना (1)**, पृ. 55] इसी आधार पर इस निबन्ध को निरालाकृत मानकर इसे संकलित कर लिया गया है। 'परमहंस श्रीरामकृष्णदेव' शीर्षक निबन्ध भी 'मतवाला' में बिना लेखक के नाम के ही निकला था। विचार और शैली दोनों इसे निरालाकृत ही ठहराते हैं। निराला के दो निबन्ध—'बाहर और भीतर' और 'प्रवाह'—'समन्वय' में 'एक दार्शनिक' के छद्मनाम से निकले थे। **प्रबन्ध-पद्म** की भूमिका में उन्होंने स्वयं संकेत दिया है कि यह उनका ही छद्मनाम था : " 'समन्वय' में 'एक दार्शनिक' के नाम के निबन्धों को देखकर स्वामी माधवानन्दजी महाराज ने मुझे प्रसिद्ध नाम से प्रकाश में आने की आज्ञा दी थी।" सम्भवत: इसी संकेत को पकड़कर डॉ. शिवगोपाल मिश्र ने निराला के ये निबन्ध ऊपर किये थे, जो बाद में **संग्रह** में संकलित हुए। प्रस्तुत खण्ड में संकलित निबन्ध आकार में बड़े भी हैं और छोटे भी। 'चरखा' और " 'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म' ?"-जैसे निबन्ध बड़े हैं और 'हिन्दी के आदि प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'-जैसे निबन्ध बिलकुल छोटे, एक पृष्ठ से भी कम के। इसके अलावा इसमें 'क्षमायाचना के लिए धमकी'-जैसी चीज भी है, जो निबन्ध की अपेक्षा सम्पादक के नाम लिखा गया पत्र अधिक है। इसी तरह 'प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद' निबन्ध न होकर इण्टरव्यू है। निराला ने इसे अपने निबन्ध-संग्रह **प्रबन्ध-प्रतिमा** में शामिल किया था। स्वभावत: यहाँ भी इसे निबन्धों के साथ ही रखा गया है। 'चरखा' की तरह 'चरित्र', 'साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन' तथा 'पं. बनारसीदास का अंग्रेजी ज्ञान' शीर्षक निबन्ध भी प्रत्यालोचनात्मक हैं। " 'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म' ?" में यद्यपि निराला ने कूट-शैली में लिखे गये अपने विवादास्पद निबन्ध 'वर्तमान धर्म' की टीका दी है, तथापि यह निबन्ध भी प्रत्यालोचनात्मक ही है।

टिप्पणियाँ कुल एक सौ उनतीस हैं। इनमें से दो को छोड़कर बाकी सारी टिप्पणियाँ 'सुधा' से संकलित हैं। वे दो टिप्पणियाँ जो 'सुधा' से नहीं संकलित की गयी हैं—'दहाड़-1' और 'छाया-चित्र-1'। 'दहाड़' और 'छाया-चित्र' 'रँगीला' के स्तम्भ थे। ये टिप्पणियाँ उसके प्रवेशांक से ली गयी हैं। 'रँगीला' के सम्पादक स्वयं निराला थे और उनके सम्पादकत्व में इसके जो तीन अंक निकले उनमें उन्होंने बिना अपना नाम दिये उक्त स्तम्भों में टिप्पणियाँ लिखीं। डॉ. शर्मा ने लिखा है कि " 'मतवाला' में लिखनेवाले जहाँ अनेक लेखक थे, वहाँ 'रँगीला' के सम्पादक-लेखक-प्रूफरीडर अकेले निराला थे। भिन्न-भिन्न नामों से एक ही लेखक की सामग्री पत्र में दी गई।…'दहाड़' स्तम्भ पर सिंह का चित्र छापा, औरों के साथ

रवीन्द्रनाथ को याद किया, उन पर बेपर की उड़ाने का अभियोग लगाया 'जैसे प्रलाप के समय' सभी समझदार उनके शब्दों के जाल में फँस गये हों।" (उपर्युक्त, पृ. 197-98) इसी तरह एक टिप्पणी 'सुधा' के 'व्यंग्य-विनोद' शीर्षक स्तम्भ से ली गयी है। डॉ. शर्मा के अनुसार यह टिप्पणी भी निरालालिखित ही है। उन्होंने इसका संकेत इस रूप में दिया है : " 'सुधा' के व्यंग्य-विनोद में निराला ने 'मतवाला' की झलक दिखायी। कभी-कभी वह अपने मित्रों को लेकर भी परिहास कर बैठते थे। छायावादियों में प्रसादजी का घोड़ा तेज जा रहा है···" आदि। (उपर्युक्त, पृ. 182) यह उसी टिप्पणी का हवाला है, जो यहाँ संकलित की गयी है। निराला ने यह टिप्पणी 'अग्रदूत' के छद्मनाम से लिखी थी।

एक सौ छब्बीस टिप्पणियाँ 'सुधा' से संकलित सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। ये सारी टिप्पणियाँ लेखक के बिना नाम के निकली थीं। इन्हें निरालाकृत मानने का आधार क्या है, यह पिछले खण्ड की भूमिका में बतलाया जा चुका है। डॉ. शर्मा ने **साहित्य-साधना** के पहले और दूसरे खण्ड में जिन टिप्पणियों को निरालाकृत माना है, उन्हें तो संकलित किया ही गया है, उन टिप्पणियों को भी संकलित कर लिया गया है, जो विचार, तर्क-पद्धति और शैली की दृष्टि से निराला के अलावा और किसी की लिखी नहीं हो सकतीं। इन टिप्पणियों में भी कई ऐसी हैं, जिन्हें निराला ने श्री दुलारेलाल भार्गव की तरफ से लिखा है। इन टिप्पणियों में स्वयं उनकी चर्चा आयी है। उदाहरण के लिए 'साहित्य में प्रोपागैण्डा' शीर्षक टिप्पणी देखी जा सकती है, जिसमें निराला पं. बनारसीदास चतुर्वेदी से कहते हैं : "आपने पं. सूर्यकान्तजी त्रिपाठी 'निराला' के खिलाफ भी आन्दोलन किया। कभी रहस्य-वाद का रास्ता नहीं देखा, उस पर चलनेवाले के विरुद्ध अकड़कर खड़े हो गये।" डॉ. शर्मा ने भी इस टिप्पणी को निरालालिखित ही माना है : "अगली बरसात में उन्होंने (निराला ने) 'सुधा' में नोट लिखा, बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रोपेगैण्डा-वृत्ति का विश्लेषण किया। पहले उग्र के बारे में लिखा, चुभती सरल साहित्यिक भाषा 'उग्र' से अच्छी लिखनेवाला हिन्दी में दूसरा नहीं। जिस साहित्यिक में इतने गुण हैं, हम चतुर्वेदीजी से पूछते हैं, आपने उसके खिलाफ ज्यादा लिखा या तारीफ में ?" (उपर्युक्त, पृ. 206-7) इसमें जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं, वे उक्त टिप्पणी में ही आते हैं। 'सुधा' में सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखनेवालों में एक निराला भी थे, इसका एक सबूत यह भी है कि इस खण्ड में संकलित टिप्पणियों में भी कई ऐसी हैं, जिन्हें उन्होंने अपने निबन्ध-संग्रहों में संकलित किया था। वैसी टिप्पणियाँ हैं— 'राष्ट्र और नारी', 'रूप और नारी', 'महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर' और 'अधिकार-समस्या'। पहली दो टिप्पणियाँ **प्रबन्ध-पद्म** में संकलित हुई हैं और अन्तिम दो **प्रबन्ध-प्रतिमा** में। तीसरी टिप्पणी अलग-अलग शीर्षकों से तीन टिप्पणियों के रूप में 'सुधा' में निकली थी।

'मतवाला' में निराला छद्मनाम से दो स्तम्भ लिखा करते थे—'चाबुक' और 'कसौटी'। 'चाबुक' स्तम्भ दो अंकों तक 'मतवाले का चाबुक !' नाम से निकला, फिर सिर्फ 'चाबुक' नाम से निकलने लगा। निराला जिस छद्मनाम का प्रयोग करते थे, वह था 'श्रीमान् गरगज सिंह वर्मा, साहित्य-शार्दूल'। **चाबुक** नामक अपने निबन्ध-संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है : " 'चाबुक' शीर्षक से मैं एक दूसरे नाम से 'मतवाला' में व्याकरण पर आलोचनाएँ लिखा करता था।" यहाँ उन्होंने 'कसौटी' का जिक्र नहीं किया, जबकि उक्त नाम से इस स्तम्भ में भी वही लिखा करते थे। 'मतवाला' (16 अगस्त, 1924) में उसके सम्पादक श्री महादेव-

प्रसाद सेठ ने 'आत्मकथा' शीर्षक सम्पादकीय में निराला के प्रति आभार-ज्ञापन करते हुए लिखा था : "हम अपने मित्र पण्डित श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (गरगज सिंह वर्मा) के भी बड़े उपकृत हैं, जिन्होंने जाँच रिपोर्ट तैयार करने में, बड़ी निपुणता से, अपनी 'कसौटी' पर कसकर खरे-खोटे की पहचान बताते हुए हमारी सहायता की है और जो 'चाबुक' चलाने में चौकसी दिखाते हुए हमारे रथ को विकट मार्ग से निकालकर मुख्य लक्ष्य पर्यन्त निर्विघ्न खींच लाये हैं।" 'चाबुक' में प्राय: पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा रहती थी और 'कसौटी' में पुस्तकों की। आचार्य शिवपूजन सहाय ने भी, जो कि 'मतवाला'-मण्डल के सदस्यों में से एक थे, लिखा है : " 'मतवाला' में निरालाजी की कविता तो बराबर छपती ही थी, समालोचना भी वही लिखते थे, पर उसमें अपना कल्पित नाम देते थे—गरगज सिंह वर्मा।" (अन्तरवेद वसन्तपञ्चमी, 1962)।

'मतवाला' के कुल तेरह अंकों में 'चाबुक' स्तम्भ के अन्तर्गत निराला की समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं। उनमें से छ: अंकों में प्रकाशित सामग्री अब तक असंकलित थी। दो अंकों की सामग्री आंशिक रूप में **चाबुक** नामक निबन्ध-संग्रह में संकलित हुई थी। इस स्तम्भ की पूरी सामग्री **रचनावली** के इस खण्ड में क्रमबद्ध रूप से संकलित कर दी गयी है। 'कसौटी' स्तम्भ के अन्तर्गत कुल नौ अंकों में निराला की समीक्षाएँ छपी थीं। उनमें से अन्तिम पाँच अंकों की सामग्री उक्त निबन्ध-संग्रह में ही संकलित हुई थी और शेष चार अंकों की सामग्री अब तक असंकलित थी। इस स्तम्भ की पूरी सामग्री भी यहाँ क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत की गयी है। 'चाबुक' और 'कसौटी' में प्रकाशित समीक्षाओं के बाद छत्तीस पुस्तकों की समीक्षाएँ संकलित हैं। इनमें से 'बोलचाल', 'कामायनी', 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत' और 'प्राच्य और पाश्चात्य' की समीक्षाएँ **चयन** में संकलित की जा चुकी थीं, शेष बत्तीस पुस्तकों की समीक्षाएँ अब तक असंकलित थीं। इन सभी पुस्तकों की समीक्षाएँ यहाँ 'चाबुक' और 'कसौटी' की समीक्षाओं की तरह ही क्रमबद्ध रूप में रखी गयी हैं। ये समीक्षाएँ आकार में बड़ी भी हैं और छोटी भी। इस खण्ड में संकलित निराला के जो निबन्ध और समीक्षाएँ पहले उनके निबन्ध-संग्रहों में आ चुके थे, उनमें खण्ड पाँच के संकलित निबन्धों की तरह ही अनेकानेक भूलें थीं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों और समीक्षाओं से मिलाकर उन भूलों को यथासाध्य दुरुस्त करने का प्रयास किया गया है। असंकलित निबन्धों में कहीं-कहीं वाक्य खण्डित थे। उन वाक्यों को प्राय: यथावत् रहने दिया गया है।

आरम्भ में निराला पर विवेकानन्द के भाववाद का गहरा असर था। इसी कारण 'बाहर और भीतर' शीर्षक अपने निबन्ध में वे सामाजिक स्वतन्त्रता को बाहरी स्वतन्त्रता और भौतिक उन्नति का लक्ष्य ध्वंस बतलाते हैं। स्पष्टत: यहाँ वे बाहर और भीतर के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को देख नहीं पाते हैं और एक दार्शनिक सरलीकरण का शिकार हो जाते हैं। इस निबन्ध में भौतिकवाद के विकास को उन्होंने पूँजीवाद के उत्थान और युद्ध से जोड़कर देखा है, जो सही है, लेकिन पूरी तरह से नहीं। उन्होंने लिखा है : "जड़वाद का प्रभाव अशान्ति और संघर्ष को ही बढ़ाता है, और अन्त को स्वयं नष्ट हो जाता है" और "गोला-बारूद के नष्ट होने के साथ उसके शक्तिधर भी नष्ट हो जाते हैं।" वास्तविकता यदि है कि वैज्ञानिक प्रगति से संसार में सुख-सुविधा की वृद्धि हुई है और यदि वैज्ञानिक साधनों का उपयोग युद्ध के लिए किया गया है, तो इस कारण कि उन पर वर्ग-विशेष का प्रभुत्व रहा है, इस कारण नहीं कि उनकी प्रकृति में ही ध्वंस है। दूसरी बात यह कि गोला-बारूद के साथ

उसके शक्तिधर नष्ट हों या नहीं, उस जनता का एक बड़ा भाग जरूर नष्ट हो जाता है, जिसके पास गोला-बारूद नहीं, बल्कि शान्तिपूर्वक जीने की आकांक्षा होती है। भाववादी दर्शन के असर में ही निराला ने 'शक्तिपरिचय' शीर्षक निबन्ध में कहा है : "व्यक्तिगत स्वाधीनता ही समष्टिगत स्वाधीनता की जननी है और इस दृष्टि से आज भी भारत में अन्य देशों की अपेक्षा स्वाधीन मनुष्यों की संख्या अधिक होगी।" मतलब साफ है—आत्मा माया के बन्धनों से स्वतन्त्र है, तो मनुष्य स्वतन्त्र है ! स्वतन्त्र होने के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि आत्मा की स्वतन्त्रता चाहिए। वह मिल गयी, तो 'बाहरी स्वतन्त्रता' अवश्यम्भावी है। कोई ताज्जुब नहीं, यदि 'प्रवाह' शीर्षक अपने निबन्ध में निराला ने यह कहा कि, "आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है। बिना मुक्त हुए जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता।"

लेकिन निराला पर रामकृष्ण और विवेकानन्द का जो प्रभाव था, वह केवल नकारात्मक नहीं था। इनसे उन्होंने धार्मिक उदारता का भाव लिया। 'युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण' शीर्षक दूसरे निबन्ध में उन्होंने लिखा है, "श्रीरामकृष्ण की यह इतनी साधना संसार की शिक्षा के लिए है, वे युगावतार थे, लोककल्याण के लिए, अनेक धर्मों की एकता-स्थापन के लिए आये हुए थे, उनकी अपनी मुक्ति तो बहुत पहले हो चुकी थी, यह सब लोगों को विश्वास दिलाने के लिए सब मार्गों का सारतत्त्व समझने के लिए था, जिसका फल है कि स्वामी विवेकानन्द ने सब धर्मों की एकता तथा वेदान्त की सार्वभौमिकता का प्रचार किया।" रामकृष्ण और विवेकानन्द का यह धार्मिक उदारतावाद राष्ट्रीय एकता ही नहीं, विश्व-बन्धुत्व की भावना में परिणत हुआ। निराला को इनका सन्देश उन्हीं से मिला था। 'भारत में श्रीरामकृष्णावतार' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं : "आज विश्व-समाज में भ्रातृत्व-बन्धन की जो ध्वनि गूँज रही है, वह सबसे पहले भगवान श्रीरामकृष्णजी के मुख से निकली थी। विश्वविजयी वेदान्तकेशरी स्वामी विवेकानन्द की वीर वाणी को मन्त्र-मुग्धवत् संसार सुन रहा है पर उनकी दिव्य शिक्षा भगवान श्रीरामकृष्ण देव के पादप्रान्त पर समाप्त हुई थी। आज भारत में, एकता-लता पर जो फूल खिल रहा है उसके निपुण माली हैं भगवान श्रीरामकृष्ण।" 'जातीय जीवन और श्रीरामकृष्ण' शीर्षक निबन्ध में राष्ट्रीय एकता की बात उन्होंने बहुत जोर देकर कही है : "भारत में जितनी भिन्न-भिन्न जातियाँ बस गयी हैं, जिन्हें हिन्दू शत्रुतुल्य समझते हैं और जो हिन्दुओं से जैसा-का-तैसा ही बदला लेती हैं, वे यदि जातीय जीवन का अंग न मानी जायँ—यदि वे जाति से अलग कर दी जायँ—तो जाति की सत्ता कब तक सही-सलामत टिकी रहेगी ? यही कारण है कि श्रीरामकृष्ण को हरेक मार्ग का अन्तिम छोर ढूँढ़ना पड़ा था और वे किसी एक ही जाति की विभूति नहीं किन्तु सब सम्प्रदायों के अन्तरंग हो गये थे। जाति की विक्षिप्त समूह-शक्ति को उन्होंने अपने एकमात्र आदर्श के तागे से बाँधा। हरेक को यही शिक्षा दी कि यह मत कहो कि हमारा मार्ग ही ठीक है, और सब गलत।"

निराला के समाज-सम्बन्धी विचार भी विवेकानन्द से प्रभावित थे। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरन्तन है। स्वाधीन समाज की इससे अच्छी वर्णना हो नहीं सकती।" ('अधिकार समस्या' शीर्षक टिप्पणी) लेकिन वे यह भी मानते थे कि वर्तमान युग आते-आते वह व्यवस्था जर्जर हो गयी है, क्योंकि उच्च वर्ण के लोग

अपने धर्म से च्युत हो गये हैं। अब शूद्रों के उत्थान का समय आया है। 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' शीर्षक अपने निबन्ध में उनका कहना है : "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने घर में ऐंठने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रह गये। बाहरी प्रति-घातों ने भारतवर्ष के उस समाज-शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को, समूल नष्ट कर दिया; ब्रह्म-दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया।...भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण-काल शूद्रों और अन्त्यजों के उठने का प्रभात-काल है। प्रकृति की यह कैसी विचित्र क्रिया है, जिसने युगों तक शूद्रों से अपर तीन वर्णों की सेवा करायी और इस तरह उनमें एक अदम्य शक्ति का प्रवाह भरा, और अब अनेकानेक विवर्तनों से गुजरती हुई, उठने के लिए उन्हें एक विचित्र ढंग से मौका दिया है, भारतवर्ष का यह युग शूद्र-शक्ति के उत्थान का युग है। और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।" 'वर्तमान हिन्दू समाज' शीर्षक निबन्ध में वे यह कहते हैं कि पराधीन देश के सभी नागरिक शूद्र ही होते हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं : "अब यवन और गौरांगों के 800 वर्षों के शासन के बाद भी हिन्दोस्तान में ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, जो लोग ऐसा कहते हैं, वे झूठ तो बोलते ही हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय का अर्थ भी नहीं समझते। इस समय भारत में न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य...हैं सब शूद्र ही।" इसी निबन्ध में वे 'असवर्ण विवाह' के प्रचलन से वर्ण-समीकरण की कल्पना करते हैं : "वर्ण-समीकरण की इस स्थिति का ज्ञान विद्या के द्वारा ही यहाँ के लोगों को हो सकता है। इसके साथ-ही-साथ नवीन भारत का रूप संगठित होता जायगा, और यही समाज की सबसे मजबूत शृंखला होगी। यही साम्य पश्चात् वर्ण-वैषम्य से—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के रूपों में पुनः संगठित होगा।" अभी निराला का ध्यान वर्ण पर ही था, वर्ग पर नहीं, इसलिए 'हमारे समाज का भविष्य रूप' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने जन्म की जगह कर्म को वर्ण-व्यवस्था का आधार बनाकर उसी को चलाते रहने की बात कही : "हर मनुष्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भाव हैं, मात्रानुसार, यहाँ तक कि आसुरी और दिव्य भाव भी। किसी भीजाति में पैदा हुआ मनुष्य हो, जब वह पढ़ता-पढ़ाता है—ज्ञानानुशीलन करता है, ब्राह्मण है; जब उसके अन्दर देश, जाति, विश्व या किसी की भी रक्षा के भाव उठते हैं, तब वह क्षत्रिय है; जब जीविकार्जन के लिए वह व्यवसाय-बुद्धि का उपयोग करता है, तब वह वैश्य है; जब वह अपने सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए दूसरों की परिचर्या करता है, तब वह शूद्र है...।" इस संशोधन से वे विभिन्न वर्णों के बीच व्याप्त भेद-भाव को खत्म करना चाहते थे : "राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवर्तनों से जो सच्चे मनुष्य निकलेंगे वे ही यथार्थ नेताओं की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सृष्टि अपने गुण कर्मानुसार करेंगे और उस स्वतन्त्र भारत में इस वर्ण-व्यवस्था से केवल परिचय ही प्राप्त होगा, उच्च-नीच निर्णय नहीं।" ('हमारा समाज' शीर्षक निबन्ध) उनकी यह मान्यता दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती गयी और वे निम्न वर्णवालों के प्रति उच्च वर्णवालों के तिरस्कार के भाव के प्रति असहिष्णु होते गये। 'हिन्दुओं का जातीय संगठन' शीर्षक टिप्पणी में वे उच्च वर्णवालों को लक्ष्य कर कहते हैं : "वे दूसरी स्वतन्त्र जाति (अंग्रेज-सम्पादक) से बराबरी के अधिकार लेना चाहते हैं, पर घर में उन्हीं के भाई पैरों पड़े हुए ऊँचे अधिकारों के लिए रो रहे हैं। उस दिन तक चमार उच्च वर्णवालों के कुएँ में पानी नहीं भर सकता था। अब भी अधिकांश जगह नहीं भर सकता। मुसलमान और ईसाई वहीं डाँटकर हिन्दुओं को रोककर पहले अपना पानी भर ले सकते हैं।" निराला ने इस

सामाजिक स्थिति को स्वाधीनता-प्राप्ति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा माना और लिखा : "गुलामों की एक जाति होती है, चाहे अँगरेजी ढंग से कह लीजिए या हिन्दोस्तानी ढंग से। पर जब गुलामों के भीतर भी गुलाम जातियाँ निकलती रहती हैं, तब समझना चाहिए कि गुलामी के कितने पेच काटकर उससे निकलने की जरूरत है।" (उपर्युक्त)

आधुनिक काल में शूद्र-शक्ति के उत्थान की बात विवेकानन्द ने कही थी। 'किसान और उनका साहित्य' शीर्षक कुछ बाद की एक टिप्पणी में निराला ने 'वैश्य' की व्याख्या 'पूँजीपति' और 'शूद्र' की व्याख्या 'किसान' और 'मजदूर' के रूप में की और कहा : "ब्राह्मण-धर्म की दुर्बलता के कारण क्षात्र धर्म का ज़ोर बढ़ा, और अन्तिम महावीर नेपोलियन के पतन के बाद वैश्य-धर्म की विजय हुई—विज्ञान ने वैश्य-धर्म की ही वृद्धि की, जिसका आज तक संसार पर आधिपत्य है, और जो संसारव्यापी दरिद्रता का एकमात्र कारण है। इस प्रकार अब यह वैश्य-धर्म अपने तमाम विज्ञान के साथ होकर भी संसार की शान्ति को सहारा नहीं दे रहा—इसके भी दिन पूरे हो गये। नया उदाहरण रूस है, जिसने किसानों का राज्य स्थापित किया। आज संसार के बड़े-बड़े प्रायः सभी मनुष्य किसानों के युग का स्वागत कर रहे हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं, अब वैश्य-युग भी मनुष्यों के मन से दूर हो गया है—अब किसान या मजदूरों का युग है।" इसी तरह 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों की सामाजिक स्वतन्त्रता की वकालत करते हुए उन्होंने कहा कि **"जो जीवन बाहरी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकता, वह मुक्ति-जैसी सार्वभौमिक स्वतन्त्रता कब प्राप्त कर सकता है ?** उसकी धर्म की साधना भी ढोंग है। धर्म तो वह है जिससे अर्थ, काम तथा मोक्ष, तीनों मिल सकें। सच्चा धर्म इस समय स्त्रियों के सब प्रकार के बन्धन ढीले कर देना, उन्हें शिक्षा की ज्योति से निर्मल कर देना ही है, जिससे देश की तमाम कामनाओं की सिद्धि होगी और स्वतन्त्र-सुखी जीवन **बाह्य स्वतन्त्रता से तृप्त होकर आत्मिक मुक्ति के सन्धान में लगेगा।"** (जोर हमारा) 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध में निराला ने भीतरी स्वतन्त्रता को पहले रखा था, बाहरी स्वतन्त्रता को बाद में। यहाँ उन्होंने उस क्रम को बिलकुल उलट दिया है। उनके विचारों में असंगतियाँ हैं, लेकिन उससे उनके वैचारिक विकास की दिशा को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती।

जैसे-जैसे स्वाधीनता-आन्दोलन तेज होता गया और निराला अवध के किसान-आन्दोलन के निकट सम्पर्क में आते गये, उनका भाववाद उनसे छूटता गया। 'सुधा' की टिप्पणियों में देश के किसानों के सवाल को आगे रखकर उन्होंने एक तरफ अंग्रेजी शासन पर आक्रमण करना और दूसरी तरफ स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रगतिशील पक्ष को अपना समर्थन देना शुरू किया। इस दृष्टि से उनकी टिप्पणियाँ उनके अपने साहित्य और आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, समग्र स्वाधीनता-आन्दोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण हैं। 'इँगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने अंग्रेजी शासन के औपनिवेशिक चरित्र को अनावृत किया है, कांग्रेस के समझौतावादी-सुधारवादी नेतृ-पक्ष की आलोचना की है और पूर्ण स्वराज्य को ध्येय बनाकर चलनेवाली शक्ति को अपना समर्थन दिया है। इसमें सबसे पहले वे कहते हैं : "इंगलैण्ड के हाथ भारत एक सोने की चिड़िया फँस गयी है। वहाँ के पूँजीपति यह बात किसी तरह पसन्द नहीं करते कि भारत को आवश्यकता से अधिक अधिकार दे दिए जायँ। इससे अँगरेजी व्यापार

को गहरा धक्का लगता है, जिससे इंगलैण्ड की शक्ति के ह्रास होने की सम्भावना है। अँगरेजों का जातीय सूत्र-व्यवसाय, भारत के स्वाधिकारों से दब जायगा, यह भय वहाँ वालों को सदा ही लगा हुआ है। महात्माजी के आन्दोलन के वाद से इंगलैण्ड के व्यवसायी भारत की तरफ से खूब सजग रहते हैं। और ये पूंजीपति ही चूँकि प्रकारान्तर से इंगलैण्ड के विधाता हैं, इसलिए ये इतने उदार होंगे कि अपनी भलाई भूलकर भारत की भलाई का खयाल करेंगे, यह बिलकुल भ्रान्त धारणा है।" इस उद्धरण में लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि निराला भारत पर अँगरेजों के शासन को मात्र भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति के आक्रमण या इंगलैण्ड के राजनीतिक विस्तार के रूप में नहीं देखते। वे बड़ी सफाई से यह पहचान लेते हैं कि इंगलैण्ड में पूँजीपति-वर्ग का शासन है और भारत में उसने जो उपनिवेश कायम किया है, उसका असली उद्देश्य अपने आर्थिक हितों की सिद्धि है। चूँकि निराला के मन में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के आर्थिक चरित्र को लेकर कोई उलझन नहीं है, इसलिए वे इस बात में यकीन नहीं करते कि अँगरेज "इतने उदार होंगे कि अपनी भलाई भूलकर भारत की भलाई का खयाल करेंगे।" यथार्थ का यह ज्ञान उन्हें स्वाभाविक रूप से कांग्रेस की समझौतावादी-सुधारवादी राजनीति का विरोधी और स्वराज्यवादी राजनीति का समर्थक बना देता है।

आगे निराला किसानों के शोषण के बारे में बतलाते हैं। "भारत अँगरेजी माल के खपाने के लिए अँगरेजों का सबसे बड़ा केन्द्र है। यहाँ से कच्चे माल की जितनी पैदावार होती है, उसका अधिकांश वहीं के व्यापारियों के हाथ लगता है, जिसके एक-एक के सैकड़ों वसूल होते हैं। शासन अपने ही हाथ में है। सुविधा खोज लेने में दिक्कत नहीं पड़ती। अलावा इसके अपर स्वतन्त्र राष्ट्रों में व्यावसायिक साम्य भी बहुत कुछ है। यहाँ यह बात नहीं। यहाँ तो व्यवसाय की पराधीनता और भी कठोर तथा पीसनेवाली है। यही कारण है कि किसानों की दुर्दशा का अन्त नहीं होता। पाट, सन, रुई, गल्ला आदि जितना कच्चा माल यहाँ पैदा होता है, मुँहमाँगे दामों पर ही दिया जाता है। किसान लोगों में माल रोक रखने की दृढ़ता नहीं, और उस दृढ़ता की जड़ भी काट दी गयी है। कारण, लगान उन्हें रुपयों से देना पड़ता है, खेत की पैदावार का तिहाई-चौथाई हिस्सा नहीं। समय पर लगान देने के तकाजे का खयाल उन्हें विवश कर देता है, वे मुँहमाँगे भाव पर माल बेच देते हैं। यह इतनी बड़ी दासता है, जिसका उल्लेख नहीं हो सकता।" बाद में वे अँगरेजों की मिन्नत करके कुछ अधिकार पा लेने के लिए प्रयत्नशील नेताओं पर चोट करते हैं: "इधर राजभक्तगणों का हाल ही और है। उन्हें बहुत बड़ी शंका है कि युवक-समुदाय, जो अपने ही बल पर स्वराज लेने की बातें कर रहा है, इससे कहीं ऐसा न हो कि जो कुछ मिल रहा है, वह भी न मिले। वे लोग बड़े समझदार की गहन-गम्भीर मुद्रा से कहते हैं—अरे चुप! सरकार की भैंसों को लाल परचे दिखाकर भड़काना ठीक नहीं! ये लोग कहाँ तक आशा और विश्वास रखते हैं, इसका पता लगा लेना बहुत कठिन है; पर इनकी इस तरह की उपदेश-पूर्ण नीति में राजभक्ति की बदौलत प्राप्त पदवी-प्रसाद की तरह कोई प्रसादाकांक्षा अवश्य छिपी हुई है।" अन्त में वे अपना पक्ष स्पष्ट करते हैं: "सुभाष बाबू ने मध्यदेश के प्रादेशिक युवक-सम्मेलन में जो भाषण दिया है, तथा और-और जगहों में उन्होंने स्वतन्त्रता के अर्थ जो लगाये हैं, वे बहुत ठीक हैं। उनका कहना है कि किसी भी प्रकार की परतन्त्रता एक क्षण के लिए युवकों को सह्य नहीं होनी चाहिए। युवकगण यह नहीं चाहते कि इसमें इतना अच्छा है और इतना बुरा,

इसलिए इतना छोड़कर इतना ग्रहण किया जाय। युवकों को ग्रामूल परिवर्तन चाहिए, जहाँ सब कुछ ग्रपना ही है, जहाँ ग्रपनी ही प्रतिभा का चमत्कार है, ग्रपने ही हाथों की कारीगरी है, ग्रपने ही ग्रादमियों की पाबन्दी है, ग्रपने ही कर्तृत्व की ग्रधीनता है, जहाँ परावलम्बन किसी बात में नहीं। यही इस समय ग्रधिकांश देश-सेवकों की राय है।"

1930 ई. के ग्रारम्भ में लाहौर में पं. जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस का ग्रधिवेशन सम्पन्न हुग्रा। उसके पहले निराला ने 'सुधा' में 'राष्ट्र की युवक-शक्ति' शीर्षक टिप्पणी लिखी ग्रौर ग्राशा का केन्द्र युवक-समुदाय को जो कि स्वाधीनता-संग्राम का महत्त्वपूर्ण दस्ता था, बतलाया: "कांग्रेस नजदीक है। इस कांग्रेस की बागडोर युवकों के हृदय-समाट् पं. जवाहरलालजी के हाथ में है। ग्रबकी ही भारत के भाग्य का ग्रभीप्सित निर्णय होगा। इसके लिए भारत की युवक शक्ति को हर तरह से कार्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ग्रसहयोग ग्रान्दोलन के बाद ऐसी ग्राशा ग्रौर कभी नहीं की गयी। इधर राजनीतिक मामलों में जो विप्लव हुए हैं, जैसी धर-पकड़ हुई है, उससे भी हमारी युवक-शक्ति का चेतन-प्रवाह कुछ तीव्र हो गया है। देश की ग्राशा के साधन देश के युवक ही हैं।" फिर उन्होंने समझौतावादी-सुधारवादी नेताग्रों की ग्रालोचना की ग्रौर ग्रंग्रेजों की धोखे से भरी तथा फूट डालनेवाली नीति से ग्रागाह किया: "जिस स्वाधिकार शासन के ग्रंगूर के गुच्छे के लिए देश के नेता ललचाए हुए हैं, वह बहुत ऊँची डाल पर, उनकी पहुँच के बाहर लटकता हुग्रा देख पड़ रहा है। बड़े लाट साहब की घोषणा में ब्रिटिश-गवर्नमेंट की तरफ से भारत के राजनीतिक ग्रधिकारों की कोई घोषणा नहीं है, बल्कि वहाँ एक चाल-सी है। वह यह कि घोषणा के बहाने ग्रनेक राजनीतिक दलों को मिलाकर मतभेद करा दिया जाय। बम्बई के जिन्ना ग्रौर ग्रौर जयकर की घोषणा में यही सन्देह प्रबल हो गया है। हमारे देश में ऐसे मत वालों की कमी नहीं, जो कृपा-दृष्टि के ही भिक्षुक हैं, जरा-सी मुसकिराहट पाने पर ही कुत्ते की तरह पिघलकर दुम हिलाने लगते ग्रौर उसे ही ग्रपने दिल में स्वराज-सुख समझते हैं।" ग्रधिवेशन की पूर्व-सन्ध्या में उन्होंने 'कांग्रेस का रंगमंच' शीर्षक टिप्पणी लिखी ग्रौर उस राजनीतिक दल के प्रति ग्रपनी सहानुभूति व्यक्त की, जो 'कांग्रेस की वर्तमान प्रतीक्षा-नीति के बिलकुल विरुद्ध' था ग्रौर चाहता था कि कलकत्ता-कांग्रेसवाले प्रस्ताव को ही कार्य में परिणत किया जाय, ग्रौर पूर्ण-स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जाय।" दूसरा दल उन लोगों का था, "जो विश्वास करते हैं कि प्रस्तावित गोलमेज कान्फ्रेंस के ग्रधिवेशन ग्रौर निश्चयों की प्रतीक्षा करना ही कांग्रेस के लिए ग्रधिक हितकर होगा।" उसके बाद निराला लिखते हैं, "देश के बूढ़े नेताग्रों ग्रौर मध्यश्रेणी के राजनीतिज्ञों की बहुलता के कारण इस दल का प्राबल्य भी कम नहीं है। ग्रधिकतर ग्राशा की जा रही है कि कांग्रेस के रंगमंच पर इस दल की ही विजय होगी। यदि कहीं सरकार ने नेताग्रों के घोषणा-पत्र की शर्तें मान लीं, या राजनीतिक कैदियों के छोड़ने की हामी भर ली, तब तो इस दल की विजय बिलकुल निश्चित ही है। महात्मा गाँधी ग्रौर पण्डित मोतीलालजी जैसे पुराने राजनीतिज्ञों की शतरंज की चालें उस समय देश के युवकों ग्रौर उनके हृदय-सम्राट जवाहरलाल को खूब ही छका डालेंगी। पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती नौजवानों को उस समय एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा।" इसमें एक बात खासतौर से ध्यान देने योग्य है—कांग्रेस के भीतर **मध्यश्रेणी** के राजनीतिज्ञों का बहुमत। निराला के सामने यह बात ग्रच्छी

तरह से स्पष्ट थी कि कांग्रेस बुर्जुग्रा वर्ग का राजनीतिक संगठन है।

निराला की खूबी यह थी कि उनका ध्यान स्वाधीनता-ग्रान्दोलन के केवल राजनीतिक पक्ष पर नहीं था। उनकी दृष्टि में वह एक व्यापक ग्रान्दोलन था, जिसके ग्रनेक पक्ष थे। उनमें एक सामाजिक पक्ष भी था, जो कि राजनीतिक पक्ष से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था। 'राजनीति के लिए सामाजिक योग्यता' निराला ग्रावश्यक मानते थे। इस 'योग्यता' से उनका मतलब था जातीय समीकरण, हिन्दू-मुस्लिम-एकता ग्रादि। उक्त शीर्षक से लिखी गयी टिप्पणी में वे एक राजनीतिक गलती का कारण 'सामाजिक दुर्बलता' को बतलाते हुए कहते हैं : "घर में एक-दूसरे से ग्रलग रहकर सभा-स्थल में मेल की गलेबाज़ी में कितनी जान है, यह देश में रहनेवाले विरोधी दल से छिपा नहीं है। बल्कि शासन के प्रारम्भ से हमारा जातीय विच्छेद ही हमारी कमजोरी का कारण रहा, ग्रौर हम कल तक इसके सुधार के लिए न लगे। यह कारण ग्राज भी हमारे सामने उसी रूप में है, ग्रौर इसी का सुधार हमारा सब प्रकार का सुधार है।" 'सनातन धर्म ग्रौर ग्रछूत' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने बहुत ही दृढ़ शब्दों में महात्मा गाँधी के ग्रछूतोद्धार-कार्यक्रम का समर्थन किया : "देश में नवीन युग, नवीन विचार, समभाव, समधर्म, एकाधिकार लाने ग्रौर प्राप्त करने के लिए देश के समझदार युवकों तथा उदार मनुष्यों को, जहाँ तक हो सके, तैयार होकर इस ग्रछूतोद्धार के सच्चे मार्ग पर ग्रा जाना चाहिए। हमारी बहुत बड़ी सामाजिक दुर्बलता इस कार्य से दूर होगी। किसी भी विरोधी शक्ति को इसके मुकाबले में ठहरने न देना चाहिए।" इसी तरह हिन्दू-मुस्लिम-एकता के बारे में उन्होंने लिखा : "हिन्दू ग्रौर मुसलमानों की समस्या इस देश की पराधीनता की सबसे बड़ी समस्या है। वर्तमान समाज का जो रूप है, उसके भीतर से···नवीन रूप के निकले बिना, उस समस्या की उलझन नहीं मिट सकती। पहले जब मुसलमान यहाँ ग्राये थे, तब ग्रज्ञात-कुल-शील होने के कारण उस समय उनके साथ जो ग्रसहयोग तमाम धार्मिक ग्रौर सामाजिक कार्यों में किया गया, वह ठीक था। पर ग्रब वह ग्रसहयोग समाज के लिए सदा ही हानिकर होता रहेगा। ग्रब वे इसी देश के मनुष्य हैं।" ('सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक टिप्पणी) 'हिन्दू या हिन्दवी' टिप्पणी में उन्होंने 'हिन्दू' शब्द को स्थानवाचक बतलाते हुए यह कहा : "हिन्दू-नामकरण विदेशियों का किया हुग्रा है। सभ्य होकर ग्रार्य-समाज ग्रार्य-जाति कहकर परिचय देने लगी, ग्रौर ब्राह्मसमाज ब्रह्मवादी ऋषियों से ग्रवतरित संस्था हो गयी। पर ग्रार्य कोई जाति नहीं थी। किसी को भद्र कहने से 'भद्र' जाति नहीं बन जाती। इसी तरह ब्रह्म से लिया गया गुण-रूप भी किसी जाति का नामकरण नहीं। मनुष्यों की एक मनुष्य-जाति ही हुग्रा करती है। फिर कहीं रहने की वजह वह कहीं का मनुष्य कहलाए।" उन्होंने 'हिन्दू' की जगह 'हिन्दवी' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया, "जिसे विचारवान राष्ट्रीय भाववाले मुसलमानों को भी मानने में कोई ग्रड़चन नहीं हो सकती।" बाद में तो हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या निराला के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयी कि उन्होंने यहाँ तक लिखा कि "इस देश की मनुष्यता का निर्माण ग्रौर हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न का हल होना एक ग्रर्थ रखते हैं।" ('हिन्दू-मुस्लिम-समस्या' शीर्षक टिप्पणी) ग्रब धर्म से उन्हें कोई ग्राशा नहीं रह गयी थी। लिखते हैं, "मनुष्य, केवल मनुष्य, देश ग्रौर संसार के लिए सोचता है, यहाँ की तरक्की उसी का सहारा चाहती है। धार्मिक लोग तो दूसरी दुनिया के, देवता, या उनसे भी बढ़कर कुछ हैं। वे जो कुछ भी हों, जिस मनुष्य-देह में मुक्ति प्राप्त होती है, कहा गया है, उस मनुष्य-

देह में वे नहीं रहते। उनका मनुष्य संस्कारों की समष्टि है, ग्रौर ऐसे संस्कार कभी मुक्ति-स्वरूपा नवीनता को नहीं प्राप्त होने देते।'' (उपर्युक्त)

ग्रछूत-समस्या ग्रौर हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या की तरह ही स्वाधीनता-ग्रान्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या राष्ट्रभाषा की समस्या थी। निराला ने 1923 ई. में ही 'समन्वय' में 'हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए !' शीर्षक निबन्ध लिखकर कई बातें स्पष्ट कर दी थीं। उनके निबन्ध का यह ग्रंश दृष्टव्य है: ''राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी को सरल ग्रौर तेजस्वी होना चाहिए। भाषा भाव को प्रकट करने का एक साधन है। इसलिए सब प्रकार के उच्च-उच्च भावों को प्रकट करने की शक्ति हिन्दी में होनी चाहिए। यदि उसमें किसी नये उच्च भाव के लिए, उचित शब्द न हो तो उसे गढ़ लेना चाहिए। पहले संस्कृत के खजाने से, फिर उसमें न मिलने पर ग्रौर किसी प्रान्तीय भाषा से—क्योंकि प्रान्तीय भाषाग्रों की चर्चा देश में होती ही रहेगी ग्रौर इसी से वे उतने कठिन मालूम न होंगे—ग्रौर ग्रन्त में फारसी, ग्रँगरेजी ग्रादि विदेशी भाषाग्रों से। इसमें सरलता ग्रौर उपयोगिता का ध्यान रखना होगा। ग्रापस की फूट बढ़ाना बुद्धि का काम नहीं। यों तो कुछ-न-कुछ त्रुटि सभी भाषाग्रों में रहा करती है। तो व्यर्थ की मनमानी हाँकने के बदले एक राष्ट्रीय भाषा के बनने में मदद देना केवल उचित ही नहीं, परमावश्यक है। ग्रौर-ग्रौर प्रान्तवासी भाई-बहनों पर दृष्टि रखते हुए सब हिन्दी-प्रेमियों को एक सरल, सुन्दर ग्रौर जोरदार देशभाषा बनाने के लिए कमर कसे रहना चाहिए, जिससे हिमालय से कन्याकुमारी तक ग्रौर सिन्ध से ग्रासाम तक सारे भारतवर्ष में, एक साधारण भाषा के सहारे एक प्रान्तवासी दूसरे प्रान्त में रहनेवाले ग्रपने भाइयों से ग्रपना मनोभाव प्रकट कर सके ग्रौर भाषा की दृढ़ पर मुलायम डोरी से बँधे हुए एक ग्रखण्ड भारत की सृष्टि करे।'' हिन्दी को राष्ट्रभाषा के योग्य बनाने के लिए ग्रभी भी यह तर्क दिया जाता है कि उसे संस्कृतनिष्ठ बनाना चाहिए, क्योंकि संस्कृत के शब्द भारत की सभी भाषाग्रों में हैं। निराला ने संस्कृतनिष्ठता की जगह भाषा की सरलता पर जोर दिया। हिन्दी में किसी नये शब्द की जरूरत हो, तो वह सबसे पहले संस्कृत से लेना चाहिए, या संस्कृत के ग्राधार पर गढ़ना चाहिए, यह भी उन्होंने ठीक कहा, क्योंकि हिन्दी की बुनियादी शब्दावली में संस्कृत के शब्द भारी संख्या में मिले हुए हैं। इसके ग्रलावा उन्होंने राष्ट्रभाषा को सम्पर्क-भाषा के रूप में देखा, जो कि एक महत्त्वपूर्ण बात है। यह सम्पर्क-भाषा विभिन्न प्रान्तों की जनता को पारस्परिक सम्पर्क की सुविधा ही नहीं प्रदान करेगी, ग्रपनी 'दृढ़ पर मुलायम डोरी' से बाँधकर एक ग्रखण्ड भारत की सृष्टि करेगी ! यहाँ 'दृढ़' के साथ-साथ 'मुलायम' शब्द पर भी ध्यान जाना चाहिए। राष्ट्रभाषा किसी पर लादी न जाये उसका विकास स्वाभाविक रूप से हो। निराला ने प्रान्तीय या जातीय भाषाग्रों के महत्त्व को हमेशा समझा ग्रौर उनके तथा राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के बीच कोई विरोध नहीं देखा। उनकी दृष्टि में हिन्दी का विरोध विदेशी भाषा ग्रँगरेजी के साथ था। जातीय संकीर्णता से प्रेरित होकर कुछ बंगाली विद्वान हिन्दी के स्थान में ग्रँगरेजी के प्रचलन के पक्ष में थे। निराला ने 'हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में बंगाली मनोवृत्ति' शीर्षक टिप्पणी में इस सम्बन्ध में लिखा: ''हिन्दी यदि राष्ट्रभाषा हो जायगी, तो बंगालियों को इस बात का डर है कि बंगला-भाषा का महत्त्व उससे कम हो जायगा। परन्तु यह उनकी भूल है। हिन्दी के रहते हुए भी वे ग्रपनी भाषा का महत्तम विकास कर सकते हैं। सभी प्रान्तीय भाषाग्रों के सम्बन्ध

में यह बात कही जा सकती है। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के कार्य-संचालन के लिए देश को यदि एक भाषा के सूत्र में ग्रथित कर दिया जाय, तो इसमें उनका हर्ज क्या है? परन्तु हिन्दी के स्थान पर इन बंगालियों को जब हम अँगरेजी का नाम लेते हुए सुनते हैं, तब हमें मजबूर होकर यही कहना पड़ता है कि ये लोग हर्बर्ट स्पेन्सर ने जिसे Bias of Patriotism कहा है, उससे बुरी तरह ग्रस्त हो रहे हैं।" हिन्दी ही इस देश की राष्ट्रभाषा बन सकती है, निराला के ऐसा कहने का कारण यह नहीं था कि वे खुद जातीय संकीर्णता से ग्रस्त थे। उक्त टिप्पणी में ही उन्होंने इसका कारण यह बतलाया है कि इसे बोलने और समझने-वाले इस देश में संख्या में सबसे अधिक हैं: "वह कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक, थोड़े या बहुत रूप में, बोली और समझी जाती है।" कुछ लोग हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के योग्य इस कारण नहीं मानते थे कि वह साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध नहीं। 'भारत की राष्ट्रभाषा' शीर्षक टिप्पणी में निराला ने राष्ट्रभाषा के लिए सबसे अधिक आवश्यक बतलाया 'भावों के सार्वदेशिक सुगम विनिमय' का माध्यम बनने की क्षमता। उन्होंने लिखा: "भरतपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा बनाना हो, तो उसके साहित्य की श्रीवृद्धि करो, उसे आकर्षक और सर्वग्राही बनाओ। रवि बाबू भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि और साहित्यिक हैं, इसलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को भी साहित्यिक दृष्टि से देखा, तो आश्चर्य नहीं। पर जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, साहित्य और भाषा का प्रश्न बहुत-कुछ एक होते हुए भी बहुत कुछ अलग भी है।" प्रान्तीय और जातीय भाषाओं से हिन्दी का विरोध नहीं, अपनी इस मान्यता का प्रमाण उन्होंने यह कहकर दिया कि "उचित शिक्षा के प्रचार के लिए मातृभाषा का ही माध्यम ठीक है, हम इसके पक्ष में हैं।" ('शिक्षा-समस्या और हिन्दी' शीर्षक टिप्पणी) यहाँ 'मातृभाषा' शब्द ध्यान देने योग्य है। निराला ने मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया, राष्ट्रभाषा को नहीं।

प्रस्तुत खण्ड में संकलित निराला के निबन्धों और टिप्पणियों में और भी बहुत कुछ है। उन्होंने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे महत्त्वपूर्ण विषय पर लिख-कर अपना मन्तव्य प्रकट किया, जिसका सार अत्यन्त प्रगतिशील है। निबन्धों में 'चरखा' और "'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म'?"-जैसे ऐतिहासिक महत्त्व के निबन्ध हैं, जिनमें निराला की तर्क-शक्ति और चिन्तनशीलता देखते ही बनती है। 'हिन्दी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचन्दजी' ऐसा संस्मरणात्मक निबन्ध है, जिसका जोड़ हिन्दी में शायद ही मिले। 'गाँधीजी से बातचीत' और 'नेहरूजी से दो बातें' शीर्षक निबन्ध हिन्दी को लेकर निराला ने जो संघर्ष किया था उसका दस्तावेज है। ऐसा ही मूल्यवान 'प्रांतीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद' शीर्षक इण्टरव्यू भी है। कई निबन्धों और टिप्पणियों में निराला ने भाषा के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जैसे 'भाषा की गति और हिन्दी की शैली' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कहा है कि "कविता की भाषा से मनोरंजन तो होता है परन्तु वह जीवन-संग्राम के काम की नहीं होती" और 'हिन्दी का रूप और प्रभाव' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने कहा है कि "जबान कभी अशुद्ध नहीं होती (चाहे वह किसी की, कितने ही अपढ़ों की हो), यदि वह कृत्रिम नहीं।"

समीक्षाओं के क्रम-संयोजन के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। हमने साहित्यिक और साहित्येतर विषयों की पुस्तकों के भेद को भुलाकर सारी पुस्तक-समीक्षाएँ एक ही स्थान पर, यानी खण्ड छः में ही, संकलित की हैं। स्वभावतः साहित्यिक

पुस्तकों की समीक्षा निराला की आलोचना के साथ रखकर देखी जानी चाहिए। 'चाबुक' में निराला पत्रिकाओं की भाषा (मुख्यतः सम्पादकों द्वारा प्रयुक्त) की समीक्षा किया करते थे और 'कसौटी' में पुस्तकों तथा अनुवाद की। उसकी भाषा-समीक्षा अभिव्यक्ति और भाषा-सम्बन्धी उनके सूक्ष्म ज्ञान की परिचायक है। अनुवाद-समीक्षा से यह पता चलता है कि बंगला भाषा पर उनका अखण्ड प्रभुत्व था। हास्य-व्यंग्य उनकी समीक्षा को उत्कृष्ट कला-कृति बना देता है।

रानीघाट लेन, महेंद्रू,
पटना-800006
6 अक्तूबर, 1982

**नन्दकिशोर नवल**

72797

R
029
निद२नि-५

## अनुक्रम

### स्फुट निबन्ध

वंग-भाषा का उच्चारण 27
भारत में श्रीरामकृष्णावतार 30
वाहर और भीतर 34
प्रवाह 38
जातीय जीवन और श्रीरामकृष्ण 40
हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए 47
भाषा की गति और हिन्दी की शैली 50
शक्ति-परिचय 55
परमहंस श्रीरामकृष्ण देव 59
चरखा 61
श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज से वार्तालाप 73
कविवर श्रीचण्डिदास 75
छत्रपुर में तीन सप्ताह 78
युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण 80
वेदान्त केशरी स्वामी विवेकानन्द 84
युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण 92
वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान स्थिति 99
वर्तमान हिन्दू-समाज 108
भारत का नवीन प्रगति में सामाजिक लक्ष्य 115
बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ 119
जेनरल प्राइमो डी रिवेरा 123
श्रीदेव रामकृष्ण परमहंस 125
चरित्र 130
सामाजिक पराधीनता 133
अर्थ 138
वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत 142
एक बात 146
साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन 150
'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म'? 152
क्षमायाचना के लिए धमकी 172
शून्य और शक्ति 176
अर्थ-अर्थान्तर 179
पं. बनारसीदास का अंग्रेजी-ज्ञान 181
स्वकीया 184
श्रीरामकृष्ण मिशन (लखनऊ) 188
हिन्दी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचन्दजी 191
भौन कवि 194
प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन, फैज़ाबाद 198
गाँधीजी से बातचीत 210
नेहरूजी से दो बातें 217
हमारा समाज 221
कला और देवियाँ 224
बलभद्रप्रसाद दीक्षित 226
हिन्दी के आदि प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 229
महादेवजी के जन्म-दिवस पर 230
तुलसी के प्रति श्रद्धाञ्जलि 233

### टिप्पणियाँ

संयुक्त-प्रान्तीय युवक-कानफ़रेंस 237
लखनऊ-जिला कानफ़रेंस 239
स्वदेशी-प्रदर्शिनी 240
समाज और स्त्रियाँ 241
प्रातःकालिक घोषणा 243

वायसराय की विज्ञप्ति 244
कसौटी पर 245
नेताओं का निश्चय 247
बाबू सुभाषचन्द्र वसु का व्याख्यान 249
राष्ट्र की युवक-शक्ति 252
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन स्थगित 254
घोषणा का मध्याह्न 256
कांग्रेस का रंगमंच 258
हिन्दू-अबला 259
लाहौर कांग्रेस के सभापति पण्डित जवाहरलाल नेहरू का अभिभाषण 262
पण्डित जवाहरलाल नेहरू 266
इंगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध 268
फ्रेंच महावीर क्लेमेंशो 271
राष्ट्र और नारी 274
रूप और नारी 276
हिन्दी की अभिनय-कुशलता 277
सारदा-बिल का विरोध 280
देश की स्थिति और सरकार 280
महात्माजी की गिरफ्तारी और सरकार 283
लखनऊ में गोली और पुलिस की डण्डेबाजी 287
नौकरशाही का महिलाओं पर हमला 289
समाज और मनुष्य 291
राष्ट्र-भाषा का प्रश्न 294
भारत की राष्ट्र-भाषा 297
साइमन-कमीशन की रिपोर्ट 299
वर्तमान आन्दोलन में महिलाएँ 301
सामाजिक व्यवस्था 302
'स्टेट्समैन' की राजनीतिज्ञता 305
व्यंग्य-विनोद 306
आर्यों की आदिभूमि, पंजाब 308
व्याख्यान का नतीजा 310
मार्जन और स्वतन्त्रता 312
वस्त्र-समस्या 313
कविवर रॉबर्ट ब्रिजेज़ 314
राजा और प्रजातन्त्र 315
कविवर रवीन्द्रनाथ और वर्तमान आन्दोलन 317
प्रो. लाला भगवानदीनजी 'दीन' का स्वर्गवास 317
साइमन-रिपोर्ट 318
आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय का भाषण 320
पेशावर की स्थिति 321
मांसाहार 321
हिन्दू या हिन्दवी 325
संगठन का एक रूप 328
विवाह के विचार पर बर्नार्ड शॉ 330
जनता और सरकार 334
भू-डोल का वैज्ञानिक सिद्धान्त 336
श्री विजय वर्मा और 'सुधा' 338
विलियम एडवर्ड बर्गार्ड ड्युबॉय 339
साहित्य की आकांक्षा 342
उपाधियों की व्याधि 344
हिन्दू-धर्म के प्राथमिक सिद्धान्त 346
हमारे समाज का भविष्य रूप 348
दिव्यता और वेदान्त 351
हमारी महिलाओं की प्रगति 352
मनुष्य-गणना और जात-पाँत 353
दहाड़-1 354
छाया-चित्र-1 356
हिन्दी का रूप और प्रभाव 357
समाज और महिलाएँ 359
धार्मिक ऐकदेशिकता 361
रूस 362
महात्माजी की भीषण प्रतिज्ञा 363
साम्राज्यवाद और सत्याग्रह 365
देशी रियासतों का रंग 367
पौरत्व 368
सरकार की नीति 372
हिन्दुओं का जातीय संगठन 373
'एकैकश भार' 375
विज्ञान और वैज्ञानिक पत्र-कला 377
हमारे हिन्दू और मुसलमान 382
वैज्ञानिक और धर्म 384
भारतीय और अँगरेजी-साहित्य 387
मनुष्य-धर्म 390
पुस्तकालय, पुस्तक-पाठ और उसका महत्त्व 392

माउण्ट एवरेस्ट या माउण्ट सिकदार 393
बेकारी 395
अखिल भारतवर्षीय शिक्षा-सम्मेलन 396
निरस्त्रीकरण-परिषद् 397
आचार्य अमर हों ! 398
आचार्य द्विवेदीजी और डी. लिट. की पदवी 399
हिन्दोस्तानी-एकेडेमी और हिन्दोस्तानी-पत्रिका 400
राजनीति और समाज 401
राजनीति के लिए सामाजिक योग्यता 403
महात्माजी और हरिजन 404
साहित्य में प्रोपागैण्डा 405
विद्यार्थियों में अपव्यय 409
जहरीला घी और तेल 410
स्वास्थ्य और व्यायाम 410
महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर 411
साहित्य में दलबन्दी 417
सनातन धर्म और अछूत 419
जर्मनी में संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य हुई 420
हिन्दू-विधवाओं पर अनधिकार-चर्चा 420
अधिकार-समस्या 421
पण्डित जवाहरलाल नेहरू और हिन्दी 424
टर्की की समुन्नति 425
लखनऊ-विश्वविद्यालय और हिन्दी 426
सौन्दर्य और विवाह 426
शिक्षा-समस्या और हिन्दी 429
बंगालियों की प्रान्तीयता 431
विवाह की उम्र 432
चीनी महिलाओं का भारतीय आदर्श 434
साड़ी की महिमा 436
नेपाल पर इटेलियन यात्री 438
हमारे प्रोपागैण्डिस्ट 439
'कस्मै देवाय' और हिन्दी का नवयुग 439
शिक्षादर्श पर रवीन्द्रनाथ 441
किसान और उनका साहित्य 442
हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में बंगाली मनोवृत्ति 444
क्रीड़ा 447
हमारे साहित्य की रूपरेखा 448
हिन्दू-मुस्लिम-समस्या 450
साहित्य तथा हमारे लेखकों का संकट 452
रूस का राष्ट्रसंघ में प्रवेश 454
राष्ट्रसंघ में रूस 455
फिल्म-व्यवसाय, कला और हिन्दी 456
कवीन्द्र रवीन्द्र और राष्ट्रभाषा 457
भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी 459
लखनऊ-विश्वविद्यालय और हिन्दी 460
कथानक का विकास और फिल्म-निर्देशन 462
साहित्य का प्रचार 464
सम्मेलन और महात्माजी 467
इन्दौर का हिन्दी-विश्वविद्यालय 468
रूस की स्त्रियाँ 472

## समीक्षाएँ

चाबुक-1 477
चाबुक-2 478
चाबुक-3 480
चाबुक-4 480
चाबुक-5 483
चाबुक-6 483
चाबुक-7 484
चाबुक-8 485
चाबुक-9 487
चाबुक-10 489
चाबुक-11 490
चाबुक-12 491
चाबुक-13 492
कसौटी-1 493
कसौटी-2 495
कसौटी-3 497
कसौटी-4 498

| | |
|---|---|
| कसौटी-5 | 499 |
| कसौटी-6 | 501 |
| कसौटी-7 | 502 |
| कसौटी-8 | 503 |
| कसौटी-9 | 505 |
| जीव-विज्ञान | 508 |
| अद्वैतवाद | 508 |
| तुलसी-सतसई | 510 |
| गीतावली | 511 |
| नवीन बीन (या नदीमे दीन) | 511 |
| बोलचाल | ς12 |
| काला-पहाड़ | 513 |
| भ्रमित पथिक | 513 |
| कबीर-ग्रन्थावली | 515 |
| राष्ट्रीय डंका अथवा स्वदेशी खादी | 515 |
| भावुक | 516 |
| काकली | 516 |
| समाज | 517 |
| बिपता | 517 |
| उपनिषद्-सुधा | 518 |
| भगवद्गीता की समालोचना | 518 |
| अरुणोदय | 519 |
| भूली बात | 519 |
| हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास | 520 |
| राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास | 520 |
| श्री-श्री चैतन्य चरितावली (खण्ड-1) | 521 |
| हिन्दी दासबोध | 521 |
| आत्मोत्सर्ग | 522 |
| स्वामी रामतीर्थजी महाराज का जीवन-चरित | 523 |
| सीकर | 525 |
| निशीथिनी | 526 |
| रिसाला अजायबुल इल्म अर्थात् भगवत ज्ञान के विचित्र रहस्य | 528 |
| शूल-फूल | 530 |
| सोहाग की डिबिया | 531 |
| कामायनी | 532 |
| होमियोपैथिक चारुचिकित्सा | 534 |
| श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, की पुस्तकें | 535 |
| अचल सुहाग | 539 |

# स्फुट निबन्ध

## वंग-भाषा का उच्चारण

यदि वंग-भाषा की तुलना जगत की उन्नतिशील भाषाओं से की जाय तो किसी से बुरी नहीं ठहरती। बंकिम-रवीन्द्र-गिरीश-द्विजेन्द्र जैसे नर-रत्नों से जिसकी शोभा बढ़ी है वह वंग-भाषा दूसरी प्रभायुक्त भाषाओं के सामने कदापि निष्प्रभ नहीं कही जा सकती। इसलिए उन्नतिशील भाषाओं में बंगला की भी गणना है। संसार में निर्दोष कोई नहीं। सर्वाङ्ग-सुन्दरी वंग-भाषा भी दोषयुक्त है। यह दोष उसके उच्चारण में है। इसका छूटना सर्वथा असम्भव है। यदि कोई जबरदस्ती व्याकरण की युक्तियों की शरण लेकर उसे छुड़ाना चाहे—वंग भाषा को कलङ्कनिर्मुक्त करना चाहे—तो उसका प्रयास विफल होगा। इसके विषय में बड़े-बड़े बंगाली विद्वानों का यह कथन है कि इस दोष से वंग-भाषा का सौन्दर्य वैसा ही बढ़ता है जैसा कालिमा-कलङ्क से चन्द्र का। हम इसका समर्थन तो नहीं कर सकते। पर इतना अवश्य कहेंगे कि जैसे चन्द्र का कलङ्क नहीं छूट सकता वैसे ही वंग-भाषा का यह धब्बा! इस धब्बे के कारण वंग-भाषा के उच्चारण में यह कठिनाई होती है कि यदि जीभ लड़कपन में न फेरी गयी तो वह इसके उच्चारण-मार्ग पर कभी शुद्ध चाल चल ही नहीं सकती। इसके उदाहरण दूसरे प्रान्तों के हमारे भाई हैं। जब वे बंगला, विशेष करके उसका पद्य, पढ़ते हैं तब उन्हें बंगला शब्दों का उच्चारण बहुत अखरता है। यह सभी को मालूम है कि बंगालियों की तरह वंग-भाषा का उच्चारण केवल वही कर सकता है जिसका बाल्यकाल का जीवन वंग-भूमि ही में व्यतीत हुआ है।

वंग-भाषा के उच्चारण में यह धब्बा क्या और कैसा है, यह बताने के लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण देते हैं। इस स्थान में यह लिख देना अनुचित न होगा कि उच्चारण का विचार यदि पद्यों के द्वारा किया जाय तो वह सहज ही समझ में आ जायगा। क्योंकि शब्दों की यथार्थ स्थिति का निश्चय पद्य से ही अधिक होता है।

पद्य रचते समय बंगाली लेखक की दृष्टि मात्राओं के मेल पर नहीं, अक्षरों के मेल पर रहती है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं—

> बनेर पाखी गाछे बाहिरे बसि बसि
> बनेर गान छिल यत
> खाँचार पाखी पड़े शिखानो बुलितार
> दोहाँर भाषा दुइ मत ॥*

* पाठकों से निवेदन है कि वे इसे कविवर पर दोषारोप न समझें। यहाँ केवल उच्चारण पर विचार किया गया है—लेखक।

इस पद्य में पहली पंक्ति के साथ तीसरी पंक्ति का और दूसरी पंक्ति के साथ चौथी पंक्ति का मेल है। पहली और तीसरी पंक्ति में 14-14 अक्षर और दूसरी और चौथी में 9-9 अक्षर हैं। यह अक्षरों का मेल हुआ, मात्राओं का नहीं। मात्रा किसे कहते हैं, यह बात हम लोगों में से बहुतों को मालूम है। तो भी हम यहाँ इसका विवेचन दो-चार शब्दों में किये देते हैं। यथा—

वर्णों का उच्चारण स्वर के योग से ही होता है। स्वर वर्णमाला के दो भाग हैं—ह्रस्व और दीर्घ। अ, इ, उ और ऋ ये चार ह्रस्व या लघु स्वर हैं और आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये नव दीर्घ या गुरु स्वर हैं। एक दीर्घ स्वर दो लघु स्वरों के बराबर है, अर्थात् ह्रस्व में एक मात्रा और दीर्घ में दो मात्राएँ होती हैं। मात्रा अक्षरों की शब्द स्थिति का निर्णय करती है।

हमें पूर्वोद्धृत पद्य की मात्राओं को अलग-अलग जोड़कर यह देखना है कि समान पदों में मात्राओं का मेल है या नहीं। यदि समान पदों की मात्रा-समष्टि एक दूसरी के साथ न मिली तो यह सिद्ध होगा कि उच्चारण दोषयुक्त है—

1 2 1 2 2 2 2 2 1 2 1 1 1 1=21 मात्राएँ
ब ने र पा खी गा छे बा हि रे ब सि ब सि=14 अक्षर
1 2 1 2 1 1 1 1 1=11 मात्राएँ
ब ने र गा न छि ल य त=9 अक्षर
2 2 1 2 2 1 2 1 2 2 1 1 2 1=22 मात्राएँ
खाँ चा र पा खी प ड़े शि खा नो बु लि ता र=14 अक्षर
2 2 1 2 2 1 1 1 1=13 मात्राएँ
दो हाँ र भा षा दु इ म त=9 अक्षर

पहली में 21 तो तीसरी में 22 और दूसरी में 11 तो चौथी में 13 मात्राएँ हैं। समान पदों की मात्राओं में मेल नहीं पाया जाता। उनकी इस शाब्दिक स्थिति से यह सिद्ध होता है कि रचना लघु-दीर्घ अक्षरों के उच्चारण की पहचान से नहीं की गयी।

### दीर्घत्व की हानि

किसी पद्य में यदि मात्राओं का मेल न रहे तो वह पद्य पद्य नहीं गिना जा सकता। महाकवि के निर्दिष्ट पद्य में, व्याकरण के नियमों के अनुसार मात्राएँ न मिलने पर भी, एक प्रकार का मिलन अवश्य हो रहा है। केवल आक्षरिक मिलन कहना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि अक्षरों का उच्चारण करते हुए हमें समान पदों के साथ समान पदों का शाब्दिक मिलन भी दिखाना चाहिए, क्योंकि इसके वैषम्य से तुकबन्दियों की लड़ियाँ टूट जाती हैं—पाठक ठोकर-सी खा जाते हैं।

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1=14 मात्राएँ
ब ने र पा खी गा छे बा हि रे ब सि ब सि=14 अक्षर
1 1 1 1 1 1 1 1 1=9 मात्राएँ
ब ने र गा न छि ल य त=9 अक्षर
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1=14 मात्राएँ
खाँ चा र पा खी प ड़े शि खा नो बु लि ता र=14 अक्षर
1 1 1 1 1 1 1 1 1=9 मात्राएँ
दो हाँ र भा षा दु इ म त=9 अक्षर

बंगाली लेखक पद्य में अक्षरों की समष्टि ही को उच्चारण की मात्रा समष्टि

मानते हैं। इस अवतरण में जितने अक्षर हैं सब पर एक ही मात्रा लगाकर समान-पदों के साथ समान-पदों का शाब्दिक मेल दिखाया गया है। इस प्रकार के उच्चारण में विचित्रता भरी पड़ी है। इसी से दूसरे प्रान्त के लोगों को बंगला के उच्चारण में कठिनाई पड़ती है। देखिए, यहाँ दीर्घ वर्णों का दीर्घ उच्चारण सम्भव नहीं, क्योंकि दीर्घ वर्ण, एक ही मात्रा के अधिकारी बन जाने के कारण, दीर्घत्व के आसन से नीचे उतार दिये गये हैं।

### ह्रस्वमय बंगला-भाषा

'बनेर पाखी गाछे बाहिरे बसि-बसि' की जगह यदि 'सकल खग कुल बहत बसि-बसि' कहा जाय तो छन्दोभङ्ग की कोई आशंका नहीं। यहाँ भाव का विचार नहीं किया गया है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि पूर्व्व पद के चौदह अक्षरों में सात अक्षरों के दीर्घ होते हुए भी, चौदहो लघु वर्णों का कल्पित पद उसके साथ शाब्दिक स्थिति की बराबरी कर रहा है। यदि उन सातों अक्षरों के उच्चारण दीर्घ होते तो अवश्य दोनों पदों की शाब्दिक स्थिति में अन्तर पड़ता। बंगला के नियमानुसार दोनों पदों में मेल है, इससे यह साफ़ प्रगट होता है कि पूर्व्व पद के सातो दीर्घ वर्णों के उच्चारण ह्रस्व किये जा रहे हैं। नहीं तो कल्पित पद किसी तरह उसकी बराबरी न करता। यहाँ हम लोगों को भली भाँति मालूम हो जाता है कि वंग-भाषा का उच्चारण ह्रस्वमय है। उससे ह्रस्वों और दीर्घों की शब्द स्थिति में कोई प्रभेद नहीं।

### भाषा पर ह्रस्वमयता का प्रभाव

बंगला पद्य-समह के ह्रस्वमय होने के कारण भाषा पर जो प्रभाव पड़ा है वह बड़ा ही कोमल और मधुर है। भाषा की कोमलता ने बंगालियों के वेश-भूषा, आहार-विहार, रहन-सहन, हाव-भाव, समाज और जीवन सभी में कोमलता भर-कर वंग-देश को मानों कोमलता की राजधानी बना दिया है। परन्तु—

कोमलता स्त्री का और गाम्भीर्य पुरुष का धर्म है। एक से दूसरा बिलकुल विपरीत है। वंग-भाषा में यदि कोमलता अधिक है तो उसमें गाम्भीर्य की कमी है। इधर उच्चारण की ओर देखिए। पर्याप्त पौरुष प्रकट करने के लिए जिन शब्दों की ज़रूरत है उन्हें गम्भीर करना पड़ता है। यदि आवाज़ गुरु उच्चारणों से ठस, भारी या ऊँची न हो तो भाषा से गम्भीर भाव व्यक्त नहीं होता। बंगला में इस भारीपन का अधिक अभाव है। इसीलिए गम्भीर भावों को व्यक्त करते समय बंगाली लोगों के मुख से 'सरे जाव' की जगह 'हट जाव', 'चुप कर' की जगह 'चोप राव' इत्यादि हिन्दी शब्द स्वभावतः निकल पड़ते हैं। ये शब्द इस बात का परिचय देते हैं कि वंग-भाषा में गाम्भीर्य नहीं।

### कुछ अक्षरों के विलक्षण उच्चारण

बंगला में अ का उच्चारण न 'अ' है और न 'ओ', बस दोनों के बीचोबीच है। ऐ को बंगाली लोग 'ओइ' और औ को 'ओउ' कहते हैं। जैसे—ऐतिहासिक—'ओइतिहासिक'; औषध—'ओउषध'। श, ष, स, का श; ण, न का न; ब, व का ब उच्चारण होता है। जैसे 'विशेष'—बिशेश; सर्प—शर्प; वेणी—बेनी; वेद—बेद; अभाव—अभाब इत्यादि। व लिखने की यदि ज़रूरत पड़ी तो वे लोग 'ओय' लिखकर काम निकालते हैं; जैसे तेवारी—तेओयारी; मेवा—मेओया। यदि 'य'

आदि का वर्णन हुआ तो 'ज'; नहीं तो य ही पढ़ते हैं, जैसे योग—जोग, नियम—नियम। क्+ष+अ=क्ष को क्ख कहते हैं, जैसे—पक्ष—'पक्ख', क्+ष्+म+अ=क्ष्म को क्खँ, जसे लक्ष्मी—लक्खीं; क्+म्+अ=क्म को क्कँ, जैसे रुक्मिणी—रुक्किनी; क्+व्+अ=क्व को क्क, जैसे पक्व—'पक्क'; क्+य्+अ=क्य को क्क, जैसे ऐक्य—ओइक्क। परन्तु यदि कहीं 'य' युक्ताक्षर हुआ तो उसका उच्चारण 'य' ही किया जाता है, जैसे ध्+य्+अ=ध्य का ध्य, ध्यान का 'ध्यान'। परन्तु अध्ययन को वे 'अध्यन' कहेंगे।

स्थानाभाव के कारण पद्यों और शब्दों के एकाधिक उदाहरण नहीं दिये जा सके।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920। **चयन** में संकलित]

## भारत में श्रीरामकृष्णावतार

विधाता की सृष्टि-भर में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य पूर्णता का अधिकारी है। मनुष्य के सिवा और किसी भी जीव को मुक्ति या पूर्णता का अधिकार नहीं दिया गया—देवताओं को भी नहीं।

पूर्णता या मुक्ति ही धर्म का सच्चा स्वरूप है। ऋषियों ने—न जाने इसके कितने नामकरण किये। किसी ने इसे ब्रह्म कहा, किसी ने परमात्मा। किसी ने निर्वाण कहा तो किसी ने कैवल्य पद। उसे और भी कितनी ही पदवियाँ दी गयीं। किन्तु हर एक पदवी—हर एक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक है। अर्थात् ऋषियों ने जिन-जिन शब्दों द्वारा उस पूर्ण ब्रह्म का बोध कराया है, उन शब्दों के अर्थ में कोई भेदभाव नहीं।

पूर्वोक्त ब्रह्म या पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होना ही मनुष्य का धर्म है। पूर्णता को प्राप्त करते ही मनुष्य का पहले का स्वरूप बदल जाता है। वह अपने को ब्रह्म से अभिन्न देखता है। उसमें फिर अभाव का लवलेश भी नहीं रह जाता। अभावों को दूर कर पूर्ण हो जाने के लिए ही मनुष्य की सृष्टि हुई है।

दूसरे जीव पूर्णता प्राप्ति या मुक्ति के अधिकारी नहीं। वे प्रकृति के दास हैं। वे अपने स्वभाव को नहीं बदल सकते। स्वभाव का संगठन अभाव के अनुभव से होता है। भोग के लिए भिन्न-भिन्न अभावों का अनुभव करके प्रकृति भिन्न-भिन्न जातियों की सृष्टि करती है। पहले का अभाव सृष्ट जाति का स्वभाव बन जाता है। संसार में जितनी जातियाँ दृग्गोचर होती हैं—सबमें एक-एक अभाव का अनुभव, अत: एक-एक स्वभाव का प्रकाश लक्षित होता है। यह स्वभाव जीवों के चित्त पर वृत्ति के रूप से स्थित रहता है। वृत्ति अभाव पूर्ति के लिए जीव को भोग की ओर खींच लेती और जीव भोग को ही श्रेष्ठ सुख मान लेता है। इन्द्रियसुख से बढ़कर और भी कोई सुख है, इसकी उसे कोई धारणा नहीं, न यह धारणा-शक्ति उसमें पैदा हो सकती है। इसका कारण यह है कि वह भोग-योनि में पड़ा हुआ है। भोग-योनियों में अतीन्द्रिय सुख की कोई सम्भावना नहीं। जो वृत्ति स्वभावतः

भोग पर प्रीति रखती है, वह भोग-सुख से मुख नहीं मोड़ सकती। और जब तक भोग-सुख की लालसा क्षीण नहीं हो जाती तब तक जीव अतीन्द्रिय राज्य की ओर कदम नहीं बढ़ा सकता। केवल मनुष्य ही इन्द्रियातीत सत्ता तक पहुँच सकता है। मनुष्य में भोगवृत्तियाँ दूसरे जीवों की अपेक्षा कम हैं। अतएव भोग द्वारा और-और जीवों को जो सुख मिलता है, वह सुख मनुष्य को प्राप्त नहीं। भोग-वृत्तियों के कमजोर हो जाने के कारण ही मनुष्य में ज्ञान की मात्रा अधिक होती है। ज्ञान के द्वारा भोग-वासना को दबाकर मनुष्य अतीन्द्रिय राज्य की धारणा कर सकता है। ज्ञान, प्रेम, त्याग और विवेकादि सद्गुणों पर मनुष्यों का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह भोग में लिप्त नहीं रह सकता। उसे अभाव है तो पूर्ण सुख का अभाव है। उसके क्रिया-कलापों को पूर्णता प्राप्ति के साधन समझ लेना चाहिए। उसकी चित्त-प्रवृत्तियाँ उसे शान्ति का रसास्वाद कराने के लिए निवृत्ति का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इसका विस्तृत विवेचन विस्तार-भय से हम यहाँ न करेंगे। केवल यह कह देना ही काफी होगा कि आज भी ऐसे मनुष्य हैं, जो निर्विकार-निरंजन-पूर्ण बने बैठे हैं; जिन्हें भोग-सुख की तो बात ही क्या, अपने शरीर तक की कोई खबर नहीं।

अस्तु, जिसने जीवों में अभाव की उत्पत्ति की उसने उन्हें वहीं स्थापित किया जहाँ उनकी अभाव-पूर्ति होती रहे। जिसने शेर की सृष्टि की उसने उसे वहीं छोड़ा जो स्थान उसके रहने-योग्य है और जहाँ उसे भोजन भी मिलता रहे। जिसने खटमल पैदा किये उसने उनके लिए स्थान भी सोच-समझकर निश्चित किया। जिसने हिरन को डरपोक बनाया उसने उसे भागने के लिए मजबूत पैर भी दिये। कहीं यह नहीं दीख पड़ता कि आम के पेड़ में इमली लगी हो या मछली जमीन पर रेंगती हो या चमगीदड़ दिन में देखता हो। हर जीव के स्वभाव के अनुकूल पहले ही से की हुई एक व्यवस्था दिखायी पड़ती है। तो क्या शान्ति चाहनेवालों के लिए भी उसने किसी अनुकूल अवस्था की रचना की है? इसका जवाब भारत की प्राकृतिक परिस्थितियों पर कुछ विचार करने से मिल जाता है।

भारत के प्राकृतिक नियमों की जाँच करने से उसके धर्मजीवन का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। षड्ऋतुओं का धीर तथा समावर्तन भारत की स्वभाव-शान्त प्रकृति पर कोई अस्वाभाविक क्रिया नहीं उत्पन्न करता। हिमालय-जैसे गम्भीर व सात्त्विक प्रकृति के लीलाक्षेत्र पर दृष्टि पड़ते ही दर्शकों का मन स्वभावतः अन्तर्मुखी होकर कवित्वमय भावराज्य की सैर करता है। भारत में उपजाऊ भूमि पेट के प्रश्न की मीमांसा कर देती—जीविकार्जन के लिए अन्यत्र अशान्ति की आग सुलगाने से निवृत्त करके उसे शान्ति का पाठ पढ़ाती—है। गंगा-जैसी स्वच्छतोय नदियों का जल उसके मनोमल को धो डालने के लिए सर्वथा समर्थ है, इसकी वैज्ञानिक व्याख्या विद्वान पाठक पढ़ चुके होंगे। प्रकृति की कुल चेष्टाएँ मानों भारत के धर्मधाम की रक्षा करने के लिए ही कर्मतत्पर हो रही हैं। इधर भारत अपने शब्दार्थ से भी अपनी धर्मप्राणता सूचित कर देता है। पूर्वोक्त कारणों से ही भारत ने पूर्ण सुख के न जाने कितने अधिकारी पैदा किये।

परन्तु, धर्म को मानते हुए हमें अधर्म को भी मान लेना चाहिए, क्योंकि सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई शब्द नहीं, जिसका विरोधी गुण न हो। सत्य का स्वरूप संगठन करते ही असत्य का भी चित्र खिंच जाता है। पुण्य का ग्रहण करते ही पाप भी अपने अस्तित्व की गवाही देने के लिए तैयार दिखायी देता है। सत्ययुग की सुन्दर कल्पना कीजिए तो कलियुग की भी कराल मूर्ति अंकित हो जायगी। अमृत का गुण-गान कीजिए तो विष को भी अपनी तान छेड़ते हुए देखिए।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—'जड़ चेतन गुण दोषमय, विश्व कीन करतार।' गुण और दोषों से युक्त इस संसार में विरोधाभास सर्वत्र है। हर एक व्यक्ति—हर एक शब्द का विरोधी गुण उसकी प्रगति का निर्णय कर रहा है। संसार स्वयं अपने शब्दार्थ द्वारा अपनी गतिशीलता दर्शा रहा है। प्रगति भले और बुरे के संघर्ष से ही होती है। प्रवाह का प्रमाण तभी पुष्ट होगा जब उसमें उत्थान और पतन-शील तरंगें उठती रहेंगी। कवि कहता है—'उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है; चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।' यदि विरोधी गुणों का त्याग व नाश कर दिया जाय तो संसार की प्रगति रुक जायगी। प्रगति के रुक जाने से न कोई भाव पैदा हो सके; न किसी की जबान खुल सके और न कोई कुछ लिख ही सके; अभिप्राय यह कि सृष्टि ही असम्भव हो जाय। किन्तु सृष्टि को शास्त्रकारों ने अनादि माना है। अतः उसकी प्रगति भी अनन्त है। सृष्टि की गतिशीलता के साथ-साथ स्वाभाविक संघर्ष द्वारा धर्म और अधर्म भी अनन्त काल तक गतिशील बने रहेंगे। धर्म और अधर्म की अन्तहीन प्रगति का अनुभव करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने धार्मिक भारत को जो अभयवाणी सुनायी वह प्रत्येक भारतवासी को मालूम है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

भगवान श्रीकृष्ण महाराज की पूर्वोद्धृत पवित्रोक्ति के पाठ से ज्ञात हो जाता है कि समयानुसार अधर्म का भी अभ्युदय हुआ करता है। सत्ययुग के सत्य विकास द्वारा दबा हुआ कलि का कुत्सित कलेवर समयानुसार जिस प्रकार प्रकट हो जाता है—सुख के संयोग द्वारा दबी हुई दुःख की दीन दशा जिस प्रकार फिर दिखायी देती है—जाग्रत के ज्ञान द्वारा दबा हुआ सुषुप्ति का घोर मोह जिस प्रकार फिर फैल जाता है, उसी प्रकार धर्म के प्रकाश द्वारा दबा हुआ अधर्म का अन्धकार समय पाकर संसार में अपना विस्तार कर लेता है।

अधर्म में पड़कर मनुष्य मुक्ति-मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। भ्रमवशात् भोग पर उनका अनुराग बढ़ जाता है। उन्हें इन्द्रिय-सुख छोड़ और कुछ नहीं सोहाता। वे हिंसा, द्वेषादि, दुर्गुणों का आश्रय कर लेते हैं। उनकी एकता की डोर टूट जाती है और भेद-भाव उनमें अड्डा जमा लेते हैं। यही दशा, समय के प्रभाव से, धार्मिक भारत की हुई। उसकी वह वीणा जिसे लेकर वह एकता की तान छेड़ता था—खो गयी। उसकी जगह मतभेदों के काले-काले बादल घिर आये और बरस-बरसकर फूट की जड़ पर पानी सींचने लगे। दिन-पर-दिन भारत के सिर पर किस तरह ठोकरों-पर-ठोकरें लगीं, इसका ज्ञान हर एक पढ़े-लिखे भारतवासी को होगा।

काल के चक्र से तथा कार्यकारणों के घात-प्रतिघातों से भारत की अवनति के आरम्भ के साथ पश्चिम में एक नयी सभ्यता का विकास हुआ। इस सभ्यता की रोशनी से संसार-भर की आँखों में चकाचौंध लग गयी। इस सभ्यता का चश्मा नाक पर धरकर केवल अन्यान्य सारे देश अपने को सुदृष्टि-सम्पन्न समझने लगे—सो नहीं, किन्तु भारत भी, पहले ही से दूरदृष्ट अतः दूरदृष्टि हो जाने के कारण, उसे धारण कर अपने को दिव्यदर्शन मान लेने लगा। इस सभ्यता का लक्ष्य है भोग।

पहले ही कहा जा चुका है कि भोग द्वारा मनुष्य तृप्त नहीं रह सकता। कभी-न-कभी उसे भोग की असारता मालूम हो जाती है—उसका भ्रम दूर हो जाता है। पश्चिम के अनेक लोग भोग से उदास हो गये। उनकी अन्तरात्मा पुकार-

पुकारकर कहने लगी, 'यह रस जो तुम पी रहे हो—अमृत नहीं; इससे शान्ति नहीं मिल सकती।" वे शान्ति की खोज में व्याकुल हो रहे थे। किन्तु उसका मार्ग उन्हें नहीं मिला। भोग में पड़े रहने के कारण त्याग की धारणा उन्हें थी ही नहीं। और त्याग की उन्हें जरूरत भी नहीं थी। वे तो कुछ ऐसी वस्तु चाहते थे जिससे उन्हें शान्ति मिले। प्रार्थित वस्तु के न मिलने से स्वभावतः अन्तःकरण में अशान्ति की आग प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है।

दूसरे, मनुष्यजाति अगर भोग पर उतारू हो जाय और एक-एक मनुष्य के भोग के लिए हर रोज हजारों मनुष्यों को अपने-अपने भोजनांश का अग्रभाग दे देना पड़े अथवा लाखों आदमियों को भूखे रहकर सिर्फ एक भोगी के भोग का सामान तैयार करना पड़े तो संसार में अशान्ति फैल जाने में देर नहीं होती।

ऐसी दशा में शान्ति-स्थापना की विशेष जरूरत होती है। भगवान श्रीकृष्ण महाराज ने इसी समय अपने आगमन का उल्लेख गीता में किया है।

अब अवतार पुरुषों के अहं तत्त्व पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। हमें जान लेना चाहिए कि अवतार कौन कहलाते हैं, उनका अहंभाव कैसा है, क्यों वे जगत-पूज्य होते हैं, जीवों के उद्धार की उन्हें क्यों सूझी, आदि। इसका बोध गहन दार्शनिक विवेचन के द्वारा कराने की अपेक्षा एक निरी सीधी बात से कराना कहीं अच्छा है। चक्रव्यूह या 'भूलभुलैयाँ' के मार्ग में भटकते हुए मनुष्यों को बाहर वही निकाल सकता है, जिसने उस मार्ग को बनाया है अथवा जिसे उस मार्ग से बाहर निकलने का पहले ही से ज्ञान है। और, चक्रव्यूह के भीतर चक्कर खाते हुए मनुष्यों को उससे निकालकर बाहर करना तभी सम्भव है जब निकालनेवाला भी बाहर से चक्रव्यूह के भीतर घुसे। अधिकन्तु, मार्ग भूले मनुष्यों की जब बाहर निकलने की इच्छा होगी और रास्ता न मिलने पर व्याकुल होकर वे विलाप करते होंगे, तभी उनकी आवाज से आकृष्ट होकर बाहर का मार्ग बतानेवाला मनुष्य भीतर घुसेगा। अवतार पुरुष इसी प्रकार संसार में आते हैं। उनके आने का तात्पर्य सिर्फ दूसरों की मुक्ति से है। संसार के दृढ़ बन्धनों के बँधे हुए मनुष्य बन्धन-मुक्ति के लिए कातर होकर मुक्त-स्वभाव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। उनकी प्रार्थना पूर्ण करने के लिए नित्य मुक्त निराकार परमेश्वर को माया-राज्य में—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के घेरे में—पदार्पण करना पड़ता है, साकार होना पड़ता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि 'भूलभुलैयाँ' के मार्ग में भटकते हुए मनुष्यों को बाहर निकालने के लिए जो मनुष्य बाहर से भीतर घुसता है उसे कभी यह नहीं मालूम होता कि मैं भी भटक रहा हूँ, किन्तु वह जानता है कि इन भटके हुए मनुष्यों को बाहर ले जाने के लिए मुझे यहाँ आना पड़ा। अवतार पुरुष भी यहाँ आकर अपने शुद्ध स्वरूप को कभी नहीं भूलते, किन्तु वे जानते हैं कि बद्ध जीवों को मुक्त करने के लिए—शान्ति-संस्थापन के लिए हम यहाँ आये हैं। अवतार पुरुषों का अहंकार भ्रमशून्य है और साधारण मनुष्यों का अहंकार भ्रमपूर्ण। अवतार पुरुष माया की अहंकार-सीढ़ी तक उतरकर साधनों द्वारा मनुष्यों को मुक्ति की शिक्षा देते हैं किन्तु उन्हें अपनी मुक्ति के लिए साधन की आवश्यकता नहीं, वे नित्य मुक्त हैं। उनके आदेशों को मनुष्य शिरोधार्य कर लेते हैं। उनके भ्रमरहित वाक्यों पर मनुष्यों का विश्वास जम जाता है।

इस बार अत्याचार पीड़ित और भोगान्ध मनुष्यों को शान्ति का पता बताने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण देव अवतीर्ण हुए। इस बार भी भारत शान्ति-स्थापना का केन्द्र बना। संसार में आज जो आध्यात्मिक प्रवाह बह रहा है, उसकी

उत्पत्ति भगवान श्रीरामकृष्ण—महान अध्यात्म तत्त्व स्वरूप से हुई। आज विश्व-समाज में भ्रातृत्व-बन्धन की जो ध्वनि गूँज रही है, वह सबसे पहले भगवान श्रीरामकृष्णजी के मुख से निकली थी। विश्वविजयी वेदान्तकेशरी स्वामी विवेकानन्द की वीर वाणी को मन्त्रमुग्धवत् संसार सुन रहा है पर उनकी दिव्य शिक्षा भगवान श्रीरामकृष्ण देव के पादप्रान्त पर समाप्त हुई थी। आज भारत में, एकता-लता पर जो फूल खिल रहा है उसके निपुण माली हैं भगवान श्रीरामकृष्ण।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर ज्येष्ठ, संवत् 1979 (वि.) (मई-जून, 1922)। **संग्रह** में संकलित]

## बाहर और भीतर

संसार में दो दल हैं। एक दल बाहर मुड़ता है और दूसरा भीतर घुसता है। एक दल बाहर के सुधार के लिए कमर कसता है और दूसरा भीतर के दर्द की दवा करता है। एक दल पूर्ग स्वतन्त्रता के लिए बाहर के विरोधियों को ललकारकर उनसे सदर्प भिड़ता है तो दूसरा बाहरी कुल चीजों से नाता तोड़ भीतर के दुश्मनों से, निरस्त्र किन्तु निर्भय होकर, लड़ाई ठानता है। हमें यह देखना है कि बाहर और भीतरवालों में से किसका मार्ग ठीक है, किस मार्ग से चलकर मनुष्य स्वतन्त्रता, शान्ति या पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। यहाँ यह आक्षेप कर देना युक्ति-विरुद्ध नहीं कि संसार का अस्तित्व जब तक है तब तक ये दोनों दल संसार में रहेंगे। संसार का अर्थ यही है कि उसमें प्रवृत्ति भी है और निवृत्ति भी; संसार में बाहर भी संसरण दीखता है और भीतर भी प्रगति होती है। एक ओर उत्थान है तो दूसरी ओर पतन। बात यह है कि संसार भी प्रवाह है। प्रवाह उत्थान और पतन-युक्त लहरों से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु फिर भी हमें इस प्रवाह के नीचे शान्ति या स्वतन्त्रता की मोती ढूँढ़नी चाहिए। यदि संसार का प्रवाह बहा ले गया तो हम स्वतन्त्र कब हुए?

इस स्वतन्त्रता की राह बताना ही इस लेख का उद्देश है। परन्तु स्वतन्त्रता के ही विषय पर कुछ लिखना अधिक नहीं तो आंशिक अन्याय जरूर है; क्योंकि जो प्रगति है वह संसार में ही सम्भव है और संसार में—प्रवाह में, बहना छोड़, स्थिर, शान्त रहना असम्भव है। कुछ सोचना, कुछ कहना या कुछ लिखना प्रगति का ही सचूक है। अर्थात संसार में ही कुछ सोचा, कहा या लिखा जा सकता है। यदि ऐसा है तो जो पूर्ण है उसमें प्रगति नहीं हो सकती, जो स्वतन्त्र है उसे संसार का प्रवाह बहा नहीं सकता, परतन्त्र नहीं कर सकता। अतः स्वतन्त्रता पर कुछ सोचना, कहना या लिखना अन्याय नहीं तो क्या है? हाँ, विचार द्वारा उसके मार्ग का बहुत कुछ पता लगाया जा सकता है।

पहले बाहरवालों को ही लीजिए। मान लीजिए कि बाहर स्वतन्त्रता की खोज करनेवालों को स्वतन्त्रता मिल गयी, वे अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र हो गये। अब उनकी स्वतन्त्रता के स्वरूप पर भी विचार कीजिए। देखिए कि उनकी

स्वतन्त्रता क्या और कैसी है, वह निश्चेष्ट है या किसी दूसरे की स्वतन्त्रता छीनने को हाथ भी बढ़ाती है। वह संसार का हित करती है या अहित। वह शान्ति की जननी है या भोग की।

अच्छा तो बाहर स्वतन्त्रता का पता लगानेवालों को स्वतन्त्रता मिल गयी। पर यह स्वतन्त्रता कैसी हो सकती है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसका सारा सम्बन्ध शरीर से ही है। भोग ही इसका लक्ष्य है। यह भोग कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव यह स्वतन्त्रता भी स्थिर नहीं हो सकती। अस्थिर अपूर्ण वस्तु स्वतन्त्रता नहीं कही जा सकती। स्वतन्त्र मनुष्य भोग का गुलाम क्यों होने लगा? यद्यपि इस प्रकार के भोग को ही अधिकांश लोग स्वतन्त्रता कहते हैं किन्तु तो भी यह एक प्रबल गुलामी वृत्ति ही है। विचारकों का सिद्धान्त यही है। वे कहते हैं कि बाहर मुड़ने की इच्छा ही अपूर्णता सूचित करती है। किसी विषय या वस्तु की इच्छा करना ही उस विषय या वस्तु के अभाव का लक्षण है। अगर आप कुछ चाहें, कोई इच्छा करें तो समझना चाहिए कि जिस चीज के पाने की आप इच्छा करते हैं उसका आपमें अभाव है। अतः आप अपूर्ण हैं। पूर्वोक्त प्रकार की भोग की माता स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती, मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करे, चाहे जितना सिर पीटे। इसका प्रमाण बाहरी सभ्यता के इतिहास और बाहरी सभ्यता के पक्षपातियों के कथन से ही मिल जाता है। वे कहते हैं, हमारी भाषा, हमारा विज्ञान, हमारा शिल्प और हम भी दिनोंदिन उन्नत हो रहे हैं। पर वे यह नहीं बताते कि उनकी यह उन्नति पूर्ण कब होगी अथवा उनकी इस उन्नति का लक्ष्य क्या है। यह वे कह भी नहीं सकते, किन्तु भारतीय दार्शनिक और बहिर्जगत के इतिहास वैसी उन्नति का परिणाम ध्वंस बताते हैं। देखिए, जिस देश में जड़वाद की उन्नति हुई है उसका अन्त ध्वंस में ही हुआ है। भारत, फारस, अरब, मिस्र, ग्रीस आदि सारे देश यही शिक्षा देते हैं। जड़ की उन्नति विलास, सम्भोग के ही सामान से होती है और उस उन्नति का अन्त विलासी और विलास के नाश हो जाने से हो जाता है। मोटी बात है कि शरीर और शरीर-सुख के सामान ही अगर उन्नति के सूचक हैं तो शरीर और सामान के अन्त के साथ-साथ उन्नति की भी इतिश्री हुई समझना चाहिए। बाहर मुड़नेवाले स्वतन्त्रताप्रिय जड़वादी जड़-विज्ञान के द्वारा संसार का अभाव दूर करने का ढिंढोरा पीटते हैं। पर फल यह हुआ कि जड़-विज्ञान से संसार में और अभाव की सृष्टि हुई है। एक आदमी करोड़ों रुपये का मालिक बन बैठा है और लाखों भूखों मरते हैं। जड़वाद का प्रभाव अशान्ति और संघर्ष को ही बढ़ाता है, और अन्त को स्वयं नष्ट हो जाता है। जड़-विज्ञान की शक्ति उसके उपयोग से ही नष्ट होती है। गोला-बारूद की शक्ति तोप दागने ही से नष्ट होती है और साथ ही गोला-बारूद के पक्षपाती समर-शूर ही गोलों का निशाना बनते हैं; —गोला-बारूद के नष्ट होने के साथ उसके शक्तिधर भी नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति का यही नियम है। जिस जर्मनी ने भौतिक शक्ति का संचय किया था, वही उसके उपयोग से नष्ट हुआ और दूसरे भौतिक शक्तिशालियों को भी हानि पहुँचायी। बात यह कि स्वतन्त्रता के लिए बाहर मुड़ने से उस स्वतन्त्रता का स्वरूप भोग बन जाता है। उससे बहिर्जगत में संघर्ष पैदा होता है, और वही संघर्ष भोग-और भोगी के नाश का कारण होता है। अतः निश्चय है कि शान्तिपूर्ण स्वतन्त्रता बाहर नहीं मिलती।

भीतर घुसनेवालों में से कितने ही महापुरुषों को शान्ति का पता मिल गया है। शान्ति का पता लेकर वे बाहर भी आये हैं और बाहरवालों को शान्ति का

सन्देश सुनाया है। उन्होंने कहा है, "न वहाँ सूर्य है, न चन्द्र; न मैं हूँ, न तुम; वहाँ केवल ग्रानन्द-ही-ग्रानन्द है। तुम स्वयं ग्रानन्दस्वरूप हो, अपने चिदानन्द-मय --शान्तिमय स्वरूप को तुम नहीं समझना चाहते, इसी से तुम दुःख झेलते हो। जब तुम अपना बाहर का खेल त्याग दोगे, अपने ग्रानन्दमय स्वरूप को ढूंढ़ोगे तो तुम्हें वह मिल भी जायेगा। वहाँ तक न मन की पहुँच है और न वाणी की। वह है—'ग्रवाङ् मनसोऽगोचरम्।'

महापुरुषों की पूर्वोक्त ग्राज्ञा पर क्या कोई विचारक सन्तुष्ट होगा? शायद नहीं। वह तो यह कहेगा कि भाई, पहले मुझे विचार के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, समझाओ तो मैं मानूँ; अथवा सिद्ध करो कि मेरा विचार शान्ति का प्रसंग छेड़ने में असमर्थ है तो मानूँ।

विचारक के ये दोनों प्रश्न स्वाभाविक हैं। इन दोनों का उत्तर एक ही साथ और एक ही बात में यह है कि जिस केन्द्र से विचार उठता है उसका पता अगर विचार लगा सके तो समझिए कि विचार द्वारा शान्ति का पता चलना सम्भव है। पर ऐसा कदापि हो नहीं सकता; विचार से शान्ति का पता नहीं चल सकता। क्योंकि एक विचार जिस केन्द्र से उठता है, उस केन्द्र का पता लगानेवाला दूसरा विचार भी उसी केन्द्र से उठता है, और इसी तरह शब्द-जाल की सृष्टि होती है और विषय क्रमशः बहिर्मुख हो जाता है। देखिए, पहला विचार जहाँ से उठा—पहली अभिव्यक्ति जहाँ से हुई—उसकी अपेक्षा विचार या अभिव्यक्ति स्थूल है; तभी तो समझ में आयी; अर्थात् केन्द्र सूक्ष्म है और वहाँ से जो विचार उठता है वह स्थूल; तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल की सहायता से सूक्ष्म का बोध होना असम्भव है। जिस केन्द्र से विचार उठता है, शान्ति का स्थान वही है। अतः सिद्ध है कि विचार शान्ति के स्थान तक नहीं पहुँच सकता।

दूसरा प्रमाण—उस केन्द्र में स्थिर रहना ही स्वतन्त्र रहना है। वही केन्द्र ब्रह्म है। वहाँ यदि आप प्रतिष्ठित हो गये तो फिर कोई अभिव्यक्ति आपको चंचल नहीं कर सकेगी। वह ब्रह्म अनन्त है क्योंकि किसी प्रकार उसका अन्त नहीं किया जा सकता और वहाँ से जितनी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं—जितने प्रकाश निकले हैं, निकल रहे हैं और निकलेंगे वे भी अनन्त हैं अर्थात् बहिर्जगत में जितने पदार्थ दीखते हैं वे भी अनन्त हैं—असंख्य हैं। इधर मन में जो तर्क-वितर्क उठते हैं ये भी अनन्त हैं। उस अनन्त की अभिव्यक्ति भी अनन्त है। यदि अभिव्यक्ति द्वारा (विचार द्वारा) शान्तिमय ब्रह्म का पता लगाइए तो एक के बाद दूसरी और उसके बाद तीसरी, इसी तरह अनगिनती अभिव्यक्तियों (विचारों) के जाल में आप अनन्त काल तक फँसते ही चले जायँगे किन्तु ब्रह्म का सिद्धान्त न कर सकेंगे। पहले भी कहा गया है कि स्वतन्त्रता के विषय पर कुछ लिखना, विचार करना अन्याय है।

भीतर मुड़नेवाले कहते हैं कि तुम अपने मन को अन्तर्मुख करो। जहाँ से अभि-व्यक्तियाँ उठती हैं उसी को अपना लक्ष्य समझो, तो तुम्हें ब्रह्म और सृष्टि का कुल रहस्य मालूम हो जायेगा। बाहर किताब पढ़कर ज्ञान संचय करने की आव-श्यकता न रहेगी, तुम्हारा मन अनन्त ज्ञानयुक्त है। उसी के परिशीलन से अनन्त किताबों का ज्ञान तुम्हें अनायास मिल जायेगा। और समय आने पर तुम शान्ति-मय स्वतन्त्र ब्रह्मपद पर प्रतिष्ठित हो जाओगे।

सच है कि हम इतने स्थूलबुद्धि और बहिर्मुख हैं कि कोई बात हमारी समझ में ठीक-ठीक नहीं आती। हम कुछ का कुछ समझ बैठते हैं। हम हर एक

वस्तु को यथासम्भव उसके स्थूलरूप में ही देखते हैं और हर एक विषय को स्थूल रीति से ही समझते हैं। इसका एक उदाहरण भी लीजिए। मान लीजिए, कानपुर से चलकर थियेटर देखने के लिए हम कलकत्ते आये और अपने नेत्रों को चरितार्थ करके कुछ दिन बाद कानपुर लौट गये और वहाँ अपने मित्रों से अपने भ्रमण का सविस्तार वर्णन किया। यह हमारे कार्य का स्थूल रूप है। पर सूक्ष्म रूप से इसका उद्भव हमारे मन में कभी पल-भर में ही हुआ था। पल-भर में जो चित्र खिंचा था उसी के स्थूल कार्य में कम-से-कम पन्द्रह दिन लग गये। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात और है वह यह कि पल-भर में हममें जो वृत्ति उठी थी वह निश्चयात्मिका थी। इसलिए यन्त्रस्वरूप होकर हमें इस वृत्ति का परिणाम कार्य में करना पड़ा अर्थात् काम करके ही इस वृत्ति का अन्त करना पड़ा। यहाँ हमें मालूम हो जाता है कि मनस्काम कल्पतरु हमीं में है। वहीं से निश्चयात्मिका वृत्तियाँ, इच्छाएँ उठती हैं और हमसे काम करा लेती हैं। अतएव हर एक इच्छा को निश्चय रूप भीतर ही मिलता है; तभी वह कार्य द्वारा पूर्ण होती है। जिस इच्छा में निश्चय नहीं है वह कभी पूर्ण न होगी। हमें मालूम हो गया कि इच्छाओं की पूर्णता भी भीतर ही होती है, बाहर नहीं।

भीतर मुड़नेवाले यह कहते हैं कि भीतर मुड़ने की इच्छा पैदा होते ही तुम शान्ति के अधिकारी हो जाते हो और तभी से तुम्हें शान्ति का कुछ-कुछ आनन्द मिलने लगता है। बाहर के संघर्ष से मन हटा कि शान्ति मिलने लगी। समुद्र का ऊपरी भाग प्रबल तरंगों से चंचल और संघर्षपूर्ण है, परन्तु भीतरी भाग शान्त और निश्चल। इन्द्रियों के द्वार से मन को बाहर भागने से रोकना चाहिए। इन्द्रियों के द्वार से मन बाहर चला कि काम, क्रोध आदि दुश्मनों से में किसी के रूप में बदलकर उसने अशान्ति की सृष्टि की। जो बहिर्मुख मन का गुलाम है वह स्वतन्त्रता का अधिकारी नहीं है। वह विपत्तियों से बच नहीं सकता। इसलिए हमेशा होशियार रहना चाहिए। मन को प्रत्याहार की शिक्षा दीजिए तो वह बाहर के संघर्ष का संहार कर लेगा किन्तु संघर्ष पर संघर्ष की उत्पत्ति करके शान्तिपथ से तुम्हें विमुख न कर सकेगा—'बुन्द अघात सहैं गिरि कैसे; खल के बचन सन्त सह जैसे।' इसी तरह यह अपूर्व सहनशीलता तथा धैर्य का फल एक दिन पूर्ण स्वतन्त्रता और परम शान्ति में परिणत होगा।

हमारे सारे शास्त्र भीतर की इसी शान्ति या स्वतन्त्रता के पथ-प्रदर्शक हैं। हमारा भ्रम ही उनमें भिन्नता और विरोध दिखाता है। हम अपने को पूर्ण ज्ञानी और सच्चा विचारक समझते हुए महर्षियों की उक्ति के लक्ष्य पर ध्यान नहीं देते। किन्तु उस उक्ति पर तर्क की तलवार रख देते हैं, इससे अधिक भ्रम और क्या होगा?

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर कार्तिक, संवत् 1979 (वि.) (अक्तूबर-नवम्बर, 1922)। संग्रह में संकलित]

## प्रवाह

ब्रह्म की व्यापकता के साथ शक्ति की भी व्यापकता सिद्ध होती है। ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों अभिन्न हैं। सूर्य से उसकी किरणों को अलग नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का जो स्वरूप सच्चिदानन्द है उसमें शक्ति की भी सत्ता विराजमान है। सत्, चित् और आनन्द विचार में भिन्न होते हुए भी वास्तव में एक हैं, सर्वव्यापी हैं, अतएव ब्रह्म के लक्षण हैं। किन्तु साथ ही, जिन अर्थों द्वारा वे सर्वव्यापी हैं, वे अर्थ सर्वव्यापिनी शक्ति की ही सूचना देते हैं।

इस सर्वव्यापिनी महाशक्ति की कल्पना से असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि हुई है। उस महाशक्ति में यह कल्पना कब हुई थी या इस कल्पना का कब अन्त होगा यह महर्षि तक नहीं कह सके और न आगे कभी कोई कह सकेगा। कारण, अनादि अनन्त महाशक्ति की इच्छा को वाक्यों में लाना न सम्भव हुआ और न होगा। असीम कभी ससीम हो सका है?

महाशक्ति की कल्पना से ही यह संसार दृष्टिगोचर हो रहा है। कल्पना चंचल या गतिशील होती है। अतएव उसे प्रवाह कहना अनुचित नहीं। महाशक्ति की कल्पना अनादि और अनन्त है अथवा यह कहिए कि प्रवाह अनादि और अनन्त है। प्रहर, दिन, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, युग, युगान्तर आदि उस अनन्त प्रवाह के समयसूचक खण्ड-से कर दिये गये हैं। अनादि और अनन्त प्रवाह की कोई भी वस्तु उस अनादि सत्ता से भिन्न नहीं है। महासमुद्र की एक छोटी-सी तरंग उस असीम महासागर से अभिन्न है। जो कुछ दृश्यमान है या जो कुछ मनोग्राह्य है, वह कल्पना या प्रवाह से पृथक् नहीं है। इसीलिए कहा जाता है कि यह तमाम विश्व-संसार-प्रवाह, कल्पना या माया के अधीन है।

प्रवाह सदा एक-सा नहीं रहता। परिवर्तन ही प्रवाह को गतिशील करता है। इधर कल्पना भी एक ही चित्र पर अवलम्बित नहीं रहती। नित नये रंग बदलना उसका स्वाभाविक धर्म है। शास्त्रकारों ने इसी को माया कहा है। माया वह है जा वस्तु का सच्चा स्वरूप देखने नहीं देती। आज साँप बन रही है तो कल बिच्छू। आज लड़के के मुँह से बाबा कहाती है तो कल लड़का ही बाबा बन जाता है। आज हम धन को संसार का श्रेष्ठ सुख समझते हैं तो कल सम्मान ही हमारे सामने सुख का सच्चा आदर्श हो जाता है। अस्तु, हम देखते हैं कि माया, कल्पना या प्रवाह में परिवर्तन विद्यमान है। यदि परिवर्तन न हो तो प्रवाह निश्चल हो जाये, कल्पना स्थिर हो जाये और माया दूर हो जाये।

एक रूप से दूसरे में बदलने को परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन विश्व-संसार में लक्षित हो रहा है। जबकि विश्व-संसार माया या प्रवाह की प्रभुता मानता है तो वह परिवर्तन का तिरस्कार कब कर सकता है? जिसे हम निष्प्राण जड़ समझते हैं वह भी यथासम्भव अपना स्वरूप बदलकर अपनी स्पन्दनशीलता दिखा देता है। पत्थर भी फटता, चूर-चूर हो जाता है और परमाणुओं से मिलकर एक नया ही रूप धारण करता है। हाँ, वह बढ़ता और घटता भी है। यदि आप कहें कि पत्थर के कटने में पत्थर की निज शक्ति प्रमाणित नहीं होती, वह एक और ही शक्ति—एक दूसरे ही कारण से फटता, घटता या बढ़ता है, तो निवेदन यह है कि तुम तो अपने को सप्राण और शक्तिमान समझते हो? फिर जमीन पर पैर न रखो और चलो? साँस लेकर हवा न खींचो और कुछ कहो? बाहर से

विषय ग्रहण न करो ग्रौर ग्रपने मस्तिष्क से कुछ निकालो ? क ख ग घ न रटो ग्रौर विद्वान बन जाग्रो ? इसका उत्तर निरुत्तर होगा ग्रथवा हमारे ही विषय को पुष्ट करेगा। ग्रस्तु, संसार की हर वस्तु का रंग बदलता रहता है। जिसे ग्राज हम हरा-भरा देखते हैं कल वह सूख जाता है। ग्राज जो नवीन है कल वही प्राचीन हो जाता है। ग्राज जो वसन्त-बहार गा रहा है कल वही मेघ-मलार के दिन मनाता है। इधर मन में भी यही दृश्य उठ रहे हैं। ग्रभी-ग्रभी तो 10 हजार रुपये दरिद्रालय में दिये किन्तु पल-भर में ही ठगविद्या सिर पर सवार हो गयी। परिवर्तन का हाल ही यही है कि क्या मन में, ग्रौर क्या बाहर, संसार में सर्वत्र थियेटर के जैसे सीन उठते ग्रौर गिरते रहते हैं।

यही परिवर्तन व्यष्टि या समष्टि का जीवन है। जीवन भी प्रवाह है। ग्रतः यह सदा एक-सा नहीं रहता। ग्रवस्थाग्रों ग्रौर दशाग्रों का परिवर्तन तो इसमें होता ही है किन्तु ज्ञान ग्रौर विचारों का भी परिवर्तन हुग्रा करता है। किसी-किसी ने तो जीवन के लक्ष्यों पर यह कहा है कि खण्ड-खण्ड ज्ञानों का ग्रनुभव ही जीवन है। ग्रर्थात् ग्रभी-ग्रभी एक विषय का ज्ञानं हुग्रा, थोड़ी ही देर में मन में दूसरा विषय ग्राया ग्रौर उसका ज्ञान प्राप्त हुग्रा। इसी तरह तमाम जीवन मानों खण्ड-खण्ड ज्ञानों की समष्टि है। किन्तु शास्त्रकारों ने इन खण्ड-ज्ञानों को ग्रज्ञान, स्वप्नवत् ग्रसार कहा है क्योंकि ये माया-राज्य के मिथ्या ग्रनुभव हैं; जो ज्ञान है वह सदा एकरस है, ग्रपरिवर्तनशील है, स्थिर है, प्रवाह से मुक्त है।

जीवन का प्रत्येक खण्डज्ञान एक चित्र विशेष है। उसे भी ग्राप एक दृश्य कह सकते हैं। उस ज्ञान के मूल में प्रगतिपूर्ण एक वासना विद्यमान है। ग्रथवा यों कहिए कि उस ज्ञान की प्राप्ति के पहले मन में वासना थी, इच्छा का स्फुरण होता है, जिसकी प्रेरणा मन में उस खण्डज्ञान का चित्र ग्रंकित कर जाती है। उदाहरणार्थ यह लिख देना बहुत है कि हमने पिताजी को लिखा कि मैं कल इलाहाबाद ग्राया। इस वाक्य के लिखने के पहले हममें लिखने की इच्छा हुई थी, तभी हम यह लिख सके थे। उधर हमारे पत्र के पढ़ने के पहले पिताजी में पढ़ने की इच्छा होगी, तभी वे पढ़ सकेंगे। दोनों ग्रोर पहले इच्छा का उद्भव हुग्रा, फिर ज्ञान की प्राप्ति या हमारे इलाहाबाद ग्राने के चित्र का खिंच जाना। स्मरण रहे कि इनमें से कोई भी प्रवाह से ग्रलग नहीं। न इच्छा का विकास ही प्रवाह से भिन्न है ग्रौर न चित्र का ग्रंकित होना ही प्रवाह के बहिर्गत है। माया, प्रवाह, परिवर्तन, जीवन ग्रौर खण्डज्ञान बाहरी भेद रहते हुए भी वास्तव में एक हैं।

जो बात व्यक्तिगत जीवन पर कही गयी वही बात जातीय जीवन पर भी कही जा सकती है। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियों के प्राकृतिक संगठन से एक महावेगवान नद का ग्राकार बनता है उसी प्रकार व्यक्तिगत एकता से एकजातीय जीवन को बल, पराक्रम ग्रादि मिलते हैं। व्यक्तिगत खण्डज्ञानों पर ग्रनुकूल परिस्थिति के समष्टिगत विश्वास द्वारा जातीय जीवन पुष्ट होता है। ग्रर्थात खण्डज्ञान प्रकाशित या प्रचारित होने पर उस पर समष्टि का जो विश्वास है वह जातीय जीवन को शक्तिमान कर देता है। प्रत्येक जाति का खण्डज्ञान उस जाति का साहित्य है। जातीय साहित्य में जितनी दृढ़ता होगी जातीय जीवन में जीवनीशक्ति भी उतनी ही ग्रधिक होगी। खण्डज्ञान पर स्वभावतः लोगों का विश्वास होता है। संवादों पर या ग्रपने पूर्वोक्त प्रकार के ग्रनुभवों पर मनुष्य बिना विश्वास किये रह नहीं सकते। जब तक जीवन है तब तक ऐसा होना ग्रनिवार्य है। ग्रौर ग्रपने ग्रनुभवों पर सत्य की धारणा करते हुए दूसरों को भी लोग ग्रपने मत पर ले ग्राते

हैं। इसी प्रकार भावों और सहानुभूति के प्रचार के द्वारा मनुष्य एक-दूसरे से सम्मिलित होते हैं। प्राकृतिक अनुकूलता के साथ-साथ भावों और आचारों की भी अनुकूलता जातीय एकता को दृढ़ करती है। यह संगठन जिस जाति का अच्छा है, उसका प्रवाह किसी असंगठित या विक्षिप्त जाति द्वारा रुक नहीं सकता।

इस छोटे-से लेख में अन्यान्य जातियों के उद्भव, जीवन और संगठन आदि पर ज्यादा कुछ लिखना असम्भव है। हाँ, दो-चार शब्दों में निष्कर्षस्वरूप कुछ कहा जा सकता है। संसार की वर्तमान सभ्य जातियों में से किसी भी जाति का लक्ष्य मुक्ति पद नहीं है। उनके जो लक्ष्य हैं वे माया या भ्रम में ही प्रतिष्ठित हैं। अतएव उनका परिवर्तन अवश्य होगा। लक्ष्य के बदलने के साथ जाति के भी एक दूसरे साँचे में ढल जाने में क्या सन्देह? जो परिवर्तनशील है, जिसका कोई स्थिर रूप है ही नहीं, जिसका आदर्श भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसके अस्तित्व तक का स्थान दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त में कहीं नहीं है। यह जातीय विरोध नहीं, दर्शन और सत्य-दर्शन है।

आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है। बिना मुक्तहुए जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मुक्ति पद पर पहुँचने के जो उपाय कहे गये हैं वही साधन-मार्ग हैं। साधन से सिद्धि तक का रास्ता प्रवाह के ही भीतर है। किन्तु वह प्रवाह माया या अविद्याकृत नहीं। वह विद्याकृत है। मुक्ति-साधना का प्रारम्भ करते ही यथार्थ विद्या या सत्य ज्ञान का भी आरम्भ हो जाता है और ब्रह्म या आत्म-दर्शन में सत्यज्ञान को पूर्णता प्राप्त होती है।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर पौष, संवत् 1979 (वि.) (दिसम्बर, 1922—जनवरी, 1923)। **संग्रह** में संकलित]

## जातीय जीवन और श्रीरामकृष्ण

जातिरूपी इमारत किसी खास बुनियाद पर उठायी जाती है। वही हर एक जाति की जीवनशक्ति है। वह जब तक सुदृढ़ रहेगी तब तक जाति पर किये गये सैकड़ों उत्पात व्यर्थ जाते हैं। यहाँ तक कि भूकम्प जैसे अजेय शत्रु का भी सामना वह कदाचित कर जाती है। बुद्धिमान जन अपनी जाति की इस नींव को मजबूत रखने पर हमेशा ध्यान रखते हैं। नींव कमजोर हुई कि जातीय अट्टालिका ढहीं, फिर जाति के प्राण निकले ही समझिए।

वैदिक काल से आरम्भ कर आज तक संसार के इतिहास में कितनी ही जातियों का उदयास्त हो गया है। उनमें से हरेक जाति का उदय किसी विशेष कारण से हुआ, उन्नयन उसी कारण की दृढ़ता की बदौलत और अन्त हुआ उसी कारण की शिथिलता से। वर्तमान पश्चिमी जातियों में देखते-ही-देखते घोर परिवर्तन हो गया। कितने ही साम्राज्यों की राजसत्ता छिन गयी, शासनदण्ड प्रजा के हाथ आ गया। जैसे प्राकृतिक प्रवाह में सैकड़ों जीव जन्म लेते, बढ़ते और फिर

प्रकृति की गोद में सोकर जब जागते तब एक दूसरे ही साँचे में ढल जाते हैं, वैसे ही जाति की भी सृष्टि होती, विकास होता और फिर वह या तो नष्ट हो जाती या किसी दूसरे स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। जिस प्रकार नश्वर लक्ष्य से सम्बन्ध रखनेवाला जीवन मृत्यु के हाथों से बच नहीं सकता उसी प्रकार नश्वर नींव पर टिकी हुई जातीय दीवार जीर्ण होकर अथवा अकाल ही में गिर जाती है।

भारत का जातीय प्रासाद किसी क्षणिक या अल्पकालिक अथवा नश्वर भित्ति पर नहीं उठाया गया। उसकी बुनियाद है सामाजिक लब्धपूर्ण ज्ञान। भारत की जातीय विशिष्टता किसी पार्थिव वस्तु और भौतिक शक्ति-अधिकारादि पर अवलम्बित नहीं है। वह मोक्षाभिमुख है। भारत के भाग्य-विधाता राजा या समर्थ बनिये नहीं, न धनपतियों का मुँह ताकनेवाले पेट के कंगाल परवश मजदूरों के वोट से ही भारत की गति नियन्त्रित होती, किन्तु उसकी जातीय जीवन की प्रत्येक शंका का समाधान करनेवाले और उसके परिचालक आरम्भ ही से हैं समाधिप्रतिष्ठ महापुरुष—सर्वत्यागी—सच्चिदानन्द मग्न। इसका एक जोरदार प्रमाण हमें शास्त्रों में वर्णित मनुष्य-सृष्टि-तत्त्व में मिल जाता है। सनक, सनातन, सनन्दन, सनदकुमार इन चार महापुरुषों की सृष्टि पहले हुई। परन्तु ये गृही नहीं हुए। इन्होंने संसार का त्याग कर ब्रह्म-दर्शन किया। अतः पर-मनुष्य की सृष्टि का क्रम जारी हुआ। इससे यह सूचित होता है कि इन चारों त्यागी संन्यासियों ने मनुष्य सृष्टि के पहले आदर्श की उपलब्धि करके जन-समाज में उसकी स्थापना की थी। अन्यथा जन-समाज की गति किस आदर्श की ओर होती? अस्तु, तभी से त्यागी महापुरुष ही भारत की जातीयता के संरक्षक हैं। जिस जाति का जीवन आध्यात्मिकता है, उस जाति की बागडोर आत्मज्ञान के शिखर पर पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषों के ही हाथों में है, इसे प्रमाणित करने की अब अधिक आवश्यकता नहीं। हम जभी देखते हैं, भारत के मुरझाये हुए जातीय जीवन को पुनर्जीवित करने के लिए अवतीर्ण श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकर, रामानुज, श्री चैतन्य आदि महान् आत्माओं को ही देखते हैं। हम सदा ऐसे ही महामनीषियों को भारत के नेतृत्व पद पर प्रतिष्ठित पाते हैं।

परन्तु चाहे कैसा ही जीवन क्यों न हो, आध्यात्मिक हो चाहे आधिभौतिक, जीर्ण-दशा समय-समय पर उसे अवश्य जकड़ लेती है। जीवन मात्र की यही विशेषता है कि उसका जन्म और उन्नयन जिस प्रकार के आवश्यक परिणाम हैं, उसी प्रकार क्षय या शीर्णता भी उसका एक मुख्य अंग है। यदि ऐसा न हो तो जीवन जीवन ही नहीं, उसकी प्रगति हो ही नहीं सकती। जिसमें समता विद्यमान है वह जीवन नहीं कहा जा सकता। अवस्थाओं का परिवर्तन या वैषम्य ही जीवन का प्रधान अवलम्ब है। भारत के आध्यात्म जीवन के श्रेष्ठ परीक्षक भगवान श्रीकृष्णजी ने उसमें विकारोत्पत्ति की सम्भावना ज्ञान दृष्टि से देखते हुए ही उसे यह अभयवाणी सुनायी थी—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।<br>
अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मानं सृजान्यहम्॥

वैदिक समय से ही आरम्भ करके आज तक भारत के जातीय जीवन में कितने ही उलट-फेर हो गये हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में जब घोर पाशविक अत्याचारों—निरंकुश क्रिया-कलापों—का समावेश होने लगा—जातीय जीवन की गति सनातन लक्ष्य से विमुख हो चली तब भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ। उन्होंने लक्ष्य को स्थिर रखकर किन्तु एक नयी विचारणा-प्रणाली द्वारा जाति की नस-नस

में नवीन स्फूर्ति का संचार किया। जीवन-प्रवाह फिर स्वच्छन्द हो चला। परन्तु समय ने इस बौद्ध प्रभाव का भी पराभव किया। बौद्धों में विरक्ति की जगह आशक्ति आ गयी, व्यभिचार बढ़ा, जातीय जीवन को फिर एक नयी शक्ति की आवश्यकता हुई। तब अद्वैतवाद—ज्ञान काण्ड—के प्रचारक भगवान शंकराचार्य आये, तदन्तर विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिष्ठाता भक्त शिरोमणि भगवान रामानुजाचार्य। सारांश यह कि ये युगाचार्य विकारग्रस्त जातीय जीवन को समयानुकूल उपायों द्वारा परिमार्जित करने के लिए ही अवतीर्ण होते गये हैं। लक्ष्य सभी का प्राय: एक था परन्तु उपाय जुदे-जुदे। लक्ष्य में विकार नहीं होता, विकार लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों में ही होता है। विशेषत: भारत के जातीय लक्ष्य ब्रह्म में विकार कब सम्भव है ? किन्तु जो विकार होते गये और जिन्हें बदलने की जरूरत पड़ी थी, वे ब्रह्म प्राप्ति के उपकरणों में ही हुए थे।

भारतीय जाति में अध:पाप का धब्बा महाभारत के समय से लगा अनुमान किया जाता है। यद्यपि महाभारत के बाद बौद्ध युग में भी हमें भारत में एकछत्र सम्राट् कई दिखायी पड़ते हैं तथापि इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत काल से ही भारत में आपस की फूट फैली थी। कलि महाराज का आगमन महाभारत के बाद से ही कहा जाता है। जातीय संगठन तभी से बिगड़ा। वर्ण संकर का प्रभाव बढ़ा, ब्राह्मणों का मस्तिष्क कुटिल और क्षत्रियों के बाहु दुर्बल हो गये। अधिकारों के लिए सभी लपझप करने लगे। दूसरे देशवाले जभी मौका देखते, धर दबाते। इस तरह जातीय जीवन क्रमशः क्षीण हो चला। आज तक प्रसार की जगह संकोच, साहस की जगह भय, प्रेम की जगह घृणा और अविद्या के न जाने कितने अन्तरंग मित्र भारत के जातीय जीवन में आ डटे। इधर चातुर्वण्य विभाग की जगह आज तक सैकड़ों नहीं, हजारों नहीं, लाखों-करोड़ों विभाग हो गये, किंबहुना, हरएक अपनी खिचड़ी अलग ही पकाने लगा। जातीय संगठन का पूरा-पूरा विश्लेषण हो गया। विश्लिष्ट जाति में स्वभावत: शक्ति नहीं रह जाती। फिर हजार वर्ष की गुलामी के बोझ से दबी हुई जाति निर्जीव नहीं तो जीवन मृत तो अवश्य हो जाती है।

भगवान बुद्ध से लेकर श्रीशंकर और रामानुजाचार्य आदि महात्माओं ने जिन उपायों से जाति में जीवनीशक्ति का आरोप किया था, वे उपाय, लक्ष्य का बहुत कुछ विरोध न करने पर भी, विचारों में एक-दूसरे के इतने विरोधी थे कि धर्म-मार्ग में भी बिगाड़ की जड़ जम गयी। धर्म का झण्डा सत्य के हाथों से छूटकर कलि के हाथ में आ गया। एक तो यूँ ही विरोध के विष से जाति की छाती जल रही थी, दूसरे धर्म-विरोध; जाति के पैर थरथराने लगे। उन महात्माओं ने जाति की उन्नति की, यह मान्य है, परन्तु उन्नति की क्रिया से जितना हित नहीं हुआ उसका दूना अहित अवनति की प्रतिक्रिया से हुआ—यह भी स्वीकार्य है। शंकराचार्य के विशाल मस्तिष्क-धर्म की धारणा तत्कालीन दुर्बल ब्राह्मण जाति की मेधा नहीं कर सकी; शंकराचार्य का मस्तिष्क महान् था परन्तु हृदय दुर्बल।

परवर्ती आचार्य भगवान रामानुज ने या उनके अनुयायी आचार्य पद पर स्थित शिष्यों ने अपने चेलों की आत्मिक उन्नति करके उन्हें स्वाधीनचेता करने के बदले उन पर धार्मिक कानूनों और अनुष्ठानों का इतना गुरुभार लाद दिया कि सँभलना मुश्किल हो गया और गिरना स्वाभाविक। शाही जमाने के अधिकांश भक्त महात्मा, रामानुज सम्प्रदाय के ही थे। मुसलमानों के शासनकाल में भक्ति-वाद का समुद्र खूब उमड़ चला था। कारण यह कि जाति कमजोर हो जाने के

कारण मस्तिष्क के धर्म से हाथ धो बैठी थी। परन्तु जातीय जीवन को जीवित रहना ही था, इसलिए उसे रामानुज द्वारा ग्राविष्कृत सुहावनी बातों से सराबोर हृदय के धर्म-भक्ति मार्ग का सहारा लेना पड़ा। परन्तु यह प्रसिद्ध है कि विचारों से तथा उच्चकोटि की ज्ञानगर्भ बातों से मुँह मोड़कर या गिरकर यदि कोई जाति, हर्ष-दुःख, शोकोच्छ्वासादि विकारों के प्रभाव से धड़कते हुए हृदय की स्पन्दन-शीलता को रोकने में ग्रसमर्थ होकर, उन्हीं विकारों की ग्राज्ञापालन करती रहे—उन्हीं की प्रेरणा के ग्रनुसार काम करती रहे तो वह इतनी ग्रधःपतित समझी जाती है कि उसकी तुलना प्रायः पशुग्रों से ही, जो हृदय की प्रेरणा से ही चलते-फिरते, चरते-खाते हैं, की जा सकती है। यह हृदय का धर्म यदि मस्तिष्क का ग्रभाव है तो, मनुष्य को हद से ज्यादा ग्रवनत, दुर्बल ग्रौर इन्द्रियपरायण कर देता है। थियेटर में जाइए, ग्रानन्दवर्द्धक दृश्य देखिए, फिर शोकजनक, फिर वीर रसात्मक, फिर ग्रौर-ग्रौर दृश्य। एक के बाद दूसरा विकार क्रम-क्रम से हृदय पर ग्रधिकार जमाता जायगा। फिर जब ग्राप घर लौटेंगे उनकी प्रतिक्रिया होगी, तब ग्राप समझ जायँगे कि हृदय का धर्म कितना घातक है। रोने के बाद शरीर कितना शिथिल पड़ जाता है, इसकी—कोई जब चाहे—परीक्षा ले सकता है। ग्रस्तु, हृदय का धर्म भारत के जातीय पतन का निर्भय सहायक हुग्रा। तिस पर वे संकीर्णता के द्योतक छुग्राछूत के ग्राचार-विचार। धर्म की मेड़ बाँधते-बाँधते ग्रन्त तक धर्म का सूत्र हो गया—'हमें मत छूग्रो।' सदा सशंक भाव।

एक तो ऊपर कहे हुए धार्मिक विरोध के कारण संकीर्णता को जातीय जीवन में खास जगह मिल गयी थी, दूसरे मुसलमानों की विजय के पश्चात् हिन्दू-मुसलमानों के बीच लगातार कई सदियों तक घनघोर बैर रहने की वजह विजित हिन्दुग्रों को विजेता द्वारा किये गये धर्म-नाश की ग्राशंका सदा त्रस्त रखती थी। इस चिरकालिक भय के कारण गिरे हुए ग्रौर दस हाथ नीचे दब गये। विजित ग्रौर विजेता की पारस्परिक घृणा जातीय जीवन को दिन-पर-दिन विषाक्त करती गयी। भय, संकोच, घृणा, ग्रपमान, द्वेष, प्रतिहिंसा, दौर्बल्य ग्रादि कलि के बन्धु-बान्धवों का भारत में ग्रखण्ड राज्य हो गया। धर्मरूपी विशाल जातीय ठाट जिन कमजोर थूनियों के बल पर किसी तरह खड़ा था, वे थीं धर्म-नाश के भय से रची गयी छूत-ग्रछूत की पद्धतियाँ—संकीर्ण लकीरें ग्रौर रामानुज-सम्प्रदाय से प्राप्त धर्म के कुछ बाहरी कृत्य।

मुसलमानों से भारत के जातीय जीवन को विशेष कुछ लाभ नहीं हुग्रा। ग्रकबर जैसे उदार बादशाह धर्म-समन्वय की इच्छा रखने पर भी सफल नहीं हो सके। हिन्दुग्रों की ग्राँखों पर पहले ही से तमोगुण का ग्रँधेरा छाया हुग्रा था, तिस पर मुसलमानों की विलास-प्रियता का जो ग्रसर प्रतिष्ठित धनी-मानी हिन्दुग्रों पर पड़ा, वह बची-खुची शक्ति को ग्रौर ले बहा। इस समय एक बाहरी कर्म-प्रधान राजशक्ति की ग्रत्यन्त ग्रावश्यकता न हुई होती तो ग्रंग्रेज न ग्राते।

भारत की जातीय शृंखला के टूक-टूक उड़ ही गये थे। सब शक्ति तितर-बितर हो रही थी। यद्यपि बाहर देखने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारो विभाग मौजूद थे तथापि हरेक विभाग की शक्ति के ख्याल से भीतर सब पोल पड़ा था। इस दशा को हम जातीय समीकरण कह सकते हैं। ग्रंग्रेजों ने ग्राकर व्यावहारिक रूप से इसे सिद्ध कर दिया। ग्रंग्रेजों के हाथ गयी भारतीय राजशक्ति के निकट ब्राह्मण-चाण्डाल में कोई भेद न रह गया। ग्रदालत में राजप्रति-निधि के सामने जो ग्रासन ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट हुग्रा, वही शूद्रों के लिए भी।

जेल में जितनी खातिरदारी ब्राह्मणों की की जाती उतनी ही मलेच्छों की भी, लघुपाक जो भोजन ब्राह्मणों की सेवा में अर्पित होता, वही अन्त्यजों को भी मिलता। राजा की ओर से जो अधिकार ब्राह्मण-क्षत्रियों को मिले वे शूद्रों को भी मिल गये। शिक्षा में योग्यता प्राप्त करने के जितने सुभीते ब्राह्मणों को दिए गए, उतनी ही अन्य इतर जातियों को भी। स्कूलों, कालेजों में ब्राह्मण, शूद्र, मुसलमान; क्रिस्तान का कोई भेद न रखा गया। भोज्यपेय के बन्दोवस्त में भी कुछ इतर विशेष न रह गया। अभिप्राय यह कि समीकरण का सच्चा हिसाब लगाकर अंग्रेजों ने सामने रख दिया।

परन्तु राजशक्ति भारत की नियन्त्री न कभी रही और न कभी रहेगी। अंग्रेजों ने भारत का बाहरी सुधार अवश्य किया--उसमें रजोगुण का विकास जरूर दिखाया परन्तु भारतीय जाति बहिर्मुख जाति नहीं; उसके जातीय जीवन की गति अन्तर्मुखी है; अतएव अंग्रेजों की साधन-प्रणाली द्वारा भारत के जातीय जागरण को विशेष कुछ सहारा नहीं मिला। अंग्रेजों की शिक्षा-नीति से भारत का जितना उपकार हुआ, उतना ही अपकार भी हुआ। अंग्रेज प्रोफेसर भारत के आचार्य का पद ग्रहण करके उसके शिशु-मस्तिष्क में पाश्चात्य भाव भरने लगे। भारत दिन-प्रतिदिन जड़वादी हो चला। बच्चों पर अंग्रेजी शिक्षा का खूब प्रभाव पड़ा। शिक्षित नवयुवकों की दृष्टि में अंग्रेजी सितारे चमकने लगे। भगवान रामचन्द्र की उदार राजनीति के पवित्र धर्मक्षेत्र में कौटिल्य के कूटमन्त्रों को मात कर देने वाली विदेशी कुटिल नीति का आसन जम गया। व्यास, कपिल, पतंजलि का स्थान मिल, स्पेन्सर, डार्विन को मिला। सारांश यह कि जाति का नया जीवन पश्चिमी ढंग से तैयार होने लगा।

इधर पण्डितजी पुरानी लकीर के फकीर बने बैठे तो उधर कुलप्रदीप सपूत नयी रोशनी के उजाले में सैर करने लगे। इधर पण्डितजी गम्भीर गवेषणा द्वारा शास्त्रों को बहिष्कृत करते हुए विदेश यात्रा के निषेधात्मक श्लोक छाँटते तो उधर लाड़ले पुत्र दायें-बायें झाँककर ग्रेट ईस्टर्न होटल में रसना की तृप्ति करते। पण्डितजी देवी भवानी की पूजा-अर्चा करें तो सुबोध सन्तान कहें मूर्तिपूजक मूर्ख हिन्दू। इस प्रकार हर एक विभाग में बड़े-बूढ़ों की अज्ञता और नये सभ्यों की सभ्यता आपस में टक्करें लेने लगीं। सुधार-संशोधन की भी यही गति थी। किसी का सुधार बिना विरोध के—बिना संहार के हो ही नहीं सकता। कोई मूर्तिपूजन का खण्डन करके जाति में जीवनी शक्ति लाने का दम्भ भरता तो कोई पण्डितों द्वारा समाजच्युत किये जाने पर, स्वयं एक नये समाज की सृष्टि करके, उसी के द्वारा जाति को पुनर्जीवित करने का संकल्प करता। दूसरी ओर पश्चिमी पादरी अपना राग अलग अलाप रहे थे। पतित जनों को अथवा जिसे धात में पाया उसे ही, बल या छल से मूड़ लेते थे। इस विषम संकट में उस सर्व-शक्तिमान परमात्मा को एक बार फिर भारत की ओर कृपा-दृष्टि फेरनी पड़ी—जातीय जीवन जगाना पड़ा।

इस बार जातीय जीवन को उद्‌बुद्ध करने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए। श्रीरामकृष्ण के निष्कलंक चरित्र पर आज सारा संसार आश्चर्य-चकित हो रहा है। उनके जीवन का यदि हम विश्लेषण करते हैं तो हमें मालूम हो जाता है कि उन्होंने साधना अपनी मुक्ति के लिए नहीं किन्तु दूसरों को उपदेश देने के लिए की थी। श्रीरामकृष्ण की जीवनी से विदित हो जाता है कि निर्बीज समाधि में वे यदा-कदा बाल्यकाल ही में मग्न हो जाया करते थे। कभी-कभी इतना

तन्मय हो जाते थे कि घण्टों शरीर का ज्ञान न होता था। एक बार काले बादलों की श्यामछटा के नीचे उड़ती हुई मण्डलाकार बक-पंक्ति की मनोहर शोभा देखकर बालक गदाधर (श्री रामकृष्ण) की वाह्य चेतना लुप्त हो गयी थी; ग्रौर एक बार गाँव की स्त्रियों के साथ देवी के मेले में जाते समय रास्ते में स्त्रियों के ग्राग्रह से देवी-विषयक के संगीत गाते हुए बालक की ग्रहंबुद्धि भावावेश में लीन हो गयी थी। इसी तरह एक बार नाटकमण्डली में शिव का पार्ट करने के लिए गाँव वालों ने ग्रापको खड़ा किया; परन्तु ग्राप कुछ बोलने के पहले ही शिव के ध्यान में तन्मय हो गये। बचपन में ही ग्रापकी मेधाशक्ति इतनी प्रखर थी कि एकदा शास्त्रीय विवाद करते हुए किन्तु किसी सिद्धान्त पर न ग्राते हुए पण्डितों को ग्रापने जो राय दी वह उभय पक्ष को मान्य हो गयी। जिस समाधि के लिए साधक करोड़ों जन्म तपस्या करता है, वह निर्विकल्प समाधि यौवन काल से लेकर ग्रन्त समय तक ग्रापकी सहज ग्रवस्था हो गयी थी—क्षण-क्षण में ग्राप समाधिस्थ हो जाया करते थे।

हम कह ग्राये हैं कि श्रीरामकृष्ण की साधना केवल लोकशिक्षण के लिए हुई थी। यह समझ में ग्रच्छी तरह तब ग्राता है जब हम उनकी भिन्न-भिन्न साधन-क्रियाग्रों पर दृष्टि डालते हैं ग्रौर यह देखते हैं कि एक ग्रलक्षित शक्ति सदा उनके ग्रागे चलकर उनका मार्ग निष्कंटक बनाती रही। वे जिस महान उद्देश से ग्राये थे उसकी सफलता के लिए योग्य स्थान कलकत्ता ही था। क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव ग्रौर प्राचीन हिन्दू धर्म के जीर्ण खण्डहर—दोनों भारत की दूसरी जगहों की ग्रपेक्षा कलकत्ते में ही ग्रधिक सुलभ थे। कलकत्ते के पास ही किन्तु एक ऐसी जगह उन्हें रहना पड़ा जो स्थान-साधना के लिए सर्वोत्तम कहा जा सके—जहाँ पर्वताकार विशाल मन्दिर हो—तट पर जाह्नवी की चंचल तरंगें बाल-केलि कर रही हों—जहाँ भारी बागीचा हो, मोटे ग्रौर सटे हुए फलवाले तथा घनी छाया के वट, पीपल ग्रादि पेड़ों से शोभायमान, निर्जन ग्रौर पवित्र कल्पना द्योतक,—जहाँ जाने से प्राचीन तपोवन की याद स्वतः ग्रा जाय। इस 'दक्षिणेश्वर' नामक स्थान में मन्दिर का निर्माण करके कालीजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए रानी रासमणी ने तरुण श्रीरामकृष्ण की ग्रलौकिक साधना का द्वार पहले ही से खोल रखा था। जिस देवी के चरण-तले श्रीरामकृष्ण ने ग्रपना सर्वस्व ग्रर्पण कर दिया था, उसी कालीमूर्ति की स्थापना करने की भावना रानी के मस्तिष्क में स्वयमेव ग्रायी थी। इस समय जब श्रीरामकृष्ण मन्दिर में पुजारी के रूप से ग्राये थे तब हृदय में मातृभक्ति की सरिता प्रबल वेग से बह रही थी। मन्दिर में जिस कालिका मूर्ति की वे पूजा करते थे उसके चिन्मयस्वरूप के दर्शन, स्पर्श ग्रौर उससे बातचीत वे ग्रपनी बारह वर्ष की कठोर तपस्या के ग्रारम्भ में ही कर चुके थे। सिद्ध होकर भी साधना करने का कारण केवल लोकशिक्षण ही जान पड़ता है। एक यह भी दैवी सहायता उन्हें मिलती गयी कि जब जिस साधना की जरूरत हुई तब उसी विषय के ग्राचार्य उनके पास दक्षिणेश्वर मन्दिर में स्वयं हाजिर होते गये। तन्त्रों की भिन्न-भिन्न क्रियाग्रों से, भक्त शिरोमणि हनुमानजी के दास्यभाव की उपासना से, श्रीराधिकाजी के मधुर भाव के ग्राराधन से, निराकार ब्रह्म के 'नेति' मार्ग से, महम्मद ग्रौर ईसा की प्रार्थना से उन्होंने चरम लक्ष्य पर पहुँचकर देखा कि ये मार्ग उसी एक परमात्मा के विराट कलेवर से—हिमालय से नदियों की भाँति—निकले हैं ग्रौर उसी एक ही परमात्मा की ग्रोर साधक को ले जाते हैं। वही हिन्दुग्रों का वेदान्तवेद्य जातीय जीवन है। सर्वधर्म समन्वय का यह जो भाव स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण से मिला था, उसका प्रचार करते हुए स्वामी-

जी प्रायः महिम्नस्तोत्र के इस श्लोक की ग्रावृत्ति करते थे—

रुचीनांवैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

ग्रब एक बार श्रीरामकृष्ण को उनके सच्चे स्वरूप में देखना चाहिए। जो रामकृष्ण लोकगुरु बनकर ग्राये थे, उनके स्थूल शरीर पर यदि दृष्टि ग्रटक गयी तो उनके यथार्थ दर्शन नहीं हुए समझना चाहिए। रामकृष्ण वे हैं जो प्रत्येक साधन मार्ग से चलकर सत्यस्वरूप में लीन हो रहे हैं—सत्य के सिवा जिनका दूसरा ग्रस्तित्व कुछ भी नहीं। तेजोमय भूमानन्द से उतरकर मन ग्रौर वाणी के राज्य में जो रामकृष्ण विराजमान है, उनके सत्य के विमल प्रकाश को छूकर निकलते हुए महोच्च ग्रध्यात्म तत्त्व-समूह जन-समाज में लोकगुरु के ग्रासन पर प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार वर्षा के प्रबल जल से सूखी हुई पहाड़ी नदियाँ उमड़ चलती हैं, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण की महान् ग्रध्यात्म-शक्ति ने जाति की नस-नस में शक्ति का संचार कर दिया।

भारत में जितनी भिन्न-भिन्न जातियाँ बस गयी हैं, जिन्हें हिन्दू शत्रु तुल्य समझते हैं ग्रौर जो हिन्दुग्रों से जैसा का तैसा ही बदला लेती हैं, वे यदि जातीय जीवन का ग्रंग न मानी जायँ—यदि वे जाति से ग्रलग कर दी जायँ—तो जाति की सत्ता कब तक सही सलामत टिकी रहेगी ? यही कारण है कि श्रीरामकृष्ण को हरेक मार्ग का ग्रन्तिम छोर ढूँढ़ना पड़ा था ग्रौर वे किसी एक ही जाति की विभूति नहीं किन्तु सब सम्प्रदायों के ग्रन्तरंग हो गये थे। जाति की विक्षिप्त समूह-शक्ति को उन्होंने ग्रपने एकमात्र ग्रादर्श के तागे से बाँधा। हरेक को यही शिक्षा दी कि यह मत कहो कि हमारा मार्ग ही ठीक है, ग्रौर सब गलत।

शिकागो की धर्म-सभा का उद्योग, बौद्धिक सभ्यता के नशे में चूर पाश्चात्य जातियों में धर्म-लाभ की लालसा, महासभा का ग्रधिवेशन, यन्त्रवत् चालू होकर स्वामी विवेकानन्द का महासभा में हाजिर होना, हिन्दू धर्म की विजय, हिन्दू संन्यासी की प्रतिष्ठा, भारत की मूर्खता की डींग हाँककर ग्रमेरिका के धनपतियों की ग्राँखों में धूल झोंक धन कमानेवाले क्रिस्तान मिशनरियों ग्रौर थियोसोफिकल सोसाइटी वालों का स्वामी विवेकानन्द से विरोध, स्वामीजी का हर जगह बचना, ग्रमेरिका में वेदान्त का प्रभाव ग्रौर प्रचार, दूसरी स्वाधीन जाति से भारत का गहरा सम्बन्ध, धर्म, शिक्षा दान—ग्रादि बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि श्रीरामकृष्ण की ग्रध्यात्मशक्ति ने भारत को प्रबुद्ध करने के लिए दूसरी स्वाधीन जाति से भी उसका सम्बन्ध जोड़ा ग्रौर संसार-भर के ज्ञान-पिपासुग्रों को शान्ति दी; संसार की विचार-परम्पराग्रों में घोर हलचल मचा दी।

श्री शंकराचार्य का महान मस्तिष्क ग्रौर भगवान् बुद्ध का विशाल हृदय—दोनों श्रीरामकृष्ण रूपी भूमाभाव में विद्यमान दीखते हैं। पूर्वकालिक ग्राचार्यों ने पाण्डित्य की प्रखर ज्योति से एक धर्म का नाश ग्रौर दूसरे का ग्रभ्युदय-साधन किया था, परन्तु ग्राधुनिक ग्राचार्य श्रीरामकृष्ण ने श्रद्धामय सरल मुख की बालक-सुलभ वचनावली द्वारा उच्च तत्त्वों का विकास ग्रौर सर्व धर्मों का समन्वय किया। मनुष्यों में ही नहीं, कंकड़-पत्थरों में भी चिन्मयी महाशक्ति का स्वरूप प्रत्यक्ष देखते हुए उन्होंने कहा—मूर्तिपूजन से लेकर सर्वोच्च वेदान्त के सिद्धान्त तक सत्य हैं, हरएक से श्रद्धापूर्वक मिलो, सबमें वही विभु विराजमान है, किसी से विरोध करोगे तो वह परमात्मा से ही विरोध करना होगा, उस विरोध का धक्का तुम्हें जरूर सहना पड़ेगा।

श्रीरामकृष्ण के भावों को संसार के साहित्य-क्षेत्र में भी एक विशेष स्थान मिल गया है। स्वामी विवेकानन्द श्रौर उसके गुरु भाइयों तथा अनेक पश्चिमी भक्तों के अंग्रेजी ग्रन्थों और लेखों का प्रभाव, अंग्रेजी भाषा के प्रसार के कारण, संसार के कोने-कोने में फैल गया है। उन पुस्तकों के अनुवाद भी कई भाषाओं में हो गये हैं। बंगाल में तो हम विचारों का युगान्तर हुआ कह सकते हैं। पच्चीस वर्ष पहले यहाँ जो विचार आपस में लड़ रहे थे—जिनके भावों में निस्सार नीरस तर्क के सिवा और कुछ न था, उनका सर्वथा नहीं तो बहुत कुछ मूलोन्मूलन अवश्य हो गया है। वंगीय साहित्य में श्रीरामकृष्ण के निर्विरोध भाव भरने का अधिकांश श्रेय दिया जा सकता है बंगाल के शेक्यपीयर नाट्यसम्राट स्वर्गीय बाबू गिरीश-चन्द्र घोष को जिनकी लेखनी प्रसूत काव्यमय नाटक रंगमंच पर अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करते हैं—जिनका चैतन्य लीला नाटक सुनकर श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न हो गये थे और पूछने पर कहा था, 'नकल को असल देखा',—जिनका स्थान वंग-नाट्य-साहित्य में सर्वोच्च गिना जाता है।

भारत की सदा की धीमी चाल के कारण यद्यपि हम अपने जातीय जीवन में यौवन की स्फूर्ति नहीं देखते तथापि हमें आशा है कि उसका यह बाल्य, कैशोर के बाद यौवन में सेवा-श्रद्धा-प्रेम-त्याग और तपस्या की मोहिनी गति से चलकर अवश्य ही प्रदान करेगा।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर चैत्र, संवत् 1980 (वि.) (मार्च-अप्रैल, 1923)। असंकलित]

## हिन्दी भाषा कैसी होनी चाहिए

मानवजाति के लिए भाषा एक परम सम्पद है। आज मनुष्य ने प्राणि-जगत में जो ऊँचा स्थान पाया है, वह केवल भाषा ही की बदौलत। वैज्ञानिकों की राय है कि भाषा के बिना हम बिल्कुल चिन्ता ही नहीं कर सकते। इसलिए हमारी भाव प्रकट करने की शक्ति बहुधा भाषा की उन्नति पर अवलम्बित है। भारतवर्ष में आजकल जितनी भाषाएं प्रचलित हैं, उनमें से हिन्दी का स्थान, व्यापकता की दृष्टि से सबसे ऊँचा है। और भी कई कारणों से हिन्दी भारतवर्ष-भर की राष्ट्रभाषा होना चाहती है जिनमें से एक तो उसका उच्चारण है जो अक्षरों के ही अनुरूप है। दूसरा कारण उसका आसानी से बोध होना है। दक्षिण भारत को छोड़कर भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में हिन्दी थोड़ा-बहुत समझी ही जाती है और हमें पूरा विश्वास है कि थोड़ा प्रचार होने पर दक्षिण-देश में भी वह सहज ही में लोगों की समझ में आ जायेगी। अस्तु।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत से बनी हुई अपभ्रंश-भाषाओं से हुई है। इसलिए इसमें संस्कृत के बहुतेरे शब्द पाये जाते हैं—कहीं अपने ही पुराने रूप में (तत्सम) और कहीं कुछ रूप बदले हुए (तद्भव); शेष शब्दों में कुछ विदेशी हैं, जो अरबी, फ़ारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं से लिये गये

हैं और बाकी देशज शब्द हैं। हिन्दी भाषा के इस गठन को देखने से मालूम हो जायेगा कि शब्द का एक बहुत बड़ा हिस्सा या तो तत्सम होगा या तद्भव। भारतवर्ष में विदेशी राजाओं के वास करने के कारण और विजित जाति में विजेताओं के रहन-सहन की अनुकरण स्पृहा होने के कारण देशी भाषाओं में बहुत से विदेशी शब्दों का व्यवहार शुरू हुआ। इनमें से कुछ शब्द तो आवश्यक थे, क्योंकि देश में पहले-पहल आये हुए नये-नये भावों के लिए देशी भाषाओं में योग्य शब्द ही नहीं थे, पर बाकी शब्द केवल अनावश्यक शोभा के लिए और कुछ शासक-मण्डली अपनी सभ्यता दिखाने के उद्देश से प्रयोग में लाने लगी। अब वह ज़माना नहीं रहा, लेकिन वे विदेशी शब्द अब तक जारी हैं, जिनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें स्त्रियाँ और बच्चे तक बोलते हैं, बाकी केवल शिक्षित जनता की ही बोलचाल और लेख में आते हैं। मुसलमान बादशाहों के समय राजा और प्रजा की बातचीत के सुभीते के लिए हिन्दी को एक नया रूप मिल गया जिस पर अरबी-फ़ारसी का बहुत प्रभाव पड़ा, और वही उर्दू है। तो शुरू में उर्दू हिन्दी ही का अरबी-फ़ारसी लिवास पहने हुए रूपान्तर मात्र थी। धीरे-धीरे उसमें साहित्य की सृष्टि होने लगी और काल की गति से उसमें विदेशी शब्दों का अधिकाधिक उपयोग आरम्भ हुआ। फल इसका यह हुआ कि शुरू में तो हिन्दी और उर्दू में थोड़ा ही अन्तर था परन्तु आजकल वह भेद इतना बढ़ गया कि लोगों को सन्देह होता है कि वे एक ही भाषा हैं या दूसरी। इधर हिन्दी में भी संस्कृत शब्दों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी और नौबत यहाँ तक पहुँची कि अन्त में 'पण्डिताऊ' भाषा लोगों को डरावनी मालूम होने लगी। इस गढ़े से बचने के लिए इसी के प्रतिक्रिया के रूप में आधुनिक शिक्षा की रोशनी पाये हुए कुछ लोग हिन्दी को जबरदस्ती फ़ारसी-अरबी के विकट शब्दों से लादने लगे। मानों संस्कृत की अपेक्षा वे विदेशी शब्द जल्दी लोगों की समझ में आ जायँगे। इस खैंचातानी में पड़कर हिन्दी-भाषी और उर्दू-भाषी जन-साधारण के बीच में एक पहाड़-सा खड़ा हुआ दीखता है, जो हटाने से भी नहीं हटता।

इस झमेले का फल यह हुआ है कि आजकल उर्दू ही भारत में हिन्दी का सबसे अधिक विरोध करने का दम भरती है, यद्यपि वास्तव में दोनों एक ही भाषा के विभिन्न रूप हैं। पक्षपात एक बुरी बला है—वह अपने पक्ष का दोषगुण ठीक से देखने नहीं देती। इसीलिए उर्दू एक अत्यन्त सदोष और अति कठिन लिपि में लिखी जाने पर भी इसका समर्थन करनेवाले हमारे भाई इसी भाषा और इसी लिपि को भारत की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय लिपि बताने में हिचकिचाते नहीं। उर्दू-भाषा और फ़ारसी-लिपि में भले ही बहुत गुण हों, पर यह बात तो सिर्फ उर्दू बोलनेवालों ही के लिए है औरों के लिए नहीं, और हमें यह भी कभी न भूलना चाहिए कि भारतवर्ष के अधिकांश मनुष्य आधुनिक उर्दू जैसी क्लिष्ट भाषा तथा फ़ारसी लिपि की अपेक्षा, संस्कृत-लदी हिन्दी को ही अच्छा मानेंगे। कारण यह कि संस्कृत एक समय यहाँ की मुख्य भाषा थी और भारत की वर्त्तमान सभ्यता अधिकतर उसी की कृपा से हुई है। अरबी, फ़ारसी आदि उन भाषाओं का जिनसे कि उर्दू के उर्दूपन का घना सम्बन्ध है, पठन-पाठन भी इसी देश में अब तक वैसा नहीं होता जैसाकि संस्कृत का, और न वैसा होना सम्भव है। इन सब कारणों से क्लिष्ट फ़ारसी-अरबी शब्दों की अपेक्षा कठिन-से-कठिन और लम्बे-से-लम्बे संस्कृत शब्द ज्यादा भारतवासियों के लिए सुबोध्य होंगे।

हिन्दी में अब यह प्रश्न होता है कि जो शब्द विदेशी भाषाओं से हिन्दी में आ

मिले हैं क्या उन्हें हिन्दी में ज्यों-का-त्यों रख देना होगा, या उनमें कुछ स्वाभाविक फेरफार करके उनका विदेशी आकार ज़रा बदल दिया जायेगा। इस मामले में उच्चारण की कठिनाइयों का ख्याल करना पड़ेगा, क्योंकि हर विदेशी भाषा में कुछ ऐसे उच्चारण हैं जिनका दूसरी भाषा में ठीक-ठीक अनुकरण करना केवल कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। उर्दू के कुछ विशेष-विशेष अक्षर ही को देखिए न— भारतवासियों में से कितने इनका शुद्ध उच्चारण कर सकेंगे ? अन्त में विवश होकर उन बेचारों को यह कहना पड़ेगा कि वे उन शब्दों ही को जिनमें इन अक्षरों का उपयोग है, एकदम दूर भगावें —नहीं तो उच्चारण के बारे में अपने जानकार भाई-बहनों का हँसी-मजाक कौन अपने मत्थे मढ़ लेगा ? हमारे क्षुद्र विचार में तो समय की गति देखकर इन बेढब शब्दों में कुछ स्वाभाविक हेरफेर कर देना ही ठीक जँचता है जिसमें वे शब्द देशी पोशाक पहने हुए धीरे-धीरे अपनाये जायँ। उदाहरणार्थ हम बंगाल का हाल बताते हैं—बंगला भाषा में बहुत से शब्द अरबी-फ़ारसी के हैं, पर वे हिज्जे और उच्चारण दोनों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके ऐसे अपनाये गये हैं कि उनके नये रूप में कोई भी उन्हें विदेशी नहीं समझ सकते। सब कोई उनको काम में लाते हैं और वे देशज और तद्भव शब्दों के ही बराबर हो गये हैं। ऐसा ही होना चाहिए। बंगाल में उर्दू के शब्दों का ठीक-ठाक उच्चारण करनेवाले बहुत ही कम पाये जाते हैं —वहाँ के साधारण मुसलमान भी बंगला ही बोलते हैं। हाँ, उनकी भाषा में उर्दू शब्द कुछ अधिक रहते हैं, पर उत्तरी भारत में उनका जैसा उच्चारण हम सुन पाते हैं वैसा बंगाल में वे नहीं करते। जैसे बंगाल के साधारण मुसलमान और हिन्दू में पोशाक का भी अन्तर थोड़ा ही है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दी का उच्चारण अक्षरानुरूप होता है। हिन्दी की इस विशेषता को जारी रखने के लिए कुछ लोगों का मत है कि अगर विदेशी शब्दों का उच्चारण ज्यों-का-त्यों बनाये रखना हो तो कई एक अक्षरों में बिन्दी या और कुछ चिह्न लगा दिये जायँ। यह छपी किताबों या अखबारों में सम्भव होने पर भी लिखने में हमेशा वैसे चिह्न देते जाना कुछ सीधी बात नहीं। अँगरेजी में जो फ़रासीसी शब्द बर्ते जाते हैं उनके हिज्जे तो वैसे ही रख दिये जाते हैं, पर उच्चारण में अन्तर पड़ता है। अँगरेज उन शब्दों का दूसरे यानी अँगरेजी ढंग से उच्चारण करते हैं। किसी भी जीवित भाषा में विदेशी शब्द लिये तो अवश्य जाते हैं, पर वे अकसर अपने ही रंग से रँग लिये जाते हैं। क्या हिन्दी में भी वैसा होना उचित और सम्भव नहीं ? सांकेतिक चिह्नों का उपयोग करना एक तरह से भाषा की स्वच्छन्द गति को रोक देना है। वे शब्द विदेशी ही रह जाते हैं और इससे आगे चलकर अनर्थ हो जाने का डर रहता है।

राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी को सरल और तेजस्वी होना चाहिए। भाषा भाव को प्रकट करने का एक साधन है। इसलिए सब प्रकार के उच्च भावों को प्रकट करने की शक्ति हिन्दी में होनी चाहिए। यदि उसमें किसी नये उच्च भाव के लिए उचित शब्द न हो तो उसे गढ़ लेना चाहिए। पहले संस्कृत के खजाने से, फिर उसमें न मिलने पर और किसी प्रान्तीय भाषा से —क्योंकि प्रान्तीय भाषाओं की चर्चा देश में होती ही रहेगी और इसी से वे उतने कठिन मालूम न होंगे,—और अन्त में फ़ारसी, अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं से। इसमें सरलता और उपयोगिता का ध्यान रखना होगा। आपस की फूट बढ़ाना बुद्धि का काम नहीं। यों तो कुछ-न-कुछ त्रुटि सभी भाषाओं में रहा करती है। तो व्यर्थ की मनमानी हाँकने के बदले एक राष्ट्रीय भाषा के बनने में मदद देना केवल उचित ही नहीं, परमावश्यक

है। और-और प्रान्तवासी भाई-बहनों पर दृष्टि रखते हुए सब हिन्दी-प्रेमियों को एक सरल, सुन्दर और जोरदार देशभाषा बनाने के लिए कमर कसे रहना चाहिए, जिससे हिमालय से कन्याकुमारी तक और सिन्ध से आसाम तक सारे भारतवर्ष में, एक साधारण भाषा के सहारे एक प्रान्तवासी दूसरे प्रान्त में रहनेवाले अपने भाइयों से अपना मनोभाव प्रकट कर सके और भाषा की दृढ़ पर मुलायम डोरी से बँधे हुए एक अखण्ड भारत की सृष्टि करे।

[‘समन्वय’, मासिक, कलकत्ता, सौर ज्येष्ठ, संवत् 1980 (वि.) (मई-जून, 1923)। असंकलित]

## भाषा की गति और हिन्दी की शैली

बालिका हिन्दी के चमकीले चिकने पात और भारत के सभी प्रान्तों में, सभी संस्थाओं में, यहाँ तक कि राष्ट्रीय महासभा में भी उसकी अबाध गति देखकर स्नेह-शब्दों से बिना यह कहे नहीं रहा जाता कि उसके होनहार होने में अब कोई सन्देह नहीं रहा; किन्तु फिर भी वर्तमान हिन्दी को अपनी खास सम्पत्ति के भ्रम से अपनाने के लिए प्रान्तीय विद्वानों की चमत्कारपूर्ण लेखन-कला को हाथ बढ़ाते हुए देखकर, दो-चार विनय-शब्द निरपेक्ष विचारकों के सामने रखना न अप्रासंगिक समझा जायगा और न अयौक्तिक।

हरएक भाषा का संसार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाणिज्य-व्यवसाय में, कला-कौशल में, साहित्य-विज्ञान-दर्शन-राजनीति, समाज-नीति-अर्थशास्त्र आदि ज्ञान-भाण्डार के सभी विषयों में एक जाति से दूसरी जाति का सम्बन्ध जोड़ने का पहला साधन भाषा है। माल की तरह किसी भी भाव की रफ्तनी भाषा की थैली में भरकर की जाती है। जिस भाषा के तहखाने या मालखाने में पूँजी या रकम कम होती है या उसके मालिक चतुर नहीं होते या बनिये डाँडी मारना नहीं जानते—हाथ की सफाई नहीं दिखाते, वे अकसर घाटा ही उठाते हैं; वहाँ धर्म ढकोसला कहलाता है—बुद्धिमान जन आँखों में धूल तो झोंक ही जाते हैं किन्तु एक नसीहत भी जिन्दगी-भर याद रखने के लिए छोड़ जाते हैं और वह यह कि घर का घर जला, बेशऊर नाम ऊपर से पड़ा।

अतएव जब तक जीवित रहने के लिए संसार के प्रत्येक कर्म-चतुर मनुष्य और उसकी भाषा से हमें नाता नहीं तोड़ना है तो हमें उसकी भाषा की प्रगति पर भी वही नजर रखनी चाहिए जो एक जौहरी हीरे पर रखता है। बाबा आदम के ज़माने की तूती की आवाज आजकल के नक्काड़खाने में काम न देगी। इस बात को चरितार्थ होते हम हर समय देखते हैं। संसार की जाग्रत जातियाँ, भाषा की स्वच्छन्द गति में रुकावट डालना तो दूर रहा बल्कि उसके बाधक कंकड़-पत्थरों को दिन-पर-दिन चुनने के लिए किस तरह दत्तचित्त हैं, यह हम जब चाहें किसी कोष का नया संस्करण या कोई सामयिक पत्र उठाकर देख सकते हैं। कोई आगे बढ़ता है तो अरबी नस्ल के घोड़े पर सवार होकर या किसी अड़ियल टट्टू पर

चढ़कर ? परन्तु यहाँ ग्रालसी खरगोश ग्रौर मिहनती कछुए की कथा ग्रप्रासंगिक होगी। दूसरी भाषाग्रों का प्रसंग विद्वानों की समझ पर छोड़कर हम भाषा-प्रगति पर कुछ निवेदन करेंगे।

हमारे शब्दशास्त्र के पारदर्शी ऋषियों ने त्रिस्वरात्मक ग्रोंकार के विन्दु को शब्दसृष्टि का मूल बताया है। इस विन्दु से उत्पन्न वैदिक शब्द-भाण्डार पूर्ण माना जाता है। परन्तु शब्द ग्रौर भाण्डार का ग्रस्तित्व जबकि ग्राँखों के सामने है तो विचार की बाहरी दृष्टि से उसकी पूर्णता बाल्य ग्रौर युवावस्था के बाद ही सिद्ध होती है। विन्दु से ग्रक्षर की सृष्टि, ग्रक्षरों से शब्दों की, शब्दों से वाक्यों की—छन्दों की—इसी तरह ग्रन्थादि की सृष्टि का क्रम रखना पड़ता है; ग्रौर इसी से साबित होता है कि शब्दों का ढलना—एक दूसरे रूप में बदलना—ग्रनिवार्य है यदि कोई भाषा ग्रपना भाण्डार पूर्ण रखने का इरादा रखे, तो।

दूसरे, मनुष्यों की भाँति भाषा में भी प्राण होते हैं। मनुष्य बोलता है या भाषा बोलती है, इसका निर्णय करना ज़रा कठिन काम है। जिन पाँच तत्त्वों से शरीर बनता है, उनमें भाषा को ही सबसे ग्रधिक सूक्ष्म कहा जा सकता है क्योंकि इसका ग्राकाश तत्त्व से सम्बन्ध है, ग्रौर प्राण ग्राकाश तत्त्व ही का ग्राध्यात्मिक रूप है। उधर भाषा से ही प्राणों का परिचय मिलता है। भाषा या प्राणों का प्रवाह स्वभावतः पूर्णता की ग्रोर होता है। जीव, जाति या भाषा के प्राणों (की प्रगति) पर जभी बाधा डाली गयी तभी हम उसे, इतिहास में, एक दूसरी ग्रोर मुड़ते देखते हैं। जीव पर कोई ग्रसह्य दबाव पड़ा, उसने ग्रपने विकास के लिए रास्ता लिया, जाति पर ग्रन्याय का बोझा लादा गया कि उसने उसे झटककर नया पथ निकाला। भाषा के पैरों में व्याकरण की बेड़ी पड़ी कि उसने झट ग्रपना स्वरूप बदला ग्रौर यों पूर्णता की ग्रोर किसी नये रास्ते से चल पड़ी।

वर्तमान भारत में व्यापकता के लिहाज से राष्ट्रभाषा का पद हिन्दी को मिल रहा है। कितने ही विद्वानों ने गहरी जाँच करके उसे संस्कृत की जेठी लड़की बताया है। यह कहाँ तक सत्य है, इस पर ग्रनुमान ही मुख्य प्रमाण है। गम्भीर गवेषणा बहुधा कोरी कल्पना हो जाती है। पहाड़ खोदने पर रत्नों की एवज में कंकड़, पत्थर ग्रौर कदाचित चूहे ही हाथ लगते हैं। हिन्दी को यह स्वरूप तो ग्रभी उस दिन मिला है। हिन्दी ग्रौर उर्दू की लड़ाई बन्द हुए ग्रभी ज्यादा दिन नहीं हो गये, बल्कि ग्रच्छी तरह देखा जाय तो दोनों के ग्रंगों में दो-चार घाव ग्रब भी दिखायी देंगे। यह सभी जानते हैं कि ग्रंग्रेज विद्वानों के प्रभाव ग्रौर कुछ देशी शिक्षितों की चेष्टा से संस्कृत ग्रौर देहाती प्रचलित शब्दों द्वारा उर्दू का नवीन संस्कार करके हिन्दी का उद्धार किया गया है। हिन्दी के पत्रों में या पुस्तकों में जो भाषा लिखी जाती है, वह तो हमने उनके सम्पादकों ग्रौर लेखकों को भी बोलते नहीं सुना, परन्तु दो-चार ग्राचार्यों की बात हम नहीं कह सकते। ग्रस्तु, यह निर्विवाद है कि ऐसी संस्कृत-प्रचुर हिन्दी न किसी के मुँह से निकली है ग्रौर न वह किसी की मादरी जबान है। कदाचित यही कारण है कि हरएक प्रान्तवाले हिन्दी लिखते समय ग्रपनी मातृभाषा के दो-चार शब्द जो प्रयोग में ग्राने योग्य हैं, लिख देते हैं। एक दूसरे प्रान्तवाले यदि इसे ग्रपराध समझें तो वास्तव में यह दोष किसके सर पर लादना चाहिए ? कुछ लोग दिल्ली के ग्रासपास की भाषा को हिन्दी का यथार्थ रूप मानते हैं, ग्रन्यथा प्रान्तीयता की दुर्गन्ध उन्हें ग्रसह्य मालूम होती है। यद्यपि गुजराती की गन्ध ग्रौर मराठी की महक तो दूर रही, एक बंगला की बू की बदौलत ही लेखक कहाने का सौभाग्य मिला। उर्दू-फ़ारसी

के चिरकाल पड़ोस पर रहने की वजह, दिल्ली की सरहद की जवान पर असर पड़ा, उसे कोई दिल्ली निवासी या उसका पक्ष लेनेवाला भक्ति की सहज प्रेरणा से भविष्य राष्ट्रभाषा का सार्वभौमिक रूप भले ही दे डाले, परन्तु कोई साहित्यिक निगरानी के लिए जब हिन्दी का साहित्य-भाण्डार टटोलता है तब ग्रन्थ-महोदधि के निकले हुए रत्नों में से एक-तिहाई वंगोपसागर के ग्रौर एक-तिहाई ग्ररब समुद्र के गुजरात ग्रौर महाराष्ट्र उपकूल के चुने हुए दीखते हैं, ग्रौर रहे-सहे एक-तिहाई रत्न ग्रार्यों के ग्रादिम ग्रालय से ग्रारम्भ करके युक्त वेणी ग्रौर मुक्त वेणी के छोर तक उत्तर-दक्षिण सभी भू-भागों में बिखरे हुए। फिर भी हमें दिल्ली के इलाके में न तुलसी मिलते हैं ग्रौर न हरिश्चन्द्र। ग्रस्तु, हमारे बिना जाने ही जब कि हमारी भाषा ने इतना विस्तार कर लिया, तो उस पर प्रान्तीयता का इलजाम न लगना चाहिए ग्रौर जब कि राष्ट्रभाषा से प्रान्तवासियों का ग्रविच्छेद्य सम्बन्ध है।

जिस भाषा के लब्धप्रतिष्ठ पुरुष ग्रशुद्ध वाक्य लिख मारें ग्रौर ऊपर से ग्राम सड़क पर छाती ग्रड़ाये दूसरों को रोकने की हिम्मत करें उस भाषा को न कोई भाषा कह सकता है ग्रौर न इससे लोगों की स्वाधीन गति रुक सकती है। संसार की हरएक भाषा स्वाधीन चाल से ही चलकर ग्रौर भिन्न-भिन्न भाषाग्रों से ही शब्द लेकर ग्रपना भाण्डार भरती है।

ग्रस्थिर प्रवृत्ति स्वभावतः एक जाति को दूसरी से जोड़ती ग्रौर एक से दूसरी को प्रभावित करती है। उसके इसी सार्वकालिक नियम के कारण प्रभावित जाति प्रभावशालिनी के रहन-सहन, ग्राहार-विहार, चाल-चलन, वेषभूषा, भाव-भाषा ग्रादि सभी ग्रंगों का ग्रनुकरण करती है ग्रौर इस तरह उसके पहले के स्वरूप में इतना ग्रन्तर पड़ जाता है कि उसे पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। चन्द कवि के समय हिन्दी की जो शैली थी वह तुलसी-सूर-भूषण-मतिराम के समय नहीं रही। ग्रौर इन व्रजभाषा के कवियों ने उसे जिन भूषणों से सज्जित किया वे ग्रब ग्रतीत के साज समझे जाते हैं। वर्तमान युग के ग्राचार्यों ने उसे ग्रौर ही रूप दे डाला है। हिन्दी की ग्राधुनिक शैली में शब्द-योजना ग्रौर पद-प्रकरण ग्रनेक प्रकार से किये गये हैं। पद-प्रकरण में ग्रधिक प्रभाव बंगला ग्रौर ग्रंग्रेजी का पड़ा है, यद्यपि दो-एक ग्राचार्यों ने संस्कृत का ही पक्ष-समर्थन किया है। ग्रंग्रेजी का ग्रसर पड़ा उसके राजभाषा होने के कारण ग्रौर बंगला ने ग्रपना प्रभाव जमाया ग्रपनी उन्नति की बदौलत। ग्रंग्रेजी की तो बात ही नहीं, क्योंकि उस ताई ने तो ग्राशीर्वादी हाथ भारत की सभी भाषाग्रों के सिर पर फेरा है किन्तु मराठी ग्रौर मुख्यतः बंगला का पद-प्रकरण, भाषा का स्वाभाविक प्रवाह, भाव ग्रादि हिन्दी के ग्रनुवादित ग्रन्थों में इस प्रकार डट गये हैं मानों वही हिन्दी की पुश्त-दर-पुश्त की मौरूसी जायदाद हैं। नाटकों में गिरीश, द्विजेन्द्र ग्रौर उपन्यासों में बंकिम, रवीन्द्र ग्रादि। कवि मैथिलीशरण का ग्राक्षेप तो प्रसिद्ध ही है—

ग्रायी कहानी भी न कहनी ग्रौर हम इतना बके।
जीवन-प्रभात न चन्द्रशेखर एक भी हम लिख सके॥

ग्रंग्रेजी, बंगला, उर्दू या किसी भी उन्नत भाषा की ग्रोर हिन्दी की रुचि का होना उसकी प्राथमिक उन्नति के लिए ग्रत्यन्त ग्रावश्यक था। इसके बिना उसके संकीर्ण शब्द-भाण्डार की पूर्ति ग्रसम्भव थी। उसका सामाजिक जीवन ग्रभी इतना उन्नत नहीं कि उसका चित्र एक दूसरे उन्नत सामाजिक चित्र की समता कर सके। उसमें ग्रभी वे शब्द-रत्न भी नहीं ग्राये जिनकी चमक भाषा-वाजार के खरीदारों को ग्रपनी ग्रोर खींच सके। यही कारण है कि उसने भिन्न-भिन्न भाषाग्रों के

भावों और शब्दों को अपनाया। अगर धनुहीखेड़ा और मोहकमगंज के बाजारू सामान उसके लिए काफी होते तो वह कलकत्ता, बम्बई, बनारस और इलाहाबाद के देशी-विदेशी मालों को अपनी पिटारी में न रखती। यदि नत्थाराम, छेदीलाल छीटू और घसीटे आदि पात्रों से और इधर गुलबिया, रमजाना, मेडिया और, मखोलिया आदि पात्रियों से उसके नाटकों और उपन्यासों में चमत्कार आता जान पड़ता तो वह न सुरेन्द्र, रमाकान्त, हेमचन्द्र और नरेन्द्र की खोज करती और न कुन्द, इन्दु, षोडशी और शैवलिनी आदि ललित लवंगलता जैसी पात्रियों के नामों ही से अपने साहित्य में रसाभास लाने का प्रयत्न करती। भावों में भी वर्णसंकरता की कमी नहीं। अंग्रेजी या बंगला की अनुवादित पुस्तकों की भाषा चाहे कितनी सावधानी से क्यों न लिखी जाय परन्तु मूल ग्रन्थों के जातीय भावों का निराकरण कभी किया नहीं जा सकता। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि इन विजातीय भावों ने हिन्दी के कलेवर को हृष्ट-पुष्ट करने में बहुत कुछ सहायता दी है। विदेशियों की बनायी हुई ऐसी बहुत-सी चीजें हैं— शिक्षा की बहुत-सी शाखाएँ हैं जिन्हें अपनाइए तो विदेशी शब्दों को ही साहित्य में जगह देनी पड़ेगी। बंगाल ने तो ऐसा ही किया है। हिन्दी के लेखक भी अब इस उपाय का आदर करने लगे हैं। यह उपाय स्तुत्य है। हरएक भाषा की उन्नति इसी प्रकार हुई है। सोंटे और लँगोटे के अतिरिक्त तीसरा शब्द सम्भव है संन्यास-जीवन के लिए हानिकारक हो परन्तु भोग की जन्मभूमि गृहस्थाश्रम के लोग काव्य, नाटक, उपन्यास आदि जिनके मनोविनोद की सामग्री हैं, यदि संसार के संग्रहणीय योग्य भावों तथा ज्ञातव्य विषयों का संचय न करके केवल सत्तू से ही सन्तुष्ट रह जायँ तो परमात्मा जाने, साहित्य के उन्नयन का दूसरा कौन-सा उपाय है। किसी का यह आक्षेप कि विजातीय भाव हर-एक साहित्य में लिये जाते हैं किन्तु वे सदा विजातीय दृष्टि से ही देखे जाते हैं, अनेक अंशों में सत्य होने पर भी, साहित्य की रुचि बदलने के मुख्य कारण भी वही होते हैं। जभी किसी साहित्य की गति या विचार-परम्परा बदली है तब उसका सहायक अपर भावों का प्राबल्य ही हुआ है। फिर हमारे साहित्य में तो शब्दों और भावों की इतनी कमी है कि अभी वे नहीं के बराबर समझे जाते हैं। शायद यही कारण है कि हमारे साहित्य की रुचि केवल भाषा और भावों में ही नहीं किन्तु चित्रों में भी परिवर्तन-पट पलट रही है।

हमने विद्वानों को प्राय: यह आक्षेप करते सुना है कि हिन्दी की गति, उसका भाषा-प्रवाह मन्द है, इससे दूसरों को विशेषकर प्रान्तीय लोगों को पढ़ने में असुविधा होती है। यह आक्षेप निराधार नहीं। जिन लोगों की मातृ-भाषा भिन्न है वे बेचारे पहले तो हिन्दी के विराम-चिह्नों को देखकर ही चौंक पड़ते हैं। वे क्या जानें कि हिन्दी में कोई-न-कोई विराम चिह्न वहीं रखा जाता है जहाँ लेखक की लेखनी रुक जाय, किन्तु उसके खास नियम नहीं हैं। हम अवध प्रान्तवासियों को कोई हानि नहीं, हिन्दी का पुरातन संस्करण हमारी मातृ-भाषा है—फिर उसमें चाहे कोई क्यों के बाद कामा लगायें चाहे कर्तृ कारक के बाद पूर्णविराम, किसी तरह तो हम पढ़ ही लेंगे और अर्थ भी समझ लेंगे; परन्तु जिस भाषा के आचार्यों ने विराम-चिह्नों का लगाना अंग्रेजी से सीखकर अपनी भाषा का नियन्त्रण किया है, उसके विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते समय किस आफत में फँसते हैं, उसका विद्वज्जन सहज ही अनुमान कर सकते हैं। हिन्दी को साहित्यिक दृष्टि से पढ़नेवाले सभी यही चाहते हैं कि पढ़ते समय वहीं रुकें जहाँ कुछ शब्दों का समावेश एक अर्थ का स्पष्टीकरण करता हो और उन्हें ज़रा दम लेने की भी गुंजायश रहे, न कि वहाँ जहाँ अर्थों का

बोध होना तो दूर, एक शब्द भी विरामचिह्नों की कृपा से अपनी अर्थविकास करने-वाली प्यारी विभक्ति से अलग रहता है। ऐसा प्रयोग व्यावसायिक दृष्टि से भी हिन्दी को हानि पहुँचाता है। मान लीजिए, कोई भिन्न भाषाभाषी महोदय आपसे मिलने गये। दो ही मिनट में उन्होंने अपने आगमन का सारा किस्सा कह सुनाया जिसका उत्तर देना तो दरकिनार, उनके स्वागत-शब्दों की दीर्घ स्वरों की सफलता दिखाते हुए—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की (गद्य में ही) कार्यवाही पूरी करते हुए आपको कहीं तीन मिनट से अधिक समय लग गया। समय का मूल्य समझने-वाले अमेरिका जैसे देश किसी शब्द के उस अक्षर को जिसकी उच्चारण में आवश्यकता नहीं होती, निकाल देते हैं और इस प्रकार थोड़े ही समय में अधिक भाव प्रकट कर जाते हैं। हमें भी जीवन को कर्ममय करने के लिए भाषा की गति को बढ़ाना चाहिए। भाषा की शिथिलता जीवन को भी शिथिल कर देती है।

हिन्दी की मन्द गति का प्रधान कारण यह है कि गद्य का ज़माना उसमें अभी कुछ समय से आरम्भ हुआ है। व्रजभाषा की कविता लिखकर या पढ़कर लोग अब तक साहित्य-रस का स्वाद लेते थे। कविता की गति स्वभावत: मन्द होती है क्योंकि कविता में स्वरों और मात्राओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कविता की भाषा से मनोरंजन तो होता है परन्तु वह जीवन-संग्राम के काम की नहीं होती। दूसरे, कविता-प्रिय मनुष्य कल्पनाप्रिय हो जाता है। उससे काम नहीं होता। ललित कल्पना मनुष्य को कर्म के कठोर क्षेत्र पर उतरते भय दिखाती है। कविता की सुकुमार भावना लोगों को सौन्दर्योपासक बना देती है। इससे जाति के कर्म-जीवन के शिथिल होने की सम्भावना है। हिन्दी का पिछला युग ऐसा ही था। एक तो मुसलमान बादशाहों के लिए देश में विलास का दौरदौरा था ही, दूसरे व्रजभाषा के कवियों ने जाति को स्वरूप देखने के लिए श्रृंगार रस का दर्पण दिया। इस सौन्दर्योपासना के कारण जाति के साथ भाषा की शैली भी शिथिल पड़ गयी।

जो हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी, जो हिन्दी किसी प्रान्त की मातृभाषा नहीं, जिस हिन्दी के लेखक अभी गढ़ रहे हैं, जिस हिन्दी के सहारे भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक सभी शंकाओं का समाधान किया जाना निश्चित है, उसे उन्नत करने के लिए—भिन्न-भिन्न शब्द गढ़ने तथा अपनाने के लिए—उन्हें व्याकरण-सम्मत स्थान देने के लिए भाषा-प्रवाह को वर्द्धित करने के लिए—सभी प्रान्तवासियों का समानाधिकार है। हिन्दी के कोश में आज यदि दस हजार शब्द हैं तो कल पन्द्रह हजार होना तभी सम्भव है जबकि पूर्वोक्त उपायों से शब्द गढ़े जायेंगे, और भाषा-प्रवाह को तेज करने का यही तरीका है कि क्षिप्रगति भाषाओं के कन्धे से उसका कन्धा मिलाया जाय। कर्मक्षेत्र में हमारी विजय तभी सम्भव है, किसी भाव को जल्दी और आसानी से तभी हम व्यक्त कर सकेंगे जब भाषा पूर्ण स्वतन्त्र और भावों की सच्ची अनु-गामिनी होगी।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर आश्विन, संवत् 1980 (वि.) (सितम्बर-अक्तूबर, 1923)। **चयन में संकलित**]

## शक्ति-परिचय

आजकल शिक्षित मनुष्य, जिन पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव आवश्यकता से कहीं अधिक पड़ गया है, प्रायः पूछ बैठते हैं—'भारत के महापुरुष या सिद्ध महात्मा यदि सब-कुछ कर डालने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तो वे देश को दासता के शृंखलों से बँधा हुआ देखकर उसे क्यों नहीं छुड़ा लेते ? सच तो यह है कि इसी आध्यात्मिकता के पीछे पड़कर देश की ऐसी दुर्दशा हुई। जब तक इससे देश का पिण्ड नहीं छूटता तब तक देशोद्धार की कोई आशा नहीं। गत अर्द्धशताब्दी के भीतर कई महापुरुष आये, और अब भी देश महापुरुषों से खाली नहीं, परन्तु उनसे भारत के भाग्य का परिवर्तन न हुआ, वह ज्यों-का-त्यों ही बना हुआ है; और यदि वह कुछ उन्नत भी हुआ तो इसका श्रेय साधारण जनता को है, उन्हें नहीं।'

ऐसे बे-सिर-पैर की शंका का शास्त्रोक्त उत्तर चित्त पर न चढ़ने के कारण हो अथवा अर्जित शिक्षा के स्वाभाविक आकर्षण के निमित्त, वे पश्चिमी राजनीति, विज्ञान, समरनीति, सामाजिक सुधार या बहिर्जगत में विरोधी भावों से लड़कर विजय प्राप्त करनेवाले किसी नवीन भाव को, देश में शक्ति-संचय करने के लिए अपना लक्ष्य बना लेते हैं और यदि उनसे हो सका तो तदनुसार ही काम करने में लग जाते हैं। इस तरह वे भिन्न-भिन्न विषयों के आदर्शों से देश की परिस्थिति को पलट देने का विचार रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं, इस समय की स्वाधीन वृत्ति कहलाने के कारण अधिकांश मनुष्यों की स्वाधीनता की चिन्ता, राजनीति की परिधि के भीतर ही चक्कर काट रही है।

पूर्वोक्त शंका को और भी मजबूत जड़ मिल जाती है जब वह देश में अनेक धर्म और अनेक सम्प्रदायों का जमाव देखती है। इन धर्मों में एक दूसरे का प्रकृति-गत विरोध दिखाकर वह शिक्षित समुदाय को एक अपर भूमि पर ठहरकर देश में एकता-स्थापन का उपदेश करती है और इस तरह बहिःशक्ति के संचय से देश को पतन के गर्त से उठाने की कोशिश करती है।

परन्तु जीवन के भीतरी भाग का जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं, शिक्षा प्राप्ति के आरम्भ से क्यों—जीवन के प्रथम प्रवाह से ही जिन्हें बाहर मुड़ने की वृत्ति के अधीन हो जाना पड़ा, वे यदि भीतरी उलझनों का निपटारा न कर सके तो यह उनका दोष नहीं कहा जा सकता और भारत के महापुरुष इसे भी परमात्मा की लीला का एक आवश्यक अंग समझकर, इसका विरोध नहीं करते। हम इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द को प्रायः यह कहते हुए पाते हैं—'मेरे बच्चो, बहककर तुम चाहे जहाँ चले जाओ—कुछ काल के लिए चाहे जिसे अपना आदर्श मान लो परन्तु अन्त में तुम्हें अपने पूर्वाचार्यों के अनुशासनों को—उनके सिद्धान्तों को मानना पड़ेगा, इससे सिवा दूसरा उपाय कोई नहीं।'

अब विचारणीय यह है कि इस देश में टक्करें लेनेवाली इन इतनी शक्ति-तरंगों में कोई साधारण (Common) शक्ति है या नहीं, यदि है तो वह कौन-सी है ? उसी के द्वारा देश का उत्थान होगा, इसके कोई अनुकूल प्रमाण भी हैं या यह युक्ति जाल मात्र है।

इसका विचार करने के पहले हमें तराजू के एक पलड़े पर संसार के अपर भागों को और एक पर भारत को रखकर, दोनों को तौलना चाहिए। हमें देखना

चाहिए, संसार के अपर लक्ष्यों से भारत का साम्य है या वैषम्य। इतिहास भले ही इसके चार-छः शताब्दियों के आगे अपना भेद खोलने में असमर्थ हो—और चिर-काल की जीर्णता प्राप्त वस्तुओं का नाश में विलीन हो जाना स्वाभाविक है, मानवीय बुद्धि से पृथ्वी तक की आयु भले ही परिमित हो चुकी हो—और इस विषय पर की गयी विभिन्न कल्पनाओं का पारस्परिक विरोधाभास कल्पना ही के स्वभाव का परिचायक है, हम देखते हैं, हमारे जीवन की भूमिका उस भूमि से लिखी गयी है जिसका पता बताते हुए स्वामी विवेकानन्दजी ने उपनिषदों के एकार्थसूचक मन्त्रों का ही उल्लेख किया है। 'समन्वय' के पाठक स्वामीजी के व्याख्यानों में उन्हें पढ़ते होंगे। उस वेदान्तवेद्य एकता के निकट संसार के अपर भाव, जिनकी बुनियाद पर दूसरे देशों की इमारतें उठायी गयीं, भेद-भाव का दृश्यपट खोलते दीख पड़ते हैं, क्योंकि स्वामीजी के कथनानुसार वे एकता का ढिंढोरा पीटते हुए भी व्यक्ति विशेष के मत पर अवलम्बित रह जाने के कारण, व्यष्टि की सीमा में आ जाते, अतः सार्वभौमिक वेदान्तसिद्ध एकता की दृष्टि से संकीर्ण हो जाते हैं। इस प्रसंग में हम अन्य देशों के केवल धार्मिक सिद्धान्तों को ही लाना चाहते हैं। दूसरे सिद्धान्त, यद्यपि वर्तमान संसार में, उनका सिक्का-सा जम गया है, इनके आगे अभी न गिने जाने योग्य ही हैं।

वेदान्त का यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं, किन्तु यही एकमात्र सत्य है। बहिर्जगत में भ्रम के भीतर किसी वस्तु की सत्यता का जितना उज्ज्वल प्रमाण हमें मिलता है, वेदान्त का सत्य उससे भी उज्ज्वल है और उसी तरह प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित है। इसका प्रमाण हमें, इस बीसवीं सदी में, युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस ने क्षण-क्षण में होनेवाली अपनी निर्बीज समाधि से दे दिया। मृत्युञ्जय महापुरुषों द्वारा आविष्कृत इस सत्य की परीक्षा लेते हुए, भौतिक सिद्धान्तों के पक्के अनुयायी कलकत्तावासियों ने परमहंस देव को उसमें उत्तीर्ण पाया। भारत की आध्यात्मिक शक्ति के केन्द्र यही अवतार और महापुरुष हैं जिनके लिए गीता में अर्जुन कहते हैं—

त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।

धर्म की कुंजी सदा ही इन्हीं के निकट रहती है। जब तक ये बन्द कोठरी का ताला नहीं खोलते—माया का पर्दा नहीं उठाते तब तक लाखों प्रयत्न करने पर भी मनुष्य धर्मधाम में प्रवेश नहीं कर सकता। बहिर्जगत में जैसे अधिकारियों की आज्ञा के बिना कार्य में सिद्धि नहीं होती वैसे ही अन्तर्जगत में भी है। भारत ने अपने जीवनकाल से ही (यद्यपि भारत अपनी सत्ता को अनादि मानता है) अन्तर्जगत को प्रधानता दी, अतः उसके सुधार-संशोधन आन्तरिक हैं। परन्तु इससे हम यह नहीं कहना चाहते कि बाहरी संसार से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा; नहीं, वहिर्जगत का भी अस्तित्व वह मानता है, परन्तु उसका तत्त्व समझने के लिए उसने बाहरी प्रयत्नों की अपेक्षा आन्तरिक अध्यवसाय को ही श्रेष्ठ समझा। किसी-किसी क्रिया के दो कर्म होते हैं परन्तु उनमें से एक मुख्य कहाता है और एक गौण। इसी प्रकार बाहरी संसार को भारत अपनी सिद्धि का गौण उपाय मानता है। यही संसार के अन्यान्य देशों से भारत की विचित्रता है।

रही शक्ति की बात और उसके द्वारा प्राप्त स्वाधीनता का विषय, सो शक्ति-परिचय पर लिखी हुई अपनी श्रुतिसम्मत समालोचना में पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज ने जो कुछ कहा है; उसी का कुछ अंश हम यहाँ लिखते हैं—

प्राचीन होने पर भी शक्ति नवीन है। गुप्त भाव से व्यक्त होने पर किसी

नवीन रूप में ही उसके दर्शन होते हैं। परन्तु शक्ति का न तो ह्रास ही है और न वृद्धि, लोप का तो नाम भी न लीजिए। यह हमारी दृष्टि का आवरण है जो हम कभी तो उसका ह्रास, कभी वृद्धि और कभी-कभी उसका लोप तक अपने कल्पना के नेत्रों से देख डालते हैं। एक ही शक्ति न जाने कितने दफे गुप्त होकर व्यक्त रूप को प्राप्त हो रही है। जब-जब व्यक्त हुई तब-तब इसका नया ही आकार देखने को मिला, जब-जब गुप्त हुई तब-तब इसके लुप्त हो जाने का अनुभव हुआ। संसार की कितनी ही जातियों, महादेशों, समाजों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जनन, उन्नयन और अवपात में शक्ति का यही खेल जारी है। जगद्धात्री महामाया के स्वरूप तत्त्व के दर्शनाभिलाषी भगवान श्रीरामकृष्ण को महामाया ने दिखलाया—एक परम रूपवती स्त्री को सर्वांग सुन्दर पुत्र का प्रसव और उसका पालपोष करते हुए बड़ा ही आनन्द मिल रहा है, फिर कुछ समय में हँसते हुए उसने पुत्र का संहार कर डाला। शक्ति-तत्त्व की समालोचना करने पर, उसके लिए एक ही आधार में प्रसव और प्रलयकारी विरोधी गुणों का समावेश हो जाता है। आजकल के दार्शनिकों का भी यही सिद्धान्त है कि शक्ति का न नाश है और न ह्रास। हाँ, गुप्त और व्यक्त भाव अवश्य होता है।

यही बात भावराज्य में भी देख पड़ती है। भावराज्य या सूक्ष्म मनोराज्य में शक्ति का यही खेल रहा है। जिस भाव में किसी एक जाति का भाव-अंकुर वर्द्धित हुआ है, उसका उन्मेष, उसका नाश हो जाने पर, किसी दूसरी जाति या समाज में होता है। चिरकाल तक गुप्त रूप से अवस्थित शक्ति का विकाश जिस शरीर और मन के अवलम्ब से होता है, या जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा में प्रकाशित शक्ति का पर्यवेक्षण किया, उन्हें हम श्रद्धा की अंजलि बाँधकर उच्चासन पर बैठाते हैं। वे जड़राज्य के आविष्कारक, मनोराज्य के दार्शनिक और धर्मराज्य के मुक्त स्वभाव ऋषि अथवा शुद्ध सत्त्वविग्रह अवतार कहलाते हैं।

पंचेन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु का स्पर्श या मन द्वारा किसी विषय की कल्पना शक्ति ही की सहायता से की जा सकती है। शक्ति के अधिकार के भीतर ही कर्ता, कर्म और क्रिया अपने दाँव-पेंच दिखा सकते हैं। उसके बाहर किसी की पहुँच नहीं। वेदों में देवी की ये उक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवोमांत उपक्षीयन्ति श्रुधिश्रुत ते वदामि।
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषेशखे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृष्णोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश। ऋक्—देवीसूक्त

'मेरे ही अस्तित्व के कारण प्राणियों में जीवन है। भोजन, पान तथा श्रवणादि कार्य करने में वे समर्थ हैं। मुझे जो नहीं मानते वे विनाश को प्राप्त होते हैं। तुम श्रद्धावान हो, अतएव यह तत्त्व तुम्हें बतलाती हूँ। ब्रह्मशक्ति के हिंसकों के लिए धनुर्धारी रुद्र के बाहुओं में मैं ही शक्ति रूप में अवस्थित थी। लोकरक्षण के लिए मैं ही लड़ती हूँ। आकाश और पृथ्वी में मेरा ही अवस्थान है।'

यद्यपि शक्ति ही शक्ति से लड़ती है और शक्ति ही शक्ति से हारती है, और कभी-कभी दैवी शक्ति को भी आसुरी शक्ति से नीचा देखना पड़ता है—जाग्रत के ज्ञान को सुषुप्ति के मोह से दब जाना पड़ता है, तथापि आध्यात्मिक शक्ति के पूर्णाधार महापुरुष और भारत के अवतार शक्ति के अहाते के बाहर भी चले गये हैं और अपने उसी केन्द्र को उन्होंने सारी शक्तियों पर विजय प्राप्ति का फल बताया है। क्रिया और प्रतिक्रिया का इलाका पार करके यह उक्ति निकली—

नींद नारि भोजन शत कोटी, तजत तासु महिमा अति छोटी।

शक्ति की सीमा को पार करने के लिए महापुरुषों ने कितने ही उपाय बताये हैं। हरएक शास्त्र के आचार्यों ने अपने मनोनुकूल मार्ग से चलकर मंजिल पूरी की और अपनी सफलता के साधन हमारे उपकारार्थ हमें दे गये। हठयोग कुछ सिखाता है, तन्त्रशास्त्रों में उससे भिन्न बात पायी जाती है, दर्शन दूसरे ही पथ के निर्देशक हैं, भक्तियोग में अन्य उपाय की उद्भावना हुई है। भाव भी अनेक बतलाये गये हैं। स्थानाभाव के कारण उनका विशेष उल्लेख हम न कर सके। परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने इन अनेक मार्गों से चलकर और शास्त्रों में वर्णित प्रायः सभी भावों की साधना करके कहा—'ये सभी मार्ग ठीक हैं और इनका अन्त एक ही जगह पर होता है।' परन्तु उन्होंने औरों को अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार इनमें से किसी एक का आश्रय लेने का उपदेश दिया। इसका कारण समझाते हुए स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है—मनुष्य-मन में आनेवाली चिन्ता-तरंगों को जिनके कारण चित्त का स्थैर्य नष्ट हो जाता है, हटाने के लिए साधक को भाव-विशेष का अवलम्ब लेना पड़ता है। जिस बहिःसंसार को हम इतना स्थूल देख रहे हैं वह सूक्ष्म विचार करने पर शक्ति-तरंगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही बहिःसंसार का व्यवहार या उसकी लीला है। और इन इतने विरोधी भावों के रहने पर भी संसार के मूल में सर्वव्यापिनी एक ही शक्ति की क्रीड़ा हो रही है। उसी शक्ति को सन्तुष्ट करने के लिए किसी भाव का आश्रय स्वीकार करना पड़ता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि एक विशाल तरंग के प्रवाह में देह, मन, बुद्धि, अहंकार तथा बाहरी और भीतरी कुल वस्तुओं और विषयों को प्लावित करके, उसकी वेगवती गति से लक्ष्य पर पहुंच जाने के लिए ही भावविशेष का सहारा लिया जाता है। महात्मा कबीरदास कहते हैं—

शूर संग्राम है क्षणक दो चारका, सती संग्राम क्षण एक लागै।<br>
साधु संग्राम रैन-दिन जूझना, देहपर्यन्त का काम भाई।

संचित भावशक्ति के आगे—समरकुशल, भावाश्रय मनुष्य के सामने, किसी अपर शक्ति की हुकूमत नहीं चलती चाहे वह बाहर से आवे या भीतर से। सच तो यह है कि जिसमें भावशक्ति या धारणाशक्ति कम है वह अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ आदेश का भाव नहीं रख सकता। जिसमें शक्ति की मात्रा कम होती है, उसे स्वभावतः यह ज्ञान हो जाता है कि प्रतियोगी की शक्ति अधिक है। यह प्रकृति के स्वभाव की बात है। और जब कि कोई भी मनुष्य या सृष्टि का कोई भी जीव प्रकृति से परे नहीं तो उसे शास्त्रोक्त भावशक्ति या धारणाशक्ति अथवा चेतनाशक्ति की सहायता से जीत लेना असम्भव नहीं।

भारत के महात्मा मनुष्य मन को ही नहीं, समस्त प्रकृति को जीत चुके थे, इसके प्रमाण स्वरूप वही हैं। भारतीयों के आगे महात्माओं के उदाहरण उद्धृत करना अनावश्यक है।

रही जनता के लाभ की बात। सो जनता को इससे अधिक लाभ और क्या होगा कि उनकी कृपा के बिना वह सर्वशक्तिमान परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकती—मनुष्य जीवन में सर्वोच्च आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकती। देश की समष्टिगत स्वाधीनता की तो इस प्रसंग में आप मीमांसा हो जाती है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वाधीनता ही समष्टिगत स्वाधीनता की जननी है और इस दृष्टि से आज भी भारत में अन्य देशों की अपेक्षा स्वाधीन मनुष्यों की संख्या अधिक होगी।

स्वामी विवेकानन्दजी ने भारत की इस समष्टिगत स्वाधीनता के लिए कितने ही स्थानों पर भाषण करते हुए कहा है—"हमें अग्निमन्त्र से दीक्षित केवल आठ युवकों की आवश्यकता है।" परन्तु देश उन्हें कितने त्यागी दे सका ?

एक बात और है। जिनमें शक्ति की मात्रा कम है, वे तो काम कर सकते हैं और शक्तिसंचय करना ही जिनका उद्देश है, वे काम नहीं कर सकते, इस प्रकार के प्रश्नों या उत्तर देने से पहले ही मुँहतोड़ जवाब मिल जाता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' जहाँ का सिद्धान्त है वहाँ और उसी के अनुयायियों को अकर्मण्य साबित करना हँसी नहीं तो और क्या कहा जा सकता है।

कई महात्माओं के आगमन से विचारधारा बदल जाने के कारण भारत उन्नत हो रहा है। उसके विस्तार और उसके धीर स्वभाव के कारण उसकी गति मन्द है और यह उसका सनातन स्वभाव भी है। यदि निःस्वार्थ युवक उसे उन्नत करने के लिए सर्वस्व तक का त्याग करके आध्यात्मिक शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ें तो ऐसे एक-एक वीर के उदय से सैकड़ों की भौतिक शक्ति का नाश हो सकता है।

दूसरों के उद्धार के विषय में स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है कि सभी शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हैं। अपनी ही इच्छा से वे बँधे हुए हैं। अन्यथा वे ब्रह्म हैं। साधु महात्मा उन्हें ब्रह्म ही देखते हैं, दूसरों को उनके भूले हुए स्वरूप का पता बताना ही मुक्त महात्माओं का काम है।

तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनान्।
अहेतु नान्यानपि तारयन्तः॥

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर अग्रहायण, संवत् 1980 (वि.) (नवम्बर-दिसम्बर, 1923)। **चयन** में संकलित]

## परमहंस श्रीरामकृष्ण देव

यह संसार जिसे हम कालचक्र से सदा ही घूमता हुआ तथा परिवर्तनशील देख रहे हैं, हमारे तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने कहा है कि माया है। ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेने पर इसका अस्तित्व नहीं रह जाता। अखण्ड सत्ता का जिन्हें बोध हो जाता है उनमें द्वैतबुद्धि या माया नहीं रह जाती। गोस्वामी तुलसीदासजी माया का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

"मैं अरु मोरि तोरि तैं माया।
जिहि बस कीन्हें जीव निकाया॥

इस माया के संसार से मुक्ति पाकर जो लोग देह और मन—नाम और रूप के भीतर रहते हुए भी पद्मपत्र पर के नीर की तरह उनसे निर्लिप्त रहते हैं, वही हिन्दू धर्म की सजीव मूर्ति और हिन्दुओं के जातीय जीवन के स्पन्दन स्वरूप हैं। द्वैत, भेदज्ञान, अवकाश या सीमा जिस किसी पदार्थ में होती है उसका नाश अवश्य ही होता है। हिन्दुओं का जातीय जीवन किसी ऐसी नींव पर प्रतिष्ठित नहीं है जिसके चारों ओर सीमा या अवकाश हो, इसीलिए आज इतने दिनों से अवनति

के आवर्त में पड़कर भी वह नष्ट नहीं हुआ—उसके प्राणों में स्पन्दन बना ही हुआ है। अनन्त का कभी नाश नहीं हो सकता।

परन्तु उस अनन्त के भावों में, मनुष्य अपनी जीवोचित संकीर्णता के वशीभूत होकर, विकार उत्पन्न कर देते हैं; भ्रमवशात् अच्छे भावों में बुरे भाव भरते, अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। तब वे अखण्ड सच्चिदानन्द अपनी ही इच्छा से इस माया के राज्य में अवतीर्ण होते—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के घेरे में आते—शरीर धारण करते और धर्म का पुनरुद्धार करते हैं। जो स्वतन्त्र हैं वे जब चाहें तभी अपने राज्य में आकर अपनी शासन-व्यवस्था में सुधार करते, पहले के नियमों में आवर्तन-विवर्तन करते और अपना काम पूरा करके चले जाते हैं। हम हिन्दुओं के शास्त्र भी यही कहते हैं और भगवान श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से भी यही बात कही है।

स्थानाभाव के कारण यद्यपि हम इस समय के हिन्दू धर्म की भीतरी दशा का वर्णन नहीं कर सकते तथापि हमें विश्वास है, हिन्दुओं की अवनत अवस्था का ज्ञान विज्ञ और अल्पज्ञ सभी मनुष्यों को है। अतएव उस अखण्ड सच्चिदानन्द के लिए पुनर्वार मूर्ति-परिग्रह करने और अपने शासन की सुव्यवस्था करने का यह एक आवश्यक समय था। इस समय भारत में अनेक धर्मों, अनेक पन्थों और अनेक भावनाओं की भरमार हो रही थी। और, दूसरे देश के लोगों को भी, जिनके प्राण दिन-रात भोग में डूबे रहने पर भी उससे तृप्त न होकर कुछ ऐसी वस्तु की आशा में थे जिससे शान्ति मिले, धर्म की आवश्यकता थी।

इस बार मूर्तिमान धर्म, पवित्रता से भी पवित्र, संसार के इतिहास में अद्वितीय महापुरुष भगवान श्रीरामकृष्ण देव का आविर्भाव हुआ। आज तक जितने अति-मानव चरित्रों का इतिहास मिलता है और भारत में ही उनकी अधिकता सम्भव है, इतनी पूर्णता उनमें से किसी में नहीं पायी जाती। जड़वाद की अज्ञान परम्परा जितना ही बढ़ती जाती है, इधर अध्यात्मवाद की पूर्णता का चित्र भी उतना ही उज्ज्वल नजर आता है। यह एक विचारणीय विषय है।

जिस तरह हिन्दू-धर्म की स्पष्ट परिभाषा नहीं हो सकती, कहना चाहें तो आप उसे एक अखण्ड वेदान्त तत्त्व कह सकते हैं—सर्वभावमय अथच सर्वभाववर्जित, उसी तरह श्रीरामकृष्ण का भी आध्यात्मिक परिचय देना असम्भव है। व्यावहारिक साधना में उन्होंने दिखलाया कि वे हिन्दू-धर्म के राम-कृष्ण-शक्ति आदि देवी-देवताओं के भी सिद्धि-उपासक थे और मूर्ति-उपासना-वर्जित वेदान्त के भी सिद्ध महापुरुष थे; वे इसलाम के भी अनुयायी थे और क्रिस्तान धर्म की भी साधना उन्होंने की थी। क्यों? क्यों ऐसा किया? सिद्ध हो गये तो इतनी उपासनाएँ क्यों? उत्तर स्पष्ट है कि संसार को ऐसे ही एक आदर्श महापुरुष की आवश्यकता थी जो संसार को धर्म के एक ही बन्धन से बाँधता। श्रीरामकृष्ण ने बतलाया, धर्म के पथ अनेक हैं किन्तु लक्ष्य एक है। अतएव किसी को यह अधिकार नहीं कि वह अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे के धर्म को निकृष्ट कहे। आपके सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने संसार की कितनी बड़ी आवश्यकता पूरी की, यह विज्ञ पाठकों को विदित है।

आपका जन्म 1836 ई. [में] हुगली जिले के कामारपुकुर ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय और माता का नाम चन्द्रमणि था। आपका देहावसान 1886 ई. में हुआ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 अप्रैल, 1924। असंकलित]

## चरखा
### (विश्वकवि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी)

'चरखा'-शीर्षक कविवर रवीन्द्रनाथ का इक्कीस पृष्ठों का प्रबन्ध पहले-पहल बंगला के मासिक 'सबुज पत्र' में पढ़ने को मिला था, उसके भादों के अंक में। बन्द हो जाने के बाद इसी अंक से पत्र को पुनर्जन्म प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। इस लेख के लिखने का कारण और कुछ नहीं, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने कहीं छापे की स्याही द्वारा कविवर पर चरखे के प्रचार से उदासीन रहने के कारण अपवाद और लांछन लगाने की चेष्टा की थी, यह लेख आचार्य राय की उसी क्रिया की प्रतिक्रिया है—ठेठ भाषा में यह चपत का जवाब घूँसा है। भादों के लिखे इस लेख का उत्तर महात्मा गाँधी के गत नवजीवन के अंक में निकला है। हिन्दी पाठकों ने पढ़ा होगा। अगर कुछ उसमें है तो सत्य की एक बहुत ही धीमी ज्योति—उनके महात्मापन पर कुछ प्रकाश डालती हुई। परन्तु उस ज्योति से कविवर रवीन्द्रनाथ की युक्तियों का अन्धकार, यदि महात्माजी उसे अन्धकार समझें, नहीं दूर होता, कम-से-कम बुद्धि के राज्य में बसनेवाले किसी साहित्यिक मस्तिष्क से तो अवश्य ही नहीं। यों तो मण्डन करनेवाले महात्माजी की एक ही पंक्ति से चाहे रवीन्द्रनाथ की कुल युक्तियों का खण्डन कर डालें। अस्तु, इस लेख में रवि बाबू की युक्तियों के साथ महात्माजी का कथन और अपना वक्तव्य भी हम पेश करने का साहस करते हैं यदि रवि बाबू की उक्ति के अनुसार हमें अपने वक्तव्य की पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्ति का अधिकार है।

महात्माजी 'कवि ठाकुर और चरखा' शीर्षक अपने उत्तर में रवि बाबू की युक्तियों पर लिखते हैं—"सच बात तो यह है कि कविश्री की टीका में कविश्री ने कवि-सुलभ स्वच्छन्दता का उपभोग किया है और इसलिए जो कोई उसके सीधे अर्थ को ग्रहण करेगा वह अपने को बड़ी ही बेढब स्थिति में पावेगा।" अपनी टीका में कविश्री ने कवि-सुलभ जितनी स्वच्छन्दता का उपभोग किया है, कवि-सुलभ शब्दों में, परोक्षरीति से, उतनी ही स्वच्छन्दता वे दूसरों को भी देने के लिए तैयार हैं, अतएव हमें विश्वास है, यदि उसी स्वच्छन्दता से हम इस लेख को समाप्त करने की चेष्टा करेंगे तो महात्माजी के अमोल उपदेश और कविश्री की व्यक्ति-स्वतन्त्रता दोनों से हमें लाभ होगा। अस्तु, अब हमारे लिए कोई भय की बात नहीं रही।

चरखे के विरोध में रबि बाबू की मजबूत पहली युक्ति यह है; वे कहते हैं—"सब आदमी एक साथ मिलकर मक्खियों की तरह एक ही नमूने का छत्ता बनायें, विधाता की यह इच्छा नहीं है। परन्तु समाज-विधाता कभी-कभी ऐसी ही इच्छा प्रकट करते हैं। कार्य को सीधा कर लेने के लोभ से मनुष्यों को मिट्टी में मिलाते हुए उन्हें संकोच नहीं होता। वे पौधे छाँटनेवाली कल के भीतर मनुष्य-वनस्पति को घुसेड़कर बराबर नाप की हजारों पतली-पतली सलाइयाँ निकाल लेते हैं। वन्य वस्तु को इस तरह पण्य-वस्तु (बाजारू चीज) बना लेने पर वन के देवता तो चुप रहते हैं, परन्तु मनुष्य-बुद्धि को काम निकालने के लिए मक्खियों की बुद्धि बना डालने पर, नारायण के दरबार में, हिसाब-निकास के दिन जुर्माने के मारे दिवाला निकल जाने का भय है।"

इसी तरह की पेचीदा (आलंकारिक बातें सर्वसाधारण के लिए पेचीदा हुआ करती हैं, क्योंकि सब लोग तो साहित्यिक हैं नहीं) बातों के लिए महात्माजी की

पूर्व चेतावनी है कि अगर कोई कविश्री के शब्दों का सीधा अर्थ ग्रहण करेगा तो उसकी बड़ी ही बेढब स्थिति हो जायगी। चरखे पर कविवर का सीधा अर्थ तो सामने है, परन्तु अब देखना यह है कि इसका वह अर्थ जो सीधा नहीं है, क्या है और कैसा है। पहले ही कविवर विधाता की इच्छा पेश करते हैं, अपनी पुष्टि के लिए। कहते हैं, विधाता की यह इच्छा नहीं कि सब लोग मक्खियों की तरह एक ही नमूने का छत्ता बनायें। रवि बाबू यहीं से कलम चलाते हैं और यहीं से सन्देह, भ्रम, तर्क, शास्त्रीय निरंकुशता आदि का श्रीगणेश होता है। अच्छा, रवि बाबू से कोई पूछे कि विधाता की यह इच्छा आपको मालूम कैसे हुई तो परमात्मा जानें, वे इसका क्या उत्तर देंगे। हिन्दू-समाज के चार मुँहवाले विधाता उनके सामने आकर अपनी राय सुना गये थे या संसार के कल्याण के लिए ब्राह्मसमाज के बिना हाथ, पैर, नाक, कानवाले परमपिता ने किसी ख़ास तरीके से यह ध्वनि अदा की थी, कुछ समझ में नहीं आता। यदि यह कवि की कल्पना की उड़ान नहीं, यदि इसमें उन्हें सत्य के रहने का गर्व है तो इसके सिद्ध करने के लिए बाध्य होकर उन्हें शास्त्रों की शरण लेनी पड़ेगी और वहीं से अपने सत्य-कथन का प्रमाण ढूँढ़ निकालना होगा; अन्यथा, उन्हें कहना पड़ेगा कि विधाता से उनकी प्रत्यक्ष बातें हुई हैं। यदि वे इसे अपना अनुभव कहें, तो अनुभव अज्ञानजन्य भी हुआ करता है।

विधाता नाम के एक अदेख कुछ पर अपनी विजय का सारा बोझ लादकर आप निश्चिन्त भाव से समाज-विधाताओं को पराजय का फतवा दे डालते हैं। यहाँ हम आपकी उक्ति का पुनरुद्धरण न देंगे, अधिक जगह घिर जाने के भय से। समाज-विधाताओं पर यहाँ आप आक्षेप करते हैं; क्योंकि वे कार्य को सीधा कर लेने के लोभ से अधिकसंख्यक मनुष्यों को अपनी कल्पना की कतरनी से बराबर काटकर उनकी वृद्धि को रोक देते हैं, इसलिए कि काम निकल जाय—वे कमजोर, दुबले-पतले अकर्मण्य हो जायँ तो बला से—काम तो हासिल हो गया। यह एक दूसरी कल्पना है। यह आक्षेप उन लोगों पर है जो संघ-कर्म के पक्ष में हैं—संघ को ही जो लोग शक्ति मानते हैं—संघ-कार्य द्वारा ही संसार के बड़े-से-बड़े कार्य होते हैं, यह जिनका कहना है, उन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्ष लेकर रवि बाबू नीचा दिखा रहे हैं—यह बेवक्त की रागिनी है। समाज-विधाताओं ने जहाँ कोई बात—कोई कानून समाज की उन्नति के लिए बनाया है और समष्टि को उसी के अनुसार चलने के लिए बाध्य किया है, वहाँ उन्होंने व्यक्तिगत शक्ति का नाश नहीं किया; समष्टिगत फायदे से हरएक व्यक्ति को फ़ायदा पहुँचाया है। यहाँ चरखे की ही बात लीजिए। महात्माजी जैसे एक समाज-विधाता हैं। वे भारतीय समाज को चरखा चलाकर अपना कपड़ा आप बना लेने का उपदेश देते हैं। इससे करोड़ों रुपयों की बचत और फायदा देश के निवासियों को है। इससे वे परावलम्बी न रहेंगे। स्वावलम्बी हो जाना ही शक्ति का सूचक है। इस तरह शक्ति-वृद्धि के साथ-साथ देशवासी स्वराज्य की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे, यह कौन कह सकता है? अगर इससे समष्टि और व्यष्टि दोनों को फ़ायदा पहुँचता है तो निस्सन्देह कहना पड़ता है कि रवि बाबू का सुबह के वक्त दीपक अलापना नहीं शोभा देता। जहाँ समष्टि की बात हो—जहाँ समवाद चर्चा हो वहाँ व्यष्टि का प्रसंग नहीं उठता।

इसी प्रसंग पर एक बात हम और कहेंगे। पहले हम कह आये हैं कि रवि बाबू की सारी विजय विधाता की इच्छा पर रखी हुई है और विधाता की इच्छा क्या है, क्या नहीं; इसे प्रमाणित करने के लिए आपको शास्त्रों की शरण लेनी

पड़ती है, नहीं तो विधाता की इच्छा आपको कैसे मालूम हुई, इसका आप सन्तोष-प्रद कोई प्रमाण न दे सकेंगे, उल्टा आप पर असत्य-भाषण का दोष लग जायगा। अस्तु वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, या स्मृतियों में जहाँ कहीं आप विधाता की व्यक्ति स्वतन्त्रता की इच्छा के प्रमाण निकालेंगे, वहीं अथवा उसी जोड़ के किसी दूसरे-शास्त्र में आपको समष्टि-क्रम संघ-योजना के भी प्रमाण मिलेंगे। तब आप एक को मानकर दूसरे को कैसे नहीं मानियेगा? क्या उस दूसरी उक्ति को—दूसरे प्रमाण को समाज-विधाताओं का बनाया हुआ बतलाकर अपने प्रमाण को ही खास विधाता की उपज सिद्ध करने की चेष्टा कीजियेगा?

उद्धरण के अन्तिम अंश में आपने समाज-विधाताओं से एक और मजाक किया है। जंगल की चीज को बाजारू बना लेने पर वनदेवता तो कुछ नहीं बोलते, पर मनुष्यों की बुद्धि को मक्खियों की बुद्धि बना डालने पर नारायण के दरबार में हिसाब-निकास के दिन जुर्माने के मारे दिवाला निकल जाने का भय है; कविवर के इस मजाक पर ध्यान दीजिए। आदमियों की बुद्धि को मक्खियों की बुद्धि (यानी सब लोग एक ही तरह का छत्ता बनायें,—सब लोग एक ही लक्ष्य से काम करें) बनाने की उक्ति से आप फिर संघ-शक्ति और संघ-कर्म का विरोध कर रहे हैं, और विरोध कोई ऐसा-वैसा भी नहीं, आप इस तरह के संघकर्म को पापाचरण भी सिद्ध करते हैं, तभी आप नारायण के दरबार में पेश होते ही समाज-विधाताओं को (यहाँ महात्माजी जैसे पातकी को) जुर्माने का भय दिखा रहे हैं। और जुर्माना भी कोई मामूली नहीं—दिवाला, तौल में वह अपराध की गुरुता के बराबर ही होगा—क्योंकि रवि बाबू की तुला परमात्मा का दरबार देखते-दिखाते कमी-बेशी रहित हो चुकी है, अतएव अपराध को तौलकर निर्णय किया गया कि जुर्माना दीवाले से एक कौड़ी भी कम न होगा, यानी परमात्मा के दरबार से जब मुद्दालेह जुर्माने में अपना सर्वस्व खोकर लौटेगा, तब चार पैसे सत्तू खाने के लिए भी उसकी कमर में न रह जायँगे। देखा आपने—संघ-कर्म की कितनी जबरदस्त सजा परमात्मा के यहाँ से मिलती है।

ध्यान दीजिए, पहले रवि बाबू ने विधाता की इच्छा जाहिर की थी, फिर उनकी इच्छा के दायरे से बाहर निकलकर कार्य करनेवालों को परमात्मा के दरबार में सज़ा भी दिलायी, सर्वस्व खोने की सज़ा। अब सोचिए कि सब आदमियों का, देश की दुर्दशा दूर करने के लिए किसी एक कार्य में सम्मिलित होना कितना भयानक पाप है। खैर, हमें पाप का भय नहीं, हम पुण्य उसे ही मानते हैं जिसमें अधिकसंख्यक मनुष्यों को लाभ हो—जिससे वे सुखी हों। यदि हम इकतीस करोड़ देशवासियों को भोजन-वस्त्र देकर महात्माजी को परमात्मा के दरबार में अपना सर्वस्व खो देना पड़ेगा, तो इसके लिए महात्माजी को तो कोई दुःख न होगा। उनके पास रखा ही क्या है जो परमात्मा उनसे छीन लेंगे, बल्कि जुर्माना करके परमात्मा उनसे एक अट्टहास के सिवा और कुछ न वसूल कर सकने के कारण अपने नष्ट अन्तर्यामित्व पर खुद लज्जित होंगे—और महात्माजी को 'रवि बाबू के परमात्मा' के जेलखाने में कुछ दिन रहने की भी आवश्यकता है, क्योंकि कुछ सुधार वहाँ भी होना ज़रूरी है।

भोजन, वस्त्र और सादगी का उपाय बतलाकर महात्माजी ने हमारा जितना उपकार किया है, हमें कोमल कल्पना के अनेकों छन्द-बन्दों से चलकर भाव और भाषा की अगणित तरंगों पर चढ़ाते-गिराते हुए कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ने भी उतना ही उपकार किया है। हमारे लिए दोनों ही आवश्यक हैं—दोनों ही हमारे

अपने हैं। महात्माजी इस जीर्णजाति के प्राण हैं और कवि-सम्राट् इसके गौरव-मुकुट—इसकी जीर्ण दशा में भी अपनी ज्योति से संसार को चकित करनेवाले। दोनों की महत्ता के हम कायल हैं, किन्तु फिर भी, विचार का प्रसंग छेड़कर हम युक्ति का साथ किसी तरह नहीं छोड़ सकते, और उसी के अनुसार हमें कहना पड़ता है कि 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार' ये दोनों शब्द रवि बाबू के 'चरखा' में युक्ति की पहुँच के बाहर हो गये हैं, अतएव मान्य नहीं। यदि इन्हें शास्त्रीय कहकर शास्त्रों को इनका प्रमाण बतलावें तो हम यह मानते हुए भी कि 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार' शास्त्र बहिर्भूत नहीं, इतना अवश्य कहेंगे कि चरखा जैसे समष्टिगत विवेचन का महत्त्व, व्यक्तिगत अवनति का कारण मानकर घटाया नहीं जा सकता, अधिकन्तु, इस तरह की चेष्टा अनधिकार चेष्टा कहलाती है, क्योंकि यह समष्टिगत कार्य समष्टि के फायदे के लिए होता है और उस समष्टि का स्वरूप व्यष्टि को लेकर ही संगठित होता है, इस तरह उससे व्यष्टि को भी फायदा पहुँचता है।

जिस तरह एक जगह बंगाल का बड़प्पन गाते हुए रवि बाबू ने बंगाली दिमाग को सातवें आसमान पर चढ़ाने की चेष्टा की है, और बंगाली विवेचन पर कुछ आत्मप्रसाद के भी लक्षण प्रकट किये हैं, उसी तरह इस जगह हमें लिखना पड़ता है कि रवि बाबू जैसे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ बंगाली लेखक 'विधाता' और 'ईश्वर' पर इतना अधूरा विचार रखते हैं कि बात-बात पर उनका उल्लेख ठीक उसी तरह करते हैं जैसे धूल खेलते हुए बच्चे हर बात पर 'राम दुहाई' और 'खुदा कसम' आदि कहकर अपने अज्ञान को ईश्वर के अस्तित्व का साक्षी साबित करने लगते हैं, और इस तरह 'राम' और खुदा' शब्द के अनर्गल प्रलाप में एक बहुत बड़े सत्य को चिरकाल के लिए बहा देते हैं। बतलाइए प्रसंग तो है चरखे का, इसमें रवि बाबू अगर अपनी राय न लिखकर विधाता की असम्मति जाहिर करने लगें—चरखा चलानेवालों को खुद दण्ड न देकर परमात्मा के दरबार में उन्हें दण्ड दिलावें तो इस तरह की बेबुनियाद बातों पर किसी का कब तक धैर्य रह सकता है? क्या विधाता और ईश्वर से चरखे के सम्बन्ध में कविवर की कोई बातचीत हो चुकी है?—अथवा ईश्वर ने चरखे के प्रस्ताव पर अपनी नामंजूरी के दस्तखत करके, प्रचार के लिए सीधा उसे कविवर के पास रवाना कर दिया है जो इसके सम्बन्ध में विधाता की राय और ईश्वर के दरबार का उल्लेख करते हुए आपको ज़रा भी संकोच नहीं हुआ?

सम्भव है 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार' इन दोनों शब्दों का उल्लेख कविवर ने उसी खयाल से किया हो, जिसमें आकर वे अक्सर कविताएँ लिखा करते हैं, यानी जिस तरह उनकी कविताएँ विश्व-भावना के साथ मिली हुई व्यापक होती हैं—किसी देश, काल या समाज की बाधा में रहकर संकीर्णता के परिणाम पर आँसू नहीं बहातीं—सारांश यह कि जिस तरह सम्पूर्ण विश्व कवि की कल्पना का लीलाक्षेत्र बन जाता है उसी तरह उनके 'चरखा' लेख का 'विधाता' और 'परमात्मा का दरबार,' ये दोनों शब्द भी विश्व-व्यापकता को अपने साथ लिये हुए अपने शब्दगत अर्थों से विश्वजनीन किन्हीं खास भावों के उत्पादक या जनक हों—यद्यपि विधाता का प्राचीन और शब्दगत अर्थ कवि के काल्पनिक इस विषय की सच्ची सत्ता से कदाचित अधिक बड़ा और अधिक व्यापक है। यदि दर्शन की भाषा में इस विश्व के विधानकर्त्ता को ही हम कविवर का विधाता मान लें तो साथ ही हमें उसी परिभाषा में यह भी मानना पड़ता है कि इस विश्व के किसी एक देश के

मनुष्यों के मंगल के लिए सोचा हुआ उपाय विधाता का ही विधान होगा। इस तरह एक ही उपाय क्यों, व्यष्टि और समष्टि के मन में विधानों के जितने आवर्तन, परिवर्तन और अनुष्ठान होते हैं और तर्क-वितर्क करते हुए अन्त में विलीन जितने भी विधान आते-जाते हैं, सब इस विश्व के विधाता की ही कल्पना की सृष्टि और प्रलय होंगे। फिर विधाता की विधि और समाज-विधाता की विधि में कोई अन्तर नहीं रह जाता, समाज-विधाता की विधि भी विधाता की ही विधि सिद्ध होती है, जबकि न तो समाज-विधाता का ही मन विश्व-मन से अलग कोई वस्तु है और न समाज ही विश्व से अलग कोई चीज़ है। इस दृष्टि से कविवर का विधाता की एक अलग इच्छा मानना और समाज-विधाता की एक इच्छा अलग, अवैज्ञानिक जान पड़ता है। जब विधाता की परिधि में तमाम संसार आ जाता है, तब तमाम संसार के मन की विभिन्न सृष्टि को विधाता की ही सृष्टि कहना होगा और अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए अपने कपड़े आप बना लेने का विधान जबकि देश के अधिक मनुष्यों को जँच गया है, तो इसे विधाता का ही विधान मानना चाहिए और उसी दृष्टि से, जिससे न तो भारत विश्व से अलग कोई वस्तु है और न यह विधान ही विश्व-मन की कल्पना से कोई अनोखी सूझ। दर्शन की जिस उदारता से महाराज दुर्योधन जैसा पतित भी 'अहं यन्त्रं भवान् यन्त्री' कहकर दोषों से मुक्त हो जाता है और इस तरह अपने किये हुए कुल कुकृत्यों को परमात्मा के सिर लाद देता है, फिर क्या कारण है कि इकतीस करोड़ भारतवासियों के बचने का उपाय बतलाकर, पुण्य अर्जन करने पर भी महात्मा गाँधी के नाम कविवर रवीन्द्रनाथ का सम्मन परमात्मा के दरबार में ले चलने के लिए जारी हो जाता है? भय यह दिखलाया गया है कि तुमने सब आदमियों से एक ही तरह का काम क्यों करवाया—उनकी बाढ़ मार दी। दर्शन कहता है, बाढ़ इन्होंने नहीं रोकी, यदि चरखा चलाने के लिए कोमलांग भारतवासियों का पनपना कुछ दिनों के लिए कम हो गया है, तो इसके लिए उत्तरदायी महात्मा गाँधी नहीं हैं, किन्तु हैं वे, जिन्होंने इसका ग्रहण किया—चरखा चलाया और सूत काता, क्योंकि, कर्म के रूप में जो चीज महात्मा गाँधी के पास है, वही इस भारत के दूसरे मनुष्यों के पास भी है, ऐसी दशा में एक के अपराध से दूसरा क्यों जेल जाय? अपराध तो किया लोगों ने चरखा चलाया (कविवर के काल्पनिक मत से) और परमात्मा के दरबार में जायँ महात्मा गाँधी! अजीब विचारधारा है! यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि चरखा चलाना पाप है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि उसकी योजना (चूँकि यह पाप है इसलिए) महात्मा गाँधी या एक समाजविधाता द्वारा हुई है,—और खासकर उस दशा में पाप, जब कि विश्व का समष्टिगत प्रश्न 'विधाता' के सामने हो। कविवर के विधाता की सृष्टि में पाप नहीं रहता। यदि रहता तो पाप करने के कारण समाज-विधाता या महात्मा गाँधी ईश्वर के दरबार तक घसीटे न जाते। कविवर का विचार यहाँ भी अशास्त्रीय है, क्योंकि सृष्टि पाप और पुण्य, जड़ और चेतन दोनों के योग से होती है, केवल पुण्य या केवल चेतन से कभी सृष्टि का कारखाना चल नहीं सकता। और यदि पुण्य नाम की किसी अच्छी चीज़ की सृष्टि के लिए कविवर विधाता के इतने कृतज्ञ हैं, तो पाप की सृष्टि करने के लिए चाहिए कि वे उतने ही उनके अकृतज्ञ भी हों और यहाँ जो यह सोच रखा है कि बुरे की सृष्टि करते हैं लोग और भले की सृष्टि खास विधाता, यह बिलकुल कमजोर खयाल है—बच्चों का चरखा चलाना यदि बुरा कर्म है--संघ-कर्म यदि व्यक्ति की बाढ़ रोकनेवाला है, तो इसके लिए भी—विधाता को ही दोषी समझें जिसकी व्यापकता

के अन्दर ही एक विशेष समिष्टमत में यह खयाल दौड़ रहा है। जब हम पढ़ते हैं—

बन्दौं विधि-पद-रेणु, भव-सागर जिन कीन यह।
सन्त, सुधा, शशि, धेनु, प्रगटे खल, विष, वारुनी।।

तब विधाता का सच्चा अर्थ और उनके कार्य हमारी समझ में चुस्त बैठ जाते हैं और चरखा जैसे कार्य के लिए परमात्मा के दरबार का भय जाता रहता है।

व्यक्तिगत इच्छा को महत्त्व देते हुए कविवर अपने बाल्य-जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हैं। लिखते हैं—"बचपन में जगन्नाथ घाट (कलकत्ता) में जल-विहार के लिए हम जाते थे, तब अलग-अलग कितनी ही डोंगियों के मल्लाह हाथ पकड़कर अपनी-अपनी ओर खींचते थे। परन्तु किसी एक के लिए जब अपनी रुचि जाहिर की जाती थी, तब इसके लिए किसी से शासन का भय न रहता था। क्योंकि डोंगियाँ बहुत-सी थीं और उनके गम्य स्थान भी जुदा-जुदा बहुत-से थे। परन्तु यदि देश पर तारकेश्वर का-सा कोई स्वप्न रहता कि तारण के लिए बस एक ही डोंगी पवित्र है, उनके प्रबल पण्डों की जबरदस्ती फिर कौन रोक सकता था? इधर मानव-चरित्र घाट पर खड़ा हुआ रोता और कहता—ओ पहलवान! किनारा एक भले ही हो, परन्तु घाट जो बहुत से हैं—कोई उत्तर की ओर है, कोई दक्षिण की ओर।"

इसका अभिप्राय प्रथम और सीधा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है। हम पहले कह चुके हैं कि समष्टिगत फायदे के प्रसंग पर व्यक्तिगत अड़ंगा लग नहीं सकता। यदि कोई उस संघ-कर्म का विरोध करना चाहे तो उसे समष्टि के विचार से ही विरोध करना होगा, अन्यथा एक दूसरे केन्द्र से विचार करना विचार की सीमा से बाहर हो जाता है। उसे लोग दुष्ट तर्क कहते हैं। यदि दो पहलवान अपनी शक्ति का फैसला करना चाहें तो उन्हें एक ही अखाड़े में लड़ना होगा। दोनों अगर अलग-अलग अखाड़े से ताल ठोंकते रहें तो उससे कभी उनकी बल-परीक्षा हो नहीं सकती। जल-विहार के अभिलाषी बालक रवीन्द्रनाथ अनेक नावों में से एक को चुनकर इच्छानुसार उस पर सैर कर सकते हैं, इससे रवीन्द्रनाथ की व्यक्ति-स्वतन्त्रता किसी को बाधा नहीं पहुँचाती, न उनके घरवालों को और न बाहर-वालों को, और नाववालों को भी इस स्वतन्त्रता से कोई नुकसान नहीं पहुँचता, वे जानते हैं, एक रवीन्द्रनाथ कभी पचास नावों पर एक साथ नहीं चढ़ सकते और न उस स्थल पर वे उतनी नावें किसी एक जगह जा सकती हैं। वहाँ जितने यात्री आते हैं, उनकी व्यक्ति-स्वतन्त्रता इसी तरह की संकीर्ण है, वे अलग-अलग लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं और उनका मनोभिलाष पूर्ण होता है। मल्लाह जो आग्रह करते हैं, वह दूकानदारी है। मल्लाहों के इस आग्रह के साथ रवि बाबू उस आग्रह की तुलना करते हैं जो चरखा चलाने में उत्साह-प्रकाश करने के लिए सर प्रफुल्ल-चन्द्र राय जैसे प्रतिष्ठित बंगाली विद्वान् उनसे किया करते हैं। देखिए कैसी तुलना है! एक ओर मल्लाहों के आग्रह में दूकानदारी और दूसरी ओर चरखा चलाने के आग्रह में देश-भक्ति, प्रपीड़ित करोड़ों नरनारियों के भोजन-वस्त्र का उपाय, दोनों में कैसी समता है! और रवि बाबू की तुलना भी कैसी जँची-तुली हुई है। मल्लाहोंवाली घटना के साथ एक बात आप और कह जाते हैं, वह यह कि, अनेक मल्लाहों का आग्रह होते हुए भी, पूरा एक ही का आग्रह होता था, परन्तु उस समय एक की आग्रहपूर्ति करने के कारण दूसरों से हमें किसी प्रकार के शासन का भय न था अर्थात् इस समय चरखे के प्रचार पर सहानुभूति न रखने के कारण जिस तरह के आक्षेप कविवर पर किये जा रहे हैं, उस तरह के आक्षेप या शासन का भय

मल्लाहों से न था। मल्लाहों के आक्षेप करने-कराने का कोई कारण न था, क्योंकि अनेक मल्लाह अपनी-अपनी नावों पर चढ़ाने के लिए एक साथ आग्रह करने पर भी, यह जानते थे कि वे अगर जायँगे, तो एक ही नाव पर जायँगे, एक आदमी सब नावें किराये पर नहीं ले सकता है; परन्तु देशवासी अगर चरखा न चलाने या उसके लिए लोगों को उत्साहित न करने-कराने के कारण आप पर आक्षेप कर रहे हैं तो यह आक्षेप न्याय की परिधि के भीतर ही होता है, क्योंकि इसके साथ समष्टि के फायदे का प्रसंग आता है, और इसके न करने पर समष्टि के फायदे को बाधा पहुँचती है, इसीलिए अधिकांश लोग आप पर आक्षेप करते हैं। मल्लाहों के साथ देशवासियों की तुलना हो ही नहीं सकती। वहाँ है आपकी व्यक्ति-स्वतन्त्रता और यहाँ समष्टि की स्वतन्त्रता पर विचार होता है। बड़े दुःख की बात है, आप विश्व-विश्रुत, अपने समय के श्रेष्ठ कवि होकर भी, विचार करते समय अपनी तुलना इतनी कमजोर बना डालते हैं।

रवि बाबू के उद्धरण के अन्तिम अंश में व्यक्ति-स्वतन्त्रता पर एक और उक्ति है, उक्ति क्यों, एक और मजाक। आप कहते हैं, अगर तारकेश्वर के अनेक स्वप्नों की तरह एक यह भी स्वप्न होता कि पार करने का काम बस एक ही डोंगी कर सकती है यानी चरखा जैसे एक ही कार्य से देशोद्धार होगा यह बात लोग जिस तरह कहते हैं, उसी तरह अगर किसी एक डोंगी के लिए तारकेश्वर स्वप्न में आकर कहते कि बस एक ही डोंगी पार उतारने में समर्थ है, तो इससे पण्डों या मल्लाहों की जबरदस्ती हरगिज न रोके रुकती, अर्थात् मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर पण्डे या मल्लाह जबरन अधिकार करने का प्रयत्न करते, कि बस इसी डोंगी पर चढ़कर पार उतरो। अनेक आदमियों के गम्य-स्थान भी अपने ही होते हैं, परन्तु अगर मल्लाहों को यह अधिकार मिल जाता तो वे कदापि इस पर विचार न करते, फल यह होता कि मानव-चरित्र वहीं घाट पर नदी के किनारे खड़ा हुआ आँसू बहाया करता। यहाँ आप चरखे का कितना बड़ा विरोध करते हैं, ध्यान दीजिए आपकी इस उक्ति में, चरखे की जगह बहुत स्पष्ट रूप से डोंगी है, पार उतारने की बात से है देशोद्धार की ओर इशारा, डोंगी के पण्डे या मल्लाह हैं चरखे के प्रचारक महात्माजी और उनके अनुयायी। जबरदस्ती है स्वेच्छाचार—पाप, अनेक आदमियों के अनेक गम्य स्थानों से आपका मतलब है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, और इस तरह के लचर प्रमाण का उद्देश है चरखा-जैसे संघ-कर्म का विरोध और आप मानव-चरित्र को घाट पर खड़ा करके, (देव-स्वप्न-प्राप्त) मल्लाहों की जबरदस्ती के लिए, रुलाते हैं। यहाँ जिस तरह आप अनेक आदमियों के अनेक लक्ष्य बतलाते हैं, उसी तरह क्या आप यह नहीं सोच सकते कि अनेक आदमियों का एक लक्ष्य भी हुआ करता है। जिस तरह अनेक डोंगियों पर चढ़कर अनेक आदमी अनेक स्थानों की यात्रा करते हैं उसी तरह गंगासागर के मेले में या इसी तरह के किसी एक लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अनेक आदमी अनेक डोंगियों पर चढ़कर भी एक ही जगह की यात्रा करते हैं। यहाँ जिस विषय के विरोध के लिए आपने यह कल्पना लड़ायी है, ज़रा उस पर भी ध्यान दीजिए। वह भोजन-वस्त्र का सवाल किसी एक के लिए नहीं है, अनेकों को उसके हल करने की आवश्यकता है—सिर्फ आप जैसे जमींदारों को छोड़कर। अतएव अनेक मनुष्य एक ही लक्ष्य के यात्री हैं, अनेक मनुष्य अपने भोजन-वस्त्र का सवाल हल करना चाहते हैं, इस अनेक की आवश्यकता का खण्डन एक से नहीं हो सकता। सच तो यह है कि इससे विरोध स्वतन्त्रता के विरोध के लिए जगह भी नहीं है, क्योंकि हरएक व्यक्ति को

इसकी आवश्यकता है, और हरएक व्यक्ति की आवश्यकता मिलकर ही समष्टि की या देश की एक व्यापक आवश्यकता हुई है; अतः यहाँ आपका व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध कहाँ ठहरता है ? दरअसल जिसे आप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कहकर चरखे का विरोध करना चाहते हैं, वह स्वतन्त्रता के नकाब में ढकी हुई घोर परतन्त्रता और हठधर्मी है जबकि उससे व्यक्तिगत फायदे के बदले नुकसान होता है—असंगठित रहने के कारण। शक्ति का ह्रास होने के कारण, खिचड़ी अलग पकाने के हठ के कारण। हर जगह, हर पंक्ति में, अक्षर-अक्षर में आपने एकमात्र इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आड़ लेकर चरखा जैसे देश के एक महत्त्व-पूर्ण व्यापक उद्धार-कार्य का किरोध किया है। एक जगह यह भी लिखा है कि चरखे से स्वराज मिलेगा, ऐसी बात बहुतेरे कहते हैं, परन्तु जिन्होंने साफ-साफ समझा है, ऐसे पुरुष से आज भी मेरी मुलाकात नहीं हुई। महात्मा गाँधी कितने ही बार मिल चुके हैं, परन्तु कविवर को फिर भी चरखे का महत्त्व कोई समझा नहीं सका। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व के साथ कविवर रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व किस तरह लड़ रहा है, देखिए।

शरीर अस्वस्थ हो जाने के कारण रवि बाबू के 'चरका' की समालोचना इधर कई मंजिल पिछड़ गयी, अब तक वह ऐन मुकाम पर पहुँच गयी होती। खैर। मैं अपने साहित्य-संगीत-कला प्रवीण मित्रों को सहर्ष धन्यवाद देता हूँ, जिन्हें मेरी व्याधि-शय्या के पास बैठे हुए भी, मेरी अवस्था पर उतनी सहानुभूति नहीं हुई, जितना दुःख समालोचना की त्रिशंकु-गति पर हुआ।

बहुत छोटी-सी एक बात और, फिर अभी मैं समालोचना के प्रसंग पर आता हूँ। गाँधी-रवीन्द्र-विवाद पर 'भारती' की सुयोग्य सम्पादिका श्रीमती सरला देवी चौधरानी की कुछ टिपणियाँ मैंने उसी (अस्वस्थ) अवस्था में पढ़ी थीं। एक का शीर्षक है 'कवि ओ कर्मीर लड़ाई' और एक दूसरी है 'गुरु-गंजना'। 'भारती' के इसी अंक में (वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ की शायद यह संयुक्त संख्या है और निकली है शायद अगहन में) रवीन्द्रनाथ का 'चरका' लेख भी 'सबुज पत्र' से उद्धृत होकर 'रविरश्मि' शीर्षक की शोभा बढ़ा रहा है। एक लेख तब तक 'सबुज पत्र' में उनका और निकल चुका था—'स्वराज्य-साधन', यह भी उसी शीर्षक के नीचे शोभायमान है।

मैं 'श्रीकृष्ण सन्देश' के धर्मधुरन्धर धीर पाठकों से क्षमा प्रार्थना करके इस अंक में रवि बाबू के उस लेख की समालोचना न करूँगा, किन्तु 'भारती' सम्पादिका की गाँधी-रवीन्द्र-युद्ध में क्या सम्मति है, सूचित करने की चेष्टा करता हूँ और रवि बाबू के 'स्वराज-साधन' में कौन-कौन से सोपान आये हैं, उनकी गणना, हो सकी तो फिर कभी या अन्यत्र कहीं करने का प्रयत्न करूँगा।

देवीजी मेरी मातृजातिवाली और भारत की जेठाईवाली श्रद्धा की दृष्टि से मेरी माता के पद पर समासीन हैं। मुझे बड़ा ही दुःख है कि इच्छा के न रहते हुए भी कई कारणों से विवश होकर मुझे उनकी समालोचना के विरोध में कुछ लिखना पड़ रहा है। मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू. पी. में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रान्तीयता-बू-विवर्जित हो गया होता; परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू. पी. का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता ? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी जरूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रान्तीयता का जहर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक्त—बंगालियों की

एक-एक चाल में। बंगालियों से फायदा मुझे यही हुआ। आपकी हर एक पेचीदा बात आसानी से सुलझा लेने लगा।

मैं अब तक यह समझता था कि पंजाब में रहकर श्रीमती सरला देवी के खयालात बहुत कुछ बदल गये होंगे। मैं उदारता के सम्बन्ध में उनसे बहुत बड़ी आशा रखता था और यदि भूलता नहीं तो शायद यही हैं, जिन्होंने किसी बंगाली महाशय को, उनके बंगाल मात्र के यशोगान के लिए (वह स्वभाव बंगालियों के लिए उसी तरह सहज है, जैसे जीवों की धड़कन; "सप्तकोटिकण्ठ" "द्विसप्त-कोटिभुजै:"—याद कीजिए, ये हैं बंगाल के साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र) धिक्कारा था। आपके प्रति मेरे जो विचार थे, चूर-चूर हो गये, जब बंगाल और गुजरात के संघर्ष में, रवीन्द्र-गाँधी-समर में, आपकी आवाज रवीन्द्रनाथ की ओर से उठी।

मैं यह नहीं कहता कि गाँधीजी निर्दोष हैं और रवीन्द्रनाथ सदोष। मेरी दृष्टि में, ज़हर दोनों में है और अमृत भी दोनों में है। मुझे समय नहीं मिला कि समालोचना में गाँधीजी का ज़हर भी निकालकर जनता के सामने रखता। बीमारी ने मुझे लाचार कर दिया था। आज जब लिखने बैठा, तब सबसे पहले आप के ही सम्बन्ध में लिखने की इच्छा हुई। मैं गांधी और रवीन्द्रनाथ से आप को बढ़कर मानता हूँ, कारण पहले कह चुका। इस विवाद का फैसला अगर आप अपने स्वाभाविक हृदय-धर्म की ओर से करतीं तो मुझे—मुझे ही क्यों, मेरे जैसे करोड़ों को—कितना आनन्द मिलता कि क्या कहूँ? आपने जहाँ कुछ बातें सच लिखी हैं, वहाँ विकार भी बहुत कुछ निकल पड़ा है—कविवर रवीन्द्रनाथ का पक्ष लेने पर। आपका यह कहना बहुत ठीक है कि गाँधीजी रवीन्द्रनाथ का प्रबन्ध पढ़कर खुद उत्तेजित हो गये थे और इसीलिए उत्तेजनाशान्ति के बाद उन्होंने उत्तर लिखना उचित समझा। गाँधीजी का यह कहना कि लोगों में उत्तेजना फैल जाने के कारण, मैं जो कुछ लिखता, धैर्य-पूर्वक लोग न पढ़ सकते, आपके कथनानुसार मुझे भी ग़लत जान पड़ता है। उनकी और भी गलतियाँ हैं, मैं जो कुछ भी समझता हूँ, फिर अर्ज़ करूँगा। लेकिन आपसे प्रश्न है कि क्या रवीन्द्रनाथ की कोई गलती आपको नहीं मिली जो आपने लिखा—"विश्वकवि की सर्वतोमुखी किरणच्छटा उनके विचारों में फूट फैल रही है।" इस किरणच्छटा को हम यथार्थ गुण समझें या आपके द्वारा किया गया एक व्यर्थ विज्ञापन? और भी आपने लिखा है कि यह कवि और कर्मी की पहली लड़ाई नहीं है।......गुजराती साहित्य-रथियों द्वारा आमन्त्रित होकर बंग के (अब विश्व के नहीं) रवीन्द्रनाथ ने अहमदाबाद में (1920 में) भाषण दिया था, गुजरात के (वंग और गुजरात इन दोनों के उल्लेख से शायद आप भेदात्मक टिप्पणी कर रही हैं) गाँधी उनसे सहमत नहीं हो सके।......सभा मंच में ही मत-विरोध प्रकट हुआ।......एकाध दफा नहीं, जहाँ तक स्मरण है, दो-तीन बार......कर्मी को सविनय शिष्ट लेखों द्वारा अपना सुधार कर लेना पड़ा था। (क्या यह रवीन्द्रनाथ की प्रशंसा में नहीं लिखा गया?)

गाँधीजी शायद रवीन्द्रनाथ को गुरु या गुरु के समान मानते हैं। इसीलिए देवीजी की टिप्पणी का शीर्षक है, 'गुरु-गंजना'; यानी गुरु की ग्लानि। आप लिखती हैं—"महात्मा पदवीवाले गाँधी को अपने तूणीर में गंजना शब्द मौजूद रखना पड़ता है। यह क्या है—समालोचना है या एकतरफा डिगरी? गुरु का सुधार उनकी गंजना या (ग्लानि करके किया जा सकता है, यह बात सर्व सम्मत न होने पर भी यह निश्चय है कि गुरु की गंजना गाँधीजी द्वारा की गयी) कवि की समालोचना से बढ़कर निरंकुश होने का दावा रखती है, यह महात्मा गाँधी ने

अच्छी तरह साबित कर दिया है—बहरामपुर कालेज में बंगाली छात्रों के मर्मस्थल को आघात पहुँचाकर।"

यह रामपुर कालेज में महात्मा गाँधी द्वारा की गयी निरंकुशता बड़े विचित्र ढंग की है। पहले तो समझ में नहीं आया कि यह सत्योक्ति निरंकुशता कैसे हो गयी; लेकिन ब्रह्म-सूत्रों के उलझनदार अर्थ की तरह, यह भी समझ में आ गयी जब बड़ी देर तक इसके कारण की तलाश की। बड़ी हँसी आयी। देवीजी ने गाँधीजी को निरंकुश सिद्ध करने का कारण भी खूब ढूँढ़ा। उन्हें किसी तरह गाँधीजी को निरंकुश सिद्ध करना ही था; क्योंकि, कविजनोचित निरंकुशता के साथ, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पर भी निरंकुशता-नील का टीका लग चुका था, और किसी तरह देवीजी को इसे धोना था, सो सप्रमाण खूब कोशिश की। धुल जाय तो रवीन्द्रनाथ का भाग्य, न धुले तो अपने घर में मन समझाने के लिए काफ़ी समय है—बैठे-बैठे कहा करेंगी,—लोगों में प्रतिवाद समझने की योग्यता है ही नहीं। चलो, बेड़ा पार है—मझधार से तो आखिर निकल चुका?

गाँधीजी की निरंकुशता का आधार यह है:—बंगाल में जिन दिनों आप दौरा कर रहे थे, उन्हीं दिनों बहरामपुर कालेज भी गये थे। छात्रों ने बड़ी आवभगत की। संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष के घर बैठे दर्शन प्राप्त कर, बिना कुछ उपदेश लिये भला वे उन्हें कैसे छोड़ते? उपदेश देने की अर्जी-मर्जी अवश्य ही सिद्धि तक पहुँची। लेकिन महात्मा गाँधी से एक बहुत बड़ी चूक हो गयी। वे बंगाली विद्यार्थियों के मस्तिष्क की तारीफ़ करना भूल गये। शायद आवेश में थे, शिकायत करने लगे। आपके कथन का अभिप्राय यह है—

मैं बंगाल में दौरा कर रहा हूँ। मैंने सुना है……कालेज-विद्यार्थियों के दूषित जीवन के मेरे पास आक्षेप आ चुके हैं। यह शिकायत खासकर बंगाल के विद्यार्थियों पर है। बात यह कि कुछ दिन पहले, एक हिन्दू विधवा से मेरी मुलाकात हुई। वह कोई साधारण स्त्री नहीं है। पढ़ी-लिखी है और कांग्रेस के कामों में मदद करती है। इससे उसकी शिक्षा का अनुमान कर लो। उसके कई लड़कियाँ हैं, उनका विवाह अभी नहीं हुआ, अभी होना भी नहीं चाहिए। उन लड़कियों का बाहर निकलना मुश्किल हो रहा है। लड़कियों की माता ने कहा, कलकत्ते के विद्यार्थियों की लोलुप दृष्टि से बचाने के लिए मैं अपनी लड़कियों को कहीं छिपा रखना चाहती हूँ, मुझे कोई ऐसी जगह बताइए।

श्रीमती सरला देवी को, गांधीजी की निरंकुशता, इस भाषण में, कहाँ मिली, आप यह भी देख लीजिए, गाँधीजी को उस माता की बात पर विश्वास हो गया। यही गाँधीजी की निरंकुशता है।

कविवर श्री रवीन्द्रनाथ को एक डर बड़ा जबरदस्त लगा रहता है। अपने 'चरका' में आपने भारत की जातीय प्रथा को जिस तरह चरखा किया है, हमें देखकर उसकी दुर्दशा पर आँसू आ गये। आप स्वयं ब्राह्म-समाज के एक नामी सुधारक हैं। जान पड़ता है, आप ब्राह्म-समाज का चश्मा लगाकर, उसी लांग साइट और शार्ट-साइट से देखते हुए, भारत की जातीय प्रथाओं की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं, जो बात ब्राह्म-समाज में नहीं, वह संसार के लिए घोर अकल्याणकर, और जो है, वह संसार के लिए महामंगलप्रद है, यही है आपके इस विरोध या युक्ति के अन्दर की छिपी हुई सच्ची राय।

आप कहते हैं, भारत मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। उसमें समीकरण लक्षण जोर पकड़े हुए हैं। समीकरण-धर्म से आपका मतलब है, बहुत से आदमियों के सिपुर्द

कोई खास काम कर देना, और इस तरह उन बहुत से आदमियों का उसी काम के अन्दर उन्नति-अवनति, जागृति-सुषुप्ति, जीवन-मृत्यु के स्वप्न देखते रहना, यानी उससे किसी तरह मुक्ति न पाना; यह हुआ समीकरण-धर्म और इसको माननेवाली प्राय: सभी जातियाँ हुईं समीकरण-धर्म की अनुयायिनी अथवा मृत्यु के अन्धकार-द्वार की ओर बढ़नेवाली। आप यह धर्म नहीं पसन्द करते। अगर यह धर्म न रहा तो पाठक, समझिए कि क्या रहता है? इसका उल्लेख कविवर ने नहीं किया, यह अन्दाजन समझना होगा। यानी रहा ब्राह्म-धर्म!!! महाकवि ने कैसी पहेली कही!

कविवर का यह अंश पढ़िए तो जान पड़ेगा कि उनकी बुद्धि का घोड़ा डबल मार्च या क्विक मार्च दौड़ रहा है, परन्तु पश्चिमी सिद्धान्तों पर ही चक्कर काटता हुआ चला जाता है, कहीं ठहरता नहीं। अन्त में समझ लेना पड़ता है कि पश्चिमी प्रथा के अनुसार बने हुए ब्राह्म-समाज के अस्तबल में यह घोड़ा जाकर ठहरा, और वहीं भारत के जातीय कल्याण को भी घोड़े का अनुसरण कराते हुए, अलक्ष्य रीति से कविवर ले गये; खूब!!!

पाठक पूछ सकते हैं कि इस जातीय प्रसंग, समीकरण धर्म आदि के साथ चरखे का क्या सम्बन्ध है; यह तो यहाँ अप्रासंगिक-सा जान पड़ता है। हम पाठकों से कुछ देर धैर्य धारण करने के लिए अनुरोध करते हैं। प्रसंग आगे खुल जायगा।

कविवर जातीय प्रथा के विरोधी हैं। यह उनका अपना धर्म भी है। उनके समाज में जातीय प्रथा नहीं। परन्तु ब्राह्म-समाज की शाखाओं पर हम विचार करेंगे तो ऐसी ही एक बात पैदा होगी। क्यों वे शाखाएँ अलग हुईं। यदि जातीय-महत्त्व नहीं, तो प्रभाव-महत्त्व अवश्य आ जायगा, फिर विशिष्टता-महत्त्व। यह यूरोप की प्रथा है। वहाँ भी जाति-पाँति नहीं है। परन्तु धन और मर्यादा का काफी खयाल रहता है, किसी लार्ड घराने की लड़की किसी चमार से विवाह नहीं करती, न कोई बड़ा आदमी अपने से मरजाद के छोटे किसी दूसरे को एक टेबिल पर लेकर खाना खाता है।

हमारी जाति-प्रथा मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ श्रेणी-विभाग है। क्योंकि हरएक जाति में शास्त्र, नारायण का अंश बतलाता है। जाति की निन्दा भी कहीं नहीं की गयी। जाति निन्दनीय नहीं, इस समय उसके साथ दूसरी जातियों का बर्ताव निन्दनीय है। और चूँकि यह अज्ञानजन्य है, इसलिए हमें दृढ़ आशा है कि भारतीय शिक्षा के साथ, दृढ़ मस्तिष्कवाले इस बुरे बर्ताव को दूर कर देंगे। विलायती भाव को ही लीजिए तो कार्पेण्ट्री, बाटेनी आदि के कारीगर विद्वानों को देशी भाषा में बढ़ई, लोहार, दर्जी, माली आदि ही कहेंगे। आप इंजीनियर कहें तो कहें, हम उसे बढ़ई कहते हैं, लोहार कहते हैं तो हमारा अपराध? हाँ, बढ़ई, लोहार शब्द से हमें घृणा नहीं, न उस मनुष्य से है। किन्तु हम उसे उसी तरह परमात्मा का अंश समझते हैं, जिस तरह एक मुक्त महात्मा को और श्रुति-पाठ-रत निर्लोभ ब्राह्मण को। अगर कोई पूछे कि ब्राह्मण को परमात्मा का सिर और बढ़ई को पैर क्यों समझते हो—फर्क तो समझ में यहीं आ गया, इसका उत्तर यह है कि दर्शन शास्त्र में सिर और पैर का भेद ही नहीं माना गया। बात यह भी नहीं कि पैरवाले को सिर की पूजा न मिली हो। इतिहास देखो, रैदास, कबीर, सदन ये सब कौन थे? क्या इन्हें परमात्मा के सिर कहलानेवाले ब्राह्मणों की, कदाचित उनसे बढ़कर योग्यता दी गयी? और तारीफ यह कि जाति-पाँति की प्रथा के ये बहुत बड़े प्रमाण थे। क्या रैदास ने अपना काम छोड़ा या कबीर ने छोड़ा?

ये चाहते तो रवीन्द्रनाथ से कहीं बढ़ा-चढ़ा विरोध पैदा कर सकते थे। परन्तु जातीय जीवन को इन महापुरुषों ने समझा था। भारत की मिट्टी भी पहचान गये थे। यहाँ विरोधभाव किसी तरह नहीं फल-फूल सकता। बुद्ध इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। क्या कविवर रवीन्द्रनाथ ने बुद्धधर्म के विनाश पर कभी विचार न किया होगा? और-और धर्म तो रहे, बौद्धधर्म ही क्यों जड़ से उखड़ गया? पाठक याद रखें, यह भी विरोध-मूलक था।

एक जगह रवीन्द्रनाथ इसी उमंग पर लिखते हैं—"युगों से लगातार चतुर उन्हें (शूद्रों को) धोखा दे रहे हैं, गुरु उन्हें बहकाते आ रहे हैं, सबल उनके कान ऐंठ रहे हैं। वे इसकी सीमा के बाहर की कोई कल्पना नहीं कर सकते।" इसका उत्तर देने की भी जरूरत थी; परन्तु एक ही बात कहकर हम इसे समाप्त कर देना चाहते हैं। शूद्रों की बात तो लिखी ही जा चुकी है। रही गुरुओं की बात; इसके लिए हम भगवान पतंजलि को कविवर के सामने पेश करते हैं। वे अपने योगसूत्र में एक जगह लिखते हैं—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"—यहाँ गुरु कोई मनुष्य नहीं है किन्तु परमात्मा हैं, वही गुरुओं के गुरु हैं। काल उनका अवच्छेद नहीं कर सकता—ये अमर हैं—सच्चिदानन्द हैं। लोगों को शंका होगी कि हम तो मनुष्य को ही गुरु होते हुए देखते हैं, फिर परमात्मा कैसे गुरु हो गये? उत्तर में, पहले हम गोस्वामी तुलसीदासजी की एक चौपाई कहेंगे—

"सो जानै जिहि देहु जनाई
जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई"

इससे हम समझ जाते हैं, जो मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा का ही स्वरूप बन जाता है। और इस तरह सिद्ध है कि गुरु के आसन पर मनुष्य नहीं, किन्तु परमात्मा स्वयं आसीन रहते हैं, जबकि गुरु रूपी वह मनुष्य मनुष्य-बुद्धिरहित, देहात्म-ज्ञान-वर्जित किन्तु परमात्मलीन सच्चिदानन्दस्वरूप है। ऐसे ही महापुरुष भारत के गुरु हैं। शंकर, रामानुज, नानक, कबीर, श्री चैतन्य, रामकृष्ण की मनुष्य उपाधि दूर हो गयी थी। अब हम रवीन्द्रनाथ से पूछते हैं, क्या ये, इस श्रेणी के मनुष्य, लोगों को बहकाते हैं या सच्चा मार्ग दिखलाते हैं? रवीन्द्रनाथ शायद कहें, हम इन्हें नहीं, किन्तु उन्हें कहते हैं जो वास्तव में दुष्ट हैं। यह भी अच्छी रही। हिन्दूधर्म के दोषों की तो आप उद्भावना करें और जिस विशाल स्तम्भ पर वह टिका हुआ हो, उसका नाम भी न लें!!! रही सबलों के कान ऐंठने की बात, सो इसके लिए हम कविवर से भारत की प्राचीन राजनीति देखने का अनुरोध करते हैं। यह राजनीति कथा-कहानियों के रूप में, पुराणों में बहुत मिलेगी। वहाँ देखें कि भारत के सबल राजे किस तरह प्रजा के कान ऐंठते थे।

रवि बाबू भी गुरु हैं। बहुतेरे मनुष्य उन्हें गुरु मानते हैं। गुरुओं की निन्दा करनेवाले के कलम से आज तक हमने ऐसा एक भी लेख निकलते हुए नहीं पाया जिसमें उन्होंने किसी गुरु कहनेवाले को फटकारा हो। शायद रवि बाबू अपने को शंकर आदि के जोड़ का, कदाचित् उनसे बढ़कर गुरु मानते हों, तभी सार्वभौमिक गुरु सम्बोधन को मौनगम्भीरता के साथ हजम कर जाने के लिए दूसरों के गुरुत्व को छीनने की यह बढ़ी-चढ़ी तैयारी की गयी है? और सबल दुर्बलों को किस तरह सताते हैं, इसके तो आपको प्रत्यक्ष प्रमाण रोज ढेरों मिलते होंगे, क्योंकि आप हैं सबल जमींदार और आपकी रियासत में दुर्बल किसान भी सैकड़ों और हजारों रहते हैं।

लिखते-ही-लिखते दूसरे के एक प्रत्यक्ष सत्य की याद आ गयी। एक बार

किसी किसान को कहीं मुद्दालेह होकर वर्त्तमान सरकार की अदालत जाना पड़ा। समय की बात, उसके गवाह बिगड़ गये। मुकद्दमा फौजदारी सिपुर्द था। उसने बहुत कुछ सत्य की दुहाई दी, परन्तु वहाँ प्रमाण के सामने सत्य को कौन गिनता है ? खैर, उसे कुछ महीने की सज़ा हो गयी। सज़ा का हुक्म सुनाया जाने लगा तो उस निरपराध की अन्तरात्मा बहुत खलबलायी। आखिर इजलास में हाकिम के सामने ही उसके मुँह से एक कविता उबल पड़ी—उसने कह डाला—

"कलियुग अन्धाधुन्ध दरबार !"

उसकी यह मधुर कविता हाकिम ने सुन ली। पुरस्कारस्वरूप, उसकी सज़ा की मियाद दूनी कर दी गयी। रवि बाबू की युक्तियों को पढ़कर न जाने हमें उस किसान की कविता का कितने बार स्मरण हो !

[‘श्रीकृष्ण सन्देश’, साप्ताहिक, कलकत्ता, के 22 नवम्बर, 29 नवम्बर और 6 दिसम्बर, 1925 तथा 21 मार्च, 1926 के अंकों में चार किस्तों में प्रकाशित। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित ]

## श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज से वार्तालाप

पहले-पहल श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज के दर्शन मुझे मिले थे जब मैं ‘समन्वय’ के सहायक की हैसियत से स्वामी-महाराजों के साथ ही रहने के लिए गया था, शायद वह 1921वाँ साल चल रहा था, उस समय दो-ढाई महीने तक ‘समन्वय’ और ‘अद्वैत आश्रम’ के संन्यासी-कार्यकर्त्ताओं के साथ ‘उद्बोधन’ कार्यालय, बागबाजार में मुझे रहना पड़ा था, यहीं श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज रहते थे।

पहले-पहल जब मैंने उन्हें देखा, स्थूल-शरीर—गम्भीर प्रकृति, मुझे बड़ा डर लगा—यह संस्कार बहुत दिनों तक मेरे साथ रहा, बहुत दिनों तक मैं उनसे खुलकर बातचीत नहीं कर सका। परन्तु पहले ही दिन मेरी विकृत ज्ञानेन्द्रियों को दबाकर उनकी जो एक बात मेरे हृदय में पैठी, श्रीरामकृष्ण के प्रति पैदा हुआ मेरे स्वल्पमात्र विश्वास का पौधा, उनकी एक उज्ज्वल स्निग्ध रश्मि की गोद में प्रसन्न होकर अपनी पूर्णता में लहलहाने लगा। बात इस तरह हुई—उस रोज एक महाशय आये हुए थे—शायद दार्शनिक थे—गर्मागर्म स्पीच दे रहे थे, श्रीमत् स्वामीजी महाराज अपने आसन पर वैसे ही स्थिर गम्भीर बैठे हुए दार्शनिक की दर्शन-व्याख्या सुन रहे थे, इधर दार्शनिक शब्दों के चिटकते हुए लावों से मेरे कानों की दुर्दशा हो रही थी, मैं मन-ही-मन उन दार्शनिक महाशय से ऊब रहा था। न जाने कैसे स्वामीजी को मेरे मन का हाल मालूम हो गया। उन्होंने एक प्रत्यक्ष घटना सुनायी। कहा, स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज (स्वामी सारदानन्दजी महाराज के गुरुभाई) के साथ मैं पुरी में था। एक रोज रास्ते पर कुछ बाबुओं से उनकी बहस हो चली, मैं अलग खड़ा सुन रहा था। बाबू लोग अपने प्रसंग के प्रमाण में कहते—‘अमुक पुस्तक में ऐसा लिखा है—अमुक पुस्तक में इसका प्रमाण है’—

'आपने पढ़ी हैं ये पुस्तकें?'—एक के इस तरह पूछने के साथ ही प्रेमानन्दजी महाराज ने दूनी डपट से कहा, 'मैंने महापुरुष-चरित पढ़ा है।' बाबू लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी ने महापुरुष-चरित नहीं पढ़ा था। स्वामी सारदानन्दजी हँसे, कहा—बाबुओं ने सोचा, महापुरुष-चरित कोई पुस्तक है। बस, दार्शनिक की व्याख्या बन्द हो गयी और मेरा मन-ही-मन कुढ़ना।

एक रोज स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के भाई आये। (प्रेमानन्दजी महाराज भी अब इस लोक में नहीं हैं, रामकृष्ण-मिशन के स्वामी-महाराजों में सबसे पहले मैंने इन्हीं के दर्शन किये थे : महिषादल में रहने के समय और इन्हें गोस्वामी तुलसीदासजी-कृत रामायण पढ़कर सुनायी थी। उनके अलौकिक प्रेम ने कई बार उनके रहते समय बेलूड़-मठ में आने के लिए मुझे विवश किया था।) प्रेमानन्दजी महाराज के भाई से स्वामी सारदानन्दजी महाराज मेरा परिचय दे रहे थे, मेरे रामायण-पाठ से स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के प्रसन्न होने—मुझे स्नेह करने की बातें कह रहे थे, फिर मेरी ओर निगाह फेरकर कहा, ये स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के भाई हैं। इस परिचय से मैं उन्हें प्रणाम करने चला—स्वामीजी महाराज ने मुझे रोक लिया। पीछे मुझे मालूम हुआ, स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज के भाई के कायस्थ होने के कारण स्वामी सारदानन्दजी महाराज ने मुझे प्रणाम करने नहीं दिया, वर्ण-व्यवस्था की उन्होंने रक्षा की—दूसरे, उनका तत्काल रोकना, कोई मनुष्य इतना जल्द सोचकर काम कर सकता है, मैंने नहीं देखा।

एक रोज उनके छोटे-से बैठकखाने में वे थे और मैं, कोई दूसरा न था। मैंने कहा, मुझे आश्चर्य है, हर एक महापुरुष की बातों में मुझे समता दिखलायी पड़ती है, मैं तुलसीकृत रामायण की टीका लिखूँगा, जिसमें सब महापुरुषों की उक्ति की समता दिखलाना मेरा उद्देश होगा। स्वामी महाराज ने कहा, अभी नहीं—अभी कुछ दिन ठहर जाओ—अभी और समझोगे।

एक रोज मैं उनके पास दुतल्ले में उनके कमरे में बैठा था, शायद वे कुछ अस्वस्थ थे, मैं उन्हें देखने के लिए गया था। स्वामी शुद्धानन्दजी महाराज उनसे बातचीत करके चले गये, मैं बैठा रहा। उस समय मेरे सिर में दर्द हो रहा था। शायद मैंने उनसे कुछ कहा नहीं। चलते समय उठा, उनकी कुर्सी के पास झुककर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने एक हाथ से मेरा माथा थाम लिया। मेरे कपाल के दोनों बगल से अपना अँगूठा और मध्यमा दबाकर खींचा। मेरा दर्द बिलकुल मिट गया, शरीर हलका हो गया, उतनी प्रसन्नता मुझे जीवन-भर कभी नहीं मिली। साथ ही स्वामी विवेकानन्दजी के सम्बन्ध की एक लिखी हुई बात याद आयी। किसी क्रिश्चियन महिला का सिर-दर्द (या मानसिक चिन्ता) इसी तरह उनके कर-स्पर्श से दूर हो गयी थी जिसका उल्लेख किसी पत्र या पुस्तक में आया है।

'उद्बोधन' में कभी-कभी नहाकर मैं श्रीमाताजी (श्रीरामकृष्ण की पत्नी) के कमरे में रामायण पढ़ा करता था। एक रोज शायद पहले ही रोज, मेरे रामायण-पाठ से स्वामी महाराज इतने प्रसन्न हुए कि मुझे 'प्रसाद' के दो रसगुल्ले देने की आज्ञा की। 'प्रसाद' का एक ही रसगुल्ला मिलता था।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर कार्तिक, संवत् 1984 (वि.) (अक्तूबर-नवम्बर, 1927)। असंकलित]

# कविवर श्रीचण्डिदास

वंग-साहित्य के ग्रादिकवि तथा प्राचीन बंगला की कविताकुमारी के मनोनीत, उसके हृदय को यौवन की मधुर रागिनी से ग्रान्दोलित करनेवाले नायक भक्तप्रवर श्रीचण्डिदास हिन्दी के पठित समाज में बहुत कम प्रसिद्ध नहीं हैं। बंगाल तो इनकी ग्रमर कृतियों का हृदय से उपासक है। किसी दूसरे कवि की समालोचना करते समय बंगाल में चाहे पृथक्-पृथक् ग्रनेक दल भले ही हो जायँ, परन्तु चण्डिदास के लिए सबके हृदय में समान ग्रादर, समान श्रद्धा ग्रौर समान प्रेम है। ग्राजकल कलकत्ते के स्टार थियेटर ने इनके नाम का एक नाटक खेलना ग्रारम्भ कर दिया है, ग्रौर भीड़ का हाल यह है कि देहात से लोग नाटक देखने के लिए ग्राते हैं—खासकर वह ग्रंश देखने के लिए, जिसे चण्डिदास की प्रेयसी रजक-विधवा श्रीराम-मणि (दासी) ग्रदा करती है—इस नाटक का पहला संस्करण छपने के साथ-ही-साथ समाप्त हो गया था। ग्रब बाजार में, पता नहीं, दूसरा या तीसरा संस्करण बिक रहा है।

कहते हैं, चण्डिदास कवि-कण्ठाभरण मिथिला-कोकिल श्रीविद्यापति के सम-कालीन थे, ग्रौर दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यहाँ तक भी पता चलता है कि ये दोनों मित्र एक-दूसरे के पास ग्रपनी-ग्रपनी कविताएँ भी ग्रवलोकनार्थ भेजा करते थे।

विद्वान बंगालियों ने ग्रपने प्रथम कवि के जन्म-संवत् के ग्रन्वेषण में विशेष परिश्रम किया, परन्तु किसी निश्चित सिद्धान्त पर वे ग्रभी तक नहीं पहुँच सके। केवल ग्रनुमान से सन्तोष किया गया है। कहा जाता है, 1325 शकाब्द में उनका जन्म हुग्रा था। कोई-कोई कहते हैं, उनका जन्म शकाब्द 1339 में हुग्रा था ग्रौर देहावसान 1399 में।

जिस तरह चण्डिदास के जन्मकाल का पता ग्रब तक ठीक-ठीक नहीं लग सका, उसी तरह उनके पिता ग्रौर माता के नामों का भी पुष्ट प्रमाण ग्रब तक नहीं मिला। लोकोक्ति के ग्राधार पर उनके पिता का नाम, कहते हैं, श्रीदुर्गादास बागची था। यह ब्राह्मण थे। बंगाल के वीरभूमि-जिले के नान्नूत-ग्राम में इनकी वासभूमि थी। वहीं की प्रतिष्ठित वासुलीदेवी की यह पूजा किया करते थे। देवी की ही प्रसन्नता से पुत्र प्राप्त किया, इसलिए पुत्र का नाम चण्डिदास रक्खा।

चण्डिदास के बाल्यकाल में ही उनके पिता ग्रौर माता का स्वर्गवास हो चुका था। यह तभी से गाँव में ग्रनाथ बालक समझे जाते थे, ग्रौर इस दैव-प्रहार के कारण ही ग्रपनी शिक्षा में यह विशेष रूप से ग्रग्रसर नहीं हो सके, ऐसा उनके जीवनी-लेखकों का कहना है। परन्तु 'चण्डिदास' नाटक में चण्डिदास के पिता का देहान्त उस समय हुग्रा है, जब वह पूर्ण युवक थे, ग्रपनी ललित पदावली का बहुत-सा हिस्सा लिख चुके थे, रजक-विधवा राममणि से प्रेम के सुदृढ़ बन्धनों में बँध चुके थे। नाटक में समाज-शिरोमणि पिता की मृत्यु का कारण पुत्र का रजकी-प्रेम ही परिस्फुट किया गया है, ग्रौर दिखलाया गया है कि ग्रपने पिता के जीवन-काल में ही यह वासुलीदेवी की पूजा करने लगे थे।

नान्नूत की जिस देवी की यह पूजा किया करते थे, वह विशालाक्षी के नाम से प्रसिद्ध थीं। वह मन्दिर इस समय भी भग्न दशा में उस प्राचीन काल के स्मृति-रूप में मौजूद है। बंगला के प्रसिद्ध मासिक पत्र प्रवासी में इसका चित्र भी, ग्रभी साल-

ही दो साल हुए, निकल चुका है। जिस समय चण्डिदास देवी की पूजा किया करते थे, उस समय देश में तान्त्रिक उपासना का जोर था। पंचमकारसाधन, मुद्रा-मीन-मांस-मदिरा-मैथुन ग्रौर तरह-तरह के वाममार्ग प्रचलित थे। देशवासियों की इसी प्रथा पर भक्ति थी। यह श्रीचैतन्यदेव के ग्राविर्भाव के बहुत पहले की बात है। ग्रस्तु, इन कारणों से श्रीवासुलीदेवी की पूजा भी तन्त्रोक्त रीति से हुग्रा करती थी, ग्रौर छागबलि, मत्स्य-भोग ग्रादि देवी की पूजा में प्रचलित थे। यों तो इस समय भी किसी-न-किसी रूप में ये सब क्रियाएँ प्रचलित ही हैं।

विशालाक्षी का ही ग्रपभ्रष्ट रूप वासुली हुग्रा है। कहते हैं, पहले चण्डिदास घोर शाक्त थे। एक विशेष घटना ऐसी हुई, जिससे इन्होंने वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। एक दिन यह नदी के तट पर नहाने के लिए गये, तो देखा, एक सुन्दर पद्मकोरक प्रवाह में बहा जा रहा था। देवी के पादपद्मों पर यह सुन्दर पुष्प चढ़ाने की लालसा प्रबल हो उठी ग्रौर यह तैरकर उसे ले ग्राये। जब मन्दिर में लौटकर ग्रर्घ्य देने के लिए बढ़े, तो देवी प्रकट हो गयीं। बोलीं, "वत्स, यह फूल मेरे पैरों पर नहीं, मस्तक पर चढ़ाग्रो; इससे मेरे पूज्य गुरुदेव की पूजा हो चुकी है।" ग्राश्चर्य से चकित हो चण्डिदास ने पूछा, "माता, तुम्हारे गुरुदेव कौन ?" देवी की उस ज्योतिर्मयी मूर्ति ने उत्तर दिया, "बैकुण्ठविहारी श्रीविष्णु भगवान् !" हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए चण्डिदास ने कहा, "माता, यदि वह तुम्हारे भी पूज्य हैं, तो मैं भी ग्रब उन्हीं की सेवा में तत्पर रहूँगा।" "ऐसा ही करो" कहकर वह ज्योतिर्मयी मूर्ति ग्रन्तर्द्धान हो गयी। तभी से चण्डिदास श्रीकृष्णजी की सेवा में के लिए ग्रपने ललित पदों की माला गूँथने लगे।

चण्डिदास के वैष्णव धर्म-ग्रहण पर एक ग्रौर लोकोक्ति प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक दिन रात के वक्त यह ग्राग के लिए घर से बाहर निकले। बाहर कहीं ग्राग जल रही थी, इन्हें भी तम्बाकू पीने का चस्का था। ग्राग के पास पहुँचे, तो जलती हुई ग्राग एकाएक बुझ गयी ग्रौर उस एकान्त में साक्षात् देवी का ग्राविर्भाव हुग्रा। देवी ने इन्हें ग्रपनी मधुर रचनाग्रों से श्रीकृष्ण भगवान् को सन्तुष्ट करने का उपदेश दिया।

'चण्डिदास'—नाटक में इनके वैष्णव धर्म-ग्रहण करने की एक तीसरी घटना दिखलायी गयी है। वह विशेष मनोरंजक है। बीसवीं सदी के नाटककार ने कल्पना भी बड़ी सुन्दर की है। दिखलाया है, राममणि के रूप पर मुग्ध युवक चण्डिदास राममणि के धोबघट के पास ही, जेठ की कड़ी धूप बरदाश्त करते हुए, मछली पकड़ने के बहाने बंसी लगाये बैठे हैं। राममणि ग्राती है, चण्डिदास को देखकर रुकती है, सोचती ग्रौर मन-ही-मन सहानुभूति दिखलाती है, धूप से तपते हुए चण्डिदास के मत्स्य-शिकार पर हँसती है। इस दिन वह चण्डिडास को स्पर्श करती है, चरण छूती है। दोनों की निगाहें एक होती हैं—मौन चितवन हरएक के मन को चिरकाल तक सोचते रहने की ग्रपरिमित भाषा, ग्रनन्त शब्द दे जाती है। उसी दिन चण्डिदास विशालाक्षी के मन्दिर में ग्रपने गुरु से तन्त्रोक्त रीति से दीक्षा भी ग्रहण करनेवाले हैं। पूजा, होम ग्रादि होते समय, शाम को, राममणि देवी के चरणामृतपान के लिए मन्दिर-मंच के नीचे ग्राकर खड़ी होती है, ग्रौर चण्डिदास के गुरु उसे, वाममार्ग साधन की सुलक्षणा नायिका देखकर, चरणामृत के बदले ग्रपने शिष्य से मदिरा दिलवाते हैं, जिसे पीकर वह बेहोश हो जाती है। चण्डिदास के ग्राने पर गुरु उस बेहोश नायिका को होश में ला, ले ग्राने की ग्राज्ञा देते हैं। चण्डिदास को देखकर राममणि पूछती है, "क्या इस घृणित संसर्ग में तुम भी हो ? मेरे

गुरु ने कहा था, सबको प्यार करो। भगवान् श्रीकृष्ण इसी से सन्तुष्ट होंगे।" चण्डिदास पर इसका प्रभाव पड़ता है। वे तान्त्रिक गुरु की दीक्षा से इनकार करते और वैष्णव होते हैं।

कहते हैं, राममणि से प्रेम करने की आज्ञा साक्षात् विशालाक्षी देवी ने चण्डिदास को दी। पहले तो चण्डिदास के चित्त में सन्देह हुआ, परन्तु पुनर्वार आदेश देने पर वह मान गयी। चण्डिदास का यह प्रेम साधारण मनुष्यों के प्रेम की तरह पंकिल न था, इसमें विषय-वासना की बू न थी। श्रीकृष्ण की प्रीति की साधना ही इसका उद्देश था। चण्डिदास के पद्यों में अनेक स्थल ऐसे मिलते हैं, जहाँ उन्होंने राममणि को माता सम्बोधन किया है। कहीं-कहीं अपना गुरु भी स्वीकार किया है।

गाँववालों को चण्डिदास की इस प्रेम-साधना से अत्यन्त घृणा हो गयी। वे लोग सामाजिक वक्र दृष्टि से इसकी समालोचना करने लगे। पहले कुछ दिनों तक बात कानों-ही-कान, अस्फुट शब्दों में, फिरती रही; परन्तु जब इधर कुछ लगावट की मात्रा बढ़ने लगी, तब उधर भी समाज के देवता विद्रोह की वह्नि प्रज्वलित करने लगे। लोग चण्डिदास को घृणा की दृष्टि से देखने लगे, उनसे सामाजिक व्यवहार छिन्न कर देने की ठान ली। पहले इन्हें लोगों ने समझाया। इनके पिता ने भी समझाया। परन्तु किसी के उपदेश का इन पर कुछ असर न पड़ा। चिढ़कर गाँववालों ने इनका बहिष्कार कर दिया। देवी की पूजा का अधिकार भी इनसे छीन लेने की बात चलने लगी। इस समय चण्डिदास कुछ ढीले पड़े, समाज के कठोर अनुशासन की ओर झुक गये, लोगों में मिल जाने का इरादा किया। कहते हैं, जिस दिन इनके यहाँ ब्रह्मभोज था, खबर पा, पागल की तरह, निमन्त्रित ब्रह्म-मण्डली के सामने, इनकी प्रेयसी राममणि इनसे आकर पूछती है—सुना तुम मुझे छोड़कर समाज में जा रहे हो; क्या यह सच है ? चण्डिदास उस समय परोसने जा रहे थे—हाथ में व्यंजनों की थाली थी। लोगों ने देखा चण्डिदास ने उसी अवस्था में अपनी प्रेयसी का (थाली लिये हुए ही) आलिंगन किया, उस समय उनके दो हाथ और निकले। लोगों पर इस दृश्य का विशेष प्रभाव पड़ा। फिर उन लोगों ने इन पर ईश्वर की कृपा का विचार कर इन्हें तंग करना छोड़ दिया। कहते हैं, यह और राममणि एक ही साथ हरिकीर्तन करते थे। वे मतिपुर-नामक गाँव में कीर्तन करने गये थे। वहीं पुराने नाट-मन्दिर की छत टूट पड़ने से इनकी और राममणि की मृत्यु हुई।

हिन्दी के प्राचीन कवियों की तरह इन्होंने भी कृष्ण ही पर कविताएँ लिखी हैं। नायिका का पूर्वराग, नायक का पूर्वराग, राधिका का कृष्ण-रूप धारण, प्रौढ़ा की उक्ति, दौत्य, सम्भोगमिलन, रसोद्गार, अभिसार, विप्रलब्धा, खण्डिता, मान, प्रवास आदि उन्हीं प्राचीन विषयों का वर्णन, उन्हीं रीतियों से, इनकी कविता में भी मिलता है। माधुर्य की दृष्टि से चण्डिदास की कविता प्रथम श्रेणी की है। इतनी सरस बहुत कम कविताएँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

सइ, केबा सुनाइले श्याम नाम ?
कानेर भीतर दिया, मरमें पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण।
ना जानि कतेक मधु, श्यामनामे आछे गो
वदन छाड़िते नाहिं पारे।

जपिते-जपिते नाम, अबस करिल गो,
केमने पाइब सइ तारे ।
नाम परतापे चार, ऐछन करिल गो,
अंगेर परस किवा होय ।
जेखाने बसति तार, नयने देखिया गो,
युवती धरम कैछे रय ।
पासरिते करि मने, पासरा ना जाय गो,
कि करिब कि हबे उपाय ।
कहे द्विज चण्डिदासे, कुलवती कुलनाशे,
आपनार यौवन जाचाय ।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1928 । **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## छत्रपुर में तीन सप्ताह

प्रसंगवश मुझे छत्रपुर जाना पड़ा । पाठक जानते हैं, 'शिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को'—महाकवि भूषण ने महाराज छत्रसाल को जातीयता की दृष्टि से कितना उच्च आसन दिया है । छत्रपुर इन्हीं महाराज छत्रसाल की बसायी हुई राजधानी है । बुन्देलखण्ड के ओरछा, पन्ना आदि स्टेटों की तरह यह भी एक प्रभावशाली प्राचीन स्टेट है । अन्यान्य बड़े देशी राज्यों की तरह इसे भी कुल अधिकार प्राप्त हैं । स्टेट के दीवान हैं हिन्दी के चिरपरिचित पण्डित शुकदेव बिहारीजी मिश्र, मिश्र बन्धुओं के छोटे भाई । मैं छत्रपुर पहुँचकर श्री महाराजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी, हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक, दार्शनिक बाबू गुलाबरायजी के यहाँ ठहरा । तीसरे रोज महाराज से मुलाकात हुई । 'सुधा' के पाठकों को मालूम होगा, चण्डिदास के प्रबन्ध में एक अनुवाद की चर्चा करते हुए मैंने महाराजा साहब और उनके सेक्रेटरी महोदय का उल्लेख किया है । वह अनुवाद बाबू गुलाबरायजी के मार्फत घर से मैंने महाराजा साहब के पास भेज दिया था । उस अनुवाद में मैंने चण्डिदास की स्वर की लड़ी पर भी ध्यान रखा है । यानी अनुवाद की 'स्वर-लड़ी' उतनी ही मात्राएँ लेती है, जितनी चण्डिदास के मूल पद की प्रत्येक लड़ी । 'सुधा' में चण्डिदास प्रबन्ध के उद्धरण-अंश में पाठकों के मिलान करने की सुविधा के विचार से मूल और अनुवाद, दोनों दे दिये गये हैं । छत्रपुर में महाराजा साहब ने ललित और अनुवाद, दोनों दे दिये गये हैं । छत्रपुर में महाराजा साहब ने ललित किशोरी (व्रजभाषा के एक कवि) के लिखे किसी छन्द में अनुवाद करने के लिए कहा । तदनुकूल उसी पद का ललित किशोरी के छन्द में मैंने जो अनुवाद किया, उसे 'सुधा' के पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ उद्धृत करता हूँ । इस अनुवाद में मुझे अपनी तरफ से कुछ शब्द रखने पड़े हैं । कारण, चण्डिदास की स्वर-लड़ी से इस छन्द की स्वर-लड़ी कुछ बड़ी है—अधिक शब्द चाहती है ।

**पद**

स्याम-नाम किन आनि सुनायो,
पल-छिन कल न परत मोहि आली,
स्रवनन-मगु धँसिगो, बसिगो उर,
विकल कियो मो मन बनमाली।
स्रवत सुधा, लवलीन मीन सम,
नाम-नीर नहिं त्यागन चाहौं;
जपत बिबस भो मो तन-मन धनि,
पावन-हित चित सों अवगाहौं।
नाम प्रतापहिं यहि गति भइ जब,
अंग-परस-रस धौं किमि होई;
रहत जहाँ वह लखि नयनन सों,
निज कुल-धरम जुवति किमि गोई।
भूलौं सोचति, भूलि सकौं नहिं,
अब कहु कौन उपाव रह्यो री;
चण्डिदास वारी कुलवारी,
तन-जोबन बनवारि लह्यो री।

एक दिन हम लोग बाबू गुलाबरायजी की 'शस्य-श्यामलाम्' चले। मनोहर पहाड़ी की तल-भूमि में, छः-सात बीघे जगह घेरकर बाबू गुलाबरायजी ने एक 'बारी' तैयार की है। उसे ही 'शस्य-श्यामलाम्' कहते हैं। कुछ पेड़ अमरूद-नारंगी आदि के हैं, कुछ फूलों के। एक जगह एक छोटा-सा पक्का मन्दिर है, जिसमें शायद शिवजी स्थापित हैं। बीच में एक बड़ा-सा पक्का कुँआ है, और अगल-बगल गेहूँ, जव, चने, मटर, अलसी, सरसों आदि के खेत। हाता काँटों से घेरा हुआ। हम तीन आदमी थे, बाबू गुलाबरायजी, पं. रामनारायणजी शर्मा और मैं। रामनारायणजी उठकर एक खेत की ओर गये। शाम हो रही थी। पत्रों पर ओस ने मुक्ताओं के बिन्दु बैठा दिये थे। रामनारायणजी कुछ देर तक वह शोभा देखते रहे, कुछ देर सोचते रहे। उन्हें एक शब्द मिल गया—'श्रमकन-झलकन'। अनुप्रास के आप बड़े भक्त हैं, 'श्रमकन-झलकन' ने आपको मुग्ध कर लिया और इस अनुप्रास-भक्ति की आफ़त का बज्र टूटा मेरे ऊपर—'श्रमकन-झलकन की पूर्ति कर दीजिए।' शब्दों की सैकड़ों उखाड़-पछाड़, आवर्तन-विवर्तन तथा जन्म-मरण, पुनर्जन्मादि के बाद, बड़ी मुश्किल से एक दोहा तैयार हो सका। वह यह है—

लख्यो बिजन-बन गहन में श्रमकन-झलकन वारि,
खरी मोतियन-लर-जरी, परी हरी बर-नारि।

इसके बाद मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुखार से कोई 15 उपवास पड़े। बाबू गुलाबरायजी तथा डाक्टर सी. भट्टाचार्य महोदय के संयत सुश्रृंखल प्रयत्न से अच्छा होकर 26वें दिन सकुशल घर वापस आ गया।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1928 ('कुसुम-कुंज' शीर्षक स्तम्भ में)। **चयन** में संकलित]

# युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण

इस उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, जब पश्चिमी संसार जड़ाश्रय विज्ञान के अहंकार से दीप्त, बाह्य प्रकृति को पूर्ण वशीभूत करने पर तुला हुआ, अपनी क्षात्र-शक्ति और वैश्य-शक्ति के सम्मिलित महाप्रवाह से तमाम देशों को प्लावित कर रहा है और हीनवीर्य लुप्तैश्वर्य प्रभावित हतचेतन जनसमूह की दृष्टि में अपने ही सब्जबाग का नजारा पेश करता हुआ, उन्हें बहकाकर कहीं-का-कहीं लक्ष्यभ्रष्ट करता जा रहा है, जिस समय संसार की तमाम शक्तियाँ पूर्वोक्त इन्द्रजाल से परास्त, मरीचिका-मुग्ध मृग की तरह, अपनी तृष्णा निवृत्ति के लिए, उसी मरुभूमि की चमकती हुई उष्ण ज्वाला के पीछे-पीछे, अपने अस्तित्व का ज्ञान खोकर, हैरान दौड़ती चली जा रही हैं, जिस समय भारतवर्ष में सौभाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश पश्चिमी चश्मे का ही रिवाज समाज की हर सूरत को देखने के लिए लोग कायम कर रहे हैं, मानो तमाम संसार अपनी चहल-पहल से दूसरों की आँखों में अपनी सजीवता का नक्शा खींच देने के लिए उतावला हो रहा है, कितने ही 'वाद' पृथ्वी की छाती पर विवाद विप्लव के चिह्न अंकित करते जा रहे हैं, भारतवर्ष की पावन-भूमि पर श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव इन इतनी शक्तियों के बीच में निस्सन्देह अपना एक अपूर्व महत्त्व रखता है।

जिस किसी पहलू से देखिए, जिस किसी वाद को उठाइए, संसार की जिस किसी उलझन को लीजिए, भारत की धीर मीमांसा के सत्य आसन पर प्रतिष्ठित श्रीरामकृष्ण के ही दर्शन होंगे। यह एक अत्युक्ति या केवल कल्पना नहीं, प्रत्युत सत्य और महासत्य है जैसे श्रीरामकृष्ण को देखकर भारतवर्ष ने संसार के 'बहुधावदन्ति' वाले सद्विप्रों की आँखों में एक निरंजन अक्षय प्रकाश भर दिया हो।

मैं किसी को विश्वास करने के लिए नहीं कहता, सूक्ष्म विवेचक विचार करें, सोचें, किसी 'वाद' की छान-बीन करें। उसे उच्चातिउच्च भूमि पर लेते चलें, जहाँ से उस 'वाद' की भूमि समाप्त हो जायगी, भारत के श्रीरामकृष्ण की अनुभूतियाँ उसकी अपूर्णता से बहुत दूर, यथार्थ निर्णय के स्थान पर विवेक को पहुँचा देंगी।

उदाहरणार्थ विज्ञान को लीजिए, जिसका आजकल संसार पर सबसे बड़ा प्रभाव है। आजकल वैज्ञानिकों की मण्डली में सबसे दुरूह प्रश्न यह हो रहा है कि परमाणुओं के संघात से जो शक्ति पैदा होती है उसका नियामक कौन है? यह योरप के विज्ञान का अन्तिम सोपान और भारतवर्ष के विज्ञान की पहली सीढ़ी है। जड़ और चेतन के बीच चक्कर काटनेवाले को इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। रामायण में इस वैज्ञानिक प्रश्न का उत्तर दे दिया गया है—हर एक धर्म-शास्त्र में मिलता है—

'जो चेतन को जड़ करै जड़हिं करै चैतन्य'—ब्राह्मणों के प्रतिदिन के पाठवाले गायत्री-मन्त्र में भी इसका उत्तर है—भूर्भुवः स्वः। वेद मन्त्रों के द्रष्टा, समाधिमग्न, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान श्रीरामकृष्ण इस उलझन का उत्तर अपनी मौन समाधि द्वारा देते हैं। कितना आश्चर्य; शब्द एक भी नहीं, किन्तु उत्तर कितना जबरदस्त, कितना प्रभावशाली! उसी पूर्ण ज्ञान की अवस्था में पहुँचकर उत्तर दिया कि नियामक यह है।

सत्य-विज्ञानवादी भारतवर्ष की तमाम क्रियाएँ इसी लक्ष्य को स्थिर रखकर हुई हैं, होती हैं और होंगी। जब यह महाज्ञान-लक्ष्य स्थिर किया जाता है, मनुष्यों के समुदाय को तभी समाज में रहने का अधिकारी समझना चाहिए। सम् पूर्वक अज् धातु का यथार्थ अर्थ अपनी सम्यक् गतिशीलता—जड़ और चेतन का पूर्वोक्त वैज्ञानिक रीति से मिश्रित प्रवाह—तभी सार्थक होगा जब प्रवाह ब्रह्म की ओर हो। और चूँकि ब्रह्म निर्मल है, इसलिए समाज का ध्येय भी वही होना चाहिए और कर्म उसी निर्मलता से सम्बन्ध रखनेवाले। यहाँ साफ जाहिर है कि भारतवर्ष के मनुष्य कितने बड़े विज्ञानवादी थे, और श्रीरामकृष्ण इस लक्ष्य-भ्रष्ट युग के कितने बड़े विज्ञानविद्।

आजकल वैज्ञानिक चमत्कार से आकर्षित मनुष्य दीपक-पतंग की तरह मुग्ध उसी ओर धावमान हो रहे हैं। भारतवर्ष की भी यही हालत है। अवश्य क्षुद्र और दास्यान्ध जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा इस तरह की सक्रियता अच्छी है—किसी प्रकाश की ओर दौड़ना अच्छा है परन्तु कभी यहाँ के लोगों के लिए यह आसुरी क्रिया समझी जाती थी। तिलिस्म खड़ा करनेवाला मय यहाँ दानव की पदवी को प्राप्त था। इतनी निम्न भूमि में श्रीरामकृष्ण कभी आये ही नहीं, वे कभी भी अविद्या के राज्य को नहीं देख सके। उन्होंने यौगिक विभूतिवाद का सर्वथा वर्जन किया है। चमत्कार का अहंकार उनमें न था। जब वे बोलने-बतलाने की दुनिया में रहते थे, तब विद्या का आश्रय लेकर, जिससे कभी जनसमूह को नुकसान नहीं पहुँच सकता। आजकल के विभूतिवादवाले वैज्ञानिक युग के अन्ध विज्ञानवेत्ताओं से संसार का वास्तव में उपकार हो रहा है या अपकार, विगत महासमर से लेकर आज तक का सैनिक संगठन इसका उदाहरण है। साधारण ज्ञानवाले साम्यवादी, मजदूर दल आदि की जठर ज्वाला का कारण यह विज्ञान ही है—ये मशीनें, ये कल-कारखाने ही हैं जहाँ एक के पेट में करोड़ों मनुष्यों का अन्न चला जाता है और उस एक के ऐश्वर्य का ही इन्द्रजाल उन पर अनेकों को मुग्ध और अन्ध करता जा रहा है, प्रतिद्वन्द्विता में पड़कर वे उसी असुर उपाय का अवलम्ब करना श्रेष्ठ समझ रहे हैं। आजकल संसार के जातीय संघ से सैनिक संख्या घटाने की जो आवाज उठ रही है, उस थोड़ी-सी विद्या-विभूति में श्रीरामकृष्ण की अपार विद्या सम्मिलित नहीं, यह कहना एक वैज्ञानिक विवेचक के लिए मूर्खता ही होगी; कारण, उस तरह से फिर विद्या का और अविद्या का व्यापक विचार न रह जायगा। श्रीरामकृष्ण की साधना संसार की अविद्या से महा-संग्राम और उस पर विजय थी; इतना ही नहीं, विद्याशक्ति को भी पार कर निष्क्रिय पूर्ण चेतन समाधि भूमि पर वे पहुँचे थे। वास्तव में वे भारतवर्ष की आत्मा थे—ब्रह्मोण तेनैव गतं स्वरूपे।

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द के द्वारा संसार को श्रीरामकृष्ण ने अपना सन्देश दिया और यह विद्याशक्ति का कितना बड़ा इन्द्रजाल एकाएक संसार पर से गुजर गया कि मनन करने पर अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। विद्या वेदान्तमूर्ति श्रीमत् स्वामीजी महाराज की संसार पर विजय भारत की विजय है। निरस्त्र का रण-कौशल किस तरह का, कितना प्रभावशाली, कितनी गहरी चोट करनेवाला किन्तु कितना मुलायम होता है। लाखों बार पुनरुक्तियाँ हो चुकी हैं। इस उदाहरण से भी सिद्ध होता है कि श्रीरामकृष्ण संसार के थे—संसार की विद्याशक्ति के थे—संसार की अविद्याशक्ति के विजयी शत्रु थे।

इससे मनोवैज्ञानिक उदाहरण और भी विशद है, यह तो बाह्य उदाहरण हुआ। आजकल के वीक्षणयन्त्र में जितनी ही शक्ति भरी जाती है, वस्तु उतनी ही

बड़ी दिखलायी पड़ती है। इससे वस्तु के भीतर की अनेक क्रियाएँ, अनेक रहस्य विज्ञानवेत्ताओं को मालूम हो जाते हैं। परन्तु यह निश्चय अभी तक नहीं हो सका कि जितनी शक्ति वीक्षणयन्त्र में अब तक भरी गयी है, शक्ति की हद वहीं तक है या और अधिक। क्रमशः शक्ति की हद बढ़ायी जा रही है। श्रीरामकृष्ण ने देखा था—पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। अपनी अति माननीय साधना की शक्ति से उन्होंने अपने अन्दर पूर्णशक्ति को ग्रहण किया और उसके प्रकाश में अपने अन्दर पूर्णता देखी और फिर बाहर भी वैसा ही दर्शन किया। इससे सिद्ध है कि आजकल के वैज्ञानिकों के वीक्षणयन्त्र से जो दर्शन होता है वह वस्तु के सम्बन्ध का आंशिक सत्य-दर्शन है, पूर्ण सत्य-दर्शन नहीं, जैसे किसी बालक को अपने जिले का नक्शा मालूम हो, पर संसार का या सौर-ब्रह्माण्ड का नहीं। इस पूर्ण-दर्शन के कारण संसार का अपूर्ण-दर्शन ज्ञान रखनेवाली शक्तियों पर श्रीरामकृष्ण या उनके आत्मज श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का विजय प्राप्त करना कोई अस्वाभाविक या आश्चर्यकर प्रसंग नहीं, और इस पूर्ण-दर्शन के कारण वे सृष्टि की व्याप्ति में मिलकर तदात्म हो चुके थे, यह भी मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य है। इस तरह अनात्म-भाववाले अनामी पर आत्म-भाववाले आर्य की विजय होनी ही थी। सर्वव्यापक भाव पर प्रहार नहीं हो सकता। होने पर वह प्रहार करनेवाले के ही पास लौटकर जायगा। क्योंकि प्रहार दो अपूर्णों में ही सम्भव है। यदि एक पूर्ण है और दूसरा अपूर्ण तो दुर्बलताजन्य अपूर्ण का प्रहार उस अपूर्ण का ही नाश साधन करेगा। रामायण में एक उदाहरण बड़ा रोचक है। भरतजी भगवान श्रीरामचन्द्रजी से मिलने चित्रकूट जा रहे हैं। इन्द्र को डर हुआ कि श्रीरामचन्द्रजी कहीं भाई के स्नेह में फँसकर लौट न आवें, तो असुरों का नाश रुक जाय, और हम न घर के रहें, न घाट के। यह सोचकर उन्होंने माया फैलाने का इरादा किया। यह देखकर उनके गुरु बृहस्पतिजी ने उन्हें शिक्षा दी, 'ऐसा हरगिज न करो, नहीं तो वह माया तुम्हारे ही ऊपर लौट पड़ेगी। भरत श्रीरामचन्द्रजी के शुद्ध भक्त हैं। विशुद्ध मन पर माया काम नहीं कर सकती।' इस मायिक संसार के सब मनों के ऊपर शुद्ध मन का स्थान है, फिर समाधिमग्न सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीरामकृष्ण के मन का निर्णय ही क्या और उनके मन को धारण करनेवाले महाधार श्रीमत् स्वामीजी के विषय में ही क्या शंका? महावीरजी श्रीरामचन्द्रजी के मन को जानते थे, उनके स्वरूप को पहचानते थे, इसलिए कहीं भी उनकी पराजय नहीं हुई।

इसी पूर्ण को लक्ष्य करके भगवान बुद्ध ने कहा है कि विरोध का जवाब विरोध से नहीं देना चाहिए। इसी पूर्ण को समझकर रामायण में कहा है—'राम विरोध न उबरिहहु शरण विष्णु-अज ईश।' इस तरह इस युग के आचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण से स्पर्द्धा या प्रतिद्वन्दिता करके किसी का निस्तार न होगा।

यह शक्ति स्पर्द्धा या प्रतिद्वन्दिता से जीती जानेवाली नहीं, क्योंकि यह पूर्ण-शक्ति है। यहाँ खण्ड-शक्तियों का प्रतिघात नष्ट होगा ही। इस स्वरूप में भारत के युगावतार ने आकर लीला की है, बीसवीं सदी के विद्यास्पर्द्धी मनुष्यों का खण्डज्ञान नष्ट कर उन्हें पूर्णामृत पान कराने के लिए। अवतारों का एक तमाशा बड़ा ही विचित्र है। यों तो अपने घर बैठकर अज्ञान की दशा में रहनेवाले परमात्मा के नाम गालियों के पुलिन्दे-के-पुलिन्दे मानसिक डाक द्वारा पार्सल किया ही करते हैं, इसमें कोई बड़ी विशेषता नहीं। कुछ दिन हुए फुटबाल खेलते समय किसी व्यक्ति के दाहिने घुटने में सख्त चोट आयी तो दर्द की हालत में सोचते-

सोचते वह परमात्मा तक पहुँचा और अकारण अपने को भूतों के फेर में डाल रखने के लिए सैकड़ों गालियाँ सुनायीं। दर्द से जान निकल रही थी, उधर लड़की अविवाहिता, उसके सहारे को कोई दूसरा नहीं, फिर आप सोच सकते हैं कि ऐसी हालत में परमात्मा उसे मिलते तो वह उनकी कैसी खातिर करता? इस तरह की घटनाओं को जाने दीजिए। एक बार श्रीरामकृष्ण को अपने बेताब दिल का हाल सुनाइए, आपको उनकी शक्ति, उनकी कृपा का परिचय मिल जायगा। अवश्य मैं यहाँ रामकृष्ण का व्यापक अर्थ ले रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण की साधना से उनका जो अर्थ निकलता है, उन्होंने कालीजी की, श्रीकृष्णजी की, श्रीरामजी की, ईसामसीह की और मुहम्मद की उपासनाएँ पृथक्-पृथक् प्रचलित रीतियों से करके उन सबके दर्शन किये थे और उसी स्वरूप में लीन होकर वही हो भी गये थे। 'जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई' की सार्थकता थे। अतएव संसार के प्रचलित सब धर्मों के स्वरूप में श्रीरामकृष्ण विद्यमान हैं और यही इस युग के युगावतार की विशेषता है; और इसी की इस बीसवीं सदी के व्यापक भावों के सामने भारतवर्ष को आवश्यकता थी, जिसे उन्होंने पूर्ण किया। इस तरह मैं भक्त के अभीप्सित इष्ट में ही श्रीरामकृष्ण की सत्ता स्वीकार करता हूँ, जिस सत्ता से साधना द्वारा वे मिल चुके हैं।

आजकल भारतवर्ष की राष्ट्रीय मुक्ति पर जो आवाजें उठ रही हैं और जो अनेकानेक उपाय सोचे जा रहे हैं, वहाँ भी मीमांसा के रूप से श्रीरामकृष्ण और उनकी अपार साधना ही काम करती हैं। जिस देश में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-पारसीजैन-सिक्ख आदि अनेक धर्मावलम्बियों का जमघट हो, वहाँ दूसरे देशों की देखादेखी धर्म को गौण रूप देकर राष्ट्र के मिलाप के लिए कागजी मिलाप काम न देगा। अनुकरण और चीज है और प्राण और चीज। दूसरे देशों के प्राण स्वार्थ से मिले हुए हैं; वे अपने स्वार्थ की बारीकियों के सिवा और कुछ सोच नहीं सकते। यहाँ प्राण धर्म है। यहाँ की शिक्षा बिल्कुल भिन्न है। यहाँ राजनीति वही मान्य है, जो धर्म से सम्बन्ध रखती हो। पराधीनता के कारण जिस राजनीति का दबाव जनता पर डाला गया है, वह उसके प्राणों को मान्य नहीं, इसलिए वह आज से लेकर कालान्तर के अन्दर तक भारतवर्ष के हृदय से सियाह दाग की तरह जरूर मिट जायगा। तत्त्व की आत्मा यही कहती है। और इसीलिए कहना पड़ता है, इस राष्ट्रीय मैत्री के लिए स्वार्थहीन प्रेम ही एकमात्र सूत्र है और इसी के सूत्राधार हैं आजीवन तपस्वी दीप्तिवान आलार्कद्युति भगवान श्रीरामकृष्ण। इनकी ईसु, मुहम्मद, राम, कृष्ण और काली की अचल साधना का कारण ही यही है। इसीलिए वे पथप्रदर्शक और युगावतार के आसन पर आये हैं। नहीं तो मुक्ति तो उनकी एक ही साधना से हो चुकी थी, जिसके लिए कहा है कि करोड़ों जन्म लग जाते हैं। श्रीरामकृष्ण की साधना-लब्ध वेदान्त भूमि की यह निश्छल मैत्री ही भारत के उद्धार का और संसार के साथ समभाव से मिलने का एकमात्र मार्ग है। अन्यथा ऊँच-नीच का भाव जरूर रहेगा। जेता और विजित का विरोध जरूर रहेगा। गोरे और काले का सवाल जरूर रहेगा। यह उलझन कभी बुद्धि की स्पर्द्धा से दूर न होगी।

[‘समन्वय’, मासिक, कलकत्ता, सौर आश्विन, संवत् 1985 (वि.) (सितम्बर-अक्तूबर, 1928)। **संग्रह** में संकलित]

# वेदान्त केशरी स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्दजी भारतवर्ष की उसी तरह की सन्दिग्ध परिस्थिति में आये थे, जिस तरह की परिस्थिति में 'विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'धर्मसंस्थापनार्थाय' महापुरुष आते हैं। यज्ञों की धार्मिक क्रियाओं में बलि की आड़ में अधर्माचार होते देख, जिस तरह भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्धों के अहिंसा धर्म के लुप्त-प्राय काल में सिद्धवेदान्त केशरी भगवान शंकर की जम्बुकों के विपिन में सिंहगर्जना सुनायी दी, वेदान्त के विजय-घोष से एक बार फिर धर्म-जीवन भारतवर्ष की निष्क्रिय-शिराओं में 'एकमेवाद्वितीयम्' की अखण्ड ज्ञान-ज्योति मृत-संजीवनी संचारित हो गयी। पतझड़ के बाद जाति के जीवन-तरु नवीन वसन्त में नये कोमल किसलयों, पुष्पों और फलों से लदकर लहलहाने लगे, उन पर धर्म के सूर्य की सहस्र-सहस्र किरणों की धारा-प्रपात नयी चमक, नया सौन्दर्य, नया जीवन, नया आनन्द, नयी चहल-पहल दिखायी देने लगी, सहस्र-सहस्र शुक-पिक-कपोत-खंजनों का मंजुल मधुर गुंजार और अरण्यचारी कुरंग, शशादि का सानन्द तथा निर्भय नृत्य-विहार होने लगा। तत्पश्चात् इस अखण्ड ज्ञान-राशि को खण्डशः कर सृष्टि में आनन्द प्राप्त करने की जो लिप्सा पैदा हुई—जिसके कारण 'अद्वितीयम्' का अर्थ 'समभ्यधिकरहितम्' किया गया, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'जिहि समान अतिशय नहिं कोई' हुआ है, जिसमें जीव-जगत का अस्तित्व भी माना गया है और साथ ही उस परमात्मा को सबसे बड़ा भी कहा गया है, विशिष्टाद्वैत के आचार्य सशरीर रसभोक्ता भगवान रामानुजाचार्य का अवतार हुआ, जिनकी वाणी आज तक भारतवर्ष के अधिकांश भाग में फैली हुई है, अधिकांश मनुष्यों को, कुछ निम्न भूमि से उठनेवाली होने के कारण, शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-लुब्ध मनुष्यों को, विशेष पसन्द आयी। फल यह हुआ कि सस्त्रीक इस एक ही धर्म को श्रेष्ठ मानकर पालन करनेवाले भारतवर्ष के लोग क्रमशः चरित्र-दुर्बल होते गये और अन्त तक धर्म के नाम पर तरह-तरह के पापाचारों को फिर से सिर उठाने का मौका मिला। द्वापर के बाद से ही देश का चारित्रिक पतन होना शुरू हो गया था। इसलिए भगवान शंकर का धर्म जैसे बौद्धों के विनाश के लिए ही भारत में आया रहा हो—उसे उसी चारित्रिक दुर्बलता के कारण भारत के लोग अधिक काल तक धारण नहीं कर सके। उन्हें श्री रामानुजाचार्य के धर्म की आवश्यकता पड़ी। फिर इस्लाम की जो आग भड़की, देखते-देखते आधा गोलार्द्ध उस तलवार की चमक से काँप गया, उसके झण्डे के नीचे आ गया। यह काल भारतवर्ष के इतिहास के महान त्याग—करोड़ों नर-मेधों का काल है, लाखों सीता-सावित्रियों के जौहर का ज़माना है, कबीर, सूर, तुलसी, श्रीचैतन्य, श्रीसमर्थ रामदास, गुरु गोविन्द आदि के सुदृढ़ धर्म धारण का युग है, ब्राह्मणों और क्षत्रियों का शिखा-रक्षा के लिए हाथियों के पैरों-तले कुचल जाने का युग, दीन इस्लाम के दुतरफा वारों से लड़कर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' के उज्ज्वल उदाहरणों का, अपनी भविष्य-सन्तानों के ज्ञान-नेत्रोन्मीलन का काल। क्रमशः इस्लाम के उस महान आघात की प्रतिक्रिया शुरू हो गयी—एकच्छत्र मोगल सम्राट कुछ ही जिलों के मालिक रह गये, बादशाहत नव्वाबों के हाथों बँट गयी। हिन्दू राज्य की तरह यह महान संगठन भी बिगड़ गया। अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और डचों की आमद भी हो चुकी थी।

इस्लामी सभ्यता के पहले यहूदी और ग्रीक-सभ्यता का मिश्रित प्रवाह भी भारतवर्ष में आ चुका था। मानो संसार की तमाम शक्तियों से मुकाबला करने का एक गहन प्रश्न भारतवर्ष के सामने हल करने के लिए पेश हुआ हो। अंग्रेजी बादशाहत के बाद शिक्षा-प्रसार के साथ-ही-साथ, कालेज के प्रोफेसर ब्राह्मण-अंग्रेजों की शिक्षा और पादरियों के धर्म-प्रचार के अनुसार शिक्षित युवकों की विचार-धारा ने पलटा खाया। पहले की तरह यह तलवार की लड़ाई नहीं रही। बुद्धि की लड़ाई, विचारों की स्पर्द्धा होने लगी। शिक्षितों में घोर नास्तिकता का प्रसार हो चला। लोग धर्म छोड़ने लगे। शिक्षा की विस्तृति अंग्रेजों की तरफ से जिस तरह स्वच्छन्द और उदार थी, हिन्दुओं में जातिजन्य अनुदारता और संकीर्णता भी उसी तरह प्रबल हो रही थी। पण्डितों के शास्त्र-ज्ञान के साथ अंग्रेजीदाँ युवकों का विरोधी तर्क जोर पकड़ता जा रहा था, शिक्षा की नवीन धारा प्राचीन शिक्षा के प्रतिकूल बह चली थी, पाण्डित्य का अहंकार क्रमशः अन्धकार फैलाता जा रहा था। ऐसे समय भगवान श्रीरामकृष्ण अपनी अतिमानवीय साधनाओं द्वारा अनेक पन्थों से चलकर सिद्ध हो चुके थे और अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) की प्रतीक्षा में बैठे हुए कभी रो-रोकर एकान्त में उच्च स्वर से पुकारते, कभी माता जगद्धात्री से तकाजे के तौर पर कहते, "माता, अभी भी तो वह न आया।" उस समय नरेन्द्र का विद्यार्थी जीवन था। वह संसार-विजयी महावीर अपनी किशोर-कल्पनाओं में भूला हुआ, रह-रहकर आग की लपट की तरह अपने मार्जित संस्कारों से जल उठता था।

भगवान शंकर की जीवन-घटनाओं से स्वामी विवेकानन्दजी की जीवन घटनाओं का बहुत कुछ साम्य मिलता है। नरेन्द्रनाथ भी शिव के अंश से एक बृहत कार्य के सम्पादन के लिए आये थे। 12 जनवरी 1863 ई. को उनकी माता श्री भुवनेश्वरी देवी को स्वप्न में शिव की ऐसी ही आज्ञा मिली थी। नरेन्द्रनाथ के पिता विश्वनाथदत्त महाशय कलकत्ते के शिमला मुहल्ले के रहनेवाले एक नामी वकील थे। इनका आलीशान मकान इस मुहल्ले में अब भी मौजूद है। ये जिस तरह पैदा करते थे, उसी तरह शाहखर्च भी थे। इसलिए हमेशा ले-देकर बराबर रहते थे। इनका देहान्त होने पर युवक नरेन्द्रनाथ पर खर्च की जबरदस्त चिन्ता आ पड़ी थी और उस समय इनको दुनिया के भयानक भँवर में पड़ जाना पड़ा था। तब तक ये श्रीरामकृष्ण से मिल चुके थे और इनकी हालत देखकर श्रीरामकृष्ण को भी चिन्ता हो गयी थी कि कहीं ऐसा न हो कि महामाया इन्हें भुला दें, तो संसार का एक महान कार्य रुका रह जाय। इस विचार से ये श्रीकाली माता से इनके अर्थ-कष्ट की निवृत्ति के लिए प्रार्थना किया करते थे। एक बार इन्होंने कहा भी था—माता कहती है कि मोटा वस्त्र और भोजन मिलता रहेगा। इससे ज्यादा माता की राय नहीं होती। उधर नरेन्द्रनाथ की और हालत थी। धर्म-दर्शन आदि की चर्चा में भूले हुए थे, बल्कि नरेन्द्रनाथ-जैसे कट्टर तार्किक को चिढ़-सी हो रही थी। एक बार इन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा भी था कि अब मैं नास्तिक-दर्शन पढ़ रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण ने उसी तरह शान्त स्वर से उत्तर दिया—नास्तिक-दर्शन से भी वे मिलते हैं। संसार का जो कुछ थोड़ा-सा भोग था, उसे समाप्त कर उन्हें श्री गुरु की ही शरण में जाना पड़ा, जिस बात की अग्र-सूचना परमहंस देव कितनी ही बार दे चुके थे। श्रीरामकृष्ण कह चुके थे कि इसके द्वारा कभी योषित-संग न होगा। स्वामीजी आजीवन तपस्वी, कुमार-ब्रह्मचारी ही रहे।

नरेन्द्रनाथ के भविष्य-चिह्न उनकी बाल्य-क्रीड़ाओं में जगह-जगह जाहिर

होते हैं। एक बार किसी शरारत की वजह से सज़ा की हालत में थे। एक कोठरी में, जो सदर दरवाजे की तरफ थी, बन्द कर दिये गये थे। उसी वक्त एक भिक्षु आया, इन्हें देखकर कपड़ा माँग बैठा, इन्होंने तुरन्त एक धोती दे दी।

भाई, बहन या घर के और किसी से तकरार होती, तो आप झट नाबदान की मोरी के पास खड़े हो जाते, प्रतिपक्षी को देख तरह-तरह से मुँह बनाते और उसे बढ़ते देखकर कीच उछालने को तैयार हो जाते, इतने से उसका हौसला पस्त हो जाता, आप विजय-गर्व से फूलकर टहलने लगते।

इनके पिता के बहुत-से मुवक्किल थे। उनमें मुसलमान भी थे। हर जाति का अलग-अलग हुक्का टँगा रहता था। मुसलमानों की फर्शी थी। इन्हें अक्सर खँबीरा पीने के लिए दिया जाता था। इसकी खुशबू बड़ी विचित्र होती थी। पंचवर्षीय बालक नरेन्द्रनाथ का हुक्का पीने के लिए जी ललचता था। पर साथ ही उन्होंने सुन रखा था कि जो मुसलमानों का जूठा खा लेते हैं, उनके सिर पर आसमान टूट पड़ता है। एक दिन इन्होंने सोचा, ज़रा देखना है कि कैसे आसमान टूटता है। कमरे में कोई न था। एक मुसलमान हाल ही में हुक्का पीकर बाहर गया था और लोग इधर-उधर चले गये थे। मौका देखकर आपने आजमाइश की—पीने लगे। कड़ियों की तरफ देखते जाते थे कि कहीं कोई टूटती तो नहीं। एकाएक उनके पिताजी आ गये। वे उदार और काफी समझदार थे, बालक नरेन्द्र पर बेबुनियादी शासन या दबाव डालना उन्होंने उचित नहीं समझा।

एक बार कलकत्ते में लड़ाई का जहाज आया। नरेन्द्रनाथ को भी देखने की इच्छा हुई और कई लड़के इनके साथी थे। पर नियम यह था कि पहले मंज़ूरी लेनी पड़ती थी, तब जहाज पर चढ़ने दिया जाता था। इसके लिए एक आफिस भी खोल दिया गया था। बालक नरेन्द्रनाथ अपनी अर्जी लेकर पहुँचे पर दरवाजे पर ही रोक दिये गये, दरबान ने इनकी थोड़ी-सी उम्र—नन्हा-सा शरीर देख-कर, बहुत चिढ़ाया, बहुत मुँह बनाया; कहा, "लो, आप भी चले हैं साहब से मंज़ूरी लेने, आप भी लड़ाई का जहाज देखेंगे, अपनी सूरत नहीं देखते।" उसने उन्हें न जाने दिया। नरेन्द्रनाथ भी झेंप जानेवाले लड़के न थे। जब सीधे सीढ़ियों न जाने पाये, तब उस इमारत की एक बगल में जाकर पानीवाला नल जो ऊपर से जमीन तक लगा रहता है, पकड़कर अर्जी को धोती की मुर्री में खोंसकर दुतल्ले पर चढ़ गये और सबसे पहले ही साहब के सामने पेश हो गये। इन्हें देखकर साहब बड़ा खुश हुआ। इनसे कुछ सवाल किये, जवाब भी ये तड़ातड़ देते गये; इनकी उस टूटी-फूटी अंग्रेजी से साहब बड़ा प्रसन्न हुआ और मंज़ूरी दे दी। अर्जी पर साहब के दस्तखत हो जाने पर ये बड़े गर्व से फिर सीढ़ियों से उतरे। इन्हें देखकर दरबान दंग हो गया। ये भी साहब के दस्तखत दरबान की नजर करते हुए कुछ कदम वहाँ के बड़े गर्व से चले और फिर अपने तमाम साथियों को लाकर लड़ाई का जहाज दिखाया।

इस तरह की साहसिकता के कार्यों से इनका तमाम बचपन भरा हुआ है। जब कालेज में पढ़ते थे, तब इनके किसी प्रोफेसर ने कहा था, 'नरेन्द्रनाथ अपने जीवन में कोई जबरदस्त निशान छोड़ जावेगा।' इसी तरह जब पिता का देहान्त हो जाने पर गृहस्थी के संचालन के लिए इन्हें अदालत जाना पड़ा था, (उस समय ये बी. ए. हो चुके थे) इनकी बहस देख-सुनकर हाकिम ने कहा था, 'तुम बहुत अच्छे वकील होगे'।

श्रीरामकृष्ण तो इन्हें देखते ही पहचान गये थे कि साक्षात् शिव उनके महान

कार्य के संचालन के लिए आये हुए हैं। इन्हें देखते ही उन्होंने कहा था, 'बेटा, संसारियों से बातचीत करते-करते मेरे ओठों पर फफोले पड़ गये—तू अब तक कहाँ रहा?' नरेन्द्रनाथ पर उस समय भौतिक शिक्षा का पूरा प्रभाव था, उन्होंने सोचा, साधु उन पर कोई जादू (Hypnotism) कर रहा है। इस तरह दो-तीन बार ख्याल करके वे श्रीरामकृष्ण के पास गये और हर दफा उन्हें पराजित होना पड़ा। एक बार तो उन्हें श्रीरामकृष्ण के स्पर्श से समाधि ही हो गयी थी, इन्हें उसकी पहली हालत में मालूम हुआ, कि घर-द्वार, बाग-बगीचा सब घूम रहे हैं; इन्हें डर लगा, ये चिल्लाये, "अजी मेरे माँ है, भाई, बहिन हैं।" श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा था, "अच्छा अभी नहीं, फिर होगा।" श्रीरामकृष्ण अपने समय के कलकत्ते के बड़े-से-बड़े आदमियों से मिल चुके थे, वे अपनी शक्ति तजवीज चुके थे। वे अक्सर कहा करते, "नरेन्द्र से बड़े लक्षणोंवाला आदमी नहीं मिला। नरेन्द्र सच्चिदानन्द की सतहवाला है, मेरा ससुरघर है। केशव की रोशनी दीये की रोशनी है और नरेन्द्र चमकता हुआ सूरज। यह चाहेगा तो संसार हिला देगा।"

गुरु शिष्य के अद्भुत आकर्षण से श्रीरामकृष्ण के अन्तिम दिनों में नरेन्द्रनाथ में विचित्र भावनाएँ होने लगीं। कुछ अच्छा ही न लगता, उनके जैसे विशाल पाठक के दिल में पुस्तकों से उच्चाटन पैदा हो गया। एक खिंचाव अनुभव करने लगे, जो उन्हें उनके गुरु के पास चलने के लिए विवश कर रहा था। इन दिनों नरेन्द्रनाथ की एक अजीब हालत थी। वे किसी चीज पर विशेष विश्वास कुछ न करते थे। किसी सम्प्रदाय की बला इनमें थी ही नहीं। इसलिए इधर कुछ दिनों से ब्राह्मसमाज में नाम लिखा लिया था, वहीं शान्ति पाने के विचार से ब्रह्मविषयक गीत आदि गाया करते थे। एक बार नाव पर महर्षि देवेन्द्रनाथ के कुछ आदमियों के साथ ये भी गये हुए थे। यह जिस समय का जिक्र है, उस समय महर्षि उस पटी नाव के भीतर ध्यान कर रहे थे। एकाएक नरेन्द्रनाथ के दिल में उच्चाटन का भाव आया। इन्होंने सोचा 'ये लोग जो इस तरह आँख-नाक मूँदकर बैठते हैं, ऐसा क्यों?—क्या वास्तव में इन्हें ईश्वर मिले हैं? फिर मुझे क्यों ईश्वर के दर्शन नहीं होते?' यह सब सोच ही रहे थे कि एकाएक दिल में जोश आया, ये छत से उतरकर नाव के भीतर चले गये और महर्षि से पूछा, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" महर्षि ने कहा, "वत्स, तुम्हारी आँखें ऋषियों की-सी हैं।"

नरेन्द्रनाथ निराश हो गये। उनके सवाल का यह जवाब न था। यही सवाल उन्होंने श्रीरामकृष्ण से भी किया था। पर वहाँ उन्हें बड़ा ही गम्भीर उत्तर मिला था। श्रीरामकृष्ण की युक्ति थी, 'हाँ, हमने ईश्वर को देखा है और तुम देखना चाहो तो तुम्हें भी दिखाया जा सकता है।'

श्रीरामकृष्ण के अन्तिम दिनों में नरेन्द्रनाथ ने घर रहना एक तरह से छोड़ ही दिया था। गुरु-शक्ति का पूरा प्रभाव उन पर पड़ चुका था। तब साधना में भी नरेन्द्रनाथ बहुत आगे बढ़ गये थे। इन्होंने श्रीरामकृष्ण की बीमारी की हालत में उनसे पूछा, "क्या इच्छा करने से शरीर रह नहीं सकता?" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "हाँ, रह सकता है।" नरेन्द्रनाथ, "तो कम-से-कम हम लोगों के लिए आप शरीर की रक्षा जरूर कीजिए।" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "जो शरीर श्रीभगवान को दे डाला है, अब किस तरह वह शरीर उनसे माँग लें?" श्रीरामकृष्ण के शरीर-वियोग के समय उनके जो सत्रह नवयुवक शिष्य थे, उनमें पर्याप्त शक्ति-संचार हो गया था। इनमें नरेन्द्रनाथ को ही श्रीरामकृष्ण प्रमुख कर गये थे। उन्होंने किसी को संन्यास की दीक्षा नहीं दी थी। पीछे इन नवयुवक संसार-

त्यागी गुरु-भ्राताओं ने संन्यास की आप-ही-आप दीक्षा ले ली।

इसके बाद बराहनगर और फिर आलमबाजार में मठ की स्थापना कर संन्यास में दीक्षित त्यागी नवयुवक देश और संसार की कल्याण कामना का अमोघ ईश्वरीय कवच धारण करनेवाले, अध्यात्म-शक्ति से एक-एक महावीर प्रगाढ़ तपस्या में निविष्टचित्त हुए। कभी साधारण भोजन श्री गुरुजी महाराज को अर्पण कर पा लेते, कभी केवल चना-चबेना—गंगाजल का भरोसा रहता! जहाँ लोक-लोचनों और जड़ मानवीय बुद्धि की पहुँच नहीं, वहाँ उस अखिल विश्वधात्री, उस भुवन-मन-मोहिनी महामाया की कौन-सी इच्छा छिपी हुई थी, यह कौन कह सकता है? जो बहिर्दृष्टि से बहुत ही साधारण मालूम देता है, उसकी महत्ता अन्तर्दृष्टि से कितनी विशाल और अद्भुत फलदायिनी है, यह कौन कह सकता है? स्वामीजी की साधना की अभिवृद्धि के साथ-ही-साथ देश-पर्यटन और एकान्त-वास की इच्छा भी बलवती हो उठी थी। वे हिन्दुस्तान के भ्रमण का इरादा कर निकल पड़े। इन्हीं दिनों गाजीपुर में रहते समय इन्हें एक अपूर्व दर्शन हुआ। गाजीपुर में गंगा-तट पर पवहारी बाबा नाम के एक अद्भुत राजयोगी रहते थे। स्वामीजी इनकी तपस्या पर मुग्ध हो गये। एक किताब ही आपने इनके नाम से अलग लिखी है। स्वामीजी चाहते थे कि पवहारी बाबा से हठयोग की शिक्षा ग्रहण करें। उस समय इन्हें मालूम न था कि श्रीरामकृष्ण कितनी बड़ी चीज—असली हीरा—इन्हें दे गये हैं। वह essence जिसकी कितनी ही जगह अपने बाद के जीवन में स्वामीजी ने आवृत्ति की है, जिसकी सत्ता को छोड़कर किसी दूसरी सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया। इस दीक्षा-ग्रहण की घटना में स्वामीजी के उदार हृदय का ही चित्र खींचा गया है। जिस दिन स्वामीजी दीक्षा लेनेवाले थे, उसकी पहली रात को स्वप्न देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण चारपाई की बगल में खड़े हुए हैं, आँखें छलछलायी हुई हैं। सुबह स्वामीजी का इरादा पलट गया। पर साथ ही वे सोचने लगे, मुमकिन है, यह मेरे पहले के संस्कार हों, जो श्रीरामकृष्ण के साथ रहने के कारण तैयार हुए हों, निस्सन्देह यह कमजोरी है। ओह! वह कितना दृढ़ वेदान्तनिष्ठ मानव मन था, जिसने अपनी सत्ता पर जोर देकर गुरु-संस्कारों पर भी सन्देह किया। यह सन्देह स्वामीजी के अन्दर आते उनका निश्चय फिर बदल गया—वे फिर दीक्षा लेने के लिए दृढ़ हो गये। पर गजब! उस रात को भी वही दृश्य! इतना गुरु-भाव जिसे उनका मानवीय मन परास्त नहीं कर सका। इस तरह की लड़ाई कई दिनों तक चली। आखिर श्रीरामकृष्ण ने समझा दिया कि हठयोग से बहुत बड़ा लाभ नहीं—शरीर हजार वर्ष भी जिया तो क्या? बार-बार शरीर की ओर मन दोगे श्रीसच्चिदानन्द को छोड़कर? बात स्वामीजी के दिल में बैठ गयी। फिर उन्होंने देखा, पवहारी बाबा की कन्दरा में श्रीरामकृष्ण की तस्वीर टँगी हुई है, वे उसकी अर्चना करते हैं। इस घटना का उल्लेख 'गाई गीत सुनाते तोमाय' नाम की कविता में इस तरह किया है:

छेले खेला करि तव सने,
कभु क्रोध करि तव परे
जेते चाइ दूरे पलाइये;
शियरे दाँड़ाइ तुमि रेते,
निर्वाक आनन,
छल-छल आँखी,
चाह मम मुख पाने।

श्रमनि जे फिरि,
तव पाये धरि,
किन्तु क्षमा नहिं माँगी।
तुमि नाहीं करो रोष।
पुत्र तव,
अन्य के सहिबे प्रगल्भता ?
प्रभु तुमि,
प्राण सखा तुमि मोर।
कभू देखी,
आमि तुमि, तुमि आमि।
वाणी तुमि वीणापाणि कण्ठे मोर,
तरंगे तोमार भेसे जाय नरनारी।

[तुम्हारे साथ बाल-क्रीड़ाएँ करता हूँ, कभी तुम पर क्रोध कर दूर भाग जाना चाहता हूँ; लेकिन तुम सिरहाने खड़े हुए निर्वाक आनन, छलछलायी आँखों से, मेरे मुँह की ओर देखते रहते हो। तत्काल लौटता हूँ, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, परन्तु क्षमा नहीं माँगता। तुम रोष नहीं करते। तुम्हारा पुत्र हूँ, दूसरा कौन यह प्रगल्भता सहेगा ? तुम प्रभु हो, मेरे प्राण-सखा हो। कभी देखता हूँ, तुम मैं हो मैं तुम हूँ। तुम वाणी हो, मेरे कण्ठ में वीणापाणि की तरह। तुम्हारी तरंगों में नर-नारी वह जाते हैं।]

एक बार ये बम्बई प्रान्त में रेल पर थे दूसरे दर्जे में। उसी में लोकमान्य तिलक और उनके कुछ मित्र भी जा रहे थे। इन्हें देखकर लोकमान्य के मित्र अंग्रेजी में बातचीत करने लगे कि इसी तरह देश जहन्नुम जा रहा है—जिसको देखिए, भगवा रँगाये साधु बना घूमता है। इसका कुछ विरोध किये बिना बात-चीत का तार वहीं टूट जाता। लोकमान्य ने संन्यासियों का पक्ष ग्रहण किया। अवश्य उस समय किसी को नहीं मालूम था कि यह संन्यासी भी अंग्रेजी जानता है। कुछ देर तक इसी तरह वाद-विवाद चलता रहा। इसके बाद मौका देखकर स्वामी विवेकानन्दजी को भी कुछ बोलना पड़ा। वह धाराप्रवाह अंग्रेजी, उस महान वाग्मी की अंग्रेजी जिसके मुकाबले का वक्ता शायद ही दुनिया ने दूसरा पैदा किया हो—लोग मन्त्रमुग्ध-से हो गये। बड़े शर्माये। लोकमान्य ने स्वामीजी को अपने मकान में निमन्त्रित किया।

हिमालय-प्रदेश, उत्तर-पश्चिम, राजपूताना, अलवर, खंत्री आदि रजवाड़ों में घूमकर स्वामीजी क्रमशः दक्षिण की ओर बढ़ने लगे। इस समय इनके जिन गुरुभाइयों से इनकी मुलाकात हुई थी, वे लोग बतलाते हैं कि इनके मुखमण्डल पर तपस्या की अद्भुत ज्योति आ गयी थी, कान्ति बड़ी ही दिव्य हो गयी थी। इस समय अमेरिका में जो सर्व-धर्म-सम्मेलन होनेवाला था, उसकी खबर स्वामीजी को रजवाड़ों में रहते समय लग चुकी थी और कुछ राजकर्मचारियों के कहने से इनकी इच्छा भी वहाँ जाने की हो रही थी, पर साधन नहीं मिल रहा था और ये अपने विचारानुकूल वायुमण्डल से ही साधनों की आशा रखे हुए थे। इनकी यह इच्छा मद्रास के कुछ यथार्थ उन्नतिकामी नवयुवक विद्यार्थियों और मित्रों से पूरी हुई।

घूमते-फिरते हुए स्वामीजी मद्रास पहुँचे और उन्हें सहायता का क्षेत्र मिला। उस समय धर्म-महासभा के बहुत ज्यादा दिन नहीं रह गये थे। स्वामीजी को वहाँ समय से पहले ही जाना था। कारण निमन्त्रण था ही नहीं। कुछ पहले से जाने पर

ही वहाँ वे अपने लिए जगह कर सकते थे। ऐसा ही हुआ। बम्बई से जहाज द्वारा जापान की तरफ से होकर स्वामीजी अमेरिका रवाना हो गये। किताबों द्वारा पहले से सबकुछ समझे हुए रहने पर भी अंग्रेजी सभ्यता का प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान इन्हें नहीं था, इसलिए बहुत जगह इन्हें धोखा खाना पड़ा, पर सँभलते गये। महासभा के पहिले अमेरिका में इनके कई भाषण हुए जिनसे इनकी ख्याति काफी हो गयी। एक बार प्रोफेसर राइट साहब ने महासभा के निर्वाचन कमेटी के एक प्रमुख को इनका परिचय-पत्र लिखते हुए लिखा था—यह मनुष्य हमारे विश्व-विद्यालय के सम्मिलित सब प्रोफेसरों की तुलना में भी अधिक विद्वान है। स्वामी-जी इनसे मिलने गये कि महासभा में इन्हें भी स्थान मिले, बोलने का मौका दिया जाय। पर वह परिचय-पत्र कहीं खो गया। भूख के मारे परेशान होकर भीख माँगने लगे पर जहाँ कहीं खड़े हुए, दरबानों ने हटा दिया। दूर रास्ते पर जाकर शिथिल हो गये। एकाएक देखते हैं कि एक महिला बड़े चाव से इनकी तरफ बढ़ रही है। इस महिला-रत्न की दृष्टि महल के ऊपर से दूर खड़े स्वामीजी पर पड़ी थी। डबल्यू हेल महाशया एक करोड़पति अमेरिकन की पत्नी थीं। वह स्वामीजी को अपने महल ले गयीं और वहाँ उन्होंने स्वामीजी का खूब आदर-सत्कार किया। फिर उनकी कृपा से महासभा-प्रवेश की कुल कार्यवाही ठीक हो गयी।

शिकागो शहर में 1893 ई., 11वीं सितम्बर को महासभा बैठी। उसमें स्वामीजी की कितनी बड़ी विजय हुई, यह प्रसंग विश्व-विश्रुत है। कहते हैं, पहले ईसाई-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाना ही इस महासभा के अधिवेशन का उद्देश्य था। परन्तु इनकी वक्तृता से वह मतलब बदल गया। जनता पर इनकी वक्तृताओं का इतना बड़ा असर पड़ा कि दूसरे किसी वक्ता की वहाँ जमायी न जमी। दूसरे लोग बोलते तो श्रोता स्त्री-पुरुषों की मण्डली दिल-बहलाव करती, गपशप लड़ाती, दिल्लगी-मजाक में समय बिता देती। दर्शकों को रोक रखने के विचार से प्रेसीडेण्ट को कहना पड़ता कि पीछे से स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण होगा। उस थोड़ी देर के आनन्द के लिए श्रोता धैर्यपूर्वक बैठे रहते। वहाँ वेदान्तवेद्य अपौरुषेय ज्ञान राशि, पुनर्जन्म आदि सनातन धर्म के भावों के प्रतिपादन के अतिरिक्त भारत का दारिद्र्य, उसे रोटी मिलनी चाहिए—धर्म नहीं आदि विषयों को आपने बड़ी खूबी से निबाहा। ईसाई धर्म की जो शाखाएँ यहाँ खुली हुई हैं, इन बुत-परस्त हिन्दुओं के उद्धार के लिए, इससे उनके धर्म-प्रचारकों की ही रोटियों का सवाल हल होता है, न कि हिन्दुस्तानियों के धर्म का सवाल। इस तरह मिश-नरियों की पोल खोली।

अमेरिका में स्वामीजी के विरोधियों की संख्या भी काफी थी। उन लोगों ने स्वामीजी को नीचा दिखाने की कोई तरकीब उठा नहीं रखी। हर तरह से आजमाया। एक बार तो इनके वासस्थान में, जहाँ ये सोते थे, रूपरंग और यौवन में अप्सराओं को भी परास्त करनेवाली युवतियाँ भेजी गयीं, पर आजीवन-कुमार इन अद्भुत तपस्वी का आसन नहीं डिगा। शरमाकर वे लौट गयीं। जाड़े में जब वस्त्राभाव से इन्हें कष्ट हो रहा था, तब इनके दुश्मनों ने लिखा था, "जाड़े में शैतान जरूर मर जायेगा।" इन दुश्मनों में भारतीय भी थे।

अमेरिका में कई साल प्रचार करने के पश्चात् स्वामीजी योरप होकर देश लौटे। अमेरिका में ही इन्होंने क्लास करना आरम्भ कर दिया था। राजयोग पर व्याख्यान हो चुके थे। जर्मनी, फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड आदि स्थानों में भी आपने भ्रमण किया। इंग्लैण्ड में इन्हें बड़ी कड़ी मिहनत उठानी पड़ी। इन्होंने लिखा

है, इंग्लैण्ड के लोग कोई नयी बात बहुत जल्द नहीं ग्रहण करना चाहते। उनकी खोपड़ी कुछ ठोस होती है। पर जब कोई बात इनकी अक्ल में धँस जाती है, तब ये उसे छोड़ते भी नहीं। ज्ञानयोग की वक्तृताएँ इंग्लैण्ड में दी गयीं। वहाँ से आप 1897 ई., 15 जनवरी को कोलम्बो लौटे। उस समय मिस्टर और मिसेस सेवियर तथा गुडविन साथ थे। 'कोलम्बो से अलमोड़ा' नाम की पुस्तक में जो उत्तमोत्तम वक्तृताएँ संगृहीत हैं, वे इसी समय दी गयी थीं। संक्षेप-लेखक गुडविन साहब इनके साथ ही थे।

यहाँ आकर इन्होंने श्रीरामकृष्ण संघ को एक नवीन जीवन दिया। गंगा के उस पार हवड़े की तरफ बेलूड़ नामक स्थान में कुछ जमीन खरीदी गयी। वहीं मठ की स्थापना हुई। बिखरी हुई शक्तियों को इन्होंने संगठित रूप दिया। आज भारत-वर्ष में जगह-जगह श्रीरामकृष्ण मिशन की शाखाएँ फैल गयी हैं। सत्य सनातन धर्म के उदारभावों के प्रचार के लिए स्वामीजी ने दो संवाद-पत्र निकलवाये, एक बंगला में 'उद्‌बोधन' और एक अंग्रेजी में 'प्रबुद्ध भारत'। हिन्दी में भी पत्र निकालने का आपका विचार था पर शायद साधनों के अभाव के कारण आप सफल नहीं हो सके, अब 'समन्वय' द्वारा उस अभाव की पूर्ति हुई है। स्त्रियों की शिक्षा के आप बड़े ही पक्षपाती थे। सिस्टर निवेदिता के प्रति उनका पहला उपदेश था—भारत को प्यार करो। इसी आदेश की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना जीवन दे दिया। बागबाजार में बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोला गया, जिसमें ये आजीवन आचार्या रहीं—उस विलास के नन्दन-वन की स्वाधीन कोयल ने भारत को प्यार करने के कारण बागबाजार की गन्दी गलियों में घूमना स्वीकार किया।

भारतीयों के लिए जा लोग स्वामीजी से पूछते थे कि हम क्या त्याग करें, वे हमेशा उत्तर पाते थे, तुम्हारे पास है ही क्या? पश्चिमवालों के लिए कहते थे, उन्होंने भोग की मदिरा खूब पी है, अब उन्हें त्याग की जरूरत है—सच्चे अमृत की। अमेरिका में वेदान्त-प्रचार की भूमि तैयार है, यह समझकर स्वामीजी प्रचार की एक मजबूत नींव डालने के उद्देश से दोबारा अमेरिका गये। अब के स्वामी तुरीयानन्दजी भी उनके साथ थे। फिर स्वामी अभेदानन्दजी गये। अब वहाँ कई केन्द्र खुल गये हैं और रामकृष्ण मिशन के कई साधु इस कार्य का संचालन करते जा रहे हैं। 'समन्वय' के भूतपूर्व सम्पादक स्वामी माधवानन्दजी इस समय वहीं पर हैं।

जिस तरह स्वामीजी भारत के यथार्थ नेता कहे जाते हैं, उसी तरह वंग-भाषा के युग-प्रवर्त्तक लेखक भी। पीछे की थोड़ी-सी जिन्दगी में अपने साहित्य का बहुत-सा हिस्सा स्वामीजी ने अंग्रेजी में ही लिखा है, परन्तु जो कुछ भी थोड़ा-सा बंगला में लिखा है, वह एक युग-प्रवर्त्तन के लिए काफी है। वह तेज, वह निबाह दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता। भाषा के द्वारा जाति के जीवन की परीक्षा करना स्वामीजी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने कई जगह इस पर अपने विचार प्रगट किये हैं और अपने 'उद्‌बोधन' पत्र की भाषा को अपनी ही निरूपित स्टाइल पर रखते भी थे, वही अनुशासन वहाँ अब भी माना जाता है। 1902 ई., 4 जुलाई को, भारत और संसार की कल्याण-साधना कर वे महापुरुष एक सच्चे भारतीय की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय देकर महासमाधि से अपने आचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण देव के पास प्रस्थान कर गये। देश सहस्रमुखी प्रतिभा से जाग उठा।

[‘समन्वय’, मासिक, कलकत्ता, सौर फाल्गुन, संवत् 1985 (वि.) (फरवरी-मार्च, 1928)। **संग्रह में संकलित**]

## युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण

उन्नीसवीं शताब्दी का मध्यकाल भारतवर्ष के मानसिक महाविप्लव का काल है। पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता के प्रवाह से चंचल देश की मानसिक गति को नियमित तथा केन्द्राभिमुखी करने के लिए उस समय कितने ही प्रतिभाशाली मेधावी महापुरुषों का भारतवर्ष में ग्राविर्भाव हुग्रा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री केशवचन्द्र सेन ग्रादि प्रचारक तथा धर्म-संस्थापकों ने जन्म ग्रहण कर देश की ग्राध्यात्मिक धारा को एक विशेष पथ से प्रवाहित किया है। इसका उद्देश यह था कि ग्रंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव लेकर भी लोग भारतीय बने रहें। परन्तु ग्रार्यसमाज या ब्राह्मसमाज के द्वारा हिन्दुग्रों के सनातन सत्य की विशेष कोई मीमांसा नहीं हुई—किसी के सन्दिग्ध मन को तृप्त कर देनेवाला उत्तर कहीं से नहीं निकला। उन स्थलों में ग्रपनी ही मौलिकता, ग्रपने ही सुधार की वीणा बजी है। बजती ग्रायी हुई रागिनियों के भूले हुए स्वरों से पहचान नहीं करायी गयी। इसका कारण यह था कि वहाँ कोई ऐसा प्रतिभाशाली यथार्थ भारतीय नहीं था, जिसने ईश्वर-साक्षात्कार करने के पश्चात् समाज-स्थापना की ग्रोर ध्यान दिया होता। उनका कार्य बौद्धिक था। परन्तु भारतवर्ष जिस सत्य की बुनियाद पर प्रतिष्ठित है, जिसे वेदान्तवेद्य सर्वव्यापक विभु कहते हैं, जिसके सिवा दूसरी किसी वस्तु का ग्रस्तित्व ही नहीं मिलता ग्रथवा जिसके बिना किसी दूसरी वस्तु के ग्रस्तित्व का बोध ही नहीं होता, जरूरत थी भारतवर्ष के ग्रभाव की भाषा वहाँ पहुँचती—उस कामना-कल्पतरु के निकट, जिसकी कृपा से ग्रभाव की पूर्ति होती है, साधारण मनुष्य प्राप्ति का प्रसाद लाभ करते हैं, ऐसा ही हुग्रा भी। सर्वव्यापक चेतन विभु से उतरकर, भ्रष्ट ज्ञान, पाश्चात्य-बहु-दर्शन-पाठ-भ्रान्त-पथ मनुष्यों को भारतवर्ष की महाविज्ञानमयी शान्ति, ज्योतिः, ग्रनेकानेक धर्म-पथ-प्रवाह, महान व्यक्तित्व दिखाने, समझाने, सिखलाने तथा विश्व मानव को परस्पर ज्ञान-सम्बद्ध करने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण देव ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग ग्रादि का समन्वय लेकर युगावतार के रूप से ग्रवतीर्ण हुए। भारतवर्ष के तत्कालीन धर्मविप्लवों में श्रीरामकृष्ण का उदय विशेष महत्त्व रखता है।

वर्द्धमान जिले के कामार पुकुर नामक गाँव में 1757 शकाब्द में श्रीरामकृष्ण भूमिष्ठ हुए। इस समय इनके पिता श्री खुदीरामजी की उम्र 61 साल की ग्रौर माता श्रीचन्द्रमणिजी की उम्र 45 साल की थी। श्रीरामकृष्ण के दो बड़े भाई ग्रौर थे, रामकुमार ग्रौर रामेश्वर ग्रौर एक बड़ी बहन कात्यायनी ग्रौर एक छोटी सर्वमंगला। इनके कुलदेवता रघुवीरजी थे। कहते हैं, माता चन्द्रमणि ने स्वप्न में देखा कि जैसे रघुवीरजी कह रहे हैं कि मैं तुम्हारे पुत्ररूप में भूमिष्ठ होऊँगा।

यह एक साधारण ब्राह्मण परिवार था। परन्तु ग्राचार ग्रौर निष्ठा में यह इतना लग्न रहता था कि गाँव तथा ग्रड़ोस-पड़ोस के लोग इस घराने की काफी इज्जत करते थे। यह परिवार राढ़ श्रेणी के ब्राह्मणों का था। श्रीरामकृष्ण ग्रपने पिता के बारे में कहते थे कि वे जब खड़ाऊँ पहनकर चलते थे, तब गाँव के दूकानदार उन्हें देखकर खड़े हो जाते थे। तालाब में जब वे नहाते थे तब कोई वहाँ जाता न था। इस परिवार ने कभी शूद्रों का दान ग्रहण नहीं किया।

जन्मगत पुष्ट संस्कारों के ग्रलावा घर की इस निष्ठा ग्रौर सदाचार की छाप बालक श्रीरामकृष्ण पर काफी पड़ी थी। इनका एक नाम, जो गाँव में पुकारा

जाता था, गदाधर था। गदाधर के भविष्य-जीवन के लक्षण उनके बाल्यकाल से ही प्रकट हो रहे थे। बालपन से वे सरल, सत्यवादी, मेधावी तथा मधुरभाषी थे। गाँववाले पूजा-पाठ आदि के समय गीत-नाटक आदि किया करते हैं। गदाधर बड़ी तल्लीनता से यह सब देखते थे और इनकी बारीक-से-बारीक त्रुटि भी समझ जाते थे। वर्द्धमान से कामार पुकुर होकर एक आम सड़क पुरी तक गयी है। उससे होकर प्रा:य साधुओं का दल चला करता था। पान्थशाला में विश्राम करनेवाले साधुओं से ये प्राय: मिलते और उनकी वाणी सुना करते थे। एक बार जब ये बहुत छोटे थे, आषाढ़ के मेघाकाश में उड़ती हुई बलाका पंक्ति देखकर, प्रकृति के भाव सौन्दर्य में ऐसे मग्न हुए कि बेहोश हो गये। एक बार कुछ स्त्रियों के साथ देवी-दर्शन करने जा रहे थे। स्त्रियों ने इन्हें देवी की 'लाचारी' गाने के लिए कहा, ये गाते हुए भावावेश में बेहोश हो गये। इन्हें नकल करना भी खूब आता था। एक बार पड़ोस के एक भले आदमी ने इन्हें अपने घर की औरतों के बीच जाने से रोका। इस पर ये चिढ़कर बोले कि मैं तुम्हारे सामने ही जाऊँगा। फिर एक दिन स्त्रियों के कपड़े पहनकर उस आदमी से आश्रय पाने की आज्ञा लेकर घर में दाखिल हो गये और औरतों से मजे में गप लड़ाना आरम्भ कर दिया। जब बड़ी देर हो गयी और भोजन का समय आया तब घरवाले इन्हें खोजने निकले और चारों तरफ नाम ले-लेकर आवाज लगाने लगे। इन्होंने सुना तो भीतर ही से बोले, 'मैं यहाँ हूँ, आया।' स्त्रियाँ और मर्द इससे बड़े कायल हुए। फिर कभी इस तरह का हठ गदाधर से नहीं किया गया।

गदाधर की शिक्षा गाँव के मदरसे में हुई थी। वे बंगला पढ़ना-लिखना, हिसाब रखना आदि आवश्यक काम अपनी मातृभाषा में कर लेते थे।

पिता के गुजर जाने पर इनके बड़े भाई रामकुमार पर दुनिया का कुल भार आ पड़ा। वे कलकत्ता चले गये और झामापुकुर में एक विद्यालय खोलकर बालकों को पढ़ाने का काम करने लगे। ये ज्योतिष और स्मृति के पण्डित थे। इसी समय गदाधर भी एक बार भाई के पास कलकत्ता आये। इस समय इनकी उम्र 17-18 साल की थी।

परिवर्तन के साथ-साथ गदाधर के जीवन को बिलकुल ही बदल देनेवाली एक घटना इस प्रकार है। रानी रासमणि के देवी-मन्दिर की प्रतिष्ठा थी। कलकत्ते के जानबाजार की रहनेवाली प्रसिद्ध रानी रासमणि शूद्र वंश की थीं। उनके पवित्र हृदय में मन्दिर-निर्माण तथा देवी-प्रतिष्ठा की बात पैदा हुई। परन्तु उनके यहाँ का पानी भी उन दिनों कोई उच्च वंशवाला नहीं पीता था। समाज में उनका स्थान बहुत ही गिरा हुआ था। इस विचार से उन्होंने जहाँ कहीं पण्डितों की सलाह ली, सब लोगों ने एक ही स्वर से उन्हें अनधिकारिणी ठहराया और मन्दिर-स्थापना तथा देवी-प्रतिष्ठा की सलाह न दी। शूद्रों से कोई सम्बन्ध न रखने पर भी गदाधर के बड़े भाई पण्डित रामकुमार ने रानी को अधिकारिणी मान, शास्त्रीय उक्ति उद्धृत कर उनके पास अपना मन्तव्य भेज दिया। इससे रानी के हृदय में साहस आया और उन्होंने पण्डित रामकुमार की सम्मति के अनुसार मन्दिर तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा का निश्चय कर लिया। कुछ ही दिनों में गंगा के तट पर कलकत्ते से कोई पाँच मील उत्तर, एक बगीचा खरीदकर वहाँ रानी ने विशाल ठाकुरबाड़ी की नींव डलवायी जिसमें द्वादश शिव-मन्दिर तथा एक बृहत् देवी मन्दिर बनवाये और अनेक मकान तथा शालाएँ बनीं।

पं. रामकुमार बराबर रानी के मददगार रहे। प्रतिष्ठा हो चुकने पर रानी ने

इन्हें ही पुजारी के रूप से नियुक्त किया। भाई की मदद के लिए गदाधर भी ग्राये ग्रौर इस तरह ग्राते-जाते यहीं ठहर गये। पुजारी के स्थान पर नौकरी कर ली। गदाधर पहले देवी का ग्रन्न-प्रसाद न खाते थे। रोते हुए एक बार माता से कहा भी था, "माँ, ग्रन्त में तूने शूद्र का ग्रन्न भी खिलाया।"

इनके हृदय में ईश्वरानुराग पहले ही से प्रबल था। यहाँ ग्राने पर, उम्र बढ़ने के साथ-ही-साथ, वह ग्रौर भी प्रबल हो उठा। देखते-देखते गदाधर की वृत्ति बिलकुल ही बदल गयी। जिस समय उन्होंने पुजारी का पद ग्रहण किया था, उस समय उनकी उम्र 21 साल की थी। इन्हें ठाकुरबाड़ी के श्री राधाकान्तजी के पुजारी की जगह दी गयी थी। इन्होंने कुछ ही दिन श्री राधाकान्तजी की पूजा की थी कि व्याकुलता इतनी बढ़ी कि फिर पूजा का नियमित कार्य यथासमय करना दुःसाध्य हो गया। चुपचाप बैठे रहते, कभी काली मन्दिर में जाकर माता से प्रार्थना करते। संसार की तरफ से बिलकुल उदासीन हो गये। भगवद्दर्शन के लिए चित्त में सदा व्याकुलता का समुद्र उमड़ने लगा। धीरे-धीरे उनके ग्रन्दर एक तरह का उन्माद पैदा हो गया, जिसे प्रेमोन्माद कहते हैं। इस पर रानी रासमणि के जामाता बाबा मथुरनाथ विश्वास ने इनकी रक्षा का भार ग्रहण किया। गदाधर की तरफ मालिक को इस तरह खिंचा हुग्रा देखकर दूसरे नौकर, जो कुछ ज्यादा तनख्वाह पाते थे ग्रौर मुहर्रिर का काम करते थे, जलने लगे। परन्तु मथुर बाबू गदाधर को बड़ी ऊँची निगाह से देखते थे। उन्होंने एक दिन कहा, "बाबा, तुम्हारे भीतर ग्रौर कोई नहीं केवल ईश्वर विराजमान है।" इस तरह की ग्रौर बहुत बड़ी-बड़ी बातें मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में कही हैं। श्रीरामकृष्णजी के साथ रानी रासमणि के उत्तराधिकारी जामाता मथुर बाबू का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। पीछे से श्रीरामकृष्ण के साथ उन्होंने तीर्थाटन भी किया था।

1866 ई. से कुछ पहले ही श्रीरामकृष्ण का विवाह हो गया था। इस समय इनके ग्रन्दर साधना का तीव्र प्रवाह चल रहा था। कहते हैं, कई जगह लड़कियों की खोज की गयी, परन्तु किसी ने इन्हें पागल समझकर कन्या देना उचित नहीं समझा। इधर घरवाले इन्हें संसारी बनाने की फिक्र में बेतरह लगे थे। जब खोज-कर हैरान हो गये, तब एक दिन इन्होंने खुद कहा, वहाँ देखो, निशान ईश्वर के यहाँ से लग चुका है (वह मेरे लिए ग्रायी है)। कामार पुकुर से दो कोस की दूरी पर जयरामबाटी में लोगों ने तलाश की, वहाँ कन्या मिल गयी। विवाह के समय श्रीरामकृष्ण की उम्र 23 साल की थी ग्रौर इनकी पत्नी श्रीसारदामणि देवी की उम्र 5 साल की। इनका जन्म 1775 शकाब्द 8 पौष कृष्ण 7 तिथि को हुग्रा था।

विवाह के पश्चात् पुराण-मत की साधना करते हुए, श्रीरामकृष्ण ने श्रीमती राधा के मधुर भाव से श्रीकृष्ण की साधना की ग्रौर इस महाभाव की उपासना में सिद्ध हुए। इस भाव के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि परमात्मा से मिलते हुए कोटि-कोटि रमण सुख प्राप्त होता है।

फिर श्रीरामचन्द्रजी की उपासना में उन्होंने ग्रपने भीतर महावीरजी का दास्य-भाव धारण किया। इस तरह कुछ काल उन्हीं के भाव में रहे। इस समय उन्हें चना ग्रौर कच्चे फल बहुत रुचते थे। डाल पर बैठना बहुत पसन्द था। महाधार श्रीरामकृष्ण ने शीघ्र ही इस भाव में भी सिद्धि प्राप्त की ग्रौर भगवान श्रीरामचन्द्र-जी के दर्शन किये।

जब से श्रीरामकृष्ण में ईश्वराधन की वृद्धि हुई तब से पूजा ग्रादि का काम उनके भतीजे रामतारक (हलधारी) करते थे। ये रामकृष्ण के बड़े भाई रामकुमार

के गुजरने के बाद आये थे। श्रीरामकृष्ण विवाह होने के करीब एक साल बाद दक्षिणेश्वर लौटे थे। विवाह के 5-6 महीने बाद वे प्रथानुसार एक बार ससुराल भी गये थे। वहाँ कीर्तन में स्वयं भी खूब नाचे और गाया। बालिका पत्नी पर अवश्य ही पति की इस भगवत्-प्रेम-विह्वलता की मुहर बिना लगे न रही होगी। बालिका-जीवन में ही उन्हें पति के स्वरूप की पहचान हो गयी होगी। यह कुछ आवश्यक-सा था। इसकी सार्थकता हम उनके भविष्य जीवन से लगाते हैं। जैसे श्रीरामकृष्ण के दिव्य परमाणुओं का संयोग उनके बाल-काल से उन्हें पवित्रता की उच्च भूमि तक ले चलने के लिए ही हुआ हो।

'ब्राह्मणी' नाम से परिचित एक विदुषी स्त्री से श्रीरामकृष्ण ने तन्त्र की दीक्षा ली। ब्राह्मणी को श्रीजगदम्बा की आज्ञा हुई थी कि वे श्रीरामकृष्ण को तन्त्र की दीक्षा दें। इसीलिए वे इनके पास आयी थीं। उन्हें देखकर ब्राह्मणी चकित हो गयीं। इतना बड़ा महाधार पुरुष उन्होंने नहीं देखा था। इनके सम्बन्ध में उन्होंने बड़ी-बड़ी उक्तियाँ की हैं। उन्होंने कहा है, "बेटा, तुम्हें राधिका का महाभाव हुआ है।" जिस समय इनकी देह जल रही थी और अनेक प्रकार की दवाएँ करने पर भी शान्ति नहीं हुई, ब्राह्मणी के बतलाये हुए उपाय से जलन ठण्डी पड़ी थी। अस्तु, ब्राह्मणी के दीक्षा देने की बात कहने पर, श्रीरामकृष्ण मन्दिर में गये और भव-तारिणी काली माता से आज्ञा माँगी। माता ने इन्हें दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। इसके बाद इनकी तान्त्रिक साधना शुरू हुई और बहुत शीघ्र ही ये उसमें सिद्ध हुए। कहते हैं, 64 तन्त्रों में से एक-एक करके सभी में श्रीरामकृष्ण सिद्ध हुए और 'ब्राह्मणी' भैरवी इस सबकी पारंगत आचार्या थीं। तन्त्र की साधना श्रीराम-कृष्ण ने दक्षिणेश्वर के बेलतल्ले में की थी। वहीं ब्राह्मणी की सहायता से एक पंच-मुण्डी आसन इनके बैठने के लिए तैयार कराया गया था। कहते हैं, महाभाव के कारण साधना-काल में इनके शरीर का ताप इतना बढ़ गया था कि देह में लगी मिट्टी पके आँवें की मिट्टी की तरह पीली पड़ जाती थी। कोई देह छू नहीं सकता था। ब्राह्मणी एक बहुत मोटी चादर ओढ़ाकर ऊपर से इन्हें पकड़कर गंगा में खूब नहलाती थी।

इसके पश्चात् दो साल तक इन्होंने जगद्धात्री जगदम्बा की सखीभाव तथा दासीभाव से साधना की। इन दिनों ये स्त्रियों की तरह कपड़े तथा गहने पहनते थे। कालीजी की पूजा करते समय भी स्त्रियों की तरह तमाम देह ढके रहते थे।

कुछ दिनों बाद दक्षिणेश्वर में तोतापुरी आये। ये अद्वैतवादी थे। श्रीराम-कृष्ण के हृदय में बहुत पहले ही से अद्वैतवाद की साधना करने की इच्छा हो रही थी। तोतापुरी ने इन्हें उचित अधिकारी जानकर इनसे कहा भी। ये पूर्वोक्त प्रकार से श्रीकाली माता से आज्ञा लेने के लिए गये और सम्मति मिल जाने पर सीखने के लिए राजी हो गये। उस समय तोतापुरी से इन्हें संन्यास लेना पड़ा। चूँकि इस अद्वैतवाद की शिक्षा में श्रीरामकृष्ण ने तोतापुरी से संन्यास की दीक्षा ली थी, इसीलिए श्रीरामकृष्ण मिशन के संन्यासी 'पुरी' सम्प्रदायवाले 'अद्वैतवादी' कहलाते हैं। पूर्व ही सिद्ध श्रीरामकृष्ण को तीसरे ही दिन निर्विकल्प समाधि हो गयी। तोतापुरी देखकर अवाक् हो गये। उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—अरे! यह क्या! पश्चात् श्रीरामकृष्ण को होश होने पर, कुछ काल बाद तोतापुरी ने जाना चाहा। तब ये भावस्थ होकर बोले—अभी नहीं, तुम्हारा काम हो जाय तब। इस तरह गुरु भी श्रीरामकृष्ण को पकड़कर अद्वैतभूमि में गये। अद्वैत साधना के समय, श्रीरामकृष्ण ने कहा, "बार-बार माता की मूर्ति सामने आती थी। बार-

बार मेरा मार्ग रोककर वे खड़ी हो जाती थीं। तब मैंने ज्ञान की तलवार से उनका सिर काट डाला। बस समाधि हो गयी।" विचार और ज्ञान को ही उन्होंने अद्वैत मार्ग का मुख्य अवलम्ब बताया है। जब ये अद्वैत मार्ग की साधना कर रहे थे तब ब्राह्मणी इनसे कहती थीं—बेटा, इस मार्ग को छोड़ दो, इससे भक्ति नष्ट होती है। इस समय कौन जानता था कि श्रीरामकृष्ण की यह इतनी साधना संसार की शिक्षा के लिए है, वे युगावतार थे, लोक कल्याण के लिए, अनेक धर्मों की एकता-स्थापन के लिए आये हुए थे, उनकी अपनी मुक्ति तो बहुत पहले हो चुकी थी, यह सब लोगों को विश्वास दिलाने के लिए सब मार्गों का सारतत्त्व समझने के लिए था, जिसका फल है कि स्वामी विवेकानन्द ने सब धर्मों की एकता तथा वेदान्त की सार्वभौमिकता का प्रचार किया।

श्रीरामकृष्ण के साथ रहकर घोर वेदान्ती तोतापुरी भी भक्ति तत्त्व को मानने लगे थे। कुछ काल बाद वे चले गये। श्रीरामकृष्ण अद्वैत ब्रह्म में मग्न रहते। एक बार ऐसी समाधि लगी कि छः महीने तक भोजन-पानी बन्द, जड़काष्ठवत् ही रह गये। इस समय एक साधु आया, वह इन्हें डण्डों से मार-मारकर होश में लाता और कुछ दूध पिला देता था। इस तरह इनके शरीर की रक्षा हुई। योगशास्त्र में लिखा है कि निर्विकल्प या निर्बीज समाधि में 21 दिन तक शरीर रह सकता है।

इनके अलावा और भी अनेक मार्गों से श्रीरामकृष्ण ने साधना की। कठोर साधना के कारण इनका स्वास्थ्य टूट गया। इन्हें अतिसार की बीमारी हो गयी। रोगमुक्ति के लिए कविराज गंगाप्रसाद सेन की चिकित्सा होने लगी। पर इससे कोई फल नहीं हुआ। अन्त में ये अपने गाँव चले गये। अब ये कामार पुकुर विवाह के सात वर्ष बाद गये थे। सात वर्ष कठोर साधना में, घोर प्रेमोन्माद में बीते थे। गाँववालों ने इन्हें बड़े आदर से लिया और प्रायः हर जात के लोगों ने मिष्टान्न आदि ले-लेकर इन्हें खिलाया। एक डोम ने अपने यहाँ से पका कटहल लाकर दिया। इन्होंने बड़े प्रेम से खाया। इसी समय इनकी पत्नी श्रीसारदादेवी भी इनकी आज्ञा से अपने मायके से इनके दर्शन करने के लिए आयीं। इस समय उनकी उम्र 14 साल की थी। पति के सम्बन्ध में गाँववालों की कहनावत के अनुसार सुन रखा था कि इनके पति पागल हैं। आने पर इनकी यह भ्रम-धारणा दूर हो गयी। इन्होंने देखा, पति सदा-सर्वदा ईश्वर-चिन्तन में लीन रहते हैं। गाँववाले तथा और जगहों के लोग उनका सम्मान करते, उन्हें साक्षात् भगवान की मूर्ति समझकर प्रणाम करते। पति की पवित्र भावना उनके शुद्ध चित्त को पवित्रता से और भी घनीभूत करने लगी।

कुछ काल देश में रहकर श्रीरामकृष्ण स्वस्थ होकर फिर कालीबाड़ी आ गये और कुछ दिनों बाद तीर्थ-पर्यटन के लिए निकले। साथ में मथुर बाबू भी थे। काशी में अनेक प्रकार के साधुओं और संन्यासियों से मिले। एक दिन वहाँ इन्होंने दर्शन किया—मणिकर्णिका में जो लाशें फूँकी जा रही थीं, उनकी चिताओं की बगल में खड़ी हुई अनादिशक्ति उन जीवों के माया-बन्धन खोल रही है और सदाशिव उन्हें मुक्ति दे रहे हैं। एक दिन देखा, गंगा के तट पर शिव खड़े हैं, देखकर समाधिमग्न हो गये। फिर देखते हैं, धीरे-धीरे शिव इनके शरीर में लीन हो गये। काशी में तैलंग स्वामी को देखकर कहा था, साक्षात् शिव के दर्शन किये। काशी से प्रयाग चलकर दो-चार दिन रह फिर वहाँ से वृन्दावन गये। प्रयाग में इन्हें किसी प्रकार का दर्शन नहीं हुआ। मथुरा में ध्रुवघाट देखते ही इन्हें दर्शन हुआ—वसुदेव कृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार कर रहे हैं। वृन्दावन में, गौवों को यमुना पार

करते देख, 'कृष्ण तुम कहाँ हो ?—कृष्ण तुम कहाँ हो ?' कहते-कहते बेहोश हो गये थे। वृन्दावन में अनेक स्थलों में इन्होंने ईश्वरीय विभूति देखी थी। इस तरह तीन महीने तक तीर्थ भ्रमण कर श्रीरामकृष्ण मथुर बाबू के साथ कलकत्ता लौटे।

गोविन्दराय नाम के एक आदमी के साथ काली मन्दिर में इनकी मुलाकात हुई। गोविन्दराय थे तो कैवर्त, पर चुपचाप मुसलमान धर्म ग्रहण कर दरवेशी मत की साधना करते थे। श्रीरामकृष्ण ने इनसे मुसलमानी शिक्षा ली। इन दिनों ये लहसुन-प्याज डाली दाल-तरकारी खाया करते थे। देवी के मन्दिर में नहीं जाते थे और देव-देवियों के नाम भूलकर भी उच्चारण न करते थे। मसजिद में जाकर नमाज पढ़ते, मुसलमानों की तरह काँछ खोलकर धोती पहनते। एक दिन इन्होंने बरगद के नीचे ध्यान करते हुए देखा, बहुत से मनुष्य और जीव-जन्तु मौजूद हैं। आदमियों में, बाबू, अंग्रेज, मुसलमान और सब कौम के आदमी हैं; ये भी हैं। देखा, एक मुसलमान सनहकी में भात ले आया और एक तरफ से सबको खिलाता गया, इन्हें भी खिलाया। वही सब हुए हैं, जीव, मनुष्य आदि सबकुछ।

श्रीरामकृष्ण ने जो सब मतों से ईश्वरोपासना की थी, इसका कारण आजकल हम लोग जब विचारपूर्वक देखते हैं, तब उत्तर बड़ा ही साफ, आकर्षक तथा दिल में चुभनेवाला मिलता है। जो लोग तर्कशास्त्र में दो ही चार कदम चल सकते हैं, वे इस मीमांसा पर अज्ञान के तमः परमाणुओं का घात कर सकते हैं, पर जो लोग एक ही आत्मा में सन्निहित कोटि-कोटि सौर-ब्रह्माण्ड की सत्ता मानते हैं वे समझ लेंगे कि इस अद्भुत मनुष्य ने तमाम गन्तव्य पथों से चलकर, अखिल गतियों को आत्मसात् कर ब्रह्म में लीन, निश्चल कर दिया है। फल यह हुआ है, ब्रह्म की प्राप्ति के साथ-साथ इस युग के धर्म-भावों में इस महापुरुष की भी व्याप्ति हो गयी है, जैसे सबकुछ निगलकर अपने सिवा अन्यत्र कहीं ठहरने की इन्होंने जगह ही न रख छोड़ी हो। अवतार इसी तरह के लोग कहलाये हैं। सृष्टि के समान खण्ड-वनों पर विजय प्राप्त करके ब्रह्म में लीन अवतार पुरुष ही भारत के यथार्थ नेता और सम्प्रदाय कायम करनेवाले हुए हैं। श्रीरामकृष्ण ने नवीन कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। वे आये थे, परस्पर विवदमान अनेक सम्प्रदायों में मैत्री स्थापित करने, समन्वय करने के लिए, जिसकी भारत को इस समय जरूरत थी। विद्यासागर, केशव सेन, स्वामी दयानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, बंगाल रंगमंच के नाट्याचार्य और बंगाल के शेक्सपियर आचार्य गिरीशचन्द्र आदि-आदि भारत के बड़े-बड़े मनुष्यों पर उनका प्रभाव पड़ा था। इस छोटे-से लेख में न तो उनकी जीवनी ही पूरी की जा सकती है, न उनकी महान तपस्या की कथाएँ। आध्यात्मिक साहित्य के एक पाठक की हैसियत से मैं यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में कोई मनुष्य इतना अद्भुत, महान्, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा अपार भाव-राशि-सम्पन्न नहीं मिलता जिसकी तुलना श्रीरामकृष्ण के साथ की जा सके, न इतना बड़ा उत्तरदायित्व लेकर ही कोई आया है। श्रीकृष्ण का गीता-समन्वय फिर भी निरस्त्र नहीं रह सका, परन्तु श्रीरामकृष्ण का धर्म-समन्वय निरस्त्र होकर भी अद्भुत प्रकार से विजयी है। अवश्य जहाँ श्रीरामकृष्ण धर्म-समन्वय के आचार्य हैं वहाँ मैं तुलनात्मक वैषम्य नहीं दिखा रहा, न यह मेरा उद्देश है। मैंने विशेष रूप से मनन करने के पश्चात् जैसा समझा है, युक्तियों तथा प्रमाणों से अपने अन्दर जैसी धारणा की है, एक समालोचक की हैसियत से वैसा ही लिख रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण की देह में मुद्रा स्पर्श करा देने से वहाँ का मांस लाजवन्ती लता की लच्छियों की तरह संकुचित होकर मुरझा जाता था। समाधि में चिलम

से गिरी हुई आग मांस भेदकर पहुँचा, इन्हें होश नहीं। समाधि में परीक्षा कर नास्तिक डॉक्टरों ने बताया, मृत; पर फिर जीवन स्पन्दन होने लगा। समान जीवों में यहाँ तक कि जड़ तक में चेतन-दर्शन। युवती पत्नी को आनन्दमयी देखना, इतने बड़े महाकर्षण पर विजय। मैं आधुनिक युग के जिस किसी दिव्य विषय पर विचार करता हूँ, देखता हूँ, श्रीरामकृष्ण की अपार विद्या-विभूति से वह संयुक्त है, वह उनसे बड़ी नहीं, वे उससे जैसे और बहुत दूर तक गये हों। उन्होंने स्वयं जो स्वामी विवेकानन्दजी से कहा था कि, जो राम हैं, जो कृष्ण हैं, वही आजकल रामकृष्ण हैं। पहले मैं यह अंश पढ़कर हँसता था, पर अब मुझे इस पर दृढ़ विश्वास हो गया है, जैसे किसी दिव्य विषय पर चिन्ता करते हुए बिना रामकृष्ण के जाने का मार्ग ही न हो—जैसे तमाम दिव्य प्रकृति में परिव्याप्त हो गये हों। श्रीरामकृष्ण ने एक बात और कही थी, इस युग में जिसे ईश्वर प्राप्त करना है, वह यहाँ जरूर आयेगा। इसकी संगति मैंने पवहारी बाबा के जीवन से लगायी है। स्वामी विवेकानन्द, जैसे महापुरुष भी पवहारी बाबा की तपस्या देखकर उनकी ओर आकृष्ट हो गये थे, उनकी एक जीवनी भी स्वामीजी ने लिखी है, अपने समय के साधुओं में स्वामीजी ने बड़ा ऊँचा आसन दिया है। जब स्वामीजी लगातार कई दिनों तक कोशिश करने पर भी रात को स्वप्न में श्रीरामकृष्ण की करुण मूर्ति देखकर, उस तरफ से रोकते हुए समझकर, उनसे दीक्षा नहीं ग्रहण कर सके, और कुछ दिनों बाद पवहारी बाबा को ही उन्होंने उन्हें किसी विषय में अपूर्ण जान अपने पूर्ण ब्रह्म श्रीगुरुमहाराज से उनकी इच्छा पूर्ण कर देने के लिए जो प्रार्थना की है, उससे मुझे प्रमाण मिला कि स्वामी विवेकानन्द और पवहारी बाबा के आत्मिक संयोग को पूर्णता तक श्रीरामकृष्ण ने अवश्य ही पहुँचाया है। पवहारी बाबा की गुहा में श्रीरामकृष्ण की तस्वीर भी थी। यही रहस्य स्वामी रामतीर्थ में मिलता है। इनके साथ भी स्वामी विवेकानन्दजी का बड़ा मधुर व्यवहार हुआ था, जब स्वामी विवेकानन्दजी ने अपनी घड़ी इनकी जेब में रखते हुए कहा—"I keep it in my own pocket" (मैं इसे अपनी ही जेब में रखता हूँ)। इसके पश्चात् स्वामी रामतीर्थ साधु हुए थे और यह मधुर आत्मिक संयोग का फल हमने देखा कि उन्होंने तमाम सृष्टि में उद्भासमान ब्रह्म की सत्ता प्रत्यक्ष की। जिस अर्थ से स्वामी विवेकानन्दजी का उनसे संयोग हुआ था, वह उनके जीवन में परिस्फुट हुआ, वे उसके लिए पहले ही से तैयार थे, स्वामी विवेकानन्दजी ने पहचाना, श्रीरामकृष्ण की आत्मा तत्काल उनसे मिली, उनकी आत्मा ने भी उस अवस्था तक खिलकर उसे पहचाना। तमाम संसार को उस युगावतार का यह संयोग उत्कर्ष की ओर लिये चल रहा है। यहाँ बड़े-छोटे की बात नहीं, प्रशंसाशाली की बहस नहीं, अन्यान्य प्राकृतिक कृत्यों की तरह यह भी एक उच्च भूमि का प्राकृतिक सत्य है। उत्कर्ष कीजिए, आप भी समझेंगे। मौलिकता के केन्द्र में उस ब्रह्म में वे लीन हुए हैं, वे तमाम मौलिकता (originality) के मुख्य स्थान हैं 'मूकं करोति वाचालं।' भारतवर्ष को सब तरफ से उन्नत करने के लिए ही उनका आना हुआ है, वे एक रूप में रहकर संसार के सब धर्म रूपों में मिले हुए हैं।

अनेक भक्तों में धर्मभावों का प्रचार कर उपदेशामृत से देश में नवीन जीवन स्फूर्ति भर, उम्र के 51 साल 5 मास और 25 दिन पूरे कर भगवान रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द (तब नरेन्द्रनाथ) में शक्ति संचार करके नश्वर शरीर का त्याग किया। नरेन्द्र आदि भक्तों ने चिता-कर्म समाप्त किया। माताजी (श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी) विलाप कर रही थीं। वे अपने को विधवा जानकर शृंगार के चिह्न

मिटाने के लिए तैयार हुईं तो श्रीरामकृष्ण ने आकर हाथ पकड़ लिया; कहा, "कहो, क्या मैं मरा हूँ ?" यह देख माताजी ने फिर चूड़ियाँ आदि शृंगार के चिह्न नहीं उतारे, आजीवन धारण करती रहीं। स्वामी विवेकानन्द के लिए किसी पिशाच-सिद्ध ने कहा था, 'एक कोई हमेशा तुम्हारी रक्षा कर रहा है।' श्रीरामकृष्ण-सन्तान आज भी इसीलिए बंगाल के प्रचलित नियम के अनुसार श्री'रामकृष्ण' के आगे 'U' निशान न लगाकर जीवित का चिह्न 'श्री' लगाते हैं।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर वैशाख, संवत् 1985 [1986] (वि.) (अप्रैल-मई, 1929)। **संग्रह** में संकलित]

## वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान स्थिति

"न निवसेत् म्लेच्छराज्ये"—इस अनुशासन-वाक्य से साफ़ जाहिर हो रहा है कि दुराचरणों से पतित म्लेच्छों का विस्तार उसके अनुशासन-काल में भी काफ़ी हो चुका था, चाहे वह भारतवर्ष की आधुनिक सीमा से बाहर ही हुआ हो। सृष्टि के दार्शनिक सिद्धान्त के माननेवाले निस्सन्देह कहेंगे—दैव और असुर भावों की सृष्टि एक साथ ही हुई थी। सृष्टि कभी बिलकुल पवित्र नहीं होती। सृष्टि के चित्रकाव्य के दिखलानेवाले यहाँ के लोगों ने दिति और अदिति को एक ही कश्यप की पत्नी बनाकर अपनी सूक्ष्मदर्शिता में कमाल कर दिखाया है; इस तरह प्रत्येक सृष्टि के अन्दर आसुर भाव का कुछ-न-कुछ अंश रहना सिद्ध होता है। इधर रामायण के रचयिता ने भी इसी सत्य की रक्षा के लिए सीता-जैसी "हरिहरब्रह्मादिभिर्वन्दिता" नारीकुलशिरोमणि के चरित्र-चित्रण में ज़रा-सा दाग़ दिखलाया है, लक्ष्मण के प्रति उनसे कटु प्रयोग कराकर। ऐसा न कराते, तो सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के विवेचन में सीता का चरित्र अधूरा समझा जाता। बात यह कि कोई सृष्टि निष्कलुष नहीं हो सकती।

परन्तु मुक्ति के विवेचन में ज़रा-सा भी कलुष पहाड़ के समान बाधक है—"अवधू, अमल करै सो पावै।" असत् या कलुष ही पुनर्जन्म का कारण है—संस्कार और शरीर-धारण असत् के ही आश्रय से सम्भव हैं। शुद्ध सत्ता निर्बीज है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय के नियम उसमें नहीं।

समाज जब तक गतिशील है, सृष्टि के नियमों में बँधा हुआ है, तब तक वह निष्कलुष नहीं; कारण वही, सृष्टि सदोष है। परन्तु चूँकि समाज निर्मलत्व की ओर गतिशील है, इसीलिए उसके अंगों से हर तरह के कलुष के निकलने की चेष्टाएँ की गयी हैं। इसीलिए समाज-शासकों ने अनेकानेक विधानों द्वारा उसे बचाने का प्रयत्न किया है।

दोषों में संस्पर्श-दोष भी एक माना गया है। इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। विषय के संस्पर्श से ही मनुष्य में विषय की वृत्ति पैदा होती है। इसी तरह म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते हैं, समाज की अधोगति होती है, वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता। इसी विचार से

द्विजातियों को म्लेच्छों के राज्य में रहने से निषेध किया गया।

यहाँ तक तो यह म्लेच्छों के राज्य में न रहने के अनुशासन की एक ज़रा-सी व्याख्या हुई। प्रश्न असल यह है कि हजार वर्षों से म्लेच्छों के राज्य में बसकर जीवित रहनेवाली, अनेक कुसंस्कारों की खान यह अपने लिए परमपावन द्विज-जाति अब तक द्विजाति ही बनी हुई है या नहीं।

जो लोग सृष्टि के 'जन्म और मृत्यु', इन दोनों रहस्यों को भली-भाँति जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि दिन और रात के जोड़े की तरह उत्थान और पतन का भी विवर्तन एक चिरन्तन सत्य है। इस सत्य के बन्धन से मुक्त होकर उन्नतिशील द्विज-जाति कभी पतन की अवस्था को प्राप्त होगी ही नहीं, कभी शूद्रत्व की भूमि में अवतीर्ण होगी ही नहीं, यह कहना या किसी अन्य युक्ति से चिरन्तन द्विजत्व की पुष्टि करना एक प्रकार की कठहुज्जती करना ही है।

इधर 'माधुरी' में वर्ण-व्यवस्था पर जितने लेख निकले हैं, उनमें से कोई भी लेख ऐसा नहीं, जो विवर्तित समय की मौलिकता या नवीन युग का यथार्थ तत्त्व समझाता हुआ वर्ण-व्यवस्था की एक विचार-पुष्ट व्याख्या कर रहा हो। सब-के-सब अपनी ही धुन में लीन, अपने ही अधिकार के प्रतिपादन में नियोजित हो रहे हैं। शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति-प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण-धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न "जाति-पाँति-तोड़क मण्डल" के मन्त्री सन्तरामजी के करार देने से इधर दो हज़ार वर्ष के अन्दर का संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते हैं। शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन, कठोर-से-कठोर होने पर भी, अपने समय की मर्यादा से दृढ़ सम्बद्ध है। खैर, वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए जिस "जायते वर्णसंकर:" की तरह के अनेकानेक प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, उनकी सार्थकता इस समय मुझे तो कुछ भी नहीं देख पड़ती, न "जाति-पाँति-तोड़क मण्डल" की ही विशेष कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। "जाति-पाँति-तोड़क मण्डल" को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि वह "जाति-पाँति-योजक मण्डल" होता। "तोड़" ही हिन्दुस्तान को तोड़ रहा है। देश या जाति में आवश्यकता उस समय उठती है, जब किसी भाव, संगठन या कृति का अभाव होता है। जाति-पाँति तोड़ने का अभाव एक समय इस देश में हुआ था ज़रूर, पर वह ब्राह्मसमाज द्वारा बड़ी अच्छी तरह पूरा किया जा चुका है। ब्राह्म-समाज के रहते हुए सन्तरामजी आदिकों ने 'मण्डल' की स्थापना क्यों की, ब्राह्म-समाज की ही एक शाखा वहाँ कायम क्यों नहीं कर ली, इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा, यह अनुमान से बहुत कुछ समझ में आ रहा है। यहाँ खड़ा होता है व्यक्तित्व और कुछ भेद। भाईजी के व्यक्तित्व को देश में ऐसा मनुष्य कौन होगा, जो आदर-पूर्वक न देखता हो, और उनके व्यक्तित्व से जिस कार्य का संगठन होगा, उसे पृष्ठ-भूमि न मानता हो। परन्तु यह बात और है। इस लेख का उद्देश है वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान सार्थकता, जिसमें एक ओर जाति-पाँति-तोड़क मण्डल के व्यक्तित्व तक आया गया है, दूसरी ओर है प्राचीन हिन्दू-समाज, जिसकी संकीर्णता तथा अनुदारता की तरफ इशारा करके ही अनेकानेक समाज उसके अंग से छँटकर अलग हो गये हैं।

जब विचार की पहुँच किसी तरह सत्य तक हो जाती है, उस समय मस्तिष्क की तमाम विश्रृंखलाएँ दूर हो जाती हैं। ज़रा देर के लिए एक प्रकार की शान्ति मिलती है। भारतवर्ष को मुक्ति की ओर ले जानेवाले आज तक जितने भी विचार देखने में आये हैं, वे राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक किसी भी दिशा

में झुकाये गये हों, वैदान्तिक विचार की समता नहीं कर सकते। कोई भी 'मण्डल' ऐसा नहीं, जिसमें कोई-न-कोई दोष न हो। कोई वाद ऐसा नहीं, जो जाति, देश या समाज को पूर्ण स्वतन्त्रता तक पहुँचा सके—जहाँ किसी प्रकार का विरोध न हो। भारतवर्ष की समाज-शृंखला उसी वैदान्तिक धातु से मजबूत की गयी है। कोई वर्णाश्रम-धर्म को माने या न माने, पर अपनी प्रगति की व्याख्या में यदि वह वेदान्त को भी नहीं मानता, जैसाकि आजकल अधिकांश शिक्षितों की शिरश्चरण-विहीन युक्तियों में देखा जाता है, तो वह भारतीय कहलाने का दावा नहीं कर सकता। पहले भाईजी के सम्बन्ध में व्यक्तित्व का जिक्र आ चुका है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि वैदान्तिक सत्यदर्शन की ओर जो जितना ही बढ़ा हुआ है, उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्त्वपूर्ण और अक्षय है। दूसरे, वैदान्तिक विचार भारतीय होने के अलावा एक-दूसरे से संयोग करनेवाले होते हैं, तोड़क नहीं। केवल भारत के लिए ही नहीं, तमाम संसार के मनुष्य के लिए एक-दूसरे से संयोग ही आवश्यक है, वियोग नहीं। यदि हर मनुष्य से वियोग या "तोड़न" जारी रहा, तो यह जाति देश या समाज के लिए कल्याणकर कब हो सकता है? योरप से भारतवर्ष की महत्ता में इतना ही फर्क है। योरप में प्रजा-विप्लव से लेकर आज तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं, सब-के-सब तोड़क ही रहे हैं, यानी "इसे नष्ट करो, तो यह दुरुस्त होगा"— इस विचार के आधार पर हुए हैं। इस तोड़क भाव का प्राधान्य वहाँ इसलिए है कि वहाँ के लोग भोगवादी हैं। उनके भोग में जहाँ कहीं कोई ठेस लगी कि उनका धैर्य जाता रहा—विद्रोह खड़ा हो गया, और उसी के बल पर जो सुधार होना था, हुआ। वहाँ की बाह्य प्रकृति के साथ सम्बद्ध मनुष्यों के मन की विचार-धारा भी यहाँवालों की विचार-धारा के अननुकूल है। यह देश त्यागवादी है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी से लेकर गुरु-शिष्य और संन्यासियों में त्याग का ही आदर्श फैला हुआ है। यहाँ जीवन है अमृतत्व, जो त्याग ही से प्राप्त होता है। इस अमृत का जो जितना ही बड़ा अधिकारी है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही महान् होगा और यह व्यक्तित्व घातक या तोड़क नहीं होता, किन्तु संयोजक हुआ करता है। इसे ही वैदान्तिक साम्यदर्शन कहते हैं।

जिस तरह किसी मनुष्य-विशेष का व्यक्तित्व होता है, उसी तरह समाज का भी एक व्यापक व्यक्तित्व हुआ करता है। समाज के इस व्यापक व्यक्तित्व को, युक्ति के अनुसार, अनार्यभावों द्वारा धक्का पहुँचता है, जिस तरह एक विशिष्ट व्यक्तित्व को भीतरी इतर वृत्तियों द्वारा। यहाँ के समाज-शासकों ने जो कठोर-से-कठोर नियम शूद्रों के लिए बनाये हैं, उसका कारण यह नहीं कि वे निर्दय थे और अपने अधिकारों को बढ़ाते रहना ही उनका ध्येय था। यदि हिन्दू-नामधारी किसी मनुष्य के मुख से उन पर इस तरह के अपराध का लांछन लगाया जाता है, तो चाहे वे महात्माजी हों या भाईजी या सन्तरामजी या कोई भी प्रतिष्ठित पुरुष, मैं निस्सन्देह कहूँगा, आपने हिन्दू-धर्म की केवल कुछ पुस्तकें ही देखी हैं, किन्तु उसकी व्याख्या करने की शक्ति आपमें नहीं है, आप उसके रहस्यों को नहीं समझते। एक बालक को राह पर लाने के लिए कभी तिरस्कार की भी जरूरत होती है, पर समझदार के लिए सिर्फ इशारा काफी कहा गया है। बालक फिर भूल जाता है, फिर प्रवृत्ति के वशीभूत होकर असत्यपथ की ओर जाता है, पर समझदार से बार-बार ग़लती नहीं होती। तत्कालीन एक ब्राह्मण का उत्कर्ष और एक शूद्र का बराबर नहीं हो सकता। अतएव दोनों के दण्ड भी बराबर नहीं हो सकते। लघु दण्ड से शूद्रों की बुद्धि भी ठिकाने न आती। दूसरे, शूद्रों से ज़रा-से उपकार पर सहस्र-सहस्र

अपकार होते थे। उनके दूषित बीजाणु तत्कालीन समाज के मंगलमय शरीर को अस्वस्थ करते थे—उनकी इतर वृत्तियों के प्रतिघात प्रतिदिन और प्रतिमुहूर्त समाज को सहना पड़ता था। निष्कलुष होकर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होनेवाले शुद्ध-परमाणुकाय समाज को शूद्रों से कितना बड़ा नुकसान पहुँचता था, यह 'मण्डल' के सदस्य समझते, यदि वे भोगवादी—अधिकारवादी—मानवादी—इस तरह जड़वादी न होकर त्यागवादी या अध्यात्मवादी होते। इन इतने पीड़नों को सहते हुए अपने ज़रा-सा बचाव के लिए—आदर्श की रक्षा के लिए—समाज को पतन से बचाने के लिए अगर द्विज-समाज ने शूद्रों के प्रति कुछ कठोर अनुशासन कर भी दिये, तो हिसाब में शूद्रों द्वारा किये गये अत्याचार द्विज-समाज को अधिक सहन करने पड़े थे, या द्विज-समाज द्वारा किये गये शूद्रों को? उस समय भारतवर्ष का ध्यान अधिकार की ओर नहीं था। यह कहा जा चुका है कि समाज की प्रत्येक आज्ञा सत्य से सम्बन्ध रखकर दी जाती थी। यहाँ के समाज-पतियों के चरित्र की छानबीन करके उन पर लांछन लगाना उचित होता। शंकर को क्या पड़ी थी, जो शूद्रों को हीन और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बतलाते? उन्हें न तो ब्राह्मणों से कुछ लाभ ही था, न शूद्रों से कोई नुक़सान। एक विरक्त और इतने बड़े त्यागी पर लांछन लगाना क्या शूद्रत्व के समर्थकों की मानसिक दुर्बलता का ही परिचय नहीं?—अपितु, इस तरह, यह सिद्ध करना है कि शंकर को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई थी—ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए थे; ब्रह्म के दर्शन करनेवाला महापुरुष भी किसी का शत्रु और किसी का मित्र होता है—द्वैतभाव रखता है, यह सन्तरामजी ही कह सकते हैं। और, जो पीपल-ताज़िया आदि के पूजकों का मखौल उड़ाया गया है, यह भी सिद्ध करता है कि लेखक को अध्यात्मवाद का कुछ भी ज्ञान नहीं। यदि प्रह्लाद को खम्भे में भी श्रीभगवान् की मूर्ति दिखलायी पड़ती है, तो पीपल-पूजकों ने ही कौन-सा बड़ा कुसूर कर डाला?—भक्ति में पात्र और सुपात्र का निर्णय क्या?—ईश्वर किस केन्द्र में नहीं है?—ताज़िया-पूजना भी हिन्दुओं की उदार पूजा की भावना का ही परिचय देता है, जहाँ हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं—ईश्वर की अभेदता ज़ाहिर है। शंकर ने जो अनुशासन दिये हैं, वे अधिकारियों के विचार से ही दिये गये हैं। न शूद्रों ने अपने इतर कर्मों को छोड़ा, न वे उठ सके। जो उदाहरण शूद्रों को मिलाने के मिलते हैं, उनमें यही जाहिर है कि उनके हृदय में श्रद्धा आयी थी, वे अनार्य से आर्य हुए थे, और आर्यों ने उन्हें अपनाया था। फिर कहना न होगा, जब सत्कार्यों का भार उनसे उठाया न उठा, तब रामदास और वशिष्ठ के नाम पर खड़े किये गये उस समाज ने अपनी पूर्व-मूषिकत्व की संज्ञा फिर से प्राप्त कर ली। उनके लिए ऐसा कहना उचित नहीं कि वे गिरा दिये गये, बल्कि यों कहिए कि वे आप गिर गये। इस गिरने में हिन्दू-समाज के द्विजत्व का क्या कुसूर? यहाँ के समाज का तो मूलमन्त्र ही रहा है—

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य व रान्निबोधत।"

पारसी-जैसी दूसरी जाति को जिस जाति ने शरण दी, उस जाति के गौरव ब्राह्मणों ने अन्त्यजों को गिरा दिया, यह सन्तरामजी ही कह सकते हैं, पर मेरे पास मौन के सिवा उनके प्रति इसके उत्तर में और कोई शब्द नहीं। क्या तमाम राजनीतिक अधिकार, मुसलमानों की तरह, हिन्दुस्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के भी डण्डे का ही फल है? जहाँ शूद्रों के प्रति स्मृतिकारों ने कठोर दण्ड की योजना की है, वहाँ उन्होंने यह भी लिखा है—"श्रद्धापूर्वक शुभ विद्या, श्रेष्ठ धर्म और सुलक्षणा स्त्री अन्त्यजों के निकट से भी ग्रहण करो।"

इसका पुरस्कार उन्हें क्या दिया जा रहा है ? क्या इन पंक्तियों में अन्त्यजों के बहिष्कार या विरोध की कोई ध्वनि निकलती है ?

सृष्टि की साम्यावस्था कभी नहीं रहती, तब अन्त्यजों या शूद्रों की ही क्यों रहने लगी ? ज्यों-ज्यों परिवर्तन का चक्र घूमता गया, त्यों-त्यों असीरियन सभ्यता के साथ एक नवीन शक्ति एक नवीन वैदान्तिक साम्य-स्फूर्ति लेकर पैदा हुई, जिसके आश्रय में देखते-देखते आधा संसार आ गया। भारतवर्ष पर गत हजार वर्षों से उसी सभ्यता का प्रवाह वह रहा है। यहाँ की दिव्य शक्ति के भार से झुके हुए निम्न-श्रेणियों के लोगों को उसकी सहायता से सिर उठाने का मौका मिला—वे लोग मुसलमान हो गये। यहाँ की दिव्य सभ्यता आसुर सभ्यता से लड़ते-लड़ते क्रमशः दुर्बल हो गयी थी, अन्त तक उसने विकारग्रस्त रोगी की तरह विकलांग, विकृत-मस्तिष्क होकर अपने ही घरवालों से तर्क-वितर्क और लड़ाई-झगड़ों पर कमर कस ली। क्रोध अपनी ही दुर्बलता का परिचायक है, और अन्त तक आत्मनाश का कारण वन बैठता है, उधर दुर्बल का जीवन भी क्रोध करना ही है, उसकी और कोई व्याख्या भी नहीं। फलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति पराभूत होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। जब ग्रीक सभ्यता का दानवी प्रवाह गत दो शताब्दियों से आने लगा, दानवी माया अपने पूर्ण यौवन पर आ गयी, हिन्दुस्तान पर अँगरेजों का शासन सुदृढ़ हो गया, विज्ञान ने भौतिक करामात दिखाने आरम्भ कर दिये, उस समय ब्राह्मण-शक्ति तो पराभूत हो ही चुकी थी, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति भी पूर्णतः विजित हो गयी। शिक्षा जो थी अँगरेजों के हाथ में गयी, अस्त्र-विद्या अँगरेजों के अधिकार में रही (अस्त्र ही छीन लिये गये, तब वह विद्या कहाँ रह गयी ? और वह क्षत्रियत्व भी विलीन हो गया), व्यवसाय-कौशल भी अँगरेजों के हाथ में। भारतवासियों के भाग्य में पड़ा शूद्रत्व। यहाँ की ब्राह्मण-वृत्ति में शूद्रत्व, क्षत्रिय-कर्म में शूद्रत्व, और व्यवसायी जो विदेशों का माल बेचनेवाले हैं कुछ और बढ़कर शूद्रत्व अख्तियार कर रहे हैं। अदालत में ब्राह्मण और चाण्डाल की एक ही हैसियत, एक ही स्थान, एक ही निर्णय। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने घर में ऐंठने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रह गये। बाहरी प्रतिघातों ने भारतवर्ष के उस समाज-शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को, समूल नष्ट कर दिया; बाह्य दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया। अँगरेज-सरकार ने मुसलमान और नान-मुसलमान के दो हिस्से करके हिन्दू-समाज की कद्र में एक कदम और बढ़कर अपनी गुणग्राहिता प्रकट की। यहाँ साफ ज़ाहिर हो रहा है कि

"न निवसेत् म्लेच्छराज्ये"

का फल क्या होता है, संस्पर्श-दोष का परिणाम कितना भयंकर हुआ करता है।

भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण-काल शूद्रों और अन्त्यजों के उठने का प्रभातकाल है। प्रकृति की यह कैसी विचित्र क्रिया है, जिसने युगों तक शूद्रों से अपर तीन वर्णों की सेवा करायी और इस तरह उनमें एक अदम्य शक्ति का प्रवाह भरा, और अब अनेकानेक विवर्तनों के भीतर से गुजरती हुई, उठने के लिए उन्हें एक विचित्र ढंग से मौका दिया है, भारतवर्ष का यह युग शूद्र-शक्ति के उत्थान का युग है। और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।

अगर शूद्र गालियों के बल पर, ब्राह्मणों से ईर्ष्या करके उठना चाहते हों, तो यह उनकी समझ की कमज़ोरी है। इस तरह भारत की किसी भी जाति का संगठन सुदृढ़ नहीं रह सकता। कारण, कमज़ोर हुए ब्राह्मणों को गालियाँ देने से

उठती हुई जाति तमाम ब्राह्मण-समाज पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। कायस्थों के समाज ने ब्राह्मणों के बहिष्कार के प्रस्ताव पास किये। पर इससे फल क्या हुआ? "महाराज" जैसी उपाधि का भोक्ता इस समय भी पाचक ब्राह्मण ही हुआ करता है। पर लालाजी को समाज में कोई भी पण्डितजी नहीं कहता। दूसरे, ब्राह्मणों को गालियाँ तो सभी देते हैं, पर ब्राह्मण बनने का इरादा कोई भी नवीन संगठित जाति नहीं छोड़ती। इस तरह ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बढ़ती ही जाती है। लोगों में जैसे ब्राह्मणत्व का लालच बढ़ गया हो।

कुछ समय वीता, जब डलमऊ (रायबरेली) में अखिल भारतवर्षीय अहीरों की सभा थी। सौभाग्य से मैं भी वहाँ मौजूद था। भारत के सभी प्रान्तों से अहीर भाई आये थे। कुछ अहीर कस्बे में दूध बेचने गये। मैंने एक से पूछा, क्यों जी, अब तो तुम चाहे अहीर से कुछ और हो जाओ। उसने कहा, "हाँ कहते हैं कि तुम छत्री हौ। यह चाहै जौन कहैं, मुलो दूध बेचै का मना करिहैं तो हम तो भाई साफ कहि देब कि हम तो दूध बेचब बन्द न करब चहै अपन जनेऊ उतरवाय लेव—को हमरे घास कै रारि म्वाल लेई!" बात यह कि उसे वह क्षत्रिय होना मंजूर नहीं, जिससे उसका दूध बेचना बन्द हो जाय और परम्परा से वह सुनता आया है—उसका विश्वास भी दृढ़ है कि दूध बेचनेवाला कभी क्षत्रिय नहीं होता—वह अहीर ही है, चाहे जनेऊ के तीन ताग नहीं और बारह ताग उसके गले में डाल दिये जायँ। अब सन्तरामजी सोचें, जहाँ अहीर, बढ़ई, कलवार और प्रायः सभी जातियाँ (जिनके सिर पर समाज ने निम्नजातीय भावना का भूत सवार कर रक्खा है) यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय बन सकती हैं, तो पानी भरनेवाला या रोटी पकानेवाला ब्राह्मण फिर क्यों नहीं ब्राह्मण रह सकेगा—इस तरह तो उसे एक और बल मिल रहा है। जिसे वह कल बढ़ई कहता था, उसे ही अगर आज वह ब्राह्मण बनता हुआ देखे, तो क्या वह इतना कमजोर हो जायगा कि दूसरों के मिस्त्री और बवर्ची कहने से वह अपने को मिस्त्री या बवर्ची ही समझे?

और ज़रा एक और मज़ेदार बात सुनिए। ब्राह्मण देवताओं का अपमान भी कम नहीं हो रहा। पहले के लिखे हुए अनुसार, पूरे चालीस वर्ष के बाद जनेऊ धारण कर अहीर-महासभा के यज्ञकुण्ड से निकले हुए हाल-क़ौम-क्षत्रिय प्राचीन अहीर महाशय मेरी ससुराल से मेरे लड़के को ले जाने के लिए आये। मैंने सोचा, पुरानी प्रथा के अनुसार यह मेरे यहाँ की पकायी रोटियाँ अवश्य ही खायँगे। अस्तु, उनके लिए मैंने वैसा ही इन्तिजाम करवाया।

उस समय मेरा लड़का घर में न था। वह आया, तो कहने लगा, रोटियों का इन्तिज़ाम आपने व्यर्थ ही करवाया, नानी के यहाँ तो इसने पूड़ियाँ भी नहीं खायीं। मैंने पूछा, क्यों? उसने कहा, यह कहता है, अब मेरा जनेऊ हो गया है, अब मैं थोड़े ही कुछ खा सकता हूँ? मैंने उस क्षत्रिय भाई से पूछा, तो बात सच निकली। मैंने उसके लिए मिठाई मँगवा दी।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।"

इस बला को जब तक सन्तरामजी हिन्दू जाति की जड़ से निकाल नहीं सकेंगे, तब तक जाति-पाँति के तोड़ने में उन्हें सफलता शायद ही हो। महात्माजी का जो उदाहरण दिया कि उनकी राय से एक ब्राह्मण-बालिका का विवाह एक शूद्र कर सकता है, मेरे विचार से एक ब्राह्मण-बालिका के मानी यहाँ एक शूद्र-बालिका ही है। अगर ब्राह्मण-बालिका का अर्थ महात्माजी ब्राह्मण-बालिका ही करते हों, तो मैं सविनय कहूँगा, इतनी तपस्या करके भी महात्माजी "ब्राह्मण"

का अर्थ नहीं समझ सके। मैं "ब्राह्मण" का तपस्या-जन्य अर्थ ही लेता हूँ, जो उसका उचित निर्णय है। मुझे इसका भय नहीं कि दूसरों की तरह मुझ पर सन्तरामजी ब्राह्मणत्व के पक्षपात का दोष लगायँगे। इस दोष के प्रक्षालन के लिए इस पत्रिका के सम्पादक कृष्णविहारीजी और प्रेमचन्दजी जब तक मौजूद हैं, और यों ता, मैं ब्राह्मणेतर करीब-करीब सभी जातियों से अपना समर्थक चुन दूँगा।

मैं यहाँ तक दिखला चुका हूँ कि समाज का वह व्यक्तित्व अब नहीं रहा। जड़वाद के इन्द्रजाल से भारत का अध्यात्मवाद समाच्छन्न-सा हो रहा है। प्रत्येक गृह से विकार-ग्रस्त रोगियों की अर्थहीन प्रलाप-वाणी सुनायी पड़ रही है। कोई भी चेला नहीं बनना चाहता, गुरु बनकर शिक्षा देने के लिए सब तैयार हैं। भावों के सहस्र-सहस्र प्रतिघात प्रतिदिन टक्करें ले रहे हैं। एक-दूसरे से लड़ते और मुरझाकर फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं।

ऐसी हालत में सहस्र आवर्जनाओं के भीतर दबी हुई भारत की यथार्थ जातीय शक्ति को उभाड़कर प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की तरह उसे जीवन देना एक अत्यन्त कष्टसाध्य उपाय हो रहा है। परन्तु साथ ही यह विश्वास भी है, जब कि यह भारत है कि जीवन स्वयं ही अपना आलोक-पथ खोज लेगा। पौदों की बाढ़ कभी अन्धकार या छाया की ओर नहीं हो सकती। समाज के व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए पहले जो स्मृतियाँ—जो क़ानून प्रचलित थे, आज के लिए वे अनुकूल नहीं रहे। मुसलमान-शासन-काल में तो भारत में संकीर्णता की हद हो गयी थी। इस समय भी देहातों में इसी संकीर्णता का शासन है। परन्तु है यह अज्ञान-जन्य, और समाज में यह अज्ञान का राज्य शिक्षा के अभाव से ही फैला हुआ है। जब से वेद-वेदान्त योरप में छपने लगे, तब से भारत के ज्ञान-वर्द्धन के लिए यह आवश्यक हो गया कि उसके जातीय जीवन को रूढ़ियों और प्राचीन आचारों से मुक्त कर दिया जाय, उसमें प्रसार के लिए ज्ञान के बृहत्-से-बृहत् संस्कार छोड़े जायँ, अन्यथा अपर जातियों के पदार्थ-विज्ञान की उच्चता से लड़कर वह स्थायी न हो सकेगा। पृथ्वी और सूर्य के आकर्षण की तरह बृहत् और उदार ज्ञान का आकर्षण जिस तरफ़ होगा, अधिक शक्ति वहीं पर निहित रहेगी; दूसरे ज्ञान जो तुलना में उससे छोटे होंगे, उसी के चारों ओर चक्कर काटते रहेंगे। भारत की जातीयता को योरप के इस विज्ञान-युग की जातीयता से लड़ना है। परन्तु इस समय उसके पास आचार-विचारात्मक ज्ञान के जो महास्त्र हैं, वे योरप के वर्द्धन-शील विज्ञान के सामने पराजित और अवनत हो रहे है। और, चूँकि पहले के कथन के अनुसार इस समय भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं रहे—न इस अवस्था में रह सकते हैं, अतएव दास्यवृत्तिवाले भारत के लिए भौतिक विज्ञान से मुग्ध हो जाना—उसे आत्मसमर्पण कर देना निहायत स्वाभाविक है। योरप में यथार्थ वैश्य और यथार्थ क्षत्रिय तक हो गये हैं, और अवश्य कुछ ब्राह्मण भी हैं। यही कारण है कि इस शक्ति का सिक्का भारतवासियों पर जमा हुआ है।

वहाँ के ज्ञानास्त्र को काटकर अपनी निर्मल जातीयता के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक है वेदान्त-ज्ञान। वेदान्त-ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य की मनुष्य से यह इतनी बड़ी घृणा न रह जायगी, और संगठन भी ज्ञानमूलक होगा। योरप का संगठन स्वार्थ-मूलक है। जिस मज़दूर-पार्टी का अभी कल ही पूंजीपतियों के दल से संघर्ष हो रहा था, आज दूसरे देशों को पराजित करने के लिए उस पार्टी का निजी स्वार्थ व्यापक रूप से जहाँ समझाया गया कि सब-के-सब मज़दूर बदल

गये—पूँजीपति-पार्टी के साथ मिल गये। यह है वहाँ की जातीयता। यहाँ इस तरह के भाव कामयाब नहीं हो सकते। हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा भी इस तरह तय नहीं हो सकता। और, तरह-तरह के विचार जो लड़ाये जाते हैं, वे संसार के विवर्तन से उधार लिये हुए विचार ही होते हैं। इससे अधिक पुष्ट विचार मेल के लिए और क्या होगा कि हरएक को अपनी आत्मा समझे, अपने सुख और अपने दुःख का अनुभव दूसरे में करे। सन्तरामजी जो वैवाहिक व्यवस्था पेश करते हैं वह भी इस तरह मन के मेल से सम्भव हो सकेगी, जैसा कि पहले था। अन्यथा यदि महात्माजी की तरह विवाह का एक सूत्र निकाल दिया जायगा कि एक अछूत एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता है, तो उत्तर में यह कहनेवाले बहुत हैं कि एक ब्राह्मण-कन्या का किसी मुसलमान के साथ योरप जाना महात्माजी ने ही रोका था, और उसका विवाह एक दूसरे (शायद) ब्राह्मण से ही करवाया था। यदि हिन्दुओं की व्यापक जातीयता के लिए इस तरह के क़ानून निकाल देना न्यायानुकूल है, तो इसी भारतवर्ष की छाती के पीपल मुसलमानों से सप्रेम रोटी-बेटी का सम्बन्ध जोड़ लेने से कौन राष्ट्रीयता की नाक कटी जा रही है? इस तरह तो स्वराज्य के हासिल करने में और शीघ्रता होगी। फिर मुसलमानों के प्रिय बनने की चेष्टा करते हुए भी महात्माजी ने क्या एक मुसलमान के निर्दोष सप्रेम विचरण में बाधा नहीं दी? क्या उसका हक़ महात्माजी ने नहीं छीन लिया? इसी तरह शूद्रों और अछूतों के प्रति भी महात्माजी की सहानुभूति मौखिक ही न होगी, इसका क्या प्रमाण, जब उनके यहाँ के विवाह अन्त्यजों से न होकर, जहाँ तक मुझे ज्ञान है, आज तक उन्हीं की श्रेणी में हुए हैं? महात्माजी का विकास जिस तरफ से हुआ है, उसी तरफ के लिए उनके शब्द महान् और सप्रमाण हैं। परन्तु वह एक धर्माचार्य भी हैं, स्मृतिकार भी हैं और अप्रतिद्वन्द्वी शास्त्र-व्याख्याता भी हैं—यह उनके अनुयायी ही सिद्ध कर सकते हैं, मुझे कुछ संकोच हो रहा है। राम के वाण तो सह्य भी हैं, पर बन्दरों की विकृत मुख-मुद्रा असह्य हो जाती है। विवाह के प्रसंग पर मैंने जो कुछ लिखा है, मैं जानता हूँ, महात्माजी की महत्ता से मुझे क्षमा मिल जायगी। मुझे केवल उनके भक्तों से ही भय है। कारण, भक्तों का परिचय मुझे कई बार प्रत्यक्ष हो चुका है।

अछूतों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें समाज में मिला लिया जाय या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिन्दू-राष्ट्रीयता से अलग है, यह एक कल्पना के सिवा और कुछ नहीं। दो मनों की जो साम्य-स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह में उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा। और, जिस योरप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता सन्तरामजी ने की है, वहाँ भी यहीं की तरह वैषम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मज़दूर का विवाह नहीं हुआ। मुसलमानों में भी विवाह का कुछ ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, पर मोगल-बादशाहज़ादियाँ क्वाँरी ही रहती थीं। कहीं यह साम्य अर्थ से लिया गया है, कहीं जाति से। यदि इस विवाह से ही हिन्दुओं का उद्धार होना निश्चित है, तो यहाँ के मुसलमानों के उद्धार के लिए तो कोई शंका ही न करनी थी; पर दुःख है कि इस वैवाहिक एकता को अंशतः कायम रखने का भी यहाँ उनके भाग्य किसी तरह भी हिन्दुओं के भाग्य से चमकीले नहीं नज़र आते।

और, जो बुलबुलशाह की ऐतिहासिक दुर्घटना का सन्तरामजी ने उल्लेख किया है, इससे हमारे महाराज जयचन्द ही क्या कम थे? एक बार एक बंगाली

विद्वान् ने एक दूसरे बंगाली से मेरी तारीफ करते हुए कहा—यह महाशय उस देश में रहते हैं, जहाँ के महाराजा जयचन्द थे, जिनकी कृपा से देश हजार वर्ष से गुलाम है। आप समझ सकते हैं, ऐसे चुभते हुए परिचय से उस समय मेरी क्या दशा हो गयी होगी। पर मुझे भी इसका करारा उत्तर सूझ गया, और वही सन्तरामजी के लिए भी है। मैंने कहा, लाखों वर्ष तक देश को स्वाधीन तथा सम्पन्न रखने का श्रेय आपने हमें नहीं दिया, पर हज़ार वर्ष के लिए गिरा देने का उलाहना दे डाला! जिन्होंने इसे स्वाधीन रक्खा था, उन्हीं ने गिराया भी। गिराने के लिए दूसरे थोड़े ही आते। उसी तरह, एक ब्राह्मण की गलती से बुलबुलशाह के भी लाखों भाई मुसलमान हो गये। पर बुलबुलशाह के भाई जब हिन्दुस्तान में "सितच्छत्रितकीर्तिमण्डला:" हो रहे थे, उस समय "स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:" की उस उलटी व्याख्या ने ही हिन्दू-धर्म को मुसलमान-धर्म में विलीन होने से बचाया था। यदि उस समय मुसलमानों की धार्मिक उदारता के साथ ब्राह्मणों की वेदान्तिक उदारता ने अभेदत्व का प्रचार किया होता, तो निस्सन्देह इस समय हिन्दू-धर्म के सुधार के लिए आवाज उठाने के कष्ट से सन्तरामजी बाल-बाल बच गये होते, और शायद हम लोग इस समय अपनी-अपनी दाढ़ियों में खुदा का नूर देखकर प्रसन्न हो रहे होते।

ब्राह्मणों में भी भंगी, चरसी, शराबी और कबाबी हैं। पर इसलिए अन्त्यजों से उसकी तुलना नहीं हो सकती। एक तो संख्या में कम ऐसे ब्राह्मण हैं और अन्त्यज अधिक। दूसरे, तुलना यह इस तरह की है जैसे करोड़पति के ऐयाश-दिल लड़के से किसी मजदूर के ऐयाश-दिल लड़के की। लेख बढ़ रहा है, मुझे इन सब बातों के उत्तर देने का स्थान नहीं।

इस व्यापक शूद्रत्व के भीतर भी इस जाति के प्रदीप में जो कुछ ज्योति है, वह आचार, शील और ईश्वर-परायण लोगों में ही है। दूसरे-दूसरे देशों से धार्मिक कट्टरता भले ही राष्ट्र की जागृति से दूर कर दी गयी हो, पर वहाँ धर्म से कट्टरता ही प्रधान थी, जिसके कारण यह फल हुआ। यहाँ धर्म ही जीवन है और उसकी व्याख्या भी बड़ी विशद है। यहाँ उसके व्यक्तित्व के बढ़ाने का उपाय है—शिक्षा का सार्वभौमिक प्रसार। अँगरेज़ी स्कूलों और कॉलेजों में जो शिक्षा मिलती है, उससे दैन्य ही बढ़ता है और अपना अस्तित्व भी खो जाता है। बी. ए. पास करके झींगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे, तो सन्तरामजी की ही तरह उन्हें हास्यास्पद होना पड़ेगा। पर महात्माजी की तरह त्याग के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले के सामने आप ही ब्राह्मणों के मस्तक श्रद्धा से झुक जाया करेंगे। भारतीय शिक्षा के प्रसार के साथ ही शूद्रों तथा अन्त्यजों में शुभाचरण के कुछ संस्कार जाग्रत किये जायँ। दूसरी-दूसरी जातियाँ जिस तरह ब्राह्मण और क्षत्रिय बन रही हैं, उसी तरह उन्हें भी एक कोठे में डाल दिया जाय। यह तो हुआ एक प्रकार का संगठन। रही बात पूर्ण वेदान्तिक व्यक्तित्व की, सो वह विशाल व्यक्तित्व एक दिन में नहीं प्राप्त हो सकता। वह तो भारत के सत्य-युग के लिए ही सम्भव है। परन्तु उन्नति का लक्ष्य वही होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातियाँ देश की रक्षा के लिए बहुत लड़ चुकी हैं। अब कुछ शुभ संस्कारों के सिवा उनके पास और कुछ नहीं रह गया। उठनेवाली जातियों को विरासत में उन्हीं गुणों, उन्हीं महास्त्रों का ग्रहण करना होगा। वृद्ध भारत की वृद्ध जातियों की जगह धीरे-धीरे नवीन भारत की नवीन जातियों का शुभागमन हो, इसके लिए प्रकृति ने वायुमण्डल तैयार कर दिया है। यदि प्राचीन ब्राह्मण

ग्रौर क्षत्रिय-जातियाँ उनके उठने में सहायक न होंगी, तो जातीय समर में ग्रवश्य ही उन्हें नीचा देखना होगा। क्रमशः यही ग्रन्त्यज ग्रौर शूद्र, यज्ञकुण्ड से निकले हुए ग्रदम्य क्षत्रियों की तरह, ग्रपनी चिरकाल की प्रसुप्त प्रतिभा की नवीन स्फूर्ति से देश में एक ग्रलौकिक जीवन का संचार करेंगे। इन्हीं की ग्रजेय शक्ति भविष्य में भारत को स्वतन्त्र करेगी। ग्रभी देश में वैश्य-शक्ति का ही उत्थान नहीं हुग्रा, महात्माजी जिसके ग्रग्रदूत हैं; फिर क्षत्रिय ग्रौर ब्राह्मण-शक्ति की बात ही क्या? पर देश की स्वतन्त्रता के लिए इन चारों शक्तियों की नवीन स्फूर्ति, इनका नवीन सम्मेलन ग्रनिवार्य है, ग्रौर तब कहीं उस संगठित नवीन राष्ट्र में वैदान्तिक साम्य की यथार्थ प्रतिष्ठा हो सकेगी, जिसका विकास व्याध में भी ब्रह्म देखता है—ग्रपने ही प्रतिबिम्ब का निरीक्षण करता है।*

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। **चाबुक** में संकलित]

## वर्तमान हिन्दू-समाज

ग्राजकल हिन्दू-जाति के जीवन में जिस तरह की गन्दगी भर गयी है उसको देखते सुधारकों का यह कहना ग्रनेक स्थलों में सत्य है कि समाज की प्राचीन नालियों से होकर वह गन्दगी बह नहीं सकती; उन नालियों के मुँह भर गये हैं; सदियों का कूड़ा उनमें जम गया है, ग्रौर उस समय की वे नालियाँ ग्रब किसी तरह भी काम की नहीं रह गयीं, वर्तमान सभ्य संसार का सामाजिक प्रवाह जैसा है, हमें भी उसी तरह की नयी-नयी नालियाँ काटकर तैयार करनी चाहिए, नहीं तो ग्रपर देशों का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। जो प्राचीन विचारों के विद्वान् हैं, ग्रौर सुधारक भी, वे कहते हैं, नहीं, उन्हीं पुरानी नालियों को साफ़ कर लेने से हमारा सामाजिक जीवन पूर्ववत् स्वच्छ तथा सुखमय हो जायगा, ग्रौर हम ग्रपनी ही मौलिकता के सहारे सभ्य संसार के सामने ग्रपनी विशेषता रख सकेंगे, जो हमारी ग्रपनी चीज़ है, ग्रौर सभ्य संसार को भी जिसके विकसित रूप से कुछ शिक्षा मिल सकेगी। कुछ लोग वर्णाश्रम-धर्म-विभाग ग्रादि की इस समय कुछ भी ग्रावश्यकता नहीं मानते; कुछ लोग उसी को पूर्ववत् कायम रखना हिन्दू समाज के लिए हित-कर समझते हैं। इस तरह के विचारों के घात-प्रतिघातों का ही यह फल है कि नयी सभ्यता के ग्रनुकूल बंगाल में राजा राममोहन राय जैसे समाजसुधारक को सामाजिक स्वतन्त्रता तथा उदारता के विचार से ब्राह्म-समाज की स्थापना करनी पड़ी। इधर पश्चिमोत्तर प्रान्तों में स्वामी दयानन्दजी ने ग्रार्य समाज की स्थापना की। इन सामाजिक सुधारों को देखते हुए ग्रौर-ग्रौर जातियों के लोग भी ग्रपने-ग्रपने फ़िरके में सुधार तथा उन्नयन करने लगे। बढ़ई लोगों ने ग्रपने को कोकाश-पांचाल-ब्राह्मण सिद्ध किया, कायस्थों ने ब्राह्मण ग्रौर क्षत्रिय दोनों, किंबहुना

* लेख बढ़ गया है, परन्तु मेरे मनोभाव नहीं बढ़ पाये। ग्रतः फिर कभी वैदान्तिक साम्य संगठन पर विचार करूँगा।

अहीर, लोध, कलवार आदि ने भी अपनी संगति के अनुकूल क्षत्रिय आदि की उपाधि धारण की। राज्य अँगरेजों का है, किसी के प्रति इस पदवी-ग्रहण के कारण उच्च जातियों के लिए विरोध करने का अधिकार नहीं रह गया।

ये पदवियाँ भी सरकार की नहीं, अतः उसके भी हस्तक्षेप का कोई कारण नहीं। पुनश्च इन पदवियों को ग्रहण करनेवाले एक-एक बुनियाद पर ही ऐसा करते हैं, जिसके कारण उनमें भी कुछ आत्मबल है। समाज के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इन नये ब्राह्मण-क्षत्रियों की दिल्लगी तो खूब उड़ाते हैं, कहीं-कहीं मूर्खता-वश इनके प्रतिकूल आचरण भी कर बैठते हैं, पर कुछ बना-बिगाड़ नहीं पाते। अभिप्राय यह कि एक ओर ब्राह्म-समाज-जैसी सब मनुष्यों को समान माननेवाली संस्था भी यहाँ है, और नवीन ब्राह्मण-क्षत्रिय भी प्रतिदिन किसी-न-किसी साँचे से ढलते जा रहे हैं, आर्य-समाज-जैसी वेद-वाद की संस्था भी है, और जाति-पाँति-तोड़क-मण्डल भी यहाँ संगठित हो रहा है। सनातन-धर्म का तो कहना ही क्या? गृहस्थों की अनेक छूत-अछूत जातियों की तरह तपश्चारियों की भी अगणित कोटियाँ हैं। इस सामाजिक परिस्थिति के भीतर जो तूफ़ान उठ रहा है, उसमें दिग्यन्त्र से दिशाओं का निर्णय भले ही हो, पर विक्षुब्ध तरंगों से सुधार का पोत आगे नहीं बढ़ने पाता। यों तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है ही, जिसके जी में जो बात उठती और बैठ जाती है, वह वही कर डालता है, किन्तु इसके अलावा भी यहाँ एक बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है। हर जाति दूसरी जातियों से पृथक है, अपने सुधार के लिए वह अपने ही को उत्तरदायी समझती और अपने ही समाज के सुधारक का कहना मान सकती है। कहीं-कहीं समाज ही के लोगों ने किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर अपनी सामाजिक व्यवस्था का उल्लंघन किया है। जैसे ब्राह्मण-कन्या का वैश्य वर के साथ विवाह होना। अवश्य वहाँ कन्या योग्य थी, उसके योग्य वर ही मिला। कहीं-कहीं, और प्रायः ब्राह्मणों की साधारण श्रेणियों में, विवाह न होने के कारण एक-से-एक सामाजिक उल्लंघन देखने को मिलते हैं। वे इतर-से-इतर जाति की कन्याओं से विवाह कर लेते हैं। अवश्य इसके पश्चात् ब्राह्मणों में उनका खान-पान नहीं रह जाता। पर ऐसे उल्लंघन अपढ़ अशिक्षितों में भी होने लगे हैं। रखेलियाँ रखना तो आजकल की बहुत साधारण बात हो गयी है। सारांश यह कि सनातन-धर्म या कोई धर्म नाम-मात्र के लिए रह गया है। उसका पालन कहीं भी नहीं होता। सनातन-धर्म का अर्थ यही है कि आचार-सम्बन्धी थोड़ी-सी कवायद रह गयी है। वह भी विदेश के लिए उतनी दृढ़ नहीं।

देश के नवीन समाजों ने, जैसे ब्राह्म-समाज तथा आर्य-समाज, बहुत बड़ी उदारता दिखलायी है। इन दोनों समाजों के भीतर बहुत बड़े-बड़े नर-रत्न पैदा हुए। आज भी अज्ञान के अन्धकार में डूबा हुआ हिन्दू-समाज विदेश-यात्रा का विरोध करता है। उन दिनों, जब अँगरेजी-शिक्षा का पहला दौरदौरा था, विलायत से लौटते हुए लोगों के लिए हिन्दू-समाज में कहीं भी जगह न थी, शिक्षित लोग इस हृदय-हीनता के कारण ईसाई हो जाते थे, अन्त तक, विलासिता के बढ़ने के साथ-ही-साथ, बंगाल में अँगरेजी-शिक्षित कालेजों के लड़के धड़ाधड़ ईसाई होने लगे, ब्राह्म-समाज ने ही इनकी रक्षा की। इधर सनातन-धर्म के खोखलेपन का आर्यसमाज ने दिग्दर्शन कराना शुरू किया। अवश्य आर्यसमाज की बहुत-सी बातों में कट्टरता ही प्रबल थी; पर वह जैसे यहाँ के लोगों की प्रकृति के अनुकूल हो। उससे भी लोगों के उत्थान में काफ़ी मदद मिली। यहाँ के संगठन के

लिए तो आर्यसमाज को ही एकमात्र श्रेय प्राप्त है। उसी ने यहाँ के लोगों को हिलाया-झुलाया, और अब एक प्रकार से उठाकर खड़ा कर दिया है। हिन्दुओं के सबसे अधिक महत्त्व के ग्रन्थ वेदों को आधार माना, और इस तरह अनेकानेक वाद-विवादों से हटाकर उन्हें एक ही मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। वेदों की चर्चा होने लगी, और दो-चार अच्छे वैदिक विद्वान् भी पीछे तैयार कर दिये।

रामकृष्ण-मिशन इसी समय की, कुछ पीछे से प्रतिष्ठित, एक ऐसी ही संस्था है, जिसके नायक स्वामी विवेकानन्दजी हैं। श्रीरामकृष्ण देव एक अद्‌भुत महापुरुष अवतार कोटि के, स्वामी दयानन्दजी के समकालीन हो गये हैं। उनके शिष्यों में प्रमुख स्वामी विवेकानन्दजी ने अमेरिका से लौटकर इस मिशन की स्थापना की। स्वामी विवेकानन्दजी की विचार-श्रृंखला यहाँ सब धर्मों, सब सम्प्रदायों के अनुकूल है। वह अद्वैतवादी थे। पर उनकी द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, सब विभागों में गति थी। वह तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। यद्यपि ऊँची-ऊँची बातों को छोड़कर, ज्ञान-भूमि को त्यागकर, साधारण सुधार की भूमि में वह बहुत कम आये हैं, फिर भी वर्तमान समाज के प्रति उनकी क्या धारणा थी, यह बहुत कुछ उनकी थोड़ी-सी उक्तियों से ज़ाहिर हो जाता है। मदरास की परिया आदि जातियों के प्रति उनकी अपार समवेदना प्रकट होती है। वह वेदान्त के ज्ञान-धर्म में सब जातियों को समान अधिकार देते हैं। उनके अनेक पाश्चात्य शिष्य भी हैं। रामकृष्ण-मिशन में, श्रीरामकृष्ण की जन्म-तिथि के उत्सव के समय, सब जातियों को एक ही पंक्ति में बैठकर प्रसाद पाने के लिए आमन्त्रित करते हैं, और बंगाल में यहीं पहले-पहल सब वर्णों के लोगों ने (कट्टर सनातनी होते हुए भी) एक ही पंक्ति में बैठकर प्रसाद पाया। वहाँ अब तक यह प्रथा जारी है। पर किसी पर दबाव कुछ नहीं। लोग, न-जाने क्यों, यह सब जाति-पाँति का झमेला वहाँ नहीं रखते। पहले यह प्रथा केवल जगन्नाथजी की पुरी में थी, जो अब तक चला आ रही है। स्वामीजी तमाम हिन्दू-जाति के लिए कहते हैं—We are Vendantists. यहाँ बहुत बड़ा भाव छिपा हुआ है—बहुत बड़ा सुधार इस उक्ति में है। यहाँ जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। सब लोग परस्पर ज्ञान-सम्बद्ध हो जाते हैं, और सुधार की जो मुख्य बात है, वह भी आ गयी है। यहाँ वर्णभेद नहीं। कारण, सभी "**अमृतस्य पुत्राः**" हैं। जो दूसरे सांसारिक मनुष्य हैं, वे अपने सम-विचार, सम-आचार, सम-शिक्षा, सम-धर्मवालों से तो सम्बन्ध करेंगे ही। पर ज्ञान-मार्ग के यात्री विरक्त साधु का दिया हुआ उपदेश इससे अच्छा और क्या होगा? वह एक ही श्रुति-वाक्य के द्वारा सब भारतवासियों की रूह का पता दे रहा है, और इस तरह परस्पर दृढ़ सम्बन्ध होने की सूचना। महापुरुष केवल इंगित करते हैं, उसके अनुसार कार्य करना, साधारण जनों का फर्ज़ है। आज "जाति-पाँति-तोड़क-मण्डल" को स्थूल रूप से भी जाति-पाँति की आवश्यकता नहीं देख पड़ती। सन्तरामजी की पुरअसर बातें निष्पक्ष पाठकों के हृदय में पूरी सहानुभूति पैदा कर रही हैं। अन्त्यजों की शिक्षा-दीक्षा तथा अधिकारों की वृद्धि भी क्रमशः होती जा रही है। महात्माजी ने भी अन्त्यजों के लिए बहुत कुछ कहा है। स्वामी विवेकानन्दजी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहा है—"ऐ भारत के उच्च वर्णवालो, तुम्हें देखता हूँ तो जान पड़ता है, चित्रशाला में तसवीरें देख रहा हूँ। तुम लोग छायामूर्तियों की तरह विलीन हो जाओ, अपने उत्तराधिकारियों को (शूद्रों को) अपनी तमाम विभूतियाँ दे दो, नया भारत जग पड़े।"

भारतवर्ष में अधिकारियों—उच्च वर्णवालों का उन्माद द्वापर से ही बढ़

रहा है। भगवान श्रीकृष्ण के धर्मराज्यसंस्थापन में यहाँ देख पड़ता है कि उन्होंने दृप्त क्षत्रियों की शक्ति का नाश करा दिया। अपार परिश्रम के पश्चात् धर्मराज्य या शान्ति की स्थापना की। गीता में सब धर्मों का समन्वय किया। वाद-विवाद की जड़ काट दी, जिससे उत्तेजना के कारण आसुर भावों के बढ़ने तथा फैलने की शंका न रह गयी। पर कुछ काल बाद फिर ब्राह्मणों के मस्तिष्क में स्पर्धा ने प्रचण्ड रूप धारण किया। भगवान् बुद्ध आये। अब की ब्राह्मणों के शास्त्र-शस्त्र भी उड़ा दिये गये। वैदिक सभ्यता ही न रह गयी। उन्होंने अपनी तपस्या से प्राप्त ज्ञान की ज्योति फैलायी। शिक्षा का माध्यम रहा उसी समय की प्रचलित भाषा। साधारण जनों को यह बात बहुत पसन्द आयी। कुछ काल के लिए फिर भारत में सुख-शान्ति का साम्राज्य हुआ। पर इसके बाद ही आचारवान् ब्राह्मणों ने फिर सिर उठाया। भगवान् शंकर ने बौद्धों को परास्त कर वेदों का उद्धार किया। बौद्धों के शून्यवाद का "सच्चिदानन्द" के "अस्ति, भाति, प्रिय" द्वारा खण्डन किया। बुद्ध के विशाल हृदय के कारण जो अधिकारियों का भेद न रह गया था, वह शंकर के समय घोर अधिकार-भेद को लेकर खड़ा हुआ। अधिकारियों का भेद न रखने से बौद्ध-धर्म शीघ्र ही नष्ट हो गया, सब वर्णों तथा उभय लिंगों के एकत्र वास के कारण आचरण शुद्ध नहीं रह सके। इधर ब्राह्मणों में आचार-निष्ठा थी। वे आस्तिक थे पर हृदयहीन थे, जैसा कि मस्तिष्क और हृदय से कुछ वैषम्य रहता है। ब्राह्मणों के आचारवान् होने के कारण भगवान् शंकर ने उन्हें ही सर्वोत्तम अधिकारी चुना। यही कारण है कि आज नये सुधारक, जिन्हें शूद्रों का पक्ष लेना होता है, शंकर पर शूद्र-विरोध का लांछन लगाते हैं। पर शंकर किसी के विरोधी और किसी के मददगार नहीं थे। उन्होंने मार्जन को देखकर अधिकारियों का निर्वाचन किया है। शंकर की दृष्टि केवल चमक पर थी, और वह धर्म की रक्षा अधिकारियों में ही समझते थे। इसलिए उनके नियम बड़े कठोर हुए। वैदिक ज्ञान की मर्यादा तथा महत्त्व को स्थिर रखने के लिए शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन बड़े कठोर हैं। यही कारण है कि शूद्र उन्हें अपना शत्रु समझते हैं। कुछ हो, शंकर का महान् मस्तिष्क-धर्म भी अधिक काल तक यहाँ स्थायी नहीं रह सका। उनका आदर्श इतना ऊँचा था कि उस समय की क्रमशः क्षीण होती हुई प्रतिभा उस उज्ज्वलता को धारण नहीं कर सकी। शंकर का आगमन जैसे वेदान्तिक प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ हो, जैसे ज्ञानकाण्ड की स्थापना तथा बौद्धों के उच्छेद के लिए ही वह आये हों। शंकर के बाद भारत को शीघ्र ही एक ऐसे धर्म की आवश्यकता पड़ी, जिसमें हृदय-जन्य सुख तथा अनुभूतियों का आधिक्य हो। फिर रामानुज आये। इनके बाद अब तक हृदय-धर्म का ही प्राबल्य रहा। वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत भी जाति-पाँति का भेद नहीं रहा। अनेक उपाख्यान तथा कथा-कहानियाँ इस जातिवैषम्य को धर्म से मिटाने के लिए रची तथा प्रचारित की गयीं। **"आचाण्डालाप्रतिहतरयो यस्य प्रेम-प्रवाहः"** उन भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का तमाम साधना-जीवन अन्त्यजों, भीलों, वन्य मनुष्यों, अशिक्षितों, निशाचरों के बीच में व्यतीत होता है।

"जिहि लखि लखनहु ते अधिक, भेंट महामुनिराव।
सो सीतापति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाव।"

—तुलसीदास

इस तरह का सहस्र-सहस्र उक्तियाँ प्रचारित हुई, जिनसे अन्त्यजों के प्रति प्रगाढ़ स्नेह का परिचय मिलता है—**"प्रभु तरुतर कपि डार पर, तिहि किय आपु**

**समान"** अन्त्यजों को साम्यभाव देने के भी उल्लेख मिलते हैं। "वैष्णव-धर्म" इसका स्वच्छसलिला मन्दाकिनी बन गयी। यही कारण है कि भारतवर्ष के अधिकांश लोग इस तरफ आकर्षित हुए। समाज में यह घृणाजन्य वर्ताव तो रहा; पर गुरु के यहाँ ब्राह्मण-चाण्डाल एक ही थे। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का वैष्णव-धर्म उदारता का प्रशान्त महासागर है। कबीर के पास जातिभेद न था। रैदास की शिष्या रानी भी थी। सदन कसाई का नाम आज भी प्रातःकाल उठकर बड़े-बड़े ब्राह्मण बड़े चाव से जपते हैं। अधिक क्या, प्रत्येक समाज से उतने ही बड़े महापुरुष निकले हैं, जितने बड़े ब्राह्मण-समाज में हो सकते हैं। जो आत्मिक उत्कर्ष मण्डन मिश्र ने वेदाध्ययन से प्राप्त किया था, वही उत्कर्ष व्याध मांस बेचकर प्राप्त करता है। पर योरप में किसी जूते गाँठनेवाले अपढ़ की मर्यादा ऐसी नहीं कि वह लॉर्ड-खानदान के साथ बराबरी का व्यवहार करे। यहाँ की सामाजिक प्रणाली दूसरी ही थी।

वैष्णव-धर्म की उदारता के साथ ही भारतवर्ष में दुर्बलता खूब फैली। हृदय-धर्म के कारण यहाँ के लोग सुखों की कल्पना में भूल गये। चारित्रिक पतन हुआ। अनेक देव-देवियों की उपासनाएँ फैल गयीं। साधारण कोटि के लोगों में विचारों की उच्चता न रही। वे उपन्यासों के पाठकों की तरह पुराणों के उपाख्यानों में आ पड़े। ज्ञान का विस्तार सीमा में बँध गया। अपढ़ रैदास भी जब ईश्वर प्राप्त करने लगा, और नाम की महत्ता का प्रचार हुआ, तब बस फिर क्या, माला जपना मुख्य और अध्ययन गौण हो गया। संसार की असारता तो भारतवर्ष में आज भी प्रबल है। फल यह हुआ कि द्विजाति भी विद्या से रहित, दुर्गुणों से भरे-पूरे होने लगे। इधर विश्वास भी रहा कि एक ही डुबकी गंगा में लगावेंगे, जन्म-जन्मान्तर के पातक-पुंज को डुबा देंगे, और फिर ब्रह्म की ही तरह चमकते हुए निकलेंगे। **"तव कृपया चेत् स्रोतः स्नातः पुनरपि जठरे सोऽपि न जातः"** का पाठ बढ़ चला, या **"एरे दगादार, मेरे पातक अपार, तोहिं गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं।"** पुराणों के उपाख्यानों का भीतरी रहस्य लोग भूल गये, उन्हें इतिहास के रूप से पढ़ने लगे। उन्हीं पर उनका विश्वास हो गया, जैसा कि अशिक्षितों का अन्ध-विश्वास होता है। चारित्रिक पतन के कारण समाज में शिथिलता आयी, और हेकड़ी, हठ, अभिमान, अहंकार आदि ने सिर उठाया, स्वामिजनों का सेवकों तथा शूद्रों पर अनुचित दबाव पड़ने लगा। यह भारतवर्ष की अशिक्षा का काल है, और एक प्रकार महाराज विक्रमादित्य के समय से ही शुरू होता है, जिस समय संस्कृत फूली-फली कही जाती है। अगर यह बात न होती, तो ग्रीक तथा रोमन सभ्यता के साथ-साथ भारतवर्ष की आधिभौतिक सभ्यता का विकास ही देख पड़ता। इधर के ये इतने धार्मिक विप्लव भारतवर्ष की अशिक्षा के कारण ही हुए जान पड़ते हैं। मुमकिन है, चूँकि ग्रीस पहले सौन्दर्य का उपासक था, उसकी सौन्दर्य की देवी वेनस ही उपासना की अधिष्ठात्री थीं, इसलिए भारत को इसमें आसुरी भाव मिले हों, और उसने इस तरह की शिक्षा से नफरत की हो। पर, जान पड़ता है, ग्रीस के सौन्दर्य के उपवन की उन अप्सराओं से भारत को संग्रहण के योग्य चन्द्रगुप्त की हेलेन के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। यहाँ कुछ उसने भले ही सीखा हो, या चन्द्रगुप्त की तरह किसी-किसी ने सेना-निवेश या व्यूह-रचना आदि सामरिक नियम क़ायदे सीखे हों; भारत ने रोम की राजनीति, दृढ़ व्यवस्था, मार्गों की सरलता—बड़ी-बड़ी प्रशस्त सड़कें बनवाना भी नहीं सीखा। यह शायद इसलिए कि इसे रामराज्य की प्रजा होने का गर्व था। अभिप्राय यह कि पश्चिम के उत्कर्ष के दिनों में उससे साम्य तथा मैत्री की स्थापना भारतवर्ष ने नहीं की। किसी प्रकार का

भौतिक सम्वन्ध, जिससे एक जाति अपर जाति से आदान-प्रदान करती है, राज्य की व्यवस्था बदलती तथा अनेक प्रकार के उत्कर्ष करती है, नहीं स्थापित किया। यह सब अज्ञान, पारस्परिक विरोध तथा व्यर्थ का स्वाभिमान ही जान पड़ता है। दूसरे मनुष्य को मनुष्य न समझना, यह वृत्ति बहुत पीछे मुसलमानों के शासन-काल में भी भारतवर्ष के लोगों की थी, और अब तक फ़ी सदी 98 लोगों की यही धारणा बनी हुई है। चन्द्रगुप्त उच्च वर्णों का नहीं समझा जाता था, अतएव हेलेन का विवाह बहुत बड़ा जातीय महत्त्व नहीं रखता, तथा बापा रावल का ग़ज़नी की शाहज़ादी से विवाह करना प्रेम के पतन का ही परिचायक हुआ है। कारण शाहज़ादी के लड़के का उन्होंने कोई हिन्दू नाम नहीं रक्खा। उसका नाम शायद ख़ुमान रक्खा गया था। भीम से हिडिम्बा का विवाह भी यही परिणाम सूचित करता है। वह कोई सिंह नहीं हुआ, हिडिम्वा का पुत्र होने के कारण वह घटोत्कच ही रहा। विवाह तो वह है, जिसे पुत्र पिता के गुण-धर्म का अधिकार प्राप्त करता है। ये सब भारत के सामाजिक पतन के ही चिह्न हैं, जिनके परिणाम की चिन्ता नहीं की गयी। आज भी कितने ही तअल्लुकदारों की यवनी नर्तकियों के पुत्र हिन्दू-पिता के कलंक-स्वरूप जी रहे हैं। दूसरी जातियों के प्रति यह नफ़रत ही भारत के पतन की धात्री है। हम देखते हैं, मुहम्मद ग़ोरी पंजाब पार कर आया; पर कई बार के विजयी महाराज पृथ्वीराज संयुक्ता के साथ विलास-वाटिका में विहार कर रहे हैं। उन्हें ज़रा भी चिन्ता नहीं, कुछ भी खबर नहीं कि शत्रु-सैन्य की कितनी संख्या है। दूसरे देशों में गुप्तचर नहीं घूमते, वहाँ की राज-व्यवस्था की कोई ख़बर नहीं आती। म्लेच्छों से आर्यगण भला क्या सीखते ? उनके पास सीखने लायक था ही क्या ? भारत के सामाजिक पतन का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा ? जव शत्रु घर में घेर लेता था, तब यहाँ के वीर तलवार उठाते थे। रहते संसार में थे; पर उससे लापरवा रहकर ही जीना चाहते थे। ये कुल बातें अशिक्षा तथा अव्यवस्था की सूचक हैं। इस औद्धत्य के ज़माने में यहाँ की शूद्र-शक्ति किस तरह प्रपीड़ित थी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

मुसलमानी शासन-काल से ही यहाँ की शूद्र-शक्ति का अभ्युत्थान होता है। प्रकृति ने स्वयं ही शूद्रों के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया। मुसलमानों के समय में हिन्दू होने के कारण शूद्रों के साथ भी कोई रियायत नहीं होती थी। पर भिन्न शासन के कारण उच्च जातियों का वह रोब उन पर नहीं रह गया। बल्कि मुसलमानों से मोर्चा लेने के लिए एक बार फिर सब लोग छोटे-छोटे फ़िरकों में संगठित हो गये। यह एक प्रकार की धार्मिक लड़ाई होती रही। नीच जातियों के प्रति उच्च जातियों का कुछ स्नेह-बन्धन रहा; परन्तु फिर भी जो लोग हिन्दू-अंग से छूटकर मुसलमान हो गये, उनमें अधिकांश पीड़ित होने के कारण ही हुए। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पूर्ववत् दृश्य मात्र रहने पर भी, ज्ञान से सम्बन्ध छूट जाने के कारण, वैसी सुदृढ़ नहीं रह सकी। यौवन के बाद के वार्धक्य की तरह उसकी तमाम हृष्ट-पुष्ट मांसपेशियाँ झूल पड़ीं, तनी हुई नसें ढीली पड़ गयीं, जीवन मृत्यु की बाट जोहने लगा। इसके पश्चात् अँगरेज़ी राज्य की स्थापना होने पर अखिल जातियों की उन्नति का द्वार ही खुल गया। राजा की दृष्टि में, कानून की निगाह में ब्राह्मण और चाण्डाल का भेद नहीं रहा। सबके लिए समान अधिकारों की राह खुल गयी। इसमें अँगरेज़ों का जो कुछ भी अभिप्राय हो, भारत की हिन्दू-मुसलमानों की अनेक जातियों पर शासन जमाये रखने के लिए इससे बेहतर तथा सर्वमान्य और कोई उपाय अँगरेजों के पास नहीं था। इससे उच्च जातियों की हानि हुई, और

शूद्र-जातियों को लाभ पहुँचा। वे अपनी बिगड़ी हालत के सुधार में लगे। उच्च जातियाँ क्रमश: गिरती ही गयीं। उनके वे अधिकार नहीं रह गये, जो क्षत्रिय-शासन-काल में थे। अदालत में एक शूद्र और ब्राह्मण की समान हैसियत रह गयी। राजदृष्टि के अलावा बहिर्देशों में भी ब्राह्मण की कोई महत्ता नहीं रह गयी। सब जगह गुणों का आदर होने लगा। इधर अशिक्षा के कारण ब्राह्मणों की स्थिति बिलकुल ख़राब हो गयी। वे कलकत्ते में जमादारी और बम्बई में भैयागीरी करने लगे। फेरी करना, कपड़े से लेकर जूते तक की दूकान करना, मिठाई-पूड़ियाँ बेचना अधिक क्या, हल जोतना भी आरम्भ कर दिया; पर पराधीनता के कारण जनेऊ पर उनका पूर्ववत् ही अधिकार रहा। इधर दूसरी-दूसरी जातियाँ उन्नति करने लगीं। अभिप्राय यह कि प्रकृति ने ही साम्य की स्थापना कर दी, सब जातियों के एक ही कार्य तथा एक ही अधिकार कर दिये। भारत के लिए अँगरेज़ी राज्य का यही महत्त्व है कि तमाम शक्तियों का साम्य हो गया। इस समय जितने दुराचरण हो रहे हैं, वे अब वैषम्य में साम्य की स्थापना के लिए हो रहे हैं, जैसे प्रकाश के लिए अन्धकार हुआ हो। कुछ काल पश्चात् यह उपद्रव भी न रह जायगा। शूद्र-शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेंगी। वे ही भविष्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, और ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि दृप्त जातियाँ शूद्र। ख़ुदाई सज़ा ऐसी ही होती है। चिरकाल तक लड़कर ब्राह्मण-क्षत्रिय पस्त हो गये हैं। वे अब प्रकृति की गोद में विश्राम करना चाहते हैं। वे अब मुग्ध हैं, सोना चाहते हैं। उनका कार्य अब वे जातियाँ करेंगी, जो अब तक सेवा करती आयी हैं। स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार उनमें सेवा करते-करते अपार धैर्य और अविचल श्रद्धा के भाव भर गये हैं। भारत तभी तक पराधीन है, जब तक वे नहीं जागतीं। उनका कर्म के क्षेत्र पर उतरना भारत का स्वाधीन होना है।

**"न निवसेत् शूद्रराज्ये"*** मनु का यह कहना बहुत बड़ा अर्थ-गौरव रखता है। शूद्रों के राज्य में रहने से ब्राह्मण-मेधा नष्ट हो जाती है। पर अब यवन और गौरांगों के 800 वर्षों के शासन के बाद भी हिन्दोस्तान में ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, जो लोग ऐसा कहते हैं, वे झूठ तो बोलते ही हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय का अर्थ भी नहीं समझते। इस समय भारत में न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य; न अपने ढंग की शिक्षा है, न अपने हाथ में राज्य-प्रबन्ध, न अपना स्वाधीन व्यवसाय। प्रोफ़ेसर अँगरेज़, मान्य शिक्षा पश्चिमी; शासन अँगरेज़ी, शासक अँगरेज़; व्यवसायी अपर देशवाले वैश्य, व्यवसाय की बागडोर, माँग, दर का घटाव-बढ़ाव उनके हाथों। ऐसी परिस्थिति में चाहे काशी के पूर्वकाल के वैश्य "स" महाशय संस्कृत पढ़ लेने के कारण ब्राह्मण की परिभाषा संस्कृतज्ञ करें, और हर भाषा के पण्डित को हर जाति का ब्राह्मण मानें या कलकत्ते के करोड़पति विदेशी मालों के दल्लाल "डागा" जी वैश्य-शिरोमणि अपने को समझ लें, या सूबेदार मेज़र जट्टासिंह अपने को आदर्श-क्षत्रिय साबित करें, हैं सब शूद्र ही। म्लेच्छ-प्रभाव में रहकर कभी कोई पूर्वोक्त त्रिवर्ण में से किसी का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। एक और बात यह भी है कि कोई राष्ट्र तब तक स्वाधीन नहीं हो सकता, जब तक उसके ये तीनों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जग न गये हों—उसकी मेधा पुष्ट, शासन स्वाधीन सुदृढ़ और वाणिज्य स्वायत्त तथा प्रबल न हो। ग़ुलाम के मानी ग़ुलाम, बाहरी और भीतरी परिस्थितियों का दास।

* मालूम नहीं, शूद्र-राज्य या मलेच्छ-राज्य।

ग़ुलाम जाति का उत्थान भी ग़ुलामी से होता है। जहाँ ब्राह्मण होंगे, क्षत्रिय, वैश्य होंगे, उसके उत्थान की ज़रूरत क्या है? वह तो उठा हुआ है ही। उठने की जहाँ कहीं आवश्यकता हुई है, वहीं मोह या दास्य का अन्धकार रहा है। वहीं स्वतन्त्रता के आलोक की आवश्यकता हुई है—उठाने के लिए। और, उस प्रभात में उठीं भी वे ही जातियाँ, जो रात के पहले से सोयी हुई थीं, जिनकी नींद एक चोट ख़ूब लग चुकी है। अतः अब जिस जागरण की आशा से पूर्वाकाश अरुण हो रहा है, उसमें सबसे पहले तो वे ही जातियाँ जागेंगी, जो पहले की सोयी हुई—शूद्र, अन्त्यज जातियाँ हैं। इस समय जो उनके जागने के लक्षण हैं, वही आशाप्रद हैं, और जो ब्राह्मण-क्षत्रियों में देख पड़ते हैं, वे जागने के लक्षण नहीं, वह पीनक है—स्वप्न के प्रलाप हैं। वरासत में पहले के गुण अब शूद्र और अन्त्यज ही अपनावेंगे। यहाँ की सभ्यता के ग्रहण करने का क्षेत्र वहीं तैयार है। ब्राह्मण और क्षत्रियों में उस पूर्व-सभ्यता का ध्वंसावशेष ही रह गया है। उनकी आँखों का वह पूर्व-स्वप्न अब शूद्रों तथा अन्त्यजों के शरीरों में भारतीयता की मूर्तियों की तरह प्रत्यक्ष होगा।

वर्तमान सामाजिक परिस्थिति पूर्ण मात्रा में उदार न होने पर भी विवाह आदि में जो उल्लंघन कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं, वे भविष्य के ही शुभ चिह्न प्रकट कर रहे हैं। संसार की प्रगति से भारत की घनिष्ठता जितनी ही बढ़ेगी, स्वतन्त्रता का ब्राह्म रूप जितना ही विकसित होगा, असवर्ण विवाह का प्रचलन भी उतना ही होता जायगा। देश के कल्याणकामी यदि इन अनेक गौण बातों पर ध्यान न दें, एक शिक्षा के विस्तार के लिए प्रबन्ध करें, इतर जातियों में शिक्षा का प्रसार हो, तो असवर्ण विवाह की प्रथा भी ज़ोरों से चल पड़े। अभी तो अशिक्षित लोग भी पूर्वकाल के ब्राह्मण-कुमारों से अपनी लड़की का विवाह नहीं कर सकते। अपने-अपने फ़िरके का सबको ख़याल है। वर्ण-समीकरण की इस स्थिति का ज्ञान विद्या के द्वारा ही यहाँ के लोगों को हो सकता है। इसके साथ-ही-साथ नवीन भारत का रूप संगठित होता जायगा, और यही समाज की सबसे मज़बूत शृंखला होगी। यही साम्य पश्चात् वर्ण-वैषम्य से—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के रूपों में पुनः संगठित होगा।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1930 (‘समाज-सुधार’ शीर्षक स्तम्भ में)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## भारत का नवीन प्रगति में सामाजिक लक्ष्य

भारत की राष्ट्रीय समस्या के साथ-ही-साथ समानन्तराल रेखा की तरह यहाँ की जातीय समस्या भी चल रही है। ये दोनों समस्याएँ अभी हल नहीं हुई हैं। किसी का कहना है, जातीय वैचित्र्य ही भारत की पराधीनता का मुख्य कारण है, कोई कहता है, जातियों के भीतर से पुरानापन बिलकुल ही निकाल देना चाहिए, नहीं तो हमारा संगठन ठीक न होगा। वहीं ऐसे भी अनेक हैं जो प्राचीन कर्म-पद्धतियों तथा जातीय योजनाओं ही को महत्त्व देते हैं और यहाँ के विकास के लिए उचित

निर्णय सिद्ध करते हैं। इन्हीं भिन्न-भिन्न भावनाओं के आधार पर कोटपार्टी, अचकनपार्टी, टोपपार्टी और पगड़ीपार्टी आदि का उद्भव मारवाड़ियों की भी अपरापर तमाम शाखाओं में हुआ है। विचारों का संघर्ष प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जिसे देखकर यह आशा दृढ़ हो जाती है कि अन्यान्य समाजों की तरह मारवाड़ी-समाज भी परिवर्तन के मोड़ पर आ गया है।

परिवर्तन जाति तथा समाज के जीवन का चिह्न है। जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ परिवर्तन अवश्य होगा। इस लेख में हम इसी परिवर्तन पर विचार करेंगे।

मारवाड़ी-समाज भारत के वैश्य-सम्प्रदाय या धन-कुबेरों का समाज है। आज अनेक प्रकार के वाद विवाद-ग्रस्त हो रहे हैं। कहीं बोलशेविज्म है, कोई श्रम को···। परन्तु भारतवर्ष ने जिस समय अपने अन्दर के समाजों का नियन्त्रण किया था, उस समय आर्थिक तथा भौतिक स्थिति में रहनेवाले समाज का सम्बन्ध उसने आत्मा की क्रमोन्नति के विचार से जोड़ा था जहाँ किसी प्रकार का एक-दूसरे से विरोध भाव नहीं रहता, हर समाज के मनुष्य सुख तथा शान्ति की स्वच्छन्द धारा में बहते हुए, अपनी आत्मा के विकास से चमकते, अविराम अपने लक्ष्य की ओर चलते जाते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सब अपने-अपने कार्य की अलग-अलग शृंखलाओं से बँधे हुए भी मुक्ति फल की प्राप्ति में समान अधिकार ही रखते थे। जो फल किसी कर्म-काण्ड-रत वेदाध्ययनशील ब्राह्मण को प्राप्त था, वही लड़ाई के मैदान में शौर्य-प्रदर्शन करनेवाले वीर क्षत्रिय को, जो देश तथा जाति की रक्षा करता था, क्षत से उसका त्राण करता था। यही फल अर्थ-संचय करने की वृत्ति रखनेवाले वैश्य-समाज को प्राप्त था, कारण वे अर्थ की सहायता से देश तथा जाति की संकट के समय रक्षा करते थे। और यही फल कर्म से क्लान्त हुई द्विजातियों की सेवा द्वारा शूद्रों को मिलता था। समाज को किसी वाद-विवाद का भय न था। उसकी प्रसन्न धारा समृद्धि की ज्योत्स्ना में अबाध बहती चली जा रही थी।

समय के चक्र के बदलने के साथ ही, "दु:खानि च सुखानि च" का अवश्यम्भावी परिणाम भारत को भी भोगना था। अत: सुख के बाद दु:ख के भोग का काल आया जब यहाँ शासनतन्त्र दुर्बल टुकड़ों में जुदा-जुदा क्षत्रियों के हाथों से छिनकर मुसलमानों के हाथों गया। इसी समय से यहाँ के समाज का बुना हुआ जाल जगह-जगह से जीर्ण होकर कटने और फटने लग गया। समाज के उच्छृंखल मनुष्य अपने विचारों को भूलकर दूसरों के विचारों को, जिन्हें समय ने महत्त्व दिया है और यद्यपि वे दुर्बल हैं, अपनाने लगे। यह कार्य अंग्रेजी राज्य में और जोरों से चल पड़ा। मुसलमानों के समय जिस नियन्त्रण की प्रधानता जाति की रक्षा के लिए की गयी थी, वह अब नहीं रह गयी। कारण, इस समय भौतिक विज्ञान के उत्कर्ष के साथ-ही-साथ संसार की व्यावसायिक स्पर्धा पहले से बहुत बढ़ गयी। मुसलमानों के शासन काल में जितना नियन्त्रण रहा उतनी ही उच्छृंखलता बढ़ गयी। रबड़ की तरह पश्चिमी शिक्षा से यहाँवालों के विचार-तन्तु इतने बढ़ा दिये गये कि फिर से सिकुड़कर अपने दायरे में आ जाना उनके लिए अस्वाभाविक हो गया। समाज के जाल में कटी जगहें पहले के नियन्त्रण-काल की खींचतान से हो ही गयी थीं, अब उन्हीं से होकर निकलने-पैठने की काफी गुंजाइश हो गयी और छिद्रान्वेषियों के लिए देखने-दिखाने के बड़े-बड़े छिद्र। अब समाज की शृंखला का पहला काट ही रह गया, पर पहले की तरह के विचार न रह गये।

जिस संस्पर्श-दोष का मनु महाराज ने उल्लेख किया है और जिससे बचने

की द्विजातियों को शिक्षा दी है, वह दोष मुसलमानों तथा अंग्रेजों के शासन में रहनेवाली इस आर्य-जाति के शरीर में बहुत अच्छी तरह लग गया। पराधीनता के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय शक्ति का नाश मुसलमानों के समय ही हो गया था, अंग्रेजों ने वैश्य-शक्ति का भी दिवाला निकाल दिया। विदेशों का माल बेचने से वैश्य-शक्ति का परिचय नहीं मिलता। वैश्य-शक्ति अपने ही व्यवसाय-बल तथा कौशल से चलती है।

अस्तु, इस तरह गुलाम देश की प्रधान तीनों शक्तियाँ नष्ट हुईं। गुलामों के पास दास्य-शक्ति ही रहती है, वह अब भी मौजूद है। पर गुलाम, इस देश का शरीर ही दुर्बल होकर, हुआ है, आत्मा नहीं। समाज की आत्मा में वे पूर्व-संस्कार अब भी जाग्रत हैं। वही भविष्य में उसे बचायँगे, फिर से उठाकर खड़ा कर देंगे।

पहले की बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो उस नियन्त्रण-काल के लिए ठीक थीं, पर अब उनकी कोई भी उपयोगिता नहीं रह गयी। लड़ाई के समय कभी ऐसा मौका आता है, जब तमाम सेना को एक संकुचित व्यूह के अन्दर उसका सेनापति संगठित कर देता है, एक-दूसरे से खूब सटे हुए चक्राकार, कमलाकार, सूच्याकार (चक्रव्यूह, कमलव्यूह, सूचिव्यूह आदि में) सन्निवेशित रहते हैं, और कभी ऐसा मौका आता है जब एक-दूसरे से काफी फासला लेकर खड़े होते, इच्छानुसार अपने गति-क्रम को बढ़ाते-घटाते हैं। अब समाज के लिए यही समय है। उसकी विशालता इतनी बड़ी सीमा में होनी चाहिए जिसमें तमाम संसार आ जाय। वह था संकोच का युग, जब के कायदे हम इस समय भी मानते हैं, पर अब यह प्रसार का युग आ गया है। अब हमें उन कानूनों को प्रधानता देनी चाहिए जो प्रसार के पक्ष में हों।

मारवाड़ी-समाज की धर्म-निष्ठा प्रशंसनीय है। आज उनके जो धार्मिक आचरण दिल्लगी की सामग्री बन रहे हैं, वे वास्तव में बड़े महत्त्व के हैं। उनके अन्दर जो पहले की भावना और व्यावसायिक विश्वास है, उसका बल इसी से समझ लेना चाहिए कि जहाँ आज तक भी भारत के दूसरे प्रान्त के लोग प्रवेश नहीं कर पाये, वहाँ मारवाड़ियों के व्यावसायिक केन्द्र अवश्य मिलेंगे। निरेकान्तार में भी व्यवसायी मारवाड़ी मिल जाते हैं। यह शुभाचरणों से ही अर्जित की हुई शक्ति है। मारवाड़ी-समाज देश की नवीन प्रगति को गतिशील रखने में प्राचीन प्रथा के अनुसार अर्थ भी काफी खर्च करता है। उनमें सिर्फ एक बात की कमी है। अर्थ के साथ शिक्षा का जैसा ऊँचा सम्बन्ध होना चाहिए, वह उनमें नहीं है। परन्तु समय का प्रवाह और मारवाड़ी-समाज का रुख देखकर अब यह विचार दृढ़ हो जाता है कि अपने बालकों की उचित शिक्षा के लिए यह समाज अच्छा प्रबन्ध करेगा। शिक्षा की आँखें मिलने पर समाज की त्रुटियाँ उसके अंग में नहीं रह सकेंगी, उन्हें उस समाज के शरीर का त्याग करना ही होगा। शिक्षा की ज्योति के बढ़ने पर अन्य प्रकार के अन्धकार भी नहीं रह सकते। अपना प्रकाश-पथ लोग आप ही खोज लेंगे।

समाज के सुधार में जो रुकावट हो रही है, उसका कारण कुछ शिक्षा-दोष भी है। अंग्रेजी-दाँ युवकों की आँखें भारत को बिलकुल विलायत देखना चाहती हैं और सामाजिक संस्कारों में अंग्रेजीपन। यह शिक्षा की कमजोरी है। इसी कारण, यहाँ के प्राचीन विचारवालों से नये विचारवालों की नहीं बनती। कुसूर दोनों का है। नये पुरानों की महत्ता नहीं समझते और पुरानों को नयों में अंग्रेजी बू

मिलती है जो उनके धर्म, संस्कार, आचार-विचारों के प्रतिकूल जान पड़ती है। अतः नये पुरानों का एक फैसला नहीं हो पाता, विवाद चलता ही रहता है और बहुत कुछ शक्ति इसी तरह क्षीण हो जाती है।

समाज के आचार-विचार में परिवर्तन चाहे जितना हो, पर उन्नति के लक्ष्य में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। आज जिस बाह्य स्वतन्त्रता का रूप देखकर यहाँ के नवयुवक उसकी प्राप्ति के लिए उत्सुक हो रहे हैं, वह कदापि भारतीयता नहीं। वह जल की मरीचिका की तरह यथार्थ स्वतन्त्रता की माया है, जहाँ मरीचिका ही है, जल नहीं; माया ही है, स्वतन्त्रता नहीं; चहल-पहल की अपार तृष्णा है, पर शान्ति का शुद्ध स्थिर रूप नहीं। हमारे अधिकांश युवक इसी चहल-पहल के पीछे निरंकुश हत-ज्ञान की तरह दौड़े जा रहे हैं।

हमने पहले कहा है, यहाँ मुक्ति या स्वतन्त्रता सब वर्ण के लोगों को प्राप्त थी। सब वर्णों से बड़े-बड़े महान पुरुष पैदा हुए हैं। अब समाज में परिवर्तन करते समय हमें किसी विषय की बृहत् व्याख्या अपने शास्त्रों से ही लेनी चाहिए। शास्त्र कल्पतरु है। जो माँगियेगा, वही मिलेगा। सिद्धि के गरिमा-गुण से आप जितना चाहें गुरु (वजनदार) हो सकते हैं और अणिमा से जितना चाहें छोटे, यानी आपके समाज-शरीर को जहाँ के अनुशासनों ने आचारों की बन्दिश से इतना छोटा कर दिया है, वहाँ ऐसे भी अनुशासन हैं जो इच्छानुसार ही आपके समाज-शरीर को बृहत् भी कर सकते हैं। इस तरह बृहत् होकर भी अपना लक्ष्य समाज वही रक्खेगा जो उसका पहला लक्ष्य था, मुक्ति या पूर्ण स्वतन्त्रता।

योरप की स्वतन्त्रता ऐसी है जैसे मछली एक जाल से निकलकर दूसरे में फँसी। कैदी एक जेल से दूसरे में गया। यदि कोई जाति सम्बद्ध होकर किसी की भूमिका न करके, वह अपना शासन, अपना व्यवसाय आप ही करे तो यह बाह्य स्वतन्त्रता यहाँ के विचार से जातीय मुक्ति कदापि नहीं। योरप की इस तरह की जातियों के कारण ही एशिया की दूसरी-दूसरी जातियाँ सतायी जाती हैं। पर मुक्त या स्वाधीन जाति कभी दूसरी जाति को सताती नहीं, वह उसे भी मुक्त तथा स्वाधीन कर देती है। यहाँ की सामाजिक स्वतन्त्रता ऐसी ही थी। यहाँ के समाज के लोग न तो किसी का दबाव सहन कर सकते हैं, न किसी को सताते हैं। अतः अब योरप की स्वतन्त्रता को देखिए। वे वास्तव में स्वतन्त्र नहीं। अनेक प्रकार की परतन्त्रताएँ उनमें हैं, इसलिए वे दूसरों को परतन्त्र करना चाहते हैं और इस इतर युक्ति से कि तुम्हें हम आदमी बनाना चाहते हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न वाद की स्वतन्त्र जातियों में लड़ाई छिड़ी रहती है। बोलशेविक चाहते हैं इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद) का नाश हो और साम्राज्यवादी चाहते हैं, बोलशेविक उनके दायरे में एक न रहे। यह सिर्फ इसलिए कि दोनों की दृष्टि में महत्ता सिर्फ पूँजी को प्राप्त है। यहाँ मुक्ति प्रधान है जिसके साथ अपने शरीर और मन का भी सम्बन्ध नहीं, जरूरत पर शरीर और मन को भी मुक्ति की वेदी पर अर्पण करना पड़ता है, फिर कुछ रुपये-पैसे की क्या बात? यहाँ तो अर्थ का संचय परार्थ के लिए, अक्षमों के लिए ही करने का विधान दिया गया है। फिर बोलशेविकों से कोई भारतीय क्यों डरे? और यहाँ बोलशेविक हों भी क्यों? क्यों साम्राज्यवाद ही रहे? यहाँ तो चारों वर्ण अपनी शक्ति का परिचय देकर, सर्वस्व का त्याग कर पूर्ण स्वतन्त्र ईश की सत्ता में मिल जाना चाहते हैं, फिर कोई वाद और विवाद कैसा?

भारत के समाज का यही लक्ष्य है। तमाम सुधार इसके अनुसार होने चाहिए।

['मारवाड़ी अग्रवाल', मासिक, कलकत्ता, फाल्गुन, संवत् 1986 (वि.) (फरवरी-मार्च, 1930)। असंकलित]

## बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ

अब वह समय नहीं रहा कि हम स्त्रियों के सामने वह रूप रक्खें, जिसके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने **'चित्र-लिखे कपि देखि डेराती'** लिखा है। सारल्य तथा कोमलता के भीतर की वह सृष्टि निस्सन्देह अनुपम थी। उस त्रेता-काल की कल्पना की ही तरह कोमल विलास के मंजु अंक पर पली हुई स्त्रियों को प्राप्त कर कर्तव्य के कठोर पुरुषों को संसार के यथार्थ सुख का अनुभव होता था, और उस समय के चित्रण में अत्यन्त कठोर और अत्यन्त कोमल का ही सम्मिश्रण समाज तथा काव्यों में किया गया है। परन्तु अब आवश्यकता है, हरएक मनुष्य के पुतले में, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, कोमल और कठोर, दोनों भावों का विकास हो। अब दोनों के लिए एक ही धर्म होना चाहिए। पुरुष के अभाव में स्त्री हाथ समेट-कर निश्चेष्ट बैठी न रहे। उपार्जन से लेकर सन्तान-पालन, गृह-कार्य आदि वह सँभाल सके, ऐसा रूप, ऐसी शिक्षा उसे मिलनी चाहिए। पहले दोनों के भाव और कार्य अलग-अलग थे, अब दोनों के भाव और कार्यों का एक ही में साम्य होना आवश्यक है। इस तरह गार्हस्थ्य धर्म में स्वतन्त्रता बढ़ेगी। परावलम्बन न रह जायगा। स्त्रियाँ भी मेधा की अधिकारिणी होंगी। हृदय और मस्तिष्क, दोनों में एकीकरण होगा। एक ही में हम उभय धर्मों को देख सकेंगे। इस समय जो हम यह देखते रहते हैं कि किसी कारण पुरुष से एक दीर्घकाल के लिए विच्छेद हो जाने पर स्त्री बिलकुल निस्सहाय हो जाती है, अपने घर का काम नहीं सँभाल पाती, अनेक प्रकार की असुविधाएँ आ जाती हैं, बदमाशों की उन पर दृष्टि पड़ती है, मन-ही-मन वे डरी रहती हैं, घर उन्हें जेल से भी बढ़कर हो जाता है, यह सब न होगा। पुरुष के अभाव में स्त्री स्वयं उसका स्थान अधिकृत करेगी।

इसके लिए प्रथम आवश्यक साधन है शिक्षा। हमारे देश में स्त्रियों की शिक्षा के अभाव से जैसी दुर्दशा हो रही है, उसकी वर्णना असम्भव है। उनका लांछन देखकर पाषाण भी गल जाते हैं। प्रतिदिन भारतवर्ष का आकाश स्त्रियों के क्रन्दन से गूँजता रहता है। युवती विधवाओं के आँसुओं का प्रवाह प्रतिदिन बढ़ता जाता है। प्राचीन शीर्णता ने नवीन भारत की शक्ति को मृत्यु की ही तरह घेर रक्खा है। घर की छोटी-सी सीमा में बँधी हुई स्त्रियाँ आज अपने अधिकार, अपना गौरव, देश तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य, सबकुछ भूली हुई हैं। उनके साथ जो पाश-विक अत्याचार किये जाते हैं, उनका कोई प्रतिकार नहीं होता। वे चुपचाप आँसुओं को पीकर रह जाती हैं। उनका जीवन एक अभिशप्त का जीवन बन रहा है। उन्हें जो यह शिक्षा दी जाती है कि तुम्हें अपने पुरुष के सिवा किसी दूसरे पुरुष का मुख

नहीं देखना चाहिए, यह उनके अन्धकार जीवन में टार-पेंटिंग है। सिर झुकाये हुए ही उन्हें तमाम जीवन पार कर देना पड़ता है। इस उक्ति का यथार्थ तत्त्व उन तक नहीं पहुँचता। यह अवश्य आत्मा का सर्वोतम विकास है। फल यह होता है कि उन पर हमला करने के लिए गुण्डों को काफी सुयोग मिलता है। उनका स्वास्थ्य उनके अवरोध के कारण क्रमशः क्षीण ही होता रहता है। शिक्षा से यह सब दूर होगा। देवियाँ अपना दिव्य रूप पहचानेंगी। उन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा। वे नदियों की तरह समाज के करारों से बहती हुई सहस्रों जीवन प्रतिदिन पवित्र कर जायँगी। उनका जो स्थान संसार की स्त्रियों में है, उसे प्राप्त करेंगी। राष्ट्र की स्वतन्त्रता की उपासना में उनके जो अधिकार हैं, उन्हें ग्रहण कर अपने कर्तव्य का पालन करेंगी। बच्चों की पीड़ा के समय उन्हें तड़पना न होगा। वे उनकी दवा कर उन्हें रोग-मुक्त कर सकेंगी। समाज की नृशंसता, जो प्रतिदिन बढ़ती जाती है, उन पर अपना अधिकार न जमा सकेंगी। पति के विदेश जाने पर मकान में उनकी जो दुर्दशा होती है, उससे वे बची रहेंगी। जरूरत पड़ने पर वे स्वयं उपार्जन करके अपना निर्वाह कर सकेंगी। प्रतिदिन एक ही प्रकार का भोजन खाते-खाते जो जी ऊब जाता है, ऐसा न होगा। वे अनेक प्रकार के भोजन पकाने की विधियाँ सीख लेंगी और संसार में रह, संसार के यथार्थ सुखों का अनुभव करेंगी। कहा है, संसार में जितने प्रकार की प्राप्तियाँ हैं, शिक्षा सबसे बढ़कर है। शिक्षा में शब्द-विद्या का स्थान और उच्च है। यही विद्या ज्ञान की धात्री कहलाती है। जितने प्रकार के दैन्य हैं, जितनी कमजोरियाँ हैं, उन सबका शिक्षा के द्वारा ही नाश हो सकता है। अशिक्षित, अपढ़ होने के कारण ही हमारी स्त्रियों को संसार में नरक-यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं—उनके दुःखों का अन्त नहीं होता।

**'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः'**, मनु महाराज के इस कथन का अब पालन नहीं किया जाता। यह सच है कि इसका बहुत कुछ कारण देश का दैन्य ही है; पर पुरुषों की अश्रद्धा भी कहीं कम नहीं। जो सम्पन्न हैं, जिन्हें दोनों वक्त मज़े में भोजन मिल जाता है, वे भी बालिकाओं की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते, बल्कि उच्च स्वर से यही घोषणा करते हैं कि लड़कियों को शिक्षा देना पाप है, वे बिगड़ जाती हैं। पीछे पिता-माता को समाज में रहने लायक भी नहीं रखतीं। इनके दिमाग़ में 'सारंगा-सदावृक्ष' की कहानी पढ़ लेने तक ही विद्या परिमित है। ये लोग रूढ़ियों के ऐसे गुलाम हैं कि जीते-जी उन्हें छोड़ नहीं सकते, और इससे समाज का पहिया ज़रा भी आगे नहीं बढ़ने पाता। देहात में शिक्षा की बहुत कमी है, वहाँ लड़कों को ही मदरसा भेजना दुशवार हैं। गाँवों से कोस-कोस की दूरी पर मदरसे हैं। हरएक तहसील में मुश्किल से दो मिडिल स्कूल हैं। आठ-आठ, दस-दस कोस के लड़के मिडिल स्कूल के बोर्डिंग-हाउस में ठहरकर पढ़ नहीं सकते। अधिकांश लोगों की आर्थिक स्थिति वैसी नहीं है। जो लोग सम्पन्न हैं, उनमें अकारण प्यार की मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि वे बच्चे को अपने से अलग नहीं कर सकते, वह मूर्ख भले ही रह जाय। जहाँ लड़कों का यह हाल है, वहाँ लड़कियों की बात ही क्या? हरएक गाँव से प्रतिदिन जितनी भीख निकलती है, यदि उतना अन्न रोज एकत्र कर लिया जाय, तो गाँव में ही एक छोटी-सी पाठशाला खोल दी जा सकती है। एक शिक्षक की गुजर उससे हो जायगी। अविद्या का जो यह प्रबल मोह फैला हुआ है, यह न रह जायगा। बालिकाओं के लिखने-पढ़ने का गाँव ही में प्रबन्ध हो सकता है। इस तरह उनके प्रति सच्चा न्याय गाँववाले कर सकते हैं। शहरों में तो लड़कियों को पढ़ाने के अनेक साधन हैं।

अब घर के कोने में समाज तथा धर्म की साधना नहीं हो सकती। ज़माने ने रुख बदल दिया है। हमारे देश की लड़कियों पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व आ पड़े हैं। उन्हें वायु की तरह मुक्त रखने में ही हमारा कल्याण है। तभी वे जाति, धर्म तथा समाज के लिए कुछ कर सकेंगी। उन्हें दबाव में रखकर इस देश के लोग अपने जिस कल्याण की चिन्तना में पड़े हैं, वह कल्याण कदापि नहीं, प्रत्युत निरी मूर्खता ही है। आज तक जितने अत्याचार, बलात्कार आदि हुए हैं, वे सब पर्दानशीन स्त्रियों पर ही हुए हैं। पर्दे के भीतर जितनी तीव्रता से दृष्टि प्रवेश करना चाहती है, खुले मुख पर उतनी तीव्रता से नहीं आक्रमण करती। पाशविक प्रवृत्तियाँ अन्धकार में ही प्रबल वेग धारण करती हैं। प्रकाश को देखकर वे दब जाती हैं, उनका साहस नहीं होता। इसलिए स्त्रियों को हर बात में प्रकाश के सम्मुखीन करना चाहिए। ज्ञान के बिना जीवन व्यर्थ है। निर्वाह होना कठिन है। स्वावलम्बन नहीं आता। स्वावलम्ब कोई पाप नहीं, प्रत्युत पुण्य है। हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग जायँगे, कार्य की सफलता हमें तभी प्राप्त होती। अभी जो काम स्त्रियाँ करती हैं, वह काम नहीं, वह संस्कारों का प्रवर्तन है। उससे मेधा और नष्ट होती है। मनुष्य-जाति मशीन के रूप में बदल जाती है। हमारी स्त्रियों की यही दुर्दशा है। उनका कार्य ज्ञान-संयुक्त नहीं होता। कारण, एक ही कार्य की प्रदक्षिणा उन्हें प्रतिदिन करते रहना पड़ता है। उससे उनकी बुद्धि का संयोग नहीं हो पाता। बुद्धि को कभी एक ही कार्य पसन्द भी नहीं। वह नित्य नये आविष्कार करना चाहती है। विद्या के न रहने से हमारे देश की स्त्रियाँ मेधा-बुद्धि तथा कला-कौशल को भी खो चुकी हैं। विद्या-बुद्धि से रहित मनुष्य मनुष्यता से गिरकर इतर श्रेणी में चला जाता है। उस पर दूसरे लोग ही प्रभुत्व करते हैं। धार्मिक संस्कारों के चक्र की प्रदक्षिणा करते रहने के कारण ही हम पराधीन हैं, हम पर दूसरी-दूसरी जातियों के बुद्धिमान् लोग प्रभुत्व कर चुके हैं, और कर रहे हैं। हम लोग स्वयं जिस तरह गुलाम हैं, उसी तरह अपनी स्त्रियों को भी गुलाम बना रक्खा है, बल्कि उन्हें दासों की दासियाँ कर रक्खा है। इस महादैन्य से उन्हें शीघ्र मुक्ति देनी चाहिए। तभी हमारी दासता की बेड़ियाँ कट सकती हैं। जो जीवन बाहरी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकता, वह मुक्ति-जैसी सार्वभौमिक स्वतन्त्रता कब प्राप्त कर सकता है ? उसकी धर्म की साधना भी ढोंग है। धर्म तो वह है जिससे अर्थ, काम तथा मोक्ष, तीनों मिल सकें। सच्चा धर्म इस समय स्त्रियों के सब प्रकार के बन्धन ढीले कर देना, उन्हें शिक्षा की ज्योति से निर्मल कर देना ही है, जिससे देश की तमाम कामनाओं की सिद्धि होगी और स्वतन्त्र-सुखी जीवन बाह्य स्वतन्त्रता से तृप्त होकर आत्मिक मुक्ति के सन्धान में लगेगा। रूढ़ियाँ कभी धर्म नहीं होतीं, वे एक-एक समय की बनी हुई सामाजिक शृंखलाएँ हैं। वे पहले की शृंखलाएँ जिनसे समाज में सुथरापन था, मर्यादा थी—अब जंजीरें हो गयी हैं। अब उनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं। अब उन्हें तोड़कर फेंक देना चाहिए। जिन लोगों ने ऐसा किया है, वही लोग देश में पूजनीय हो रहे हैं। वे ही कहते हैं, और शास्त्रों के उद्धरण देते हुए कहते हैं कि अब हर तरह से स्त्रियों को शिक्षित देवियों के रूप में परिणत करो, जिससे वे स्वयं अपने कल्याण की कल्पना कर सकें; नहीं तो, हे देशवासियो, प्रतिदिन तुम्हारे ऊपर स्त्री-हत्या का पाप चढ़ रहा है। इससे तुम्हारा निस्तार न होगा।

जब तक स्त्रियों में नवीन जीवन की स्फूर्ति भर नहीं जायगी, तब तक गुलामी का नाश नहीं हो सकता। यहाँ एक समय था, जब ज्ञान का इतना प्रकाश फैला

हुआ था कि बच्चों को पालने पर झुलाती हुई माता गाती थी—**'त्वमसि निरंजनः।'** क्या कोई इस समय कल्पना भी कर सकता है कि वह कितना उज्ज्वल युग था? मुक्ति का यथार्थ सूत्र स्त्रियों के ही हाथ में है। स्त्रियों का आदर-सम्मान जब तक नहीं होता, तब तक देवता भी सन्तुष्ट नहीं होते, भगवान् मनु ने स्वयं कहा है: स्त्रियाँ यदि अपढ़ रह गयीं, यदि उन्हीं की जबान न मँजी, तो बच्चा पढ़कर भी कुछ कर नहीं सकता। मौलिकता का मूल बच्चे की माता है। भाषा का सुधार, संशोधन स्त्रियाँ ही करती हैं। जब तक वर्तमान खड़ी बोली स्त्रियों के मुख से मँजकर नहीं निकलती, तब तक उसमें कोमलता का आना स्वप्न है। वही बच्चा भविष्य के हिन्दी-साहित्य का महाकवि है, जिसे अपनी माता के मुख से साफ-शुद्ध, मार्जित, सरल, श्रुति-मधुर तथा मनोहर खड़ी बोली के सुनने का सौभाग्य प्राप्त होगा। हमारे देश की ललित कलाओं का विकास भी हमारी स्त्रियों के विकास की ओर अनिमेष दृष्टि से हेर रहा है। जब तक हमारी गृह-देवियाँ लक्ष्मी तथा सरस्वती के रूपों में हमारे गृह का अन्धकार दूर नहीं करतीं, तब तक सुख तथा शान्ति की कल्पना पुरुषों के मस्तिष्क की एक बहुत बड़ी भूल है, यह हर एक भारतवासी को समझ लेना चाहिए। लक्ष्मी तथा सरस्वतियों को कैद करना भी अपने ही अन्धकार के दीपक को गुल कर देना है। राष्ट्र की स्वतन्त्र भावना कैसे पैदा हो? घर की देवियाँ आँसू बहायें और आप बहादुर हो जायँ? ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ, और न कभी हो सकता है। कोई भी सोच सकता है, स्त्रियों को उत्साह देने से पुरुषों में कितनी बड़ी शक्ति का जागरण हो सकता है। फिर आज उत्साह देना तो दूर रहा, राष्ट्र के कल्याण के लिए नारियों को भी पुरुषों के साथ रहने की आवश्यकता आ पड़ी है। श्रीकृष्ण के नाम पर निछावर होनेवाली हिन्दू-जाति बिलकुल भूल गयी है कि श्रीकृष्ण का जन्म कहाँ और कैसे हुआ था। इस घटना में जो सत्य छिपा हुआ है, उनके बन्दीगृह में जन्म लेने का जो अर्थ है, जहाँ से स्वतन्त्रता पैदा होती है, उसका उपयोग कितने मनुष्य आज कर रहे हैं? श्रीकृष्ण का नाम लेना तो बहुत सहज है; पर उनके आदर्श पर काम करना उतना ही कठिन। पर कठिनता का सामना किये बिना कभी महान् फल की प्राप्ति हो भी नहीं सकती। हमारे शास्त्रों के प्रति पृष्ठ में उदारता तथा स्वतन्त्रता का शंख-नाद सुन पड़ता है। पर उसके दुरुपयोग की भी हद नहीं। रूढ़ियों में पड़कर ज्ञान का जो दुरुपयोग किया जा रहा है, उसके मानी ही दासता के हो गये हैं। यह उसी का फल-भोग चल रहा है। ज्ञान का निरादर अपने ही मस्तिष्क का अपमान है, और स्त्रियों की मान-हानि साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वती की मान-हानि है। हिन्दुओं ने दोनों का अनादर किया। वैसा ही फल भी मिला। अब, जब कि तमाम संसार स्त्रियों की मर्यादा तथा विकास को सामने कर, हर तरह की समृद्धि का अधिकारी हो रहा है, हमें अपने शास्त्रों से शिक्षा लेनी चाहिए, स्त्रियों की योग्यता के बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, संसार में अपने विकास की ज्योति फैलानी चाहिए। स्पर्द्धा ही जीवन है। उसमें पीछे रहना जीवन की प्रगति को खोना है। जीवन में विजय प्राप्त करना हर जाति और हर धर्म की शिक्षा है। वहाँ स्त्रियाँ ही प्रधान सहायक के रूप में संसार के रंगमंच की अभिनेत्री के रूप से आती हैं। स्त्रियों का शव लेकर विजयी होना असम्भव है। वे ही स्त्रियाँ, जो बाह्य विभूति की मूर्तियाँ हैं, लक्ष्मी तथा सरस्वती की कृतियाँ हैं, अपने पुरुषों में शक्ति-संचार कर सकती हैं। स्त्रियों के रूप में जो विजय घर में मौजूद है, वही बाहर भी मिलती है। घर का अभागा कभी बाहर प्रसिद्धि नहीं पाता। अतएव हमें स्त्रियों की बाह्य स्वतन्त्रता, शिक्षा-दीक्षा आदि

पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। अन्यथा अब के पुरुषों की तरह उनके बच्चे भी, गुलामी की अँधेरी रात में उड़नेवाले, गीदड़ होंगे; स्वाधीनता के प्रकाश में दहाड़नेवाले शेर नहीं हो सकते और हमारी मातृभाषा का मुख उज्ज्वल नहीं हो सकता ।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1930 ('स्त्री-समाज' शीर्षक स्तम्भ में) । **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## जेनरल प्राइमो डी रिवेरा

पेरिस में स्पेन के नायक जेनरल प्राइमो डी रिवेरा 16 मार्च को अकस्मात् परलोकवासी हो गये। मृत्यु के समय आपकी उम्र 59 साल की हुई थी। महीने के लगभग हुआ होगा, आपने स्पेन-सरकार के प्रधान पद से अवकाश ग्रहण कर लिया था। आपके पद-त्याग की चर्चा उस समय संसार के प्रसिद्ध सब संवाद-पत्रों में हुई थी। राष्ट्रीय संसार में 'डिक्टेटर' प्राइमो डी रिवेरा एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। आप इटली के डिक्टेटर मुसोलिनी की तरह अकेले ही स्पेन के सब तरह के शासन-कार्य बड़ी कुशलता तथा कठोरता से चला रहे थे। तमाम उम्र आप विरोधों के प्रतिकूल लड़ते रहे। आपके अन्तिम जीवन को शायद आपकी व्यर्थता ही निस्तैल दीपक की तरह मृत्यु के अन्धकार की ओर आकर्षित कर ले गयी। इसीलिए शायद फ्रान्स की राजधानी में विश्राम करने के उद्देश से जाकर अकस्मात् मृत्यु की गोद में ही आपको चिरकालिक विश्राम करना पड़ा।

जेनरल प्राइमो डी रिवेरा का जन्म 1871 ई. में हुआ था। मोरक्को में रिफों के खिलाफ स्पेन सरकार की तरफ से एक दूसरे सेनापति की हैसियत से आप लड़े थे, और तभी से आप देश में परिचित भी हुए। 1917 ई. से स्पेन के जितने लोगों ने राजसिंहासन की आड़ में रहकर अपना प्रभाव फैलाया था, उनमें जेनरल डी रिवेरा विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। 1917 से 1920 तक आप सिनेट के सदस्य थे। आप मोरक्को की लड़ाई के छोड़ने के पक्ष में थे। योरप के महासमर के समय आपने निष्पक्ष रीति का ग्रहण किया था। 1923 में, स्पेन में एक फौजी लड़ाई छेड़कर इटली के मुसोलिनी की तरह आपने पार्लमेन्टरी शासन का अन्त कर दिया, और खुद ही गवर्नमेन्ट के कर्णधार बन गये थे। स्पेन को पूरे तौर से संगठित कर लेना ही आपका मतलब था। इसी विचार से आपने कितने ही फौजी कानूनों में परिवर्तन भी किया।

आपकी शासन-नीति का यह उद्देश था कि जिन अफसरों की सरकार को जरूरत नहीं, वे अलग कर दिये जायँ। आलस्य और नैतिक पतन से कर्मचारियों का उद्धार किया जाय। सरकार की आर्थिक शक्ति बढ़ायी जाय। रेल-मार्गों का विस्तार तथा उसमें तरक्की की जाय। श्रमिकों के समझौते के लिए अदालत में दोनों तरफ के लोग रहें, शिक्षा की नीति में संस्कार किया जाय। राजनीति और नैतिक पतन से विचार-विभाग को मुक्ति दी जाय, विभिन्न प्रान्तों की साम्प्र-

दायिकता हटा दी जाय और निर्वाचन-नीति से तमाम दोषों का मूलोच्छेद कर दिया जाय।

इस तरह की ऊँची अभिलाषा से भरी हुई एक विशाल स्कीम लेकर आपने शासन-कार्य का श्रीगणेश किया था। परन्तु इसमें आपको सफलता नहीं मिली। मोरक्को में स्पेनवालों की तरफ से जो वाहिनी आप भेज रहे थे, उसे भी 1926 के पहले समाप्त नहीं कर सके और इसमें भी फ्रान्स के साथ आपको सहयोग करना पड़ा था।

1924 ई. में मोरक्को की चढ़ाई का कुल भार आपने अपने कन्धों पर ले लिया। उस समय किसी-किसी विषय पर आपके सहकारियों के साथ आपका मत-भेद भी हुआ। उसी साल, नवम्बर के महीने में, कैटालोनिया में राजद्रोह के बादल छा गये। विद्रोही लोग चाहते थे कि राजतन्त्र की जगह साधारण-तन्त्र की स्थापना हो, परन्तु इस विद्रोह का दमन कर दिया गया। 1925 ई. में फ्रान्सीसियों की सहायता से आप उड़े उत्साह से मोरक्को में रिफों के विरुद्ध लड़ाइयाँ लड़ते रहे और बहुत कुछ सफल भी हुए। इसी लड़ाई में गर्मियों के दिनों में, आपने आखिर दखल कर लिया, और इसके फलस्वरूप स्वयं 'ड्यूक ऑफ आजिर' हो गये।

प्राइमो डी रिवेरा ने स्पेन में इटली के फैसिस्टों की तरह के कानून चलाये। कप्तान जेनरल वेलर ने आपकी शिकायतें की थीं, जिनका फल यह हुआ कि आपके द्वारा वे पदच्युत किये गये यद्यपि स्पेन के राजा एलफ़ोनसो ने स्वयं उनके लिए आपसे प्रार्थना की थी। इस तरह प्राइमो डी रिवेरा शासन-कार्य में अद्वितीय हो गये। जिस मन्त्रि-सभा का आप संगठन करते थे, उसमें स्वयं ही अपनी पसन्द के अनुसार जेनरलों को चुनते थे। क्रमशः उनके एकच्छत्र शासन से लोगों में असन्तोष फैलने लगा। 1921 ई. के नवम्बर महीने में नौ और सामरिक विभाग के कुछ लोगों ने आपकी आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। आपने इन लोगों को कैद कर लिया। परन्तु इटली के मुसोलिनी की पीठ देखनेवाली जिस तरह एक बड़ी लोक-शक्ति है, आपके पीछे वैसी कोई शक्ति नहीं थी। आपने एक संगठन तो किया था, परन्तु वह सफल नहीं हो सका।

1926 से फिर सम्पूर्ण देश आपकी तरफ से असन्तुष्ट हो गया। आपकी सार्व-भौमिक प्रभुता के फलस्वरूप सेना, नौ-विभाग तथा साधारण जन भी उग्र हो उठे। आपकी हत्या के लिए अनेक जगहों में षड्यन्त्र होने लगे। एक दफा जंगी कानून जारी कर आपने 1500 अफसरों को पकड़कर पदच्युत किया। समय-समय पर राजा एलफ़ोनसो के साथ भी आपका वाद-विवाद होता रहा। समस्त देश-व्यापी इस पुंजीभूत असन्तोष के कारण अन्त में आपको शासन-कार्य से अलग हो जाना पड़ा। आपके कठोर हाथों से मुक्ति प्राप्त करके भी इस समय जिन्हें जेनरल वेरेंगार के पद पर स्पेन ने प्रतिष्ठित किया है, उनसे नौजवान तथा साधारण जनता खुश नहीं है। सच बात यह है कि स्पेन अब सामरिक दबाव सह नहीं सकता। उसके साधारण लोग शासन के गुरुभार से दबे जा रहे हैं। इसकी प्रति-क्रिया के फलस्वरूप वहाँ के नौजवानों में विद्रोह के लक्षण दीखने लगे हैं। वे लोग वर्तमान राजा का भी उच्छेद कर देना चाहते हैं। इसके भीतर ही 'राजतन्त्र का नाश हो' 'साधारण-तन्त्र की विजय हो' के नारे बुलन्द हो रहे हैं।

अब डी रिवेरा विवाद के विष से दूर एक दूसरे ही लोक को चले गये हैं, परन्तु ऐसा नहीं देख पड़ता कि उनकी मृत्यु के बाद देश में शान्ति की स्थापना हो। स्पेन की वर्तमान राजनीति जिस शासन-तन्त्र पर प्रतिष्ठित है, उसका कुछ

सुधार हुए बिना साधारण लोगों को सन्तोष न होगा। इसलिए स्पेन के बादशाह के खिलाफ भी आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 ('कुसुम-कुंज' शीर्षक स्तम्भ में)। असंकलित]

## श्रीदेव रामकृष्ण परमहंस

स्थापनाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतार-वरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥
—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णार्णव के सहस्र-सहस्र पोत इस समय संसार में ज्ञान मणियों का प्रचार व्यापार कर रहे हैं। मैं शाक-वणिक बाजार के एक तरफ बैठा हुआ असम्प्रज्ञात सुनता रहता हूँ। स्वामी विवेकानन्दजी ने एक जगह कहा है—संसार चिरकाल से ज्ञान तथा कर्म के धागे में एक गृह-परिवार की तरह या तारों-से आकाश के शून्य-तन्तु से पिरोया हुआ, ज्ञात या अज्ञात भाव से परस्पर आदान-प्रदान करता आ रहा है। जिस तरह पश्चिम को पूर्व के रिक्त भाण्डार में कुछ देने का हक है—उसी तरह पूर्व को भी पश्चिम के अँधेरे में कुछ प्रकाश फैलाने का अधिकार प्राप्त है। उन लोगों ने ऐश्वर्य की मदिरा बहुत पी, अब शुष्क-तालु प्रेम-पीयूष पान करना चाहते हैं।

इन्द्रिय और निरिन्द्रिय संघात में दश-मुख दशेन्द्रिय रावण में ही चीत्कार, अशान्ति रहती है। जो ज्ञानदर्प पश्चिम से आ-आ पूर्व को डुबा रहा है, निरिन्द्रिय संघात-जन्य नहीं, इसीलिए संघात को अपने में मिला अपनी ही तरह की शान्ति, सुस्थिर बना लेता है—यतो वाचो निवर्त्तन्ते। दशदिक्विजय दशरथ आत्मा के पुत्र श्रीरामकृष्ण हैं। इस विज्ञान के युग में बाह्य-ज्ञान से रहित, महाज्ञान समाधिसम्पन्न, सभी दिशाओं की ज्ञान साधना से पूर्ण—वह सब अध्ययन का विषय है और उनके रामात्मज स्वामी विवेकानन्द एक लव में तमाम विश्व को जीत लेनेवाले; शिकागो-धर्म सम्मेलन इसका बाह्य प्रमाण।

धर्मशास्त्र का मैंने जहाँ तक अध्ययन किया है, सन्तों के अवतार-पुरुषों के इतिहास से मेरा जहाँ तक परिचय है, मैंने भारत के साहित्य में इतना बड़ा अवतार नहीं पाया। अवतार श्रेष्ठ शंकर की तुलना ज्ञान, चरित्र तथा शास्त्रानुशीलन में वाग्मि-प्रवर महाज्ञान मूर्तिमान-प्रतिभा स्वामी विवेकानन्दजी से ही होती है; श्रीरामकृष्ण अतुल हैं। महाकवि भक्त-शिरोमणि गोस्वामीजी की इतनी ही उक्ति प्रमाण के तौर पर रखता हूँ—

को बड़ छोट कहत अपराधू।
गुनि गन सकल समुझिहैं साधू॥

श्रीरामकृष्ण देव के गुण स्वामी विवेकानन्दजी के साहित्य में अल्पांश प्रकट हैं। ऐसा स्वामीजी ने स्वयं कहा है। पवहारी बाबा, आचार्य मैक्समूलर आदि इटली,

फांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमेरिका के बड़े-बड़े पण्डित श्रीरामकृष्ण को किस दृष्टि से देखते थे, स्वामी विवेकानन्दजी को क्या समझते थे, वह तारीफ करने से परे है। बड़े-बड़े संवाद-पत्रों ने किसी भी मनुष्य की इतने खुले शब्दों में तारीफ नहीं की। स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के यन्त्र थे। इधर पण्डित वरेण्य रोमाँरोलाँ ने एक पुस्तक लिखी है। पहले भी मैंने आपकी आलोचनाएँ देखी हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी आदि की समुचित प्रशंसा करते हुए आप, 'The Swan of the East' श्रीमती परमहंस श्री-श्री रामकृष्ण देव के पावन चरित्र में जैसे डूबे हैं, वैसे और कहीं भी नहीं। इधर के आलोचकों ने इसीलिए महाशय रोलाँ की प्रतिभा पर प्रक्षेप करना शुरू कर दिया है कि उनकी वह प्रतिभा अब नहीं रही। ऐसा अज्ञजन ही करते हैं। प्रतिभा का पुरस्कार महाप्रतिभाशाली करता है। उस समय वह निन्दा-स्तुति से परे है, अपनापन बिल्कुल भूला हुआ। विवेकानन्दजी की उक्ति है—Few only know the truth. जनाब रोमाँरोलाँ प्रतिभा की प्रतियोगिता में संसार की किसी अपराजिता शक्ति से कम नहीं, इसलिए 'The Swan of the East' उनकी प्रतिभा में सर्वश्रेष्ठ चमत्कार बनकर सर्वोत्तम आलोचना होकर योग्यतम के लिए योग्य दान हुआ। वह सुयोग्य थे, इसीलिए योग्यतम की तलाश कर सके।

श्रीरामकृष्ण देव ने अंग्रेजी-शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ बढ़ते हुए भारत के धार्मिक पतझड़ के समय 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' को अपने किसलयसाधनाकुल मृदुल वसन्त-स्पर्श से पूरा किया। विश्व-व्याप्ति ने सनातन-सुहृदय की परिचय-प्राप्ति से वैशाख की अगणित शाखाओं में अनेक वर्ण-रस-गन्ध विकास फैला पृथ्वी और आकाश को समुद्भासित कर दिया। भीतर और बाहर, ऊपर और नीचे ज्योतिर्मय रस-स्रोत बह चला। जितनी साधनाएँ थीं, राम, कृष्ण, काली, तन्त्र आदि की, सब उन्होंने पूरी कीं। वेदान्त से आस्तिक-नास्तिकवाद की चरम सीमा हासिल की, और फिर मुहम्मद और क्राइस्ट का धर्म भी ग्रहण किया, सिद्धि पायी। श्रीरामकृष्ण का वही रूप है, जिसके लिए महाकवि ने कहा है—'जो चेतन को जड़ करै, जड़हिं करै चैतन्य।' श्रीरामकृष्ण के पिता भगवान रघुवीरजी के उपासक थे। बुद्धदेव की माता की तरह श्रीरामकृष्ण की माता को स्वप्न हुआ था—रघुवीरजी ने कहा था, हम तुम्हारे पुत्ररूप में अवतीर्ण होंगे। इसके बाद श्रीरामकृष्ण भूमिष्ठ हुए। पहले उनका घर में कहा जानेवाला नाम गदाधर था। रामकृष्ण कुण्डली का नाम है।

अवतार-पुरुष साधना लोकदर्शन के लिए करते हैं, आते हैं सिद्ध होकर, कोहड़े की तरह; फल पहले लगता है, कटहल की तरह—'फल ही केवल लागहीं।' रामकृष्ण देव के बचपन की विभूतियों से ही उनकी ज्ञान-समाधि सिद्ध होती है। जब निरे बालक थे, बलाका पंक्ति देखकर निर्विकल्प-समाधि-लीन हो गये थे। इस तरह की अनेक घटनाएँ उनके बाल्य-जीवन में हुईं। तारुण्य से ही रानी रासमणिजी के विशाल कालिका मन्दिर में अपने बड़े भाई के साथ दक्षिणेश्वर आये। तभी से वह बहु-मुख-साधना-संकल्प तपस्वी-स्वरूप में आते हैं।

अवतारपुरुषों की तरह श्रीरामकृष्ण ने भी, बाह्य प्रकृति के संयोग की आर्थकता के लिए, सिद्ध होने के पश्चात् विवाह किया था। यह विवाह अपना धातुज अर्थ ही रखता है, जैसे सूर्य का विवाह पृथ्वी से, वायु का गन्ध से, बाहर पुरुष भीतर प्रकृति, भीतर प्रकृति बाहर पुरुष। उनका विवाह सांसारिक काम-सार्थक विवाह नहीं था। उनकी पत्नी महत्त्व में उनसे बड़ी-चढ़ी थीं। श्रीरामकृष्ण को

योग-दृष्टि से मालूम हो चुका था, उनकी पत्नी कहाँ है। उन्होंने घरवालों से बतला दिया था कि अमुक जगह जाओ, वहाँ है देवताओं के फल की तरह तृण से बँधी हुई वह देह।

दूसरा कारण स्त्री शक्ति का जागरण है। श्रीरामकृष्ण देव की पत्नी का नाम श्री-श्री सारदामणि देवी था। हमारे यहाँ की मधु-सुगन्ध गृह-वधुओं की ही तरह गृह के एक प्रान्त की रहनेवाली थीं, अपने अमन्द सौरभ से दिगन्त को पुलकित करने-वाली साक्षात् सरस्वती, तपस्या की तृप्ति से स्त्रियों की वाणी को भरकर मुखर कर देनेवाली ब्रह्मरूप पति की विद्याज्योति।

इसी समय भारत में सुधार तथा ज्ञान का प्रवाह बढ़ा। बंगाल, मदरास, गुजरात तथा महाराष्ट्र में अंग्रेजी का प्रसार काफी हो चुका था। इसी समय, पराधीन देश की जैसी हालत होती है, योरप तथा अमेरिका से मिशनरियाँ आ-आकर शिक्षित तथा अशिक्षित लोगों को अपने क्राइस्ट धर्म में दीक्षित करने लगीं और इस तरह अपनी जीविका का एक उपाय बना लिया। वैदिक साहित्य की पुष्टि के लिए पूजा-धर्म से नास्तिक-प्रभावोत्पन्न महर्षि दयानन्दजी, वैदेशिक शिक्षा विस्तार के साथ अपने हृदय में स्थान देने के विचार से गृह-धर्म में वेदान्त भावना के स्थापक राजा राममोहन राय और सार्वभौम भारतीयता की साधनामूर्ति समुज्ज्वल वेदान्तधर्म के अवतार-श्रेष्ठ भगवान श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए। बाहर के क्षुब्ध-जल-संघात के भीतर अतल-स्पर्श इन महापुरुष का ही प्रभाव, स्वामी विवेकानन्दजी की वेदान्त गर्जना द्वारा, भारत में सर्वप्रथम प्रतिध्वनि हुई।

श्रीरामकृष्ण से स्वामी विवेकानन्द के दर्शन में बड़ी कविता है। स्वामीजी का नाम पहले नरेन्द्रनाथ दत्त था। इनकी वृत्ति बचपन से ही स्वतन्त्र और धर्म भावनायुक्त थी। यह पूर्ण ब्रह्मचारी महावीरजी को पहले से ही प्यार करते थे। उनका जीवन ही इनका आदर्श था। सदा अध्ययनरत रहा करते। जब बी. ए. के विद्यार्थी थे, उस समय स्पेंसर साहब की एक युक्ति का खण्डन कर उन्हें पत्र लिखा था। उन्होंने उसी के अनुसार संस्करण में सुधार कर देने के लिए पत्र लिखा था। धर्म की प्यास प्रखर थी, इसीलिए पता न मिलने पर ब्राह्मण समाज में जाया करते, धार्मिक गाने गाया करते थे। एक बार महर्षि देवेन्द्रनाथ नाव पर थे, नरेन्द्रनाथ भी छत पर बैठे थे। ब्राह्मसमाज का सभ्यताडम्बर महात्यागवृत्ति नरेन्द्रनाथ को अच्छा न लगा। वह नाव की छत से उतर आये और महर्षि के सामने स्फारित विशाल-प्रज्ञानेत्र, खड़े होकर, जलद-कण्ठ से पूछा, "महाशय, आपने क्या ईश्वर को देखा है?" महर्षि ने चकित होकर उत्तर दिया, "वत्स, तुम्हारी आँखों में ऋषि ज्योति है।" नरेन्द्रनाथ हताश हो गये। इसी समय एक मित्र उनसे मिले; कहा, "तुम श्रीरामकृष्ण के पास चलो, तुम्हारी जिज्ञासा वहीं पूरी हो सकती है।" नरेन्द्रनाथ गये। इन्हें देखते ही परम परिचित की तरह श्रीरामकृष्ण मिले। बड़े स्नेह से कहा, "बेटा, तू अब तक कहाँ रहा? संसारियों से बातें करते-करते मेरे होंठ जल गये।" युवक नरेन्द्र ने—अंग्रेजी के चमत्कृत विद्यार्थी नरेन्द्रनाथ ने—सोचा, यह संन्यासी का मायाजाल है। पूछा, "महाशय, आपने ईश्वर को देखा है?" "हाँ"—परमहंसदेव ने कहा—"तुम भी देख सकते हो, यदि चाहो; आदमी के साथ-जैसी बातचीत भी कर सकते हो।"

नरेन्द्रनाथ चरित्र द्वारा उच्चधारणा शक्तियुक्त थे। एक दिन श्रीरामकृष्ण के स्पर्श से उन्हें समाधि के पूर्वलक्षण मिले। तमाम पृथ्वी, पेड़-पौधे आदि नजर में चक्कर खाने लगे। लय का समय आया, तो चिल्लाये—यह क्या किये देते हैं

आप ? मेरे माँ है। श्रीरामकृष्ण हँसे, अच्छा फिर होगा, कहकर फिर छू दिया। नरेन्द्र की पहले की-सी अवस्था हो गयी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर, आचार्य केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि उस समय के सब मनीषियों से मिले थे, पर नरेन्द्रनाथ का स्थान बहुत ही ऊँचा बताते थे। कहा है, केशव दीये का प्रकाश है, नरेन्द्र सूर्य है। वे महापुरुष कितने दूरदृष्टि थे,नरेन्द्र का बाद का जीवन साबित करता है। आज भी संसार में स्वामी विवेकानन्द की विजय वैजयन्ती फहरा रही है।

महर्षि स्वामी दयानन्दजी आचार्य केशवचन्द्र सेन के साथ सुधार के सम्बन्ध में बातें करने के लिए कलकत्ते आये हुए थे। दोनों की डफलियाँ अपना-अपना राग छेड़ने लगीं, इसलिए मेल न हुआ। स्वामी दयानन्द अपनी सुनाते थे, आचार्य केशव-चन्द्र अपनी। उनकी वैदिक शिक्षा, इनकी अंग्रेजी और थोड़ी संस्कृत। माने कौन किसकी ? इसी समय श्रीरामकृष्ण दयानन्दजी से मिलने गये। वह साधु-मात्र को भगवान मानकर दर्शन करते थे। प्रणाम किया, बैठे। बातचीत होने लगी। कुछ देर में स्वामीजी के सन्ध्या-वन्दन का समय हुआ। स्वामीजी ने अपने कृत्य के लिए समय माँगा। श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "सन्ध्यावन्दन से क्या होता है ?" (स्मरण रहे, इस समय रामकृष्ण की बड़ी ऊँची स्थिति थी, जो साधारणजनों की नहीं होती।) स्वामीजी ने उत्तर दिया—"इसके नित्य करने की जरूरत है; लोटा रोज न मला जाय तो मैला पड़ जाय।" परमहंस देव ने कहा—"यदि सोने का लौटा हो—" स्वामीजी मौन हो गये। परमहंस देव अपने शरीर में स्वर्णघट बन गये थे। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में वह चिन्मयी मूर्तिपूजा करते थे, जैसे सूर्य से हुई पृथ्वी का फिर सूर्य-रूप में बदलना—किरणमयी बनना; यही दर्शन मूर्तिपूजन द्वारा होता है। पश्चात् परमहंस देव अपने स्थान दक्षिणेश्वर वापस आये।

एक बार महाशय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलने के लिए श्रीरामकृष्ण देव गये। साथ में कुछ भक्त थे। मेज के चारों ओर कुर्सियाँ लगी थीं, बराबर एक बेंच पड़ी थी। श्रीरामकृष्ण बेंच पर बैठ गये। थोड़ी देर में विद्यासागर आये। बातचीत होने लगी। श्रीरामकृष्ण की विद्या देहात के मदरसे तक थी। विद्वानों के लिए कहते थे, यदि विद्या के साथ त्याग देखता हूँ, तो डर लगता है। कोई विद्वान् जाता था, तो नरेन्द्र को बातचीत के लिए बढ़ा देते थे। नरेन्द्र से बातें हो जाने के बाद सुन-सुनाकर, थाह लेकर आप बोलते थे। श्रीरामकृष्ण विद्यासागर की तारीफ करने लगे—आप विद्या के समुद्र हैं, मैं छोटा गढ़ा हूँ। विद्यासागर ने कहा—हाँ, तो खारा पानी ले जाइये। श्रीरामकृष्ण ने कहा—विद्या के समुद्र का पानी खारा नहीं, बड़ा मीठा है। विद्यासागर की दानशीलता प्रसिद्ध थी। वह दया के भी सागर थे। अपने स्थान पर आ श्रीरामकृष्ण ने कहा—हृदय में अमृत का सागर है, इसका पता लगाना मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य है। बाहरी पर्दे पार कर वहाँ जाना पड़ता है।

श्रीरामकृष्ण महर्षि देवेन्द्रनाथ के त्याग की बड़ी प्रशंसा करते थे। महर्षि पैतृक ऋण-शोध के लिए महाजनों को अपनी कुलसम्पत्ति देने पर तुल गये थे। बंगाल में उनका खानदान प्रसिद्ध है। महाकवि रवीन्द्रनाथ उन्हीं के आत्मज हैं। महर्षि की इस महत्ता के कायल हो उत्तमर्णों ने आप-ही-आप किश्त-दर-किश्त रुपया वसूल करने का उपाय कर लिया था। श्रीरामकृष्ण देव के पृष्ठ-पोषक रानी रासमणि देवी के जामाता मथुर बाबू महर्षि के मित्रों में से थे। श्रीरामकृष्ण की

इच्छा देखकर उनसे मिलाया। बातचीत होने के पश्चात् महर्षि ने अपने एक उत्सव में श्रीरामकृष्ण को निमन्त्रित किया और सभ्य बंगाली पोशाक पहनकर आने के लिए कहा। रामकृष्ण भावावेश में कभी-कभी नंगे हो जाते थे। एक बार आग पर गिर गये, चिनगारी एक इंच मांस भेद कर गयी। दूसरे भक्त उठा लाये, तब होश हुआ। मुद्रा छुला देने से लाजवन्ती लता की तरह मांसपेशियाँ संकुचित हो जाती थीं। सभ्यवेश धारण कर महर्षि के उत्सव में जाना परमहंस देव ने स्वीकृत न किया।

आचार्य केशवचन्द्र से भी श्रीरामकृष्ण काफी मिले थे। केशवचन्द्र भारत के प्रथम व्याख्याता हैं, जिन्होंने विलायत में अपने व्याख्यान का प्रभाव जमाया। इनके स्थैर्य की श्रीरामकृष्ण ने काफी तारीफ की है। इन्होंने भी श्रीरामकृष्ण की अनेक प्रकार से परीक्षा की और वार्तालाप में मित्रों से इन्हें सच्चा जौहरी कहते थे।

बंगला के नाट्यसम्राट् श्री गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण के कृपापात्र शिष्य थे। बंगला साहित्य में गिरीश बाबू अपना सानी नहीं रखते। यदि तीन सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक बंगला साहित्य से चुने जायँ तो उपन्यास में बंकिमचन्द्र, नाटक में गिरीशचन्द्र और काव्य में रवीन्द्रनाथ आवेंगे।

श्री विजयकृष्ण गोस्वामी पहले ब्राह्मसमाज में आचार्य थे। इनकी नसों में महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का खून था। श्रीरामकृष्ण से मिलने पर इनकी प्रज्ञाचक्षु खुली और सब अंग्रेजी ठाट-बाट छोड़कर तिलक, चन्दन, माला धारण कर यह अपने प्राचीन पथ के पथिक बन गये। इनके समय के शिष्य-प्रशिष्यादि हैं।

साधु नाग महाशय गृही थे। श्रीरामकृष्ण के कृपाभाजन थे। इन्होंने सदा गृहस्थ धर्म का पालन किया, पिता की सेवा की। स्वामी विवेकानन्दजी-जैसे संसार-प्रसिद्ध महापुरुष इनकी इज्जत करते थे। इनकी भावमयी कान्ति तथा अविचल श्रद्धा देखकर स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा था—

'वयं शास्त्रान्वेषेण हताः मधुकर, त्वं खलु कृती।'

अर्थात् हम लोग शास्त्र पढ़ते-पढ़ते परेशान हुए, हे भ्रमर! तुम्हीं कृती ठहरे। नाग महाशय वाक्सिद्ध महापुरुष थे। एक बार गंगा-स्नान के इरादे से चल रहे थे, पर विशेष कारण से न जा सके, तो उसी निश्चित दिन को मकान में पातालगंगा की एक धारा फूट निकली। एक बार कई अंग्रेज शिकार कर रहे थे। इन्होंने देखा, तो मना किया। इनका गृहियों का-सा दया-धर्म था। पर अंग्रेजों ने न माना। तब इन्होंने एक की कलाई पकड़ ली। सब दंग रह गये। किसी से कुछ करते न बना, जैसे बैटरी लगा दी गयी हो। सब लौट गये। एक बार इन्हीं के ताल में एक चोर ने मछली पकड़ी। इन्होंने देख लिया। चोर इन्हें देखकर बहुत घबराया। इन्होंने प्रार्थना की कि वह मछली ताल में छोड़ दे। इसके लिए चोर को इन्होंने कुछ पैसे भी दिये।

श्रीरामकृष्ण के सत्रह संन्यासी शिष्य हुए—स्वामी विवेकानन्दजी, स्वामी ब्रह्मानन्दजी, स्वामी शिवानन्दजी, स्वामी सारदानन्दजी, स्वामी प्रेमानन्दजी, स्वामी तुरीयानन्दजी, स्वामी अभेदानन्दजी, स्वामी रामकृष्णानन्दजी, स्वामी विज्ञानानन्दजी, स्वामी अद्भुतानन्दजी, स्वामी निरंजनानन्दजी, स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी, स्वामी निर्मलानन्दजी, स्वामी सच्चिदानन्दजी, स्वामी सुबोधानन्दजी, स्वामी योगानन्दजी, स्वामी अखण्डानन्दजी।

स्वामी विवेकानन्द के प्रतिष्ठित होने के पश्चात् स्वामी अभेदानन्दजी करीब 20-22 वर्ष तक अमेरिका में वेदान्त प्रचार करते रहे। इस समय वहाँ कई

शाखाएँ हैं श्रौर रामकृष्ण मिशन के विद्वान् संन्यासी वेदान्त का प्रचार करते रहते हैं। यह संस्था संसारव्यापी श्रौर विश्व-विश्रुत है। भारत के भी सब प्रान्तों में इसकी शाखाएँ हैं। श्राज जिस सेवा-धर्म का देश में इतना महत्त्व है, सबसे पहले रामकृष्ण मिशन ने ही उसकी श्राराधना वर्तमान युग में देश के सामने रखी। इसी संस्था ने 'समन्वय' नामक एक सुन्दर पत्र हिन्दी में निकाला था, पर हिन्दी के दुर्भाग्य से पत्र चल नहीं सका। कई साल तक घाटा सहने के बाद बन्द कर दिया गया।

कार्य, चरित्र श्रौर त्याग ही पतितजनों के उद्धार का कारण है। श्रीरामकृष्ण के श्रादर्श पर चलती हुई यह संस्था देश को वही शिक्षा देती है। पर रोमाँरोलाँ महोदय के कथन के श्रनुसार देश सच्चे रत्नों को पहचान नहीं पाता। वह बहक जाता है। जिन गुणों से देश पहले सम्पन्न हुश्रा था, वही इस समय भी जरूरी हैं। पर श्रनेकानेक घात-प्रतिघात मनुष्यों की बुद्धि को दूसरी ही तरफ फर देते हैं, जहाँ श्रमृत के बदले उसे जहर ही मिलता है, स्वतन्त्रता की जगह परतन्त्रता।

बिना विशद उद्देश लिये हुए श्रवतार-पुरुष संसार में श्राते नहीं। श्रीरामकृष्ण का यह श्रागमन तथा उनकी तपस्या श्रौर शिक्षाएँ, जो महान श्रर्थ रखती हैं, यथासमय श्राप ही देश को श्रपनी विशालता में परिणत करेंगी, यदि मुक्ति ही किसी बन्धन का यथार्थ लक्ष्य है।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1932। **संग्रह** में संकलित]

## चरित्र

श्रप्रैल 1932 ई. के 'विशाल भारत' में पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी का लिखा हुश्रा 'हिन्दी-साहित्य-सेवियों के श्रादर्श' शीर्षक एक सुन्दर लेख निकला है। चतुर्वेदीजी स्वभाव के बड़े सज्जन पुरुष हैं। उनसे बातचीत करने पर उनके माधुर्य श्रौर कोमलता का प्रभाव श्रोता पर पड़ता ही है। उनका विकास इसी तरफ़ से हुश्रा है। वह श्रपने दूसरे पक्ष की दुर्बलता स्वीकार करते हैं। यह उनका श्रौर बड़ा गुण है।

उनके उक्त प्रबन्ध के उन विचारों से मैं पूर्णतया सहमत हूँ, जिनका उन्होंने उल्लेख श्रौर प्रतिपादन किया है। पर उन विचारों के साथ-साथ जो दूसरा पक्ष उसी बलवत्ता से बहता जा रहा है, जिसे वह बड़ा कमज़ोर श्रथवा हेय समझते हैं, इस श्रालोचना में मैं उसी की तरफ़ ध्यान दिलाऊँगा, क्योंकि मेरा भी यह धर्म है।

जिस 'चरित्र' की बात उन्होंने छेड़ी है, वह क्षमा करें, उसका पूरा-पूरा मतलब श्रपनी तरफ़ से भी वह नहीं समझ पाये। उनका लेख एक नेता के ढंग पर है। पर वह नेता का श्रर्थ शायद नहीं जानते। प्रयोग सब लोग करते हैं—श्रनाड़ी वैद्यों की तरह—बैचिलर श्राफ़ मेडिसिन (M. B.) डाक्टरों की तरह; पर श्रर्थ वह जानता है, जो तैयार करता है—डाक्टर श्राफ़ मेडिसिन (M. D.) की तरह। दवा-फ़रोश दवाश्रों के विधान नहीं जानते। इसीलिए वे दवा पर बातें करते हुए गलती करते

हैं। नेता का अर्थ है—'जिसके द्वारा साथ लिया जाय' या 'जो साथ लेता हो।' क्या यह नेता महात्मा गाँधी हैं ? माना, महात्मा गाँधी हैं। अच्छा, जन्म के बाद, नामकरण से पूर्व, वह क्या थे ? तब उनका कुछ नाम न था। अब 'मोहनदास गाँधी' क्या एक आवरण नहीं उस अचेत बालक पर ?—इससे उस बालक का क्या सम्बन्ध है ? यह 'कुछ नहीं' ही नेता है।

गाँधीजी शराब के प्रचार के खिलाफ़ हैं; क्योंकि विदेशों को रुपया जाता है, यहाँ के लोग भूखों मरते हैं। अच्छा, भूखों को अन्न खिला दीजिए। पेट में शराब नहीं बनेगी ? क्या चतुर्वेदी बनारसीदासजी रोज़ वैसी शराब नहीं पीते ? किसी डाक्टर से इसका रहस्य पूछिए। फिर ऐसा ज्ञानाडम्बर क्यों ? चतुर्वेदीजी, कृपा करके इसका उत्तर अवश्य दीजियेगा।

'चरित्र' के क्या मानी ? आचरण के द्वारा निस्तार किया जाय, वह चरित्र है। शराबी का शराब पीना चरित्र है। मेरा यह लिखना चरित्र है, आपका वह ।लखना चरित्र है। मेरा कोई स्कूल नहीं, जो स्कूल है—जहाँ सब वर्णों, सब जातियों, के बालक पढ़ते हैं— वही है। आप अपने लिए एक खास स्कूल दखल किये बैठे हैं, इसलिए आप और आपके समर्थक महामन्द-चरित्र मनुष्य कहे जा सकते हैं; क्योंकि एक ज्ञात घृणा दूसरों के प्रति आपके भीतर बहती रहती है।

साहित्य का कोई स्कूल नहीं। आप शराबी, परस्त्री-गामी, नरक आदि शब्द अभिधान के कान ऐंठकर निकाल दीजिए। निकाल सकते हैं आप ? फिर कैसे आप इनकी प्रतिकूलता कर रहे हैं—यह आपका महाज्ञान है, और मैं मान लूँ ! ये एक-एक शब्द अपने-अपने ढँग की हजार-हजार पुस्तकें लिखते थे, लिखते हैं और लिखेंगे।

जनता पर इनका प्रभाव नहीं ? फिर आप बरग़लाते क्यों हैं ? क्योंकि आपका स्वभाव है बरग़लाना और न मानना। इसी तरह दूसरे भी आपके प्रतिकूल स्वभाववाले हो सकते हैं। मैं अपने लिए क्या कहूँ, मैं आपको भी मानता हूँ और दूसरों को भी मानता हूँ; क्योंकि मेरी बुद्धि इसी तरह मारी गयी है।

क्या तुलसीदास महा असच्चरित्र आदमी थे ! क्योंकि उन्होंने लिखा है—

वंचक भक्त कहाइ राम के, किंकर कंचन कोह काम के
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी, धिक् धर्मध्वज धंधक घोरी
जो अपने अवगुन सब कहऊँ, बाढ़ै कथा पार नहिं लहऊँ
ताते मैं अति अलप बखाने, थोड़े महँ जानिहैं सयाने

अब कहिए, इन चौपाइयों को पढ़कर आप क्या कहेंगे कि तुलसीदास असच्चरित्र नहीं थे ? तो यह लिखा किसने ! 'थोड़े महँ जानिहैं सयाने' में 'सयाने' पर इतना जोर क्यों है ? ऐसा प्रश्न उठ सकता है या नहीं ? आप इसका क्या उत्तर देंगे ?

सत् के साथ असत् को और असत् के साथ सत् का बराबर रमण होता है। सत् की खुराक है असत् और असत् की खुराक है सत्। ऐसी हालत में यह हूँ, वह नहीं—यह कोई समझदार नहीं कह सकता। साहित्य में जिसकी जैसी पसन्द लिखता है—यही उसका चरित्र है; इस चरित्र के भीतर से भी उच्चतम भाषा और भाव निकलते हैं। कोई विरोध नहीं कर सकता। इस तरह की लिखा-पढ़ी साहित्यिक खेल-मात्र है।

भारतीय संस्कृति, शालीनता, सुरुचि आदि का रोग है लोगों को—कम-से-कम यहाँ के लोगों को—परदे के भीतर नंगे की तरह। परदा देखनेवाले सदा परदे

में हैं। काली की नंगी मूर्ति क्या है ? यहाँवाले पूजने के वक्त कुछ देखते हैं ? यह पेड़ नंगा है या कुछ पहने हुए ? इस पेड़ से जो हवा अठखेलिताँ करती है, वह नंगी है या कुछ पहने हुए ? अच्छा, मिट्टी ? आकाश ? आपकी साँस को परदा दे दिया जाय, तो आप कब तक जी सकते हैं ? हाँ, मनुष्य-समाज अपने प्रचलन के अनुसार एक खास तरह से परदे की बातें करता है; शिष्टता की बातें करता है; सब ठीक है। पर एक के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ना चाहिए। मनुष्य नंगा भी होता है—प्राय: रोज, और अपने ही घर में। यह भारतीय संस्कृति का नंगा नाच कौन नहीं देखता ?

कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपीयर, बायरन, शेली, उमर ख़य्याम, रवीन्द्रनाथ आदि कवि काव्य में बड़े चरित्रवान हैं या असच्चरित्र ? इनकी कथाओं में हमें क्या मिलता है ?—बड़े सच्चरित्र थे ? इनका चुम्बनालिंगन—काव्य क्यों बड़े-बड़े लोग पीते रहते हैं ?—यह वमन पीना बन्द करा दीजिए। 'घूँघट के पट खोल री, तोहे राम मिलेंगे'—यह क्या है ? क्यों महात्माजी इसे गाते-गवाते हैं ? पाप अगर नीचे की तरफ जाना है, तो नीचे क्या है—अध: ब्रह्म नहीं ?

अतएव, आप चिढ़ाया मत कीजिए। हम लोग बहुत चिढ़े हुए हैं और बहुत चिढ़ा सकते हैं।

चतुर्वेदीजी लिखते हैं, अभी कुछ दिन पहले एक मारवाड़ी कार्यकर्ता ने हमसे कहा—"हिन्दी के अमुक कवि को हम बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे, पर एक दिन उन्होंने हमें अपनी चरित्रहीनता की बात सुनायी, और जब हमने पूछा कि ऐसा आपने क्यों किया, तो वह बोले, 'कवियों के लिए सब प्रकार के अनुभव की आवश्यकता है, नहीं तो उनकी कविता सर्वांगपूर्ण नहीं बन सकती।' उनका यह तर्क हमारी समझ में नहीं आया, और सच पूछो तो उस दिन से हमारे हृदय में उनके प्रति जो श्रद्धा थी, वह जाती रही।"

इस तरह की एक दुर्घटना मेरे साथ भी हुई थी। फूल श्रद्धा का भार नहीं सहता, आदर नहीं चाहता, देवताओं के भी सिर पर चढ़ता है और एक दिन की हँसी हँसकर चला जाता है। वह सबके साथ रमण करता है, हवा में नाचता है, यह उसका स्वभाव है। मित्रवर, जिसने अपने चरित्र की एक इतनी बड़ी बात अम्लान कर दी; मित्र समझकर बराबर आसन देने के लिए, उसे आप कितना बड़ा समझते हैं ? वह नेता मारवाड़ी सज्जन उस कवि के पास कौन-सी किताब पढ़ते थे तब, आप जानते हैं ?—दूसरी ! ! ! ऐसी आदमी की श्रद्धा की भी उसने परवा नहीं की। आप भी ऐसी ही एक बात अपनी चरित्रहीनता की सरे बाजार कह आइए और नेता बने रहिए। नृत्य-गीत रंग-रस-कवि का स्वभाव है। वह करता है। उससे उस दूसरी कक्षा के विद्यार्थी को घृणा हो गयी, तो उसने बड़ी भारतीय संस्कृति दिखायी—यही आपके प्रतिपादन का विषय है न ? ऐसे कवि, जो आप लोगों से विशेषाधिकार चाहते हैं, यह आप लोगों पर दया करते हैं। वे तो अधिकार लेकर पैदा हुए हैं। उनका अधिकार कोई छीन नहीं सकता। आप अपना ही नेतृत्वाधिकार इनसे ले लीजिए। देखिए, महात्मा गाँधी तक को वे क्या जवाब देते हैं।

एक दफ़ा लखनऊ में एक मुसलमान सज्जन के साथ मैं पुलाव, कबाब और रोगन-जोश आदि खा रहा था। वह मन-ही-मन यह अक्ल ऐंठ रहे थे कि अब इसे मुसलमान बनाया। एक रोज वह मुसलमानों में बैठे पानी पी रहे थे—अमीनाबाद पार्क में। मैं गया। और-और उनके साथी थे। पानी के लिए पूछते हुए संकु-

चित हो गये। उन्होंने पूछा, मुझे प्यास थी, मैंने पिया। तब खाने-पीने की बात चली। वह मुझे एकान्त में बुला ले गये, और कहा—आप उस रोज की एक साथ खानेवाली बात न कहियेगा। मैंने कहा, यह सबक हिन्दू पढ़ें, मैं तो मुसलमान हूँ। उनको बड़ा हर्ष हुआ—'आप मुसलमान हो गये?' मैंने कहा—'नहीं जी, मुसलिम ईमान!'

मैं चतुर्वेदीजी को बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूँ। उनकी सज्जनता की छाप मेरे कवि के हृदय तक पहुँची है। इस प्रबन्ध में यदि उन्हें किसी प्रतिकूल दोष से कष्ट हो, तो मुझे क्षमा करेंगे। मेरा कवि सदा निरपराध है। मैं क्या कहूँ, वह क्या-क्या करता है। मैं चतुर्वेदीजी को लिखूँगा, वह मेरे अन्दर से कितने बड़े राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कृत्य करा चुका। अभी डरता हूँ कि इतने छोटे मुँह इतनी बड़ी बात कहकर उसे क्यों छोड़ूँ। बड़ा होकर कहूँगा।

तेरी जुदी पसन्द है, मेरी जुदा पसन्द।
तुझको खुदी पसन्द है, मुझको खुदा पसन्द।

['जागरण', पाक्षिक, बनारस सिटी, 5 मई, 1932। असंकलित]

## सामाजिक पराधीनता

नाली का मुँह बन्द हो जाने पर गृह में गन्दगी भर जाती है। दूषित वायु से कलुषित हो स्वास्थ्य उत्तरोतर गिरता जाता है। फिर मकान के लोग मृत्यु के पल गिनते रहते हैं।

नवीन युग के पल पलक मारते हुए बहुत दूर चले गये, पर हमारा समाज वैसा ही अचल खड़ा रहा। इस ओर ध्यान देनेवाला अब कोई भी समाज-पति नहीं।

मैंने समाज-सम्वन्धीय अपने पहले प्रबन्धों में लिखा है, म्लेच्छों के शासनाधिकार में समाज शूद्रत्व को प्राप्त होता है, और उस समय सभी वर्ण शूद्र हैं। केवल घर में ऐंठ दिखाने के लिए, गुलामों की तरह, एक-दूसरे से बढ़कर होने की स्पर्द्धा करते हैं। कोई अँगरेजी राज्य की सुविधा प्राप्त कर शूद्र से क्षत्रिय बन रहा है, कोई वैश्य से ब्राह्मण। ऐसा पहले भी हुआ है, पर इस समय शूद्रत्व ही हमारे समाज का प्रबल संस्कार है।

गाँधीजी वैश्यत्व की प्रतिष्ठा के प्रथम महापुरुष, देश की आर्थिक स्थिति के सुधार के उद्योगी हैं। उनकी भूख मिटानेवाली देशव्यापी पुकार, देश का उनके साथ सहयोग साबित कर रहा है कि शूद्र अब द्विजत्व के प्रथमाधिकार के लिए सचेष्ट होने लगे हैं। वैश्य-शक्ति के उत्थान के बाद उन्हीं सजीव वैश्यों में क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व का परिणाम होगा। तब तक आजकल के ब्राह्मणों और क्षत्रियों की क्या दशा होगी, यह कहा नहीं जा सकता। उत्थान के साथ सहयोग करनेवाले आजकल के ब्राह्मण और क्षत्रिय भी वैश्य-शक्ति के प्रतिपादक हैं, इसलिए मुख्यतः वैश्य ही हैं; शूद्र भी वैश्य हैं।

एक दूसरे दर्शन के विचार से प्रत्येक मनुष्य में चारों शक्तियों का सम्मेल रहता है। पाँचभौतिक शरीर की तरह चारों वर्णों के विभाग मनुष्य में एकत्र होते हैं, जितना इच्छानुसार वह उपयोग करता रहता है। जिस वर्ण का ग्राधिक्य देख पड़ता है, उसी कोटि में उसकी गणना की जाती है। मैं समझता हूँ, इस विचार से भी शूद्रत्व की पुष्टि होती है। क्योंकि मेधा ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्र नहीं रह सकती, वह पराधीनता का बोझ रखकर अपनी सुविधा का विचार करती है। जहाँ कहीं भी जाइए, विचारों के ऐसे ही तारों से भारत बुना हुआ है, और वे जुलाहे शूद्रत्व को छोड़कर ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व की कोटि में कभी नहीं आ सकते।

उदाहरणार्थ कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और दिल्ली को लीजिए। यहाँ भारत के सब वर्णों के लोग मिलेंगे, सब पराधीन। समाज में ब्राह्मण कहलानेवाले लोग जूते तक की दूकान करते हैं। बालकराम शुक्ल सुर्ती और जर्दा के जहर से देश को जर्जर करने का इरादा गाँठकर, कामयाब होने पर भी, शुक्ल नहीं रह सकते। घर लौटकर पिताजी के श्राद्ध में जब वह दो हजार ब्राह्मणों को भोज देते हैं, और समाज के वर्तमान ब्राह्मणों के मनों में उनका शुक्लाम्बर और भी धौत, निर्मल हो जाता है, तब तथ्य की कालिमा कहती है, मुझे भी समझो, इस तरह का कोई दूसरा रंग मुझ सूरदास की कमली पर चढ़ नहीं सकता। बात यह है कि यह सब **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** होता रहता है, और यही ऐसी ही पराधीन वृत्तियों से भरी बातें हमारे समाज में देख पड़ती हैं, जिनका समर्थन पढ़े-लिखे लोग भी न समझकर करते रहते हैं। शहरों में सब वर्णों के लोगों की एक ही पराधीन वृत्ति गति है, जिसका दम्भ भी लोग आपस में बैठकर करते हैं। व्यवसाय और कर्माधिकार जुदा-जुदा होने पर भी वे शूद्रताजन्य हैं। किसी ने किताबों की दुकान खोली। छापने के लिए यन्त्र की जरूरत यहाँ से पूरी नहीं हो सकती। डॉक्टरों की दवाएँ यहाँ की बनी नहीं। वकीलों को अपने कानूनों से काम नहीं लेना पड़ता। रेल, तार, यहाँ के नहीं।

सब लोग जानते हैं, अँगरेजी पढ़ाने से लड़कों के खयालात बदल जाते हैं, वे आचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। पर समर्थ सब लोग अँगरेजी पढ़ाते हैं। यहाँ देख पड़ता है कि आचरण का उन्हें भानमात्र है, पर ऐंठ नहीं छोड़ते। लड़के कॉलेजों में अण्डे, कबाब, कोफ्ते खाते हैं, घर में वह स्वतन्त्रता नहीं। नहाकर, पैर धोकर चौके में जाओ, नहीं तो अलग कर दिये जाओगे, शादी न होगी। बाप-दादों का ऐसा भय भी है, और अँगरेजी भी पढ़ाते हैं। यह कोई शृंखला न हुई। यह कोई आचरण, भारतीयता, शालीनता और सात्विकता नहीं, जिसकी अखबारों में सब लोग डींग हाँकते हैं। ऐसे भी आदमी हैं, जो अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं, दूसरे के हाथ का पानी भी नहीं पीते, पर दहेज अधिक मिलने के लोभ से लड़के को अँगरेजी पढ़ाते हैं, और लड़का बाजार में कचालू खाया करता है, सुनकर भी नहीं सुनते। हाँ, दूसरे को सुनकर समाज-च्युत करने की सबसे ऊँची आवाज उठायेंगे।

शहर और देहात, सब जगह, समाज की एक ही-सी पतित अवस्था है। भारतीयता, दिव्यता और सतीत्व आदि की जितनी बातें हैं, दिखलाऊ हैं। सती-प्रथा की तरह सतीत्व-प्रथा के उठ जाने का अगर कानून बन जाय, तो और-और देशों की महिलाओं की तरह यहाँ की सीता और पार्वती देवियों के भी चित्र देखिए। छिपे तौर पर कितना पाप होता है, यह किसी भी आँख-कानवाले से छिपा नहीं। मैं जहाँ रहता हूँ, उसके एक ही कोस के अन्दर सतियाँ ससुर, जेठ,

भाई और पिता तक के साथ पति-सम्बन्ध स्थापित होने पर कम हिचकीं। जो स्त्री पति की मृत्यु होने पर जल गयी या कुएँ में गिरकर मरी, वह सती अवश्य थी, और ऐसी भी अवश्य हैं, पर बिलकुल पश्चिमी विचार लड़ाने पर मालूम होता है कि वह चित्त का अस्थिरता-जन्य रोग है, समाज द्वारा कोई दूसरा उपाय न रहने का भय है, एक बड़ी प्राकृतिक वैपरीत्य की प्रतिक्रिया है। जिस पुण्य का विचार किया जाता है, वह पाप होने के बाद होनेवाला एक परिणाम है; केवल पाप द्वारा एक जीवन बन नहीं सकता। जो यथार्थ सत्ता है, वह पाप और पुण्य से परे है। अस्तु। ऊपर कहे हुए समाज के महापाप भी ब्रह्म-भोज द्वारा छिप जाते हैं। पर विधवा स्त्री फिर किसी प्रकार सधवा नहीं हो सकती। सीधे चलते हुए चक्र का परिक्रमण, परिवर्तन नहीं हो सकता। कारण, मूल में ज्ञान नहीं। अभ्यास ज्ञान नहीं बन सकता। शास्त्र का एक ही विधान समाज में नहीं रहा। पर इस समय का सभाज यह मानने के लिए तैयार नहीं।

बात-बात में शास्त्रों की राय लेने की जो आदत बड़े-बड़े विद्वानों तक में देख पड़ती है, वह शास्त्रीय पराधीनता है। मनुष्य शास्त्रों से अपने अनुकूल विधान ही निकालता है। शास्त्रों में हर कानून की प्रतिकूलता देख पड़ती है। सच बोलना चाहिए, पर झूठ कहने के भी अवसर हैं। इस तरह के सविरोध शास्त्रों से यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को अपनी मेधा के अनुसार ही काम करना चाहिए। यह बात समाज में नहीं देख पड़ती।

भारत में बहुत बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। मैं इसी युग की बात कह रहा हूँ। पर इससे अधिकांश जन निर्लाभ ही रह गये। वाचस्पति के व्याख्यान के महत्त्व में रुपयों का सुधार समाज के सुधार से बढ़कर रहा। आजकल स्त्री-धर्म में उसी तरह सतीत्व का प्रचार अपने प्यार के मूल्य में स्त्रियों को गुलाम बना लेने का इरादा है। पहले का प्यार ऐसे रहस्यमय ढंग से कहा गया है, जो बहुत जगह समझ में नहीं आता। प्यार सुद सत् है। वह यदि मृत पति पर स्थायी रहा, तो स्त्री दूसरा ब्याह कर नहीं सकती। प्यार को एकमुखी (Concentrated) रखकर मन तथा स्वास्थ्य का कल्याण कराना भी पहले के धर्माचार्यों का लक्ष्य रहा है। पर आजकल जैसा वायुमण्डल है, जैसे परमाणुओं के बीच स्त्रियों को रहना पड़ता है, उनके भावात्मक सत् का बोझ कुछ हलका करने से मन और शरीर का कल्याण हो सकता है। बड़े-बड़े समाज-सुधारक ऐसा ही कहते हैं। महाराज दशरथ या वाजिदअलीशाह की तरह यदि अनेक स्त्रियों का एक पति होना शास्त्र-संगत है, तो द्रौपदी की तरह एक स्त्री 25 पतियों से भी रति कर सकती है, और उसका प्यार मर नहीं सकता। हाँ, किसी एक के प्रति अधिक भले ही हो। हमारे पुरुषों को यह सब बहुत बुरा लगेगा, क्योंकि वे चाहते हैं, हम सबकी स्त्रियों की तरफ देखें, हँसी-मजाक करें, पर हमारी स्त्री दिन-रात हमारे ही ध्यान में डूबी रहे। ठीक मनुष्य की तरह, इतनी ही ऊँचाई पर ठहरकर विचार करने पर, चारित्रिक आकाश-कुसुम फिर पृथ्वी ही पर खुलेंगे, और आदर्श का आकाश आकाश ही-सा शून्य बनकर प्रकाश-लेश-रहित हो जायगा।

पहले की जो बातें हैं, उनमें बात थोड़ी और रहस्य अधिक है। इन्द्र के वास्तव-राज्य की कल्पना जितनी मजबूत है, उनके अंगों में सहस्र योनियों का होना जितना संगत है, प्राचीन आदर्श का सत्य भी जड़ प्रमाणों से उतना ही सविरोध। क्या एक आदमी के हजार योनियाँ हो सकती हैं? समझदार सभी कहेंगे, नहीं। साधारणजन कथा पढ़कर विश्वास कर लेते हैं। यदि विज्ञ भी उसी बहाव में बहते

रहे, तो देश के उद्धार की यह विलम्बित गति द्रुत होने में दस हजार वर्ष और लेगी। रहस्य के द्वारा अथवा कल्पना के भातर से एक हज़ार क्यों, एक लाख योनियाँ मनुष्य के केवल सिर पर सिद्ध की जा सकती हैं।

समाज की भूत संज्ञा है, रहस्य नहीं। उसका सुधार भूत या जड़ सुधार है। फिर जड़ को जब रहस्यमय बनना होगा, बन लेगा। जिसके पति नहीं है, उसको धार्मिक बातों से थोड़ी ही देर के लिए संन्यासीजी या धर्माचार्यों के प्रणीत ग्रन्थ बहला सकते हैं, फिर उसके अपने तथा पारिपार्श्विक संस्कार पति-सहयोगवाले जब जगेंगे, तब कामदेव उस सत्साहित्य के शिव से भस्म होकर भी पुनर्विवाह किसी दूसरे पति या एकान्त के उपपति द्वारा कराकर छोड़ेंगे, क्योंकि वह अनंग हैं, और बिना मिलन-प्रसंग के मान नहीं सकते, उनकी प्रिया को ऐसा ही वरदान मिला है।

दुनिया-भर के पौराणिक खुराफात लोग मानते हैं, पर जीवन के सत्य को नहीं मानेंगे। इसकी क्या दवा है? यह मानते हुए, संस्कार-जन्य एक कमजोरी है, प्रेमचन्दजी कहानियों में आदर्श की पुष्टि करते हैं। लिखते हुए आदर्श को बड़ा बतलाते हैं। मैं कहता हूँ, यह आदर्श वैसा ही सत्य है, जैसा सूर्य का वंश चला और रघु, दशरथ, रामचन्द्र पैदा हुए; चन्द्र का वंश चला, वसुदेव, कृष्ण पैदा हुए। लेकिन यह कितना बड़ा प्राकृतिक सत्य है? इसमें जड़ बोध की मात्रा कितनी है? अविवाहिता कुन्ती से सूर्य के रमण द्वारा कर्ण पैदा हुए। सब लोग मानते हैं। रोज महाभारत पढ़ते हैं। पूछिए, यह कैसे हुआ? फिर उत्तर कौन देता है! रहस्यवाद के भीतर से यह सब गद्य-पद्यों द्वारा सिद्ध करने का वायु-विकार मुझमें बहुत ज्यादा है, अतएव उत्तर माँगे हुए तरीके पर, सत्य साबित करते हुए, दीजिए। हमारे साहित्य में प्रेमचन्दजी स्वनाम-धन्य साहित्यिक हैं। वह आदर्श का पक्ष लेते हैं। मैं समझता हूँ, यदि उनकी अनमोल कृतियाँ वास्तव-सत्य (यद्यपि उनके आदर्श में यथार्थवाद ही प्रधान है) को लेकर समाज के दुष्परिणाम के रूप रँगकर चलतीं, तो साहित्य तथा समाज को और बड़ी-बड़ी वस्तुएँ मिली होतीं। अब इस काम के लिए दूसरे बड़े लेखक की आवश्यकता है। सुदर्शनजी लिखते हैं इस तरफ। खैर, समाज यथार्थ तत्त्व चाहता है। तभी उसका सुधार होना सम्भव है।

अर्थ के दो भेद हैं, परमार्थ और स्वार्थ। एक की ऊर्ध्व गति है, दूसरे की अधः। एक केवल शब्दार्थ है, सर्वश्रेष्ठ आकाश-गुणजन्य उसकी परिणति तत्काल ईश में होती है, जो आकाश-रूप हैं; दूसरा जड़ार्थ है, जो समाज की ही तरह व्यवहारशील है। रुपये की धातु को क्षिति-तत्त्व से आकाश-तत्त्व में परिणत करके शंकराचार्य ही **'तैलधारावन्निरवच्छिन्नं ध्यानं'** की सिद्धि के लिए कह सकते हैं—

**"अर्थमनर्थं भावय नित्यम्"**—

वह संन्यासी थे, उनका यही कर्तव्य था। पर संसार के मनुष्य उस समय भी कहा करते थे—

"टका धर्मः टका कर्म, टका हि परमो तपः;
यस्य गेहे टका नास्ति, 'हा टका' टकटकायते।"

यह अर्थ के दो रूप, दो जगह, देखिए। एक का ऊर्ध्व, दूसरे का अधः।

जब संसार का दर्शन ही समाज की सार्थकता है, तब **'अव्यापारेषु व्यापारः'** उसे नहीं करना चाहिए। सब प्रकार के अर्थों का हमारे समाज में अनर्थ है। इन अर्थों को आधुनिक सिद्ध-रूप देने में साहित्यिकों को बहुत साधना करनी पड़ेगी। संसार में रहनेवाला समाज ज्ञात या अज्ञात भाव से समस्त संसार के साथ सहयोग

करता है। हमारा समाज इतना पिछड़ा हुआ, पतित और मृतकरूप हो रहा है कि वह घर ही में परस्पर सहयोग नहीं कर सकता। इसके मूल में वही प्राचीन शिक्षा है, जो एक वक्त संस्कार थी और अब कुसंस्कार। हमारे यहाँ साधुओं और गृहियों का गुरु-शिष्य-सहयोग अब भी है। यह और बुरा है। क्योंकि गुरुदेव घोर क़लि-काल में रहकर भी बातचीत के समय सत्ययुग से एक पग इधर नहीं रखते। अधिकांश मूढ़—'गुरु ने जैसा घुखाया' वाले। कुछ अल्प-शिक्षित। सब-के-सब जातीय द्वेष भड़कानेवाले। इतने बड़े माया-जाल में फँसा हुआ समाज महान् साधना के पश्चात् ही मुक्त हो सकता है।

अर्थ के लिए मैंने कहा है, देश के लोग अपना ही मांस नोच-नोचकर खाते हैं। कच्चा माल बेचने के सिवा यहाँ का कोई भी दूसरा बड़ा व्यवसाय नहीं। कुछ सिक्ख वैदेशिक व्यवसाय करने गये थे। बारह-चौदह साल हुए। उनकी विपत्ति-कथा पठित जनों को मालूम होगी। यह दुर्बल देश अभी किसी सभ्य देश में मुँह नहीं दिखा सकता। घर में मुसलमान-द्वेष। भिन्न जातीयता, जो हिन्दुओं में ही भरी हुई है, उसकी तो बात ही नहीं। ऐसी दशा में सबसे पहले आवश्यक है, समाज की नाव का भारतीयता के शब्दार्थ का लंगर खोल दिया जाय। तभी डाँड़ चलाने की सुविधा होगी। नाव अपने अर्थ-व्यवसाय के घाटों में पहुँच सकेगी। हिन्दी में जो लोग भारतीयता और शालीनता आदि कुछ चुने हुए शब्दों के ज़िम्मेवार हो रहे हैं, चरित्र की रक्षा कराने का ईश्वर के यहाँ से अधिकार-सा लेकर अवतीर्ण हुए हैं, उनकी महान् भारतीयता उनके लेखों में ही प्रांजल है। कंगन-हाथ को आरसी की जरूरत नहीं पड़ती!

लोग पूछेंगे, समाज का आदर्श फिर क्या होगा! मैं कहता हूँ, जो था, वही रहेगा; जो जैसा चाहेगा, उसका वही बन जायेगा; सिर्फ क्रियाओं, भावनाओं तथा आदान-प्रदान में प्रसार होगा। भलाई और बुराई, दोनों रहेंगी, रहती हैं, और हर आदमी दोनों के मातहत है। हाँ, किसी में भलाई ज्यादा है, किसी में बुराई! पर अगर उस बुराई का रुख भलाई हो, तो वह भलाई है। समाज में रहन-सहन, खान-पान, विवाह आदि का कोई बँधा कानून नहीं रह सकता। यह गुलामी है।

प्रयाग में एक बहुत बड़े कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, सरकारी अफ़सर, प्रतिष्ठित सज्जन हैं। अभी उस दिन उनके यहाँ जनेऊ था। एक निमन्त्रित मित्र के साथ मैं भी गया। देखा आलीशान बँगला, सामने फाटक, बगीचा। एक आँगन के ऊपर शामियाना तना था। उसके नीचे तृण से छाया मण्डप! मण्डप पहले गरीब ब्राह्मण छाया के लिए ही कुश आदि से आँगन में छाते थे। यहाँ विशाल मोटे शामियाने के नीचे तृण का मण्डप! यह कौन-सा स्वाँग था? ऐसी ही भारतीयता की रक्षा की जायगी? सब जगह मूजी-मेखलाधारी नया ब्राह्मण-बालक छत्र-दण्ड आदि लिये काशी पढ़ने के अर्थ रवाना होता है। तब कोई उसे पकड़कर रुपया, दो रुपया देकर समझाता है—यहीं रहो, यहीं पढ़ जाओगे। फिर अगर वह बड़े बाप का लड़का हुआ, तो देखिए, घड़ी-भर बाद कमीज़, वेस्टकोट, टाई, कोट, रिस्टवाच, सोने की चैन, मोजे-जूते डाटे हुए, हैट लगाये, निमन्त्रित जनों का विस्मय बना बैठा हुआ है। जनेऊ के समय के दण्डधर ब्राह्मण-बालक का दण्ड कहाँ चला गया? नहीं रखने की इच्छा, तो वह स्वाँग क्यों? यह भारतीयता और शालीनता समाज के सर्वोच्च कृत्य का एक विकसित रूप है! इसी तरह की और-और बातें हैं, जहाँ

स्वभावतः मन विद्रोह कर बैठता है, जिनके निराकरण की जरूरत है। सुधार तो बहुत दूर की बात है। पहले आदमी बनाइए, सुधार तब होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1932 ('समाज' शीर्षक स्तम्भ में)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## अर्थ

पूँजीवाद के सिंहासन पर शासन के रावण जितने ही ऊँचे बैठेंगे, दैन्य के लंगूर पूँछ की कुण्डली पर अंगद की तरह उतने ही ऊँचे पहुँचेंगे। यह स्वाभाविक सत्य आज तक अपनी मर्यादा में पूर्ववत् चला जा रहा है। दोनों—अमीरों और गरीबों—के समूह बीच की मरीचिका में भटककर संसार की निस्सीमता इसी तरह चिर-काल से साबित करते चले आ रहे हैं, अर्थात् जल और मृग दोनों के बीच ताप ही तृष्णा या मरीचिका का जड़त्व है। हम मनुष्यों के बुद्धि-विकास के लिए जितनी भी कोशिश करें, उनके दैन्य के दूरीभूत होने के जितने भी उपाय बतलाये जायँ, विकास का वैषम्य रहेगा ही, अर्थात् अमीर और गरीब रहेंगे ही। कारण, गरीबी से लड़ना ही अमीरी को प्रश्रय देना है।

एक समय था, जब एक जाति जंगल में रहती थी। उसने नदियों, समुद्रों या झीलों में मछली मार-मारकर अपना जीवन पार करने का तरीका अख्तियार किया था। देखते-देखते वह संगठित और समर्थ हुई, दूसरे देशों पर कब्जा कर लिया। क्रमशः बाह्य सभ्यता की सर्वोत्तम प्रतिमा अपर जातियों की आँखों में आश्चर्य बन गयी। प्रभाव के बादवाली क्रिया ही अनुकरण कहलाती है। फिर उसका अनु-करण होता रहा। पर संसार के जंगली जातियों के जत्थे इस समय भी मौजूद हैं। समृद्धि के दैन्य और दीन की समृद्धि के फुटकर उदाहरण गाँव-गाँव प्रति वर्ष मिलते रहेंगे।

जब दीन केवल अर्थ पर ही लक्ष्य रखता है कि दूसरे की जगह वह ऐश्वर्यवान होकर भोग-सुख प्राप्त करे, तब मृग की मृगतृष्णा का उदाहरण है, और जब ऐश्वर्यशाली दीनों से सामर्थ्य के बल पर अर्थ प्राप्त करता है, और यही उसका लक्ष्य है, तब जल का दृष्टान्त है, जो एक दूसरे ताप से क्रमशः सूखता रहता है। जब कि तृष्णा के ताप से जल और मृग दोनों दिग्भ्रमण करते हैं, तब किसी अलक्ष्य शीतल समीर को ही यथार्थ शक्ति का कारण कहते हैं। वही जल बरसाती, तड़ाग भरती और दैन्य के मृग को तृष्णा से बचाकर चमक से जलाशय की ओर ले चलती है।

निस्सीम नीड़ से ही निकल-निकलकर सीमा-शून्यता में सीमा की खोज होती है। एक अण्डे में निस्सीम का ही रूपक है। पक्षी आकाश की असीमता के भीतर रहकर ही खाद्य की सीमा का पर्यवेक्षण करता है। भूख लगने पर पक्षी की तरह मनुष्य भी ससीम है, और उसी की तरह असीम अवकाश के भीतर खाद्य की तलाश करता है, जो उसी की तरह ससीम है।

जब इन कृत्यों की प्रतिक्रिया होती है, यानी भक्षक जब भक्ष्य बनता है, अर्थात् बड़ा जब छोटे के शिकार की तैयारी करता है, तब भय की लक्षणा मनुष्य को धर्म की व्यंजना की तरफ फेरती है। यह धर्म भी सीमार्थ के भीतर असीम परमार्थ है। यह चिरकाल ऐसा ही साधार और निराधार जल और कमल की तरह खिलता और अपने ही अर्थ में विलीन होता रहा। पशुत्व और मनुष्यत्व में उच्च-नीच भावों की प्रतिक्रियाएँ होती रहीं, पर अन्त तक पशुत्व और मनुष्यत्व में फर्क न मिला। जब पशुता की परिणति मनुष्यता होगी, तब मनुष्यता की परिणति पशुता हुई रखी है, सिर्फ पशुपति मनुष्य न होकर अर्थ में अपनी विशेषता रख लेते हैं। विकासवाद की जैसी श्रृंखला तैयार हुई है, उसकें अनुसार पश्चिम मनुष्य को माला के दूसरे जप में जानवर भले ही न बनावे, पर यह बतलाता है कि स्त्री, रोएँ झड़ जाने के कारण, मनुष्य से श्रेयस्करी कृति है। यहाँ पहली बात विपरीत रति की तरह यह उठती है कि जब मनुष्य को बराबर स्त्री की आवश्यकता है, तब बराबर चेन की पहली लिंक (माला की पहली गुरिया) को स्त्री की आवश्यकता होगी; फिर मनुष्य मर-मर स्त्री की पदवी प्राप्त करते रहेंगे, नहीं तो उपाय नहीं। दूसरी यह कि स्त्री में जो उपकरण हैं, वे ही मिलकर पृथ्वी के बाह्य उपकरण हैं; उन्हीं से फिर अण्डज, पिण्डज, स्वदेज आदि की सृष्टि होगी, फिर स्त्री की मुक्ति में यथेष्ट बाधा है। यदि स्त्रीत्व ही प्रधान विकास है, तो इतर जीवों में भी स्त्रीत्व मिलता है, इसलिए नारी ही श्रेष्ठ है, इसकी कोई सिद्धि नहीं। यहाँ की 'प्रकृति' में स्त्रीत्व की प्रभूत मात्रा है। पर विरोध की कमी नहीं। कपिल प्रकृति के प्रतिपादक हैं और प्रमाण को सत्य कहते हैं; पतंजलि निर्वीजत्व के प्रतिपादक और प्रमाण को मिथ्या कहते हैं।

इस तरह सत्य मिथ्या का आश्रय और मिथ्या सत्य का आश्रय है। हमारे देश में दैन्य का कारण एक समय की इसकी प्रभुता ही है। यही श्रृंखला है। यह टूट नहीं सकती। आज जिसको महच्चरित्र कहते हैं, कल उसे रमण के रूप में मनुष्य नीच कहते हुए संकुचित नहीं होते। जो देश दिव्यता का उपासक था, वही पंचमकार साधन, मद्य, मीन, मांस, मुद्रा, मैथुन में दिव्यता, ज्योतिः या शक्ति प्राप्त करने लगा था। "तिष्ठं तिष्ठं क्षणं मूढ मधु यावत् पिढम्यहम्" का जप आज भी होता है।

जिस मन्त्र को जपकर मनुष्य मुक्त होता है, जिसके अनेक भेद हैं, आप पशु-पक्षियों को वही मन्त्र जप करते देख लीजिए। हर पशु और हर चिड़िया की एक-एक अलग बोली है, जैसे एक-एक देवता के एक-एक बीज हों। कुँ, खुँ, चिं, चं आदि का मनुष्येतर प्राणियों में अभाव नहीं। कू-अ, पिउ कहाँ, झीं—, पट-पट, टिल-टिल का जंगल में अभाव नहीं। फिर "हुँ फट" के द्वारा या हं, लं, वं करने से मुक्ति होगी अथवा नहीं, यह कैसे हो सकता है? योगी एक ही मन्त्र लेकर जीवनव्यापी परिश्रम करता है और झिल्ली "झीं" के अटूट स्वर में निरन्तर ध्यानरत है। गंगा के जल-प्रपात का हर-हर शब्द ही हरद्वार की सार्थकता है, इसी तरह चिड़ियों की 'च्यूँ' और पशुओं की 'म्यूँ' आदि वैदिक मन्त्रों के प्रधान कारण हैं, जब वेद का अर्थ ज्ञान है।

बात यह कि महत्ता किसी अविनश्वर की है, बड़े-छोटे के सीमा-बन्ध में भी जो मूल जीवन-सूत्र है। विकासवाद की तरह बड़े-छोटे की परिणति होती रहती है। वह जो अदृश्य है, सबको गूँथे हुए है।

स्वामी सारदानन्द रामकृष्ण मिशन के एक संसार-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उन्हें

लोग महावीर की विभूति-सम्पन्न कहते हैं। जब आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी की सिफारिश से मैं 'समन्वय' का उपसम्पादक होकर बाग बाजार कलकत्ता गया, तब दुबारा मैंने उनके दर्शन किये। पहले पढ़ते समय पानी भरने के लिए श्रीरामकृष्ण महोत्सव होने पर कभी-कभी जाता था। एक दिन मैं महाज्ञान बकबकाने लगा; कहा, जो बातें नयी-नयी देखता हूँ, सब तुलसीकृत रामायण में मिलती हैं। उन्होंने कहा, अभी और समझोगे। फिर उन्होंने इतना समझाया कि मैं पढ़ते-पढ़ते परेशान हो गया। अब वह सत है, उनका शरीर रामकृष्णमय हो गया है, मैं उनका यन्त्र हूँ। मैं किताब पढ़ने के लिए उठाता था तो अक्षर दिखलायी नहीं पड़ते थे। वह आँखें मूंद लेते थे। भीतर उन्हीं की सरस्वती मुझमें परिणत होकर कहती थी, वही तुम्हारी विद्या है, इस चिड़िया को पढ़ो। आँखें खोलते ही चूँ-चूँ करके एक चिड़िया उड़ती हुई देखता था, उससे तरह-तरह के अर्थ निकलते थे। जब यह दशा बीत जाती थी, तब गरुड़ और कागभुसुण्ड का अर्थ सामने आ जाता था। तब मालूम हुआ, उनके संन्यास का क्या अर्थ है और महाविद्या किसे कहते हैं—

इहि भक्षणकृत क्षुधा न प्यासा,
वर्ष सहस दस संशय नाशा।

क्या अर्थ रखता है।

और सब जीव पराधीन हैं, मनुष्य स्वतन्त्र होकर पैदा होता है। क्योंकि सब जानवरों की, सब पशुओं की, वे किसी भी देश में रहें, भाषा एक है, मनुष्य की कोई भाषा नहीं, उसे जो भाषा सिखलाओ, वह बोल सकता है, इसलिए वह सत् के अर्थ को समझ सकता है, और समाधि का वाह्य रूप है।

जब अर्थ में अनर्थ का प्रादुर्भाव होता है, तभी मनुष्य अपनी मनुष्यता से च्युत होता है। आजकल देश की वही दशा है। अपनी Personality (व्यक्तित्व) का बोझ डाल-डालकर मनुष्य अपने स्वरूप को धोखा देता है। इसलिए भौतिक प्रशंसार्थ कुछ प्राप्त करने पर भी वह भूमार्थ से वंचित ही रहता है। भूमा की इतनी प्रशंसा मनुष्य की कभी नहीं हुई। संन्यासी इसीलिए सबकुछ छोड़ देता है। मनुष्य छोड़ता नहीं, केवल लेना चाहता है। पर किसी मनुष्य की बाह्य प्राप्ति इतनी नहीं हुई कि वह सबकुछ पा जाय। इसलिए रोकर फिर पीछे लौटता है।

विलायत और भारत में वाह्यार्थ की यही खींचतान है। न भारत छोड़ता है, न विलायतवाले। भारतवालों से भी प्राप्त करने के लिए भारत में बहुत-सी जातियाँ, बहुत-से लोग हैं, पर वे क्या पाते हैं? जब भारत के लोग छोड़ने लगेंगे, तब विलायतवाले भी छोड़ने लगेंगे। हिन्दू मुसलमानों को क्या देते हैं; जो कुछ देते हैं, वही पाते हैं। मैं सब जातियों को बराबर देखता हूँ। मुझे सब जातियाँ बराबर स्नेह की दृष्टि से देखती हैं। यहाँ के धनी और धन चाहते हैं। गरीबों को देते नहीं, ऊपर से रामचन्द्र और हरिश्चन्द्र को पूजते भी हैं, पर रामचन्द्र और हरिश्चन्द्र ऐसे मूर्ख नहीं, जो केवल पूजा देखकर प्रसन्न हो जायें। वे अपने आदर्श की रक्षा के लिए धनियों का अर्थ क्रमशः हरते ही जा रहे हैं। धन रखने का उपदेश इसीलिए है कि वह दरिद्रों की सेवा का कारण हो। यदि ऐसा न हुआ, तो उसका दुरुपयोग अवश्य होगा। धनिकों के पुत्र विलायती बहार देख-देखकर वहीं के मालियों को पुरस्कार देते रहेंगे।

जब एक जगह देश-भाव प्रबल हो, तब दूसरी जगह का भी देश-भाव प्रबल होना चाहिए। यही हमारे देश की जागृति है। पर विलायत का-सा संगठन हमारे यहाँ नहीं। न होने की कोशिश को परास्त करने की कोशिश मौलिक नहीं। वह

नकल है। यहाँ जितने वाद नवीनता के तौर पर लड़ रहे हैं, एक मौलिक जड़ की जगह गड़ रहे हैं, इसलिए वे पास के वड़े पेड़ की छाँह के पौधों की तरह मुरझा भी रहे हैं। रूस में जिस ism के द्वारा परिस्थिति बदली, वह ism अमेरिका में नहीं हुई, उसका आधार इटली में नहीं लिया गया, न फ्रांस के साथ उसका तअल्लुक रहा। एक बात में विप्लव उसका मूल कारण है। पर यहाँ की जातीय परिस्थिति का विप्लव उसके विप्लव-अर्थ को छोड़कर क्यों किया जाय ? यहाँ भी ऐसे अनेक विप्लव हुए हैं।

यहाँ के आर्थिक विप्लव को सभी दृष्टिकोणों से, भौमिक प्रसार की सभी रेखाएँ खींचकर देखिए, तो तत्काल बीज रूप में उसका कारण मिल जायगा। हिन्दू-शास्त्रों में अर्थ की कहीं भी संकुचित परिभाषा न मिलेगी। इसीलिए हिन्दू या आर्य या भारत सभी अर्थों में विश्व के साथ सहयोग करता रहा है। यह सहयोग अर्थ के जड़ और चेतन दोनों रूपों में रहा। आज अधिकांश जन किसी रूप में नहीं करते। कारण, उनकी वह समझ सदियों के बाहरी अर्थ-प्रहारों के द्वारा प्रसुप्त है। इसका कारण भी विप्लव का मौलिक रूप होता है। सोकर जागनेवाले मनुष्य की जागृति का जो कारण है, इसका भी वही कि अभी जाति की नसों से रक्त का संचार बन्द नहीं हुआ।

जगी हुई जाति ज्ञात रूप से विश्व के साथ अर्थ-सहयोग करेगी। 'हेयं दुःखमनागतम्' की क्रिया ठीक-ठीक तभी होगी। विश्वमानव के साथ ऐसे ही अर्थ-प्राप्त मनुष्य, मनुष्य-धर्म का निर्वाह कर सकते हैं। इसी ज्ञान के आश्रय से कर्म-बन्धन के भीतर से मनुष्य मुक्त होता है। अब किसी उड़ती हुई चिड़िया को देखकर कवि की मुक्त-गीति सुप्ति के समय नहीं रह जाती। तब यथार्थ कवि जाग्रत होता है, जो लक्ष्य रूप से अपने सहयोग में रखकर वाल्मीकि और तुलसी, सूर-जैसे कवियों को क्लेद से बचा अपने को परमार्थ में अन्त में मुक्ति देता है।

शक्ति का विकास बराबर न होने के कारण ही अर्जित अर्थ के दान की महत्ता है। अर्थ-प्राप्ति की अन्ध-भावना अपने अन्धकार में मनुष्य को ही अन्ध कर देती है क्योंकि वैसी प्राप्ति में कोई निकास मकान के पनाले की तरह नहीं रहता। फल यह होता है कि उस कदर्य से मनुष्य या जाति का घर भर जाता है, फिर उसी के रहने की जगह नहीं रहती और परिणाम में वह भी अन्ध जड़-रूप प्राप्त करता है। हमारे लिए रुपये से हवा ज्यादा उपयोगी है। कारण, ज्यादा सूक्ष्म है। इसीलिए ज्यादा स्वास्थ्यप्रद। यही हवा शरीर के भीतर प्राण है। हम इतने से समझ सकते हैं कि प्राणों का हमारे पास कितना मूल्य है। फिर आकाश और भी मूल्यवान है। इसी धर्म-रूप आकाश-तत्त्व की रक्षा के लिए भारतीयों ने पुनः-पुनः प्राणों के वायु-तत्त्व का विसर्जन किया है। यही धर्म की सादगी और निस्सीमता का रहस्य है। यहीं से लोगों को अर्थ और यहीं परमार्थ की प्राप्ति होती है।

यही आकाश शब्द-तत्त्व है। शब्द-बन्ध ही अर्थ है। हमारा यही शब्द-बन्ध खो गया है। हम अमौलिक हो गये हैं, जिससे अर्थ का मूल उद्गम नहीं मिल रहा। दैन्य के द्वारा मिट्टी के सिर पर मिट्टी का ही बोझ रख रहे हैं, जिससे सिर और झुका जा रहा है। आकाश को अपनाने से सब पाश आप खुल जायेंगे; चमक या मरीचिका की तरफ दौड़ना आप बन्द हो जायगा—जब चमक के कारण तक पहुँच हो जायगी; जब नभ को सफेद, काले, लाल, पीले, नीले, सब्ज, धानी, बैंगनी आदि सब रंगों की साड़ियाँ पहने अपनी प्रभा-पत्नी को आलिंगन कर अपने में मिलाते हुए देख लेंगे।

भारत के ब्राह्मण या विद्वान इसीलिए इतने सादे हैं, कोई अलंकार नहीं। भारत के संन्यासी इसीलिए महासमाधि में नभ हैं। आज यह अर्थ छूट गया है। देश या सीमा की सुप्ति में छूट ही जाता है। पश्चिम की पदार्थ विद्या, भौतिक विज्ञान उस नभतत्त्व से रंग ले-लेकर सभ्यता की रंगामेजी कर रहा है और हमारे देश के बड़े-बड़े पण्डित उसी अर्थ का अनुकरण करने पर तुले हैं। फल यह हुआ है कि इतनी दूर से पश्चिम ने भारत को पराजित किया।

'भारत को पराजित' के अर्थ से ही हमें भारत को जित करना है। भारत सदा पराजित, परा या श्रेष्ठ विद्या को जीतनेवाला है, क्योंकि वह भारत है। अर्थ की परिणति द्वारा बराबर हमें अर्थ पर अधिकार रखना है। यह अधिकार उतना ही सूक्ष्म है जितना आकाश का, जो अज्ञों की समझ में किसी तरह नहीं आता और समझाकर इसी तरह उन्हें विज्ञ करना है, यही आकाश है—नभ। यही पूर्णार्थ है, सार्वदेशिक।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1932। **संग्रह** में संकलित]

## वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत

जो समय मुसलमानों के शासन-काल में था, वह अँगरेजों के आने पर नहीं रहा। अनेक जीव-योनियों में भ्रमण करा, मनुष्य-जीवन देने की तरह, भारत की प्रकृति ने अनेक चक्कर काटकर मनुष्यार्थ के सोपान पर पैर रक्खे। मनुष्य जिस तरह बिना दाँत, सींग और नखवाली हिंस्र प्रकृति का प्राणी है, उसका धर्म भी उसी तरह विरोधरहित, विश्व के सभी धर्मों में प्राण-स्वरूप, हवा और आकाश की तरह ओतप्रोत है। इसीलिए मनुष्यता का लक्षण केवल समाधि है, जिसका कोई लक्षण नहीं।

अवतार-वरेण्य श्री श्रीरामकृष्ण देव इस युग की इसी पदवी पर आरूढ़ हैं। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, तन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि की सभी राहों से सिद्धि प्राप्त की और सब धर्मों को सत्य बतलाया। इनसे पहले साधना-कृत धर्म का यह रूप भारत के इतिहास में नहीं मिलता। ये कितने बड़े थे, या हैं, इसकी चर्चा नहीं करूँगा, करने पर भी नहीं कर सकूँगा। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य थे।

स्वामीजी का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। बचपन से ये आस्तिक, नास्तिक दोनों प्रवाहों के भीतर से अपनी परिपूर्णता की ओर बह रहे थे, हिन्दू, मुसलमान और अँगरेजी संस्कारों के भीतर से गुजरते हुए अन्त में संस्कार-रहित ज्ञान-मूर्ति हो गये थे। श्रीरामकृष्ण का विवेकानन्दजी के इसी ज्ञानमय रूप में वैदान्तिक निवास है। यहाँ बड़े-बड़े विद्वान निष्प्रभ हैं, हो गये हैं।

नरेन्द्रनाथ इस युग के अनुकूल ही, अँगरेजी शिक्षा के अनुसार, गृह-संस्कारों से, धर्म-भावना के रहने पर भी बहुत कुछ नास्तिक हो गये थे। कारण, कहीं भी उन्हें तृप्ति नहीं मिली। प्रथम दर्शन के समय अपने गुरु पर भी वे सन्दिग्ध

हुए थे; पर गुरु की कृपा से उनका यथार्थ रूप जब उनके भीतर विकसित हुआ, तब उनकी पूर्णता में पहले की धर्म-तृष्णा मर गयी। वे स्वयं धर्म बन गये।

बिलकुल बालपन में नरेन्द्रनाथ रामचन्द्र के भक्त थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि राम ने विवाह किया था, तब उनसे उनकी श्रद्धा उठ गयी। वे महावीर हनुमानजी के पूजक हो गये और जीवन के अन्त तक यही देश के हित के लिए उनका आदर्श रहा। बंगाल में महावीर स्वामी की पूजा का उन्होंने प्रचार किया।

बचपन की एक घटना और बड़ी ही मनोरंजिनी है। नरेन्द्रनाथ के पिता वकील थे। उनके पास अनेक मुसलमान मुअक्किल आते थे; इसलिए उनके घर में एक हुक्का मुसलमानों का था। मुसलमानों को बालाखाने का खमीरा पिलाया जाता था। बालक नरेन्द्रनाथ उसकी खुशबू से बहुत ही आकृष्ट हुए! परन्तु उन्होंने सुन रक्खा था कि मुसलमानों का जूठा खाने से आकाश टूट पड़ता है। इसका भय भी था। एक दिन एक सभ्य मुसलमान हुक्का पीकर जब चला गया, कमरे में कोई न रहा, तब निरा बालक नरेन्द्र शौक पूरा करने और इस आजमाइश के लिए कि देखें कैसे आसमान टूट पड़ता है, चले और उठाकर हुक्का पीने लगे। ऊपर आकाश की तरफ देखते जाते थे कि देखें, वह टूटकर गिरता है या नहीं।

सात-आठ साल के थे, अपने साथियों को लेकर गंगा में नौका-विहार के लिए गये। ये सबसे छोटे थे। विहार हो चुकने पर, इन लोगों को लड़के जानकर मल्लाहों ने किराये के लिए तकरार करना शुरू कर दिया। फिर मारपीट की नौबत आयी। नाव किनारे पहुँच चुकी थी। नरेन्द्रनाथ ने देखा, किनारे पर, सड़क पर दो गोरे सारजण्ट खड़े हैं, वे कूदकर उनके पास पहुँचे। सारजण्ट शराब के नशे में थे। नरेन्द्रनाथ को अपने मित्रों को बचाना था। वे अपनी बाल अँगरेजी में नाव का हाल बयान करने लगे। सारजण्टों ने नरेन्द्रनाथ का बड़ा आदर किया और किनारे चलकर मल्लाहों को डाटकर उचित किराया दिला इनके मित्रों को बचा लिया।

आठ-दस वर्ष की अवस्था की घटना है; कलकत्ते में लड़ाई का जहाज आया। लोग देखने के लिए मंजूरी लेकर जाते थे। नरेन्द्रनाथ के एक मित्र ने कहा—चलो मंजूरी लेकर हम लोग भी चलें। अँग्रेजी में अर्जी लिखकर नरेन्द्रनाथ उस रोज ऑफिस सबसे पहले पहुँचे; पर चपरासी ने इन्हें रोक दिया। घुसने ही न दिया। मुँह बनाकर कहा—चले हैं लड़ाई का जहाज देखने! नरेन्द्रनाथ हाथ जोड़नेवाले लड़के न थे; चपरासी की बात से बड़ा क्रोध हुआ; पर लाचार थे; वे ऑफिस के चारों तरफ चक्कर काटने लगे। पानी का नल देख पड़ा। बस, अर्जी पीछे धोती की मुर्री में खोंसकर, नल पकड़कर दो मंजिले पर चढ़ गये। वहीं साहब भी थे। ठीक दस का समय था। दूसरा कोई तब तक घुसने न पाया था। ये पहुँच गये और अर्जी पेश कर दी। इन्हें देखकर साहब बहुत खुश हुए। ये सुदर्शन और तेजस्वी थे ही, इनसे बातचीत की। हाथ मिलाया। इनकी अर्जी मंजूर कर दी। ये लेकर फाटक से बड़े गर्व से, मंजूर अर्जी चपरासी को दिखाते हुए निकले। चपरासी के पूछने पर कि वे किधर से गये, उत्तर मिला—उड़कर सर्र से साहब के सामने हाजिर, वे ऐसा जादू जानते हैं।

इन्होंने मेट्रापॉलिटन कॉलेज, कलकत्ता से बी. ए. की डिग्री प्राप्त की थी; पर तब तक अच्छे-अच्छे पण्डितों से भी अधिक अध्ययन किया था। पढ़ने को, वे ध्यान-योग का बड़ा अच्छा साधन कहते थे। 'Narendra Nath is bound to

make a Mark in his life.' (नरेन्द्रनाथ अपने जीवन में कोई खुसूसियत पैदा करेगा।) यह तारीफ उन्हें विद्यार्थी-जीवन में ही प्राप्त हुई थी। वे कायस्थ थे, कलकत्ते के सिमला मुहल्ले के रहनेवाले। उनको शंकर का अवतार कहते हैं। उनकी माता को शिव का ऐसा ही वर, स्वप्न में मिला था।

उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने अपने समय के कलकत्ते के सभी मनीषियों को देखा था। वे स्वामी दयानन्दजी को भी देख चुके थे; पर नरेन्द्रनाथ को सबसे बड़ा आधार कहते थे। नरेन्द्रनाथ के प्रकाश को वे सूर्य का प्रकाश कहते थे। यह चाहेगा, तो पृथ्वी को हिला देगा—उनके प्रति ऐसे-ऐसे वाक्य श्री परमहंस देव के हैं।

परमहंस देव के देहावसान के बाद नरेन्द्रनाथ अपने गुरु-भाइयों के साथ तपस्या करने लगे। शीघ्र ही इन महामनीषी को सिद्धि प्राप्त हुई। भारत में परिव्राजक के रूप से ये जगह-जगह भ्रमण करते रहे। अनेक घटनाएँ इस समय की उनकी जीवनी से सम्बद्ध हैं। इसी समय घूमते हुए बम्बई से ये पूना जा रहे थे। इनके भक्तों ने दूसरे दर्जे का टिकट खरीद दिया था। इसी दर्जे में लोकमान्य तिलक अपने एक मित्र के साथ बैठे थे। इन्हें संन्यासी के वेश में देखकर उनके मित्र अँगरेजी में कहने लगे कि इन्हीं संन्यासियों ने देश को चौपट कर दिया। स्वामी विवेकानन्द चुपचाप बैठे हुए सब सुनते गये। बड़ी बहस हुई। महाराज तिलक संन्यासियों के पक्ष में थे। अन्त में बहस के बढ़ने पर स्वामी विवेकानन्दजी को भी बोलना पड़ा। जिस खर-स्रोता सरस्वती ने तमाम संसार को बहा दिया, उसका उत्स खुलते ही दोनों चुप हो गये। लोकमान्य स्वामीजी को निमन्त्रित कर अपने घर ले गये।

इसी समय अमेरिका में धर्म-महा-सम्मेलन होने की सूचना निकली। भारत में कई जगह स्वामी विवेकानन्द के भाषण हो चुके थे। मद्रास के विद्यार्थियों पर इनकी धारा-प्रवाह अँगरेजी, महान त्याग और ज्ञानोज्ज्वल प्रतिभा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन लोगों ने इन्हें हिन्दू धर्म की तरफ से अमेरिका जाने के लिए प्रोत्साहित किया। भक्तों को यह खबर मिली। वे लोग भी इन्हें भेजने के लिए प्रयत्न करने लगे। स्वामीजी अमेरिका गये। वहाँ पहले इन्हें बड़ी दिक्कतें उठानी पड़ीं; पर धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया। विदेश में इनकी-ऐसी तारीफ किसी की नहीं हुई। एक प्रोफसर ने अपने एक प्रोफेसर मित्र को लिखा था—यहाँ एक मनुष्य है, जो हमारे विश्वविद्यालय के सम्मिलित सब प्रोफेसरों के मुकाबले अधिक विद्वान है। सभ्यता की ताड़ना से स्वामीजी को वहाँ बड़ी-बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं। हवशी समझकर नाई दाढ़ी बनाने से इन्कार कर देता था। बड़े आदमियों के दरवाजे से खदेड़ दिये जाते थे; पर यथार्थ बड़े को कोई गिरा नहीं सका महासम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ही सर्वप्रिय वक्ता हुए। वहाँ थियोसोफिस्टों, मिशनरियों और अपने देश के लोगों के अनेक उपद्रव इन्हें सहने पड़े थे; पर प्रचार-कार्य से ये विचलित नहीं हुए। इन्होंने दो बार संसार का भ्रमण किया।

भारत के उत्थान में जितना हाथ स्नामी विवेकानन्द का है, उतना और किसी भी दूसरे का नहीं। जब तक ज्ञान के भीतर मनुष्य का सीमा-रूप खो नहीं जाता, तब तक वह मुक्ति का यथार्थ मतलब नहीं समझ सकता। स्वामीजी केवल ज्ञान थे। उन्होंने सूक्ष्म-रूप से देश की मुक्ति के लिए सबकुछ कहा है और सबसे अच्छी तरह कहा है। जातीय भेद, धर्म, मनुष्यता आदि साधारण विषयों तक उनकी गहन दृष्टि पहुँची थी। सेवाधर्म सबसे पहले उन्हीं ने देश के सामने रक्खा।

संगठन तो उन्होंने इतना दृढ़ किया कि आज सम्पूर्ण भूमण्डल उनकी आध्यात्मिकता की रश्मियों से बँधा हुआ है। वे जाति-भेद के प्रबल विरोधी थे। कारण, वे जानते थे, गुलामों की कोई जाति नहीं हो सकती। उन्होंने शिल्प, कला, धर्म, विज्ञान आदि सभी राहों से मुक्ति की प्राप्ति बतलायी है। इस तरह देश को सभी कर्मों में प्रोत्साहित किया है। लोग इनकी उक्तियों के बड़े-बड़े राजनीतिक अर्थ लगाते हैं।

व्यक्ति का विकास पेड़ की तरह अपना ही विकास है, जो अपने ही फूल और फल दे सकता है। स्वामी विवेकानन्दजी का विकास आकाश का अनन्त विस्तार है, जिसके भीतर व्यष्टि अपनी परिपूर्णता प्राप्त करती है। इस देश को जब-जब जरूरत पड़ी, तब-तब ऐसे ही महापुरुषों का आगमन हुआ है, जिनके बाद उस महाशक्ति के विस्तार से देश परिपूर्ण हो गया है। स्वामीजी गंगाजल की तरह हैं, जिन पर देश की दुर्दशा का समस्त मल-क्लेद और शव आदि पड़े रहते हैं; पर ज्ञान-जल के प्रवाह की फटकार से सब क्लेद साफ होता जाता है और सभी जगह जल, संसार के सभी जलों से सुस्वादु, स्वास्थ्यकर और निर्मल है—यही स्वामीजी का इस देश के लिए कार्य है। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती। संन्यास लेने के बाद वे सब जातियों के भीतर सबके ज्ञानरूप हैं।

महिलाओं को वे साक्षात् माता जगद्धात्री के रूप में देखते थे। अपने व्याख्यान में एक जगह उन्होंने कहा है—यदि इस देश का सम्पूर्ण साहित्य नष्ट हो जाय, वेदों का अस्तित्व लुप्त हो जाय, कोई इतिहास न रहे, केवल सीता का नाम और चरित्र, इसी तरह हम लोगों को याद रहे, तो हमारी कुछ भी क्षति नहीं हो सकती। उनकी महत्ता से हम फिर सबकुछ तैयार कर सकते हैं; वे ही हमारी माता हैं। हम सब लोग सीता की सन्तान हैं; राम तो अनेक हो गये होंगे; पर सीता दूसरी नहीं हुईं।

मैंने भी एक साधु देखा है, जिनके मुकाबले संसार का कोई भी महत्तम पुरुष मुझे नहीं जँचता, वे स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य हैं। ऐसे-ऐसे चरित्रों का कितना बड़ा असर पड़ता है, जिसका यही सुबूत है कि कोई देश आज तक महत्तम मनुष्यों को नहीं भूल सका। समस्त सभ्यता का यहीं से समारम्भ है। ये ही लोग संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिए अपनी श्रेय-प्राप्ति का त्याग कर सकने में समर्थ हुए हैं। दूसरे लोग छोड़ते हैं पाने के लिए—

'दाव आर फिरे नाहीं चाव थाके यदि हृदये सम्वल।'

—स्वामी विवेकानन्द

(दो और फिर न माँगो, यदि तुम्हारे हृदय में कुछ हो।)

यह हृदय का दान मनुष्य नहीं दे सकता। ईश्वर देता है। संन्यासी ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।

स्वामी विवेकानन्दजी की तरह देश को कोई नहीं उठा सका। यथार्थतः ज्ञान की तरफ से उठाना ही उठाना है। यह महाज्ञान सबमें नहीं होता। स्वामीजी स्वयं महाज्ञान हैं। किसी भी तरफ से विचार किया जाय, वे अपने श्रेष्ठ आसन पर ही रहेंगे। ऐसा चरित्र, ऐसी मेधा, ऐसी वाग्मिता, ऐसा हृदय, ऐसा ज्ञान, ऐसी कर्मनिष्ठा संसार में दुर्लभ है। विद्या तो उनकी आत्मा थी। बड़े-बड़े अभिधान सात दिन में कर डालते थे।

हिन्दी स्वामीजी बहुत अच्छी बोलते थे। सबसे पहले हिन्दी में ही पत्र निकालने की उन्होंने सलाह दी थी; पर जनाभाव था। पश्चिमोत्तर भारत को

उन्होंने बड़ी मर्यादा दी है। कहा है—संन्यासियों की सेवा वहीं ठीक-ठीक होती है।

प्राचीन संस्कारों के वे बड़े खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा। इस तरह की उनकी कई टिप्पणियाँ हैं। नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिए, इसके वे स्वयं चित्र हैं।

उनकी बंगला भाषा से बंगला-साहित्य में युगान्तर हुआ। उनकी अँगरेजी विश्व-भावना में युगान्तर है। उनकी वक्तृता में जो आनन्द है, वह बड़े-बड़े कवियों की कविता में नहीं। उनकी मूर्ति में जो वीरत्व की व्यञ्जना है, वह नेपोलियन, नेल्सन और कैसर में नहीं। उनकी महत्ता की तुलना उन्हें छोड़ और किसी से नहीं हो सकती, और यही जाग्रत भारत की यथार्थ व्याख्या है, और यही भारत के नवीन युग का स्वतन्त्र प्रकाश।

['हंस', मासिक, काशी, स्वदेशांक (अक्तूबर-नवम्बर, 1932)। असंकलित]

## एक बात

हिन्दी की हितैषणा की गाँठ में गठिये का असर उसके सेवकों के तर दिमाग के कारण बढ़ता ही जा रहा है। भारतीयता का ज्योतिर्मय अर्थ विश्व की तमाम विभूतियों को भास्वर करता रहा, पर हिन्दी के हित-चिन्तकों के प्रस्तर हृदय के भीतर, स्रोतस्वती ही के हृदय के रोड़े की तरह, आलोक स्निग्धता कुछ भी न पहुँची। भारत के दृश्य-काव्य में उन्होंने पाषाण-मृत्तिका, सोना-चाँदी, हीरे-मोती और पेड़-पौधे ही देखे, जैसे वणिकों ने रत्नाकर से जड़-रत्न ही लिये, उसका अपार दर्शन न लिया, वह किस तरह लक्ष्मी और रम्भा दोनों—विद्या और अविद्या, परा और अपरा, तृप्ति और तृष्णिका--का पिता है, वे न समझे। जो भावों और रत्नों की खान अदूर-दर्शन है, वह हिन्दीवालों की दूरदर्शिता के फेर में अपनी नवीन चहल-पहल खोकर वृद्ध हो गया, वार्द्धक्य की जड़ता में जकड़कर मृत्यु के पल गिनने लगा—गृहस्थ के गृह की तरह, अर्थ के न रहने पर नवीन आच्छद के सौन्दर्य और जीवन से रहित हो।

आकाश सभी पदार्थों या केवल अर्थों को रूप, रेखा, शब्द और अर्थ देता है, क्योंकि अवकाश के भीतर ही सान्त सन्निविष्ट मिलता है। आकाश नभ है, और प्रभा भी। गोद में सूर्य को लेकर प्रभा अपने नभपति की प्रतिष्ठा की परिचायिका। यह सब शब्दार्थ-सृष्टि यहाँ के समझनेवाले लोग ही सीमा और निःसीम में भारत हैं। इसीलिए वे अमर हैं।

'बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे' के अनुसार नभ भास्वर में सप्ताश्व बनकर स्वयं ही अनेक रंग है। जो विष संसार को दग्ध करनेवाला और आजकल के विचार से अभारतीय होगा, वह चरित्रहीनता, रोग, शोक या कुछ भी हो, वह शिव के कण्ठ में राम-नाम है; नील-कण्ठ आकाश की नीलिमा का तत्त्व समझकर गरलाभरण बन गये हैं, इसीलिए नील-कण्ठ के नाम के द्वारा वह काव्य की दृष्टि से

अत्यन्त सुन्दर हो रहे हैं, सकलंक चन्द्र की तरह, गौरी के कपोल-तिल के सदृश।

हमारे यहाँ की भाव-राशि अँगरेजी की 'Put' क्रिया की तरह है, जो अतीत और वर्तमान में एक रूप है। भविष्य की नवीनता 'Will' से उसे दर्शन-मात्र के लिए विभूति अधिक मिलती है, पर 'Will' सर्वथा उसी पर अवलम्बित है, अन्यथा अचलायत और 'Put' अपने निर्विकार चित्त से पूर्ववत् स्थितिशील। 'Will' अव्यय के अव्ययीभाव का 'Put' की व्यापकता के साथ जैसा सहयोग है, ऐसा ही नवीन के साथ प्राचीन का।

जरूरत यहाँ के विश्वजनीन भावों को समझने की है। जो भाव विश्व-भर के लिए हैं, वे विश्वभर के लिए हुए हैं। इसलिए व्यक्तिगत छाप उनमें नहीं लग सकती। एक-एक शब्द इसका प्रमाण है। यूरोप ने बड़ा इतिहास-संग्रह किया है, पर I, you, he, आदि कोष के शब्द किसके बनाये हुए हैं, इसका इतिहास नहीं मिलता। हमारे यहाँ इसका दर्शनमात्र है। प्रत्येक शब्द अनादि है। अर्थात् तमाम विश्व उसकी सृष्टि के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि तमाम विश्व अनादि है।

एक शब्द के विकार के लिए भी तमाम संसार उत्तरदायी है। 'प्रसार' शब्द जब 'पसार' बना, तब सब लोग इसके नियामक हैं। मुमकिन है, किसी एक ने लिखा हो, पर सबने या समष्टि ने समर्थन किया। यदि ऐसा न होता तो 'पसार' का प्रचलन ही न हो पाता। इसलिए 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' के द्वारा 'पसार' का लिखनेवाले के साथ सभी लोगों ने सहयोग किया। अपरंच 'प्रसार' की र-फला समष्टि को खटकती थी। इस खटकने के बाद 'प्रसार' लिखा गया। इसलिए 'पसार' पहले ही लिखा जा चुका था, जैसे अर्जुन के मारने के पहले कृष्ण के 'मैं' ने सबको मार डाला था, क्योंकि कृष्ण का विशुद्ध, बोधमय 'मैं' था और कौरवों का अज्ञानमय। अज्ञान के तिमिर को बोधमय सूर्य ने नष्ट कर दिया था; रहा था भीतर केवल कृष्ण का मैं, जो विराट् के साथ अब भी सम्बद्ध है, और अज्ञान-जीर्णता को नाश में परिणत करता रहता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'पसार' के साथ मुसलमानों या अँगरेजों या अपर जातियों का क्या सम्बन्ध है, जो लिखा गया कि प्रत्येक गति के साथ, प्रत्येक विवर्तन के साथ तमाम संसार संयुक्त है। पहले तो पेट के साथ पीठ की तरह प्रत्येक गति का एक परोक्ष सम्बन्ध है; दूसरे, विश्व के जिस संघात के कारण 'प्रसार' की र-फला को पदच्युत होना पड़ा, वह विजातीय भावनाओं से ही हुआ है, नहीं तो 'प्रसार' प्रसार ही बना रहता, उसे 'पसार' बनने की नौबत ही न आती।

लड़ने के बाद शान्ति की इच्छा होती है, और शान्ति के बाद लड़ने की। इसी तरह संस्कृत की प्रौढ़ता को प्रहार मिला, जिसका कारण विश्व है, जिसके सामने उसने अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित की। जब अन्य वर्ण-सम्प्रदाय प्रौढ़ हो चले, तब संस्कृत को प्रहार मिलने लगा। वह बालपन में बदल गयी, सुख-लालसा प्रधान हो गयी, ओज खलने लगा, लालित्य की प्यास बढ़ चली, 'आर्य' 'अज्ज' हो गये, यह होना इसी तरह विश्वजनीन है, और इसी तरह सब अपर भाव और रूप भी। यों भी एक जगह के साथ दूसरी जगह का अविच्छेद-सम्बन्ध बना हुआ है।

यही यथार्थ भारतीयता है। विश्व-धर्म, मनुष्य-धर्म या ऐसा ही कुछ किसी भी विशेषण-विशेष्य से कहा जाये यह मानव-धर्म का स्वातन्त्र्य हमारे साहित्यिकों के मस्तिष्क में स्मृति तथा नीति की सीमा में पड़कर अपने मूल-कारण को अमर-बेलि की तरह खो बैठा है। हमारे साहित्यिक इतना तो समझते हैं कि सच्चाई

से स्वतन्त्रता हासिल होगी, स्वर्णलता की ही तरह हमारी संस्कृति चमकीली है, परन्तु वे यह छोड़ देते हैं कि उस स्वर्णलता का आश्रय अपावन झाड़ भी उसके साथ-साथ है। माता के उदर में पिता के बाह्य शुक्र के साथ शरीर और मन को जिस तरह पुष्टि मिलती रहती है, कोई सम्बन्ध न रहने पर भी नाड़ियों के रक्त-संचार और हृदय की धड़कन तक में पूर्ण सम्बन्ध स्थापित है, पार्श्व-वर्तन में कोई असुविधा नहीं होती, और नारायण के जल-शयन का पूरा रूपक—सृष्टि के प्रारम्भ काल का दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह हमारी सभ्यता देश और काल से निरविच्छिन्न रहकर भी चिरविच्छिन्न है।

इसीलिए किसी एक के प्रति प्रतिकार और किसी दूसरे के प्रति प्यार क्षुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं। मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगांग जो मानव अपने उद्गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिखा में परिधि पाकर भी पारावार है। देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है, देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है। मन का स्वतन्त्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता है, यहीं सीमा की क्षुद्रता साबित होती रहती है। हर आदमी परदेश में रहकर अपने घर की बात सोचता है, पर देह जड़ पाथेय के साथ ही पथ पूरा कर पायेगी। अपनी भौतिक स्वतन्त्रता के अर्जन के लिए स्वतन्त्र मन से हम अपने ही घर में सम्बन्ध स्थापित कर उसके इंगितों को समझ सकते हैं। वहीं हमें सम्राज्ञी भारतीयता अपने कभी पराधीन न होने की शिक्षा देगी। वह सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति, सबसे बड़ी किताब है। सत्य उसी सरस्वती का धर्म-पुत्र है। सत्य स्वतन्त्र माता का सदा स्वतन्त्र बालक है। उस पर कोई नियन्त्रण नहीं। उसके पास एक ही किताब है, उसकी माता। वह लिखी किताब नहीं पढ़ता। जब पढ़ना चाहता है, तब माता डाँट देती है। समझा देती है। कहती है, 'बाहर तू भटक जायेगा, सब मेरी लिखी हुई किताबें है, वहाँ न जा।' सत्य नहीं जाता, इसीलिए वह जब चाहता है, माता के साथ मिलकर तदात्म हो जाता है।

मनुष्यों का यही सत्य आदर्श है, तभी वे भारत हैं। यहाँ से विकार के प्रति अश्रद्धा नहीं होती। कृष्ण यहीं महामनुष्य, शुकदेव के रास-रस-विहारी महापुरुष हैं।

रवीन्द्रनाथ हिन्दोस्तानियों के गरीब डफली-राग का कवियाने ढंग से मजाक उड़ाते हुए 'खचखचखचांकार' लिखकर अपनी श्री-सम्पन्नता का परिचय दे सकते हैं, पर वह 'खचखचखचांकार' का सम्बन्ध जातीय स्वर मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की पावन लड़ियों में कितनी निर्मल ज्ञानधारा बहाता है, यह अगर वह समझते होते, तो अपने अर्थ के साथ काफी वृद्ध होकर 'कोंकरकों' वाले 'बाउल के स्वर' पर अन्त में गला और कलम न फेरते रहते। शायद बंगला के कवि इस अपने गरीब-राग को बंगला की सम्पत्ति समझकर विश्व की सम्पत्ति समझते हैं, और पहली को हिन्दोस्तानियों की समझकर कर्ण-कटु विश्व विरहित ! दूसरी बात यह कि जब गरीबों को छल या वैभव से शक्तिशाली मुग्ध करता है, तब वे मन-ही-मन कहते हैं कि अगर हम ऐसे होते, तो हम भी तुम्हें ऐसा कर सकते। इसकी ध्वनि कितनी गूढ़, तत्त्व के पर्दे के भीतर होती है ! आप किसी को उसके विकास-पथ की सुविधा कर दीजिए, वह धारा जरूर बह चलेगी। जब वह अपने पर्वत-पिता के अतल-स्पर्श में रहती है, तब भी वह निकलने के लिए बार-बार प्रयत्न करती रहती है, और अदृश्य या अल्पदृश्य होने पर भी समुद्र से छोटी नहीं रहती,

क्योंकि दृष्टि का सूक्ष्म सूत्र, सूर्य का ताप-तत्त्व या अज्ञान के पत्थर-हृदय के भीतर से शाप के भाप का उसके साथ सहयोग रहता ही है। जहाँ रवीन्द्रनाथ अपना व्यक्तित्व ब्रह्म-व्यक्तित्व के साथ एक करते हैं, वहाँ यही सब जातीयता, भिन्नता, संकीर्णताएँ, जो उनके देह-संकोच के कारण निकली हैं, निकल-निकलकर दूसरी की तरफ इंगित करती हुई चली जाती हैं। तब पाठकों को कविवर के 'कोथा भेसे जाई दूरे' की याद आ जाती है।

रवीन्द्रनाथ ब्रह्म को जब सब सम्पत्ति दे देते हैं, तब सोचते हैं, अब हम निश्चिन्त हुए; क्योंकि गरीबों की प्रार्थना का बोझ सर से उतर जाता है; तब कुछ मिजाज हल्का होता है, और फिर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर संन्यासियों को निरा आदमी समझ, सत् और न्यास के अर्थ से कोई भी तअल्लुक न रख अपनी प्रतिभा के प्रहार से जर्जर करते रहते हैं! जब ऐसे, सब राहों से गुजरकर ब्रह्म को प्राप्त करनेवाले, महाकवि को उनकी जमींदारी के लोग घेरकर कहते हैं, "पिताजी, हम लोग तो 'अमृतस्य पुत्राः' हैं, भूखों मरते हैं, कुछ खाने को दो," तब 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयभूः' के अर्थ में नराकार रवि बाबू कहते हैं, "मैंने तो लिख दिया है—'यार यतो आछे, सेइ चाय भूरि-भूरि' (जिसके पास जितना है, वही उतना अधिक चाहता है)!!!"

मैं कहता हूँ, हे देश, तुम धन्य हो, संन्यासी का अर्थ तुम्हीं समझे, तुम्हारा पुरस्कार वही अर्थ है। तुलसी विधर्मी (शब्दार्थ पर ज़ोर) बादशाह (भ्रम बादशाह के भाव पर) के पास नहीं गये, राम के पास गये, जो पिता की मुक्ति के लिए वन गये, जिन्होंने पत्नी की मुक्ति के लिए राक्षस-कुल का नाश किया, प्रजा-रंजन के लिए आसन्नप्रसवा प्रियतमा का परित्याग किया। रवीन्द्रनाथ संसार के एक महामनीषी, कदाचित् सबसे अधिक सम्मान-प्राप्त मनुष्य हैं। तुलसी महा कठिन होकर भी घर-घर अत्यन्त सरल महाकवि हैं, रवीन्द्रनाथ सदा कोमल-कठिन, विद्वानों के आश्चर्य के विषय उद्‌ग्रीव कर रखनेवाले महाकवि।

महामनीषा जब किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर जाग्रत् होती है, तब उसके अनेक कारण जागरण के उपादान के रूप उपस्थित करते हैं। उन्हीं के सीमा अछोर असीम में स्थिति पाती है, और प्रकट शक्ति अप्रकट के वर्ण-गन्ध से हवा के हिल्लोलों पर काँपते हुए कल्पना के कमल को चूमती रहती है। उसको एक-एक दल विकसित हो सहस्रदल कर देते हैं, इसी तरह की मुक्ति मनुष्य की मुक्ति है। पर जब किसी दूसरे ही तड़ाग के प्रति खिले हुए कमल को देखकर मनुष्य धावमान होता रहता है, तब भीतर की भुजगशयना आँखें मूँद लेती है। कारण, वह अपने से अधिक सुन्दर किसी दूसरी को नहीं मानती, तब मनुष्य मोहान्ध कहलाता है। हिन्दी की पारिपार्श्विक शक्तियों का स्फुट रूप कभी हिन्दी की पूर्णता का परिचित विकास नहीं बन सकता। मैंने अनेक बार लिखा है, कार्लाइल और रस्किन, शेली या रवीन्द्रनाथ हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु नहीं बन सकते। उनकी अनुवादित भावनाएँ, दूसरी जगह के खिले हुए फूलों को लाते-लाते मुरझाने की तरह, हिन्दी में निष्प्रभ हैं। विकास अपने ही भीतर का विकास है, और वही विश्व-विकास है। किसी-किसी साहित्यिक ने देश के ठक्कुरों को छोड़कर विदेश के कुक्कुरों की पूँछ बुरी तरह पकड़ी है। पर पूँछ जिसकी है, वह उसी के साथ रहती है, यह भूल गये। बदले में दंश-क्षत लेकर स्वदेश लौटे। बात यह कि पेट में जब

तक दीनता के पिल्ले कूँ-कूँ करते रहेंगे, मनुष्य को अपनी पहचान अपने-आप न होगी, वह किसी ऊँची बात का अर्थ नहीं समझ सकता।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932। **प्रबन्ध-पद्म** में संकलित]

## साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन

'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'भारत' में प्रकाशित मेरे 'वर्तमान धर्म' की हँसी उड़ाने के उद्देश से 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक देकर जो एक लेख लिखा है और इस प्रकार मेरे विरुद्ध जो आन्दोलन शुरू किया है, उसके सम्बन्ध में हिन्दी साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से मेरा निवेदन है कि इस आन्दोलन का तब तक अपने हृदय में कोई फैसला न करें, जब तक दोनों पक्षों की युक्तियाँ, सच्चे चित्र उनके सामने न आ जायँ। मैंने 'वर्तमान धर्म' की शब्द-शब्द टीका करके उसका अर्थ समझाया है। शास्त्रीय उद्धरणों तथा धातु-प्रत्ययों द्वारा भी लेख के अन्तर्गत भाव स्पष्ट किये गये हैं। इसलिए लेख कुछ बड़ा हो गया है। विद्वान साहित्यिक आसानी से, 'वर्तमान धर्म' की प्रति पंक्ति का अर्थ समझेंगे। यह सूचना मैं हिन्दी संसार को इस विचार से दे रहा हूँ कि लेख के प्रकाशित होने में मुमकिन है दो महीने की देर हो। लेख मैं, 'विशाल भारत' में ही छपने के लिए भेज रहा हूँ। लेख प्रकाशित होने पर स्पष्ट हो जायगा कि सन्निपातग्रस्त वास्तव में कौन है, मैं या 'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी या उनके सम्मतिदातागण!

'वर्तमान धर्म' की टीका कर देनेवाले सज्जन साहित्यिकों को 25) पुरस्कार चतुर्वेदीजी ने घोषित कर दिया, पर मुझे तीन पैसे का एक कार्ड अर्थ समझने के लिए वह नहीं लिख सके। इससे प्रकट है, वह 'वर्तमान धर्म' का अर्थ चाहते हैं या मेरे विरुद्ध प्रोपेगेण्डा करना! उधर 4-5 महीने तक, मेरे लिखने पर, वह मेरे पास 'विशाल भारत' भेजते रहे, पर जेठ से, जब से मैं 'रँगीला' का सम्पादन छोड़कर कलकत्ते से घर आया, 'विशाल भारत' मुझे नहीं मिला। मुझे उनकी पुरस्कार सूचना का कोई पता नहीं था। पुनः 'भारत' में 'वर्तमान धर्म' के प्रकाशित होने के कई महीने बाद भी कलकत्ते में मैं चार-पाँच बार चतुर्वेदीजी से उनके आफिस तथा डेरे पर मिल चुका हूँ, पर उन्होंने मुझसे 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देने के लिए नहीं कहा। मैं उनसे कलकत्ते में मिला या नहीं, पं. श्रीराम शर्मा बी. ए., पं. विष्णुदत्त शुक्ल तथा चतुर्वेदीजी के सहायक सम्पादक इसके साक्षी हैं, प्रथम दोनों साहित्यिक सज्जन घर के, शेषोक्त आफिस के।

फिर कातिक के 'विशाल भारत' में आक्षेप ऐसा किया गया है कि आक्षेप करनेवाले चतुर्वेदीजी अपने पूरे बल के साथ विद्यमान और जिस पर आक्षेप हुआ, उसका नाम नहीं। कारण बताया गया कि इस तरह राय देने में लोग पक्षपात करेंगे। फिर जिस फार्म में वह 'साहित्यिक सन्निपात' आक्षेप छपा है, चतुर्वेदीजी ने

'विशाल भारत' के साथ-साथ वह फार्म भी अपने लेखकों के पास भेजा। इस तरह अपने पक्ष पर दूना जोर लगाया। इसलिए कि लोग राय देने में पक्षपात न करें। मुझे लखनऊ तथा कानपुर के प्रतिष्ठित साहित्यिकों से इसका पता मिला। एक रजिस्ट्री अजमेर से मिली और उसमें चतुर्वेदीजी की कार्यवाहियों पर जो कुछ लिखा था, उन्हें जिन साहित्यिक-विशेषणों से लेखक ने शुभ-स्मरण किया था, उनका उल्लेख करना मेरी शक्ति से बाहर है।

कार्तिक के 'विशाल भारत' का वही फार्म जिसमें 'साहित्यिक सन्निपात' है, मेरे पास भी 'विशाल भारत' के छपे लिफाफे के भीतर आया। मैंने चतुर्वेदीजी को लिखा, यदि आप चाहते, तो मुझे लिखकर इसका अर्थ करा लेते, पर इस तरह 'विशाल भारत' का प्रोपेगेण्डा अवश्य न होता, केवल अर्थ और साफ होता। मैंने उनसे यही पूछा था कि वह 'सन्निपात' की व्युत्पत्ति जानते हैं या नहीं। वह पत्र भी अगले अंक में, रायों के साथ, छाप देने के लिए मैंने उनसे निवेदन किया था। पर उत्तर में उन्होंने यह नहीं लिखा कि वह 'सन्निपात' की व्युत्पत्ति जानते हैं, न अबके अगहनवाले अंक में रायों के साथ मेरा पत्र छापा। उन्होंने मुझे मेरे पत्र के उत्तर में बहुत जल्द 'वर्तमान धर्म' का उत्तर भेजने के लिए लिखा और यह कृपा भी प्रदर्शित की कि जबकि मुझ पर आक्षेप हुआ है, तब मेरा उत्तर भी वह छापेंगे। साहित्यिक जन धैर्य धारण करें, उत्तर मैं उन्हीं के पास छपने के लिए भेज रहा हूँ। मैं अब तक इसी विचार से चुपचाप था कि आक्षेप हो चुकने पर मैं उत्तर लिखूँगा।

जिन लोगों ने सम्मतियाँ दी हैं, उनमें बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें सम्मति देते हुए पहले-पहल मैंने देखा। श्रीयुत सूर्यनाथ तकरू एम. ए. के सम्बन्ध में मैंने सुना है, हिन्दी की सौ श्रेष्ठ पुस्तकों की तालिका उन्होंने तैयार की है। प्रो. रामदासजी गौड़ मान्य मनुष्य हैं, पर प्रेत विद्या या जिस विद्या के वे प्रोफेसर रह चुके होंगे, उन्हें छोड़कर ऊँचे साहित्य में भी वह दखल रखते हैं, मुझे विश्वास नहीं, मुझे कोई प्रमाण उनके साहित्य से, स्कूली किताबों से, अब तक नहीं मिला। धर्म, धृत, श्रद्धा आदि कौन-कौन-सी धातुएँ और प्रत्यय हैं, उनके अर्थों का कैसा साम्य होता है, यह सब अगर गौड़जी जानते होते तो ऐसी राय न देते।

चतुर्वेदीजी ने केवल राय माँगी है, लेख के विषयों को बिल्कुल उड़ा दिया है, जैसे जनता को उनके ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं अथवा उनका ज्ञान चतुर्वेदीजी तथा उनके सम्मतिदाताओं के लिए भोजन पात्र की तरह आसान है। अच्छी बात है। आसान होना भी चाहिए। इसी उद्देश्य से 'वर्तमान धर्म' लिखा गया। जब तक मेरा उत्तर निकलता है चतुर्वेदीजी तथा उनके सम्मतिदाता ये प्रश्न, जो मेरे लेख के अन्तर्गत हैं, हल करें :

(1) गणेशजी को सब हिन्दू पूजते हैं। चतुर्वेदीजी तथा उनके अनेक सम्मतिदाताओं के घरों में भी गणेश की पूजा होती होगी। क्या वे लोग समझायेंगे गणेशजी हाथी के आकार के होकर चूहे पर कैसे चढ़ते हैं?

(2) कृष्णजी का गेंद क्या मलाई का लड्डू था जो कालिया नाग ने पकड़ लिया? नाग गेंद क्यों लेगा? क्या कृष्णजी गेंद खेलते समय सूजा भी साथ ले गये थे या सूजा कालिया नाग के घर में मिला था? क्या साँप भी बैल की तरह नाथा जाता है?

बस दो प्रश्न। अधिक की जगह नहीं। समझाइए या अपने प्रपितामहों की अक्ल पर भी, प्रोपेगेण्डा शुरू कीजिए। तब मैं भी समझूँ कि आप दमदार हैं,

आदमी हैं। मैंने इन्हीं का मर्म समझाया है, जो आप लोगों के स्निग्ध मस्तिष्कों में नहीं प्रवेश कर सका। अब आप भी समझाइए। राय क्या लेते-देते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1932। **संग्रह** में संकलित]

## 'साहित्यिक सन्निपात' या 'वर्तमान धर्म ?*

मैंने 'भारत' में एक लेख लिखा था—'वर्तमान धर्म'। उसमें वर्तमान धर्म कैसा होना चाहिए, किस तरह के विचार के प्रसार से ज्ञानजन्य एकता हो सकती है, पौराणिक रूपकों में एकमात्र कौन-सा सत्य छिपा हुआ है, यही समझाया था। साथ-साथ डॉ. हेमचन्द्र जोशीजी को उनके आक्षेप का उत्तर दिया था, जो श्रावण, 1931 की 'माधुरी' में छायावादी कहलानेवाले कवियों के प्रति तीव्र शब्दों में जोशीजी कर चुके थ। उनके उस 'अप्रिय-सत्य साहित्य-पारखी' लेख में ऐसे कथन अनेक हैं—

"असल बात यह है कि इस धींगाधींगी तथा 'तुम हो कविकुलचूड़ामणि पर मैं हूँ कविकुलकेसरिकन्त' (इसका ठीक अर्थ पाठक समझें, क्योंकि मैं आजकल के छाया-काया-माया तथा किरायावाद के कवियों की प्रणाली पर अच्छी कविता तो करता हूँ, पर स्वयं उसे नहीं समझता। कहा भी है—'कवि: करोति काव्यानि स्वादं जानाति पण्डित:', के समय में मुँह खोलते डर लगता है, इसलिए हिन्दी के कई विद्वान् जो हमारे New Modernism—अति-नूतनवाद में हमारे साहित्य का दिवाला देख रहे हैं, इस विषय पर चुप्पी साधे बैठे हैं।

"...हिन्दी के इस ज़माने में जब सड़ा-गन्दा साहित्य पाठकों के सामने उछाला जा रहा है और जब सड़े-गन्दे स्वयंभू साहित्यिक 'मन सुरा हाजी बगोयद तू मरा हाजी बगो' (मैं तुझे हाजी कहूँगा, तू मुझे हाजी नाम से पुकारना) नीति के अनुसार कूपमण्डूकों की भाँति सागर को अपने संकीर्ण कुएँ से छोटा समझ इधर-उधर कुदक तथा टर्रा रहे हैं।...

"...पर हिन्दी के कवि मेरी क्षुद्र-सम्मति में उस राम-खुदैया तक पहुँचे हैं, जहाँ न राम हैं और न रहीम। वहाँ भूलभूलैया है, मृगतृष्णा है और है तामसिक आत्मविभ्रम।......" आदि-आदि।

* मार्गशीर्ष, 1989 की 'सुधा' में मैंने साहित्यिकों तथा साहित्य-प्रेमियों से निवेदन किया था कि 'वर्तमान धर्म' की टीका मैं 'विशाल भारत' में छपने के लिए भेज रहा हूँ। परन्तु पीछे विचार कर देखा तो समझ में आया, जिस 'विशाल भारत' ने मेरा एक छोटा-सा पत्र लिखने पर भी नहीं छापा, वह अपने प्रोपेगैण्डा का उचित उत्तर क्यों छापेगा ? पुन: जिस न्याय से उसने पं. नन्ददुलारे वाजपेयीजी एम. ए., भूतपूर्व सम्पादक 'भारत' का 'भारत' में छपा उत्तर उद्धृत किया है, वह न्याय यहाँ भी है—'माधुरी' में छपा लेख वह उद्धृत कर सकता है यदि 'वर्तमान धर्म' का मतलब समझाना भी उसका धर्म होगा।

—**'निराला'**

डॉ. जोशी का यह लेख किस प्रकार का है, पाठक स्वयं समझें। पहले जो "तुम हो कविकुलचूड़ामणि, पर मैं हूँ कविकुलकेसरिकन्त" मजाक है, मुमकिन है, मेरी "तुम ग्रौर मैं"—शीर्षक कविता का प्रतिबिम्ब हो,—"तुम विमल हृदय-उछ्वास ग्रौर मैं कान्त-कामिनी-कविता"—ऐसी-ऐसी लड़ियाँ उस पद्य में हैं। दोनों के मिलान से कवि ग्रौर ग्रालोचक के मनोभावों का पता चल जायगा। साथ-साथ पाठक इसका निर्णय भी करें कि डॉ. जोशी के ऐसे ग्राक्षेपों का कोई उत्तर जाना जरूरी है या नहीं। फिर उत्तर यदि ग्रालोचक की इस भाषा ग्रौर ग्राक्रमण से ग्रधिक मुलायम हो, क्या तो भी उसका न जाना ठीक होगा?—फिर यदि साथ-साथ कोई दूसरी विशद भावना उस उत्तर में सन्निहित हो?—मेरा 'वर्तमान धर्म' ऐसा ही उत्तर है। इसमें मैंने डॉ. जोशी को ग्रपने रहस्यवाद-ज्ञान का परिचय दिया है—इसमें बतलाया गया है कि तमाम ग्रार्य-साहित्य का मूल रहस्यवाद है, इसमें यह कोशिश है कि रूपकों का मोह छोड़कर साहित्यिक तथा साहित्य-प्रेमी ज्ञान का ग्रहण करें, ग्रन्यथा वे रूपकों का सत्य समझा न सकेंगे—जैसे हाथी के ग्राकारवाले गणेशजी का चूहे पर चढ़ना है। इस 'वर्तमान धर्म' निबन्ध में यह इशारा भी है कि पौराणिक रूपकों या छायाग्रों से परे जो सत्य है, वही हम रहस्यवादी या छायावादियों का लक्ष्य है। इन छायाग्रों के ग्राधार से सत्य को प्राप्त करनेवाले लोग छायावादी कहे जा सकते हैं, पर छाया उनका वाद नहीं—उनका वाद सत्य है, ग्रतः वे सत्यवादी हैं। पौराणिक छायाग्रों से मुक्त कर साहित्य के सत्य-लोक में ले जाने की कोशिश 'वर्तमान धर्म' में की गयी है, व्याख्या ग्रागे देखिए।

डॉ. जोशी के साथ एक बार ग्रौर मेरा साहित्यिक विवाद हो चुका है। उनका 'कला में विरह' ग्रौर मेरा 'कला के विरह में जोशी-बन्धु' लेख 'सुधा' में देखने पर यथार्थ साहित्यिकता का पता लग जायगा, ग्रापको वहाँ भी एक सत्य-चित्र मिलेगा।

'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसी 'वर्तमान धर्म' को 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक देकर ग्रपने पत्र में प्रकाशित किया ग्रौर लोगों की सम्मति माँगी। इससे पहले उन्होंने उस 'वर्तमान धर्म' का ग्रर्थ कर देने-वाले साहित्यिक को पच्चीस रुपये का पुरस्कार ग्रपने पत्र में घोषित किया था। पर मुझ पर ग्राक्षेप होने पर मुझे उनकी पुरस्कार-घोषणा का हाल साथ-साथ मालूम हुग्रा।

पहले कुछ महीनों तक मेरे लिखने पर चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' मेरे पास भेजते रहे; पर जब से पुरस्कार की सूचना निकाली, शायद तभी से पत्र भेजना बन्द कर दिया। ग्रतः उनके पुरस्कार का हाल मुझे नहीं मालूम हो सका।

'वर्तमान धर्म' 'भारत' में छप जाने के बाद मैं खुद चलकर चार-पाँच बार कलकत्ते में चतुर्वेदीजी से मिला। पर उन्होंने 'वर्तमान धर्म' का ग्रर्थ कर देने के लिए मुझसे नहीं कहा। मेरे विरुद्ध ग्राक्षेप करने से पहले मुझे चिट्ठी नहीं लिखी, मुझे सूचित नहीं किया, मुझे ग्रर्थ कर देने के लिए नहीं पूछा। 'साहित्यिक सन्निपात' के तीसरे खण्ड में, पौष 1989 के 'विशाल भारत' में चतुर्वेदीजी फर्माते हैं—जब 'निराला' जी उत्तर नहीं देते···ग्रादि ग्रादि। मैंने ग्राक्षेप के प्रथम खण्ड के बाद, यानी कार्तिक में, उन्हें एक चिट्ठी लिखी थी ग्रौर रायों के साथ छाप देने के लिए कहा था। पर उन्होंने मेरा पत्र प्रकाशित नहीं किया। पत्र यह था:

"प्रिय चतुर्वेदीजी,

आपका प्रूफ मिला। आपने अपने मनोभाव बहुत अच्छी तरह, आकर्षक ढंग से प्रकट किये हैं। देखूँ, कैसी-कैसी सम्मतियाँ हिन्दी के हितैषी विद्वानों से आपको मिलती हैं। फिर न हो कहीं कुछ लिखूँगा। आप तो बिना समझे कुछ छापेंगे नहीं। निबन्ध यदि नहीं समझ में आया, तो राय तो अवश्य ही समझ में आ जायगी। इस तरह की चहल-पहल से मुझे भी काफी दिलचस्पी रहती है। समझने और सीखने लायक बहुत-सा मसाला मिलता है। आपने अपने आक्रमण का प्रूफ भेजा, यदि चाहते तो प्रबन्ध की टीका करने का निमन्त्रण भी दे सकते थे; तब इतना आकर्षक कुछ ज़रूर न रहता, पर गुत्थी सुलझ जाती। मुमकिन है, अन्त तक आप ही बदनाम हों। सच बतलाइएगा, बिना कोष देखे, पूछे, सन्निपात की व्युत्पत्ति जानते हैं आप? यह पत्र भी छापिए। 4।10।32।"

इस पत्र के बाद 17।10।32 के दैनिक 'लोकमान्य' में 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक से मुझ पर पुनः चतुर्वेदीजी ने आक्षप किया। उन्होंने उक्त पत्र में चार कालम का एक बड़ा लेख ही लिखा है, जिसके कुछ वाक्य—"अब वक्त आ गया है कि इस बीमारी का निदान और इलाज किया जाय। यार लोगों ने हिन्दी-साहित्य को विधवा खाला का घर समझ लिया है, जहाँ कोई धनी-धोरी ही नहीं। जो जिसके मन में आता है, ऊटपटाँग लिख मारता है। पबलिक के समय और पैसे का मानों कोई मूल्य ही नहीं!" आदि-आदि। उसमें बहुत कुछ लिखा है। पं. पद्मसिंह शर्मा की उक्ति का उल्लेख है कि जरायमपेशा साहित्यिकों के प्रति सहनशील बनना अनुचित है। फिर बहुत कुछ लिखने के बाद 'वर्तमान धर्म' से कुछ उद्धृत करते हुए आप पूछते हैं—"क्या 'लोकमान्य' का कोई पाठक बतला सकता है कि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का नाम इस ऊटपटाँग ढंग से इस लेख में क्यों घसीटा गया है? लीजिए, महात्माजी भी इस वाक्य में धर घसीट गये!" जनता को बरगलाने का यह प्रयत्न! मैंने लोकमान्य तिलक या महात्मा गाँधी पर आक्षेप नहीं किये, यह चतुर्वेदीजी को भूतपूर्व 'भारत'-सम्पादक पं. नन्ददुलारेजी वाजपेयी, एम. ए. के दिये हुए उत्तर से मालूम हो चुका है। वाजपेयीजी के उत्तर का जिक्र उनके इस लेख में है, पर फिर भी मुझ पर आक्षेप और ऐसे-ऐसे!

पत्र मैंने लखनऊ से लिखा था। लखनऊ का पत्र दो रोज में अवश्य कलकत्ता पहुँच जाता है। पत्र की पहुँच के बाद ही चतुर्वेदीजी की यह प्रोपेगैण्डा-वृत्ति जाग्रत हुई होगी। पर मैं साहित्यिकों से पूछता हूँ, क्या मेरे पत्र में यह ध्वनि है कि मैं उत्तर नहीं देना चाहता या 'वर्तमान धर्म' निरर्थ है?

अगहन का 'विशाल भारत' रायों के साथ निकला। राय देनेवाले एक-एक से बढ़कर साहित्यिक! इनमें सिर्फ दो को मैं जानता हूँ, बाकी तो शायद पहले ही पहल राय लेकर 'विशाल भारत' में उतरे हैं। जिन दो को मैं जानता हूँ, वे हैं प्रो. रामदास गौड़ और श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'। 'सुधा' में मैं लिख चुका हूँ, गौड़जी को धातु-प्रत्यय का ज्ञान है, मुझे विश्वास नहीं; उच्च साहित्य गौड़जी का लिखा हुआ मेरी नजर से नहीं गुजरा। रहे मोहनलालजी, इनके लिए मैं क्या कहूँ। अगहन के 'विशाल भारत' में इन सब लोगों के आक्षेप तो छपे हैं, पर मेरा पत्र नहीं छपा। क्या आप लोग बतला सकते हैं, मेरा पत्र चतुर्वेदीजी ने क्यों नहीं छापा? मेरा पत्र चतुर्वेदीजी को मिला, इसका प्रमाण उनके 7।10।32 को लिखे उत्तर से मिलता है, जिसमें वह लिखते हैं—"कृपा-पत्र मिला। आप प्रबन्ध की टीका लिख भेजिए। छाप दूँगा।" इस उत्तर के लिखनेवाले चतुर्वेदीजी

फिर दस रोज के अन्दर ही 17।10।32 को दैनिक 'लोकमान्य' में आक्षेप करते हैं।

पुनः अगहन के 'विशाल भारत' में पं. मोहनलालजी महतो 'वियोगी' अपनी राय में लिखते हैं--"मैं तो स्वयं इसके (वर्तमान धर्म के) लेखक को चैलेंज देता हूँ कि यदि वे अपने इस चोंचों के मुरब्बे का अर्थ समझा दें तो मैं उनकी करामाती लेखनी पर नकद 100) न्योछावर कर देने को प्रस्तुत हूँ।" फिर इसी अंक में हैदराबाद (दक्षिण) के डॉक्टर नरोत्तमदास एल्. एम्. एस्. का दावे के साथ लिखा हुआ पत्र छपता है—"मैंने इसकी कुंजी पा ली है। कृपया 25) अपने और 100) वियोगीजी के मनीआर्डर द्वारा भेज दीजिए। रही सन्निपात की बात, सो आप सम्पादक लोग उसका क्या इलाज कर सकते हैं? यह हम डाक्टरों का काम है।" फिर आपने सन्निपात का नुस्खा तथा अपना 'भावी धर्म' लिखा है। "वर्तमान धर्म' की टीका समाप्त होने पर 'विशाल भारत' के सम्पादक तथा डॉक्टर नरोत्तमदासजी से शास्त्रोक्त उद्धरणों तथा धातु-प्रत्ययों द्वारा 'भावी धर्म' का भी वैसा ही अर्थ लिया जायगा; क्योंकि जो लोग सन्निपात, ऊटपटाँग तथा विकृत मस्तिष्कवाले साहित्यिकों तथा साहित्य का प्रशमन करना चाहते हैं, वे स्वयं कभी सन्निपात-ग्रस्त कुछ नहीं लिख सकते!

यहाँ केवल सवाल है कि हैदराबाद (दक्षिण) के डॉक्टर साहब को 'वियोगी'-जी के 100) रुपयेवाले पुरस्कार की बात मालूम कैसे हो जाती है। एक ही अंक में पुरस्कार की सूचना और सूचना-प्राप्ति का संवाद कैसे छप सकता है, साहित्यिक जन समझने और समझाने की कृपा करें। मैं इसे सन्निपात नहीं कहता, पर बात मेरी समझ में नहीं आती। बाकायदा डॉक्टर साहब का पत्र चतुर्वेदीजी ने छापा है। इन डॉक्टर साहब का पूरा पता भी चतुर्वेदीजी 'माधुरी' के पते पर मेरे पास भेजने की कृपा करें, कारण भी कृपया बतलायें कि उन्हें कैसे पता चला।

अब 'वर्तमान धर्म' की टीका हो चुकने पर चतुर्वेदीजी के प्रोपेगैण्डा तथा अपर विषयों पर लिखूँगा। साहित्यिक तथा साहित्यप्रेमी स्वभावतः पहले असली मतलब के जानने के इच्छुक होंगे।

ऋग्वेद-संहिता में है, "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्च-जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।—1।98।10 अर्थात् अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वही पिता, वही पुत्र है। विश्व के देव पंचजन अदिति हैं, अदिति ही पैदा हुई, अदिति ही पदा होने का कारण है।" साहित्यिक जन देखें, 'अदितिर्माता' के बाद 'स पिता' आया है। संस्कृत के अनुसार इस मन्त्र में व्याकरण का पूर्ण उल्लंघन है। अदिति स्त्रीलिंग है, उसका सर्वनाम 'सः' न होकर 'सा' होना चाहिए था। पुनः अदिति तीनों लिंगों में है, एकवचन और बहुवचन में भी। इससे मन्त्र के अर्थ की तरह अदिति में व्याकरण की व्यापकता भी सिद्ध हो रही है। प्रश्न हो सकता है, यदि अदिति ही माता और पिता है तो पुराणवाले कश्यप कहाँ हैं? साधारण समझ के लोग इसका उत्तर नहीं दे सकते; क्योंकि वे मूल अर्थ से परिचित नहीं। यहाँ वेद और पुराण तथा संस्कृत-साहित्य की पूरी कुंजी मिल जायगी। पुराण का विकासवाद जिसमें कश्यप से सृष्टि का प्रकरण तैयार किया गया है, इसी मन्त्र का आधार रखता है—यहाँ देखिए, रूपक कैसे रूप ग्रहण कर सत्य के आश्रय से खड़े हैं। वैदिक-साहित्य के बाद संस्कृत-साहित्य का कैसे निर्माण हुआ। संस्कृत का अर्थ है शुद्ध किया हुआ। मैंने दिखलाया है, उद्धृत वेद-मन्त्र में व्याकरण तथा भावों की कैसी खिचड़ी है—कोई नियम नहीं। संस्कृतवालों ने

इस भाव को दुरुस्त रखकर व्याकरण तैयार किया, कहने का ढंग और मार्जित किया। अदिति की जो व्यापकता इस वैदिक सृष्टि-तत्त्व में है, पुराण के 'कश्यप' में भी वही मिलती है। कश्यप का अर्थ देखिए—अर्थ है देखनेवाला, द्रष्टा (पश्यति इति कश्यपः), 'पश्यक' उलटकर 'कश्यप' बन गया है। एक दूसरा भी विशद अर्थ 'कश्यप'-शब्द का होता है—(कशामर्हति, कशा+यत्=कश्यं; कश्यं पाति, रक्षति इति कश्यपः; "पार्वतीप-रमेश्वरौ" इति रघुवंश-काव्ये लिखिते शब्द-बन्धे 'पार्वतीप'-शब्दस्येव) कश्यप में 'कशा' शब्द है, कशा का अर्थ है चाबुक—किसी भी प्रकार का चाबुक, अर्थात् जितने प्रकार के चाबुकों, कानूनों से सृष्टि के कुल जड़-चेतन नियन्त्रित हैं उनका एकीकरण, ऐसी कशा के भाव से कश्य बना; कश्य का एक अर्थ है 'धार्मिक शराब', इस कश्य की रक्षा करता है, इसका पति है, इसलिए कश्यप है; पुनः ऐसे कश्य को, धार्मिक शराब या शक्ति को पीता है, इसलिए 'मद्यप' शब्द की प्रतिपत्ति की तरह 'कश्यप' हुआ। अब देखिए, कश्यप धार्मिक शक्ति की रक्षा भी करता है और पीता भी है। जब वह द्रष्टारूप निर्विकार ब्रह्म है—अदिति का पूर्णार्थ-द्योतक, तब शक्ति का, धार्मिक शराब का रक्षक है, कश्य का पति है; और जब रूप में उतरकर दिति-अदिति आदि पत्नियों से, प्रकृति की भिन्न मूर्तियों से रमण करता है, तब कश्य का, धार्मिक शराब का पीनेवाला है। (कश्य-पानात् स कश्यपः, इसकी दूसरी व्याख्या भी है, एक दूसरी ओर इसका रुख है।) पण्डित-प्रवर प्रो. रामदासजी गौड़, पं. जगन्नाथ प्रसादजी तथा पं. बनारसीदासजी देखें, यह 'कश्यप' का 'गहरा डोज़' कितना गहरा है! यह डोज़ कहाँ तक आप लोगों के पेट में था? कैसा 'प्रमत्तप्रलाप' है गौड़जी! पाठक, साहित्यिक, एक कश्यप शब्द में कश्यप की व्याप्ति और गुण देख लें, संसार का कुछ भी नहीं छूट रहा,—'अदिति' की पूरी व्याप्ति लिये हुए है, फिर भी संस्कृत के अनुसार केवल पुंलिंग में है। यह 'अदिति' का पुरुषतत्त्व हुआ। 'अदिति' के प्रकृति-तत्त्व में संस्कृतवालों ने श्रेणी-विभाग (Classification) किया है। कश्यप की इसीलिए विभाजित 13 प्रकृतियाँ—स्त्रियाँ हैं। यहाँ दिति, अदिति, विनता, कद्रू आदि सभी स्त्रीलिंग में हैं। देखिए, संस्कृत का कैसा सुसंघटित, सुन्दर कार्य हुआ, और देखिए कि पहले के वेदमन्त्र से अर्थ का कैसा साम्य है, फिर भी कैसा मनोहर रूपक! कितनी बड़ी कथा एक मन्त्र के आधार पर खड़ी हुई! आप लोग यह भी देखिए कि साधारण जनता इन रूपकों में किस तरह अटकी है, और कहाँ तक इनका यथार्थ अर्थ समझती है; यदि इन रूपकों को तोड़कर 'वर्तमान धर्म' सच्चा अर्थ पण्डित लोगों के सामने रखता है, तो कौन-सा गुनाह करता है? यदि रूपों में ही बुद्धि अटक जाय, तो क्या कोई बतला सकता है कि कश्यप मनुष्य के आकार के होकर साँपों की माता कद्रू से कैसे रमण करते थे; या साँप के आकार के थे, तो पक्षियों की माता विनता से कैसे रमण करते थे? 'वर्तमान धर्म' की आवश्यकता यहीं है। इसी उद्देश्य से वह लिखा गया है। अब "अनेकों स्त्रियों के मियाँ, न चियाँ और न रियाँ" का मतलब समझ में आया? (रियाँ एक पेड़ होता है, चियाँ बीज को कहते हैं।) अभी मैं अर्थ नहीं कर रहा। संस्कृत-पुराण-साहित्य से वैदिक-साहित्य का सत्य-सामंजस्य बतला रहा हूँ, पौराणिक रूपकों में रहस्यवाद समझा रहा हूँ, जैसा कि कलकत्ते के साहित्य-सम्मेलनवाले भाषण में मैंने कहा था कि तमाम आर्य-संस्कृति रहस्यवाद पर प्रतिष्ठित है—रामायण, महाभारत रहस्यवाद के ग्रन्थ हैं, सब ऋषि-कवि रहस्यवादी थे, रहस्यवाद ही सर्वोच्च साहित्य है।

अदिति को पुराणों में एक सीमा में रख दिया है, वह केवल देवताओं की माता हैं। दिति दैत्यों की माता। पर अदिति का अर्थ लीजिए—"न दीयते खण्ड्यते वध्यते बृहत्त्वात्"—अदिति वह है जिसका खण्डन न हो, सीमा न हो, विभाजन न हो। अब देखिए, पूरे वैदिक मन्त्र का अर्थ एक 'अदिति' शब्द में आ गया या नहीं। अद्वैत का अर्थ भी अदिति से मिलाइए और अद्वैतवाद का लक्ष्य भी शांकर भाष्य में देखिए। पुत्र की परिणति उसकी माता है। देवताओं की परिणति उनकी माता अदिति है, अर्थात् देवता वहाँ पहुँचते हैं। जहाँ विभाजन नहीं होता—ब्रह्म में। दिति का अर्थ अदिति के विपरीत है। इसका अर्थ है हिस्सा बाँट, विभाजन। द्वैतवाद का अर्थ भी इसके साथ मिलाइए। फिर दैत्यों की प्रकृति भी देखिए और कहिए, रूपकों में पुराणकारों ने कैसे अर्थ-चमत्कार दिखलाये हैं। दैत्य अपनी माता की परिणति प्राप्त करते हैं। अब ग्रीक-सभ्यता से फैली हुई योरपीय सभ्यता का दैत्यानुकूल द्वैतभाव (Classification) देखिए और भारतीय दिव्य सभ्यता से पैदा हुआ वैदिक अदिति या वैदान्तिक अद्वैतभाव (Monism) भी देखिए। इस विकासवाद के रूपक में साहित्य, व्याकरण, भाव तथा सत्य का भी श्रेणी-विभाजन और एकीकरण प्रत्यक्ष होता है। संस्कृत इस प्रकार सुधारी गयी, और पुराणों में सत्य के अनेकानेक रूपक दिये गये। 'वर्तमान धर्म' में ऐसे ही रूपकों को तोड़-तोड़कर मैं उनके एकमात्र सत्य की ओर इशारा करता गया हूँ।

मेरी इस वैदिक और संस्कृत-साहित्य की मूल-व्याख्या सुनकर कई महानुभावों ने मुझसे पूछा, आपने 'वर्तमान धर्म' को इतने सीधे ढंग से क्यों नहीं लिखा? मैंने उत्तर दिया, उतने कम में उतना अधिक इस तरह नहीं लिखा जा सकता था; अपितु वहाँ मैं भाष्यकार नहीं हूँ, केवल मतलब बतलानेवाला हूँ; पुनश्च मैं नहीं समझता था कि हिन्दी की कुल रास लवाब है, विद्वानों तथा जानकारों के सामने इसी तरह लिखने का तरीका है; मैं समझता था, हिन्दी में समझवाला युग आ गया है, पर अब मेरा भ्रम दूर हो गया।

'वर्तमान धर्म' सत्य है या नहीं, उसकी टीका शुद्ध है या नहीं, इसके निर्णय के लिए मैं 'समन्वय' के सम्पादक स्वामी माधवानन्दजी सरस्वती को पहले पेश करता हूँ। (स्वामीजी हिन्दी के बहुत अच्छे ज्ञाता हैं। आपने 'समन्वय' के सम्पादन-काल में अनेक मौलिक निबन्ध हिन्दी में लिखे हैं। हिन्दी के दुर्भाग्य से 'समन्वय'-जैसा पत्र नहीं चला। कई साल के घाटे के बाद पत्र को बन्द कर देना पड़ा। आप चिर-तपस्वी हैं। अँगरेजी के उच्च-शिक्षा-प्राप्त एक प्रख्यात महानुभाव हैं। स्वामी विवेकानन्दजी के प्रतिष्ठित अद्वैत-आश्रम के प्रेसीडेण्ट रह चुके हैं। अमेरिका में वेदान्तधर्म के प्रचार के लिए गये थे, अब यहीं हैं। अँगरेजी में पुस्तक-निबन्ध आदि लिखते हैं। आप संन्यासी हैं।) ज्ञान-काण्ड में भारत ने संन्यासी को ही अधिकार दिया है। बाद प्रो. आद्यादत्त ठाकुर एम. ए., पण्डित रामदत्त शुक्ल एम.ए., एल्-एल्. बी., श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्. ए. एल्-एल्. बी., श्रीयुत् सत्याचरण वर्मा 'सत्य' एम. ए. शास्त्री, पण्डित उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' एम्. ए. आदि सज्जन मेरे लेख का मर्म समझ-समझा सकते हैं। वासुदेवशरणजी इस विषय में लिखते भी हैं। इस टीका के और भी मेरे अज्ञात विज्ञजन परीक्षक हो सकते हैं।

'विशाल भारत' में हिन्दी के कुछ अच्छे लेखकों ने भी मुझ पर मस्तिष्क-विकार का दोष लगाया है। विज्ञ पाठकगण देखें, इसमें कोई बात विशृंखल, मस्तिष्क-विकार की परिचायिका है भी, या वह पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी

तथा उनके विचक्षण सम्मतिदाताओं के ही अपार पाण्डित्य का प्रदर्शन करती है।

**वर्तमान धर्म**

**मूल :** "धर्म, धृति, या श्रद्धा शिक्षा की जननी है। भारत अपने नाम से ही धर्मात्मा है। इसलिए भारत की सीमा जैसी भी लकीरों से निश्चित की जाय, वह असिद्ध है, ज्ञान के द्वारा। दूसरा विरोधी पक्ष जो सृष्टि को सिद्ध करता है, उसमें भले और बुरे का संस्थान देखता है, भा: या प्रतिभा अथवा ज्ञान के साथ अज्ञान का संयोग करता है जैसे पूरे एक रूप के लिए दिन और रात का जोड़ा एक ही व्योम या शंकर में पृथ्वी के दो गोलार्ध जुड़कर एक, अलग-अलग दिन और रात में प्रसन्न।"

**टीका :** "(धृ+मन्=धर्म, धृ+क्तिन्=धृति, श्रत्+धा+अङ+टाप्=श्रद्धा) धर्म, धृति और श्रद्धा की धातुओं में धारण करने की शक्ति है। जब कुछ सिखलाया जाता है, तब उसकी धारणा बिना धर्म, धृति या श्रद्धा के नहीं हो सकती। उधर सिखलानेवाला जो शिक्षा धारण किये हुए है, उसमें भी धर्म, धृति या श्रद्धा है। दोनों तरफ़, गुरु और शिष्य में, शिक्षा की धात्री धर्म, धृति या श्रद्धा है। श्रद्धा मृत्युहीन ब्रह्मतत्त्व की भी दात्री है—नचिकेता इसका उदाहरण है। **'श्रद्धानो भां विद्यामाददीतावरादपि'** स्मृति कहती है। अष्टांगयोग में भी धारणा के ही बाद ध्यान और समाधि (पूर्ण ज्ञान) है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी **'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'** से ज्ञान के रूपक का श्रीगणेश करते हैं। अतः कहा—धर्म, धृति या श्रद्धा शिक्षा की जननी है। संस्कृत में 'भारत' भरत से बना है (भरं तनोति, तन्+ड), पर भारत का अर्थ मैंने किया है—भा:+रत (भासि रत:), जो ज्ञान में रमा हुआ है। इसलिए वह अपने 'भारत' नाम से ही धर्मात्मा है। ऐसे भारत को कोई सीमा द्वारा नहीं बाँध सकता। जहाँ सीमा है, वहाँ ज्ञान नहीं। सीमा ही बन्धन और अज्ञान है। इसलिए भारत की सीमा असिद्ध हुई ज्ञान के द्वारा। (यहाँ ज्ञान से तमाम मानवीय संस्कारों का उच्छेद किया गया; केवल ज्ञान रहा; ऐसे ही भारतजन विश्वनागरिक हैं। इनमें कोई 'पन' नहीं रहा। 'वर्तमान धर्म' ऐसे ही मनुष्यों को चाहता है। वर्तमान भारत-देश के लिए भी यही बात है। वह मिट्टी और जल के द्वारा तमाम देशों से जुड़ा हुआ है। ज्ञान इन जड़ और चेतन उभय प्रकारों के संयोग को देखकर सबके साथ सहयोग प्राप्त करता है। देश के लोग ज्ञान से ही उभय प्रकारों का संयोग देखकर, मिलकर आर्थिक और पारमार्थिक उन्नति कर सकेंगे।) दूसरा विरोधी पक्ष भी एक है। वह केवल ज्ञान नहीं मानता। 'विरोध' शब्द के द्वारा—स तु निर्बीज:—इस अज्ञान-रहित एकमात्र ज्ञान का विरोध-प्रदर्शन हुआ, एकमात्र ज्ञान से बहिर्मुख होना हुआ;—बिना इस विरोध के सृष्टितत्त्व में उतरा नहीं जा सकता; कुछ कहा नहीं जा सकता। सृष्टितत्त्व है जब भला और बुरा दोनों हैं। इसलिए दूसरा पक्ष एक-मात्र ज्ञान का विरोधी हुआ, जो सृष्टि को सिद्ध करता है। इसका काम सृष्टि में भले और बुरे का प्रदर्शन, ज्ञान के साथ अज्ञान को जोड़ना है। यह पक्ष ज्ञान और अज्ञान दोनों को मिलाकर पूरे एक की व्याख्या करता है, जैसे दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार के मिलने पर एक बार (पूरा दिन, जैसे सोमवार) होता है, जैसे एक ही आकाश में—शान्तिरूप में, पृथ्वी के उभय गोलार्ध जुड़े हुए एक हैं, अलग-अलग दिन और रात में प्रसन्न हैं। दोनों महाद्वीप अलग-अलग भी एक हैं—पृथ्वी के एक रूप में, अलग-अलग भी एक ही व्योम, आकाश या शान्ति में हैं

—दिन और रात में प्रसन्न। ज्ञान और अज्ञान, दिन और रात, दो गोलार्द्ध मिलकर, एक हैं। ज्ञान और अज्ञान से एक रूप, दिन और रात से एक बार, दोनों गोलार्द्धों से एक पृथ्वी। सृष्टि के लिए दोनों की आवश्यकता केवल 'सृष्टि' शब्द से सूचित हो जाती है! सृज्+क्तिन्=सृष्टि। सृष्टि की धातु में, उच्चारण में टेढ़ापन मौजूद है, सीधापन उसकी अदृश्य भूमि है, जिस पर टेढ़ापन देख पड़ता है; इस तरह दोनों मिलकर सृष्टि के कारण हुए। बात यह कि सृष्टि में भला और बुरा दोनों होते हैं—**"जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन करतार।"**

**मूल** : "चित्र-काव्य में शिव और पार्वती, जड़ और चेतन का अभिन्न रूप, जुदा-जुदा **'तनु-अर्द्ध भवानी', 'यस्यांके च विभाति भूधरसुता'**, हिमालय का दिव्य रूप; सीताजी के चित्रण में भी जरा-सा सियाह दाग सुलक्षण पर शंका, आक्षेप। वाह्य संसार में सृष्टि के मूल-निवास पर बड़ी ढूँढ़-तलाश हुई। योरप ने अपनी तरफ़ खींचा, भारत ने अपनी तरफ; पर ऊँचाई के लिहाज़ से गौरीशंकर-गिरि से ऊँचा स्थान संसार में कोई नहीं। इसलिए सृष्टि का मूल रहस्य यहीं होना भी चाहिए। यहीं हुआ भी। एक हुए पहाड़ के बच्चे जनाव चूहे, जिनकी आत्मा हुई गणेशजी की, यानी चूहे की सवारी करके करी या हाथी महाशय अपने हाथ-पैर चारों को समेटकर सूँड़ की लपेट से खाने लगे। बाहर के दाँत हुए दिखाऊ। जिनसे खाने लगे, वे रहे भीतर यानी ज्ञान के दाँत। यह सब भीतरी रूपक इसलिए हुआ कि चूहे की आत्मा भीतर है। उधर भीतर खाना या सृष्टि में ज्ञान बाहर बघारना, जैसे दाल भीतर छौंकी जाती है, आवाज़ सब लोग सुनते हैं। एक दूसरे पुत्र हुए कार्तिकजी, सवारी मोर की, बड़े शिकारी, देवताओं के नायक या सेनापति, बड़े ऐयाश, बने चुने हर वक्त। देवीजी के जो दो लड़के हुए, इनमें गणेशजी बेधड़ के; इनका सिर एक दफा काटा गया है, पुराण देख लीजिए; दोबारा कहूँ—यह कटा सिर ही ज्ञान-काण्ड है; यानी है-है, नहीं है नहीं है; यही ज्ञान-काण्ड है—अस्ति और नास्ति। और, कार्तिकजी हैं कुमार यानी पृथ्वी में मार, हमेशा प्यार—ऐयाशी के बीमार यानी ऐयाशी नहीं करते, सिर्फ बीमार रहते हैं। इसीलिए बड़े-बड़े असुर ऐयाश यानी कर्मणा ऐयाश, उनके एक-एक तीर से गतश्वास होने लगते हैं।"

**टीका** : चित्रवाले काव्य में (व्रजभाषावाले चित्र-काव्य में नहीं) शिव और पार्वती आधे-आधे में दिखलाये गये हैं, जो जड़ और चेतन का जुदा न किया गया एक पूरा रूप है। (यही बात पहले दिन और रात की उपमा देकर कह चुका हूँ कि दोनों—भले और बुरे—के मिलने पर एक पूर्ण बनता है; सृष्टि के अन्दर रहकर जो लोग आलोचना करते हैं वे ऐसा ही कहते हैं; यही सत्य काली और शिव, सियाह और सफेद को रूप देकर प्रकट किया गया है।) पत्नी और पति, प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे से मिले हुए हैं (पत्नी और पति भोग-अर्थ में, दिन और रात सन्धि में, प्रकृति और पुरुष मुक्ति में), फिर भी जुदा-जुदा हैं। तुलसीदासजी ने इसी विचार से लिखा है—**तनु अर्द्ध भवानी** (रामायण में, इस उक्ति से, स्थलविशेष के कारण सीताजी का सौन्दर्य बढ़ाने का उद्देश्य लेकर गोस्वामीजी ने दोष दिखलाया है), जिनके अंक में, कहीं-कहीं पाठानुसार श्लोक का अर्थ है बायीं तरफ गिरिजा शोभा पा रही हैं, तत्त्वपूर्ण अर्थ के अनुसार बायाँ अंग ही पार्वती और दाहिना शिव है, तभी **'तनु अर्द्ध भवानी'** स्पष्ट होगा। हिमालय का यही दिव्य शरीर है—वह शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है; इसी सर्वोच्च आधार पर गौरीशंकर कहा जाता है; वहाँ जल है और जड़ भी (जल और जड़ का एक ही रूप संस्कृत

में होता है)--गति है और स्थिति भी—चेतन है और जड़ भी—इसलिए शिव हैं और पार्वती भी। शिव जड़ भी हैं और चेतन भी, और ऐसी ही पार्वती भी। जब वह जड़ रूप धारण करते हैं तब यह चेतन; जब यह जड़ होती हैं तब वह चेतन। हम देखते हैं, जब महेश्वर कर्म करते हैं तब पार्वती जड़ हैं—पर्वत से पैदा होने में पार्वती का जड़त्व ही सूचित है, और जब पार्वती पार्वत्य हरी-भरी चेतन प्रकृति हैं, तब शिव शवमात्र उस प्रकृति के आधार। अपने ही भीतर हमें यह तत्त्व मिल जाता है, शरीर की जड़ता न हो तो बुद्धि की चेतनता सिद्ध नहीं होती; पुनः लिंग-शरीर, जो जड़ है, कारण-महाकारण तक गतिशील है, अतएव चेतन। एक पूरे रूप में जड़ और चेतन, भले और बुरे का सहयोग दिखाने के विशद उद्देश से ही आदि कवि ऋषि वाल्मीकि ने सीताजी के चित्रण में ज़रा-सा धब्बा लगा दिया, उन्हें उत्तम लक्षणवाले लक्ष्मण पर शंका हुई जब वह उनके आदेश से उन्हें छोड़कर रामजी को देखने के लिए (स्वर्ण-मृग-वध-प्रसंग) जाने को तैयार नहीं हो रहे थे। यह इतना-सा मानसिक पाप सीताजी को स्पर्श न करता तो चित्रण अधूरा रह जाता। पर वाल्मीकि इतनी बड़ी त्रुटि कैसे कर सकते थे। (यहाँ तक सृष्टि के तत्त्व पर विचार रहा; आगे वह और बहिर्मुख होता गया है, जैसी सृष्टि के सम्बन्ध में संसार के लोगों की प्रवृत्ति हुई।) बाहरी दुनिया में सृष्टि पहले कहाँ हुई, इस पर बड़ी खोज की गयी। योरप ने अपने यहाँ बतलाया, भारत ने अपने यहाँ। इस वाक्य से मनुष्य-सृष्टि की ओर इंगित है, भिन्न खोपड़ियों और रंगोंवाले आदमी जो आदमी की एक विशेषता से अलग लिये गये हैं, असुर, दानव, दैत्य आदि पौराणिक शब्दों से, भिन्न स्थानों के हवाले के साथ, बहुत कुछ सिद्ध किये जा चुके हैं, अर्थात् बीज-रूप से इस प्रबन्ध से सम्मिलित हो जाते हैं, जबकि इसमें सृष्टि का कारण या रहस्य दिया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द वैदिक तथा संस्कृत-शब्दों से मिलते हैं, यह बहुत दिनों से दिखलाया जा रहा है; इस तरह बहुतों ने मनुष्य-सृष्टि का सबसे पुष्ट प्रमाण यहीं का माना है। जो लोग 'सृष्टि' शब्द से आगे बढ़कर, मनुष्य सृष्टि का इससे सम्मेल न मानें, वे केवल 'सृष्टि' शब्द की पूर्णता करें। मैं स्वयं भी पुराणों के सृष्टि-तत्त्व से नीचे नहीं उतरा, कहीं-कहीं आधुनिक ढंग से प्रसंग में मुक्त होकर केवल सत्य के सूत्र को लेकर विचार करता गया हूँ। हिमालय की गौरीशंकर चोटी के पास भूमि समुद्र की सतह से जितनी ऊँची है, इतनी ऊँची जगह संसार में कम है, सिर्फ तिब्बत में है। इस तर्क से यहीं स्थल का पहला प्रमाण मिलता है। इसलिए सृष्टि का मूल रहस्य यहीं होना भी चाहिए। यहीं हुआ भी। पहाड़ के निकलने पर चूहे, साँप, हाथी, मोर, बाघ, सिंह, बल आदि ही पहले आबाद हुए। इन्हीं से सृष्टि-तत्त्व समझाया गया। भारत में सृष्टि-तत्त्व ज्ञान से कहा गया है। डारविन के विकासवाद की तरह बन्दर का क्रम-परिणाम मनुष्य नहीं। मनुष्य ही मनुष्य का परिणाम है। मन, बुद्धि और अहंकार से हुई त्रिगुणात्मिका सृष्टि अपर जीवों की तरह मनुष्य की भी है, ऐसा कहते हैं। इसीलिए सृष्टि अमैथुनी मानी गयी है और मानी इसलिए गयी कि बाह्य जड़-प्रमाण का योग, अपने ही मन, बुद्धि और अहंकार में आ जाने से, छूट जाता है। जो लोग अपनी जड़ता के कारण सृष्टि-तत्त्व के लिए वैसा ही जड़ प्रमाण चाहते हैं, वे 'मुर्गी पहले या अण्डा' हल करके देखें और बतलावें कि क्या हल किया। भारत का एक और सृष्टि-रहस्य है, जिसमें सृष्टि अनादि मानी गयी है। वहाँ पूर्ण प्रलय नहीं, खण्ड-प्रलय स्वीकृत हुआ है। हितोपदेश की तरह पुराणकर्ताओं ने बड़े-बड़े सत्य रूपकों द्वारा समझाये हैं। यहाँ सृष्टि-तत्त्व के लिए वैसे ही रूपक आये हैं। इनके

भीतर से पूर्ण-ज्ञान का भी प्रदर्शन किया गया है। [जो लोग डारविन थीयरी (सिद्धान्त) मानते हैं, वे जब ठीक-ठीक उसके खिलाफ तर्क करेंगे जैसे किये गये हैं, तब देखेंगे—क्या अन्धकार है। पर यहाँ आत्मबोध है। आप समझेंगे तब मान जायेंगे, दूसरे भले ही न मानें। डारविन साहब ने शृंखला तैयार करने में परिश्रम किया है, और शृंखला देखने में अच्छी लगती है।] पहाड़ का रूपक कहा जा चुका है कि शिव-पार्वती हैं। उससे मूषिक महाशय निकले। उनकी आत्मा गणेशजी की आत्मा हुई (गणेश का अर्थ भी शिव किया गया है। पर यहाँ शिव के पुत्र का अर्थ लेकर अर्थ की ब्राह्मीस्थिति दिखलायी जायगी); जितने गण या समूह हैं, आत्मा ही सबका ईश है। गणेशजी का एक नाम विघ्नेश भी है। देखिए, जो गणेश विघ्न-विनाशन हैं, वही विघ्नेश भी हैं। इनके पिता रुद्र भी हैं—अर्थात् भयंकर भी और शिव भी हैं—अर्थात् मंगल करनेवाले भी। यहाँ भी एक पूरे रूह के लिए वे विरोधी गुण मौजूद हैं। Negative (प्रतिकूल) और Positive (अनुकूल)। दोनों एक पूरे आवर्त के लिए जरूरी हैं। यह जड़-विज्ञान से भी सिद्ध हो चुका है। गणेश इसी तरह चूहे के रूप में विघ्नेश हैं, ईति के एक प्रधान कारण—"मूषिकाः शरभाः खगाः।" चूहा एक बड़ा कमजोर जीव है और हाथी स्थल-सृष्टि में सबसे जोरदार—यहाँ भी सविरोध साम्य आत्मा या गणेशजी की वर्णना में है। गणेशजी मूषिक-वाहन हैं, मूषिक-वाहन के मानी हैं—मूषिक या चूहा जिसे चला रहा हो। चूहा अपनी आत्मा के सिवा और किसे चलाता है? एक दूसरा रूपक है, जो हाथी की आत्मा सिद्ध करता है। जब हाथी आत्मा सिद्ध हो जायेगा, तब वह चूहे द्वारा चलने-वाला भी सिद्ध होगा। हाथी को करी कहते हैं। कर का ब्राह्मार्थ सूँड किया गया है। पर ब्रह्म का रूपक 'बिन कर करै' इसमें मिलता है। हाथी सूँड़ ही से आहार का आहरण करता है। ऐसा रूप किसी भी प्राणी में नहीं मिलता। सूँड़ प्रधान होने के कारण उसके चारों पैर (दो हाथ और दो पैर) अप्रधान हैं, बाहर के दो दाँत भी अप्रधान—(गणेशजी के एक दाँत माना गया है, एक परशुराम ने तोड़ दिया था। एक-दाँत, दो-दाँत और मकुने, तीनों प्रकार के हाथी होते हैं—'हाथी एकदन्ता सजवायो'—आल्हा)। यह हाथ-पैर और दाँतों की अप्रधानता उसके जीवत्व की अप्रधानता का रूपक है—क्योंकि जब वह जीव होगा, तब वह ब्रह्म या गणेश न होगा। उसका यह बाह्य निष्क्रिय रूपक उसकी सूँड़ की व्याख्या से और पुष्ट हो जाता है। उसकी सूँड़ मेरुदण्ड का रूपक है, मेरुदण्ड के भीतर तीसरी ज्ञाननाड़ी सुषुम्ना रहती है—**"सुषुम्ना त्रितय-गुणमयी चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपा"**—पुनः **"सुषुम्ना भानुमार्गेण ब्रह्म-द्वारावधि स्थिता"**। उसे, उसी के अंगों से रूपक प्राप्त कर, गणेश या ब्रह्म कहा। शब्द तथा शरीर के भीतर से भी वह ब्रह्मतत्त्व है। 'करी' शब्द ओंकार के विन्दु से निकला है और उसी विन्दु में 'करी' शब्द की परिसमाप्ति भी है, ऐसी ही अपर शब्दों की, और वह विन्दु पूर्ण या ब्रह्म है। शरीर भी इसी तरह ब्रह्म से निकलकर ब्रह्म में अवसान प्राप्त करता है—**"त्वमस्य विस्वस्य परं निधानम्"**—गीता, पुनः—

> **यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।**
> **तथा तवामी नर-लोक-वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥**
>
> **—गीता**

करी महाशय इस प्रकार आत्मा बनाकर विघ्नेश से विघ्न विनाशन हो गये और चूहे की सवारी की, अपने हाथ-पैर चारों को समेटा, सूँड़ की लपेट से (ज्ञान के रूपक द्वारा) खाने लगे। बाहर के दाँत हुए दिखाऊ, निष्क्रियता के रूपक, यह

भी ज्ञान का रूप, जिनसे खाने लगे वे रहे भीतर, ज्ञान के दाँत,—एक और रूपक;—जड़ खाद्य को चबाकर अपनी चेतना में परिणत करने लगे। चूहे की आत्मा भीतर है, (यह एक लिखने की धारा है, यों, **व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः,** ओतप्रोत ब्रह्म है, तब बातचीत करने, रूपक समझाने की गुंजाइश नहीं रहती) इसलिए सूँड़ और खानेवाला भीतरी सुषुम्ना का रूपक हुआ—मध्याज्ञान-नाड़ी सुषुम्ना भीतर ही है। भीतर खाते रहे, रूपक से बाहर सृष्टि में ज्ञान देते रहे (वह करी महाशय), जैसे दाल भीतर छौंकी जाती है, बाहर लोग आवाज सुनते हैं, अर्थात् हाथी का खाना देखकर बाहर के समझदार यह भीतरी भाव समझे। गौरीशंकर के दूसरे लड़के हुए कार्तिकजी (गणेश और कार्तिक वहाँ भी दो हैं, दो लड़के, गणेश ज्ञानी हैं, कार्तिक कर्मी, वेद भी दो भागों में विभक्त हैं, ज्ञान-काण्ड और कर्म-काण्ड। महाभारत में है—अद्भुत नामक अग्नि से ब्रह्मर्षियों की स्त्रियों द्वारा कार्तिकेय पैदा हुए। बड़ी अद्भुत कथा है, महाभारत देखें। पर फिर भी इन्हें ब्रह्म कहा है। यहाँ अग्निदेव शिव होते हैं। देवसेना से कार्तिक का विवाह रूपक है। यह देव-सेनापति हैं ही।) कृत्तिका से कार्तिक शब्द बना है। कृत्तिका की कृत् धातु काटने के अर्थ में आती है। अब कार्तिक का भाव देखिए—वह देवताओं के सेनापति हैं। शब्द अपनी ही मूल धातु से कैसा अर्थ दे रहा है। गणेश और कार्तिक के रूप, ज्ञान और कर्म, संन्यासी और गृही की दृष्टि से, शब्दार्थ ही के भीतर देख लीजिए। अब ज़रा मोर की ओर गौर फर्माइए कि किस स्वभाव का है—कुछ मिलता-जुलता भी है कार्तिकजी के स्वभाव के साथ? साँप को खाता है, जिसे काला नाग कहते हैं—उधर काल को खानेवाला ब्रह्म है। फिर देव सेनापति की खूबसूरती भी मोर में देखिए। विपरीत गुण भी, जैसा चूहे में दिया गया था, मोर में लीजिए। कार्तिक 'कृत्' धातुवाली कृत्तिका से बनकर काटनेवाले हैं, और मयूर 'रु' धातु से बनकर रोनेवाला। मही पर रोता है, इसलिए मयूर है (मही, मह्यां+रु+ड)—**"पद्येन कोऽयं वद रौति शैले?"** कार्तिकजी इस प्रकार मोर की सवारी करनेवाले, देवताओं के सेनापति हैं। सेनापति में शिकारी का भाव है ही। बड़े ऐयाश यानी खुशदिल, दिल्लगीबाज, जैसा कि एक सेनापति को होना चाहिए,—हर वक्त बने-चुने। देवीजी के जो दो लड़के हुए, गणेशजी और कार्तिकेयजी, इनमें गणेशजी के धड़ न था—सिर से नीचेवाला हिस्सा, देह न थी। जो सिर है वह ज्ञान का है, ज्ञान का कोई रूप नहीं—

> **"नाहं मनुष्यो न च देव-यक्षौ, न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः।**
> **न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥"**

—**"तिनके देह न गेह"** ज्ञानी होने के कारण जनक का एक नाम विदेह है, निस्सीम ज्ञान का कोई रूप नहीं हो सकता। एक रूपक गणेशजी हैं। इनका सिर एक बार काटा गया है। गणेशजी की पूजा करनेवाला देश इनकी पौराणिक उक्ति से अच्छी तरह परिचित है। थोड़े में कहता हूँ। पार्वतीजी ने मैल का पुतला बनाया (पार्वती या पराशक्ति ब्रह्ममयी ने मैल से यानी मन से पुतला बनाया—मानस-पुत्र पैदा किया। बाइबिल में भी है कि ईश्वर ने कहा—आदमी बन जाय; आदमी बन गया। भारतीय शास्त्र भी इच्छा से सृष्टि मानते हैं, विराट् में यह इच्छा क्यों होती है, इसका कोई कारण नहीं, शास्त्र यहाँ मौन हैं; यह उत्तर भी है—दूसरा विराट् या ब्रह्म हो तो ब्रह्म की इच्छा बतलाये), यही पुतला गणेशजी हैं। इनको देवीजी ने द्वार-रक्षा का भार दिया कि कोई आने न पावे—(यहाँ जीव सिद्ध होता है; पार्वती प्रकृति हैं, और शिव ब्रह्म; बीच में मानस-पुत्र, जीव, गणेशजी हैं।

जब तक गणेशजी हैं, जब तक गणेशजी का अस्तित्व है, शिव-ब्रह्म पार्वती-प्रकृति से पूर्ण रूप मिल नहीं सकते।) शिवजी आये। गणेशजी ने रोका। शिवजी उन्हें काटकर भीतर गये। पार्वतीजी ने पूछा, तुम कैसे आये? उन्होंने सब किस्सा बतलाया। तब देवीजी रोने लगीं। कहा—तुमने हमारे लड़के को मार डाला। शिवजी ने गण भेजा, कहा जो प्राणी पहले मिले, उसका सिर काट लो। हाथी मिला। हाथी का सिर काटकर लगा दिया गया। गणेशजी उठे। (इस उक्ति का मर्म कुछ और है। प्रकृति ने गणेश को जीवत्व में बाँधा था। प्रकृति ने ही फिर मुक्ति दिलायी। मृत्यु के बाद जो जीवन मिला, यह ज्ञान-जीवन है। यहाँ कपिल-सांख्य और पतंजलि-योग दोनों दर्शन सिद्ध होते हैं। जब गणेशजी एक तीसरे हैं तब योग-दर्शन की तृतीया शक्ति, ईश या जीव की सिद्धि है, जब नहीं,—काट दिये गये तब केवल पुरुष-प्रकृति, सांख्य की सिद्धि। मृत्यु का भय रहते ज्ञान नहीं। नचिकेता भी मृत्यु से मिलता और ज्ञान प्राप्त करता है। सावित्री की कथा में भी है कि वह काल से मिलती हैं और अपने पति का उद्धार करती हैं, अर्थात् सती-प्रकृति सदा अपने ब्रह्म-पति का सहयोग प्राप्त करती है। और-और जो वर सावित्री को मिले हैं, वे माहात्म्य के तौर पर हैं; वे सत्य भी हो सकते हैं और अपर सुन्दर अर्थ भी उनके निकल सकते हैं।) गणेशजी का यही जीवन अमर जीवन, ज्ञान-जीवन है—टेनीसन का "Nothing will die", रवीन्द्रनाथ का—**"ए जगते किछुइ मरे ना'**, शंकराचार्य का—**'न मे मत्युशंका न मे जातिभेदः, पिता नैव मे नैव माता न जन्म'** आदि इसी अमृतत्व के बोधक हैं। यह कटा सिर ही ज्ञानकाण्ड है, अर्थात् है भी और नहीं भी है, यह आस्तिकवाद भी है और नास्तिकवाद भी। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का चरम परिणाम एक ही है। यही ज्ञान-काण्ड है, जिसमें आस्तिक और नास्तिक दोनों वाद हैं। ऐसे हैं गणेशजी, और कार्तिकजी पृथ्वी में मोर के सदृश सुन्दर। बड़े ऐयाश होने पर भी कर्म द्वारा ऐयाश नहीं, क्योंकि आदर्श गृही वीर हैं। उनमें प्रेम-विषय की समझ काफी है। यहाँ गृही भी अपने आदर्शकर्म से च्युत नहीं होता। इसीलिए बड़े-बड़े असुर ऐयाश, जो कर्म से पार्थिव प्रेम में डूब गये हैं, उनके एक-एक तीर की मार से निष्प्राण हो जाते हैं। यह रूपक शक्ति का परिचय देता है (ज्ञान और शक्ति, दोनों का परिणाम अनादि है, दोनों बराबर हैं, रूपकों में आकर अपना-अपना अर्थ प्रकट कर ब्रह्म की तरह निर्लिप्त)।

**मूल :** "यह विनाश देखकर देवीजी का दूसरा दल माता के पास पहुँचा, कहा—माता, आपका पुत्र—वह शेर या कार्तिक सिंहजी हम लोगों को बहुत सताते हैं, मारते हैं, बढ़ने नहीं देते। माता को सभी पुत्र प्यारे हैं। उन्होंने उपाय बतला दिया। ज्ञान-काण्ड से एक ऋषि-शाखा तोड़कर कहा, इसे गाड़ो, वत्स! इसे सींचने की जरूरत नहीं, यह आप पनपेगा, इतना बड़ा होगा। यही है प्रयाग का अक्षय-वट। खोजो, पता नहीं। पूछो, लोग कहेंगे, है। देखो; कहेंगे, किले के भीतर। यह किला किसका बनाया हुआ है? अकबर का। नामार्थ? परमेश्वर। कवि ने भी तो कहा है, परमेश्वरो वा जगदीश्वरो वा। इस तीसरे ज्ञान-काण्ड का बाहर भी प्रयाग में रूपक है। वह है सरस्वती-सरिता। पूछो कहाँ? कहेंगे, पहले थी, अब नहीं। अजी, गंगा और यमुना के बीच में क्या रही? वही, है-है, नहीं-नहीं। यह क्या है? सरस्वती। हेमा क्या है? हेम या गौर-वर्ण गंगा यानी बड़े भाई साहिबा हेमचन्द्र। इला क्या है? श्यामा यमुना यानी छोटे भाई साहिबा इलाचन्द्र। बीच में क्या है? ज्ञान-राशि सरस्वती, जो न थी और होगी न होगी ऐसी। जैसे दिल्ली

का भाड़ झोंकना, ज्ञान नहीं, ज्ञान है। है-है और नहीं-नहीं। कहिए जनाब, हम लोग न छायावाद जानते हैं, न वमनवाद जानते हैं। एक दूसरा रूप कहता है, ऐसा नहीं, भैंसा जैसे। उसकी दो साँसें हों, एक निश्वास और दूसरा प्रश्वास, दोनों के बीच में न 'धड़ास' और न 'फड़ास' अर्थात् न कविन्यास और न उपन्यास; बस गतश्वास—गतश्वास, मौत। यह मौत गधा भी जानता है, इसीलिए कांपता है यानी मानता है। और सुनिएगा? एक है इड़ा श्यामा पित्त, दूसरी पिंगला गोरी वात या वात दो नाड़ियाँ; तीसरे महाराज जिनकी ये स्त्रियाँ हैं, हैं कफ। उधर दोनों फेफड़े गत, इधर सुषुम्ना—न हत, न सत।"

**टीका :** यहाँ एक ही आदिशक्ति के दो भाव, दो पुत्र, आये—असुर और सुर। शास्त्रानुसार असुर-सम्प्रदाय बड़े भाई और सुर-सम्प्रदाय छोटे भाई हैं। देखिए, यहाँ भी दो हैं। देवता बुद्धि से तेज थे, पर बल से हीन; क्योंकि छोटे थे। दिति दैत्यों, असुरों की माता हैं, अदिति देवताओं की। दोनों एक ही कश्यप की स्त्रियाँ हैं। दिति बड़ी हैं, अदिति छोटी। कश्यप का अर्थ कहा जा चुका है कि वह ब्रह्म है। दिति और अदिति, अविद्या और विद्या। कहा जाता है—

**उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।**

इसलिए दैत्य या असुर देवताओं से हारने लगे। तब वे महाशक्ति के पास गये, कहा—माता, आपका पुत्र समर-कुशल सिंह-विक्रम कार्तिक हम लोगों से जबरदस्त पड़ता है हमें बढ़ने नहीं देता। माता को पुत्र सभी प्यारे हैं। उन्होंने उपाय बतला दिया। वह जानती थीं, देवता ज्ञान-बल से बली हैं। उन्होंने ज्ञान-काण्ड से एक ऋषिशाखा तोड़कर कहा—लो, इसे रक्खो, इसे सींचने की जरूरत नहीं, यह आप देवताओं के इतना बड़ा होगा। यही ज्ञान-रूप शुक्राचार्य दैत्यों को मिलते हैं, जो मृत-संजीवनी मन्त्र-शक्ति से युक्त हैं। (प्रयाग का अक्षय-वट कहकर, एक प्रवाह फेरकर, आगे दूसरे वाक्य-बन्ध में इसका मतलब मैंने खुलासा किया है। पर अक्षयवट के मानी हैं—जिस वट का क्षय न हो—जो शुक्र संजीवनी-शक्ति से युक्त है। प्रयाग का अर्थ प्रकृष्ट याग यज्ञ है, इसकी भी परिणति वही होती है। शुक्र पर एक मन्त्र है—

**अग्निर्वृत्राणि जंघनद् द्रविणस्युर्विपन्यया।**
**समिद्धः शुक्र आहुतः॥" ऋ. ६। १६। ३४**

**अर्थ है**—उद्यम या स्तुति से उपासकों के द्रव्य का इच्छुक, कान्तिमान बुलाया हुआ अग्निशुक्र दुःख-विघ्नों का नाश करे। अग्नि का अर्थ नेता है—

**अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति**

**—यास्क।**

दुःखों को दूर करने को नेता शुक्र का आह्वान स्पष्ट है। प्रयाग के अक्षयवट का कोई पता नहीं जिस रूप में लोग अक्षयवट खोजते हैं दर्शन करने के लिए, वैसा कोई अक्षयवट जिसका कभी नाश न हो, नहीं हो सकता। पर लोग कहते हैं, देखो, किले के भीतर है। किले में अक्षयवट का भाव मिल जाता है। जैसा कहा गया है, सुर और असुर प्रकृति का एकार्थ मेल यहाँ भी है—प्रयाग या अक्षयवट, इन शब्दों को देवताओं की सृष्टि कहेंगे और किले के बनानेवाले बादशाह अकबर के 'अकबर' शब्द को असुरों की सृष्टि। पर दोनों का अर्थ एक ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है—"दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा"। जगदीश्वर का अर्थ और स्पष्ट करने के लिए 'परमेश्वरो वा जगदीश्वरो वा' मैंने लिखा है। इसके बाद एक तीसरा रूपक ज्ञानकाण्ड का है। वह है सरस्वती नदी। पूछने पर साधारण-

जन कहते हैं पहले थी, अब लुप्त हो गयी है। पर ऐसा नहीं। गंगा और यमुना के संगमस्थल को सरस्वती कहते हैं। यहाँ भी दो का संगम है, और अदृश्य तीसरी ब्रह्म-स्वरूपा है—

**सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासोदिवमुत्पतन्ति।**
**ये वै तन्वं विसृजंति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।।**

अर्थात् जहाँ सफेद और काले जलवाली दो नदियाँ मिली हों, वहाँ जो नहाते हैं वे दिव्यरूप पाते हैं और जो धीर-जन वहाँ अपना शरीर छोड़ देते हैं, वे अमृतत्व कोप्राप्त करते हैं। इसका बाहरी अर्थ लेकर लोग प्रयाग में स्नान करते हैं। भीतरी अर्थ और मनोहर है—

**"इडा गंगेति विज्ञेया पिंगला यमुना नदी।**
**मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादिसमस्तथा।।"**

**पुनः**—'सुषुम्ना च तृतीयका' द्वारा सुषुम्ना सरस्वती कही गयी है, जहाँ इड़ा-गंगा और पिंगला-यमुना मिलती हैं। यहीं स्नान करने पर दिव्यरूप मिलता है और शरीर छोड़ देने से ज्ञानमय कोष में स्थिति होती है—अमृतत्व प्राप्त होता है। Where rolls the stream of knowledge, truth and bliss **जेथा सत्य, ज्ञान, आनन्द, त्रिवेणी, साधु जाय स्नान करे धन्य मानी।**—(स्वामी विवेकानन्द) यह गंगा और यमुना के बीच में सरस्वती नदी है भी, और है भी नहीं। यहाँ भी वही अस्ति और नास्ति का रूपक है। मैंने वर्ण के अनुसार हेमचन्द्र-जी और इलाचन्द्रजी पर लिखा है। पर कहीं आक्षेप से युक्त एक भी शब्द नहीं आया। सिर्फ गौरवर्णा गंगा (गम्+गन्) यानी डॉक्टर हेमचन्द्रजी (बड़े भाई साहिबा और छोटे भाई साहिबा मधुर हास्य में, मैंने 'कला के विरह में जोशीबन्धु'-शीर्षक उत्तर में उन्हें उनके विचारों के अनुसार लिखा था), इला है श्यामा यमुना (यम्+उनन्+टाप्) इलाचन्द्रजी। दोनों के बीच में है ज्ञानराशि सरस्वती जो न थी (व्यंग्य में) और अब होगी जैसी, ऐसी फिर न होगी (यह व्यंग्य इसलिए है कि ऐसा ही यहाँ होता रहा है, यहाँवाले शास्त्रकार और शास्त्र, ज्ञान के सिवा दूसरी बात नहीं करते, ज्ञान की नवीनता हो नहीं सकती।) इलाचन्द्रजी के नाम तथा वर्ण से मिलने तथा छोटी होने के कारण मैंने 'इला' यमुना के अर्थ में लिखा। 'इड़ा गंगेति विज्ञेया' लिखा गया है। पर मैंने अपना मतलब निकालने पर भी, एक दूसरी युक्ति से शास्त्रानुकूल लिखा है—

**"सुषुम्णः सूर्य-रश्मिः,'** पहले भी लिखा—**'सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्र-सूर्याग्निरूपा'**, इस तरह सुषुम्ना की कोई दो रश्मियाँ गंगा और यमुना कही जा सकती हैं; पुनः सौर-जगत् में गंगा भी सूर्य-कन्या कही जा सकती हैं, अपितु नदीमात्र को गंगा कहने का प्रचलन है—धात्वर्थ से तो मजे में कहा जा सकता है—चित्रकूट तथा कर्वी में पयस्विनी को लोग गंगा कहते हैं—वे यहाँ गंगा नहाते हैं, डॉक्टर हेमचन्द्रजी बड़े, विद्वान् तथा गोरे होने के कारण गंगा की उपयोगिता प्राप्त करते हैं। पुनः सरस्वती का कोई मुख न रहने के कारण वह सर्वतोमुखी है, संगम से पश्चिम की ओर मुख करने पर इड़ा गंगा हो जायगी और पिंगला यमुना—जैसा कहा गया है। दिल्ली का भाड़ झोंकना, एक और रूपक है, भाड़ झोंकना एक काम है, पर अर्थ मुहावरे का है—कुछ न किया—'बारह बरस दिल्ली रहे, पर भाड़ ही झोंका किये'—यहाँ भी 'है' और 'नहीं' का समन्वय मिलता है। डॉक्टर जोशी से कहा गया है, हम लोग छायावाद भी जानते हैं और दूसरों के उद्गार लेकर बातें बघारना भी। एक दूसरा रूपक फिर पेश किया गया वह भैंसा है। भैंसा यमराज

की सवारी है। भैंसे में यम का कराल रूप प्रत्यक्ष कर लीजिए, उसकी जोर-जोर चलती हुई दोनों साँसें—निश्वास और प्रश्वास, जीवन के नियमन के बहुत ही स्पष्ट, व्यक्त प्रमाण हैं, पर दोनों के बीच में तड़फड़ाहट ('धड़ास-फड़ास' बंगला के शब्द हैं, जोशीजी जानते हैं) नहीं, न काव्य है, न उपन्यास, बस साँस निकल जाती, मौत रह जाती है; यही मौत काल या ईश्वर है, "कालात्मक परमेश्वर राम"। इस मौत को गधा भी (अथवा कोई जीव, अज्ञान होने पर भी) जानता है, इसलिए काँपता है (काँपने में 'न' का चित्र है, पर अर्थ 'हाँ' है—) यानी मानता है—मृत्यु से सब जीव डरते हैं, यानी उसे मानते हैं। और भी, एक इड़ा (इल् चलाने के अर्थ में, +क+टाप्) श्यामा पित्तवाली नाड़ी है, दूसरी पिंगला, (पिजि रंग के अर्थ में, +अलच्+टाप्) गोरी बातवाली नाड़ी है, तीसरे महाराज जिनकी ये स्त्रियाँ हैं, हैं कफ (क+फल्+ड=जल को फलित करने के अर्थ में) इड़ा और पिंगला में यहाँ मैंने इड़ा को बड़ी माना है। पर 'वात पित्त कफ जान' के क्रम से और हाथ की नाड़ी-परीक्षा में बात पहले है। यहाँ बीच की उँगली की तरह पित्तवाली नाड़ी को मैं बड़ी मानता हूँ। और भी कारण हैं। स्थल-संकोच के कारण नहीं लिखे। जो विद्वान् चिकित्सा के मूलतत्त्व तक पहुँचे हुए हैं, वे समझेंगे। कफ से दोनों फेफड़े नष्ट होते हैं, इधर सुषुम्ना (सुषु+म्ना+ड+टाप्+उत्तम-से-उत्तम अभ्यास के अर्थ में) है, जहाँ न हत है, न सत् अर्थात् अव्यक्त अवस्था। वात, पित्त, कफ और इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के रूपकों में भी वही बात है। कफ और सुषुम्ना सत्य के रूप में हैं, वात और पित्त, इड़ा और पिंगला, सविरोध (Negative and Positive) दो धाराएँ, दो सृष्टियाँ हैं जैसा कहा जा रहा है।

**मूल :** "अस्तु, देवीजी यानी सेठजी की बीवीजी ने इन इड़ा और पिंगला के पति, साक्षात् गंगाधर महाराज के दर्शन किये; इसी संगम में, ऐन मकरसंक्रान्ति के मेले में। फिर सिंहरूपी दिया एक वर—वे हुए शुक्राचार्य अमर। असुरों ने सोचा, माता बड़ी प्रसन्न हुईं। पर यह नहीं सोचा कि इसके एक ही आँख है। यह भी वैसा ही है, जैसा देवताओं का बृहस्पति। युद्ध के समय देवगुरु पढ़ने लगे—देवता-शत्रु नष्ट हों। असुर-गुरु पढ़ने लगे—देवता-शत्रु नष्ट हों। देवताओं ने अर्थ लगाया, देवताओं के शत्रु नष्ट हों; असुरों ने अर्थ लगाया, देवता-रूप शत्रु नष्ट हों। दोनों प्रसन्न। पर गुरु दोनों एक ही रोशनी में मिले, जैसे अकबर और अक्षयवट खिले हैं।"

**टीका :** देवीजी ने, सेठजी की बीवीजी ने (भगवती ने, ऐश्वर्य-शक्ति ने) दोनों नाड़ियों—परा और अपरा दोनों, विद्या और अविद्या के पति गंगाधर महाराज (सत्य-रूप शिवजी) के दर्शन किये, इसी संगम में (इसी सत्य-स्थल में), ऐन मकर ('म मुख के अर्थ में'+कृ+अच्) संक्रान्ति (सम्+क्रम+क्तिन्) के मेले में। (सेठजी की बीवी, गंगाधर, दर्शन, मकरसंक्रान्ति, इन सबका अर्थ लगाकर या लगवाकर देखिए, एक ही अर्थ निकलता है या नहीं, साथ-साथ कथा भी चल रही है।) फिर तेजस्वी दिया एक वर—वे ही शुक्राचार्य अमर हैं (पूर्वोद्धृत शुक्र-वाला मन्त्र यहाँ सिद्ध हुआ, देखिए कि शुक्र को बुलाने की क्या आवश्यकता हुई, उस मन्त्रार्थ में है।) इस वर से असुरों ने सोचा कि माता बहुत खुश हुईं (अदिति-वाले मन्त्र से माता-पिता एक हैं, इसलिए गंगाधर यहाँ स्त्रीलिंग में, माता के रूप में आये।) पर असुरों ने यह न सोचा कि इसके एक ही, प्रज्ञावाली, आँख है। यह भी वैसा ही है जैसा देवताओं का बृहस्पति (तीसरा नेत्र ज्ञान-नेत्र है। शुक्र की

एक आँख के रूपक में, गणेश के एक दाँत की तरह, ज्ञान का निर्देश है।) युद्ध के समय देव-गुरु पढ़ने लगे, देवता-शत्रु नष्ट हों। असुर-गुरु भी यही मन्त्र पढ़ने लगे। एक ही मन्त्र है। अर्थ अपने-अपने फायदे के अनुसार निकाले गये। मूल में भाव स्पष्ट है। इसीलिए कहा है—**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**। गुरु दोनों एक ही ज्ञान में युक्त हैं, अकबर और अक्षयवट के अर्थ की तरह।

**मूल :** "एक और उपमान हैं हमारे मिश्रजी, जो अनेक स्त्रियों के एक मियाँ—वही कश्यप कश्यप। न चियाँ और न रियाँ। पर कुल सृष्टि के एक अक्षयवट, अनेक जैसे डाल से माल, माल से डाल फिर डाल डाल माल माल; माल माल डाल डाल। यह मिश्रजी हैं हमारे गुरुजी और हमारे पुरुजी यानी चन्दू सेठ के नाती जगत सेठ; इला में डालते हैं माल और पिंगला में डालते हैं माल। जगत सेठजी ने पिंगला गंगा के गर्भ में हाथ डालकर तोड़ा निकाला था और कृष्णचन्द्रजी ने यमुना से गेंद निकाला था। दोनों तरफ समझ में नागफाँस। यानी बालगंगाधर तिलक।"

**टीका :** ब्रह्म के एक उपमान कश्यप हैं, जो अनेक स्त्रियों से मिलने के कारण मिश्रजी हुए (कश्यप का अर्थ लिखा जा चुका है कि ब्रह्म है। वेदों में अनेक बार 'कश्यप' शब्द आया है। अर्थ भी अनेक किये गये हैं। पर सभी अर्थों की रहस्यमयी उच्च व्याख्या ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करती है।) **"षट् त्वां पृच्छाम ऋषयः कश्यपे मे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च। विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो विधेहि यतिधा सखिभ्यः॥ अथर्ववेद ८।९।७"**

छः ऋषि कश्यप से, जो मिले हैं और मिलाने के योग्य हैं, ब्रह्म के पिता विराज के समस्त रूप पूछते हैं। कश्यप चूँकि द्रष्टा हैं, इसीलिए वह इतने बड़े ज्ञाता भी हैं। पुनः सृष्टि-प्रकरण में काल से कश्यप की सृष्टि कही गयी है—**"कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयंभूः कश्यप कलात् तपः कालादजायत॥ अथर्ववेद १९।५।३।१०"**। कश्यप इस प्रकार अजन्मा होकर भी जन्म पाते हैं। **"सर्वा प्रजाः कश्यपाः"** कहकर कश्यप को सृष्टि का जनक कहा; और भी अनेक मन्त्र मेरे पास कश्यप पर हैं, पर विस्तार होने के भय से मैं उन्हें नहीं दे रहा। पुराणों में एक-एक या अनेक मन्त्रों के अर्थ-साम्य पर कथाओं की सृष्टि की गयी है। (कहीं-कहीं स्वातन्त्र्य भी पुराणकारों ने लिया है। पर अर्थ का एक ही परिणाम दिखलाया है।) कश्यप न रियाँ के पेड़ हैं, न चियाँ उसके बीज; यानी वह न मुर्गी हैं, न अण्डा, यहीं असीम सत्ता के आश्रय से मुर्गी और अण्डेवाला सवाल हल होता है; स्पष्ट करने पर अस्पष्ट भी साथ-साथ रहता है, इसलिए वह न तो स्पष्ट हैं, न अस्पष्ट। कुल सृष्टि के एक अक्षयवट हैं, फिर अनेक हुए। जैसे डाल गाड़ दी जाय, फिर उससे पेड़ हों (ऐसे पेड़ हैं जो डाल से होते हैं) फिर पेड़ से डाल, फिर डाल से पेड़। अक्षयवट इसी भाव का रूप है। यही हमारे मिश्रजी हमारे गुरुजी हैं—"स पूर्वेषामपि गुरुः", और हमारे पुरुजी (पृ पालन के अर्थ में, अधिक के अर्थ में+कु)। पुरु सूर्यवंश के छठे महाराज हैं, इनकी कथा आगे दी गयी है। यही चन्दू सेठ (खल्वाट, विकच, जिसके बाल न हों, अर्थात् स्याही-सफेदी से अलग, यानी ब्रह्म। दर्शन में चुटकी आजकल चलती है, दर्शन को मधुर करने के उद्देश से, मैंने भी इस तरह की दिल्लगी की है।) के नाती जगत सेठ (संसार के ईश्वर हैं)। यह इला और पिंगला दोनों में ऐश्वर्य भरते हैं। जगत सेठ ने (यह बंगाल में नव्वाब सिराजुद्दौला के समय हो गये हैं इनके लिए यह प्रसिद्ध बंगाल में है कि) पिंगला-गंगा के गर्भ में हाथ डालकर तोड़ा निकाला था, (सत्य यह है कि जो जगत सेठ विश्वेश हैं, उसका वैभव कण-कण

में व्याप्त है; जब कि सोना-चाँदी हीरे-मोती आदि विशेष-विशेष उपादानों से बनते हैं, और कोई भी वस्तु भिन्न रूप में, भिन्न उत्पादन में बदल सकती है, तब किसी भी स्थान की विभूति को हम उन सब ऐश्वर्य-गुणों से युक्त कह सकते हैं—**"जो चेतन को जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य।।" गो० तुलसीदास**) और कृष्णचन्द्रजी ने यमुना से गेंद निकाला था (कृष्ण अपने नामार्थ से ब्रह्म हैं। कृष्णावतार की घटनाएँ भी साद्यन्त रूपक हैं। गेंद और कालीय-दमन भी ऐसा ही एक रूपक है। यहाँ बहुत-सी बातें मैं छोड़े देता हूँ; क्योंकि जगह बहुत घिर जायगी। केवल कालीय दमनवाली बात कहता हूँ। जब खेलने लगे तब गेंद उनके ध्यान का विषय, ब्रह्म का रूपक गोल, कन्दुक है। कृष्ण उसे यमुना में फेंक देते हैं। यमुना ज्ञानवाली नाड़ी, सरस्वती नहीं। उसमें नाग रहता है। नाग मन है। मन ही से जीव तत्त्व है। मन मध्या सरस्वती में नहीं रहता—वहाँ मर जाता है; यही ब्रह्मरूप है। इसलिए जब तक भोग है, तब तक मन भगा करता है, कभी किसी नाड़ी में, कभी किसी नाड़ी में, कभी किसी कोठे में, कभी कहीं। यही जीव का भटकना है। इन्द्रियाँ मन की स्त्रियाँ हैं। वही नागिनियाँ हैं। ब्रह्मफल मन के पास जाता है तो वह पाँचभौतिक संसार में उस अमृत का बुरे प्रकार से भोग करता—उसका कदर्थ करता है। पुनः काल या मन को वशीभूत करनेवाले ब्रह्मरूप कृष्ण अपना भी महत्त्व प्रकट करते हैं। सूरदासजी ने इस रहस्यवाद को कृष्णजी की तारीफ से अव्यक्त सत्ता तक कहीं-कहीं पहुँचाया है—तुलसीदासजी की तरह जगह-जगह रामजी के माहात्म्य वर्णन में जैसी कृष्णजी की तारीफ की है—**"फन प्रति प्रति निर्तत नँद नन्दन। जल भीतर जुगजाम रहे कहुँ मिट्यो नहीं तनु-चन्दन।"** मन या काल को बाँधनेवाले ब्रह्मरूप कृष्ण मृत्यु से न डरकर यमुना में कदम्ब पर चढ़कर कूदते हैं—भयप्रद दूसरी नाड़ी में चले जाते हैं। वह आने-जाने का रास्ता जानते हैं। सर्परूप द्रुत चलनेवाले मन को, काल-रूप समय-बन्धन में रहनेवाले अहंकार-ग्रस्त नाग को पकड़ते हैं। इन्द्रियों का भोग ही स्वभाव है। नागिनियाँ पति की रक्षा के लिए इसी कारण प्रार्थना करती हैं। पर जिन मन को ब्रह्मतत्त्व पकड़ चुका है, वह नहीं बच सकता, वह अवश्य ब्रह्मतत्त्व में नाश को प्राप्त होगा। बच तभी सकता है, जब वह भेदात्मिका भक्ति का आश्रय ग्रहण करे। नाग, मन या काल को भी तभी छुटकारा मिलता है। जब नाग कृष्ण को लपेट लेता है तब कृष्ण अपना शरीर-विस्तार करते हैं। तब वह व्याकुल होकर शरण ग्रहण करता है। सीमा या समय या मन कभी असीम की नाप नहीं कर सकता; जब करेगा, वह हारेगा, यहाँ यही रूपक है। उसे वश कर कृष्णजी उसके फनों पर नृत्य करते हुए बाहर निकलते हैं। मन पर, अहंकार पर, काल पर आत्मा की विजय होती है। लोग इसका यथार्थ अर्थ नहीं समझते, रूपक में ही रह जाते हैं। इसलिए कहा—) दोनों तरफ, जगत सेठ और कृष्णचन्द्र की ओर से, लोगों की समझ में नागफाँस है। नागफाँस अर्थात् बालगंगा को धारण करनेवाले तिलकरूप महादेव—वह हिमालय; तिलक-रूप से शिव तथा हिमालय-शृंग को मिलाइए। (जिक्र पहले हिमालय का हो चुका है।) इस भ्रम अहंकार में भी शिव ही हैं—**"अहंकार शिव, बुद्धि अज, मन हरिरूप महान"**—**"या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता"**, इस तरह सब ओर से ब्रह्मवाद है। (चतुर्वेदी बनारसीदासजी ने जो लिखा है कि लोकमान्य तिलक का नाम इस ऊट-पटाँग ढंग से क्यों लिखा गया है, इसके लिए बुद्धि से काम लेकर जरा देखें कि यहाँ लोकमान्य तिलक के लिए कहीं गुंजाइश है भी, या मैंने उन पर लिख ही दिया।)

**मूल :** "फिर इधर बालगंगाधर तिलक के नेतारूप हुए मोहनदास यानी कृष्ण अवतार, उधर बंगाल के जगत सेठ के नाती हुए कबूतार—कबूतार, कवितार—कवितार। फिर मनाया गया सप्ताह इधर और मनाया जा रहा है उधर। फिर आप जिसे इधर से कहते हैं उधर, वे उसे उधर से कहते हैं इधर। पर हम हैं धरकु—कु उधर, यानी कुमानी पृथ्वी और धर यानी धड़—पृथ्वी का धड़ क्या हुआ पहाड़ न इधर और न उधर, यानी हिमालय अर्थात् शिव और पार्वती।

**"केबा हे मानाय एबे हे मानाय ?"**

**टीका :** फिर इधर बालगंगा को धारण करनेवाले तिलकरूप महादेवजी के नेता, दासों को मोह लेनेवाले अवतार कृष्णजी हुए, अवतीर्ण होनेवाले (अवतारवाद देखने से मालूम होता है कि ब्रह्म रूप-धारण कर किस प्रकार इस पाँच भौतिक संसार में **"सम्भवामि युगे-युगे"** की सार्थकता करते हैं—अवतीर्ण होते हैं), उधर बंगालवाले जगत सेठजी थे, जिनका अर्थ ब्रह्म किया जा चुका है, उन्हीं के नाती रामचन्द्रजी, कवितार (कवि वाल्मीकि को तार देनेवाले) और कवितार (कविता के कारण; कविता-शब्द में छठी विभक्ति लगने पर, एकवचन में बंगला में 'कवितार' होता है) हुए जो राजकुमार होने के कारण पहले खूब बन-सँवरकर रहते थे ('कबूतार' उच्चारण बंगला में 'कबूतर' का करेंगे। इसी अर्थ में "लक्का पायरा" बने-ठने बाबू के लिए प्रयुक्त होता है। मैंने एक अर्थ यहाँ और रक्खा है—"कभू तार"—कभी उसके—प्रकृति के, पुरुष होकर प्रकृति के बन्धन में कभी-कमी आनेवाले। मुलायम कर लेने के लिए वर्गीय दूसरे और चौथे वर्ण का पहले तथा तीसरे वर्ण के अनुसार उच्चारण बोलचाल की बंगला में करते हैं, इस तरह 'कभू' 'कबू' हो सकता है; जैसे याइतेछि=याच्छि=याञ्चि प्रचलित हैं)। पुनः इधर भागवत ग्रन्थ के पाठ से कृष्णजी का सप्ताह मनाया गया, और उधर सात काण्ड रामायण द्वारा रामजी का मनाया जा रहा है। फिर आप उँगली उठाकर जिसे इधर से कहते हैं—उधर; दूसरे लोग उसी दिशा को उधर से कहते हैं—इधर। इस तरह 'इधर' या 'उधर' कुछ नहीं रह जाता, एक बिन्दु में ही सबकुछ समाप्त होता है। (यह विचार पूर्व और पश्चिम के धर्म और जड़ विज्ञानवाले ग्रन्थों में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, आदि के विवेचन में, विस्तारपूर्वक प्राप्त होगा।) इसीलिए कहा है, हम हैं कुधर, पृथ्वी को धारण करनेवाले पहाड़, अचल—जो न इधर होता है, न उधर—अर्थात् हिमालय या शिव और पार्वती—

**"अब कहो कौन ऐसी स्थिति में मना पायेगा ?"**

**मूल :** "देवताओं के यहाँ नाचनेवालियाँ बहुत थीं। वे सिर्फ नाचती थोड़े ही थीं ? बार-बार गयीं कुमार के पास। उन्होंने कहा, सुनो, मैं मार थोड़े ही हूँ। मैं हूँ कुमार, कार्तिक। देवीजी ने कहा, अरे आर्तिक, मेरे एक जन्म के शरीर की भस्म है, यह भस्म है अनंग, अप्सराओं से कहा, जाओ, इसको बनाओ स्वर्ण-वंग। 'सोनार बांगला' और इधर वंगभस्म दवा।"

**टीका :** देवताओं के स्वर्ग में नर्तकियाँ बहुत-सी थीं। वे केवल नाचती न थीं। बार-बार कुमार कार्तिकेय के पास गयीं, तो उन्होंने कहा, सुनो, मैं मार कामदेव नहीं हूँ, मैं हूँ कुमार कार्तिक। अन्तर्यामिनी कार्तिकेय की माता देवीजी ने यह देख-कर पुत्र को डाँटकर कहा, "अरे आर्त ! अभी मेरे एक जन्म के शरीर की भस्म है, वह अंगहीन होकर अनंग हो गयी है (उसी से अंग तैयार होते हैं)"; अतः अप्सराओं से कहा, जाओ, इससे स्वर्ण-वंग बनाओ। इसी से सोने का, सुखमय बंगाल अप्सराओं के लिए बन गया (यहाँ बंगाल के काम-साहित्य की ओर रहस्य इंगित है; वहाँ

अप्सराएँ भारत के अपर प्रान्तों से ही नहीं, संसार के किसी भी देश से संख्या-क्रम से अधिक हैं)। यहाँ, उत्तर-भारत में वह वंगभस्म दवा बन गयी। (उधर देवीजी हैं और उनके शरीर की भस्म, इधर सुवर्ण बंगाल और वंगभस्म दवा)।

**मूल** : "अब हे कपि, कहो, असुर बड़ा है, या सुर ? माता कहती है, मेरे दोनों लड़के हैं, दोनों बराबर दोनों वर्र वर्र, टर्र टर्र। कहो, मेढक, कौन मेढक है, हम या तुम ?"

**टीका** : अब हे कपि, कहो, असुर और सुर में कौन बड़ा है ? दोनों की वह एक ही माता कहती हैं, दोनों मेरे लड़के हैं, दोनों बराबर हैं, फिर भी अपने-अपने बड़प्पन के लिए दोनों लड़ते-झगड़ते रहते हैं—दोनों बर्र-बर्र टर्र-टर्र किया करते हैं। मेढक, अब कहो, मेढक कौन है—हम या तुम ?

**मूल** : "हम कुम्भकर्ण हैं, सोते हैं तब नासिका-गर्जन द्वारा मेघनाद बनते हैं, दसों दिशाएँ दस सिर बन जाती हैं, और सुप्ति रहती है अमर। जगते हैं तब दसों दिशाएँ देखते हैं, सैकड़ों कानों के बड़े-बड़े कान और अभ्र-गर्जन में मेघनाद और दृष्टि होती है—सरस्वती—सा रसवती।"

**टीका** : हम कुम्भकर्ण हैं (बड़े कानवाले कुम्भकर्ण; कुम्भकर्ण की प्रकृति भी हममें है; किसी भी एक व्यष्टि में समष्टिरूप से प्रकृति है; मैं इस भाव की ही अब तक व्याख्या करता आया हूँ; और भी व्यापक रूप से देखना जिन्हें अभीप्सित हो, वे अन्यत्र, शास्त्रों में अवलोकन करें), हम सोते हैं तब नासिका-गर्जन द्वारा मेघनाद बनते हैं (थोड़ी-सी आवाज बहुत बड़ी आवाज हो सकती है। जिस तरह छोटी-सी वस्तु बहुत बड़ी दिख सकती है। दर्शन, श्रवण आदि के लिए जो शक्ति मनुष्य को दी गयी है, वही दर्शन और श्रवण का माध्यम नहीं।), दसों दिशाएँ दस सिर बन जाती हैं और सुप्ति अमर रहती है, अर्थात् हम कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावण के रूपक सोने पर बन जाते हैं, सुप्ति न मरनेवाली दिव्यता रहती है। जगने पर भी वही रूपक रहता है, दसों दिशाएँ देखते हैं, वे सिर हैं, सैकड़ों कानों के बड़े-बड़े कान हैं (क्योंकि हम उन्हें देखते हैं, वे हमसे युक्त हैं) और बादलों की गर्जना में मेघनाद बनते हैं (बादलों से भी हम युक्त हैं, अन्यथा उनकी गर्जना हम सुन नहीं सकते) और दृष्टि होती है सरस्वती—वह ज्ञान-रस देनेवाली; उसी के कारण यह सब दर्शन जाग्रत अवस्था में सम्भव है। यह दृष्टि वही अस्ति और नास्ति है, वही दर्शन जिसमें सबकुछ है।

**मूल** : **'फिर तनय ययातिहिं यौवन दयऊ'**। यह कि महाराज ययाति यानी सूर्यवंश के एक राजा ने दो स्त्रियाँ ब्याहीं। एक है देवयानी, महर्षि शुक्राचार्य की लड़की, जिसकी देव-योनि हर ले गये बृहस्पति देव के साहबजादे, रह गयी मनुष्य योनि। दूसरी है शर्मिष्ठा, असुरराज वृषपर्वा की पुत्री। दोनों आपस में लड़ीं। असुरराज ने गुरुकन्या को खुश करने के लिए अपनी कन्या को दासी बना दिया। दोनों का विवाह हुआ, लड़के हुए। पर ययाति की तृष्णा न मिटी। उन्होंने कहा, यौवन चाहिए। किसी लड़के ने न दिया। तब शर्मिष्ठा के लड़के पुरु ने अपनी जवानी दे दी।

"अब कहिए, असुर कौन है ? अतः भारत के हे सुरासुर, इसीलिए मैंने रहस्यवाद अपनाया है। धर्म, धृति या श्रद्धा की यही शिक्षा है।"

**टीका** : फिर पुत्र ने ययाति को यौवन दिया, ऐसा अपनी एक चौपाई में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं। कथा इस प्रकार है—"सूर्यवंश में 'ययाति नामक एक राजा हो गये हैं। उन्होंने दो स्त्रियाँ ब्याहीं। एक है देवयानी, महर्षि

शुक्राचार्य की कन्या। उसकी देवयोनि बृहस्पति देव के पुत्र कच ले गये; क्योंकि गुरु की कन्या होकर भाई को उसने प्यार किया। सच्चा प्यार इस प्रकार कच के साथ गया। देवयानी का देवत्व चला गया। मनुष्यत्व रहा। देवत्व को देवताओं के पास जाना ही था। ययाति की दूसरी स्त्री शर्मिष्ठा है। यह असुरों के राजा वृष-पर्वा की पुत्री थी। देवयानी और शर्मिष्ठा दोनों एक बार लड़ीं। देवयानी गुरु की कन्या थी। वृक्षपर्वा को सुनकर भय हुआ कि गुरु कहीं नाराज हो गये, तो उनके जाने से असुरों को मुर्दा से जिन्दा कर देनेवाली मृत-संजीवनी मन्त्र-शक्ति भी उनके साथ चली जायगी। अत: गुरु-पुत्री को खुश करने के लिए उसने अपनी कन्या को दासी रूप से उनके पास भेज दिया। अपने पितृकुल की रक्षा के लिए शर्मिष्ठा राजी हो गयी (जो पश्चिम के कायल हैं, वे मूल महाभारत में शर्मिष्ठा का कथोपकथन पढ़कर देखें, बिलकुल शिक्षित पश्चिमी महिला के ढंग हैं या नहीं, वह कितनी उदार अपनी जाति के लिए है)। दोनों का विवाह हुआ, लड़के हुए (मैं शर्मिष्ठा के विवाह में 'वह' धातु का अर्थ मात्र रखता हूँ)। वृद्ध होने पर भी महाराज ययाति कामार्त ही रहे, उनकी तृष्णा न मिटी। उन्होंने पुत्रों से यौवन की प्रार्थना की। पर किसी लड़के ने भी न दिया। तब शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु ने अपनी जवानी दी। (फिर वही पिता के वर से राजा हुए और उन्हीं के नाम से वह वंश पौरव कहलाया।)

अब क्या कोई असुर देख पड़ता है, जब असुर में भी दिव्यगुण मिल रहे हैं। हे भारत के सुरासुर, यही कारण है कि मैंने रहस्यवाद को अपना विषय बनाया। धर्म, धृति या श्रद्धा यही शिक्षा देती है।

यह, 'वर्तमान धर्म' की संक्षिप्त टीका है। सुधी पाठक समझते हैं, इतने ही से बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण हो सकता है। जिस निबन्ध में मैं विद्वान डॉक्टर जोशी को भारत के रहस्यवाद का परिचय दे रहा हूँ, उसमें लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी की प्रतिकूलता के लिए कहाँ तक जगह है, मेरे विरोधी मित्र-गण स्वयं सोचें। 'वर्तमान धर्म' पर किये गये प्रश्नों के जो उत्तर पण्डित नन्ददुलारे-जी वाजपेयी ने दिये, वे विरोधी दल को ठीक नहीं जँचे, यद्यपि उनसे प्रबन्ध का मतलब जाहिर हो जाता है। दसवें प्रश्न का उत्तर वाजपेयीजी बहुत कुछ पहले लिख चुके थे, इसलिए दुबारा नहीं लिखा; पर इसका भी चतुर्वेदीजी ने मौन मजाक उड़ाया है। वाजपेयीजी लिख चुके थे—"...निरालाजी...ने मानो संक्षेप में यह कहा—'देखो, तुम हम लोगों को मेढक कहते हो, पर रहस्यवाद में मेढक कोई कटु शब्द नहीं। तुम किसी को सुर, किसी को असुर कहते हो। पर यह सुरासुर केवल शब्दों की माया है। इसे समझ लोगे तो शब्दों का प्रयोग करने में संयम रक्खोगे; अथवा नहीं रक्खोगे तो भी हमारा क्या बिगड़ता है! यही वर्तमान धर्म है।' "

इतना लिखने के बाद दसवें प्रश्न का उत्तर देना जरूरी नहीं, पर फिर भी (10) लिखकर इसी भाव की वाजपेयीजी पुनरावृत्ति कर देते तो चतुर्वेदीजी को इतनी बड़ी मौन कला का प्रदर्शन—कि दसवें का उत्तर नहीं दिया गया—न करना पड़ता। पर अच्छा हुआ, मौन कला का मर्म तो मालूम हुआ!

मैंने लिखा था, आगे चलकर चतुर्वेदीजी के प्रोपेगैण्डा पर लिखूँगा। इस प्रोपेगैण्डा में हिन्दी के बड़े-बड़े लोग संयुक्त हैं। कुछ अपनी रायों से प्रकट हो गये हैं, कुछ गुप्त हैं। बहुत-से विद्वान् मध्यस्थ हैं, बहुत-से मेरी तरफ शायद स्नेहवश। यदि मैं इसके सम्पूर्ण मर्म का उल्लेख करता हूँ, तो मेरे विरोधियों को बहुत बड़ा

हार्दिक कष्ट पहुँचता है। मैं ऐसा नहीं करना चाहता। मुख्य 'वर्तमान धर्म' था, उसकी टीका मैंने कर दी। अब वह 'साहित्यिक सन्निपात' है या 'वर्तमान धर्म'— इसका निर्णय चतुर्वेदीजी तथा उनसे सहयोग करनेवाले करते रहें। जो लोग होमाग्नि से हवि का उद्गम, उससे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी आदि की उत्पत्ति, ऋषियों के रक्त से भरे घट से भगवती सीताजी का आविर्भाव, पवन-नन्दन भक्त-प्रवर हनूमान का समुद्र-लंघन, एक ही रात में उत्तराखण्ड से औषधि का पहाड़ उखाड़कर लंका वापस जाना और ऐसे महावीर का भरत के 'सींक-सायक' से मूर्च्छित होना, भगवान श्रीकृष्णजी के भूमिष्ठ होते ही वज्र-द्वार का खुलना, भादों की यमुना का घुटनों तक हो जाना, कृष्ण का गोवर्धन उठा लेना आदि-आदि असम्भव बातों पर उसी-उसी रूप में विश्वास करते हैं, अथवा जो नास्तिक हो गये हैं, पर जनता के सामने आस्तिक होने का ढोंग करते हैं; मेरी दृष्टि में ऐसे मनुष्यों का 'वर्तमान धर्म' का अर्थ न समझना ही स्वाभाविक है। ऐसे महापुरुषों की विरोधी उक्तियों पर लिखने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा है। कई महीने हुए, मैंने चतुर्वेदीजी से पूछा था—हाथी के आकारवाले गणेशजी चूहे पर कैसे चढ़ते हैं, आप तो प्रत्यक्षवादी हैं, जरा समझाइए; इसका अभी तक उन्होंने उत्तर नहीं दिया। ऐसा ही एक सवाल और कृष्णजी के नाग नाथनेवाला था।

अब मैं आशा करता हूँ, चतुर्वेदीजी हैदराबाद (दक्षिण) के डॉक्टर साहब के 'भावी धर्म' का अर्थ इसी प्रकार प्रमाण-प्रयोग के साथ लिखने-लिखवाने का प्रयत्न करेंगे। यदि डॉक्टर साहब असमर्थ हों, तो आप ही लिखें। जो चतुर्वेदीजी दूसरे सम्पादकों से पूछा करते हैं—यह लेख क्या समझकर आपने छापा, उन्होंने बिना समझे हुए क्या 'भावी धर्म' छापा है? अत: अर्थ भी देने छी कृपा करें।

चतुर्वेदीजी को मालूम हो कि मौन से काम न चलेगा। कृपया विषय पर उतरकर उत्तर दीजिए। मुझे विश्वास है, आप मनुष्य हैं, मनुष्यता का उसूल पूरा करेंगे।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, के फरवरी, मार्च और जुलाई, 1933 के अंकों में तीन किस्तों में प्रकाशित। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## क्षमायाचना के लिए धमकी

तान-चार दिन हुए, आदरणीय श्री 'सनेही'जी के सुपुत्र चिरञ्जीव मोहनप्यारे के पत्र के साथ एक पत्र मुझे मिला है जिसकी नकल नीचे दी जाती है—

ॐ

कलेक्टरेट—
गोरखपुर
11-12-23 [?]

श्रद्धेय सनेहीजी !

सादर प्रणाम !

अबकी 'सुकवि' में श्रीयुत 'निराला'जी ने जो पत्र लिखा है उसे आशा है, आप भी सम्पादकीय विधानवश ध्यान से पढ़े होंगे। उनके शब्द कितने अपमान-

जनक और मानहानिकारक हैं, कहने की आवश्यकता नहीं। एक ऐसे साहित्यिक व्यक्ति की लेखनी से ऐसे शब्द किसी व्यक्ति के प्रति निकल सकते हैं मुझे तो स्वप्न में भी गुमान नहीं था। मुझे अपनी मान-प्रतिष्ठा का ध्यान किसी भी आत्म-गौरवी से कम नहीं रहता है। मेरी दृष्टि में उचित ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह अपनी मान-मर्यादा की रक्षा में सदैव तत्पर रहे और उसे ठोकर लगते ही वह उसका प्रतिवाद करे। साहित्यिक शिष्टता की रक्षा के लिए तो यह और भी उचित कर्तव्य है। इसी में समाज का कल्याण है। जिस व्यक्ति में अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए लगन नहीं अथवा शक्ति नहीं, वह कापुरुष है और अपनी ऐसी मनोवृत्ति की विषवेलि आनेवाले पीढ़ियों के लिए लहलही कर जाता है। ऐसे व्यक्ति को मेरी तुच्छ सम्मति में जीने का कोई अधिकार नहीं है। अतः उसे यदि जीना है, तो इसकी प्रतिक्रिया भी करनी है।

इसी सिद्धान्तवश मैंने श्रीयुत 'निराला'जी पर कानूनी प्रतिक्रियाएँ करने का पूर्ण विचार कर लिया है। हाँ, यदि वे सम्यग्विधि से, खुले शब्दों में पश्चात्ताप प्रकट करते हुए 'सुकवि' द्वारा क्षमायाचना करें, तो मैं अपनी मान-हानि की पूर्ति हुई मान लूँ। हाँ, एक बात और कहे देता हूँ कि आप ही को मैं शहादत में पेश करूँगा। इसका ध्यान रखिएगा! आप श्रीयुत 'निराला'जी के पत्र की पाण्डुलिपि सुरक्षित रखिएगा। इत्यलम्।

कृपा करके पत्र-लेखक महोदय को इस बात की सूचना दे दीजिएगा। पत्र का उत्तर लौटती डाक से अवश्य देने की दया करिएगा!

आगामी 'सुकवि' में मैंने श्रीयुत 'निराला'जी की क्षमायाचना खुले शब्दों में नहीं पढ़ी और उसे अपने मनोऽनुकूल नहीं समझा तो मैं बिना विलम्ब फौजदारी और दीवानी—दोनों अदालतों में साथ ही दावे दायर कर दूँगा।

भवदीय कृपैषी
महेशप्रसाद मिश्र मुख़्तार
'रसिकेश'
कलेक्टरी-गोरखपुर

यह है पत्र। इसके पहले, वर्ष 6—अङ्क 6, सितम्बर 1933 ई. के 'सुकवि' में, आप 'हिन्दी कविता में छायावाद' शीर्षक आलोचना में लिखते हैं—

"इस शास्त्र (पिंगल-शास्त्र) का दूसरा नाम छन्दःशास्त्र भी है जो कि वेद का एक अंग विशेष है। भारतवर्ष के लिए वेद से बढ़कर और कुछ भी नहीं। एतदर्थ कविता में इस शास्त्र की अवहेलना करना नितान्त औधत्य, उद्दण्डता और उच्छृंखलता है। दोनों दृष्टियों-कविता-रीति और धर्म—मर्यादा से इसका पालन अत्यन्त आवश्यक है। बिना इसके काम भी तो नहीं बनता! कान, ऐसी पंक्तियों को जिनमें इस शास्त्र की अप्रतिष्ठा की गयी हो—सुनना तक नहीं चाहते और यदि आप जबरदस्ती करते हैं, तो उसका परिणाम उतना ही होता है जितना तोते को सीताराम और ठाकुरजी का पाठ पढ़ाने से होता है! उसके भाव कुछ भी हृदयङ्गम नहीं हो पाते, हृदय एकदम कोरा का कोरा रह जाता है—फिर ऐसे पद्यों से फायदा? लेखक का समय उसकी शक्ति, स्याही, कागज तथैव पाठकों और श्रोताओं का समय—सभी व्यर्थ, सभी का अपव्यय! उदाहरण लीजिए—

कहाँ?—
मेरा अधिवास कहाँ?
क्या कहा?—रुकती है गति जहाँ?

भला इस गति का शेष—
सम्भव है क्या—
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनायी।
देखा दुखी एक निज भाई।
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे।
झट उमड़ वेदना आयी···।।

—'निराला'

नवोढ़ा बाल-लहर !
अचानक उपकूलों के।
प्रसूनों के ढिग रुककर।
सरकती है सत्वर।
अकेली-आकुलता-सी प्राण !
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश-गात।
ठहर जाते हैं पग-अज्ञात।।

—'पन्त'

इन पंक्तियों के भावों को कर्णेन्द्रिय तो कदापि हृदय तक नहीं पहुँचा सकती, हाँ विरामचिह्नों की सहायता से, माथा-पच्ची करने पर कुछ-कुछ समझ में आ जाय तो गनीमत। इसके उच्चारण मात्र से तबीयत ऊब जाती है। समझना एवं मनन करना तो दूर। कविता का प्रधान गुण है संगीत—किन्तु उसकी कहीं छाया भी नहीं ! अन्त्यानुप्रास की कौन चलावे—यहाँ तो छन्द ही का पता नहीं। किस विश्वकर्मा की टकसाल की उपज है ?

जिन्हें पिंगल की पाबन्दी अनुचित जँचती हो, अन्त्यानुप्रास भाव-प्रकाशन में बाधा डालते हों अथवा इस शास्त्र के अध्ययन से जी घबराता हो···(दिमागी फितूर अथवा समयाभाववश) उन्हें उचित है अपने भावों को गद्य में गुम्फित करें। वहाँ उन्हें आवश्यकता से अधिक मैदान मिलेगा, पाबन्दियाँ नाम मात्र को रह जायँगी, खूब छलाँगें भरने का अवसर प्राप्त हो जायगा और कोसनेवाला भी कोई नहीं। 'बाण' की 'कादम्बरी' गद्य ही में तो है। कौन उन्हें महाकवि नहीं कहता ! मगर यहाँ तो नवीनता का शैतान सवार है; क्रान्ति ख़ब्त ने परेशान कर रक्खा है, पर्वा नहीं वह चाहे जैसी हो। और लोग यदि लकड़ी, कोयले से चाय औटते तो मैं घर का छप्पर फूँककर औटूँगा, कारण ? नवीनता, क्रान्ति···।

"विद्वत्कवय: कवय:। केवलं कवयस्तु केवलं कपय: ।।
सा कविता सा वनिता, यस्य श्रवणेन दर्शनेनापि।
कवि हृदयं, विटहृदयं सरलं तरलं सत्वरं भवति।।

(कस्यचित्कवे:)

आप लोग इस आलोचना के प्रति शब्द पर ध्यान दें, देखें, हम लोगों के साथ, ख़ब्त, 'शैतान सवार है' 'कवय:-कपय:' सम्बद्ध होते हैं या नहीं। इस आलोचना के लेखक जिस उद्देश की सिद्धि करने जा रहे हैं, उसे वे कितना समझते हैं, मैं नहीं लिखना चाहता। कारण अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए यह सब लिखकर पुन: जब वे अदालत में मुझे आमन्त्रित करेंगे तब बातचीत होगी ही। मेरे पत्र का आलोचक के इस लेख से तो सम्बन्ध है। पर आलोचक का मैंने कहीं नाम भी

नहीं लिया। उन्होंने पहले मेरा नाम लिखकर उक्त प्रकार अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की है। उनकी उक्तियों से भला-बुरा जो असर होता होगा, पहले मुझ पर पड़ता है, पश्चात् पन्तजी पर।

मेरा पत्र—

आदरणीय सनेही जी !

छायावाद पर एक लेख 'सुकवि' में देखा। ऐसे अण्ट-सण्ट लेख से आपके सुकवियों को कुछ लाभ होगा, मेरे अनुमान से बाहर है। उत्तर के लिए मेरे पास समय कम है, पुनः गधा घोड़ा नहीं बन सकता, यह प्रसिद्धि आप भी जानते हैं। ऐसी छन्द की मुक्ता का महत्त्व नराकार वानर महाशय क्या समझेंगे ? उन्हें तो समावर्त केले ही प्रसन्न कर सकते हैं। 'हिन्दी-कविता में छायावाद' का उत्तर इससे अधिक नहीं मिल सकता। छापें या न छापें, आपकी इच्छा।

सविनय—

'निराला'

[पत्र का पता ता. अक्टोबर 1933 के सुकवि में]

'गधा घोड़ा नहीं बन सकता' यह मुहावरा है, मुहावरे का केवल अर्थ लिया जाता है। 'भैंस के आगे बीन बाजे भैंस खड़ी पगुराय' कहने से कोई भैंस नहीं हो सकता। उसकी गुण-ग्रहण-शक्ति का केवल अभाव सूचित होता है। इसी प्रकार 'कौवे के गले में मोतियों की माला' के प्रयोग 'अरसिकेषु कवित्व-निबेदनम्' के अर्थ में आते हैं। जहाँ ये प्रयोग मैंने किये हैं, वहाँ समष्टि को लक्ष्य करके लिखा है। इसीलिए मैंने नाम का उल्लेख नहीं किया कि आलोचक पर ही मैं ऐसा लिख रहा हूँ पर मुझ पर जो कुछ लिखा गया है, नाम लेकर लिखा गया है। पुनः 'कवयः कपयः' आलोचक ने पहले लिखा है, मेरे 'वानर महाशय' बाद को आये हैं। दोनों एक ही हैं। फर्क इतना है कि मेरा बन्दर आलोचक और आलोचक के संस्कृत कवि को काव्य का और अच्छा दृश्य दिखा जाता है। संस्कृत के कवि का कपि उसी के अहंकार की सूखी डाल पर उछलता फिरता है, मेरा बन्दर अपने काव्य की कुसुमित डाल के अन्दर है। अब रहा शैतान और गधेवाला सवाल। इन दोनों में अधिक अपमानजनक कौन है—शैतान या गधा, मेरी तो समझ में नहीं आता, पाठक स्वयं निर्णय करें। आलोचकप्रवर मुख्तार पण्डित महेशप्रसाद मिश्र, रसिकेश, कलेक्टरेट-गोरखपुर, कापुरुष न होकर, अदालत से इसका फैसला करेंगे, उनका कहना है।

अब रही बात मेरे क्षमा माँगने की। दोष करने पर क्षमा-प्रार्थी होना गुण कहलाता है। इस गुण के ग्रहण के लिए मैंने कोशिश की पर इससे मुझे ऐसी पैरालिसिस हुई कि क्षमा चाहने की शक्ति जाती रही—हाथ जुड़ने को नहीं उठे। कारण आप लोग समझें।

—'निराला'

['सुकवि', मासिक, कानपुर, नवम्बर, 1933। असंकलित]

## शून्य और शक्ति

शून्य या विन्दु सब शास्त्रों में, सब तरफ, सब समय, स्वयंसिद्ध है। उद्भव, स्थिति और प्रलय का शून्य ही मूल-रहस्य है। केवल शक्ति संसार को शून्य से अलग किये हुए है, दूसरे तरीके से, शून्य की ही व्याख्या करने में सदैव तत्पर। लोग गणित या गणना में पड़कर हिसाब जोड़ते, संख्या ठीक करते, उसकी वृद्धि में लगे हुए शून्य को नफरत की निगाह से देखते हैं, पर अगल-बगल से शून्यों से दबी हुई उनकी संख्या आप बृहत् ज्ञान के मुकाबले असिद्ध रह जाती है। गणित की संख्या की तरह संसार के जीव और तमाम भावनाएँ दोनों तरफ से शून्यों से दबे हुए हैं।

संख्या का उद्गम-स्थल है शून्य-० । इस शून्य की दाहनी तरफ अगणित प्रसार तक संख्या बढ़ती है, और बायीं तरफ अगणित प्रसार तक घटती है (दशमिक द्वारा)। सौ, हजार, लाख, करोड़ आदि के किसी कोठे में रह जाना गणित का मूल-तत्त्व हासिल कर लेना न हुआ, जबकि संख्या और बढ़ सकती है; यही बात घटाव के सम्बन्ध में भी; पुनः संख्या द्वारा दोनों तरफ के घटाव-बढ़ाव के दो अगणित दो शून्य ही हुए। फिर तीन शून्यों का समधर्म में एक शून्य रह जाना बिलकुल स्वाभाविक है। अतः शून्य ही तमाम गणित का मूल आधार हुआ। रेखागणित में भी विन्दु सबकुछ है। विन्दु छीन लें, तो रेखाएँ, कोण आदि असिद्ध रह जायें। यही बीजगणित का हाल है। बीज स्वयं गोलाकृति शून्य है। उसकी जगह 'क' कीजिए या 'च', एक ही बात है।

अब संसार की भावनाएँ लीजिए। भावनाएँ शब्द-रचना द्वारा, एक-एक विशिष्ट अर्थ तथा चित्र द्वारा परिस्फुट होती हैं। अर्थ शब्दों द्वारा, शब्द वर्णों द्वारा। ॐ सब वर्णों का सम्मिलित दृश्य रूप है। इसकी समाप्ति ऊपर के शून्य या विन्दु में होती है। फिर केवल शून्य रह जाता है। शून्य ही तमाम शब्द-विद्या का केन्द्र-स्थल है, इसलिए संसार की व्यक्त-अव्यक्त सभी भावनाएँ शून्य में पर्यवसित हुईं।

आज पश्चिम के वैज्ञानिक विकास से पृथ्वी चमत्कृत है। वहाँ के विद्वान् कहते हैं, हम तरक्की कर रहे हैं। यानी सभ्यता में संसरण जारी है। परन्तु वे नहीं जानते, विज्ञान के उद्भव का शून्य जब अन्त के शून्य को आविष्कृत कर लेगा, यद्यपि यह आविष्कार आविष्कारक-मन की मृत्यु है अतएव क्रिया-रहित, तब बीच की कुल आविष्कार-प्रगतियाँ, एक युग की जोती-बोयी हुई जमीन के परती पड़ जाने की तरह, शून्य-फल रह जायँगी, निर्वात-वक्षः सर की तरंगों की तरह अचपल, शान्ति में लीन। ऐसा ही हुआ है; ऐसा ही होगा। फिर किसी अगले युग में पुनः-पुनः उसी शून्य-समाप्ति से आविष्कार होते रहेंगे—प्रकम्पित मन की अलग-अलग सूरतें जड़ यन्त्रों में परिणत होती रहेंगी। वहाँ के विज्ञानाचार्यों का जो यह प्रश्न है कि शक्ति का नियामक कौन है, जिसका बाहर ही वे उत्तर निकाल लेना चाहते हैं, आप द्रष्टा की तरह बिलकुल अलग रहकर—इसके लिए हम कहेंगे, जिस तरह यन्त्र का आविष्कार बाहर से पहले भीतर होता है, उसी तरह यह नियामक भी भीतर ही प्राप्त होगा। जिस 'हम' ने यह सब आविष्कार किया, शक्ति का नियामक भी वही है। पाँच सौ बत्तियों की रोशनी और हजार बत्तियों की रोशनी आप नहीं पैदा हुई, यह शक्ति का भेद उसी 'हम' का किया हुआ है, जिसने ये बत्तियाँ बनायीं, और जिनसे शक्तियों में घटाव-बढ़ाव होता है—बाह्य रूप से, वे

उस शक्ति-भेद के उपकरण हैं। यन्त्रों से और जो कुछ भी निकलता हो, यन्त्रकार का 'हम' नहीं निकल सकता। यन्त्रकार के जिस 'हम' में तैयार करने की शक्ति है, उसके उसी 'हम' की भौतिक शक्ति यन्त्र-शक्ति में काम कर रही है, क्योंकि 'हम' के पंचतत्त्वों से अलग कोई छठा तत्त्व यन्त्र में नहीं लगा। इस 'हम' का आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगतियों की नाड़ी बन्द एक बात है। 'हम' मरे हुए मन में शून्य के सिवा कुछ नहीं; तब विज्ञान का आधार भी शून्य ही हुआ।

पृथ्वी शून्य, सूर्य शून्य, चन्द्र शून्य, तारे शून्य, जल-कण शून्य, चिनगारी शून्य, हवा का आवर्त शून्य, अणु-परमाणु शून्य, स्वेद-अण्ड-पिण्ड शून्य, प्रकृति का प्रत्येक बीज शून्य।

इस शून्य के आधार पर सृष्टि अपनी 'सृज' में ही बाँकपन या कला पैदा कर रही है। इसीलिए सृष्टि सब रूपों में टेढ़ी है। युग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, दिन भिन्न-भिन्न अपना-अपना विशिष्ट सौन्दर्य रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की तिर्यक् दशा। यही कला और सौन्दर्य है। जन्म और मृत्यु, उठना और गिरना, भला और बुरा सब जगह। बीच का यह अगणित भी अगणित कलाओं में परिपूर्ण हो रहा है। असंख्य भुज असंख्य वृत्तियों के रंग में असंख्य चित्र तैयार कर रहे हैं! यहाँ विश्व-साहित्य की सार्वभौम पूर्णता है।

विकास के देखने या करने के अस्तित्व में शक्ति का ही अस्तित्व है। शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद हैं। फर्क इतना ही है कि जब शून्य में स्थिति है, तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह नहीं काँपता' सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है, तब शून्य का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह काँपता है' सिद्ध है।

कार्यकारी शक्ति किसी असम्पूर्ण को पूर्ण करने के लिए होती है। दैनिक जीवन में भी हम यही तात्पर्य देखते हैं। ऐसा ही हाल एक बड़ी व्याप्ति का है। एक ही मनुष्य घर के भी कार्य करता है और देश तथा संसार के भी। यहाँ एक छोटी-सी सीमा में मनुष्य की अणिमा और महिमा, गरिमा और लघिमा, सभी शक्तियों को अवकाश मिलता है, और वे अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। परन्तु हैं वे अभेद। सिर्फ व्यक्ति-भेद की तरह उनके भी भेद हैं।

जिस तरह यह एक ही शक्ति व्यक्ति, देश तथा विश्व की शक्ति में सम्मिलित हो सकती है, उसी तरह उसके कार्य भी अलग-अलग संकुचित-प्रसरित रूप, गुण तथा भाव पैदा करते हैं। हमारे साहित्य में इस शक्ति का व्यापक कार्य अभी नहीं के बराबर है। हमारा मतलब हमारे नवीन साहित्य से है। इस शिथिलता के भी कारण हैं, जो बलात् साहित्यिकों को अनेक भावनाओं से संकुचित कर देते हैं। पर शिथिलता से लड़ना ही सभ्य होना है।

यही शक्ति के विकास का एक रूप है, युग-धर्म। यह सदा युग के साथ सम्बद्ध रहा है। अनेक पुरानी बातें, पुरानी आदतें, पुरानी राहें, पुराने विचार युग-धर्म के तकाजे पर अपना रूप परिवर्तित करना चाहते हैं। साहित्य यही काम करता हुआ अपनी शक्ति के परिचय से जीवित कहा जाता है, अन्यथा मृत या पश्चात्पद। विश्वभावना न भी हो, यदि जातीय भावना को ही श्रेय दिया जाये, तो भी किसी व्यक्ति के लिए अपने ही समाज के दायरे में रहने की गुंजाइश नहीं रहती। इससे उस व्यक्ति का साहित्य देशव्यापी प्रसार प्राप्त नहीं कर सकता। पुरानी प्रचलित सभी बातें एक वक्त नयी और सुखप्रद थीं, पर आज भी यदि उन्हीं की रक्षा के लिए सिर पीटा गया, तो साहित्य में 'सृज' को स्थान नहीं मिल सकता और वह साहित्य जीवन्मृत है।

हम एक उदाहरण मूर्ति-पूजा का लेंगे। मूर्ति-पूजन के भीतर से हम भी वेदान्त-सत्य साबित कर सकते हैं, औरों ने भी लिखा है, और मूर्ति-पूजन में वही है भी माननीय। यहाँ कहेंगे, वेदान्त-सत्य पर आक्षेप किसी ने नहीं किया—हमारा मतलब शास्त्र से है, पर 'मूर्तिपूजाऽधमाऽधमा' यहीं की संस्कृति है। मूर्ति-पूजन और पुराण-प्रेम यदि यहाँ के धर्मात्माओं से ले लिये जायें, तो धर्म की कुल पूँजी गायब हो जाती है। और, इतनी ही बची हुई हिन्दू-सभ्यता, धर्म-भाव, समाज-संस्कृति संसार के बड़े-बड़े भावों का मुकाबला करती हुई अपना अस्तित्व साहित्य में अमर कर रखेगी, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् कहलानेवाले को शृंगवेरपुर और अहल्या के स्थान-निर्णय से अभी फुर्सत नहीं मिली।

आज का जड़-विज्ञान वर्तमान मूर्तिपूजा के ज्ञान से कितना आगे बढ़ा हुआ है, इसको साबित करने की आवश्यकता नहीं। मूर्तियों की पूजा कर प्रसादस्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लट्ठ धमकनेवाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्त्व जानते हैं, यह तो यहाँ रोज साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ में अशक्त एक सजीव मूर्ति की जान लेने के लिए तैयार धनी मूर्तिपूजकजी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व को हिला देंगे, ऐसे प्रसंग अपनी चौपाल की चारपाई पर ही लोग छेड़ा करें। बाहर हम लोगों को कुछ लज्जा लगती है। पुरुषों और स्त्रियों में देव और देवियाँ नहीं, पत्थरों में हैं। तैंतिस करोड़ देवताओं के देश में रहनेवाले विद्वज्जन कुछ विचार कर लिया करें। देवियाँ बनायी गयीं, या वे पहले से ही देवियाँ हैं सजीव।

ज्ञान तथा व्यवहार (ज्ञानजन्य कर्म) का अहाता जितना बड़ा होगा, व्यक्ति या जाति भी उतनी ही बड़ी होगी। मुसलमान लोग धर्म का बहुत बड़ा व्यावहारिक ज्ञान लेकर जीत सके थे, और शताब्दियों तक भारत की भेड़ें चरायीं। मुसलमानों की तरह पश्चिम के लोग भी ज्ञान तथा कर्म, दोनों में प्रसरित हैं। हमें इस जड़-विज्ञान का अपने विस्तार से सामना करना है। ऐसे साहित्य की सृष्टि ही हमारा युग-धर्म है। वे तारों तथा बेतार के तार से काव्य-साहित्य-व्यवसाय आदि के द्वारा तमाम पृथ्वी को बाँधे हुए हैं; कोई भी देश, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध उनसे न हो। उनका अशरीर-शक्तिप्रवाह एक देश से दूसरे देशों को अविराम बहता जा रहा है, भले ही उसका उद्देश मन्द या निन्द्य हो; पर हमारे ठाकुरजी तो मन्दिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते, न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। फिर हमारे पास वह कौन-सी सूरत है, जिसे देखकर हम इससे सहयोग या प्रतियोग करें? चौके के अन्दर कैद रहकर प्रतिरोध तो काफी कर चुके। पर अशरीर वह तो छूकर ही बह रहा है। मन में सब तरह से समाया हुआ है।

इसीलिए हम समाज तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई, उस शक्ति को आमन्त्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है; पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं में बहती हुई, स्वतन्त्र; किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान; मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्वशाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय।

**[प्रबन्ध-पद्म में संकलित]**

यों कोष में हम देखते हैं, एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ये अर्थ भिन्नार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उनका समीकरण कोष में किया गया है। परन्तु यह अर्थ की विशद व्याख्या नहीं। इसके ज्ञान के लिए अर्थशास्त्र (धनशास्त्र नहीं, शब्दार्थ-शास्त्र जिसमें 'धन' भी एक अलग शब्द होकर अनेक शाखा-प्रशाखाओं से विश्वव्याप्त है) साद्यन्त समझना जरूरी है। यदि इसका सम्यक्-ज्ञान हो तो तुलसीदास तथा अन्यान्य महाज्ञान-पारंगत तपस्वियों की उक्तियों की व्याख्या समझ में आ सकती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि, 'विश्व-वदर-कर' जैसे विशेषण पद की सार्थकता तभी हो सकती है। मैं यहाँ शब्द-दर्शन पर न उलझूँगा। समझने के लिए केवल इशारा किया है। मुझे दूसरा काम करना है, वह है 'दुलारे-दोहावली' के एक दोहे के कुछ अर्थ करना। मेरा विचार है, इसी दोहे से कुल रस और अलंकारों की भिन्नता को ही माननेवाले हँसेंगे, मैं जानता हूँ। पर वे वही होंगे, जो आग को पानी और पानी को आग बनते हुए देखकर भी नहीं मानते। जो मानते और जानते हैं, वे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की व्यावहारिक सार्थकता के पण्डित मेरे अभिप्राय को साध्य ही समझेंगे। वह मन एक ही है जहाँ से रस अलंकारों की भिन्नता निकली है, इसलिए वह मन एक ही होगा, जो भिन्न रस और अलंकारों को प्राचीन रीतियों के अनुसार, एक ही दोहे में सिद्ध करेगा।

मुझे ऐसा करने के लिए वह शक्ति प्रेरणा दे रही है, जो नवीन युग की रहस्यमयी धारा को प्राचीन रीतियों के भीतर से चलकर सिद्ध करना चाहती है। जिसने छन्दों को तोड़ा है, वह, सरस अलंकारों के हार के अलग-अलग फूलों में भी साम्य है, दिखलाना चाहती है। इससे प्राचीन रस अलंकारवादी हम लोगों पर जो आक्षेप करते हैं उसका यथार्थ उत्तर हमारी तरफ से उन्हें प्राप्त होगा। रस और अलंकारों की प्राचीन प्रथा हम लोग नहीं मानते ऐसी बात नहीं, एक विशेषता उसे मानने में और ज्यादा है, वह यह कि हम भिन्नता भी मानते हैं और एकता भी, जिस एकता का प्रमाण, पराधीन, छन्दशास्त्र तथा रस-अलंकार आदि की बेड़ियों में फँसा हुआ ब्रज साहित्य आज तक दे सका है—हमें देखने को नहीं मिला।

इस समय केवल कुछ अर्थ पाठकों के सामने 'दुलारे-दोहावली' के मंगलाचरण से पेश करता हूँ। एक मन्त्र या श्लोक के भिन्न-भिन्न अधिकारियों द्वारा हुए भिन्न-भिन्न अर्थों को देखकर, उनके सत्य पर शंका न करनेवाले यहाँ भी शंका से पहले सत्य की जाँच करेंगे।

**दोहा**—सुमिरहुँ वा विघनेस कौ, तेज-सदन मुख-सोम,
जासु रदन-दुति-किरन इक, हरत विघन-तम-तोम।

**—श्री दुलारेलाल भार्गव**

**अर्थ : १**

उन विघ्नों के ईश गणेशजी का स्मरण करो, जो प्रकाश-राशि होकर भी चन्द्र-तुल्य स्निग्ध मुखवाले हैं, जिनकी दन्त-प्रभा की एक किरण विघ्नों के अन्धकार-पुंज का नाश कर देती है।

यह साधारण भाव है कि एक-दन्त गजानन गणेशजी तेज के निधान होने

पर भी चन्द्र की तरह शीतल मुखकान्तिवाले हैं और उनके चमकीले दाँत की एक किरण विघ्नान्धकार-राशि को दूर करने के लिए समर्थ है। यह द्वैतवाद है।

**अर्थ : २**

अपनी शान्ति के कारण गणेशजी विघ्नों की उग्रता को प्रशमित करते हैं, इसलिए कवि ने वही रूप प्रकट किया है, जिसमें शान्ति-रूप बाहर है, उग्ररूप, गणेशजी के भीतर—उसे उन्होंने अपने में मिला लिया है। इसलिए कहा—

विघ्नों को अपने में मिलाकर उनके जो ईश कहलाते हैं, उन गणेशजी की वन्दना करो; वह सारी ज्वाला को अपने भीतर डालकर स्निग्ध मुख हो रहे हैं। उनकी रदन-द्युति (रदन तोड़ने-फोड़ने के अर्थ में आता है) अर्थात् संघर्ष के ऊपर फैले हुए प्रकाश की (प्रकाश का ज्ञान संघर्ष को अपने भीतर डालता जा रहा है—मिला रहा है) एक किरण अरिष्ट रूप अन्धकार-समूह को हर लेती है (अपने में मिला लेती है)। यह विशिष्टाद्वैतवाद है।

**अर्थ : ३**

गणेशजी के एक दाँत में अद्वैतवाद का रूप रखा गया है। और भी अनेक उपायों से उनका ज्ञान-काण्ड सिद्ध किया गया है। मैंने अपने 'वर्तमान धर्म' लेख की सिद्धि में इस विषय पर कुछ लिखा है। यहाँ इस दोहे का अद्वैतवाद-अर्थ दिखलाने का प्रयत्न करूँगा—

विघ्न और ईश दोनों में एक-स्वरूप जो हैं, उन विघ्नेश को स्मरण करो। वह तेज के निधान सोम (आकाश) मुख शून्य हैं। इसलिए उनका रदन (संघात) और द्युति (प्रकाश) दोनों एक ही किरण—एक रूप हैं। वह, विघ्न जो भेदात्मक है—अन्धकार-पुञ्ज है, उसे दूर कर देती है—अपनी एक ही स्थिति में रहती है।

**अर्थ : ४**

(विघन—हथौड़ा, विघनेश—हथौड़े का मालिक, लोहार)

हे किसानो! उस हथौड़े के मालिक लोहार की याद करो, जो आग के घर में बैठा हुआ है और जिसके मुख से जल रूप पसीना बह रहा है, जिसके रदन-(हथौड़ा चलाने के वक्त, तपाये हुए फाल से चटककर निकलती हुई) प्रकाश की एक किरण (कृषि-सम्बन्धी) विघ्नों के अन्धकार-पुञ्ज का नाश कर देती है।

बरसात शुरू हुई तो किसानों को प्रोत्साहन देने के लिए कवि ने उनसे ऐसा कहा। किसान गर्मी के कारण आलसी हो रहे थे। कवि की सूझ तो; लोहार को उसने देखा कि आग के सामने बैठा हुआ, पसीने से तर होकर भी काम कर रहा है। पुनः किसानों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। इसलिए उसके पास आलस छोड़कर जाने का उपदेश दिया, कि तुम आराम कर रहे हो, उधर उन विघनेश को नहीं देखते, वे कैसी हालत में रहकर काम करते जा रहे हैं। उनके इस कार्य को आदर्श मानकर कहा—उनकी याद करो, जाओ, उनसे उपदेश लो। पुनः यह भी सुझाया कि तुम्हारे जलते हुए फाल पर जब वह हथौड़ा चलायेंगे तब उसकी एक किरण तुम्हारे विघ्नों को दूर कर सकती है। हल चलाकर अनाज पैदा करके तुम सुखी होगे, इस भाव पर अतिशयोक्ति की।

**अर्थ : ५**

कवि ने द्वैतभाववालों को उपदेश दिया है, जो विषकुम्भ पयोमुख हैं—'मुँह में राम बगल में छुरी' वाले; कहा है—

हे तेज के सदन (भीतर आग भरे हुए) और मुखसोम (मुख पर चन्द्र की शीतलता रखनेवाले) (दुनिया के) लोगो ! (इस प्रकार दूसरों को धोखा न देते फिरो।) उस विघ्नेश रुद्र की याद कर लो। (विघ्न खण्ड है, बिना खण्ड भाव के विघ्न की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। जो लोग पूर्व प्रकार का द्वैत अपने भीतर रखते हैं, वे खण्ड भाववाले हैं। इस प्रकार खण्ड भावों का नाश करनेवाले रुद्र का स्मरण कराके कवि ने द्वैतभाव दूर करने की सलाह दी। रुद्र की भयंकरता दिखाना भी कवि का उद्देश्य है क्योंकि इससे डरकर लोग द्वैतभाव छोड़ देंगे। इसलिए कहा—वह हमेशा अपने कराल दाँतों से विघ्नों को चबाकर आहार कर रहे हैं, सो उनके मुख की ओर देखो, उस कराल मुख के भीतर तो यह भेद-भाव दूर हो ही जायगा, अरे—) उनके दाँतों के प्रकाश की एक किरण भी विघ्नों की अन्धकार-राशि को दूर कर सकती है। (मारे डर के जीवों का विघ्न-भाव दूर हो सकता है।)

**अर्थ : ६**

खेती अच्छी थी। किसान खुश हो रहे थे। कवि ने सोचा, ये खुशी में भूल गये तो बाद को इन्हें दुख उठाना पड़ेगा। इसलिए इन्हें कुछ ऐसा उपदेश दें जिससे आने-वाली विपत्ति को ये यथाशक्ति दूर कर सकें। इसलिए कहा—

किसानो ! तुम लोग भूल कर रहे हो ! उन विघ्नेश महाशयों की तो याद करो (जो बात की बात में गजब ढा देते हैं, वे विघ्नों के देवता चूहे अब खेतों में लगने ही वाले हैं)। उनके पेट में बड़ी आग है, पर मुँह देखो तो बड़े ठण्ढे। अरे, उनके चमकीले दाँतों की एक किरन में विघ्नों का अन्धकार-ही-अन्धकार है। (किरन इक हरति—ले आती है, हर लाती है, विघन तम-तोम।)

इस दोहे के यहाँ 6 अर्थ मैंने किये हैं। और भी अनेक होते हैं। अभी यहाँ इतने ही दिये।

विचारशील पाठक अर्थों की सार्थकता देखें। पुनः मैंने जैसा लिखा है, इस पर सभी रस और अलंकारों की सिद्धि करूँगा। उस समय अपने कथन की व्याख्या भी विस्तारपूर्वक दूँगा।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, मई, 1934। **चयन** में संकलित]

## पं. बनारसीदास का अंग्रेजी-ज्ञान

'दुलारे-दोहावली' पर लिखते हुए पं. बनारसीदासजी ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है, वह 'विशाल भारत' के पाठकों की दृष्टि में स्पष्ट हो चुकी होगी। मुझ पर भी कटाक्ष हुए हैं। मेरा अपराध, मैंने एक दोहे के छः अर्थ कर दिये।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का प्रमाण जो दिया, वह कुछ नहीं ठहरा। आचार्यों की भिन्न व्याख्याओं की सार्थकता वहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दे सका, यहाँ अनावश्यक समझता हूँ। मेरे अर्थ अनर्थ हैं, इनके साहित्यिक विवेचन नहीं हुए; साधिकार, सविरोध, निर्भयतापूर्वक 'बौड़मपन' चस्पाँ कर दिया गया है। यहाँ मुझे इतना ही दिखा देना है कि अंग्रेजी की डींग हाँकनेवाले पण्डित बनारसीदास-जी चतुर्वेदी, उसी लेख में, किस तरह 'बौड़मपन' की सार्थकता सिद्ध कर रहे हैं।

पहले सिर्फ एक दूसरी बात पर कुछ पंक्तियाँ लिख देना चाहता हूँ। चतुर्वेदी-जी लिखते हैं—'अपने लेख में लेखक महोदय ने यह भी धमकी दी है कि वह इस दोहे से कुल रसों और अलंकारों की सिद्धि करेंगे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'दुलारे-दोहावली' की प्रथम आवृत्ति की विज्ञप्ति इन्हीं 'निराला' जी की ही (पहले 'इन' के बाद 'ही', फिर 'की' के बाद, और एक ही शब्दबन्ध में, यह 'विशाल भारत' के सम्पादक की, हिन्दी के साधारण ज्ञान की 'ही-ही' हुई—निराला) लिखी हुई है, अतः उनके अर्थों को हम उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते।'

एक दोहे पर कुल रस और अलंकारों की सिद्धि धमकी देना नहीं। इसका उत्तरदायित्व चतुर्वेदीजी की समझ में नहीं आ सकता; पर हिन्दी में ऐसे विद्वान, मुमकिन है, हों, जो समझें। मैंने 'दुलारे-दोहावली' पर जो कुछ लिखा है, वह समझकर लिखा है, अपनी ही खुशी से। रस और अलंकारों की सिद्धि के लिए 'दुलारे-दोहावली' से जो दोहा चुना वह अपनी ही खुशी से। मेरे अर्थों को, जो मैंने उस दोहे पर किये हैं, यदि कुछ श्रेय होगा, तो मुझे होगा। रस और अलंकारों में यदि कोई चमत्कार प्रत्यक्ष होगा, तो मेरा कहा जायगा। यह टीका और अर्थ-प्रदर्शन की रीति प्राचीन है। साहित्यिक विशद आनन्द की प्राप्ति का यह एक उत्तम उपाय माना गया है। दोहे के चुनने यह एक का और कारण है कि दोहा मुझे अर्थ-गौरव से युक्त जान पड़ा, और मैं बराबर नवीन प्रतिभा के पक्ष में रहा हूँ। मैंने जो कुछ किया है, वह किसी गुरुदेव के अपार ज्ञान का अनुवाद नहीं, उसमें मैंने अपनी ही अक्षमता या सक्षमता के प्रमाण दिये हैं। किसी दूसरे के तिलों को पेरकर भारत के रूखे सिर को तैलाक्त करने का अभिप्राय कौन रखता है, यह मेरी अपेक्षा 'विशाल भारत' के सम्पादक को अच्छी तरह मालूम होगा। मेरा यह कार्य ऐसा नहीं कि संवाद-पत्रों में छपने के लिए भेजा जाय—'अब मेरे पास एक पोस्टकार्ड लिखने के पैसे भी नहीं हैं?' इससे कीमत में मेरा प्रयास कम है, या अधिक, यह सहज ही समझा जा सकता है। अफसोस यह है कि अभी तक हिन्दी के साहित्यिकों या पाठकों की समझ में यह पूरी तरह नहीं बैठ पाया कि 'विशाल भारत' का अभिप्राय क्या है, उसके सम्पादक के लिए कौन-सी योग्यता जरूरी है। रही बात चतुर्वेदीजी की 'उपेक्षा की दृष्टि' की, सो ऐसी दृष्टियों का तापमान मुझे साल में गर्मियों के दिनों से ज्यादा दफे मालूम होता रहता है। वह अपने प्रोपेगैण्डा की सोचें; मैं जानता हूँ, मेरी कृतियों की क्या माँग है।

अब चतुर्वेदीजी अंग्रेजी के उद्धरण से अपनी पुष्टि किस प्रकार करते हैं, इसका विचार किया जायगा। वह कहते हैं—'हमारे नोट के शेष अंश ऐसे हैं, जिनकी ओर जनता का पर्याप्त ध्यान नहीं गया है, और उन्हें हम फिर दुहराना चाहते हैं।' कारण, चतुर्वेदीजी जनता के पक्ष से लड़ रहे हैं। इससे पहले लिख चुके हैं कि जनता से सम्मति देने का अधिकार छीनने पर साहित्य केवल वाद-विवाद की चीज बन जायगा। उद्धरण एमर्सन का कहकर देते हैं। याद रहे, दो बार उद्धृत किया है। अनुवाद की जिम्मेदारी इससे कितनी बढ़ जाती है, इसके उल्लेख की

आवश्यकता नहीं। कुछ अंश, जो आवश्यक हैं, देता हूँ। केवल अनुवाद के अनुसार छपे 'angles' को मैंने 'angels' बना दिया है। बाकी किसी गलती के लिए जिम्मेदार मैं नहीं—

'They who make up the final verdict upon every book are not the partial and noisy readers of the hour when it appears, but a court as of angels, a public not to be bribed, not to be entreated, and not to be overawed decides, upon every man's title to fame.'

### चतुर्वेदीजी का किया अनुवाद

'हर एक पुस्तक पर अन्तिम फैसला देनेवाले लोग जिस क्षण पुस्तक प्रकाशित होती है, उसी क्षण के पक्षपातपूर्ण और भड़भड़िया पाठक नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति की ख्याति पाने के दावे पर अन्तिम फैसला देनेवाली अदालत फरिश्तों की अदालत होती है, जिसे रिश्वत नहीं दी जा सकती, जिससे मिन्नत-आरजू नहीं की जा सकती, और जिस पर रोब नहीं जमाया जा सकता।'

चतुर्वेदीजी को Public शब्द देख पड़ा, बस, उसका अर्थ 'साधारण जनता' हुए बगैर दूसरा हो ही नहीं सकता। फिर क्या, बार-बार उद्धृत करके लगे पुकारने—देखो, क्या अधिकार एमर्सन साहब से साधारण जनता को मिला है! क्या अंग्रेजी के विराट् पण्डित बनारसीदासजी का अंग्रेजी-व्याकरण से भी कभी कुछ तअल्लुक रहा है? या जन्म से ही अंग्रेजी के अहले-जबाँ हैं? Case in apposition का हवाला तो छठे-सातवें दर्जे के विद्यार्थी भी जानते हैं। जो हर किताब पर अन्तिम फैसला देने की शक्ति रखते हैं, जिनकी अदालत फरिश्तों की अदालत है, वे 'साधारण जनता' कहाँ हो गये? वे तो एक वह जनसमूह हैं जो रिश्वतखोर नहीं। यहाँ bribed, entreated और overawed के द्वारा चतुर्वेदीजी की 'साधारण जनता' का ही स्वभाव बतलाया गया है; जो वोट देने के समय रिश्वत, आरजू-मिन्नत और रोबदाब का शिकार होती रहती है। पर वे उल्लिखित विद्वान् इस तरह बरगलाये नहीं जा सकते। देखिए आप लोग, चतुर्वेदीजी ने दो बार यह उद्धरण देकर अपने विषय की पुष्टि की है, और 'साधारण जनता' के तरफदार बने हैं। यह हिन्दीवालों को समझाना भी है कि हम अंग्रेजी के इतने बड़े पण्डित हैं। अस्तु! अब यह बताने की कृपा कीजिए कि डॉ. गंगानाथ झा, डॉ. भगवानदास, महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा, रा. ब. पं. शुकदेव बिहारी मिश्र, पं. दामोदर शास्त्री आदि बीसियों विद्वानों की मण्डली फरिश्तों की-सी अदालत और न बरगलायी जानेवाली जनता ठहरती है, या नहीं, और Noisy readers (गुलगपाड़ा मचानेवाले पाठकों) में अंग्रेजी के धुरन्धर विद्वान् पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी के अलावा कौन-कौन आते हैं।

चूँकि 'दुलारे-दोहावली' पुरस्कार-प्रतियोगिता में भेजी जा चुकी है; इसलिए कई बार उसकी उचित आलोचना लिखने की इच्छा करके भी मैं नहीं लिख सका। जब मैंने एक दोहे के छः अर्थ लिखे थे तब मुझे मालूम भी न था कि वह पुरस्कार के लिए भेजी जायगी। मैंने वह लेख जब लिखा था, तब 'दुलारे-दोहावली' का सौ दोहोंवाला संस्करण ही निकला था। उसके कई महीने बाद, दो सौ दोहोंवाला बृहत भूमिका-सहित, संस्करण पुरस्कार के लिए भेजा गया है।

मैंने जो कुछ लिखा था, उसमें कोई ऐसी बात अवश्य न थी, जो किसी के

लिए अपमानजनक, असाहित्यिक होती। पर आज 'विशाल भारत' कैसे अर्थ छाप-कर अपनी विशालता का परिचय दे रहा है, हिन्दी के पाठक स्वयं इसका निर्णय करें। दुःख है कि ऐसे मनुष्य भी उत्तरदायी पद पर रहने का दावा करते और बे-रोक-टोक अशिष्टता दिखलाते चले जा रहे हैं। यदि हिन्दी के शक्तिमान लेखक और पाठक ऐसी बातों को चुपचाप सह लेना ही अपना धर्म समझेंगे, तो मैं नहीं समझता, साहित्य में अधर्म दूसरा क्या हो सकता है। जिस 'विशाल भारत' में संस्कृति का डंका पीटा गया, घासलेट का विरोध हुआ, उसके बहू-बटियों तक प्रवेश पाने का नारा बुलन्द किया गया, वही किस तरह की बातों को प्रकाशित करने में असंकुचित है, पं. शालिग्राम शास्त्री का लेख देखिए। मैं उनकी गन्दगी का उल्लेख न कर सकूँगा, केवल दो-एक साहित्यिक बातें लिखता हूँ।

शास्त्रीजी लिखते हैं—'हिन्दी के विषयों में टाँग अड़ाना हम अपने लिए अनधिकार चेष्टा समझते हैं।' ठीक समझते हैं। विषय में टाँग नहीं अड़ायी जाती, दखल दिया जाता है। किसी के रास्ते में टाँग अड़ायी जाती है, जो बुरा है, न अड़ाना अच्छा, आगे के लिए याद रखियेगा।

दोहे के पहले अर्थ में, 'सुमिरहु वा विघनेस कौ', में 'सुमिर', 'हुवा', 'विघनेस' जो आपने निकाला है, यह आपके संस्कृत ज्ञान का पूरा-पूरा परिचय देता है। 'हु' और 'वा' को आपने जोड़ कैसे दिया ? ये दोनों उतना ही फ़ासला रखते हैं, जितना आप जैसे संस्कृत के पण्डित से शिष्टाचार। व्यर्थ विवाद के लिए मुझे अधिक समय नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1935। **चयन** में संकलित।]

## स्वकीया

यह काव्य की स्वकीया नहीं। क्या है, आगे आपको आप दर्शन देगी, अगर आप देख सके; यह इसलिए कहा कि आप शरीर की आँखों और मन की आँखों को मानते हुए भी शरीरवालियों पर ज्यादा विश्वास करते हैं। आपके विचार से इस तरह दर्शन सत्य होता है; मेरे विचार से बिलकुल उल्टा; उस समय मुख नहीं देख पड़ता, विमुखता देख पड़ती है।

हिन्दी का खड़ी बोली नाम सुनकर स्वभावतः लोग सोचते हैं, यह बोली खड़ी हो गयी। पहले-पहल ऐसा ही मैंने भी सोचा और मुझे बड़ी खुशी हुई। पर जब नजदीक से देखा, तब वैसी ही निराशा हुई; इसे बड़ी पाया।

मुमकिन है, मेरे मित्र आत्मदोष-दर्शन को बुरा कहें; पर मैं नहीं जानता, आत्म-गुण-कीर्तन का दूसरा उपाय क्या होगा।

मैं धीरे-धीरे खड़ी बोली के धुरन्धरों को पढ़ने लगा। पर सब मुझे यथार्थ धुरन्धर, भगवान् शकटायन जँचे। किसी कवि का एक कवित्त पढ़ा था। उसमें किसी रईस से इनाम में मिले घोड़े की तारीफ है। अन्तिम चरण है—"चलना हराम इसे उठना कसम है।" बिलकुल यही दशा खड़ी बोली की दिखी।

कहीं भी न देखा, भाव की भूमि पर भाषा हवा की तरह बह रही हो; पेड़ और लताएँ खुशी से इतरा रही हों; लहरों पर लहरें उठ रही हों; खुशबू दूर-दूर तक जा रही हो; और इसी तरह हिलते प्रणय के रंगीन डोरवाले हिंडोले पर बैठी हुई देश की युवती कुमारियाँ नयी भाषा और नये बन्दों से वन्दित कजली और मल्लार गा रही हों; पृथ्वी का स्वर दिशाओं में गूँजता हुआ, सत्य के ऊँचे परिणाम की तरह, आकाश में मिल रहा हो।

जैसी गरियार बैल की चालवाली भाषा, घड़ी-भर की कथा में पहर-भर के 'जो है सो' की तरह—आप देख लीजिए, खड़ी बोली में 'जो, सो, तो' मुँह के साथ दिमाग को गोलकर देनेवाले किस तरह चलते हैं; वैसा ही अन्तःकरण के अन्तःकरण से निकला करुण स्वर। किन्हीं का छाती कटना देखकर जैसे ठाकुर साहब ने कहा था—'अस मार्‌यो कि अब तक रोवत' (—स्वामी विवेकानन्द) याद आ जाता है। जान पड़ता है, एक करुण रस ही जो निमित्त-भेद से नवों रसों में परिणत होता है, यहाँ विशेष रूप से प्रचलित हुआ; मुसलमानों के शासन ने कुछ और सहायता पहुँचायी।

मुझे पहले ये विशेषताएँ मालूम न थीं। मैं आनन्द को स्वर की बुनियाद मानता था। आनन्द स्वरूपतः मुक्त है। मुक्त छन्द इसी को लेकर बना। पर भ्रम बहुत दिन कब रहता है ? एक दिन देखा, 'परिमल' पाँच साल में केवल आठ सौ खपा है और उसके प्रकाशक किसी व्यक्ति या संस्था को पुरस्कार देते हैं, तो किताबों में 'परिमल' अवश्य होता है।

स्वर की एक बात याद आयी। मैं जिस तरह साहित्य में स्वर की साधना कर रहा था, मेरे चिरंजीव उसी तरह संगीत में। मेरी स्वर-साधना से कुछ नश्वर अर्थ मिलता था, जिससे मेरे चिरंजीव की अविनश्वर संगीत-स्वर की साधना चलती थी। पर मेरे स्वर में करुण रस का अभाव रहने के कारण अर्थ देनेवाले भी मुझे करुण-रस सुनाने लगे। जब अर्थ की जगह, उत्तर में मुझे करुण रस मिलने लगा, तब बहुत दिनों तक संगीत-शिक्षा की फीस के प्रश्न पर निरुत्तर रहकर एक दिन मैंने चिरंजीव से कहा, 'तुमको तुम्हारी नानी ने बुलाया है; खर्च लो, हो आओ; लौटकर फीस जमा कर देना; दस-पाँच दिन की देर होगी तो क्या होगा, एक ही आना तो रोज जुर्माना होता है ?' चिरंजीव की जन्म-भूमि ननिहाल है, इसलिए स्वर्गादपि गरीयसी होगी, इसमें क्या सन्देह ? वह चल दिये। उधर वह गये, इधर मैंने चिट्ठी लिखी—'मैं बम्बई जा रहा हूँ, यहाँ न आना।' दस-पन्द्रह दिन बाद, जब उन्हें पता लगा कि पिताजी यथास्थान ही विराजमान हैं, तब नाराज होकर लखनऊ आकर स्वावलम्बी हुए; दो-तीन घण्टे की पढ़ाने की नौकरी कर ली, और अपनी संगीत की साधना में दत्त-चित्त हुए, जुदा रहते हुए। मुलाकात होने पर मुँह फेर लेते थे। मुझसे सारी दुनिया इसी तरह पेश आयी या आँख न मिलाती दिखी, यह मेरी प्रतिभा का परिचय था, या और कुछ, भगवान् जाने। जैसे रुपया पैदा करने में लाचारी थी, वैसे ही चिरंजीव से मिलने में। बहुत दिनों बाद अपने कई मित्रों के साथ वह मिले। मैंने देखा, वाद-विवाद में उन्होंने बहुत कुछ उन्नति कर ली है। यद्यपि मैंने उनकी संगीत-शिक्षा-पद्धति के प्रवर्तक का नाम मात्रखण्डे सुना था—एक बार उनसे मिल भी चुका था, फिर भी चिरंजीव, न जाने क्यों उन्हें भारतखण्डे कहकर अपने स्कूल की ऊँचे स्वर से तारीफ करने लगे, खासतौर से अपने स्कूल की तानों की। कहा कि भारतखण्डे स्कूल की-जैसी तानें भारतवर्ष में नहीं मिल सकतीं और बंगालवालों को तो गाना आता ही नहीं, रवीन्द्रनाथ के

स्कूलवाले गाते वक्त जैसे रोते हों। ये सब कटाक्ष मुझ पर थे, जैसे बंगाल का स्कूल मेरा हो और मेरे गाने में रवि बाबू ने ठेका लगाया हो। एक बात कह दूँ। जब वह मेरे साथ थे, मुझे एक बड़ी अड़चन थी। ठीक सुबह मैं लिखने बैठता था, वह अलापने। उनके स्कूल की महिमा मुझे मालूम हो चुकी थी। फिर भी इस बार विशद रूप से सामने आयी। देखा, एक ही काम हो सकता है; बैठा हुआ या तो तानें सुनूँ या बचकर कुछ लिखूँ। बचना मुश्किल था। खैर, तानों की तारीफ सुनकर सरलता-पूर्वक कहा, जैसा मेरा विचार था, बचपन में मनोविनोद के लिए पिल्लों के कान ऐंठा करता था, उस वक्त जो तान वे छेड़ते थे उसमें और दक्षिणी स्कूल की तानों में ज्यादा फर्क मुझे नहीं मिलता। यही करुण रस और स्वर हिन्दी की साधारण बातचीत में मिलता है; यही गर्जना भी, जब लोग वीर रस सुनाते हैं। उद्धरण भी देता। पर कवि और लेखक नाराज हो जायँगे। इसलिए रहने देता हूँ। डर भी है कि कहीं सभापति होकर भाषण में मेरा नाम न लिया, तो मेरा साहित्यिक जीवन समाप्त हो जायगा। एक मिसाल देता हूँ। बाजार का कद्दू ऐसा नहीं जो छायावाद हो, समझ में न आता हो। उससे प्रसिद्ध सब्जी बाजार में दूसरी नहीं। उसके जोड़ की भले ही हों। उसके गुण का मुकाबला तो दूसरी कर ही नहीं सकतीं। वह जब पेट में जाता है, तब ठीक-ठीक समझ में आता है कि चिरकीन ने क्यों शायरी की। इसी तरह हमारे हिन्दी के धुरन्धर क्या भाषा लिख गये हैं, उसमें कौन स्वर प्रधान है, उसकी कैसी गति है, यह सब तभी समझ में आवेगा, जब उसे पचाने की नौबत आवेगी।

भाव की बात पूछिए मत। जहाँ देखिए, बेभाव की तड़ातड़ है। मेरे मित्र ने लिखा, श्वेतजी प्रियतम की खोज में अनन्त की ओर नहीं दौड़ते। वह घर बैठे प्रियतम को देखते हैं। इसी विश्व के तमाम रूपों में प्रियतम है। बात पते की कही। आसान भी है। बैठे काम हो, तो कोई दौड़ क्यों लगाये? इच्छा हुई, लिखकर पूछूँ कि समझ लीजिए, आपके श्वेतजी कमरे में बैठे हैं, झरोखा खुला है; एकाएक उनकी निगाह गयी, तो देखते हैं कि खेत में गधा चर रहा है; अब बताइए, आपके श्वेतजी ने क्या देखा, कि प्रियतम चर रहे हैं?—यदि चरना और गधा इन दोनों में से कुछ न रहा तो इस सान्त भाव से आगे अनन्त की ओर दौड़ होती है या नहीं? पर मैंने सोचा, जो सोता हुआ है, वह जगाया जा सकता है; पर जो जगता हुआ आँखें बन्द किये हुए है, उसे ईश्वर भी नहीं जगा सकता। इस विचार से फिर न लिखा। गालियाँ और आस्फालन बरदाश्त कर लिया। हिन्दी में जहाँ देखिए, शालीनता, भारतीयता, सुरुचि आदि का बाजार गर्म है। कोई भी विषय पर ठीक-ठीक प्रकाश नहीं डालता। एक-दूसरे को धोका देना बेरोकटोक प्रचलित है। इससे सच्चा भाव उभड़ ही नहीं पाता। लोगों को मनुष्य की तसवीर देखने को नहीं मिलती। जहाँ तुलसीदास-जैसे महात्मा लिखते हैं—

"जो अपने अवगुन सब कहऊँ,
बाढ़ै कथा पार ना लहऊँ ॥
ताते मैं अति अलप बखाने ।
थोरे महँ जानिहैं सयाने ॥"

(यह गोस्वामीजी की दीनता नहीं; मनुष्य-चरित्र पर लिखी गयी सत्य बातें हैं। चौथी पंक्ति कितनी जोरदार है! समझदारों पर समझने का भार छोड़ दिया है।) वहाँ जिसे देखिए, ऐरा-गैरा-नत्थू-खैरा, सुरुचि का स्वामी बना घूमता है। नतीजा यह हुआ है कि सच्चा भाव, सच्चा चित्रण नहीं आ पाता। मेरा यह मतलब

नहीं कि असत् जरूरी है। मैं असत् पर जोर नहीं दे रहा। केवल उसका अस्तित्व बतला रहा हूँ कि सत् के नाम का अगर कुछ होगा तो उसके साथ असत् अवश्य होगा। जब तक मनुष्य मनुष्य है, तब तक वह असत् से बच नहीं सकता। जब वह इस विचार में है, तब वह ठीक-ठीक भाव प्रदर्शन कर सकता है। इस विषय पर मैंने बहुत लिखा है। इसके मानी ये नहीं कि इससे साहित्य का पतन होता है। नहीं, यही वह भूमि है, जहाँ से व्यक्ति और समाज का उत्थान अपेक्षित है। जो लोग आदर्श-आदर्श चिल्लाते हैं, वे आदर्श का मतलब नहीं समझते। आइडिया (Idea) किसे कहते हैं, उन्हें नहीं मालूम; रामायण और महाभारत को प्रमाण में पेश करनेवाले नहीं जानते, इनमें आदर्शवाद नहीं (जैसा वे समझते हैं), ये आर्य-आइडिया—वेदान्त—के रूपक हैं। जहाँ चित्रण है, वहाँ मनुष्य-चित्रण ही है। राम में भी दोष दिखाया गया है और सीता में भी। इन पुस्तकों को स्वानुरूप आदर्शवाद की किताबें बतानेवाले राम और रावण तथा युधिष्ठिर और दुर्योधन का मतलब अगर मालूम कर लेंगे, तो बहुत कुछ समझ में आ जायगा कि क्या गुल खिलाया गया है। आज इसी धोकेबाजी से, इसी कमजोरी के कारण समाज के पैर आगे नहीं उठ रहे। अधिकांश जन तीन सौ वर्ष पहले जहाँ थे, वहीं अब भी हैं। जो अँगरेजी पढ़कर विलायत से लौटकर सरकारी नौकरियाँ प्राप्त कर आगे बढ़ने का रूप रखते हैं, वे और बड़े ढोंगी और स्वार्थपर हैं। बढ़ना मनुष्य की आत्मा के भीतर है, विलायत में नहीं। मैंने एक प्रोफेसर के सम्बन्ध में सुना है, वह हिन्दी के डाक्टर होने के लिए योरप गये हैं। भाव की ऐसी ही हत्या सब जगह है। योरप अवश्य जाना चाहिए, यदि जाने की आर्थिक सुगमता हो। पर उसका उद्देश जब शिक्षा के अतिरिक्त कुछ और होता है, तब वह मरणीय भले हो, वरणीय कदापि नहीं।

जिस तरह खड़ी बोली उठ नहीं पायी, पड़ी हुई है, उसी तरह भाव। जिधर भी देखिए, अभाव-ही-अभाव दृष्ट होगा। बाजार में योरप की बनी चीजों की जो चमक है, वह आपकी नहीं। उससे जो चमकीले हैं, वे नवीन नहीं। नवीन वह है जो उनकी सत्ता तक पहुँचाता है, जिससे आधुनिक-से-आधुनिक आदमी बन जाता है, और अपनी समस्त प्राचीनता तथा विदेशी नवीनता को ठीक-ठीक समझकर समाज, साहित्य, देश तथा विश्व को उठाने का प्रयत्न करता है। जड़-विज्ञान के प्रताप से हिन्दुस्तान में जितनी करामातें हैं, वे एक दूसरी से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि सापेक्ष-वाद का एक विकसित रूप मिलता है। जिस प्रकार तार के बाद बिना तारवाला तार आविष्कृत हुआ, उसी प्रकार व्यावहारिक वेदान्त से, मोटे-से-मोटे सम्बन्ध से सूक्ष्मतम तक हम पहुँच सकते हैं। एक फूल के साथ प्रकाश और अन्धकार के समस्त सिद्धान्त मिले हुए हैं, और वह इनका ज्ञाता है। हम इस निरविच्छिन्न भाव-सूत्र को छोड़कर न जाने क्या हो गये हैं। साहित्य में, चरित्र-चित्रण के समय, ये सब बातें आती हैं। इन्हीं का क्रम-परिणाम विकास कहलाता है, जैसे तार के बाद बिना तारवाली बात कही। जल जो स्वयं अचल है, वह चलता है, उसमें शक्ति पैदा होती है। पर हम हमेशा आदर्शवाद को पकड़े अचल रहे। हमारी कार्यकारिता केवल चीत्कार में परिणत रही। स्वार्थ को बृहत् रूप में सार्थक न कर सके। दूसरों की चमक का चमत्कार देखते रहे।

पर यह निश्चय है कि जो कण्ठ क्षीण है, वह अब देर तक और दूर तक न सुन पड़ेगा। जिन्होंने अपना घर फूंककर तमाशा देखा है, वे घर-घर आग लगावेंगे। जो भारतीयता शब्द-मात्र थी, वह वज्ञानिक सहस्र-संयुक्त आविष्कारों की तरह महान्-

महान् अर्थ पैदा करेगी। जो संघर्ष मनुष्य-जीवन की सार्थकता है, वह जीवन-जीवन को यहाँ सार्थक करेगा, मर्म समझाता हुआ, कर्म में प्रेरित करता हुआ, जड़ और चेतन के विज्ञान-धर्म में मिलाता हुआ, पतन से उठाता हुआ, सहस्रों विकसित रूप और भावों में खिलाकर निःसीम सत्ता में अवसित करता हुआ।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1935। असंकलित]

## श्रीरामकृष्ण मिशन (लखनऊ)

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव आज विश्वकीर्ति के पवित्र परमाणुकाय अवतारवरेण्य महापुरुष हैं। सभी देशों और वर्ण-सम्प्रदायों के मनुष्य उनका आदर्श ग्रहण कर पवित्र हो रहे हैं। अनेकों के मत से उनकी तरह के पुण्य-चरित्र का आज तक संसार में अभ्युत्थान नहीं हुआ। उनकी साधना अन्य में नहीं मिलती। स्वामी विवेकानन्दजी-जैसे उनके विश्वव्याप्त कीर्ति शिष्यों का कहना है, आजीवन तपस्या द्वारा वे श्रीरामकृष्ण की सहस्रांश साधना का गुरुत्व नहीं पा सके। श्री महावीरजी के भाव से श्रीरामचन्द्रजी की, श्रीराधिकाजी के भाव से श्रीकृष्णचन्द्रजी की, तन्त्रोक्त रीतियों से परा विधा की, दासी तथा बालक के भाव से श्रीजगत्माता की, छिन्न सूत्राधार होकर वेदान्त की, क्रायस्त और पैगम्बर मोहम्मद की साधना उन्होंने की और अपने मार्जित सहज संस्कारों के फलस्वरूप प्रत्येक साधना में आशु सिद्धि प्राप्त की। सभी इष्टों के उन्हें दर्शन हुए और सभी मार्गों से वह एक सत्य में पहुँचे। यह महा-ज्ञान आज के भारत के लिए कितना आवश्यक था, जातीय मूल में स्थित ऐसी शक्ति क्या हो सकती है और यह साधनानुभूत सत्य कौन दे सकता है, गीता के पढ़नेवाले समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्ण इसी तत्त्व के शुद्ध सत्व हैं।

भारत अपने नामार्थ से जिस प्रकार आज तक चला आया है, उसी प्रकार आगे भी उसे चलना था। इस शक्ति तथा प्रतिभा के रूप रामकृष्ण को धारण कर स्वामी विवेकानन्दजी कहाँ तक गये, यह शिक्षित मण्डली को मालूम है; संसार उस ज्योति को देखकर अचल रह गया। प्राचीन लक्षणानुसार वही भारत के नवीन नेता कहे जा सकते हैं। अनेक धर्म-सम्प्रदायों के संगम-स्थल भारत को किस प्रकार उद्देश-पूर्ति करनी होगी, यह ज्ञान देते हुए, समझाते हुए, साथ ले चलनेवाले यथार्थ नेता वही हैं। स्वार्थ लेशरहित, चिरतपस्वी, वाग्मिप्रवर, महाज्ञान स्वामी विवेका-नन्दजी का जीवन इसी उद्देश की सिद्धि है। विचारों के भीतर से किस प्रधान भाव का आश्रय लेकर वर्तमान भारत धन्य होगा, उसकी बहुभाव-समर में विजय होगी, इसके स्वामी विवेकानन्दजी सरल तथा श्रेष्ठ निर्णायक हैं। उनका ज्ञान-कोष अक्षय, अत्याश्चर्यकर है। उनके तर्क अपराजित हैं। जातीय संगठन के वही आचार्य हैं।

उनकी एक ही लक्ष्य पर प्रवाहित सहस्रधार प्रतिभा कर्मपथ की भी प्रवर्तिका है। भारत प्राचीन जिन पथों से चलता जा रहा था, उनमें से कोई भी पीड़ितोद्धार के लिए न था। उस समय तक देश में कई संस्कारक-दल तैयार हो चुके थे। पर देश के अनाथों, दुर्भिक्ष-पीड़ितों तथा बाढ़ के सताये हुओं के लिए कोई संस्था न थी,

जो हाथ पकड़ती। स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन के संगठन के पश्चात् समागत उच्च शिक्षित युवक त्यागियों को शास्त्रानुशीलन और चरित्र-गठन के साथ-साथ पीड़ितों की सहायता के लिए भी प्रेरित किया। यह परामर्श उन्हें उनके अपर गुरु-भाइयों से मिला था।

एक बार की एक घटना याद आयी। स्वामीजी, नवजात शिक्षित युवक साधुओं को शास्त्र पढ़ा रहे थे। श्रीरामकृष्ण-मिशन-भवन, बेलूड़, निर्मित हो चुका था। यह कलकत्ते से पाँच-छः मील उत्तर, गंगा के पश्चिम तट पर है। इसी समय वंग-भाषा के शेक्सपियर नाट्य-सम्राट् महाकवि गिरीशचन्द्र घोष स्वामीजी से मिलने गये। गिरीश बाबू स्वामीजी के गुरुभाई थे। स्वामीजी के तरुण काल में गिरीश-चन्द्र साहित्याकाश के मध्याह्न सूर्य थे। इसलिए वयोज्येष्ठभाव रखते थे। स्वामी-जी को पढ़ाते हुए देखकर व्यंग करते हुए बोले --"मुक्ति पढ़ा रहे हो, उधर देश में हाहाकार मचा हुआ है! बाढ़ से सारा बंगाल बह गया!" स्वामीजी के पलाश-नयन सजल हो गये। वे उठकर बाहर दीवार की आड़ में चले गये। विद्यार्थी गिरीश-चन्द्र को देखने लगे। "देखा" गिरीश बाबू बोले, "तुम्हारे स्वामीजी में इतनी करुणा है और तुम सूखे पन्ने निचोड़ रहे हो।" कवि के मजाक का युवक विद्यार्थियों पर बुरा प्रभाव न पड़े, शास्त्राध्ययन से उन्हें अरुचि न हो जाय, इस विचार से स्वामीजी फिर तुरन्त आ गये, और "तुम लोग पढ़ो, अध्ययन ही प्रथम लक्ष्य होना चाहिए" कहकर एकान्त में गिरीश बाबू को बातचीत के लिए ले गये।

पश्चात् श्रीरामकृष्ण-मिशन का सेवा-संघ उन्होंने नियन्त्रित किया। इस संघ का कार्य देशप्रसिद्ध है। इस संघ से पहले यहाँ साधारण लोगों की सेवा के लिए कोई संस्था न थी। आज भी इतनी व्यापकता और चारुता से दूसरी संस्था काम नहीं करती। ऐसे कार्यों के लिए त्याग जरूरी है। यहाँ वही अधिक सफल है, जो त्यागी है। श्रीरामकृष्ण-मिशन में यह भार संन्यासियों पर रहता है। व्यसन और फ़ैयाजी का यहाँ कोई सवाल नहीं। इसीलिए इस संघ के प्रति साधारणजनों की सहानुभूति और श्रद्धा अधिक है। इस समय समस्त संसार में रामकृष्ण-मिशन की शाखाएँ फैली हैं। भारत का तो शायद ही कोई बड़ा शहर हो, जहाँ इसकी शाखा न हो।

कुछ वर्षों से एक केन्द्र लखनऊ में भी प्रतिष्ठित हो गया है। यहाँ के जो बंगाली सज्जन स्वामी विवेकानन्दजी की देश-सेवा-नीति से सहानुभूति रखते थे, वे Good Will Club (गुड विल क्लब) के नाम से एक गोष्ठी कायम कर मामूली तौर से साधारणजनों की सेवा किया करते थे। इस प्रकार 1914 ई. से यह काम शुरू होता है। पर, जब सेव्यों की संख्या क्रमशः बढ़ चली तब 24 घण्टे के लिए मुस्तैदी त्यागी कार्यकर्ता के बिना इस सेवा-धर्म में रुकावट पड़ने लगी। इस उलझन को मिटाने के विचार से यहाँ के सेवाकामी सज्जन बंगालियों ने प्रेसिडेण्ट, रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ को योग्य मनुष्य के लिए लिखा, और आज्ञा पर, ब्रह्मचारी वीरेश-चैतन्यजी 1922 ई. में यहाँ आये। उनके कार्य से यहाँ के लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई, और भवन-निर्माण कर कार्य-संचालन का निश्चय किया गया। ब्रह्मचारी वीरेशचैतन्यजी की कार्यपटुता से प्रसन्न होकर लखनऊ की म्युनिसिपलिटी ने गूँगे नवाब के बाग (अमीनाबाद) में एक टुकड़ा जमीन रामकृष्ण-सेवाश्रम के लिए दान कर दी। इसके लिए इंजीनियर बाबू रजनीकान्त सरकार ने जोर पहुँचाया। यह इस समय यहाँ के रामकृष्ण-मिशन-सेवाश्रम के वाइस प्रेसिडेण्ट हैं। यहाँ के प्रमुख सज्जनों में बाबू श्री शरच्चन्द्र वन्द्योपाध्याय, बाबू श्री नलिनविहारी हालदार, बाबू

श्री हरिदास प्रामाणिक, बाबू श्री शिवदास प्रामाणिक ग्रादि ने प्रेसिडेण्ट, रामकृष्ण-मिशन, बेलूड़ को स्थायी रूप से यहाँ काम चलाने के सम्बन्ध में लिखा ग्रौर इस प्रकार 1924 ई. से रामकृष्ण-सेवाश्रम की प्रतिष्ठा हुई। पहले गरीब रोगियों को दवा देने का काम ही किया जाता था। ग्रार्थिक सहायता केवल यहाँ के बंगाली सज्जन देते थे। इस समय तक दवा ग्रादि में 13-14 सौ रुपये का सालाना खर्च बंगाली भद्र महोदयों के ही दान से चलता है।

यहाँ के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर ए. पी. सेन महोदय शुरू से इस रामकृष्ण-सेवाश्रम के प्रेसिडेण्ट थे। उनके शरीरान्त के बाद ग्रब यू. पी. कौंसिल के पूर्व सेक्रेटरी रा. ब. श्री सुरेन्द्रनाथ घोष सभापति हैं। भवन-निर्माण 1932 ई. तक होता रहा। रामकृष्ण-मिशन-सेवाश्रम-भवन में 13,000) से कुछ ग्रधिक-ग्रधिक खर्च हुग्रा; भवन दोमंजिला है; तीन तरफ बरामदा है, किनारे-किनारे कमरे, बीच में बड़ा हॉल। दूसरी मंजिल में बरामदा नहीं। नीचेवाला बड़ा हॉल बैरिस्टर ए. पी. सेन महोदय ने ग्रपने पिताजी के नाम पर बनवा दिया है। इतना ही बड़ा, इसके ऊपरवाला हॉल बाबू योगेन्द्रनाथ पाठक महोदय ने बनवाया। दवाखाने की इमारत 1929 ई. में बनकर तैयार हुई। यह 4000) की लागत से बनी, ग्रपनी मा के नाम पर। इसे भी बैरिस्टर ए. पी. सेन महोदय ने बनवाया।

1923-24 ई. में रोगियों की संख्या 17,628 हुई थी; 1933-34 ई. में 1,20,000। इससे ग्रनुमान होता है कि साधारण लोगों की कैसी सहानुभूति है। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी धर्मों के लोग दवा लेने के लिए ग्राते हैं। ग्रस्पताल में रोगियों को स्थायी रूप से रखकर दवा करने की गुंजाइश नहीं। Out-door Patient (दवा लेनेवाले मरीज) ही ग्राते हैं। ग्रस्पताल तथा यहाँ के समस्त रामकृष्ण-मिशन-सेवाश्रम के ग्रध्यक्ष इस समय स्वामी देवेशानन्दजी हैं, इनके सहायक-रूप से स्वामी उत्तमानन्दजी। ग्रन्यत्र समूह में ग्राप लोगों के चित्र प्रकाशित हैं। डॉक्टर बाबू शिवसाधन बोस एम. बी. बी. एस्. ग्रौर डॉक्टर बाबू तुलसीदास मुकर्जी बी. एस्-सी., एम. बी. बी. एस्. (ग्राँख के विशेषज्ञ) ग्रपना समय निकालकर धर्मार्थ रोगियों को देखने के लिए यहाँ ग्राया करते हैं। 15) महीना ग्रस्पताल को म्युनिसिपलिटी देती है।

यह रामकृष्ण-मिशन-सेवाश्रम 20) रुपये प्रतिमास विधवाग्रों को सहायता देता है।

सेवाश्रम भवन के उत्तरवाले बरामदे में नैश पाठशाला लगती है। ऊपर प्राइमरी तक पढ़ाई होती है। 1934 ई. में छात्र-संख्या 65 थी। म्युनिसिपलिटी से 30) रुपये की मासिक सहायता मिलती है; परन्तु खर्च 40) रुपये मासिक है।

सर्वसाधारण के लिए ग्राश्रम में एक पुस्तकालय भी है, जिसमें 1500 पुस्तकें हैं ग्रौर 15 सामयिक पत्र ग्राते हैं। स्थायी पाठकों 61 ≡ ) की प्राप्ति प्रतिमास होती है।

यहाँ के स्वामी ग्राध्यात्मिक शिक्षा में तत्त्वदर्शी हैं। उनके धार्मिक वार्तालाप करने पर सन्तोष होगा। मिलने पर उनके महश्चरित्र की छाप पड़ेगी। जीवन के दुःख ग्रौर ग्रवसाद दूर होंगे। उनके एक-एक शब्द में जीवन की ग्रमृत-शक्ति मालूम होगी। रामकृष्ण-मिशन की शिक्षा का ग्रात्मगौरव विकासोन्मुख करेगा।

लखनऊ में हिन्दी भाषी धनी-मानी तथा ग्रध्यात्मान्वेषी ग्रनेक हैं। यह संस्था सार्वजनिक है। संन्यासी भारत के शिरःस्थानीय हैं। यहाँ ग्राकर वे ग्रपने दरिद्र ग्रौर उन्नत, दोनों रूप प्रत्यक्ष कर सकते हैं; देख सकते हैं—दवा के लिए कैसे-कैसे

लोग आते हैं और उनसे प्रेम करनेवाले, उनके लिए अपना सर्वस्व अर्पित करनेवाले साधुओं की क्या कान्ति है। ज्ञान और कर्म, दोनों के समन्वय का यह पवित्र क्षेत्र है। लखनऊ के रईस और युवक शिक्षा पाते हुए शिक्षा देंगे, मुझे हार्दिक विश्वास है।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1935। असंकलित]

## हिन्दी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचन्दजी

हिन्दी के युगान्तर-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियों से निर्भीक वीर की तरह लड़नेवाले, उपन्यास-संसार के एकछत्र-सम्राट्, रचना-प्रतियोगिता में विश्व के अधिक-से-अधिक लिखनेवाले मनीषियों के समकक्ष आदरणीय श्रीमान प्रेमचन्दजी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शय्याशायी हो रहे हैं। कितने दुख की बात है हिन्दी के जिन पत्रों में हम राजनीतिक नेताओं के मामूली बुखार का तापमान प्रतिदिन पढ़ते रहते हैं, उनमें श्री प्रेमचन्दजी की—हिन्दी का महान उपकार करनेवाले प्रेमचन्दजी की अवस्था की साप्ताहिक खबर भी हमें पढ़ने को नहीं मिलती। दुख नहीं, यह लज्जा की बात है, हिन्दीभाषियों के लिए मर जाने की बात है। उन्होंने अपने साहित्यिकों की ऐसी दशा नहीं होने दी कि वे हँसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियों की भी दासी है। हिन्दी तभी महारानी है जब साहित्यिक के हृदय-आसन पर पूजी जाती है, पर ऐसा नहीं होता। उसके सेवक, वे प्रतिभाशाली युवक, प्रौढ़ और वृद्ध ठोकरें खाते हुए बढ़ते और पश्चात्ताप करते हुए मरते हैं। क्या लिखूँ लज्जा की बात स्पष्ट न करना ही अच्छा है।

मैं जब राजेन्द्रप्रसाद और पण्डित जवाहरलाल नेहरू-जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओं को देखता हूँ और साथ-साथ मुझे श्री प्रेमचन्दजी की याद आती है, तब मेरा हृदय आनन्द और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हूँ, राजनीति के सामने साहित्य का सिर नहीं झुका, बल्कि और ऊँचा है, केवल देखनेवाले नहीं हैं। हिन्दी-भाषी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। वे यह भी जानते होंगे, मेरे कानों में डंके की आवाज कम जाती है। जिस साधना से आदमी आदमी है, जिसके कारण नेता सम्मान पाते हैं, मैं उसी की जाँच करता हूँ। वहाँ प्रेमचन्दजी, दरिद्र प्रेमचन्दजी, अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करनेवाले प्रेमचन्दजी, साहित्य की साधना में यहाँ-वहाँ भटकते फिरनेवाले प्रेमचन्दजी, फिर भी एकनिष्ठ होकर दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने, वर्ष-पर-वर्ष साधना करते रहनेवाले प्रेमचन्दजी, बड़े, बड़े, बहुत बड़े हैं। इतना बड़ा कोई नेता भी इस तरह संकट में पड़ा, जिसके नाबालिग बच्चे उड़ी निगाह से पिता के पास बैठे हुए शून्य में सोचते रहें और महाव्याधि में भी पिता को विश्राम न मिला—उनके अन्न की चिन्ता रही? इतने बड़े पिता को अन्न की चिन्ता—धन्य रे देश!

इस बार प्रायः साढ़े तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचन्दजी के सरस्वती प्रेस में मेरी 'गीतिका' छप रही थी। प्रकाशक था भारती भण्डार। एक दिन पण्डित वाचस्पति पाठक, जिनका मैं अतिथि था, बोले, 'प्रेमचन्दजी से मिल लीजिए।'

उस समय प्रायः आधा जून, दुपहर की लू चलती थी। प्रेमचन्दजी के नाम से मैंने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुँचकर दो मंजिल पर चलकर देखा, प्रेमचन्दजी बैठे हैं। मैं उनके परिवार-भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानी भी आयीं। मैंने प्रणाम किया। फिर एक गिलास पानी माँगा। बहुत दिनों बाद प्रेमचन्दजी को देखा था। मालूम होता था, वह और दुबले हो गये हैं। उनसे कहा, उन्होंने कहा जैसा कहा करते हैं—'नहीं, यह तो मेरी काठी है।' कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई, फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओजपूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गये। प्रेमचन्दजी के 'गोदान' की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना, प्रसादजी प्रेमचन्दजी से मिलने गये थे, वह सख्त बीमार हैं। फिर सुना, प्रेमचन्दजी एक्स-रे कराने के लिए लखनऊ गये हैं। फिर मालूम हुआ, वह लखनऊ से वापस आ गये हैं। एक दिन पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ उन्हें देखने गया। वह उसी कमरे में बैठे हुए थे, पर इस बार फर्श पर न थे, बिछे पलँग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानी उनके लिए दवा तैयार कर रही थीं। उनकी लड़की अपने लड़कों को लेकर आ गयी थी, एक ओर खड़ी थी। मुझे देखकर नमस्ते की। मैं प्रेमचन्दजी की बीमारी की चिन्ता में था, कुछ कहा नहीं, सिर्फ हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह हँस रही थी। मेरी दृष्टि की सियाही उसके मुँह पर पड़ी—उसके मुख पर मुझे झाईं-सी दीखी। अगर नीचे उसके अत्यन्त सुन्दर बड़े लड़के को खेलते हुए मैंने न देखा होता, उसका परिचय मालूम कर उसे डरवा न चुका होता, तो पहचान न पाता कि यह लड़की है। फिर भी मैंने प्रमचन्दजी से पूछा। लड़की ने लड़की की खुली आवाज में कहा, 'क्या आपने मुझे पहचाना नहीं? मैंने तो आपको पहचान लिया।'

मैंने कहा, 'मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं, पर तुम पहले लड़की थीं, अब माँ हो गयी हो।'

लड़की झेंप गयी। प्रेमचन्दजी खुलकर हँसे। देवी शिवरानी दवा तैयार करती हुई मुस्करायीं। 'हंस' निकल चुका था। उससे जमानत तलब की जा चुकी था। जमानत देकर पत्र निकालना असम्भव है, विशेषतः साहित्य के लिए, फिर भारतीय साहित्य परिषद् 'हंस' को लेने की बातचीत कर रहा है। प्रेमचन्दजी कहते रहे, ऐसी हालत में हमारे लिए नया पत्र निकालना ठीक होगा। प्रेमचन्दजी दुर्बल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्त्तालाप करते रहे। बड़ी जिन्दादिली, सुननेवालों पर उसका असर पड़ता हुआ, जैसे सुननेवालों को ही वह स्वास्थ्य पहुँचा रहे हों। मैं उस विजयिनी ध्वनि को सुन रहा था, जिसका सिर नीचा नहीं हुआ, जो हिन्दी की महाशक्ति है, और रह-रहकर दुर्बल अस्थिशेष प्रेमचन्दजी को देख रहा था। दूसरे प्रसंग पर पूछा, 'आप लखनऊ गये थे, वहाँ क्या कहा डॉक्टरों ने?'

'कुछ नहीं, सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। कहा कुछ नहीं है, ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसेन्ट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देखभालवाला कोई नहीं, लड़के को ले गया था। कौन तीमारदारी करे, लौट आया।'

वाजपेयीजी से लेख ग्रादि के लिए प्रेमचन्दजी ने कहा । कुछ देर बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली ।

कुछ दिन ग्रौर बीते । 'गीतिका' छप चुकी थी । ग्रन्तिम दो-एक फार्म थे । मैं प्रेस गया हुग्रा था । प्रेमचन्दजी के बड़े लड़के मिले । प्रेस की ग्रावश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचन्दजी से मिलने की इच्छा प्रकट की । उन्होंने कहा, 'ग्रब तो वे यहाँ नहीं रहते ।' मुझे उनका मुकाम बतलाया । मेरे रास्ते में ही मकान पड़ता था । मैं चला । बादल घिरे थे । चलते-चलते पानी गिरने लगा । छाता नहीं था । भीगते हुए ग्रानन्द ग्राने लगा । मकान के पास ग्राकर ग्रनिश्चय में पड़ गया कि कौन-सा मकान होगा । फाटक बतलाया था, यहाँ फाटक न दीखा, एक दरवाजा सिर्फ देख पड़ा । डरते हुए खोला, भीतर लम्बा मैदान देखा । किनारे से रास्ता गया था । मैदान के उस तरफ मकान था । कोई था नहीं, जिससे पूछता । हिम्मत बाँधकर बढ़ा । किनारे चमेली के झाड़, कहीं-कहीं ग्रपराजिता लिपटी हुई । दोनों खिले । चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूँदों के थपेड़ों से व्याकुल थे । देखता हुग्रा एक फूल छुग्रा । फूल वृक्ष पर रखे-से थे । उठा लिया । लिये हुए उनकी दशा पर विचार करता हुग्रा मकान के सामने ग्राया । दूर से दो-एक ग्रपरिचित देवियाँ दीख पड़ीं । एक जोड़ी छोटे जूते पड़े थे । सोचा, ये उसी लड़की के लड़के के जूते होंगे । एक बगल चिक पड़ी हुई दीख पड़ी । उधर चला, तब तक शिवरानीजी दीख पड़ीं । उनसे पूछा । क्षीण स्वर से उन्होंने कहा, 'सोये हैं,जाइए ।'

मैं गया । देखा, प्रेमचन्दजी ग्रत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । पेट फूला हुग्रा है । प्रेमचन्दजी ने ग्राँखें खोलीं, मुझे देखा बड़ी करुण दृष्टि से । मैंने प्रणाम किया । पूछा, 'ग्राप कैसे हैं ?'

दोनों बाँहों की ग्रोर दृष्टि फेरकर उन्होंने, 'देखिए ।' करुण स्वर । ग्रत्यन्त दुर्बल बाँहें । मुझे शंका हो चली । सिंह को गोली भरपूर लग गयी है । ग्रब वह ग्रावाज नहीं रही । मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया । 'कैसे सँभलेगा ?' प्रेमचन्दजी बोले । उन्हें ग्रपने बच्चों की चिन्ता हो रही थी । मैं भरसक ग्रपने को सँभाल रहा था । मेरे हाथ का फूल वहीं छूटकर गिर गया । प्रेमचन्दजी ग्रत्यन्त मन्द स्वर से बोले, ' 'हंस' को फिर से निकालने का विचार है, नहीं तो कैसे चलेगा ?'

मेरी ग्राँखें छलछला ग्रायीं । सँभलकर कहा, 'ग्राप चिन्ता न कीजिए । ग्रापकी किताबें हैं ग्रौर ईश्वर ।'

प्रेमचन्दजी ने 'हंस' के लिए लेख, कविता इत्यादि देने के लिए कहा । कुछ देर तक उन्हें प्रबोध देता हुग्रा, उनके ग्राराम का समय जानकर मैं विदा हुग्रा । प्रेमचन्दजी के बड़े लड़के की ग्रभी पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई । ग्रभी दो-तीन साल एम. ए. करने में लगेंगे । शायद बी. ए. फाइनल है । उसकी दृष्टि में ग्रभी संसार काव्य है, जहाँ जीविका का प्रश्न नहीं । बिलकुल नया जीवन, जब तरुण सदा धोखा खाता है, छला जाता है । छोटा लड़का तो निरा बच्चा है । मैंने सोचा—ग्रगर जैनेन्द्रजी ग्रा जायँगे तो ग्रच्छा होगा, 'हंस' को सहायता देंगे । मन-ही-मन शिवरानीजी की सेवा याद करता हुग्रा 'प्रसाद'जी के यहाँ ग्राया । मैं प्रेमचन्दजी को देखने जब-जब गया, शिवरानीजी को उनके लिए कुछ-न-कुछ करते देखा, सदा संयत, सदा दत्तचित्त ।

डॉक्टर मुकर्जी काशी के प्रसिद्ध होमियोपैथ प्रेमचन्दजी के चिकित्सक हैं । रोग जलोदर है । पानी की जगह दूध दिया जाता है । डॉक्टर को ग्रभी उनके ग्रच्छा हो जाने का विश्वास है । केवल बढ़ती हुई कमजोरी से घबराते हैं । कुछ भय उग्र

से भी है। प्रेमचन्दजी 60 के होंगे। दुर्बल पहले से थे। इतनी उम्र में प्राकृतिक शक्ति के घट जाने के कारण, दुस्साध्य रोगों के लिए चिन्तावाली बात रहती है। मरीज अपनी ही प्रकृति से जल्द अच्छा नहीं हो पाता।

कुछ दिन और बीते। नन्ददुलारे वाजपेयीजी के हाथ एक गीत मैंने 'हंस' कार्यालय भेज दिया। बड़ी कविता लिख रहा था, वह तैयार न हुई थी, फिर भेजने के लिए कहला भेजा। नन्ददुलारेजी अपना लेख लेकर जानेवाले थे, प्रेमचन्दजी को देखने के उद्देश से। इसके कुछ दिन बाद वाचस्पतिजी पाठक और पद्मनारायण आचार्य के साथ, काशी छोड़ने के पहले प्रेमचन्दजी के दर्शनों के लिए चला। पद्मनारायणजी 'गीता धर्म' के सम्पादक हैं, अभी तक प्रेमचन्दजी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हो सके। 'मैथिलीमान' के लिए उनकी कुछ आज्ञा है। हम लोग इक्के से चले। रास्ते-भर गुप्तजी के अभिनन्दन की बातें होती रहीं। मुझे बार-बार प्रेमचन्दजी की याद आती रही। गुप्तजी को आदर की दृष्टि से देखता हूँ, इसके अनेक प्रमाण दे चुका हूँ। सोच रहा था, प्रेमचन्दजी को न तो मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला न कोई अभिनन्दन। वह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी नहीं चुने गये। मन ने कहा—'तुम्हारे लिए भी यही फैसला है, जिसने जैसा दिया वैसा पाया।' मैंने कहा—'मैं इसी तरह गुजारूँगा। अगर कुछ काम कर सका तो नाम-यश मुझे नहीं चाहिए।'

अब तक प्रेमचन्दजी का मकान आ गया। हम लोग इक्के से उतरकर भीतर चले। मकान के सामने जब पहुँचे तब दो नवागन्तुक बैठे हुए दीख पड़े। पर ऐसे बैठे थे, जैसे घर के आदमी हों। मैंने सोचा, ये भय्याचार होंगे या रिश्तेदार। साथियों के साथ भीतर गया। सन्नाटा था। बड़ी धीमी आवाज में एक आगन्तुक ने कहा, 'बैठिए।' मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया। इधर-उधर देखा, पहचान का कोई न दीख पड़ा। तब उन्हीं महाशय से कहा, 'हम लोग प्रेमचन्दजी को देखने के लिए आये हैं।'

नवागन्तुक ने मेरा नाम पूछा। मैंने अपना नाम बतलाया। इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आयीं। प्रेमचन्दजी वहीं चारपाई पर थे। रस्सी बाँधकर पर्दा कर रखा गया था। पर्दा हटाने लगीं। मैं जब प्रमचन्दजी के सामनेवाली चारपाई की ओर बढ़ा, तब आगन्तुक महोदय ने कहा, "ज्यादा बातचीत मना है।'

मैं अपने लक्ष्य पर चलकर बैठ गया। देखते ही मेरे होश उड़ गये। प्रेमचन्दजी ने हाथ जोड़कर कहा, 'अब तो अन्तिम विदा है।'

हे ईश्वर! केवल दस वर्ष।

['आज', दैनिक, काशी, 1 अक्तूबर, 1936। असंकलित]

## भौन कवि

गर्मियों में प्रायः डेढ़ महीना (मुझे) डलमऊ रहना पड़ा। डलमऊ रायबरेली जिले का एक सब-डिवीजन है, मेरी ससुराल। पहाड़ जाने की अक्षमता ने ससुराल की

ओर मुँह फेरा। कई साल नहीं गया था। फलतः तीसरे दिन लौटने की नौबत नहीं आयी। पहले का कुछ त्याग भी था। ससुरजी आधा हिस्सा अपनी बेटी को दे रहे थे—मैंने नहीं लेने दिया। कहा, 'एक तरफ बाप का आधा हिस्सा है, दूसरी तरफ पूरा मैं, एक लो।' श्रीमतीजी ने मुझे ही पसन्द किया। एक कारण और है; मैंने श्रीमतीजी की खाली जगह नहीं भरी, प्रायः बीस साल हुए, इसलिए सासुजी मुझ अपनी बेटी समझती हैं और सलहज साहिबा, ननद। बड़े आनन्द से रहा। काफी पोइट्री (कविता) मिली। दोनों वक्त गंगा नहाना, डटकर भोजन करना, एक वक्त कसरत, फालतू समय सलहज साहिबा से ब्रजभाषा-काव्यालाप। सलहज साहिबा छोटी हैं, पद में, यों कई बच्चों की माँ है; घूँघट काढ़ती हैं, लेकिन छायावाद लिखते-लिखते मश्क एसी बढ़ी है कि झीने घूँघट के भीतर उनके सुन्दर मुख की छाँह—मेरी निगाह में साफ रंग, रेखा, भाव और ज्योति लिये प्रतीत होती थी। वह समझती थीं—मैं पर्दे में हूँ, मैं समझता था—मैं मजे में देख रहा हूँ।

फैजाबाद में लेक्चर्स में नहीं गया। कई जगह कवि-सम्मेलन का सभापतित्व था, लिखा—इलाज करा रहा हूँ। कई जगहों से वैवाहिक निमन्त्रण आये, लिख दिया—अब विवाह में मैं नहीं जाता, मुझे भावावेश होता है। सम्पादकों ने रचनाएँ माँगीं, समझा दिया लिखकर, बिहारी का है, किसका है वह बादवाला टुकड़ा—जगत् तपोवनमय कियो।

घर में जैसा आनन्द, बाहर भी वैसा ही। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी पण्डित गिरिजादत्तजी त्रिपाठी के यहाँ गीतवाद्य लगा ही हुआ। देश-भर के गुणी आते-जाते हैं, कभी अच्छन आये तो कभी नौरंग। बटमार तो रोज दो-चार पहुँचते हैं, जिन्हें रास्ता चलते आटा-दाल की जरूरत होती है। ज्योतिषीजी और उनके छोटे भाई वैद्यरत्नजी (मंझू महाराज) बड़ी पैनी निगाह के आदमी, साथ ऊँचे दर्जे के सभ्य, देहात में जैसे व्यक्ति अलभ्य कहे जाते हैं। सबकी इज्जत, सबकी प्रशंसा करनेवाले। मेरी शादी पण्डितजी के पूज्य पिता ने तय की थी, ज्योतिषशास्त्रानुसार यद्यपि नहीं बनती थी—मैं मंगली था, फिर भी वह वहाँ के बृहस्पति थे—उन पर सबकी श्रद्धा थी, न जाने किस तरह बनाकर मेरे ससुरजी को विवाह करने के लिए समझाया। मेरे पिताजी ने भी उनकी खुशामद की होगी—सन्देह नहीं। कारण, मेरे ससुरजी की लड़की उनकी पुत्रवधू हो—कई साल से उनका ध्यान था, मैं जानता था। अस्तु, तब से इस ज्योतिषी-परिवार पर मेरी बड़ी श्रद्धा है। ये लोग मुझे कुल-कमल कहते हैं। सुनने में मुझे बुरा नहीं मालूम देता। प्रायः उनके यहाँ जाया करता था। देर हो जाती थी, तो मंझू महाराज बुला भेजते थे। दो बजे से छः बजे तक ताश होते थे, ब्रिज नहीं, न टुएंटीनाइन—न लिट्रेचर, न ब्लैक कुइन—न स्क्रू, बस सात हाथ। ठण्डाई और गंगास्नान के बाद कसरत और फिर संगीत। प्रातःकाल गोश्त पकाने में व्यतीत होता था, या किसी कवि या विद्वान् की किताबी प्रतिभा में। आनन्द का आकर्षण जबर्दस्त होता है। मैरिस कालेज, लखनऊ के मृदंगाचार्य पण्डित सखारामजी रह नहीं सके, डलमऊ आये, मुझे स्नेह करते हैं। चि. रामकृष्ण उनका शिष्य है, यद्यपि उसके साथ एक बार आ चुके थे, फिर भी, इस बार मेरे मुख से ग्रीष्म की शीर्ण स्वच्छतोया प्रखरा गंगा का माहात्म्य सुना था, लखनऊ में जब मैं था, और साथ-साथ मेरे ससुराल के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति अलंकार, जिसमें घन-वृक्ष-पत्रच्छायाच्युतरश्मिलेखा शीत-सैकत-सलिला डलमऊ की प्रभात-वेला की वर्णना थी, पर धूल और बालू से धुआँधार गर्मी की दुपहर का जिक्र न था। स्वप्न ज्योत्स्नामयी विमला क्षण-कल्प तरला पश्चिम-समीर शीलता

रात्रि का वर्णन तो था, पर मच्छड़ों के अविराम भनभनाने और काटते रहने की बात न थी। पण्डित सखारामजी 3-4 दिन रहकर चलते समय मुस्किराते हुए बोले, वास्तव में बड़ा आनन्द आया।

एक दिन दोपहर को बेंती चलने की बात हुई, नाव से डलमऊ से पाँच मील पूर्व है। पहले मंभू महाराज से भौन कवि के कवित्त सुन चुका था। यह भी मालूम कर चुका था कि भौन बेंती के थे। पहले मेरी स्त्री की एक महाराजिन गार्जियन थी, वह बेंती की थी, इसलिए बेंती में कविता विशेष मिली, मैं चलने को राजी हो गया। हम लोग चले। नाव पर पण्डित गिरिजादत्तजी, मंभू महाराज, मुन्नू बाबू, पण्डित गिरिजादत्तजी के एक रिश्तेदार और मैं। तरह-तरह की बातें होती रहीं, भौन कवि के सम्बन्ध में खास तौर से। पण्डितजी बन्दूक लिये हुए थे। घड़ियाल देखते जाते थे। एक बड़ा कछुआ किनारे से कूदा। घड़ियाल की माँद खाली थी। अमरूद के बगीचे मिले, मैं कई बार वहाँ जा चुका था। एक रेती पर कुछ चिड़ियाँ बैठी थीं, दरियाई। इच्छा हुई कि कहूँ—एक फायर कीजिए। पर रुक गया। पण्डितजी मारते हैं, खाते नहीं।

बेंती आयी। एक कुत्ता मिला, पागल-पागल-सा। पण्डितजी ने बन्दूक दिखायी, तो वह दुम हिलाने लगा। गाँव का था। गाँव जाते देखा, तो वह भी साथ हो लिया। जिसके नजदीक होता, वही कसौली सोचकर घबराता, ढेले उठाकर और ढेले चलाना छूटा, न कुत्ते का पीछा करना। तब तक बात हो गयी थी कि पागल कुत्ता पीछे से काटता है।

बेंती आयी। छोटा गाँव, ऊँचे कगार पर बसा है। सामने गंगा, बगल से रास्ता। हम लोग चढ़े। कुआँ मिला। घड़े भरे एक स्त्री। पण्डित गिरिजादत्तजी ने कार्य-सिद्धि का कोई मन्त्र पढ़ा। मैंने मन में कहा, 'पहले कुत्ता मिला है, तब यह कुछ नहीं बोले, देखा जाय क्या होता है।'

भीतर हम लोग एक कान्यकुब्ज कुलीन श्रीमान् के यहाँ आये। पण्डितजी ने पूछा नौकरों से, तब तक वह स्वयं अपने रब्वे पर कहीं से आ गये। बातचीत होने लगी। पण्डितजी परिचित थे, हम लोग अपरिचित। परिचय हुआ। पण्डितजी ने मेरे लिए कई 'तम' एक वाक्य में जोड़े। कान्यकुब्ज महाशय भी एक 'तम' थे। साम्य की प्रिय भावना से मुझे देखा। फिर बातचीत होने लगी वैवाहिक। अब मैं वहाँ जाने का कारण समझा। उठकर मुन्नू बाबू के साथ भौन कवि का भवन देखने चला। उस समय कान्यकुब्ज महाशय आस्पद, घर, आँक, शिखा-सूत्र न जाने क्या-क्या पूछ-पूछकर लिख रहे थे। देख-दाखकर हम लोग लौट आये। फिर सबके साथ नाव की ओर चले।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ, भरे घड़े की अपेक्षा कुत्तेवाला प्रभाव बलवान हुआ।

भौन कवि नरहरि के वंशज हैं, सेवक के खानदानी। नरहरि पहले बेंती के रहनेवाले थे, फिर असनी में बसे थे। भौन, गौरा नरेश भूपालसिंह के समय थे। 'मिश्र बन्धु विनोद' में इन भौन का जिक्र है या नहीं, नहीं मालूम, जहाँ तक स्मरण है, एक दूसरे भौन का जिक्र है। 'भौन' ब्रह्मभट्ट थे। इनके पुत्र, दीनदयाल 'दयाल' कवि थे। भौन की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई, पूछने पर मंभू महाराज से मुझे ऐसा ही मालूम हुआ। यहाँ कुछ रचनाएँ भौन की देता हूँ। ये मंभू महाराज को याद थीं, मैंने लिख लीं। भौन में अच्छा कवित्व मालूम दिया। दयाल पिता के-जैसे नहीं।

## भौन की रचनाएँ

(1)

चूँ-चूँ करैं चहुँ ओरन ते झकझोर करैं बड़े भोर ते जागैं,
ग्राम के ग्वैंड, अराम के पेड़, रहीं झुकि मेंड़ में मूज की मागैं।
टूटि गये गोफना के फना, करतारी बजाये भगाये न भागैं,
पार न पावैं गलारन तें, यहि हार में हुर्रा हजारन लागैं।

यह सुन्दर रचना है। इससे भौन की काव्य-प्रतिभा का पता चलता है।

(2)

मुसका बँधावैं, बैल चुसका न पावैं,
घास-घुसका रखावैं, कहैं यहाँ काम आवैगो।
फरुहा, कुदारी दारी खुरपी न आवै खेत,
हरकी नसी ते जोर जर की बचावैगो।
भौन कवि कहैं हाँकी हाँका ते चराये लेत,
जंगल के बीच में कहाँ लौ कौन धावैगो।
जैसी ये जमीन भौन पायी बर्दहा के बीच,
तैसी कविराज कहूँ पायी है, न पावैगो।

(3)

त्रेता में न उठी औ न द्वापर में जोती गयी,
आनि कलिकाल में बटाई भई दाना की।
जामि कै जवांस और जरैला जर कसि रहे,
नारे के किनारे कुसी कास हरिआना की।
भौन कवि कहै हेरि फेरि के बतावैं वहै,
ऐसे महापातकी न मानै दाब राना की।
आप तो लिखी है ठीक दुई की सनद,
पर इलति इलाकेदार देत चारि आना की।

(4)

जैहैं फूटि फूट सी तमाम तोप तोड़वाली,
कूटि जैहै काबिल कमाल फौज बानाते।
टूटि जैहै देश को दिमाग, जोर छूटि जैहै,
लूटि जैहै लाखन को मोल तो सखाना ते।
भौन कवि कहत खोदाय की खबर करौ,
पीछे पछतावगे खराब खून खाना ते।
बैरिन की बनिता सिखावतीं एकन्त, कन्त,
कीजिए न रारि बेनीमाधोवक्स राना ते।

(5)

भौन भौन छोड़ैं नहीं, गौरापति की आस,
बहु नरेश यहि देश में, न जात काहू पास।

(6)

दीरघ दुकूल धरे देवता बजाज बैठे,
पय को पसार पुण्य पूरो रोजगार है।
सेत-सेत रेत रूप-रासि पै सराफ साफ,
सवदा के लेत ही सुखद अलगार है।

भौन कवि कहैं सारे बनिक विहंगन को,
बाजत मृदंगन तरंगन को तार है।
सूझता न वारपार करै को विचार सार,
कैंधों गंग-धार कैंधों मुक्ति की बजार है।

(7)

ऐसे महापातकी प्रसिद्ध पुहुमी में जिन,
बालपन ही ते काम कीनौ है अधम के।
पुन्य को न लेश औ पुनीत ना पुरातन के,
पूरित परे रहे प्रवेस तेह तम के।
भौन कवि कहे भागीरथी के समीप आय,
भटकैं न काहू लखि कौतुक भरम के।
रहे जात कागद करम के न कहे जात,
बहे जात वारि में, न गहे जात जम के।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1937 ('चयन' शीर्षक रूप में)। चाबुक में संकलित]

## प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद
### (श्री नरोत्तमप्रसाद नागर द्वारा लिया इन्टरव्यू)

प्रश्न—"हिन्दी के साहित्यिक समारोहों में आप अब के ही—मतलब हाल में हुए फ़ैज़ाबाद-सम्मेलन में ही—गये थे या पहले भी कभी गये हैं?"

उत्तर—"मैं पहले-पहल 1924 में दिल्ली में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में गया था। सभापति अयोध्यासिंहजी उपाध्याय थे। मेरे साथ मतवाला-सम्पादक स्वर्गीय बाबू महादेवप्रसादजी सेठ भी थे। इसके बाद शायद 1930 में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कलकत्ता-वाले अधिवेशन में गया था। इसके सभापति स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदासजी रत्नाकर थे। और अब के युक्तप्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन, फ़ैज़ाबाद, गया था।"

प्रश्न—"1924 वाले दिल्ली के अधिवेशन में आपने कोई भाग लिया था? यदि हाँ, तो कितना और किस रूप में?"

उत्तर—"मैंने 'मतवाला' में मुक्तछन्द और मुक्तगीत लिखना शुरू किया था। हालाँकि मैं और कई साल पहले से लिख रहा था, लेकिन उस समय तक हिन्दी के पत्रों में ऐसे छन्दों को स्थान न मिलता था। महादेव बाबू ने मेरे छन्दों के प्रचार के लिए 'मतवाला' निकाला था। मेरे छन्दों के अलावा अपनी अन्य पाठ्य-सामग्री के कारण तब तक, छै-ही-सात महीनों में, 'मतवाला' काफ़ी लोकप्रिय हो चुका था। मेरी कविताएँ ताज्जुब की निगाह से, नासमझी से, देखी और पढ़ी जाती थीं। मैंने सम्मेलन में अपना मुक्तछन्द पढ़ा था। और एक रोज़ के अधिवेशन में अपना लिखा वन्दना-गीत गाया था।"

प्रश्न—"इस सम्मेलन की कोई ग्रौर विशेष घटना ?"

उत्तर—"एक रोज़ वहाँ, कुछ समय के लिए, हिज़ हाइनेस, बरोदा, ग्राये थे। मैं सामने की सबसे बढ़िया कुरसी पर बैठा था। एक सज्जन ने कहा, 'महाराज, बरोदा, ग्रा रहे हैं। यह कुरसी छोड़ दीजिए।'

"मैंने कुरसी छोड़ दी। सभापति उठकर खड़े हो गये—साफा बाँधे हुए, पेट ग्रौर दोनों हाथ फैलाकर बड़ी दीनता के साथ भक्ति प्रदर्शित करते हुए। बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन ने हिज़ हाइनेस, बरोदा, की कुछ शब्दों में तारीफ़ की, सभापतिजी के कहने पर। इसके बाद मेरे पढ़ने की बारी ग्रायी। मैंने पंचवटी में ग्राया लक्ष्मणवाला हिस्सा सुनाया। महाराज बरोदा की ग्राँखों में ताज्जुब था। उन्होंने शायद मेरे पढ़ते वक्त ही मेरे सम्बन्ध में कुछ पूछा था। शायद टण्डनजी ने ही दो-चार शब्दों में परिचय दिया था। पढ़ते वक्त मैं तन्मय था। पढ़ने के बाद बाबू महादेवप्रसादजी से मालूम किया, पण्डित श्यामबिहारीजी मिश्र भौंचक्के हुए कह रहे थे, 'यह क्या है—गद्य या पद्य ?' फिर, जहाँ तक स्मरण है, ग्रनूपशर्मा-जी ने गाँधी पर कोई कविता पढ़ी थी—'गाँधी बमगोला है।' महाराज बरोदा उठकर चल दिये !"

प्रश्न—"इसके बाद, 6 वर्षों तक, ग्राप किसी साहित्यिक सम्मेलन में शामिल क्यों न हुए ?"

उत्तर—"दिल्ली-सम्मेलन से मेरी धारणा दृढ़ हो गयी कि हिन्दी में साहित्य का सही-सही युग नहीं ग्राया। सदी-फ़ी-सदी साहित्य सदियों पीछे है। जिन उपकरणों से बीसवीं सदी का साहित्यिक निर्मित होता है, हिन्दी के प्रवर्तन-काल के लिए जो विचार-प्रणाली प्रशस्त ग्रौर प्रखर होनी चाहिए, वह हिन्दी में नहीं है। नवीन हिन्दी, नवीन खड़ी बोली, प्राचीन परम्परागत भावों से बद्धमूल है—सोचकर सम्मेलन जाना मैंने उचित नहीं समझा।"

प्रश्न—"फिर कलकत्ता-सम्मेलन में शामिल होने के लिए ग्रापको किस चीज़ ने प्रेरित किया ? क्या वातावरण बदल गया था ?"

उत्तर—"कुछ वातावरण बदला था। सुभद्राकुमारी, महादेवी, भगवतीचरण, रामकुमार, वियोगी ग्रादि काफ़ी प्रकाश में ग्रा गये थे। तीस में चौबीस के प्रारम्भ-वाला वातावरण न था। दूसरे, मेरे कार्य का केन्द्र कलकत्ता रहा है। मैंने बहुत दिनों से कलकत्ते के मित्रों को देखा नहीं था। पुनः साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए कलकत्ते का वातावरण, जहाँ बंगाली हिन्दी-प्रेमी विद्वान भी सम्मिलित होते हैं, मुझे ग्रनुकूल मालूम दिया।"

प्रश्न—"फिर ग्रापकी हिन्दी-साहित्य-विषयक धारणा कलकत्ता में कैसे पुष्ट हुई ?"

उत्तर—"एक रोज़ जे. एम. सेनगुप्त महाशय सम्मेलन पधारे। कुछ देर वह बोले भी; लेकिन भाषण ग़रूर से भरा हुग्रा, बंगाल की उच्चता से ग्रहंकृत। हिन्दीवाले जैसे उसकी ऊँचाई की समझ भी न रख सकते हों! लेकिन चूँकि महात्माजी ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है—चूँकि हिन्दी बहुतों की जुबान है, इसलिए वे कृपा से हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हों।

"मैं जे. एम. सेनगुप्त महाशय की बंगला की ताकत जानता था। साथ ही हिन्दी की भी। मैंने एक स्लिप लिखकर सम्मेलन के ग्रधिकारियों से पाँच मिनट का समय माँगा था, दूसरे पर हुई वैसी ग्रशिष्ट वक्तृता के जवाब के लिए—हिन्दी की उच्चता को कल्पना से ही समझनेवाले वंग-भाषा के भी मामूली व्यक्ति

जे. एम. सेनगुप्त महाशय को प्रबोध देने के लिए; लेकिन मुझे पाँच मिनट का वक्त भी नहीं दिया गया। इसका कारण अधिकारियों पर पड़ा बंगला और बंगालियों का प्रभाव ही है और हिन्दी-ज्ञान की शून्यता, बल्कि ज्ञान की ही रिक्तता। उन्होंने किसी सभ्यता के ख़याल से मुझे नहीं रोका, बल्कि डर से रोका। यहाँ मैं स्पष्ट रूप से समझा कि हिन्दी कुछ असाहित्यिकों के हाथों की पुतली है—वह भक्तों के हृदय की सप्राण देवी नहीं। लेकिन इसका जवाब मैंने दिया, वंगीय साहित्य-परिषद् में।"

प्रश्न—"एक विरोधी प्लेटफ़ार्म पर इसका उत्तर आपने किस तरह दिया? क्या वहाँ आपको बोलने का अवसर दे दिया गया?"

उत्तर—"वंगीय साहित्य-परिषद् विरोधी प्लेटफ़ार्म नहीं था। वह वास्तव में सरस्वती-मन्दिर कहा जाने के योग्य है और सरस्वती के ये उपासक किसी भी भिन्न वाणी की अवहेला नहीं कर सकते। वंगीय साहित्य-परिषद् ने, शायद डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी की मारफ़त, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को प्रीतिपूर्वक आमन्त्रित किया था। यहाँ के साहित्यिकों को अपना संग्रहालय, हस्तलिखित पुस्तकें, साहित्यिकों के चित्र आदि दिखलाये थे, और सम्मानपूर्वक इन्हें आसन देकर इनके भाषण सुने थे, कुछ अपने सुनाये थे—हिन्दी में सुने, बंगला में सुनाये।"

प्रश्न—"वंगीय साहित्य-परिषद् के वातावरण और कार्यवाही के सम्बन्ध में और कुछ उल्लेखनीय बातें जो आपको याद हों?"

उत्तर—"वंगीय साहित्य-परिषद् के दोमंजिले पर बंगला के साहित्यिकों की तस्वीरें लगी हुई थीं। मैं एक-एक देख रहा था। कुछ ऐसा तल्लीन था कि डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के समागत हिन्दी-साहित्यिकों का परिचय देने से पहले नहीं समझ सका कि लोग नीचे से ऊपर आकर आसन-ग्रहण कर चुके हैं। मुड़कर देखा तो सभापति रत्नाकरजी बैठे हुए थे। एक तरफ़ बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन, दूसरी तरफ स्वर्गीय अमृतलाल चक्रवर्ती महाशय। बाबू शिवपूजन सहाय के कहने पर मैं भी मंच पर गया। मेरे चढ़ने के साथ ही डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने ऊँचे शब्दों में मेरी तारीफ़ की, अपने वयोवृद्ध बंगाली साहित्यिकों से। मैंने देखा, वहाँ संख्या में थोड़े होने पर भी उम्र में सभी जैसे सत्तर पार कर चुके हों। मैं बंगाली सभ्यता जानता था। हिन्दी की इज्ज़त जे. एम. सेनगुप्त के हाथ से दरअस्ल नहीं गयी थी, लेकिन यहाँ जाने का डर था, अगर हिन्दी की तरफ़ से यथारीति कोई इनके बीच न बोला। इसी समय टण्डनजी भाषण देनेवाले सज्जनों के नाम लिख रहे थे या निश्चय कर रहे थे कि कौन-कौन बोलेंगे। वक्त कम था। टण्डनजी ने दो ही नाम निश्चित किये थे—हिन्दी की तरफ़ से बोलनेवालों के। एक अमृतलाल चक्रवर्ती महाशय का, दूसरा अपना। यह निश्चित हुआ था कि हिन्दी के सम्बन्ध में चक्रवर्ती महाशय बंगला में बोलेंगे और टण्डनजी हिन्दी में। यद्यपि इन दोनों विद्वानों पर मेरा श्रद्धाभाव है, फिर भी मुझे इनमें से किसी का विश्वास नहीं हुआ कि भाषण से वहाँ के बंगाली विद्वानों को यह खुश कर सकेंगे और हिन्दी की साहित्यिक मर्यादा, साहित्यिकता के द्वारा, रख सकेंगे। मैंने अपना नाम टण्डनजी से लिख लेने के लिए कहा। उन्होंने पहले कुछ इन्कार किया कि समय नहीं, लेकिन मेरे आग्रह करने पर लिख दिया और पन्द्रह मिनट का वक्त दिया।

पहले मैंने, जहाँ तक स्मरण है, दो-एक गाने गाये। फिर, याद नहीं, टण्डनजी का या चक्रवर्तीजी का प्रारम्भिक भाषण हुआ। यह स्मरण है कि टण्डनजी का

भाषण काफी लम्बा था। उन्हीं दिनों 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय महाशय ने हिन्दी के विरोध में कुछ लिखा-सा था। टण्डनजी ने हिन्दी का पक्ष समर्थन किया और राम और कृष्ण की जन्मभूमि से उद्‌गत हिन्दी-साहित्य के अवलोकन के लिए वंगीय विद्वानों को आमन्त्रित किया। उस समय का टण्डनजी का कहा हुआ रहीम का एक दोहा मुझे याद है—

रहिमन अति सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
जिमि बड़री अँखियाँ निरखि, आँखिन को सुख होत।।

जिस समय टण्डनजी रामानन्द बाबू का विरोध कर रहे थे, उस समय बंगीय साहित्य-परिषद् के विद्वानों की आँख में एक-एक शब्द किरकिरी की तरह पड़ रहा था। लेकिन जिस वक्त टण्डनजी ने कहा कि वह मेरे गुरु हैं, कायस्थ पाठशाला में मैं उनका शिष्य रह चुका हूँ, और यह कहकर हिन्दी के समर्थन में बढ़े, उस समय वास्तव में साहित्यिकता ने अपनी सरल शक्ति से लोगों को मुग्ध कर दिया। चक्रवर्ती महाशय ने पुरानी बंगला में हिन्दी के महत्त्व पर भाषण दिया। भाषण साधारण अच्छा था। मैंने, आज की बँगला में, प्राचीन हिन्दी और नवीन बंगला पर वक्तृता की। उच्चता में दोनों बराबर हैं, पन्द्रह मिनट तक कहा। इसका प्रभाव उन लोगों पर कैसा रहा, यह आप इस घटना से समझिए कि उसी समय एक बंगाली महाशय ने हिन्दी के विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा कि ऐसी विशुद्ध बंगला भिन्न भाषाभाषी के कण्ठ से हम लोगों ने नहीं सुनी। यह अवश्य हिन्दी भाषी मात्र का महत्त्व है।"

प्रश्न—"कलकत्ता-सम्मेलन के बाद फिर सात-आठ साल का लम्बा गैप दिखायी देता है। इस तटस्थता का कारण?"

उत्तर—"बहुत कुछ कारण पहला ही है। दूसरा कारण हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के कर्णधार विद्यार्थियों के कर्ण-धारण के लिए जितने उद्यत रहे, साहित्य के ध्रुव के ज्ञान से उतने ही रहित। मतलब यह कि सम्मेलन ने अधिक आधुनिक साहित्य को, उस साहित्य को जो खास तौर से मेरा है और बिना गर्व के जिसे मैं आधुनिक साहित्य का सबसे तगड़ा हिस्सा समझता हूँ, विद्यार्थियों से परिचित नहीं कराया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्राचीन विरोधियों से लड़कर अगर मैंने छुट्टी पायी तो सम्मेलन ने मेरे नये विरोधी तय्यार किये। अवश्य, जान-बूझकर सम्मेलन ने मेरे विरोधी तय्यार नहीं किये; लेकिन जहाँ सम्मेलन का यह अज्ञान था, वहाँ मैं ज्ञानपूर्वक सम्मेलन से असहयोग करता रहा।

"इस विषय को कुछ अच्छी तरह कह दूँ। मेरे मित्र पं. नन्ददुलारे वाजपेयी एक साल, सम्मेलन की अन्तिम, उत्तमा परीक्षा, के परीक्षक थे—समालोचना के। एक बार परीक्षा की कापियाँ देखकर सम्मेलन में जमा करने के लिए आये, इलाहाबाद। मैं वहीं था। वहीं ठहरे। काम से वह शहर गये। मैंने पुलिन्दा देखा तो सोचा, कोई किताब लिखी है। खोलकर देखा तो उत्तमा-परीक्षा की कापियाँ निकलीं। पढ़ने लगा। बड़ा मज़ा आया, सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के परीक्षार्थियों की मूर्खता पढ़-पढ़कर। सिर्फ एक कापी कुछ अच्छी लगी। वह प्रभाकर माचवे की थी, वही सर्वप्रथम थे, तिहत्तर या कितने नम्बर मिले थे। स्मरण रहे, प्रभाकर हिन्दी-भाषी नहीं हैं। उनकी भाषा हिन्दी की परीक्षा के लिए भाव पहुँचा रही थी। बाकी हिन्दी-भाषियों का हाल न पूछिए। यह इतने दुःख, लज्जा और ग्लानि का विषय है कि कहा नहीं जा सकता। एक प्रश्न था, प्राचीन रहस्यवाद से आधुनिक छायावाद की तुलना कीजिए। इसके उत्तर में किसी-किसी विद्यार्थी

ने ऐसा भी लिखा था, 'कहाँ कबीर का रहस्यवाद, कहाँ आधुनिक छायावाद ! यह यह प्रश्न ही वाहियात है !'

"हिन्दी की उत्तमा परीक्षा के विद्यार्थी इतने तमीज़दार बनाये गये हैं कि अपने परीक्षक की भी ऐसी इज्ज़त की है। अभी उस दिन मेरे एक विद्वान् मित्र ने कहा, 'सम्मेलन की परीक्षा में भिन्न प्रान्तवालों के उत्तर, जितने अच्छे आते हैं, हिन्दी-भाषी प्रान्तवालों के उतने नहीं।' कारण स्पष्ट है कि भिन्न भाषा-भाषी प्रान्त अपने विद्यार्थियों को जितना तगड़ा बनाते हैं, हिन्दी-भाषी प्रान्त नहीं बना सकते। क्योंकि आधुनिक हिन्दी की शिक्षा सम्मेलन के कर्णधारों ने आवश्यकतानुसार उन्हें नहीं दी या देने का प्रयत्न नहीं किया। अगर करते तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी की तरफ़ तमाम प्रान्त ताज्जुब की निगाह से देखते होते और प्रोत्साहन होने पर एक-से-एक बढ़कर साहित्यिक अब तक यहाँ पैदा हो गये होते।

"सम्मेलन की इस दुर्दशा, हिन्दी की इस हेठी, साहित्यिकों के ऐसे अपमान और प्रभावित अपरिणामदर्शी राजनीतिकों के प्राधान्य के कारण मैं सम्मेलन में शरीक नहीं हुआ।"

प्रश्न—"फ़ैज़ाबाद फिर आप कैसे गये ? साहित्यिक साइनबोर्ड होते हुए भी वहाँ का असाहित्यिक, राजनीतिक प्राधान्य प्रत्यक्ष था, फिर भी···?"

उत्तर—"आपसे एक बात और कह दूँ। मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। आप मानेंगे, कवि विरोध नहीं करता। फ़ैज़ाबाद में, सुना, आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी, माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डनजी, माननीय सम्पूर्णानन्दजी सभापति होकर आ रहे हैं। प्रान्त की बात, जाने की उत्सुकता हुई। गया। और, सम्मेलन होने से पहले, आदरणीय पं. श्रीनारायण चतुर्वेदीजी के यहाँ मैं ठहरा था—वहीं फ़ैज़ाबाद में। वे सम्मेलन करने का निश्चय कर रहे थे, बहुत दिनों के मुर्दा सम्मेलन को जिलाने के लिए। मुझसे बातचीत की। सभापतियों का ज़िक्र आया। मैंने आचार्य शुक्ल को ही पूर्ण सम्मेलन का सभापति चुनने की राय दी। उस वक्त बातचीत यही हुई थी कि अखिल भारतवर्षीय और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में प्राधान्य राजनीतिकों का हो रहा है। प्रान्तीय-सम्मेलन में साहित्यिकों की इज्ज़त की जायेगी। लेकिन बाद को शुक्लजी सिर्फ साहित्य-शाखा के सभापति बनाये गये थे। पूर्ण सम्मेलन के सभापति चुने गये थे माननीय टण्डनजी। मैंने कहा, मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। टण्डनजी के त्याग, सेवा और उच्च व्यक्तित्व को मैं आदर की दृष्टि से देखता हूँ। यद्यपि यहाँ भी हुआ राजनीतिकों का प्राधान्य मुझे खटका, पर मैं चतुर्वेदीजी से प्रतिश्रुत था, मैं गया।"

प्रश्न—"मुर्दा-साहित्य-सम्मेलन में कहाँ तक नवजीवन का संचार हुआ—अथवा हुआ भी या नहीं ?"

उत्तर—"बहिर्दृष्टि से सम्मेलन पूर्ण सफल रहा। लेकिन मेरी निगाह में वह एक प्रहसन था। उसे सभापतियों ने ही, राजनीतिक सभापतियों ने, प्रहसन बनाया। पहले रोज़ माननीय सम्पूर्णानन्द कला-प्रदर्शनी खोलने के लिए आये। सुसज्जित सम्मेलन के मंच पर विराजे। साथ स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। काफ़ी जनता थी। पर, अधिकांश स्कूल-मास्टर्स थे जो आधुनिक कांग्रेस-सरकार के मातहत हैं। माननीय सम्पूर्णानन्द बोलने के लिए खड़े हुए। बोलना था कला-प्रदर्शनी पर, बोलने लगे कविता पर। उन्होंने कहा, 'कवि पर किसी तरह का दबाव डालना उचित नहीं। कवि अपनी रुचि के अनुसार लिखता है।' इस तरह कुछ

देर तक संयत और शिष्ट भाव से कहते हुए माननीय सम्पूर्णानन्द अन्त में राजनीतिक आवेग में आ गये। बोले, 'लेकिन कवियों को राजनीतिज्ञों का साथ देना है।' मुझसे न रहा गया। एक तो कला-प्रदर्शनी में कविता की चर्चा, फिर कवियों पर राजनीतिक प्रभाव। मैंने कहा, 'हिन्दी के कवि राजनीतिज्ञों से और आगे हैं।' माननीय सम्पूर्णानन्द ने संयत भाव से अपनी वक्तृता समाप्त की। उनकी वक्तृता लिखी हुई न थी।

"दूसरे दिन माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी, सम्मेलन के सभापति, पधारे। साथ ही स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेवजी, माननीय सम्पूर्णानन्दजी और दो-एक ऐसेम्बली के सज्जन थे। आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने जनता को सम्बोधित कर कहा, अलिखित, यही उनका स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण था, थोड़े शब्दों में—'आपके यहाँ दो-दो महापुरुष पधारे हुए हैं; एक हैं पूज्य माननीय बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन, दूसरे माननीय सम्पूर्णानन्दजी।'

"मेरे मन में बड़ी ग्लानि पैदा हुई—वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बैठे थे। अगर साहित्यिकों में अन्य कोई महापुरुष नहीं थे, तो साहित्य-विभाग के सभापति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो थे ही; लेकिन आचार्य नरेन्द्रदेव ने उनका उल्लेख नहीं किया। उनकी निगाह में दो ही महापुरुष थे। आप समझ सकते हैं, राजनीतिक किस दृष्टि से साहित्यिक को देखता है। आचार्य शुक्लजी उम्र में भी टण्डनजी से शायद ही छोटे होंगे। मेरा तो खयाल है, कुछ बड़े होंगे। साहित्य में शुक्लजी की ख्याति हिन्दी भाषियों से छिपी नहीं। लेकिन उदार बननेवाले राजनीतिक ने अपने हृदय का भाव व्यक्त कर दिया।

"प्रस्ताव, समर्थन और अनुमोदन के पश्चात, माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन सभापति के आसन पर विराजे। जनता ने अपने त्यागी नेता को साहित्य के उच्च आसन पर सुशोभित देखकर हर्ष-ध्वनि की। आदरणीय टण्डनजी बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने देर तक हिन्द, हिन्दू और हिन्दी-शब्दों पर भाषण किया—यह शब्द कैसे बने, किन्होंने पहले उनके प्रयोग किये, किस तरह पहले आर्यसमाज के विरोध करने पर भी हिन्दी शब्द की प्रतिष्ठा के लिए टण्डनजी ने प्रयत्न किये और वह हिन्दी शब्द जो मुसलमानों का दिया हुआ है और जिसके लिए आज मुसलमान ही, कुछ हद तक, विरोधी हैं। टण्डनजी ने बड़ी स्पष्टता से इन शब्दों का इतिहास लोगों को समझाया। एक मुद्दत से सम्मेलन के कर्णधार या प्राण-स्वरूप रहनेवाले टण्डनजी के लिए उक्त शब्दों का सम्यक ज्ञान कोई बड़ी बात नहीं। टण्डनजी के भाषण में इतना ही अंश सुनने लायक—साहित्यिकों के सुनने लायक—था।

"भाषण टण्डनजी का भी मौखिक था। साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण मौखिक हो, यह किसी तरह भी क्षम्य नहीं हो सकता। नेशनल कांग्रेस या प्रान्तीय कांग्रेस के सभापति का भाषण कभी मौखिक हुआ है, मुझे मालूम नहीं। अभी श्री. सुभाषचन्द्र के भाषण लिखने की चर्चा तक संवाद-पत्र में छपी थी वह अब या तब भाषण लिखेंगे। लेकिन साहित्य-सम्मेलन के सभापति ने भाषण लिखने का कष्ट स्वीकार नहीं किया। यद्यपि फ़ैज़ाबाद में वह अड़तालीस घण्टे से कम नहीं रहे होंगे। इस प्रकार सम्मेलन से पहले, दो घण्टे भी वक्त निकालकर, वह भाषण लिख सकते थे।

"टण्डनजी हिन्दी-हिन्दू के प्रसंग पर एक जगह कह रहे थे, 'सूर और तुलसी ने इन शब्दों के प्रयोग नहीं किये।' मुझे कबीर की याद आयी। मैंने कहा, 'कबीर

ने किया है।' टण्डनजी कुछ सेकेंड सोचकर बोले, 'कबीर ने! कहाँ, कौन-सा प्रयोग किया है?' मैंने कहा, 'हिन्दुन की हिन्दुग्राई देखी, तुरकन की तुरकाई।' टण्डनजी ने अपनी वयोज्येष्ठता का उपयोग करते हुए कहा, 'मैं हिन्दू शब्द पर नहीं, इस समय हिन्दी शब्द पर बोल रहा हूँ।' इसके बाद से आदरणीय टण्डनजी का स्वर बिगड़ना शुरू हुआ। बिगड़ते-बिगड़ते वह इतने बिगड़े कि साहित्यिक शिष्टता का ख़याल भी जाता रहा। राजनीति में प्रोपेगैण्डा करनेवाले, एक-दूसरे के ख़िलाफ़, इतर-शब्दों का प्रयोग करते हैं, साहित्य में कहीं-कहीं व्यंगपूर्ण इतरता लक्षित होती है, लेकिन साहित्य के मंच पर टण्डनजी-जैसे प्रान्त के समादृत व्यक्ति का भाषण के रूप में प्रलाप या अपलाप किसी तरह भी मार्जनीय नहीं हो सकता।

"कुछ वर्तमान हिन्दी-उर्दू-प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् महात्माजी से मिलने का उल्लेख कर, महात्माजी का उल्लेख टण्डनजी और सम्पूर्णानन्दजी दोनों ने किया था—टण्डनजी पूर्ण रूप से राजनीति को प्राधान्य दे चले, जैसे सरस्वती राजनीति की दासी हो। उदार व्यक्ति साहित्य और राजनीति को बराबर महत्त्व देगा। शब्द-विज्ञान दोनों को बराबर शक्ति देता है।—वह हर शब्द को बराबर महत्त्व देता है। लेकिन साहित्य के मंच पर समवेत साहित्यिकों के सामने राजनीति के महत्त्व की घोषणा उस आसन का अपमान है, इसके समझाने और समझने के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं। टण्डनजी द्वारा उस आसन के सम्मान की रक्षा नहीं हुई। इस प्रकार उन्होंने साहित्यिकों का भी अपमान किया। मैं दावे के साथ कहता हूँ, इस प्रान्त में राजनीति ने जो काम किया है, उससे अधिक काम साहित्य ने किया है। इस प्रान्त के राजनीतिक जितने बड़े-बड़े व्यक्ति हैं, निस्सन्देह, साहित्यिक उनसे बड़े हैं। यह है कि यहाँ के साहित्यिक आठ मर्तबा एटलान्टिक या सोलह मर्तबा पैसिफ़िक क्रास नहीं कर चुके, न एयरोप्लेन पर चढ़कर अभी पृथ्वी का आकाश पार किया है, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में पूर्ण शिक्षा पायी हो, लेकिन यथार्थ ज्ञान, अध्ययन, कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीतिकों से आगे हैं—विशेषतः इसलिए कि वह 'फालोअर' नहीं, 'ऑरीजिनल' हैं।

"टण्डनजी ने एक भी शब्द हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर नहीं कहा। कम-से-कम जब तक मैं सम्मेलन में था। टण्डनजी ने कहा, 'आप लोगों को प्रान्त के ही दायरे में नहीं रहना चाहिए।' मेरी दृष्टि में यह राजनीतिक का साहित्य-सम्बन्धीय पूरा अज्ञान था। इससे बड़ा भ्रम दूसरा नहीं। जो साहित्य का अर्थ नहीं समझता, ऐसी बात वही कह सकता है। पुनश्च, नवीन हिन्दी प्रसार में नवीन राजनीति से कितना आगे है, यह साहित्य के पृष्ठों में लिखा जा चुका है। राजनीति भले ही किसी दायरे में रहे, क्योंकि उसे स्वार्थ-साधना करनी है—स्वार्थ व्यक्तिगत हो या देशगत, वह सीमित, इसलिए छोटा है—ऐसे स्वार्थ की बृहत्तम परिणति नहीं हो सकती। दर्शनशास्त्र इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और सत्य-से-सत्य विवेचन दे सकता है। लेकिन साहित्य कभी भी दायरे की भावना में बँध-कर सर्वोत्तम नहीं कहला सकता, न आज तक कहला सका। साहित्य के सामने मनुष्य मात्र के कल्याण का लक्ष्य है। जहाँ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ऐसी-ऐसी क्रियाएँ हो चुकी हैं, जिनकी तुलना मिल्टन, शेक्सपीयर, भवभूति, श्रीहर्ष, वाल्टह्वीटमैन, कीट्स और शेली-जैसे प्रतिभाशालियों की से की गयी और की जा रही है, वहाँ साहित्यिकों को प्रान्त के दायरे में न रहने का उपदेश टण्डनजी

ने किस खयाल से दिया, आप अन्दाज लड़ाइए। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने पूछा, 'आप 'साहित्य' से क्या मतलब रखते हैं?' स्मरण रहे, मैं साहित्य का शब्दगत अर्थ और व्यापक भाव लिये हुए था। टण्डनजी का जवाब जो था, वह संक्षेप में यही कि साहित्य राजनीति का अनुगामी रहा है। साफ़ है कि साहित्य का अर्थ टण्डनजी क्या समझे और साहित्य की टोपी साहित्य के सभापति उतार रहे हैं या नहीं; यह भी स्पष्ट है कि मेरे प्रश्न को वह क्या समझे और कहाँ तक समझे; रही बात जनता की, सो जनता के नाम से वहाँ ज्यादातर स्कूल-मास्टर्स थे और कुछ फ़ैजाबाद के नायक प्रतिष्ठित रईस नरेन्द्रदेवजी के भक्त। वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मे आये थे या टण्डन-सम्पूर्णानन्द-नरेन्द्र-सम्मेलन में, उन्हें साहित्य से सरोकार था या इन राजनीतिक महापुरुषों को खुश करने से—सहज ही अनुमेय है।

"जब मैंने अपनी ही सरस्वती का अपने ही घर अपमान देखा और उसकी प्रतिष्ठा के लिए आवाज उठायी, तब यह महाज्ञानी जनता जनार्दन मेरे खिलाफ आवाज उठाने लगे—'चुप रहिए, बैठ जाइए या निकल जाइए!' वहाँ जो लोग थे, वे साहित्य चाहते थे या अपनी रोटी, बहुत साफ है; वे साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए आये थे या अपनी रोटियों की प्रतिष्ठा के लिए, साफ है; राजनीति ने उन्हें समझदार पुरुष बनाया है या समझदार गुलाम, स्पष्ट है।

"मैं चुपचाप बरदाश्त करता रहा। इन आवाज़ लगानेवालों में स्कूल-मास्टर्स ही नहीं, कॉलेज के प्रिन्सिपल भी थे।

"टण्डनजी का पारा बहुत चढ़ गया था, एक तो राजनीति और साहित्य के विवेचन में ही घिसट-घिसटकर रह गये थे, और चूँकि खुद राजनीतिक थे इसलिए राजनीति को प्रधान बनाया था। मैंने सोचा कि एक नीति और पेश की जाय तो इसे टण्डनजी कहाँ स्थान देते हैं, देखूँ। मैंने कहा, 'फिर धर्म-शास्त्र को कहाँ जगह मिलेगी?' याद रहे, धर्म-शास्त्र को मैंने इसलिए पेश किया कि टण्डनजी ने साहित्य के बृहत अर्थ में साहित्य को नहीं लिया, वरन् साहित्य को राजनीति से भिन्न करके नीची जगह दी थी। टण्डनजी ने धर्मशास्त्र के लिए भी एक तीसरी जगह तय्यार की और क्रम ऐसा रहा, जैसे सिर हो राजनीति, हृदय धर्मशास्त्र और उपस्थ साहित्य।

"इसी गरमी में टण्डनजी यह भी कह गये जो चरित्रवान नहीं, मैं उसका साहित्य नहीं छूता। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक बड़े-बड़े साहित्यिक मुझे याद आये। लेकिन चाँद से कलङ्क धोनेवाले ऐसे बुद्धिमान वक्ता को मैं देखकर ही रह गया। कोई नदी अब तक सीधी बही है, मैं नहीं जानता। कोई गति सीधी नहीं, आज का वैज्ञानिक निर्णय है; लेकिन महात्मापन्थी बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन चरित्र-शब्द का एक मोटा अर्थ लिये हुए भरी सभा में ऐसी बातें कह गये, जैसे वहाँ सब ढपोरशंखी थे। मेरी इच्छा हुई कि पूछूँ कि कौन चरित्रवान है, दूसरों की तरह जिसके साथ ईश्वर के यहाँ से पाखाना और पेशाबखाना लगा नहीं आया। लेकिन इस ईश्वरीय कला का चाहे जितना बड़ा सत्य हो, असाहित्यिक महात्मापन्थियों की दृष्टि में कुछ मूल्य न होगा—सोचकर मैं उठा और 'ऐसी अण्ड-बण्ड बातें सुनने का मैं आदी नहीं', कहकर, सभा छोड़कर चला आया।

"सम्मेलन छोड़कर मैं बाहर आया तो बड़ी मनोरञ्जिनी घटना हुई। वहाँ कुछ स्वयंसेवक लड़के खड़े थे, उम्र सात-आठ साल से लेकर ग्यारह साल

तक, देखकर मुझे टिलटिलाने लगे। मुझे हँसी आ गयी, यह सोचकर, राजनीति ने इन्हें कैसा हेकड़ बनाया है। इनकी समझ कहाँ तक पकी है, आप समझ सकते हैं। इन्होंने अपने गुरुजनों को जैसा करते देखा, अपर व्यक्ति के प्रति स्वयं भी वैसा ही करने लगे। राजनीति ने हमारे देश की जनता को ठीक ऐसा ही बनाया है। इसी समय त्रिशूलधारी, कांग्रेस के एक कार्यकर्ता महाशय, आ गये। दण्डपाणि ने लड़कों को शान्त किया और मुझे एक ताँगे पर लेकर मेरी जगह चतुर्वेदी पण्डित श्रीनारायणजी के बँगले, छोड़ आये। चलते वक्त—सम्मेलन छोड़ते वक्त किसी की आवाज मैंने सुनी थी—'आप ठहरिए, टण्डनजी बोल चुकें तब आप जो कुछ कहना चाहते हैं, कहिए।' मैंने चलते हुए कहा, 'कल आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल के सभापतित्व में कहूँगा।'

"टण्डनजी का भाषण समाप्त होने पर लौटे हुए कुछ लोग मिले, उसी बँगले में ठहरे थे। उनकी रिपोर्ट न लिखना ही अच्छा होगा। दुनिया का दस्तूर है, कुछ तारीफ करते हैं, कुछ मुखालफत। लिहाज़ा टण्डनजी के भाषण पर दी रायों को यहीं छोड़ता हूँ। जो मेरी निगाह में पण्डित थे, उन्होंने बहुत अनुकूल कुछ नहीं कहा। लेकिन मैंने यह भी सुना, किसी-किसी ने टण्डनजी से कहा, 'बाबूजी, आपका ऐसा भाषण मैंने अन्यत्र नहीं सुना!'

"दूसरे रोज़ एक रिपोर्ट और मिली। कवि श्री. चोंच ने टण्डनजी को बहुत तंग किया; बल्कि, कायदे की चोंचों से टण्डनजी घबरा गये और विषय-निर्वाचनी छोड़कर चलने को हुए। लोगों के समझाने पर रहे। प्रकरण, सुना, प्रान्तीय सम्मेलन के दफ्तर के सम्बन्ध में था। चोंचजी के पूछने पर कि कहाँ रहेगा, टण्डनजी ने कहा, 'बनारस में तो नहीं!' इसी पर चोंच ने लिया-दिया।

"दूसरे दिन कुछ ऐसा वातावरण बन गया था कि मुझे स्नेह करनेवालों ने सम्मेलन जाने से रोका। कुछ देर बाद प्रसिद्ध राजनीतिक कार्यकर्त्ता पण्डित गौरीशंकरजी आ गये। उन्होंने मुझसे पूछा, 'मैं कितनी देर सम्मेलन में बोलूँगा?' मेरे कुछ इतस्ततः करने पर उन्होंने मेरे सम्मेलन जाने पर जोर दिया कि अवश्य जाइए और बोलिए जो कुछ आप बोलना चाहते हैं। धीरे-धीरे सम्मेलन का समय आया, एक-एक कर लोग चलने लगे। कुछ देर में मैं अकेला बँगले में रह गया। मैं इसलिए नहीं गया कि उस रोज के सभापति आचार्य शुक्लजी की तबीयत कुछ खराब हो गयी थी। वे डाक्टर के यहाँ ले जाये गये थे। लौटे नहीं थे। मैंने सोचा, अगर शुक्लजी नहीं गये तो जाना व्यर्थ है। मुझे कुछ भाषण देने की आदत नहीं। दवा कर-करा शुक्लजी लौटे। मैं उनके कमरे में गया। पूछने पर मालूम हुआ, शुक्लजी पर दमे का दौरा ऐसा हो जाया करता है। कुछ ठहरकर शुक्लजी जायँगे। उन्होंने मुझे अग्रवर्ती होने के लिए भी कहा। मोटर तय्यार थी, मैं बैठ गया और सम्मेलन आया। शुक्लजी की अनुपस्थिति में टण्डनजी सभापतित्व कर रहे थे। टण्डनजी के सामने, मञ्च पर, सभापति के आसन के नीचे, मैं बैठ गया—लोगों के वहीं बैठने का इशारा करने पर। कुछ देर बाद शुक्लजी भी आये और टण्डनजी की बगल में बैठे।

"आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का भाषण हो रहा था, भाषा और लिपि-विज्ञान पर। सम्मेलन की समस्त बनी बातों में आचार्य केशवप्रसाद का भाषण सर्वोत्तम था। जहाँ तक विद्वत्ता का सवाल है। फिर दो-तीन पेपर पढ़े गये। इसके बाद मेरी बारी आयी। पहले से लिखकर कम-से-कम समय में मेरा भाषण निश्चित किया जा चुका था, जब घोषणा की गयी कि अब अमुक के बाद निरालाजी

बोलेंगे, त्रिशूलधर रञ्जित खद्दरपोश लोकरञ्जन के लिए गद्गद होकर बोले, 'पहले निरालाजी अपने कल के कार्यक्रम के लिए प्रायश्चित्त करें, तब बोलें।' लोगों ने सुना। उनकी खामोशी का अर्थ जो हो। मेरे बोलने के पहले पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने उठकर लोगों को मेरा परिचय दिया। उनके परिचय में यद्यपि अतिशयोक्ति थी, मुमकिन, सहजोक्ति हो, फिर भी मेरे लिए उनके शब्द हितकर हुए; क्योंकि जनता, हिन्दी के सुकरात या अरस्तू, क्या उन्होंने कहा था, उसके भाषण की विभीषिका से बचने या पूरी ताकत से उसे धारण करने के लिए एकाग्रचित्त हो गयी। मेरे लिए सुभीता हुआ। सभा में बात तभी जमती है, जब सभा एकाग्र होती है। मैंने आदरणीय शुक्लजी और माननीय टण्डनजी तथा उपस्थित सज्जनों को सम्बोधित कर भाषण शुरू किया। मुख्य दो विषय थे—साहित्य का मतलब और आज की बढ़ी राजनीति के मुकाबले का साहित्य। मैंने कहा, 'साहित्य दायरे से छूटकर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज़ है। साहित्य लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है, 'लोक' जो कुछ देख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य-मात्र का साहित्य है, भावों से; केवल भाषा का एक देशगत आवरण उस पर रहता है। टण्डनजी ने जो प्रान्त के दायरे में न रहने की बात कही थी, इस पर मैंने अपने एक गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनायीं—

'टूटे सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञानगत हो बहे गन्ध।
रुद्ध जो धार रे, शिखर निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे शून्य शत-शत रन्ध्र।'

"इसके बाद समाजवादी नेता माननीय सम्पूर्णानन्दजी के भाषण की याद कर मैंने कहा, 'हिन्दी में अठारह साल पहले ऐसी रचनाएँ आ चुकी हैं—

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओं से;
घन! भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर
ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल! फिर-फिर।
आदि-आदि।'

"इस भाषण के सम्बन्ध में मञ्च पर ही कुछ विद्वानों की अनुकूल रायें रहीं। वक्ता को वक्तृता के समय लोगों के मनोभाव मालूम हो जाते हैं। यद्यपि पहले रोज लोग नाखुश थे, लेकिन आज मेरे प्रति लोगों की सहानुभूति थी। आज वे कुछ समझे। 'बादल' वाली कविता का उन पर अच्छा रंग रहा। इसके बाद शुक्लजी ने अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण पढ़ा।

"पिछले प्रहर प्रस्तावों पर बहस-मुबाहसा हो रहा था। मैं देर से गया। शाम हो आयी थी। 'हिन्द' वाला प्रस्ताव पेश था। इस प्रान्त का नाम सूबा हिन्द हो,

ऐसा एक लेख डॉ. धीरेन्द्रवर्मा लिख चुके हैं। यह उन्हीं का प्रस्ताव था। इस पर सम्मेलन में गये हुए अधिकांश विद्वान बोले—कुल पन्द्रह-सोलह भाषण हुए होंगे। कुछ बोले प्रस्ताव-स्थगित करने के लिए, कुछ रद्द करने के लिए, कुछ पक्ष में, पास होने के लिए। पं. कान्तानाथ पाण्डेय एम. ए. काव्य तीर्थ, 'चोंच' प्रस्ताव स्थगित करने के लिए बोले। चोंचजी का भाषण इस समय के इतने भाषणों में सर्वोत्तम रहा। लोगों पर उनके हास्यपूर्ण ढंग से कहनेका जो प्रभाव पड़ा, वह दूसरे का नहीं। स्थगित होने की तरफ मैं भी था। क्यों कि इस प्रान्त का नाम हिन्द हो जाये, यह विशेष विचारणीय बात नहीं। विचारणीय यह है कि फिर हिन्दी क्या हिन्द प्रान्त की ही भाषा कही जायेगी? बिहार, सी. पी. पंजाब, राजपूताना—पूरे-के-पूरे इसी भाषा के दायरे में आते हैं, लेकिन उनके प्रान्त के साथ हिन्दी का वैसा सम्बन्ध नहीं, जैसा हिन्द होने पर इस प्रान्त का होगा। भिन्न प्रान्तवाले कुछ अन्यथा सोच सकते हैं। उनके साथ यह न्याय भी न होगा। हिन्दी पर उनका उतना ही अधिकार है, जितना इस प्रान्त के लोगों का। फिर भी प्रान्त का एक नाम होना चाहिए। अगर यह प्रस्ताव स्थगित कर दिया जाता तो इस पर भिन्न प्रान्तवालों की सम्मतियाँ भी मालूम होतीं और तब तदनुकूल प्रान्त का हिन्द नाम रखते या दूसरा नामकरण करने की हमें सुविधा होती। स्थगित होने के पक्ष में पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी आदि कई विद्वान बोले। पास होने के पक्ष में पण्डित गौरीशंकरजी, डॉ. बाबूराम सकसेना, आचार्य नरेन्द्रदेवजी आदि बोले। आचार्य नरेन्द्रदेवजी का भाषण अन्तिम भाषण था। टण्डनजी का कुछ ऐसा रुख जान पड़ता था कि यह प्रस्ताव पास हो जाय। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की एक प्रकार की गुटबन्दी थी। आचार्य नरेन्द्रदेवजी को अन्त में बोलने का मौका देकर प्रस्ताव को जोर पहुँचाने का ही विचार जैसे रखा गया हो। नरेन्द्रदेवजी बोले भी बहुत सुन्दर; लेकिन उनका जितना अंश ऐतिहासिक था, प्रान्त के नामकरण की महत्ता को बतलाता हुआ, उतना बहुत सुन्दर था; और जितना बादवाला, स्थगित करनेवालों के विरोध में था, उतना आक्षेपपूर्ण। डॉ. त्रिपाठी और चोंचजी को उन्होंने जिस गर्मी से याद किया, वह साहित्य के मंच पर वर्दाश्त की जानेवाली न थी। फ़ैजाबाद में उनका कुछ प्रभाव भी है और वे व्यक्तिगत रूप से भी इस प्रान्त के एक चमकीले रत्न हैं। उनके भाषण का कुछ उचित और अनुचित प्रभाव लोगों पर पड़ा। वोट लिया जाने लगा तो स्थगित होने के पक्ष में इतने लोगों ने हाथ उठाया कि टण्डनजी से लेकर प्रयाग-सम्मेलन का सारा गुट घबरा गया। मालूम हो कि स्थगित करने के पक्ष में पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदीजी थे, जो एक दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति हैं और जिनके मातहत काफी संख्या में वहाँ शिक्षक एकत्र थे। अधिकांश लोगों का स्थगित होने की तरफ हाथ उठा देखकर सरस्वती-सम्पादक श्रीनाथसिंहजी घबरा गये। उन्होंने कहा, 'जो लोग रुपया देकर डेलीगेट होने की रसीद ले चुके हैं, वही वोट दे सकते हैं।' हालाँकि इससे पहले के प्रस्ताव समस्त जनता के वोट से पास हुए थे, इसके लिए यह खास नियम निकाला गया और टण्डनजी ने भी श्रीनाथसिंहजी की बात स्वीकृत की। टण्डनजी ने उठकर कहा, 'जिन लोगों के पास डेलीगेट होने की रसीद है, वही लोग इस प्रस्ताव पर वोट दे सकते हैं।' मैं लिख चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग पूरी गुटबन्दी से आया था और प्रस्ताव पास कराने के लिए वे डेलीगेट भी बने थे। विषय-निर्वाचनी तक से मेरा नाम निकाला जा चुका था, यद्यपि वह कई बार प्रस्तावित हुआ था। मैंने सुना है कि नाम निकालनेवालों

में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के ही मेरे मित्र थे। मैं विषय-निर्वाचनी गया भी नहीं। टण्डनजी के वैसा कहने पर मैंने देखा कि मेरा रुपया भी हजम हुग्रा—विषय-निर्वाचनी में भी पहुँच न हुई ग्रौर ग्रब वोट देने का ग्रधिकार भी जाता रहा है; क्योंकि रुपया तो मैं दे चुका था, लेकिन रसीद मुझे नहीं मिली थी ग्रौर टण्डनजी ने कहा कि वोट वही दे सकते हैं जिनके पास डेलीगेट होने की रसीद हो। मैंने उठकर नम्र शब्दों में टण्डनजी से प्रार्थना की कि ऐसे मनुष्य के लिए ग्राप क्या ग्राज्ञा देते हैं, जिसने रुपया दे दिया है, लेकिन डेलीगेट होने की रसीद जिसे नहीं मिली है? टण्डनजी से कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था कि पहले तो मेरी बात उनकी समझ में नहीं ग्रायी, फिर दोबारा उनके पूछने पर मैंने निवेदन किया कि रुपया मैं दे चुका हूँ, लेकिन डेलीगेट होने की रसीद मुझे नहीं मिली। मेरे लिए ग्रापकी क्या ग्राज्ञा है, वोट दूँ या नहीं? टण्डनजी को फिर भी विश्वास नहीं हुग्रा, यानी उन्होंने मुझसे पूछा, क्या ग्राप सचमुच रुपया दे चुके हैं? इसी समय पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उठकर मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, 'हाँ-हाँ महाराज, ग्रापका रुपया जमा कर लिया गया है।' मतलब, टण्डनजी को सुनाना था। ग्रब टण्डनजी लाचार हुए। श्रीनाथसिंह चौड़े पड़े। टण्डनजी में तर्क की ताकत भरते हुए उन्होंने कहा, 'इस तरह तो जितने शिक्षक ग्राये हैं, सब कहेंगे कि हमने रुपया दे दिया है।' टण्डनजी बड़े ग्रसमञ्जस में पड़े। उनके प्रिय सहयोगियों का बुरा हाल था। प्रस्ताव पास होने में ग्रड़चन पड़ रही थी। इधर कुछ हो, टण्डनजी सोलह ग्राने में ग्रठन्नी से ग्रधिक भले ग्रादमी तो हैं ही। ग्रन्त में उन्होंने सत्यधर्म की शरण ली। उन्होंने कहा, 'सही-सही जिन लोगों ने रुपया दे दिया है, वे ग्रपने नाम बतलायें।' दुर्भाग्यवश मेरे दोस्त एक ही ग्रौर निकले। ग्राखिर प्रस्ताव हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रताप से पास हो गया, यानी स्थगित होने में शायद थे सोलह या ग्रठारह, पास होने में छब्बीस या सत्ताईस। ग्रौर पहले, दूसरे वोटों की तरह जब जनता की राय ली गयी थी, तब प्रायः सात सौ हाथ स्थगित होने में उठे थे।

"प्रस्ताव पास हो जाने पर मैंने टण्डनजी से निवेदन किया कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग का एक ही वोट गिना जाना चाहिए था। लोगों को बात बड़ी भली मालूम दी। सुनकर टण्डनजी भी मुस्करा दिये। कुल वोट पास होने के, साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के थे।

"इसी समय नवीन कवि श्रीरामचन्द्र द्विवेदी, 'प्रदीप' से कविता सुनाने के लिए कहा गया। टण्डनजी तथा ग्रौर लोग श्रान्त हो रहे थे, उनके मनोरंजन के लिए प्रदीपजी ने बड़े ही मधुर स्वर से ग्रपनी सुन्दर कविता सुनायी। लोगों पर बड़ा ग्रच्छा प्रभाव पड़ा।

"शाम को ग्राचार्य नरेन्द्रदेव के मकान पर सभागत साहित्यिकों की दावत थी। ग्राठ-नौ बजे के करीब सब लोग वहाँ एकत्र हुए। पण्डित दुलारेलालजी भार्गव ने मुझसे कहा, 'ग्रापने टण्डनजी से जो ग्रन्तिम बात कही कि सम्मेलन का एक वोट होना चाहिए था, बड़े पते की बात थी।' बीच में टण्डनजी बैठे थे। हम लोगों की बातें उन तक पहुँच रही थीं। मैंने मित्रवर भार्गवजी से कहा, 'बात मैंने बराबर पते की कही है, लेकिन ग्रफ़सोस यह है कि हिन्दीवालों के एक ग्रदृश्य दुम लगी हुई है।' 'ग्रदृश्य दुम' पर कुछ देर तक वाद-विवाद होता रहा। टण्डनजी निर्विकार चित्त से सुन रहे थे। इसके बाद किसी प्रसंग पर मैंने कहा, 'ग्रगर सम्मेलन ने (या राजनीतिकों ने, मैंने कहा था, याद नहीं) हिन्दुग्रों में मुर्गी खाने का प्रचार किया होता तो हिन्दू-मुस्लिम-युनिटी ग्रब तक बहुत मज़बूत हो चुकी होती।'

लोगों ने सुन लिया। लेकिन मतलब वैसा ही समझे, जैसा टण्डनजी के विरोध में समझे थे। हालाँकि अब वर्धा-स्कीम आव एजुकेशन में हिन्दू-मुसलमान शिक्षकों का कहते हैं, सहभोज-प्रस्ताव है! जब बात मेरी होगी तब तीन कौड़ी की होगी, भले उसमें तीन हीरे से ज्यादह कीमती शब्द हों और जब किसी दूसरे की होगी, तब वह अनमोल होगी, चाहे कौड़ी कीमत की न हो।"

['चकल्लस', साप्ताहिक, लखनऊ, के वर्ष 1 के अंक 15, 16, 17, 18 और 19 (मई और जून, 1938) में पाँच किस्तों में विभिन्न शीर्षकों से प्रकाशित। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## गाँधीजी से बातचीत
(इण्टरव्यू द्वारा प्राप्त)

गुलामी को शिकस्त देने की आवाज़ देश में सबसे बुलन्द गाँधीजी की है। गाँधीजी को, उनके जीवन-काल में, बुद्ध और क्राइस्ट की समता उनके भक्तों ने दी है। गत दोनों आन्दोलन जिन्होंने देखे हैं—दरकिनार रहे हुए भी—उनकी ताकत, उनके जादू का प्रभाव उन लोगों पर पड़ा है। गाँधीजी का जीवन केवल बाहरी स्वतन्त्रता की लड़ाई का जीवन है। उनका जागरण उनका अकेले का नहीं, साथ बहुतों का है। लेकिन एक स्वतन्त्र साहित्यिक, एक पहुँचा दार्शनिक, वस्तु-विषय के बाल की खाल निकाले बगैर नहीं रह सकता। यह उसकी खुसूसियत है। वैसा ही जीवन, जैसा गाँधीजी का, महत्त्व की दृष्टि से बढ़कर नहीं तो घटकर भी नहीं—जहाँ हर वस्तु और विषय अपनी खूबसूरती और बारीकी में हद को पहुँचते हैं, जिससे आगे और नहीं या जिससे ज्यादा और बन नहीं पड़ता।

हिन्दी में मुख़ालिफ़त होने के साथ-साथ मैंने वस्तु-रूप से आदमी और विषय-रूप से उसके मन की जाँच-पड़ताल कम नहीं की। मैं दूसरे को सन्तोष न दे सकूँगा तो दूसरा ज़रूर किसी मानी में गुलाम होगा, शरीर से या मन से। साहित्य की स्वतन्त्रता कभी भी बाहरी उपकरण को बहुत ज्यादा साथ नहीं ले सकती। बाहरी वस्तु सापेक्षवाद की तरह रहे, लेकिन किसी की अपेक्षा में वही रहता है जो सत्ता-वाला है या सत्ता स्वयं अपेक्षा में रहती है जब बहिर्मुख होती है—जब उसे देह की कैद में रहना होता है। हमारे यहाँ ज्ञान सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष है और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सदा सत्य है।

इस मन से जाँच करने पर महात्माजी की कुल क्रियाएँ एक सापेक्षता लिये हुए हैं। वे जैसे स्वतन्त्रता के लिए लागू होती हैं, वैसे ही महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व निर्माण के लिए। उदाहरण में हिन्दी को लें। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, यह आवाज़ गाँधीजी की बुलन्द की हुई है। इस समय तक इस राष्ट्रभाषा के प्रश्न का कितना प्रशस्त उत्तर आया और कितनी अड़चनें, संवाद-पत्र के पाठक यह भी जानते हैं। हमारा विषय यह नहीं। संवाद-पत्र के पाठक यह भी जानते हैं कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बतानेवाले गाँधी—तिलक के मुकाबले सिर उठाते हुए देश के सामने आने-वाले गाँधी, हिन्दी के प्रश्न पर स्वयं बदल गये हैं। उनके इस एक आवाज़ उठाने

के साथ तमाम हिन्दीभाषी उनके साथ हो गये—नेता को यही चाहिए। तिलक हिन्दी नहीं जानते थे, लोगों को मालूम होगा। गाँधीजी हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति एक इसी ग्रावाज़ के बल पर हुए थे—इन्दौर में, पहले। नेता को कुछ काम भी करना पड़ता है, सहानुभूति पाने के लिए या लोकप्रियता के लिए। मद्रास में महात्माजी ने हिन्दी का प्रचार शुरू किया। उस समय अगर उर्दू या हिन्दुस्तानी का ध्यान महात्माजी को होता तो इस ज़ोर से मद्रास में हिन्दी का प्रचार न कराते—जहाँ, बगल में ही, हैदराबाद में उर्दू की प्रतिष्ठित सत्ता है। यह एक तरह हिन्दी-उर्दू का टग-ग्रॉफ-वार, रस्साकशी, हुग्रा। उर्दू के ग्रौर भविष्य की हिन्दुस्तानी के पक्षपाती, या कुछ नहीं केवल अपने नेतृत्व के पक्षपाती, गाँधी द्वारा हुग्रा। जो यह कहते हैं पंजाब में फार्सी-ग्रर्बी-बहुल हिन्दुस्तानी बोलिए, युक्तप्रान्त में खिचड़ी शैली, बिहार में कुछ ग्रधिक संस्कृत, बंगाल वगैरह में प्रतिशत संस्कृत शब्द, मैं पूछता हूँ, उनकी निगाह के सामने नेतृत्व करने के सिवा ज़बान की सूरत सँवारने का भी कोई ध्यान है? ऐसी बहुत-सी बातें हैं। तब हिन्दी-साहित्य पढ़नेवाले मद्रासी 'बी. ग्रम्मा' की धारणा भी नहीं कर सकते थे। खैर, हमारा मतलब महान् गाँधीजी की भाषा-सम्बन्धी राजनीति से है, जिन्होंने हिन्दी के द्वारा हिन्दी-भाषी पन्द्रह करोड़ जनता की भावनाजन्य स्वतन्त्रता बात-की-बात में मार दी। लोग लट्ठ की तरह बजने लगे—हिन्दी राष्ट्रभाषा है; सम्पादक हों, लेखक। वस्तु ग्रौर विषय की यही पराधीनता है। गाँधीजी की यही स्वाधीनता।

मैंने भी वस्तु ग्रौर विषय की स्वतन्त्रता की तरफ ध्यान रखा है, एक साहित्यिक की तरह, एक कवि की तरह, एक दार्शनिक की तरह। मेरा उद्देश था ग्रौर है, स्वतन्त्रता बहुमुखी है ग्रौर साहित्य का मतलब है—वह सबको साथ लिये रहे। इसी दृष्टि से दूसरे जाग्रत राष्ट्रों ग्रौर उन्नतिशील साहित्यों के नमूने देखते हुए, अपने गत ग्रौर वर्तमान राजनीति ग्रौर साहित्य को समझते हुए, देश के विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, प्रान्तीय भाषाग्रों, लोगों के ग्राचार-विचारों के भीतरी रूप जानते हुए, बाहरी संसार से उनके सहयोग का रूप देखते हुए जो साहित्य का निर्माण करते हैं, वे साथ-साथ जाति ग्रौर राष्ट्र का भी निर्माण करते हैं। मैंने जो निरपेक्ष ज्ञान की बात कही है, निरपेक्ष ज्ञान के साथ वस्तुग्रों ग्रौर विषयों की यही सापेक्षता सिद्ध होती है—उस निरपेक्षता में सामयिक वस्तु ग्रौर विषय जहाँ तक पहुँचते हैं, वहाँ हिन्दू ग्रौर मुसलमान का सवाल नहीं, वहाँ भाषा भी बाह्य रूप छोड़ देती हैं, ग्रर्थात् 'क' को चाहे 'क' लिखिए या 'के' कुछ नहीं ग्राता जाता। यही निरपेक्षता है। 'के' के पीछे लट्ठ लेकर पड़नेवाले पहली ही गति से साबित कर देते हैं कि वे पराधीन हैं, वे लड़ेंगे, समझौता नहीं करेंगे। मैं हिन्दी साहित्यिक की हैसियत से विनय के साथ कहता हूँ, देश के वर्तमान हिन्दू ग्रौर वर्तमान मुसलमान, वर्तमान सिख ग्रौर वर्तमान पारसी, सापेक्षता में ही, पुरानी रूढ़ियों के पाबन्द रहने के कारण या अँगरेज़ी पढ़कर यूरोप के नक्काल होने के कारण, निरपेक्षता से दूर हैं—वे अपने मन की चाहते हैं। स्वाधीनता ग्रौर पराधीनता का यह बहुत सीधा रहस्य है। हिन्दी में इधर जो काम हुग्रा है, उसमें सिर्फ़ ग्रादमी बड़ा है। इस ग्रादमी के द्वारा एक नयी भाषा-लिपि की रचना भी हो सकती है, समझौते के लिए, ग्रौर सुलझा ग्रादमी मंजूर भी कर सकता है जबकि भाषा ग्रौर लिपि ग्राज तक बदलती गयी है। नये-नये शब्द का ग्राविष्कार रुक नहीं सकता, एक देश कुल विश्व के साथ राजनीतिक, व्यावसायिक ग्रौर साहित्यिक दृष्टियों से जुड़ा हुग्रा है। ऐसे उदार विस्तृत साहित्य के निर्माण में जो लगेंगे, ये कभी भी दलबन्दी में ग्राकर एक खास

वस्तु-विषय को सत्य नहीं कहेंगे। गाँधीजी, लेकिन, ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें नेतृत्व करना है, उनके पास नेता सर्व नहीं एक मनुष्य है; लिहाज़ा उन्हें दूसरों की राय चाहिए अनुकूल। यहीं निरपेक्ष सत्य टूटता है।

गाँधीजी 1935-36 में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के फिर सभापति होते हैं। अब तक गाँधीजी के दोनों आन्दोलन हो चुकते हैं और वे देश और विश्व के सामने अपनी पूरी महत्ता से प्रकट हो जाते हैं। इन्दौर में, इस बार, रुपये के मामले में गाँधीजी से जो भाव-ताव हुआ था और जो परिणाम, उसका उल्लेख अनावश्यक है। यहाँ उन्होंने हिन्दी के साथ हिन्दुस्तानी एक लफ़्ज और जोड़ा था, यह ध्यान देने की बात है। जब भी महात्मा गाँधी ख़िलाफ़त आन्दोलन में मुसलमानों को साथ दे चुके थे और हिन्दी की सीधी खिचड़ी शैली के ही पक्षपाती थे— यह काम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी उनसे बहुत पहले कर चुके थे— फिर भी इन्दौरवाली हिन्दुस्तानी में साधारण मज़ाक नहीं रहा। मैं समझता हूँ, नेता हिन्दुओं का नेता तो बन ही चुका था, मुसलमानों का भी बनना था। भूषण का आन्दोलन भी कुछ अर्थ रखता है। यहीं, इन्दौर में, महात्माजी ने एक आवाज़ मारी, 'कौन है हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय ?'

इस आवाज़ पर हिन्दी के पत्रों ने आवाज़कशी की। इत्तिफ़ाक, लखनऊ-कांग्रेस शुरू हुई। महात्माजी आये। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय का उद्घाटन था, महात्माजी दरवाज़ा खोलने के लिए बुलाये गये। उस वक्त उन्होंने फिर वैसी ही एक आवाज़ लगायी। हर आवाज़ का अच्छा मतलब भी हासिल होता है, हम निकाल लेते हैं। लेकिन व्यवहार में भी अगर आवाज़कशी हुई तो सँभले-से सँभला आदमी भी नहीं सँभल सकता। चूँकि महात्माजी लखनऊ में टिके हुए थे, इसलिए पता लगाना लाज़िमी हो गया कि उन्होंने यह आवाज़ लगायी या आवाज़कशी की।

तबियत में आया, महात्माजी से बातचीत की जाय कि 'हिन्दी में कौन है रवीन्द्रनाथ' कहकर महात्माजी क्यों रह-रहकर चौंक उठते हैं; लेकिन मेरे लिए उस वक्त महात्माजी रहस्यवाद के विषय हो गये, कहीं खोजे ही नहीं मिले। उनके कुछ भक्तों ने कहा, पता बताना मना है, लोग महात्माजी को परेशान करते हैं। कांग्रेस-आफ़िस में पूछने पर मालूम हुआ-- उधर कहीं गोमतीपार रहते हैं। इतना विशद पता प्राप्त कर गोमती के पुल के किनारे आकर खड़ा बाट जोह रहा था कि बापू की बकरी ताँगे पर बैठाये एक आदमी लिये जा रहा था और कुछ लखनौए लड़के ठहाका मार रहे थे। उनकी बातचीत से मुझे मालूम हुआ कि यह बापू की बकरी जा रही है। मैं समझ गया, इसी रास्ते में आगे कहीं ठहरे हैं। घर लौटा और कपड़े बदले फिर बापू के दर्शन के लिए एक्का करके चला। युनिवर्सिटी के आगे जाते हुए रास्ते के दायीं ओर एक बँगले में महात्माजी ठहरे थे। दिन आठ का समय। जब गया, तब एक कमरे में गाँधीजी, जवाहरलालजी और राजेन्द्र प्रसादजी आदि से बातें कर रहे थे, मालूम हुआ। दरवाज़े पर एक स्वयंसेवक पहरा दे रहा था। मैं बापू से मिलना चाहता हूँ, सुनकर पहले उसी ने फैसला दिया, मुलाकात नहीं होगी। यद्यपि सिपाही से मज़ाक करना नियम नहीं, फिर भी मज़ाक का बदला चुकाने में कोई दोष भी नहीं —सोचकर मैंने पूछा, 'क्या आप महात्माजी के सिक्त्तर हैं या पर्सनल असिस्टेंट ?' स्वयंसेवक झेंपा और अपनी झेंप मिटाने के लिए एक मर्तबा भीतर चला गया। मैंने एक चिट्ठी दी थी, वह उसने पहले ही वापस कर दी थी। दोबारा आने पर मैंने वह चिट्ठी फिर दिखायी और कहा, 'इतना तो आप

पढ़े ही होंगे कि यह चिट्ठी जिनके नाम है, उनके पास पहुँचा दें।' चिट्ठी में मिलने की इच्छा ज़ाहिर करते हुए वक्त पूछा गया था। स्वयंसेवक चिट्ठी भीतर रखकर क्षण-भर में लौटा और कहा, 'शाम को आइए।' महात्माजी के सेक्रेटरी महादेवजी देसाई की आज्ञा है।

मेरे घर में कई कांग्रेस-दर्शक टिके थे। मैं महात्माजी के दर्शनों के लिए, उनसे बातचीत करने के लिए शाम को जा रहा हूँ, सुनकर उनमें दो साथ होने को हुए—पं. वाचस्पतिजी पाठक और कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह। शाम को इन लोगों के साथ मैं चला। जब पहुँचा तब स्त्रियों और पुरुषों का एक बड़ा दल इकट्ठा था; कुछ भीतर टहल रहे थे, कुछ रास्ते के दोनों बगल की कम ऊँची दीवारों पर बैठे थे। मालूम हुआ, यह शाम की प्रार्थना में शरीक होने के लिए आये हैं। किसी से परिचय न था। बिना परिचय के प्रवेश में सब जगह अड़चन पड़ती है। इसी समय सीतला सहाय, हिन्दी के सुप्रसिद्ध निबन्ध-लेखक, बँगले से बाहर निकले। इन्होंने मुझसे आने का कारण पूछा। मैंने बतलाया। इन्होंने कहा, महात्माजी आजकल किसी से मिलते नहीं। मैंने कहा कि सुबह मैंने बहुतों से बातचीत करते देखा है। इन्होंने कहा, वे बड़े-बड़े नेता हैं, उनसे सलाह लेने के लिए आते हैं। मैंने कहा, ये जितने बड़े नेता हैं, मैं उनसे बड़ा साहित्यिक हूँ और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति को मुझसे मिलने में किसी तरह का संकोच न होना चाहिए। बाबू सीतला सहाय बहुत खुश हुए। बोले अभी ज़रा देर बाद महात्माजी बाहर प्रार्थना के लिए निकलेंगे, उस वक्त आप आइयेगा, मैं भी हूँ, देसाईजी से आपको मिला दूँगा। अगर आज मुलाकात नहीं होगी तो समय निर्धारित हो जायगा। मैं बाहर आई. टी. कालेज की तरफ पं. वाचस्पति पाठक और कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के साथ टहलता हुआ निकल गया। रास्ते में सम्मिलित प्रार्थनार्थी कई जोड़े तपाक से बढ़ते हुए दिखे, मुझे खद्दर के वेश में देखकर उद्वेग से पूछा, क्या प्रार्थना समाप्त हो गयी? मैंने कहा, नहीं। वह और तेज़ कदम बढ़े।

धीमे तिताले टहलता हुआ दोनों साहित्यिक मित्रों के साथ मैं आया कि प्रार्थनार्थियों की पल्टन ध्यानावस्थित तद्‌गतेन मनसा बैठी हुई देख पड़ी। कुछ दरियाँ और टाट बिछे थे। एक जगह एक तम्बूरा लिये एक गायक बैठे थे। एक बगल टाट के एक कोने में बैठना ही चाहता था कि एक महाशय ने जल्दबाज़ी करते हुए मुझे एक धक्का-सा देकर वह जगह छीन ली। वह कोई कांग्रेसी थे, मेरी इच्छा हुई कि कलाई पकड़कर घसीटूँ, लेकिन महात्माजी आ गये थे, मैंने शान्तिभंग करना उचित नहीं समझा। हम लोगों की तरफ़ से पं. वाचस्पति पाठक एक अच्छी जगह डटकर बैठे थे। मैं जमीन पर बैठा। तम्बूरेवाले गायनाचार्य ने मीरा का एक गीत शुरू किया। उनकी आवाज़ में जैसी मुर्दनी, गीत के भाव में वैसी ही दीनता; मैं महात्माजी, गायनाचार्य, गीत और भाव की ओर ख़याल दौड़ा रहा था। अधिक-से अधिक पाँच मिनट वक्त लगा होगा, प्रार्थना समाप्त हो गयी। महात्माजी उठे और भीतर चले गये। वाचस्पति मेरे पास आये और पूरी ओजस्विता से बोले, आप देसाईजी से बातें कीजिए, वो बैठे हैं। एक तो दुर्भाग्य से उस समय तक मैंने देसाई जी को देखा नहीं था, दूसरे मुँहअँधेरे में मुझे मालूम दे रहा था, यह आर. एस. पण्डित हैं, जब भी शंका होती थी कि यह उनसे ज्यादा तगड़े हैं। इसी समय बाबू सीतला सहाय आये। मैंने गर्जमन्द की आवाज़ में उनसे कहा, मैं देसाईजी को पहचानता नहीं, आप मिला दीजिए। सीतला सहायजी मुझे देसाईजी के पास ले चले और कुछ शब्दों में उनसे मेरी तारीफ़ की—जैसा कि कहते हैं, ये बड़े होनहार हैं।

इसी समय श्रीमती कस्तूरी बाई उधर से गुजरीं। मैं खड़ा था। उनका सिर मेरी कमर के कुछ ही ऊपर था, लेकिन भक्तिभाव से हाथ जोड़कर मैंने उन्हें प्रणाम किया। देसाईजी से बातें होने लगीं। देसाईजी को यह मालूम होने पर कि मैं सुबह आया था, एक चिट्ठी दी थी और स्वयसेवक के कथनानुसार देसाईजी ने शाम को मुझे आने की आज्ञा दी है, देसाईजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा, न मुझे आपकी कोई चिट्ठी मिली है और न मैंने आपको आने को कहा है। इसके बाद उन्होंने पूछा, आप महात्माजी से क्यों मिलना चाहते हैं? मैंने कहा कि मैं राजनीतिक महात्माजी से नहीं मिलना चाहता, मैं तो हिन्दी-साहित्य के सभापति गाँधीजी से मिलना चाहता हूँ। इससे बातचीत का विषय स्पष्ट हो गया। देसाईजी एक शिष्ट सभ्य शिक्षित मनुष्य की तरह मुझे बँगले के भीतर प्रतीक्षा करने के लिए कहकर महात्माजी के कमरे की तरफ़ गये।

मैं बँगले के बीचवाले कमरे में एक कोच पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। तब मेरे बाल बड़े-बड़े थे, कवि की वेश-भूषा। नौजवान और नवयुवतियाँ मुझे सहर्ष देख-देख जाने लगीं। वायुमण्डल, मनोमण्डल, वदनमण्डल और भावमण्डल मुझे बड़ा अच्छा लगा। महात्माजी की लोगों पर, युवक-युवतियों पर जो छाप थी, उसकी ह्लादिनी शक्ति ज्ञात हो गयी।

महादेवजी देसाई आये और कहा, महात्माजी आपसे मिलेंगे, बीस मिनट आपको वक्त दिया है, जाइए।

मैं भीतर चला, मेरे साथ पं. वाचस्पति पाठक और कुं. चन्द्रप्रकाश। उत्तर तरफ के कमरे में महात्माजी थे, पास बाबू शिवप्रसादजी गुप्त, उनके सेक्रेटरी हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक अन्नपूर्णानन्दजी, मंगलाप्रसाद-पारितोषिकप्रदाता स्व. बाबू मंगलाप्रसादजी के लड़के बैठे थे। उस समय तक व्यक्तिगत रूप से केवल बाबू शिवप्रसादजी को जानता था। महात्माजी सूक्ष्म मन के तार से इन लोगों से मिले, आगन्तुक के लिए कुछ अपने में खिंचे, तैयार होते हुए-से दिखे। कमरे के भीतर जाने के साथ मेरी निगाह महात्माजी की आँखों पर पड़ी। देखा, पुतलियों में बड़ी चालाकी है। हर्डल रेस, कुश्ती और फुटबाल से मेरे दोनों पैरों में गहरी चोटें आ चुकी हैं, इसलिए एकाएक घुटने तोड़कर भूमिष्ठ प्रणाम नहीं कर सकता, फिर उन दिनों से अब तक बायें पैर में वात या सायटिका है। मैंने खड़े-ही-खड़े महात्माजी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। प्रणाम सम्बन्ध में मेरे साथियों ने मेरा अनुसरण किया। प्रणाम कर मैं महात्माजी के सामने बैठ गया। मेरे साथी भी बैठे। महात्मा जी ने, मेरे बैठ जाने पर, उसी तरह हाथ जोड़कर मुझे प्रति नमस्कार किया। आँखों में दिव्यता, जो बड़े आदमी में ही दिखती है—बड़े धार्मिक आदमी में, लेकिन दृष्टि आधी बाहर—दुनिया को दी हुई जैसे, आधी भीतर—अपनी समझ की नाप के लिए। मेरा पहनावा विशुद्ध बंगाली, पंजाबी कुर्ता, धोती कोंछीदार, ऊपर से चद्दर खद्दर की।

महात्माजी ने पूछा, "आप किस प्रान्त के रहनेवाले हैं?"

इस प्रश्न का गूढ़ सम्बन्ध बहुत दूर तक आदमी को ले जाता है। यहाँ नेता, राजनीति और प्रान्तीयता की मनोवैज्ञानिक बातें रहने देता हूँ, केवल इतना ही बहुत है, हिन्दी का कवि हिन्दी-विरोधी बंगाली की वेश-भूषा में क्यों?

मैंने जवाब दिया, "जी, मैं यहीं उन्नाव जिले का रहनेवाला हूँ।"

महात्माजी पर ताज्जुब की रेखाएँ देखकर मैंने कहा, "मैं बंगाल में पैदा हुआ हूँ और बहुत दिन रह चुका हूँ।"

महात्माजी की शंका को पूरा समाधान मिला। वह स्थितप्रज्ञ हुए, लेकिन चुप रहे; क्योंकि बातचीत मुझे करनी थी, प्रश्न मेरी तरफ़ से उठना था।

मैंने कहा, "आप जानते हैं, हिन्दीवाले अधिकांश में रूढ़िग्रस्त हैं। वे जड़ रूप ही समझते हैं, तत्त्व नहीं। जो कथाएँ पुराणों में आयी हैं, उनके स्थूल रूप में सूक्ष्मतम तत्त्व भी हैं। वास्तव में वेदों का सत्य पुराणों में कथाओं-द्वारा विवृत हुआ है। यहाँ के लोग कथा को ही ऐतिहासिक सत्य की तरह मानते हैं। हिन्दी में इन तत्त्वों के परिष्करण की भी चेष्टा की गयी है। साथ-साथ, नये-नये रूप, नये-नये छन्द और नये-नये भाव भी दिये गये हैं। साधारण जन तो इनसे दूर हैं ही, सम्पादक और साहित्यिक भी, अधिक संख्या में, इनसे अज्ञ हैं। वे समझने की कोशिश भी नहीं करते, उल्टे मुख़ालिफ़त करते हैं। हम लोगों के भाव इसीलिए प्रचलित नहीं हो पाये। देश की स्वतन्त्रता के लिए पहले समझ की स्वतन्त्रता ज़रूरी है। मैं आपसे निवेदन करने आया हूँ कि आप हिन्दी की इन चीज़ों का कुछ हिस्सा सुनें।"

महात्माजी, "मैं गुजराती बोलता हूँ, लेकिन गुजराती का साहित्य भी बहुत कुछ मेरी समझ में नहीं आता।"

"मैंने गीता पर लिखी आपकी टीका देखी है। आप गहरे जाते हैं और दूर की पकड़ आपको मालूम है। आपने उसमें समझाने को कोशिश की है।"

महात्माजी, "मैं तो बहुत उथला आदमी हूँ।"

मैं, "हम लोग उथले में रहे हुए को गहरे में रहा हुआ साबित करने की ताकत रखते हैं।"

महात्माजी चुप रहे।

मैंने कहा, "आपके सभापति के अभिभाषण में हिन्दी के साहित्य और साहित्यिकों के सम्बन्ध में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, आपने एकाधिक बार पं. बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम सिर्फ लिया है। इसका हिन्दी के साहित्यिकों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, क्या आपने सोचा था?"

महात्माजी, "मैं तो हिन्दी कुछ भी नहीं जानता।"

मैं, "तो आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कौन हैं!"

महात्माजी, "मेरे कहने का मतलब कुछ और था।"

मैं, "यानी आप रवीन्द्रनाथ का जैसा साहित्यिक हिन्दी में नहीं देखना चाहते, प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का नाती या नोबल-पुरस्कार प्राप्त मनुष्य देखना चाहते हैं, यह?"

कुल सभा सन्न हो गयी। लोग ताज्जुब से मेरी तरफ़ देखने लगे। कुँ. चन्द्रप्रकाश से पहले मैं कह चुका था कि महात्माजी की बातें लिख लें, लेकिन वह इस समय तक तन्मय होकर केवल सुन रहे थे। मैंने उनकी तरफ़ देखा तो वह समझकर लिखने लगे। साथ ही महादेव देसाई के हाथ में जैसे बिजली की बैटरी लगा दी गयी, वह भी झपाटे से लिखने लगे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त का दल जैसे दलदल में फँस गया हो। शिवप्रसादजी हैरान होकर मुझे देख लेते थे। उनके सेक्रेटरी बाबू अन्नपूर्णानन्द मुझे देख-देखकर जैसे बहुत परेशान हो रहे हों।

मैंने स्वस्थ-चित्त हो महात्माजी से कहा, "बंगला मेरी वैसी ही मातृभाषा है, जैसी हिन्दी। रवीन्द्रनाथ का पूरा साहित्य मैंने पढ़ा है। मैं आपसे आधा घण्टा समय चाहता हूँ। कुछ चीज़ें चुनी हुई रवीन्द्रनाथ की सुनाऊँगा, उनकी कला का विवेचन करूँगा, साथ कुछ हिन्दी की चीजें सुनाऊँगा।"

महात्माजी, "मेरे पास समय नहीं है।"

मैं हैरान होकर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति को देखता रहा, जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बतलाता है, बेमतलब पहरों तकली चलाता है, प्रार्थना में मुर्दे गाने सुनता है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति है, लेकिन हिन्दी के कवि को आधा घण्टा वक्त नहीं देता—अपरिणामदर्शी की तरह जो जी में आता है, खुली सभा में कह जाता है, सामने बग़लें झाँकता है !

मैंने अपना उल्लिखित मनोभाव दबा लिया। नम्र होकर कहा, "महात्माजी, मेरी चीज़ों की आम जनता में कद्र नहीं हुई। इसकी वजह है। आप अगर कुछ सुन लेते तो मुमकिन, अच्छा होता।"

महात्माजी, "आप अपनी किताबें मेरे पास भेज दीजिएगा।"

जैसे किसी ने चाँटा मारा। अब किसी की आलोचना से, किसी की तारीफ से आगे आने की अपेक्षा मुझे नहीं रही। मैं ख़ुद तमाम मुश्किलों को झेलता हुआ, अड़चनों को पार करता हुआ, सामने आ चुका हूँ।

मैंने मज़ाक में कहा, "आप अपने यहाँ के हिन्दी के जानकारों के नाम बतलाइए जो मेरी किताबों पर राय देंगे। आपको हिन्दी अच्छी नहीं आती, आप कह ही चुके हैं।"

कहकर मैं हँसा। महात्माजी भी खूब खुलकर हँसे।

मैंने कहा, "एक हैं पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, विशाल भारत के सम्पादक, पत्र के साथ जिनका नाम शायद आपने दो बार लिया है। यह कुछ दिन रहे हैं आपके पास और कुछ दिन रवीन्द्रनाथ के यहाँ। विशाल भारत के सम्पादक के लिए यही इनकी सबसे बड़ी योग्यता ठहरी !"

महात्मा गाँधी, "हाँ।"

मैं, "अगर मैं भूलता नहीं तो कवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के साकेत की भाषा को आपने मुश्किल कहा है।"

महात्माजी, "हाँ।"

मैं, "फिर मेरे तुलसीदास की भाषा का क्या हाल होगा ?"

महात्माजी कुछ दुचित्ते से हुए, तुलसीदास के नाम पर मुमकिन, भ्रम हुआ हो, मैं तुलसीदास की भाषा का ज़िक्र कर रहा हूँ।

अब तक बीस मिनट पूरे हो चुके थे। महात्माजी मौन हो गये। मैंने कहा, "महात्माजी, अगर वक्त हो गया हो तो मैं प्रणाम कर बिदा होऊँ।"

महात्माजी ने कहा, "हाँ, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ।"

उठकर मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शिवप्रसादजी से फिर दर्शन करने के लिए कहकर बाहर निकला।

घर आने पर महात्माजा की रायवाली बात पर मुझे एक लोकोक्ति याद आयी। सोचा, इस लोकोक्ति से महात्माजी को पत्र लिखूँ। लोकोक्ति यह है—

किसी महाजन के एक घोड़ा था। वह उसकी बड़ी देख-भाल रखते थे। एक दिन उनके किसी पड़ोसी को कहीं जाना था। वे महाजन के यहाँ गये और कहा, सवारी के लिए मुझे आप अपना घोड़ा दे दीजिए। महाजन ने कहा, घोड़ा नहीं है। पड़ोसी को विश्वास न हुआ, वे वहीं खड़े रहे। कुछ देर बाद घोड़ा हिनहिनाया। पड़ोसी ने कहा, आप कहते थे, घोड़ा नहीं है, घोड़ा तो है। महाजन ने कहा, तुम हमारी आवाज़ नहीं समझे घोड़े की आवाज समझे !

पत्र में मैं इतना और लिखता—महात्माजी, मैं आप ही की आवाज़ पहचान

गया। किताब भेजकर ग्रापके घोड़े की ग्रावाज़ नहीं पहचानना चाहता।

कवि सियारामशरणजी को ग्रपने पत्र का मज़मून सुनाया तो उन्होंने कहा महात्माजी का स्वास्थ्य ग्राजकल ग्रच्छा नहीं है, ग्राप ऐसा न लिखें।

[रचनाकाल : 1939 ई. । **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## नेहरूजी से दो बातें
### (इण्टरव्यू द्वारा प्राप्त)

कलकत्ता-विद्यासागर-कालेज से न्योता मिला था, चीफ़ गेस्ट की हैसियत से बुला रहे हैं। ग्राज के ज़माने में किसी भी शब्द के सामने लम्बा विशेषण मज़ाक है, ग्रौर बढ़ा-चढ़ा मज़ाक यह कि 'मतवाला' निकलते वक्त इसी विद्यासागर-कालेज के चारों तरफ़ ग्रावारागर्द की तरह, सैकड़ों चक्कर लगा चुका हूँ—विद्यासागर-कालेज का गेट शङ्करघोष-लेन में ही है, जहाँ से मतवाला निकलता था। लेकिन कलकत्ता मुझे प्रिय है, जो भी वजह हो; विद्यासागर कालेज ग्रौर भी प्रिय। इसके विद्यार्थी जो उन दिनों मेरे बाजू बचानेवाले थे, ग्रब बड़े-बूढ़े हो चले होंगे, तरह-तरह की झंझटों में फँसे हुए या एक के बाद दूसरा सब्ज़बाग़ खिलाते हुए, मेरे पास काफ़ी ग्रा चुके हैं। ग्राज जिन विद्यार्थियों ने मुझे बुलाया है, उनमें मैंने पुराने विद्यार्थियों के मुँह देखे ग्रौर मुझ पर भी एक पानी, बीती जवानी का जैसे चढ़ ग्राया। जवानी से प्यारी दूसरी चीज़ मैं नहीं समझ पाया। प्रौढ़ता में भी उसी का दौरा रह-रहकर रंग चढ़ा जाता है।

देहरा-एक्सप्रेस से रवाना हुग्रा, लखनऊ-स्टेशन से। इण्टर का टिकट। जाड़े के दिन। पंजाबी कुर्त्ते पर पूरी बाँहवाली रुई की बण्डी पहने हुए। जगह की तलाश में डब्बे देख रहा था कि एक साथ लखनऊ के परिचित बहुत से एम. एल. ए. देख पड़े। मैंने सोचा, कोई ग्रा-जा रहे होंगे। ज्यादह ध्यान नहीं दिया। एक कमरा खाली देखकर उसमें बैठा। गाड़ी चल दी। बाराबंकी पार कर फ़ैज़ाबाद की हद में गाड़ी पहुँची तो किसी स्टेशन पर तिरंगा झण्डा लिये झुण्ड-के-झुण्ड गँवैये लोग "महात्मा गाँधी की जय, जवाहर लाल नेहरू की जय" बोलते हुए, एक खास डब्बे की तरफ़ फूल फेंकते, माला पहनाते हुए नज़र ग्राये। मैं समझा, कोई बड़े नेता इस गाड़ी से जा रहे हैं। फ़ैज़ाबाद स्टेशन पर भी ऐसी ही भीड़ थी। उतर-कर मैंने देखा, एक ड्योढ़े दर्जे के दरवाजे पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू खड़े हुए हैं ग्रौर स्टेशन ग्रौर गाड़ी की छत पर ग्राते-जाते हुए बन्दरों को देख रहे हैं। गाड़ी की छत पर बैठे बन्दरों के बारे में उन्होंने पूछा, "क्या ये इसी तरह यहाँ से ग्रयोध्या तक जाते हैं?"

बन्दरोंवाली बात का व्यंग्य मुझे बड़ा ग्रच्छा लगा। देखा, जवाहरलालजी ड्योढ़े दर्जे में ही थे। मैंने जवाहरलालजी से कभी बातचीत नहीं की। उनके ऐसे प्रसंग हिन्दी-साहित्य के बारे में बहुत से उठे हैं जिनके लिए ग्रखबारों में लिखा-पढ़ी या मिलकर उनसे बातचीत की जाय। लेकिन चुप रहकर जो कुछ लिखते बने,

लिखना ज्यादह अच्छा लगा। पर इस वक्त लोभ न सँभाला गया। मैं डब्बे के भीतर चला। पण्डितजी ज़रा बग़ल हो गये। फिर उसी तरह दरवाज़े पर खड़े हो गये। गाड़ी छूटने तक स्वागत के लिए सम्मान में खड़े रहने के इरादे से, उन्हें बिदा करने के लिए।

भीतर डब्बे में आर. एस. पण्डित महाशय थे, चढ़े फूलों से खेलते हुए। एक और सज्जन गम्भीर भाव से बैठे थे। मुमकिन, पण्डितजी के सिकत्तर रहे हों। मैं एक वर्थ पर एक बग़ल बैठ गया। वह पूरी खाली थी। गाड़ी छूटने पर नमस्कार करते हुए लोगों को नमस्कार करते हुए बिदा कर पण्डित जवाहरलालजी उसी वर्थ पर आकर बैठे। एक मिनट तक वह मुझे देखते रहे। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे सिर पर एक टोप था, जिसे मंकी-कैप कहते हैं। बचपन में ऐसे पहनावे से मुझे भी हँसी आती थी। मुझे मोहम्मद साहब की बात याद आयी, "पहाड़ मेरे पास नहीं आता तो मैं पहाड़ के पास जाऊँगा।"

पण्डितजी की तरफ मुँह करके मैंने कहा, "आपसे कुछ बातें करने की गरज से अपनी जगह से यहाँ आया हुआ हूँ।"

पण्डितजी ने सिर्फ मेरी तरफ देखा। मुझे मालूम दिया, निगाह में प्रश्न है— "तुम कौन हो?" मालूम कर, अखबारों में और हिन्दी के इतिहासों में आयी तारीफ का उल्लेख नाम के साथ करते हुए मैंने कहा, "यह सिर्फ थोड़ी-सी जानकारी के लिए कह रहा हूँ। प्रसिद्धि के विचार से आप खुद समझेंगे कि मैं जानता हूँ कि मैं किनसे बातें कर रहा हूँ।"

पण्डितजी मेरी बात से जैसे बहुत खुश हुए। मैंने कहा, "इधर हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में आपके विचार देखकर आपसे बातें करने की इच्छा हुई। आप उच्च-शिक्षित हैं। हर तरह की शिक्षा की परिणति उच्चता है, न कि साधारणता। आपका देशव्यापी और विश्वव्यापी बड़प्पन भी उच्चता ही है। ज़बान जब अपने भावों के व्यक्तीकरण में समर्थ-से-समर्थ होती चलती है, तब वह साधारण-से-साधारण हो या न हो, उच्च-से-उच्च जरूर होती है। भाषा-जन्य बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं जो हिन्दुस्तानी ज़बान को मद्देनज़र रखते हुए दूर नहीं की जा सकतीं। आदमी के जीवन में साधारण-सी बातें भी हैं, उनके साथ सूक्ष्मतम, साधारण जनों के मस्तिष्क से दूर असाधारण तत्त्व भी हैं। भाषा जब साहित्य का रूप पाती है, तब वह दोनों को लिये हुए चलती है। आप अधिकांश जनों को खुश करने के लिए हिन्दुस्तानी जुबान का प्रचार करें, यह और बात है, लेकिन भाषागत और भावगत चारुता के उदाहरण उपस्थित करते हुए, उनका हिन्दुस्तानी-रूप कैसा होगा, अगर आपसे पूछा जाय, तो क्या आप बता सकेंगे?"

पण्डितजी देखते रहे।

मैंने अपना भाव और सीधे शब्दों में स्पष्ट किया—"मैं हिन्दी के कुछ वाक्य आपको दूँगा जिनका अनुवाद आप हिन्दुस्तानी ज़बान में कर देंगे, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। इस वक्त आपको समय नहीं"—पण्डितजी युक्त प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का सभापतित्व करने जा रहे थे, अगला स्टेशन अयोध्या-स्टेशन था—"अगर इलाहाबाद में आप मुझे आज्ञा करें तो किसी वक्त मिलकर मैं आपसे उन पंक्तियों के अनुवाद के लिए निवेदन करूँ।"

पण्डितजी बहुत उलझे हैं, उन्हें फुरसत नहीं, कुछ ऐसा भाव संकोच के साथ जाहिर करने लगे। मुझे हँसी आ गयी। मुस्कराते हुए मैंने कहा, "पण्डितजी, हम लोगों ने भी कुछ विचार लड़ाये हैं, हिन्दुस्तानी की कामयाबी के बारे में और इस

सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि जीवन के साधारण महकमे तक ही उसकी पहुँच है। मैं राजनीति की बातें नहीं करता, साहित्य की बातें करता हूँ। राजनीति में भी, बिना अंग्रेजी के सहारे के, संस्कृत, अरबी या फ़ारसी के, वह लँगड़ी होगी।"

जवाहरलालजी गम्भीर सारल्य से मेरी ओर देखने लगे। उनका बोलने का इरादा नहीं समझकर मैंने सोचा, दूसरा प्रसंग छेड़ूँ। कहा, "हमारा समाज भी तैयार नहीं।" कहने के साथ समाजवादी पं. जवाहरलाल ने ज़रा गरदन ऊँची की। मैं कहता गया, "जिस समाज में हमारा जनसमूह है, वह पुराना समाज है, पुरानी रूढ़ियों का गुलाम। नये विचार, नये परिवर्तन, नया उत्कर्ष जब तक नहीं होगा, अच्छे नाटक और उपन्यास लिखे नहीं जा सकेंगे।"

"क्यों-क्यों ?" अपनी स्वाभाविक तेजी से पण्डितजी ने कहा, "रूस—रूस में कैसे हुआ ?"

मैं सोचने लगा, पण्डितजी के मुताल्लिक मेरी पहली धारणा सही है। मुझे विचार करता देख पण्डितजी ने सोचा, मैं शक्की हूँ, उनके निश्चय पर। बोले, "आज का रूस नहीं, पहले का।"

मैंने कहा, "जी हाँ, मैं समझा, आपका मतलब पुश्किन से टाल्सटाय तक है—प्रोग्रेसिव रूस से।"

पण्डितजी ने कहा, "हाँ।"

मैंने पण्डितजी को देखते हुए कहा, "लेकिन क्या हिन्दुस्तान की दशा वैसी ही समझते हैं ? संस्कृति, हिन्दू-मुसलिम मनोवृत्तियाँ—क्या वैसे ही वर्ग-युद्ध से दुरुस्त होंगी ?"

आर. एस. पण्डित मेरी बात से बढ़े। मैंने कहा, "यहाँ के ऐतिहासिक विवर्तन देखने पर मालूम देता है, यहाँ के मन की दूसरी परिस्थिति है। यहाँ सुधार ज्ञान से हुआ है। एक हिन्दू-मुसलिम समस्या को ही लीजिए। मैं समझता हूँ, इसका हल हिन्दी के नये साहित्य में जितना सही पाया जायगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसका कारण है, राजनीति प्रभावित है पश्चिम से; साहित्य मौलिकता से पनपा है। ब्रह्म···"

पण्डितजी, "ब्रह्म क्या ?"

"ब्रह्म शब्द से नफरत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ बड़ा है, जिससे बड़ा और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं—सूक्ष्मतम आध्यात्मिक, दार्शनिक, बृहत्तर रूप में भी देखनेवाले की दृष्टि प्रसरित है। पण्डितजी, मैं अगर आपको ब्रह्म देखूँ तो आप मेरी दृष्टि में बड़े होंगे या बहत्तर दफा नेशनल कांग्रेस प्रिज़ाइड करने पर ?"

पण्डितजी चुप। आर. एस. पण्डित गौर से मुझे देखते हुए।

मैं कहता गया, "यही दृष्टि जरूरी है। यही दृष्टि पतित का सार्वभौम सुधार कर सकती है। गुलाम की बेड़ियाँ काट सकती है। हिन्दू-मुसलिम को मिला सकती है—यह निगाह आज तक की तमाम रूढ़ियों से जुदा है। इस निगाह में भिन्न मतों का लगा जंग नहीं—जो जंग इधर लगा है, जो मत इधर चले हैं; यह निगाह पूरब और पच्छिम को अच्छी तरह पहचानती है; यह निगाह ब्राह्मण और शूद्र नहीं मानती।"

पण्डितजी केवल देखते रहे। मुझे एकाएक उनकी आत्मकथा की याद आयी। साथ ही उसका वह अंश जिसको लेकर कुछ साल पहले हिन्दी में लिखा-पढ़ी हो चुकी थी; यानी प्रसादजी, प्रेमचन्दजी, रामचन्द्रजी शुक्ल वगैरह काशी के सुप्रसिद्ध

साहित्यिकों ने काशी में पण्डितजी को बुलाकर सम्मानित किया था। उस अवसर पर पण्डितजी ने कहा था, "हिन्दी में दरबारी ढंग की कविता प्रचलित है।" मैंने कहा, "पण्डितजी, यह मामूली अफ़सोस की बात नहीं कि आप-जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति इस प्रान्त में होते हुए भी इस प्रान्त की मुख्य भाषा हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ हैं। किसी दूसरे प्रान्त का राजनीतिक व्यक्ति ऐसा नहीं। सन् 1930 के लगभग श्री सुभाष बोस ने लाहौर के विद्यार्थियों के बीच भाषण करते हुए कहा था कि बंगाल के कवि पंजाब के वीरों के चरित्र गाते हैं। उन्हें अपनी भाषा का ज्ञान और गर्व है। महात्मा गाँधी के लिए कहा जाता है कि गुजराजी को उन्होंने नया जीवन दिया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला का अनुवाद अंग्रेजी में देते हैं। हमारे यहाँ आपकी तरह के व्यक्ति होते हुए भी साहित्य में नहीं हैं। हिन्दी, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि अब पद्य-साहित्य में बड़ी-से-बड़ी जबानों का मुकाबिला करती है—अपने व्रज-भाषा-साहित्य में तो वह लासानी है। बनारस के जिन साहित्यिकों की मण्डली में आपने दरबारी कवियों का उल्लेख किया था, उनमें से तीन को मैं जानता हूँ। तीनों अपने-अपने विषय के हिन्दी के प्रवर्तक हैं। प्रसादजी काव्य और नाटक साहित्य के, प्रेमचन्दजी कथा-साहित्य के और रामचन्द्रजी शुक्ल आलोचना-साहित्य के। आप ही समझिए कि इनके बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख कितना हास्यास्पद हो सकता है। इन्होंने आपके सम्मान के लिए आपको बुलाया था, इसलिए आपके विरोध में कुछ नहीं कहा। आप जिस दरबारीपने का उल्लेख कर चुके हैं, वह हिन्दी-साहित्य से बीसियों साल से दूर है। खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के बाद जो काव्य मैदान में पैर रखता और आगे बढ़ता है, उसके साथ दरबानीपन का कोई सम्बन्ध नहीं, आज बंगला को छोड़कर शायद ही दूसरी भाषा खड़ी बोली के उस काव्य से हाथ मिला सके। उसके प्रसार, कल्पना, उदारता आदि के कारण उसमें अंग्रेजी के छन्द तो हैं ही, अंग्रेजी का 'वर्स-लिब्रे' (मुक्तछन्द) तक मौजूद है। उर्दू ये चीजें अभी दे नहीं सकती, जब भी उसे इकबाल पैदा करने का गर्व है। अगर हिन्दी की सच्ची जानकारी, उसकी कमजोरी और शहजोरी—दोनों की आपको होती, अगर आप भी हिन्दी के साहित्यिकों में एक शुमार किये जाते तो उस भाषा को कितना बड़ा बल प्राप्त होता। एक तो हिन्दी के साहित्यिक साधारण श्रेणी के लोग हैं एक हाथ से वार झलते, दूसरे से लिखते हुए; दूसरे आप जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों कों मैदान में वे मुखालिफत करते देखते हैं। अगर आप या आपकी तरह के व्यक्ति एक भिन्न दृष्टिकोण लेकर दूसरे तौर-तरीके अख्तियार करते हुए आवाज उठायें तो स्वभावतः बीसियों साल की मारें सहकर एक चीज़ तय्यार करनेवाले आदमी जनता को साथ लेने की जगह उसके हाथ से छूट जाते हैं। जनता समझती है कि जनता की तरफ़दारी करनेवाले आप उसके सच्चे साहित्यिक हैं और बीस साल से साहित्य के मैदान में आया हुआ साहित्यिक उसका ग़ैर। हमने जब काम शुरू किया था, हमारी मुखालिफ़त हुई थी; अब जब हम कुछ प्रतिष्ठित हुए, अपने विरोधियों से लड़ते, साहित्य की सृष्टि करते हुए, तब किन्हीं मानी में हम आपको मुखालिफ़त करते देखते हैं। यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं, साहित्य और साहित्यिक के लिए। हमने जो नया पौधा लगाया, उसे हवा-पानी, जाड़े और ओले से बचाया, वह अब, कलियाँ लेते वक्त, ऊँटों और हाथियों के झुण्ड से घिर रहा है। जनता की ज़बान जो आज जनता की ज़बान कहलाती है, वह हज़ार साल पहले जनता की ज़ुबान न थी। फिर हज़ार साल बाद भी शायद न रहेगी। जो व्रजभाषा एक वक्त तमाम देश की ज़ुबान थी,

तमाम देश के लोग उस भाषा में बातें नहीं करते थे, आज भी प्रान्त-प्रान्त, यहाँ तक कि जिले-जिले के हिन्दी-भाषा-भाषी की ज़बान भी जुदा-जुदा है। अगर कोई नयी ज़बान तय्यार की जायगी और उसी के डंके पर चोट पड़ती रहेगी तो खुद-ब-खुद इस तय्यार ज़बान को धक्का पहुँचेगा। अभी तक व्रजभाषा की ही पढ़ाई अधिक थी। खड़ी बोली में भी पुरानी परिपाटी के लोग ही ज्यादहतर पढ़ाये जाते थे। हम वार झेलते हुए सामने आये ही थे कि आपका वार हुआ। हम जानते हैं, हिन्दी लिखने के लिए कलम हाथ में लेने पर, बिना हमारे कहे फ़ैसला हो जायगा कि बड़े-से-बड़ा प्रसिद्ध राजनीतिक एक जानकार साहित्यिक के मुकाबिले कितने पानी में ठहरता है! लेकिन यह तो बताइए, जहाँ सुभाष बाबू, अगर मैं भूलता नहीं, अपने सभापति के अभिभाषण में शरत्‌चन्द्र के निधन का जिक्र करते हैं, वहाँ क्या वजह है, जो आपकी जुबान पर प्रसाद का नाम नहीं आता—मैं समझता हूँ, आपसे छोटे नेता भी सुभाष बाबू के जोड़ के शब्दों में, कांग्रेस में प्रसादजी पर शोक-प्रस्ताव पास नहीं कराते। क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्त्व की दृष्टि से प्रसाद कितने महान हैं?"

जवाहरलाल एकटक मुझे देखते हुए।

72797

मुझे प्रेमचन्दजी की याद आयी। मैंने कहा, "प्रेमचन्दजी पर भी वैसा प्रस्ताव पास नहीं हुआ जैसा शरत्‌चन्द्र पर।"

पण्डित जवाहरलालजी ने आग्रहपूर्वक कहा, "नहीं, जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रेमचन्दजी पर तो एक शोक-प्रस्ताव पास किया गया था।"

मैंने कहा, "जी हाँ, यह मैं जानता हूँ, लेकिन उसकी वैसी महत्ता नहीं जैसी शरत्‌चन्द्रवाले की है।"

इसी समय अयोध्या-स्टेशन आ गया। मैंने कहा, "पण्डितजी, अगर मौका मिला तो आपसे मिलकर फिर साहित्यिक प्रश्न निवेदित करूँगा।"

मैं उठा, पण्डित जवाहरलाल कुछ ताअज्जुब से जैसे मेरा आकार-प्रकार देखने लगे, फिर जैसे कुछ सोचने लगे। मैंने कहा, "पण्डितजी!" आवाज गम्भीर, भ्रम समझनेवाले के लिए कुछ हेकड़ी-सी लिये हुए। जवाहरलाल ने दृप्त होकर देखा। मेरी निगाह आर. एस. पण्डित की तरफ़ थी। उन्होंने निगाह उठायी। मैं नमस्कार कर, दरवाज़ा खोल, बाहर निकल आया।

[रचनाकाल : 1939 ई.। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित] 72797

## हमारा समाज

शब्द-शास्त्र के अनुसार समाज का जो अर्थ भारत में प्रचलित है, वह पश्चिम के सोसाइटी-शब्द अथवा तत्सम-तद्‌भव किसी अपर शब्द में नहीं। दोनों के अर्थ में उतना ही अन्तर है जितना भारत और पश्चिम की संस्कृति में। पहला अपना अर्थ अपने ही भीतर से वृन्त-मुकुल की तरह निकालता, दूसरा बाग़ के शृंखलित पेड़ों की तरह बाह्य चारुता प्रदर्शित करता है। पहले ने भी यह काम किया, ऋतु-शस्य

की तरह मनुष्यों की समश्रृंखला जोड़ दी। वह अपने ही भीतर से बाह्य साम्य तथा स्नेह सौन्दर्य देता है, दूसरा अनात्मवादी होने के कारण स्वाभाविक विकास को प्रतिदिन कृत्रिम करता जा रहा है।

जिस शब्द-शास्त्र के अनुसार यहाँ समाज-शब्द का संघटन हुआ, वह यहाँ-वालों के प्रमाण, युक्ति तथा विश्वास के अनुसार पूर्ण है। उसके ओंकार के विन्दु में पूर्ण ब्रह्म का रूपक है, स्वर व्यंजनों में शिव-शक्ति, शब्दों में अगणित सृष्टि। उसका हर शब्द अन्तरंग वहिरंग उभय सार्थकताएँ, दोनों सौन्दर्य लिये हुए हैं। समाज भी उसी तरह एक सर्वांग सुन्दर शब्द, यहाँ के मनुष्यों के ऊँचे विचारों का परिचय देता हुआ, सौन्दर्य और गुण से युक्त, व्यष्टि और समष्टि को परस्पर मिलाकर भी हर एक को उसी के मार्ग से चलने की पूर्ण स्वतन्त्रता देनेवाला है। यहाँ के जो लोग शब्द-शास्त्र के घोर अपरिवर्तनवादी हैं, वे सोसाइटी को अपनी ही समिति या समाज का बिगड़ा हुआ रूप बतलाते हैं। वे अन्य भाषाओं को भी कृत्रिम बतलाते हैं, उसी तरह, जैसे एक लिपि का ज्ञान रहने पर दूसरी कृत्रिम लिपि के तैयार करने में दिक्कत नहीं होती। उनकी उक्तियाँ इस समय सब जातियों के व्यक्तित्व के विचार से कुछ हास्यास्पद हो सकती हैं, पर बिलकुल निर्मूल नहीं मालूम देतीं।

हम केवल अपने समाज को ही देखेंगे। समाज एक ऐसा शब्द है जो अपने अर्थ से उत्तम प्रगति सूचित करता है, और प्रगति हर एक मनुष्य-समुदाय के लिए आवश्यक है यदि वह संसार में रहता है। संसार अपने शब्दार्थ से स्वयं गतिशील है। यहाँ, हिन्दू-शब्द-शास्त्र के अनुसार संसार अर्थ से अपना जड़त्व बिलकुल दूर कर देता, केवल एक प्रवाह, शक्ति की धारा बन जाता है। पश्चिमी विद्वानों के पृथ्वी-प्रवर्तन के आविष्कार के बहुत पहले ही संसार-शब्द की यहाँ सृष्टि हुई थी। पर जिस तरह संसार की गतिशीलता अन्त में पौराणिक युग में आकर पृथ्वी-शब्द की अचलता में परिणत हो गयी, उसी तरह समाज भी अपना अर्थ-चमत्कार तथा कर्म-संस्कार खोकर जड़-जन्य स्पर्द्धा में अकड़कर खड़ा हो गया। पृथ्वी या भूमि का दूसरा ही अर्थ लिया गया है। इसकी इतनी ही सार्थकता है। भूमि ठहरने को सार्थक करती है। जब सृष्टि के ठहराव की बात सूझी, तब भूमि की अचलता आवश्यक मानी गयी। इस भूमि का अस्तित्व वहिर्जगत तथा मनोजगत में इसलिए माना गया है।—मन के साथ शरीर का क्षिति-अंश सम्बद्ध है भी।

अस्तु, संसार की गतिशीलता में यदि समाज को शास्त्र जड़पिण्डवत् रख देते तो समाज का व्यक्तित्व खो जाता और शक्ति में जड़-प्रक्षेप का अपराध भी लगता। अपितु जन-समाज संसार की प्रगति से चला ही है, ऐसा अर्थ रखता। उसमें अपनी भी गति है, यह अर्थ-द्युति न रहती। इसलिए प्रगति में प्रगति ही रक्खी गयी है—शक्ति में केवल शक्ति।

संसार की शक्ति भोगमुखी है, उसका प्रवाह अविराम भोग की तरफ है। शास्त्र समाज को इससे बचाता है। उसे दूसरी शक्ति से समर्थ कर दूसरी तरफ मोड़ता है। जहाँ जीव को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है वहाँ जाने के लिए कहता है। यह अनुशासन व्यष्टि के लिए भी है और समष्टि के लिए भी, मनुष्य कहलानेवाले सबके लिए, वे किसी भी देश के हों, किसी भी वर्ण के।

भोग की गति नीचे की ओर होती है, इससे पतन होता है, पाप इसी से बना है। सब देश के लोग वे कितने ही भोगवादी हों, भोग के साथ-साथ संयम भी रखते

हैं, कम-से-कम विधिपूर्वक भोग के लिए। यहाँ यह सिद्ध हो गया कि संयम ही विधिपूर्वक भोग देता है। हिन्दू-समाज की तमाम विधियाँ हर वर्ण की अलग-अलग जैसी हैं, यदि कोई देखे तो वहाँ केवल संयम की ही तालिका मिलेगी। ये विधिनिषेध जीवन को क्रमश: उच्चतर करते रहते हैं जब तक जीव को पूर्ण फल की प्राप्ति (भोग के ही विचार से) न हो। समाज की प्रगति वैसी ही बनी रहती है, अपर लोगों के लिए, जैसे चिरन्तन शिक्षा-क्रम, और समाज से पार हुआ प्राप्त-फल मनुष्य जैसे किसी शिक्षा का पारंगत विद्वान्।

एक ही शरीर में जिस तरह भली-बुरी क्रीड़ाएँ होती रहती हैं, कभी इसकी विजय होती है कभी उसकी, इसी तरह समाज के व्यापक शरीर में भी उत्थान-पतन होते रहते हैं। शास्त्रानुशासकों से मनुष्यों का तभी तक तअल्लुक रहता है जब तक वे तह पर रहते हैं। पर शास्त्रों ने अपनी प्रतिकूल शक्ति में भी अपने ही समान बल बतलाया है। इसलिए जाति, समाज तथा व्यक्ति का पतन होना स्वाभाविक है। हिन्दू-समाज का इधर दो हज़ार वर्षों से वही पतन-क्रम चला आ रहा है। अनुशासनों की मृदुल अनुभूति घोर कट्टरता में बदलती गयी। तपस्या में रुक्षता, पाण्डित्य में प्रगल्भता, वीर्य में दम्भ, व्यवसाय में धूर्तता, सेवा में आलस्य तथा संघटन में उच्छृंखल स्वातन्त्र्य का प्रवेश हो गया। गुण थोड़े और दोष अधिक हो गये। भारत के दो हजार वर्ष का इतिहास इसी तरह की कथाओं से भरा हुआ है। समाज के सूत्रधार, हिन्दू-कानून को समाज में प्रवर्तित रखनेवाले क्षत्रिय महाराजों के मस्तिष्क की उद्दण्डता इतिहास के पृष्ठ-पृष्ठ में मिलती है। अवश्य यह अधिक संख्या के विचार से कहा जा रहा है। यही कारण है कि इधर कितने ही मत भी यहाँ प्रतिष्ठित हुए, जिनकी श्रुतिस्मृतियाँ वैदिक संगति से अलग ही निर्मित हुईं। फिर हज़ार वर्ष से हिन्दू-मुस्लिम युद्ध चलने लगा। अँगरेज़ भी आये। भारत का वह समाज जहाँ मनुष्य तैयार होते थे, स्वप्न-कल्प हो गया। पर मनुष्य बनने की रीतियाँ अब भी रह गयीं जो अपने मलिन विचार तथा उदारता से आज भी संसार के समाज-शास्त्र से मुकाबला करने के लिए निस्संकोच निस्त्रास खड़ी हैं।

भारत की आध्यात्मिक शिथिलता के साथ-साथ संसार के अपर देशों के लोग उठने लगे। इस समय भौतिक सभ्यता अपने पूर्ण यौवन में है। इधर भौतिक प्रहार से भारत का पहला संघटन बिलकुल शिथिल पड़ गया और अपर जातियाँ अपनी उच्चता के प्रमाण पेश करती हुई उठने लगीं। देशव्यापी जातीय संघटन होने लगे। इसमें यह बात महत्त्व की देख पड़ती है कि पहले जिस व्यक्तिगत उच्छृंखलता के कारण देश और समाज की अधोगति हुई थी, अब उसी के विपरीत समाज के जन-समूह सम्बद्ध होने लगे। जब तक पूर्ण समीकरण नहीं हो जाता, समष्टि व्यष्टि में नहीं बँट जाती, तब तक पुनर्निर्माण होता भी नहीं। इस प्रकार होनेवाले इस समय के सम्मेलनों में मेल की भावना का ही महत्त्व मिलेगा, अपर अनेक भाव दोषावह ठहरेंगे जिनसे स्पर्द्धापरिणाम निकलते हैं। समाज का सर्वोत्तम बाह्य निष्कर्ष इस समय राजनीतिक संगठन है जहाँ मनुष्य मनुष्य के ही वेश से उतरता, समय और मनुष्यता के साथ पूर्ण-रूपेण मिल जाता है।

इस प्रकार के देशव्यापी, बल्कि विशद भावना द्वारा विश्वव्यापी मनुष्य आगे चलकर आप ही अपनी जाति का सृजन करेंगे जहाँ ब्राह्मण सज्जन और वैश्य सज्जन की एकता में फर्क न होगा, ब्राह्मण और वैश्य केवल कर्म के ही निर्णायक होंगे, पद-उच्चता के नहीं। सब समाजों के पूर्व अनुशासन आप-ही-आप उन

तैयार हुए मनुष्यों में काम करेंगे। राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवर्तनों से जो सच्चे मनुष्य निकलेंगे वे ही यथार्थ नेताओं की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सृष्टि अपने गुण-कर्मानुसार करेंगे और उस स्वतन्त्र भारत में इस वर्ण-व्यवस्था से केवल परिचय ही प्राप्त होगा, उच्च-नीच निर्णय नहीं। समाज की वही रीतियाँ बाह्य स्वातन्त्र्य देकर अन्तर्जाति संघटन करेंगी।

[**प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## कला और देवियाँ

समुद्र-मन्थन की बात प्रायः सभी को मालूम है। वह केवल एक रूपक है। उसका रहस्य कुछ और है। वहाँ समुद्र से मतलब अनादि ब्रह्म से है। यथार्थ समुद्र न तो मथा जा सकता है और न मथने से फेन के सिवा उससे रत्नों के निकलने की आशा है। मथने के सामान जो हैं—मेरु, कछुआ, शेष, ये भी मथने के काम नहीं आ सकते और मथनेवाले दैत्य और देवता जैसे इस समय दुर्लभ हैं वैसे ही उस समय भी दुर्लभ रहे होंगे। अगर ये आदमी की शक्ल के थे तो जैसे आदमी की शक्लवालों के लिए इस समय समुद्र मथना असम्भव है, वैसे ही उस समय भी रहा होगा। सच पूछिए तो बात यह भाव की है, भाव में समझने के लिए; वहीं इसको सत्य प्राप्त होता है। ब्रह्म-समुद्र को मथनेवाले देवता और दैत्य भली-बुरी प्रकृति के रूपक हैं। जो चौदह रत्न निकलते हैं, हम देखते हैं, लक्ष्मी उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इस प्रकार नारी की श्रेष्ठता सनातन प्रमाणित होती है। लक्ष्मी में दिव्य भाव तथा ऐश्वर्य के सभी गुण हैं। इसीलिए वे लक्ष्मी हैं। हम अपनी प्रत्येक गृहदेवी को गृहलक्ष्मी कह-कर इन्हीं चिह्नों से संयुक्त करते हैं। यह बाहरी समादर मर्यादा-दान नहीं, किन्तु प्रकृति के औचित्य की रक्षा है। हमने नारी को इसी महिमा में प्रत्यक्ष किया है।

उक्त चौदह रत्नों में एक रत्न और है—उर्वशी। वह कला, गति और गीति की प्रतिमा है। इस उत्कर्ष में भी हम नारी को प्रत्यक्ष करते हैं।

लक्ष्मी और उर्वशी के गुण प्रत्येक स्त्री में मिले हुए हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्म-समुद्र में वे एक साथ मिले हुए थे। उर्वशी के नाम से किसी-किसी को हिचक हो सकती है। पर यह न समझने के कारण होगी। जिस प्रकार प्रत्येक रागिनी का चित्र खींचा गया है उसी प्रकार उर्वशी गीति और गति की प्रतिमा है। प्रत्येक स्त्री में एक प्रिया-भाव है जिससे वह पति का मनोरंजन करती है। इस भाव का भोक्ता संसार में केवल उसका पति है। यह उर्वशी का भाव है। प्रिया-भाव में गीति और गति के साथ रचना भी आती है, वह ललित वाक्य-रचना हो या छन्द-रचना। यह शब्दों के साथ भी मिली हुई है और ताल के साथ भी। शब्दों के साथ वह काव्य है और ताल के साथ नृत्य। उर्वशी के इसी भाव का आरोप देवी सरस्वती पर किया गया है, इसलिए कि भाव में शुद्धता रहे। पर जैसा पहले कहा गया है, प्रिया-भाव की प्रधानता के लिए यहाँ उर्वशी ही आती है। इस प्रकार के सौन्दर्य-बोध में इस अप्सरा-भाव का प्राधान्य है। लक्ष्मी से नारी-भाव की महिमा व्यंजित होती है।

जिस सुलक्षणता से वह गृह की कर्त्री है, ऐश्वर्य को स्थितिशील करती है, दूसरों को भोजन-पान ग्रौर स्नेह देकर तृप्त करती है, गृह के समस्त वातावरण को शान्ति से ढके हुए, चारुता देती हुई पति तथा दूसरों की दृष्टि में महिमा की मूर्ति बनकर ग्राती है, वह उसका लक्ष्मी भाव है। रक्षा, सेवा ग्रादि इसके ग्रन्तर्गत हैं। इसी का विकास मातृत्व में होता है। विश्व का पालन करनेवाले विष्णु की शक्ति लक्ष्मी इसी मातृत्व में पूर्णत्व प्राप्त करती है।

पहले भारत ने जिस तरह उन्नति की थी, ग्रब वह तरह बदल गयी है। पहले की बातों में मनुष्यता की एक ग्रनुभूति मिलती है। वहाँ शान्ति है ग्रौर ग्रानन्दपूर्वक निर्वाह। स्त्री ग्रौर पुरुष दोनों ग्रपनी-ग्रपनी विशेषता से गढ़ते हुए, समाज में मर्यादित रहकर, ग्रनेक प्रकार के उत्कर्ष के चिह्न ग्रपनी सन्तानों के समक्ष छोड़ते हुए, ग्रानन्द के भीतर से मुक्ति को प्राप्त करते हैं। गृह के भीतर स्त्री है, बाहर पुरुष, दोनों ग्रपने स्वत्व ग्रौर धर्म की रक्षा में तत्पर। ग्रब वह बात नहीं रही, जहाँ तक पश्चिम के विकास की रूपरेखा है। एक बड़े विद्वान का कहना है कि ग्रब गृह का स्थान होटल ग्रौर क्लबों ने ले लिया है ग्रौर स्त्री-पुरुष के सप्रेम समझौते की जगह प्रतिद्वन्द्विता ने। स्त्री ग्रौर पुरुष की प्रकृति के ग्रनुसार दोनों के कामों में ग्रधिकार-भेदवाली बात नहीं रह गयी। फल यह हुग्रा कि जो देश ग्राधुनिक भावों से समुन्नत कहलाते हैं वे स्त्री-पुरुष-युद्ध में न घर में शान्ति पाते हैं न बाहर। प्रणय प्रतिपल कलह है, कला बाजार की वस्तु बनी हुई है, जहाँ चमक-दमक ग्रधिक, टिकाऊपन कम, नृत्य ग्रौर गीत रंगशालाग्रों के लिए हैं, जहाँ इतर-ग्रावेश ग्रधिक ग्रौर दिव्यता थोड़ी। इस विशृंखलता का सारा कारण है, पश्चिम का भौतिक उत्कर्ष। यह स्वाभाविक बात है कि केवल संसार की ग्रोर ध्यान देने पर उस पर ईश्वरी प्रहार होगा, जिससे उसकी नश्वरता प्रतिक्षण सिद्ध होती रहेगी। भारत ने संसार की ग्रोर ध्यान दिया था ईश्वर से संयुक्त होकर। इससे उसकी सांसारिक चारुता में भी नैसर्गिक छाप है।

यदि हमें प्रत्येक बात में योरप का ग्रनुकरण करना पड़े तो इससे बढ़कर हमारी दुर्बलता, हमारी ग्रमौलिकता का दूसरा प्रमाण न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ हमारे सीखने योग्य बहुत-सी बातें हैं ग्रौर हमें भारतीय होने के कारण, वहाँ के गुण श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने में संकोच न होना चाहिए, पर यदि हम उन गुणों को, उन वस्तु-विषयों को, ग्रपने ग्रनुरूप न बना सके, उन्हें ग्रपने साँचे में न ढाल सके तो यह हमारे लिए ग्रपनी विशेषता से ग्रलग होना होगा। इससे बढ़कर हमारी दूसरी हार न होगी। युद्ध की हार उतनी बड़ी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि ग्रौर संस्कृति की हार है।

रात का समय सब भूमियों पर ग्राता है। भारत की भूमि पर शताब्दियों से रात है। इस समय स्त्री-समाज पर जो पाशविक ग्रत्याचार यहाँ हुए हैं उन्हें पढ़कर रोमांच होता है, साथ-साथ यह दृढ़ता भी ग्राती है कि इतने दिनों तक दलित होता हुग्रा भी भारत ग्रपने विशेषत्व से रहित नहीं हुग्रा—उसमें कोई ग्रद्भुत निष्पाप जीवनी-शक्ति ग्रवश्य थी, हमें इसी जीवनी-शक्ति का उद्बोधन करना है। इस शक्ति ने भारत की स्त्रियों को किस साँचे में ढाला है, इसके सहस्रों प्रमाण हैं ग्रौर यह रूप ग्रन्य देशों में बहुत कम प्राप्त होगा।

जिस क्षिप्रता ग्रौर स्फूर्ति के लिए विदेशी महिलाएँ प्रसिद्ध हैं, सांसारिक कार्यों तथा क्रय-विक्रय में प्रवीण, यह यहाँ की महिलाग्रों की पहली विशेषता थी। समय के ग्रनेकानेक प्रहारों ने उन्हें निश्चेष्ट कर दिया है, स्त्री ग्रौर पुरुष दोनों देह ग्रौर

मन की सहज गति से रहित हो गये हैं, पर वास्तव में वे ऐसे न थे। आध्यात्मिकता के मानी ही है लघु से लघुतर होना—जड़त्व से वर्जित होना। कला और कौशल के लिए यह पहली बात है कि गति अत्यन्त लघु, ललित और उचित शक्ति से भरी हो।

कला अपने नाम से नारी-स्वभाव की सूचना देती है, उसकी कोमलता और विकास में महिलाओं की प्रकृति है। पुनः उसकी अधिकांश उपयोगिता गृह के भीतर है। इसलिए वह महिलाओं की ही है, इसमें सन्देह नहीं। गृह के बाहर विशाल संसार में चलने-फिरने की शक्ति गृह के भीतर है। यदि भीतर से मनुष्य अशक्त रहा तो बाहर सफल नहीं हो सकता। भीतर के सम्पूर्ण अधिकार स्त्रियों के हैं। घर का भीतरी हिस्सा देखने में छोटा होने पर भी महत्त्व में बाहरी हिस्से से कम नहीं, बल्कि गृह-धर्म के विचार से बढ़कर है। इसकी चारुता, आवश्यक छोटी-मोटी वस्तुओं का निर्माण जिनकी कमी हम बाजार से पूरी कर दूसरे देशों को धनवान करते हैं; रँगाई, सिलाई-बुनाई आदि सुई के भिन्न-भिन्न कार्य, गीत-वाद्य-नृत्य, शब्द-रचना, अलंकार-निर्माण, चित्रकारी, पाकशास्त्र, इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न अंगों का गृह-विज्ञान, चिकित्सा आदि स्त्रियों में विकसित रूप प्राप्त करें, इनके द्वारा वे संसार के ज्ञान से समृद्ध हों, गृह के साथ देश और विश्व से संयुक्त हों, इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। कला के विकास के साथ देवियों की आत्मा का विकास हो। और भारत की प्राचीन दिव्य शक्ति का प्रबोधन, भारतीयों के लिए उन्नयन का इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। देवियों की कला में उनकी दिव्य विभूति की पड़ी हुई छाप विश्व को अपनी श्रेष्ठता का परिचय दे।

[**चाबुक** में संकलित]

## बलभद्रप्रसाद दीक्षित

[निरालाजी ने अस्वस्थ होते हुए भी यह लेख श्री नरोत्तमप्रसाद नागर को डिक्टेट कराके भेजा था। यह बात दीक्षितजी के साथ उनके गाढ़ सौहार्द का परिचय देती है। निरालाजी के वह अन्यतम मित्र थे। यह लेख उस स्नेह-सम्बन्ध का साक्षी है।]

आज बलभद्रप्रसादजी दीक्षित स्वर्गीय [हैं]। वह मुझसे उम्र में कुछ छोटे थे, बात को समझने में वैसे ही तेज़। साहित्य में जिन बन्धुओं से मेरी अभिन्नता है, उनमें वह प्रमुख थे। डॉक्टर रामविलास शर्मा से उनकी बहुत अच्छी पटरी बैठी थी। दीक्षितजी आदमी आदमी की प्रतिभा से खिंचते थे, जैसे उसे और प्रभावशालिनी कर देने के लिए। उनकी चेतन साहित्यिकता और सूझ बहुत कम लोगों में मिलती है। उनके जैसे आवश्यक साहित्यिक अंग का कट जाना उनके मित्रों की दृष्टि में बिना प्रमाण के साहित्यिक अपूर्णता साबित करता है। उन्होंने यद्यपि बहुत काम नहीं किया, फिर भी उनका विरचित स्वल्प साहित्य उनके साहित्यिक सम्मान के लिए यथेष्ट है। उनका अभाव समधिक साहित्यिक त्रुटियाँ छोड़ गया है।

मेरी उनकी जान-पहचान शायद सन् इकतीस में हुई। इस सन् में वह कसमण्डा राज में मुलाज़िम थे। कसमण्डा राज-परिवार के भाई-बन्धु ताल्लुकेदार लोग इसी समय एक कवि-सम्मेलन का अनुष्ठान करके होटल में मुझसे मिले।

कुँअर शत्रुहनसिंहजी, कुँअर राजाबख्शसिंहजी और कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह एम्. ए.। कवि कुँअर चन्द्रप्रकाश उस समय स्कूल पास करके कॉलिज में भरती हुए थे। इन्हीं के यहाँ सुजलिया में कवि-सम्मेलन था। राजकुमार कसमण्डा को इन लोगों ने सभापति बनाया था। इन ताल्लुकेदारों में साहित्यप्रेम की प्रचुरता और साहित्यिक का सम्मान देखकर मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। सम्मेलन में पहले-पहल मैंने दीक्षितजी को देखा। राजा साहब कसमण्डा भी सम्मेलन में पधारे हुए थे। दीक्षितजी का ललित कविता-पाठ पहले-पहल यहीं मैंने सुना। जिस तरह उन्होंने मुझे प्रभावित किया, उसी तरह मेरी रचनाओं से स्वयं भी मेरे प्रति आकृष्ट हुए। फिर मेरा उनका परिचय लखनऊ में कई समागम के पश्चात् दृढ़तर हो गया।

मुझे मालूम हुआ, दीक्षितजी में श्रेष्ठ साहित्य-रचना के बीज हैं। मुझसे मिलने से पहले भी पारसी नाटक-कम्पनियों का खेल देखकर और प्रतिष्ठित साहित्यिकों की रचना पढ़कर साहित्य में काम करने का निश्चय वह कर चुके थे और तदनुसार पवित्र प्रेम पर एक नाटक उन्होंने लिखा था। कुछ सीतापुरी अवधी में पद्यबद्ध रचनाएँ की थीं।

मुझसे मिलने के पहले उनकी साहित्यिक मनोवृत्ति उनके कई मित्रों की आलोचना का शिकार बन चुकी थी। वह जैसे सहनशील थे, आलोचना की चोट दबाये हुए हँसते-बोलते चले जाते थे। उन्हीं के एक मित्र, जो बाद को मेरे भी मित्र हुए, एक रोज़ उनके सम्बन्ध में बातचीत करते हुए कहने लगे—"कसमण्डा में तनख्वाह भले ही थोड़ी रही हो, लेकिन आमदनी काफी हो जाती थी। बलभद्र ने एक रोज़ पारसी नाटक-कम्पनी का खेल देखा। इन्हें यह धुन सवार हुई कि हम भी नाटक लिखें। एक नाटक इन्होंने लिखा और कम्पनी से उसके खेले जाने की ख़त-किताबत करने लगे। कम्पनी का जवाब आया, हम लोग जल्द ही लखनऊ आनेवाले हैं, वहाँ आप हमसे मिलिए और बातचीत कीजिए। दीक्षितजी की नाटकीयता की नींव पड़ी। समझने लगे कुछ ही दिनों में शेक्सपियर को मात देंगे। मित्रों से कहने लगे—हज़ार नहीं तो पाँच सौ रुपये की आमदनी महीने में होगी ही। बस, हज़ार-पाँच सौ सोचते-सोचते दिमाग़ में गरमी आ गयी। पैसेवाले की गरमी लोग बर्दाश्त कर लेते हैं, बिना पैसेवाले की गरमी का उलटा नतीजा होता है—लोगों ने दीक्षितजी का मज़ाक बनाना शुरू किया। कसमण्डा राज-परिवार में भी चर्चा हो चली कि दीक्षितजी अब नाटक लिख रहे हैं। मुलाज़िमों ने काम में ढिलाई देखी और उनकी जगह लेने के लालच से दस झूठे पेंच भी लड़ाने शुरू किये। राजा साहब से उनकी शिकायत करने लगे। राजपरिवार में दीक्षितजी का कुछ अनादर-सा हो चला। तब दीक्षितजी दोस्तों से कहने लगे, नौकरी और आत्महत्या बराबर है, हमने तरकारी की फसल पैदा करने की सोची है। इस साल से खेती शुरू करेंगे।* उन्होंने दस-पन्द्रह बीघे जमीन जोतवा डाली और

* दीक्षितजी ने कसमण्डा-राज से नौकरी छोड़ी थी, एक विशेष घटना के कारण, जिसका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। नाटक लिखने के बाद भी वह नौकरी करते रहे थे। उनकी गृहस्थी बड़ी थी और वह उसे चला सके। इसका कारण उनमें उस कविप्रतिभा→

थाले बनाकर उनमें कमर-कमर भर पाँस डाल दी और तरबूज बो दिये। जब तक तरबूज़ उगें-उगें तब तक दीक्षितजी का आय-व्ययवाला खाता तैयार हो गया। याद नहीं, कितने गाड़ी तरबूज़ के रोज़ उतरने, लखनऊ चालान करने और कितने सौ रुपये के माल के बिक जाने का हिसाब तैयार हुआ। बोये हुए तरबूज़ों की सिंचाई शुरू हो गयी, पौधे उग आये ख़ूब लहलहे। आशा लगाये हुए हिसाब के आगे दौड़ चली। लोग भी दीक्षितजी के अविरत श्रम से लाभ की सोचकर घबराये—ईर्ष्या करने लगे। लेकिन जब पौधे कुछ बड़े हुए और पाँस सड़ी तब जो होनी थी, वह होकर रही। पाँस की गरमी से तरबूज़ के पौधे सब-के-सब झुलस गये। गाँव के लोग जो ताग्रज्जुब में आये थे अब मज़ाक करने लगे और दीक्षितजी खेती के आदर्श से लोगों को स्फूर्ति देने के विचार में गाँव रहते हुए नौकरी भी खो बैठे। कुछ दिनों बाद चिन्ता-चिन्ता में स्वास्थ्य-भंग होने के कारण बुखार हो आया, जो एक अर्से तक नहीं उतरा। जिस रोज लखनऊ हमारे पास आये, न नौकरी थी, न तरबूज़ों के हिसाब का खाता, न तरबूज़ के पौधे, न पारसी कम्पनी में नाटक के चलने की उम्मीद। चढ़ी आँखें, उतरा चेहरा, पिचके गाल।"

मैंने यह बात दीक्षितजी से कही तो दीक्षितजी ने जवाब दिया—"उसने झूठ कहा है।"

मैं मैजेस्टिक होटल में रह रहा था। दीक्षितजी अपने बड़े लड़के श्री बुद्धिभद्र दीक्षित को लेकर आये। इधर लिखने में कुमार बुद्धिभद्र ने काफ़ी प्रतिभा दिखलायी। उस वक्त निरे बच्चे थे। मैरिस कालेज में संगीत-शिक्षा लेने के लिए आये थे। सरोद और तबला लिये हुए थे। जनेऊ नहीं हुआ था। दो हा चार महीने में होने को था। पहले मैं दीक्षितजी को ऊपरवाले कमरे में ले गया। वहाँ कुछ देर तक बातचीत होती रही। बालक बुद्धिभद्र ग़ौर से बातचीत सुनता रहा। इसके बाद हम उतरे। नीचे के कमरे में हमारा गोश्त पक रहा था। दीक्षितजी के घर में मांस की गन्ध का भी प्रवेश निषिद्ध है। मैंने मांस के परिचय के साथ उसके स्वाद और शक्ति की तारीफ़ की। बालक बुद्धिभद्र को यह बहुत अच्छा लगा। शाम को दीक्षितजी फिर आये और कहा कि हमारे यहाँ जनेऊ में गायत्री-मन्त्र विशिष्ट व्यक्ति से दिलवाया जाता है; बुद्धिभद्र की इच्छा है कि वह आप से ही गायत्रीमन्त्र ग्रहण करे। पहले मैंने बात टाली, मगर आग्रह-अतिशयता के कारण मुझे प्रस्ताव मंजूर कर लेना पड़ा। जनेऊ के बाद कुछ दिनों तक होटल में बुद्धिभद्र मेरे ही साथ रहे और बचपन के खेलों में काफ़ी उत्पात किया।

इसी समय दीक्षितजी के सीतापुरी अवधी में लिखे पद्यों का संग्रह निकला। पद्य मुझे बहुत पसन्द थे। मैंने भूमिका लिखी। पुस्तक का हिन्दी में आदर हुआ। साथ ही दीक्षितजी कहानियाँ भी लिख चले। उनकी कहानियाँ कला और साहित्य की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं, यह उनके पाठक साहित्यिकों को मालूम है। किसी-किसी

→का अभाव था जो भविष्य के काजल-काले या सुनहले स्वप्न देखा करती है। इन 'मित्र' की बातों को सुनकर दीक्षितजी ने निरालाजी से बहुत ठीक कहा था—यह सब झूठ है। 'मित्र' को न तो यह ठीक-ठीक मालूम था कि दीक्षितजी कसमण्डा-राज से क्यों अलग हुए, न यह मालूम था कि उन्हें किसानी में कैसी सफलता या असफलता मिली। उनके बड़प्पन के विचार ने उन्हें बेपर की हाँकने के लिए प्रेरित किया है। अन्यथा प्रकाशित लेख से पाठक दीक्षितजी और कसमण्डा-राज के सम्बन्ध में विशेष जान सकेंगे, परन्तु सभी बातों पर प्रकाश डालने का अभी समय नहीं है।—सम्पादक

कहानी का प्लाट मुझे उन्हीं से मिला है।

मेरे साथ घनिष्ठता होने का एक बुरा प्रभाव उन पर यह पड़ा कि बड़े आदमियों की मान्यता रखने पर भी यह उनके आलोचक भी बन गये। उन दिनों कसमण्डा-राज में ही रहते थे। दोबारा नौकरी कर ली थी। कभी-कभी राजा साहब या राजकुमार लखनऊवाली कोठी में नहीं रहते थे। दीक्षितजी ही एक किनारे सपरिवार रहते थे। मैं शाम को उनसे मिलने कभी-कभी जाता था और उनके यहाँ दोपहर की बनायी रखी रोटी और दाल का जलपान कर आता था। कुछ दिनों बाद सुना कि दीक्षितजी को नौकरी से अलग हो जाना पड़ा है।

इधर डॉक्टर रामविलास से उनकी घनिष्ठता अधिक थी। उनकी साहित्यिक चेष्टाओं का मुझे अच्छा परिचय नहीं रहता था। पं. अमृतलाल नागर और नरोत्तमप्रसाद नागर भी चकल्लस पत्र के माध्यम से दीक्षितजी के इधर के घनिष्ठ मित्रों में थे।

कुछ दिनों बाद उन्होंने रेडियो में नौकरी कर ली थी। कार्याधिक्य के कारण पीछे से उन्हें वह नौकरी भी छोड़नी पड़ी। बाद को सुना, देहात में उन्होंने अछूतों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध किया है। अपनी तरफ़ से पाठशाला चला रहे हैं। ब्राह्मण हो या ब्राह्मणेतर, वह उसे हाथ जोड़ते संकुचित नहीं होते थे। एक ठिगने कद के साधारण-से आदमी का इतना विशाल हृदय होता है, यह मुझे इस तरह से मालूम हुआ कि लखनऊ के प्राय: सभी विद्वान् साहित्यिक तरुण उनसे प्रभावित थे।

इधर मैं चित्रकूट में था कि श्रीनरोत्तमप्रसाद नागर के पत्र से मालूम हुआ, प्रियवर पं. बलभद्रप्रसाद दीक्षित का बलरामपुर अस्पताल में देहावसान हो गया और अपने अन्तिम शब्द वह डॉक्टर रामविलास को सुना गये।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1945। असंकलित]

## हिन्दी के आदि प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
### (एक लघु संस्मरण)

हिन्दी के आदि प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी पर यह अंक निकालने के लिए 'संगम' के सम्पादक तथा अधिकारी वर्ग को बधाई। भारतेन्दु का व्यक्तित्व ग्राहिका शक्ति से ओत-प्रोत है, साथ ही सरल और सुबोध। उसी तरह पद्य भी ऊँचे अंग से भरा पड़ा है।

उनके बारे में कही हुई एक उक्ति याद आयी। फारिग होकर कुएँ की जगत पर बैठे थे। साथी नौकर पानी भर रहा था। चाँदी के गिलास में डालकर हाथ धोने और कुल्ली करने के लिए दे रहा था कि उनकी नजर आते हुए दो व्यक्तियों पर पड़ी; एक उस्ताद, दूसरा शागिर्द। उस्ताद कहता जा रहा था—'आती है बाग से कुछ बूए कबाब।' कई दफे उसने आवृत्ति की मगर दूसरी पंक्ति न उठी। अब तक भारतेन्दुजी हाथ मटियाकर धो चुके थे। कुल्ले कर रहे थे।

उस्ताद और शागिर्द बगल से जाते हुए रास्ते के पास आ पहुँचे। भारतेन्दु ने उस्ताद को दुहराते-तिहराते हुए सुना—

"आती है बाग से कुछ बूए कबाब।"

प्रतिभाशाली कवि ने छुटते ही जवाब दिया—

"किसी बुलबुल का दिल जला होगा।"

उस्ताद ने विस्मय से देखा, खड़ा हो गया। सुन्दर युवा को देखकर मुग्ध हुआ। भारतेन्दु उतरे। अपने भवन ले जाकर दोनों की आवभगत की और एक अच्छी रकम देकर विदा किया।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 17 सितम्बर, 1950। **चयन** में संकलित]

## महादेवीजी के जन्म-दिवस पर

मुझे खुशी है कि इलाहाबाद के श्रेष्ठ साहित्यिकों की गोष्ठी से 'साहित्यकार' में युग-प्रवर्त्तिका वक्त्री प्रोफ़ेसर 'महा'देवीजी पर लिखने का अनुरोध किया गया। देवीजी से मेरा उनके तारुण्य से परिचय है। उस वक्त भी हिन्दी की अद्भुत वाणी बालकेलियों से कला विकसित कर रही थी। मुझको तरुणी देवी के बोलचाल से अचम्भा हुआ। मेरे घर की श्रीमतीजी सुपठिता थीं। यह उनके एक दूसरे रूप के विकास की ओर स्वभावतः मैं खिंचा। तब भी हिन्दी खड़ी बोली का बहुत अच्छा जानकार मैं न था, अंग्रेजी ही मेरा सहारा थी। और भी कई जुबानें मैं लिख-बोल लेता था फिर भी हिन्दी ही में चरित-चर्चा पूरी करने का व्रत मैंने ठान लिया। इतना स्वगत के रूप में आया, बाहर बहकावे या समझावे के तौर पर मैंने तरुणी से कहा, 'तुम नामवरी हासिल करो।' तब तक अंग्रेजी में छिपे तौर पर मैंने किताबत शुरू कर दी थी। उर्दू-फ़ारसी मुझको आती थी। संस्कृत भी मजे में लिख-बोल लेता था। माघ-श्रीहर्ष और कालिदास को कम-ओ-बेश पढ़ चुका था। उसकी लड़कियों से भी रब्त-जब्त कम न थी। फिर भी खड़ी बोली से जी कतराता था। श्रीमतीजी का आधार कम न था, मगर विद्या का घमण्ड मामूली रुकावट न डालता था कि चेले की तरह खड़ी बोली का ज्ञान प्राप्त करूँ। उनके गुरु और ज्ञाता पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी नामधेय महानुभाव के यहाँ आमद-व-रफ्त मैंने भी शुरू की और **मिल** (Mill) की **लिबर्टी** (Liberty) का हिन्दी अनुवाद पढ़ने लगा।

यों कुछ ही अर्से में उर्दू की बन्दिश की मार्फत खासे-अच्छे जानकार की तरह खड़ी बोली के अखाड़े में (आ) उतरा। धीरे-धीरे कामयाबी होती गयी और देवीजी की बाहरी खबरें सुझावे या डुचावे के तौर पर मिलती रहीं। खड़ी बोली के जीवन की जवानी ढलने पर मैं खुद उनसे मिला, बातचीत की, मुझको बड़ी खुशी हुई। हिन्दी बड़ी सजी-बजी थी। अब समझता हूँ कि उनकी बातों में फिसलन भरी थी; इरादा था, समझनेवाला रपटकर गिर जाय। बाद की चर्चा से मालूम हुआ। मुझको हिन्दी की वाग्मी से सन्तोष था; दूसरा सहारा जरूरी न था।

इलाहाबाद में मेरी निगाह बचानेवाले दर्जनों साहित्यिक महादेवी की तारीफ का नारा बुलन्द करते थे। मैं मतलब समझ लेता था। सम्भव है, उन लोगों ने बहुत निकट से देवीजी का ज्ञान पाया हो, भाषण सुना हो। फिर भी, लतीफ़-जिन्दगी से हाथ धोना होता, अगर गहरे पहुँचकर रामबाग समझने की मैंने कोशिश की होती। ऐसे नशे की चहल-पहल दूसरे अनुपानों के साथ इलाहाबाद और इधर-उधर के शहरों के रहनेवालों की खास जिन्दगी थी। देवीजी अब अपनी वाग्मिता और कृतियों से हिन्दी भाषा, आदमी-आदमी की आँख का तारा हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी की उक्ति लागू होती है—

सुरसरि कोउ न अपावन कहहीं।

सभी मनुष्य अपनी विशेषता से महान हैं। कहा गया है, 'उनका रुख समझकर रास्ता साफ कर दीजिए।' आपका काम यह है और उनका मंजिले-मक्सूद तक पहुँचना। स्वभाव उनको वहाँ तक ले जायगा; विषय-विशेष यों अपनी रौनक से संसार को सजीव बनाये रहेगा। देवीजी की पाठन-प्रक्रिया से मैं परिचित नहीं, मगर भाषण-विभूति का जानकार हूँ। अब तक उनसे हजारों महिला छात्राओं का उपकार और मर्यादीकरण हुआ है। इससे, तुलनात्मक दृष्टि से आधी सदी पहले से अब की महिलाओं का अन्तर समझा जा सकता है। जो प्राथमिक जानकारियाँ उच्च शिक्षा से असम्बन्धीकृत रही हैं उनके लिए अनेक बार आवाज उठायी जा चुकी है कि विशेषज्ञों से लेकर शिक्षा विभाग में सम्मिलित कर दी जायँ, आँख से ओझल रखने का कारण मन से ओझल नहीं रह सका। सम्बद्ध धार्मिकता से विद्या का उस तरह संश्रय छुट जाता है, स्नातिकाएँ और स्नातक अखीर तक पातक के भागी होते हैं—इधर साबित-कदम नहीं रह पाते। इस स्थिति में बहुत पहले ही बचाव हो जाना चाहिए था। तुलनात्मक दृष्टि से तारतम्य समझना और समझाते रहना आवश्यक था, और न होने के कारण अब भी है। देश के दुहिता और दौहित्र तब किस आँख से कौन-सी ज्योति दुनिया पर बिखेरते होते, इसका अनुमान साधारण जनों के लिए आयास-साध्य भी नहीं। मैं बार-बार इस सहकारिता की ओर हिन्दीभाषियों का ध्यान खींचता हूँ।

सब तरह संस्तुत होकर भी पूर्वापर शिकंजों से बँधी हुई होने के कारण देवीजी संसार की प्रवरा न हो सकीं। मैं लिख चुका हूँ कि भुक्तभोगी हूँ इसलिए साथ लिये और लगा फिरा। मेरी आँख यह पर्दा पार कर जाती है। दूसरे आवाज के जादू से मोह जाते हैं। सच्चा ज्ञान जैसे अलग रह जाता है, जिसमें सबकुछ एक साथ देख पड़ता है। मैंने देवीजी की और-और संगिनियों को भी वहीं आते-जाते देखा। कोई-कोई मेरी समधर्मिणी हैं, समवयस्का। उनके बारे में ऊँच-नीच बेकार है—जो मैं हूँ वही होंगी, मेरी श्रीमतीजी का उल्लेख आप पढ़ चुके हैं।

देवीजी की वाग्मिता की जो प्यास है, वह दुनिया-भर से न बुझेगी। मैं उस गले को न सींच पाऊँगा, 'भिन्न रुचिर्हि लोकः'—इसका प्रमाण है। लेकिन—'To me the meanest flower that blows, can give thoughts that do often lie too deep for tears' इसका बचाव था। 'से आसे धीरे, जाये लाजे फिरे' बहुत आधुनिका के चरण और गति होने पर भी प्रोफेसर देवीजी के तुल्य नहीं। वह एक रवीन्द्रनाथ की बूट औद अद्धी की बिन किनारी लगी साड़ीवाली पढ़ी-लिखी सरला देवी या सरोजिनी नायडू जैसी महिला हैं, 'भारती' की सम्पादिका या कांग्रेस-प्लेटफार्म की वक्त्री। लगातार शिक्षा विभाग में रहने के कारण महादेवी सरोजिनी नायडू से कुछ बढ़कर हैं, हिन्दी में उनका आदर्श बड़े-

से-बड़े बोलनेवालों के मुकाबिले का है, इसमें सन्देह नहीं। अंग्रेजी आदि भिन्न और जिस-जिस भाषा में उनके आलाप होते हों, मेरे लिए कथान्तर है; अभी उस दिन कायस्थ पाठशाला (प्रयाग) के एक प्रथम श्रेणीवाले छात्र ने वहाँ उनको अंग्रेजी में बोलते-सुनते की चर्चा की।

दो-एक साथ के बयानों का जिक्र करके, महादेवीजी के जयन्ती समारोह में हिन्दी-भाषी मात्र के दीक्षित-शिक्षित होने की आवाज लगाकर मैं लेख का सार-समाहार करता हूँ। वन्दित की वन्दना अकार्यकरी भी कार्यकरी है, क्योंकि उसका घर विद्या ही का मन्दिर है। सक्षम साहित्यिक का वहाँ अनादर नहीं होता। आप पढ़ चुके हैं, सक्षमता वेत्तिमात्र के जीवन का उद्देश है। अस्तु, मेरी जयन्ती के भान में कलकत्ता महादेवीजी का साथ अभियान हुआ। यह अभिनन्दन प्रत्यावर्तित मेरे लिए कम अचम्भे का न था, मगर एक दूसरी तैयारी से शिरकत मैंने मंजूर कर ली। मैं गया। पहले रोज जलसे में रवि बाबू के खान्दानवाले स्वागत के सभापति थे। मजे में गाना-बजाना, मन्त्र-पाठोच्चार होता रहा। बारी आने पर मैं भी बोला। रवि बाबू के खान्दानी, मेरे वयोवृद्ध पूज्य प्रवर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, प्रयाग में मेरा अंग्रेजी का भाषण सुन चुके थे। 'प्रथम चुम्बने नासिका भंगः' की उनको देखते मुझको याद आयी। मैंने सोचा, हो न हो, यह भी एक इतनी बड़ी चिलकन और बड़प्पन की ताकत हो!! मैंने रुख बदल दिया। न अंग्रेजी में बोला, न हिन्दी में। आखिर चलते वक्त महादेवीजी के दर्शन मुझको वहाँ न हुए। दूसरा हेलीडे पार्क में पाला पड़ा। पं. इलाचन्द्र जोशी, वाचस्पति पाठक, गंगाप्रसाद पाण्डे आदि विद्वानों के भाषण हुए। मैं भी उसी राह पूरा पार उतरा। महादेवीजी यहाँ भी न थीं। तीसरे रोज विशुद्धानन्द विद्यालय की तैयारी हुई। पं. जयगोपाल मिश्र, डॉ. शिवगोपाल मिश्र, संगीतज्ञ पं. रामकृष्ण त्रिपाठी आदि के मध्य मैंने महादेवीजी को देखा। आया कि यह विद्यालय की वाहिनी हैं। भाषण बड़ा ही उत्तम हुआ। मैं ज्यों-का-त्यों अपने पहले दिनवाले ढर्रे से खरा उतरा। हेलीडे पार्क में ताव से कह गया कि इलाहाबाद के उधर अंग्रेजी में बोलने का मौका मेरे हाथ आना चाहिए, जब इतना दबाव डाला है। सुनवाई हो गयी। कुछ ही अर्से में मैनपुरी का बुलावा आया। प्रान्तीय सम्मेलन था। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा सभापति थे। महादेवीजी का जाना होगा, समझकर मैं चला था। शाम को मंच पर उनको देखा। साहित्य-रत्न पं. जयगोपालजी मेरे साथ थे। साहित्य पर महादेवीजी का अपूर्व प्रभुत्व के साथ भाषण हुआ। मैंने अपना श्रम अपनोदक समझा। समझदार को इशारा काफी होता है, इस गरज और-और बातों से खामोश होकर महादेवीजी के वैयक्तिक विषय पर अधिकाधिक सुनने का अवसर हिन्दी-भाषी विद्वान् प्राप्त करेंगे। विश्वास है। संविधान उत्सव मनाकर ही किया जाना उचित है। ईश्वर बार-बार ऐसी सम्बद्ध-विच्छुरित वक्तृत्व शक्ति के सुनने का अवसर दे। इति।

[**'भारत', दैनिक, इलाहाबाद, के 26 मार्च, 1956 के अंक में अंशतः प्रकाशित। चयन में संकलित**]

# तुलसी के प्रति श्रद्धाञ्जलि

गोस्वामी पुण्यश्लोक तुलसीदासजी के स्मारक रूप बृहदायतन होते हुए संसार की आँखों में वही आलोक और श्रद्धा ला दें जो उनकी कृतियों से है, हिन्दीभाषी सभापति, सभ्य, महिला और सज्जन वृन्द, ईश्वर से मेरी आन्तरिक प्रार्थना है।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव—जैसे श्रेष्ठ सूक्त कथन से समझ में आता है—तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिवि ज्वलन्ति—सब कुछ भगन्मिलित होता है। जाँच एक आदमी के स्वभाव के कारण रह जाती है। जिससे वह देखता है—गंगा का पानी जैसा निर्मल है और स्वास्थ्यप्रद वैसा दूसरी नदी का नहीं, इस तरह गोस्वामीजी के रामचरितमानस का मजा दूसरे विश्व साहित्य-समुत्सार में नहीं मिलता। कालिदास, वाल्मीकि, व्यास, होमर, गेटे, शेक्सपियर आदि को गोस्वामीजी के समपर्याय पर रक्खा है मगर हिन्दी-प्राण समतोल विद्वानों ने गोस्वामीजी को वही संसार-साहित्य का श्रेष्ठ रत्न माना है—कलि कठिन जीव उद्धार हित बाल्मीकि तुलसी भयो। आश्चर्य की बात है कि जिस समय तुलसी, सूर का हिन्दी साहित्य में अभ्युदय काल है उसी समय अंग्रेजी भाषा में, महाकवि शेक्सपियर द्वारा, संसार को मोह लेनेवाले पर उग आते हैं। इसी का आनुकूल्य हो या कुछ और, उत्तर प्रदेश की यूनिवर्सिटियों में महाकवि महानाटककार शेक्सपियर का बराबर पंजा जम जाता है। अंग्रेज़ी की अत्युच्चकोटि की कला भारतीय जनों को हृदयसात कर लेती है। इस पर भी रामचरितमानस की महाप्राणता अल्पता में परिणत नहीं होती बल्कि सूर और कबीर के साथ आरक्षित संस्कृत और पल्लविता बंगला की बहार के योग से अंग्रेज़ी से उच्चासनासीनता विघोषित करती है। मैं व्यक्तिगत रूप से, सामाजिक कुछ भी बन्धानुबन्ध के प्रचलित होते हुए भी, इस अभ्यास को संसार के आश्चर्यों से श्रेष्ठतर समझता हूँ। विनयपत्रिका साधारण विद्वत्तापूर्ण नहीं। कवितावली वैसी ही ललित और सरल है। गीतावली वैसी ही सहयोगिनी। इतर ग्रन्थ-समूह सामाजिक चारुता के लाने में कम सक्षम नहीं। इस तरह पूर्व सामाजिक पक्ष को बल पहुँचाते हुए मुझको कहना पड़ता है कि काव्य-जन्य भी तुलसीदासजी की सामाजिक कल्पना नियमानुशासनान्यास बलवत्तर है। हिन्दी का यह क्षुद्र सेवक इसी आधार से साधारण मनोरम गृह निर्वाह की पुष्टि साहित्य-रचना और विद्वत्ता के माध्यम से कर चुका है, बहुत कुछ हाथ संसार के भिन्न-भिन्न सभी साथियों का होगा जैसा दर्शनशास्त्र का निर्णय है। साहित्य के आधुनिक विपर्यय का कारण समाज की अनुकूलता होगी। यौन, जननादि अन्य विज्ञान विधान-संविधान के अनन्तर भले-भले कार्यान्वित किये जा सकते हैं, उनका विशेष उल्लेख अनावश्यक है। ऐसे अन्तरों के कारण विश्वविद्यालय के उच्च शिक्षित छात्र अकृतकार्य रह गये अर्थात् उनका ज्ञान-सागर रत्न-प्रसून न हो सका, इसीलिए उनकी विद्वत्ता अनुकूल ज्योतिर्मयी न हो सकी। अधिकारियों को सबसे पहले देश और विश्व के कल्याण के लिए इसका निराकरण करना चाहिए और अगर पूर्व-पन्थ ही धार्य है तो एक प्रतिनिधि के विरोध के जवाब के लिए तुलसीदासजी के बाद किनारे खड़ा हुआ एक हिन्दी का प्रतिनिधि निम्न नामांकित विरोध कर रहा है और पूछता है कि इस प्रहसन का क्या जवाब तुम दोगे, तुम क्या मुझसे बड़ा निर्माण कर करा सकते हो? इति।

[रचनाकाल : 6 अगस्त, 1956। **चयन** में संकलित]

# टिप्पणियाँ

## संयुक्त-प्रान्तीय युवक-कानफ़रेंस

लखनऊ में, 14-15 सितम्बर को, युवक-कानफ़रेंस का प्रथम अधिवेशन, श्रीमती सरोजिनी नायडू के सभापतित्व में, बड़े समारोह के साथ, हुआ। मेरठ, प्रयाग, गोरखपुर, कानपुर आदि स्थानों के युवक-परिषदों से आये हुए प्रतिनिधियों की संख्या लगभग 120 थी। बड़े-बड़े नेताओं के अभाव ने युवकों के वास्तविक रूप को प्रकट होने का अच्छा अवसर दिया। प्रायः देखा जाता है कि अनुभवी, वृद्ध नेताओं के सामने —विशेषकर जब उनकी संख्या ज़रूरत से ज्यादा हो—देश के युवक अपने विचार स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकट नहीं कर सकते। अतः इस कानफ़रेंस में सरोजिनी देवीजी तथा पं. जवाहरलालजी के अतिरिक्त किसी भारी-भरकम नेता का न आना बड़ा ही अच्छा हुआ। अनेक प्रस्तावों पर बोलते हुए प्रान्त के युवकों के हार्दिक उद्गार वहाँ भली-भाँति सुनने को मिले, और इसके साथ-ही-साथ यह भी देखने को मिला कि हमारे प्रान्त के युवक कितने कार्यकुशल, कितने बातूनी, कैसे आदर्शवादी और कैसे बगुला-भगत हैं। जिन युनिवर्सिटी के युवकों के शरीर-स्पर्श का सौभाग्य बेचारे खद्दर के मोटे वस्त्रों को कभी प्राप्त नहीं हुआ था, उनको खादी और स्वदेशी की वकालत करते देखकर, जो युवक सदा हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को लेकर झगड़ा करते हैं उन्हें ही धार्मिक वितण्डावाद का विरोध करते देखकर, उन महाशयों को जो सदा ओरियन्टल अँगरेजी की टाँग तोड़ा करते हैं हिन्दोस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने, कानफ़रेंस की कार्यवाही उसी में करने तथा उसे ही अपनाने की अपील कर अँगरेज़ी में धुआँधार स्पीच देते देखकर तथा उन हिन्दू और मुसलमान नौजवानों को, जो जन्म से लेकर अब तक कभी यू. पी. के बाहर नहीं रहे हैं, सभा-नेत्रीजी से बहुत मुसकिराकर यह कहते हुए सुनकर कि वे हिन्दोस्तानी में व्याख्यान न दे सकेंगे, हमें बड़ा हर्ष हुआ! हमें पूरा निश्चय हो गया कि अब स्वराज्य दो-चार क़दम ही रह गया है। कानफ़रेंस का वायुमण्डल हिन्दोस्तानियों की प्रसिद्ध वाचालता, मंचवाग्मिता तथा हवाई-महलों से भरा हुआ था। उसके प्रस्ताव कोरे काग़ज़ी घोड़े मालूम होते थे, ठीक उसी तरह, जिस तरह कि कांग्रेस के प्रस्ताव हुआ करते हैं। पिछले दिनों सहयोगी 'क्रान्तिकारी' में श्री. पूर्णचन्द्र जोशी की 'कांग्रेस के संस्मरण'-नामक लेखमाला में कलकत्ता-कांग्रेस की कार्यवाही का जैसा खोखलापन प्रकट हुआ था, ठीक वही पुरानी प्रस्तावों की प्रथा, वही संशोधनों, अनुमोदनों और पुनरनुमोदनों का दक़ियानूसी पचड़ा, वही धुआँ-धार स्पीचों और अकर्मण्य हृदयों की आवाज़ों का ताँता बँधा हुआ था। पूज्य जवाहरलाल-जैसे युवक-हृदय की धधकती आग, उबलता हुआ खून और उत्तप्त

वायु-मण्डल वहाँ न था। मालूम होता था, यू. पी. के नौजवानों ने अपने बूढ़े नेताओं का स्वाँग बना डाला हो। वही जरा-जरा-सी बातों पर 'पोइंट आफ़ आर्डर' की चिल्लपों, दो-एक शब्दों से हेर-फेर के लिए घण्टों का खून करना और क्रियात्मक प्रोग्राम का एकान्त अभाव, जो देश की अन्य सभाओं में पाया जाता है, यहाँ भी पूर्ण रूप से उपस्थित था। युवकों की कानफ़रेंस की कार्यवाही नियत समय से देर में प्रारम्भ होते देखकर भी दुःख हुआ। देश के लिए खून बहाने को तैयार युवक भी अभी तक समय का मूल्य नहीं पहचान सके, यह जानकर हार्दिक शोक हुआ। श्रीमती सरोजिनी देवीजी ने तो इस पर एतराज़ भी किया था, और श्रीयुत् नेहरू ने अप्रसन्नता प्रकट की थी; किन्तु कार्यकर्ताओं ने इस पर ध्यान नहीं दिया। हमें प्रसन्नता तब होती, जब नियत समय पर—चाहे जनता होती या न होती—सभा की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी जाती। जनता का शिक्षण और मार्गदर्शन युवकों का ही कार्य है। वे यदि नियन्त्रित होकर कार्य करना प्रारम्भ कर दें, तो शायद जनता भी नियन्त्रण (Discipline) की आदी हो जाय।

इसके अतिरिक्त कमरे की सजावट भी हमें खटकी। जो युवक भारतीयता और राष्ट्रीयता के उत्थान के लिए प्रयत्न करते हों, उन्हें सजावट के लिए अँगरेजी भाषा और अँगरेजी उद्धरणों की ओर ही जाते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। सारे कमरे-भर में एक भी हिन्दोस्तानी उद्धरण न था। उर्दू और हिन्दी का पूरा बायकाट किया गया था। परन्तु सम्भव है, यह गलती कार्यकर्ताओं की अनुभव-हीनता का परिणाम हो। आशा है, आगे से इसका पूरा खयाल रक्खा जायगा।

सभा-नेत्रीजी का व्याख्यान, माता के उपदेश के समान, सदिच्छाओं और सद्भावनाओं से भरा हुआ था। कवितामयी तथा ओजमयी अँगरेजी बोलने में नायडूजी सर्वश्रेष्ठ हैं, परन्तु अब हमें अँगरेजी-भाषा की सुन्दर 'फ्रेज़ियालोज़ी' उतनी मोहक नहीं मालूम होती, जितनी अशुद्ध, टूटी-फूटी परन्तु सीधी-सादी हिन्दोस्तानी। उसके बोलने में असमर्थ होना प्रत्येक हिन्दोस्तानी के लिए एक अक्षम्य अपराध है। हमें आशा है, सरोजिनीजी हमारे इस स्पष्ट कथन के लिए हमें क्षमा करेंगी। हमारी सम्मति में तो देश के नेताओं को हिन्दोस्तानी भाषा जानना और भी ज़रूरी है। जब हमारे देश ने हिन्दोस्तानी को राष्ट्र-भाषा स्वीकृत कर लिया, तो उसका न जानना हमारी लापरवाही प्रकट करता है। सरोजिनीजी ने स्वतन्त्रता—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सब प्रकार की—के लिए प्रयत्न करने का आदेश दिया। मतवाद का प्रबल विरोध करने को कहा, और कहा कि यतीन्द्रनाथदास की तरह हमें देश पर बलिदान होना चाहिए।

श्रीयुत् नेहरूजी ने वैवाहिक वयवाले प्रस्ताव पर अपनी सम्मति देते हुए जो भाषण दिया, उससे उनके सत्य का सम्मान करनेवाले, तपस्वी, विशाल हृदय का परिचय मिलता था। मालूम होता था, पूज्य नेहरूजी का हृदय प्रत्येक प्रकार की गुलामी का अन्त कर देने के लिए कैसा व्याकुल हो रहा है। रुक-रुककर बोलने की आदत होने के कारण नेहरूजी के वचनों की शक्ति और प्रबलता का परिचय और भी अधिक मिल रहा था। मालूम होता था, यह युवक-हृदय अस्थि-पंजर के इस बन्धन को तोड़कर अभी निकल पड़ेगा। उनकी छोटी बहन कृष्णा नेहरू ने भी—जो दुर्भाग्यवश एक-मात्र स्त्री-प्रतिनिधि थीं—नेहरू-परिवार के स्वातन्त्र्य-प्रेम का अच्छा परिचय दिया। स्त्रियों के विषय में प्रस्ताव पास करने का युवकों को कोई अधिकार नहीं, यह बात उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से परिषद् को समझा दी। स्त्रियों की इन्हीं एक-मात्र प्रतिनिधि के कथन का यह प्रभाव हुआ कि स्त्रियों के

लिए 18 वर्ष की वैवाहिक वय का प्रस्ताव पास हो गया।

कानफ़रेंस के अन्य प्रस्ताव सामाजिक क्रान्ति करने, स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने तथा अन्य प्रकार के ऊँचे आदर्शों—स्वदेशी, मतवाद के विरोध, राष्ट्रभाषा को अपनाने आदि—के विषय में थे। मन्त्री महोदय श्री. जे. के. बनर्जी के शब्दों में वे प्रस्ताव केवल एक ऊँची इच्छा-मात्र थे, उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक सलाह-भर थे। अस्तु, जैसी भी थी—यूथ-कानफ़रेंस—क्योंकि यही नाम दरवाजे पर लिखा था, सफलतापूर्वक समाप्त हो गयी! चार दिन की चाँदनी, फिर अँधेरी रात। परन्तु अगले साल शायद इन्हीं दिनों कानपुर में फिर चाँदनी होगी; क्योंकि कानफ़रेंस वहीं बुलायी गयी है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## लखनऊ-ज़िला-कानफ़रेंस

लखनऊ में, अभी हाल में, एक ज़िला-कानफ़रेंस बुलायी गयी थी। सितम्बर के अन्तिम दिनों में जर्मन जंगी तोपों की तरह बड़ी धुआँधार स्पीचें छोड़कर वह एकदम शान्त हो गयी। महात्माजी के दर्शनों के लिए हजारों की संख्या में लोग कानफ़रेंस में आये थे। यदि महात्माजी न आते, तो सम्भव है, इतना बड़ा हजूम लखनऊ में न जुड़ता, और यह कानफ़रेंस भी शराब के नशे में मस्त कहार की तरह अपनी डफ़ली पर अपना राग गाकर किसी कोने में पड़कर सो रहती। परन्तु महात्माजी-जैसे एक विचित्र प्राणी के लखनऊ पधारने के कारण कानफ़रेंस बड़ी सफल रही! दो-चार दिन के लिए खद्दर के खोल विदेशी के कीड़ों के शरीर पर दिखलायी पड़ गये। बहुतों की महीनों से खुजलाती हुई जीभ की खुजली कुछ कम हो गयी, कइयों के लीडरी के अरमान निकल गये, और अब तक बनारसी-बाग की परिचित मूर्तियों को लगातार देखते रहने के कारण पथरायी हुई बहुतेरों की वैचित्र्योत्सुक आँखें लीडर-जन्तु विशेषों के दर्शन से तृप्त हो गयीं। बस, कानफ़रेंस का इससे अधिक और कोई असर नहीं हुआ। समझ में नहीं आता, व्यर्थ के लिए जनता का रुपया बरबाद करके इस प्रकार के जल्से क्यों किये जाते हैं। स्पीचों, लेखों और तसवीरों को छापकर जनता तक पहुँचाने के लिए अखबार ही काफी हैं, और फिर कांग्रेस-जैसी सर्वमान्य संस्था के होते हुए इन टुटपूँजिया कानफ़रेंसों के निर्णयों की आवश्यकता ही क्या? कांग्रेस का निर्णय ही सर्वमान्य निर्णय होना चाहिए। ज़िला-सम्बन्धी प्रश्नों के निबटारे का प्रयत्न करते हुए तो हमने आज तक किसी भी जिला-कानफ़रेंस को नहीं पाया, बल्कि उन्हें कांग्रेस के प्रस्तावों (और उनके साथ ही बहुत-से ऊट-पटाँग प्रस्तावों) की पेशी, ताईद, ताईद मजीद और ताईद दर मजीद में ही अपना समय नष्ट करते पाया है। क्या गरीब हिन्दोस्तानियों के मत्थे ही इन ताईदों का सारा बखेड़ा आ चिपटा है, जो भूत की तरह उन्हें कानफ़रेंसों, लीगों, फेडरेशनों, कनवेंशनों, मीटिंगों, बैठकों और अधिवेशनों से फुरसत नहीं लेने देता? इसी भूत की कृपा से आज दिन हम बड़े

वाग्मी कहलाते हैं, और इसी के कारण कर्म-क्षेत्र में पाँव रखने के लिए हमारे पास ज़रा भी समय नहीं रह जाता। कानफ़रेंसों की इसी निस्सारता की ओर लक्ष्य करके सरदार वल्लभभाई पटेल ने उस दिन कानफ़रेंस में कहा था—"आप शहरी लोग कानफ़रेंस भरने के आदी हो गये हो, हमारी तरफ गुजरात में ऐसा कानफ़रेंस भरने का शौक किसी को नहीं है। बरसों हमारे तरफ ऐसा कानफ़रेंस नहीं भरता। हम गाँव का आदमी गाँववालों को समझा सकते हैं। वो लोग काम करने का शौकीन होते हैं, फ़जूल बात में अपना वक्त नहीं खोता। शहर के रहनेवालों का कान में खराबी, आँख में खराबी और मुँह में खराबी रहता है। बड़े-बड़े लीडरों के देखने का वास्ते उनका आँख चाहता है, बढ़िया-बढ़िया स्पीच सुनने को उनका कान चाहता और खूब बड़ा-बड़ा बात कहने को उनका मुँह चाहता है। लेकिन काम करने के बखत वो चुप होकर बैठता है।"

बारडोली के वीर जेनरल की—देश के एक अनुभवी योद्धा की—इस सच्ची और सिपाहियाना सलाह को यदि यू. पी. के कांग्रेस-कार्यकर्ता—जो जबानी जमा-खर्च में अपना सानी नहीं रखते—जरा भी आदर की दृष्टि से देखते हैं, तो उन्हें अपने इस कानफ़रेंस-शौक में जरा लगाम लगानी चाहिए। जमाना अब काम का है। गाँवों में अभी तक कोई स्वराज्य का नाम भी नहीं जानता, इसका हमें व्यक्तिगत अनुभव है। ग्राम-प्रचार और ग्राम-संगठन की इसीलिए सख्त जरूरत है। गुजरात के कार्यकर्ताओं की सफलता का कारण, जेनरल पटेल की सम्मति में, ग्राम-संगठन ही था। बारडोली की शानदार विजय इसी ठोस कार्य का परिणाम थी। अतः हमारे मंच-वाग्मी यू. पी. के कार्यकर्ता कानफ़रेंसों में चिल्ला-चिल्लाकर गला बैठा लेने के बजाय यदि गाँवों के संगठन का कार्य आपस में बाँटकर ग्राम-प्रचार और सुधार करना प्रारम्भ कर दें, तो अधिक उत्तम हो। अन्यथा देश के मान्य नेताओं को अजायब-घर के निवासी बनाने का सेहरा उन्हीं के माथे रहेगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## स्वदेशी-प्रदर्शिनी

कानफ़रेंस के साथ एक स्वदेशी वस्तुओं की नुमाइश भी थी। इसमें दयालबाग, आगरा की बनी हुई चीजें—विशेषतः ग्रामोफ़ोन—देखने लायक थीं। एक नये डिजाइन का चर्खा भी प्रशंसनीय था। इनके अतिरिक्त दो-तीन दूकानें खद्दर की थीं, एक चमड़े की वस्तुओं की और दूसरी खिलौनों की। खद्दर और स्वदेशी वस्त्रों की प्रदर्शिनी में Rs per yard, निर्माता का पता और परिचय आदि सब विदेशी भाषा में थे। शायद प्रदर्शिनी के कार्यकर्ता हिन्दोस्तानी नहीं थे, इसीलिए उन्होंने मातृ-भाषा हिन्दी का ऐसा बहिष्कार किया। वस्तुओं के दाम भी काफ़ी निषेध-सूचक थे। गरीब हिन्दोस्तानियों से 11 आने गज़वाली खद्दर की गुण-ग्राहकता की उम्मेद करना वस्तु-स्थिति से मुँह मोड़ना है। न-मालूम कब देश के

कार्यकर्ता आदर्शवाद की ऊँची उड़ान समाप्त करके हम हिन्दोस्तानियों के गरीब और गन्दे लोक में आवेंगे ? भला इस प्रकार की महँगी चीजों के प्रदर्शन से क्या लाभ हो सकता है ? उल्टे स्वदेशी वस्तुओं की ओर से श्रद्धा और हट जाती है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## समाज और स्त्रियाँ

इस समय संसार में वैज्ञानिक ज्ञानलोक का जितना ही विस्तार बढ़ता जा रहा है, सभ्यता तथा स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाले विचार क्रमश: उतना ही बदलते जा रहे हैं। समाज, जाति तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ ही स्त्रियों की समान स्वतन्त्रता की आवाज भी उतनी ही ऊँची सुनायी दे रही है। वकालत, बैरिस्टरी, डॉक्टरी, प्रोफेसरी, नेतृत्व, विज्ञान, कला-कौशल, वाणिज्य, बड़ी-बड़ी नौकरियाँ तथा और भी अनेक प्रकार के जो जीवनोपाय तथा प्रतिष्ठा के कार्य पुरुषों के अधिकार में आज तक थे, वे अब स्त्रियों के अधिकार में भी आ गये हैं। जीवन-संग्राम में पुरुष-पुरुष का ही द्वन्द्व नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष की भी स्पर्धा बढ़ गयी है, और स्त्रियाँ हर विषय में पुरुषों का बड़ी खूबसूरती से मुकाबला करती हुई अपने अधिकार के मैदान में आगे बढ़ती चली जा रही हैं। जैसे कठोरता और कोमलता के स्वाभाविक द्वन्द्व का चिरकालिक रूप ही आज इस स्त्री-पुरुष-स्पर्धा में पुनर्जीवन प्राप्त कर खुल गया हो। अब योरप की स्त्रियाँ अपने जीविकोपार्जन के लिए आप ही उत्तरदायी हैं। वे अपने पति के आश्रय में रहकर या अन्य किसी कारण से उपार्जन भले ही न करें, उनमें अपने ही शिक्षा तथा शक्ति के द्वारा उपार्जन कर लेने का विश्वास है, और उनकी यह अवस्था व्यवसाय, शिल्प, विज्ञान तथा स्वतन्त्रता-युद्ध में लगातार शताब्दियों तक वहाँ के पुरुषों के बलि होते रहने का फल है। वहाँ के मानवीय विकास के जो अनेकानेक रूप बदलते गये हैं, उनके पारस्परिक संघर्ष से समाज की जैसी-जैसी स्थिति होती गयी है, तथा उस-उस दशा में स्त्री-जाति का स्वाभाविक, नैतिक, व्यावहारिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक जैसा विकास-क्रम रहा, उसके अध्ययन से वहाँ की स्त्रियों की वर्तमान अवस्था एक चित्र की तरह दृष्टि के सामने आ जाती है। वहाँ का हर एक परिवर्तन, यहाँ तक कि ईसा का महान् बन्धु-भाव, साम्यवाद भी रक्तरंजित हो रहा है।

महान् विप्लव ही हर एक सुधार का मूल है। स्त्रियाँ, उन विप्लवों के साथ-साथ, अधिकार-सम्बन्धी जैसे-जैसे परिवर्तन समाज में होते गये, वैसे-ही-वैसे अपना पूर्वरूप बदलती गयीं। विज्ञान के आरम्भिक काल तक वहाँ की स्त्रियों में शिक्षा तथा विलास ही प्रधान था। साहित्य में प्रेमिका, सुकुमार, सुन्दरी के भावनाजन्य विलासजन्य चित्रों को परिपूर्णता के साथ खोलना ही कमाल था, और स्त्रियों की तत्कालीन स्थिति की परिचायिका शेक्सपियर की एक ही नायिका ज़रा वकालत कर देती है, जो उस समय को देखते हुए वहाँ की स्त्रियों का आदर्श-उत्कर्ष है, तथा नाटक-प्रिय अभिनय-दर्शकों तथा सरस-हृदय साहित्यिकों के लिए नाट्यकला का

चमत्कार तथा रस-सृष्टि का अविश्रान्त उत्स। पर आज के नाटकों में स्त्रियाँ पुरुषों की तरह प्रति विभाग में अभिनेत्री की हैसियत से आती हैं—पहले प्रेम ही के अभिनय में थीं, प्रतिदिन ज्यों-ज्यों विज्ञान पदार्थों की विशेषता तथा समीकरण की ओर बढ़ता जा रहा है, स्त्रियों के स्वभाव बदलते जा रहे हैं। यह परिवर्तन बिलकुल अस्वाभाविक नहीं, बल्कि योरप की प्रकृति के अनुकूल ही है। योरप की यह स्त्री-स्वतन्त्रता बाह्य व्यावहारिक स्वतन्त्रता ही है। यह क्षात्र-शक्ति के द्वारा सम्मिलित ब्राह्मण तथा वैश्य-शक्ति से प्राप्त होती है। स्त्रियाँ जैसे बाह्य स्वतन्त्रता की एक-एक मूर्ति हों। जिस व्यवसाय तथा अपार क्षात्र-बल ने उन्हें यह रूप दिया है, उसका विस्तार भी स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन के अर्थ की ही तरह हुआ कि समग्र संसार एक ही व्यावसायिक सूत्र में गुँथ गया, और इसके साथ ही परस्पर तमाम जातियाँ। काल के प्रभाव से एशिया हर तरह योरप के अधीन हो गया, बल्कि कहना चाहिए कि गोरी जातियों का काली जातियों पर पूरा प्रभाव पड़ गया। अमेरिका की नयी सभ्यता तथा जमनी की नवीन वैज्ञानिक शक्तियों ने गोरी जातियों को सगर्व सिर उठाने में पूर्णतया मदद दी, और उनके प्रभाव में काली जातियाँ आ गयीं। काली जातियाँ गोरी जातियों का अनुकरण करने लगीं।

उनकी स्त्री-स्वतन्त्रता जिन-जिन परिवर्तनों के भीतर से बदलती हुई आज इस रूप को पहुँची है, काली जातियों में वह बात नहीं है। वे केवल योरप और अमेरिका की शिक्षा के आधार पर ही अपने सुधार कर रही हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियों का भी इसी शिक्षा से मानसिक परिवर्तन हुआ, और वे स्पर्धा के भाव से प्रेरित होकर अपनी स्वतन्त्रता की आवाज उठाने लगीं। परन्तु जो बीज शहरों की पढ़ी-लिखी देवियों में रहते हैं, वे गाँवों की गृह-लक्ष्मियों में नहीं। गाँव की शिक्षा में इस तरह की शिक्षा के फैलने की आशा भी नहीं की जा सकती। वहाँ स्त्रियों के मस्तिष्क में सीता और सावित्री का ही आदर्श भरा हुआ है, जो हर तरह पति के अनुकूल, बल्कि अधीन रहने की ही शिक्षा देता है। इससे स्त्री-स्वतन्त्रता का यह रूप भारतवर्ष में कहाँ तक कामयाब होगा, इसमें सन्देह है। और, यहाँ की जो स्त्रियाँ वकालत करती हैं, डॉक्टरी करती हैं, ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट होती हैं, तथा और-और अधिकार प्राप्त करती हैं, उनके मस्तिष्क में सीता तथा सती के सम्बन्ध में क्या विचार हैं, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पर हम इस क्रम का विरोध नहीं करते, क्योंकि सप्तशती आदि ग्रन्थों में यहाँ भी स्त्री-स्वतन्त्रता का क़ाफी वर्णन हो चुका है। उन ग्रन्थों के अध्ययन से यह समझने में देर नहीं होती कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह तमाम अधिकार प्राप्त कर अपनी शक्ति का जौहर दिखा सकती हैं। परिवर्तन जिस तरह संसार की सभी वस्तुओं के लिए है, उसी तरह स्त्री-स्वभा व के लिए भी। हाँ, यह बात ज़रूर है कि स्त्रियों के तमाम अधिकारों की, पुरुषों की तरह, वृद्धि होने पर समाज की धारा एक दूसरी प्रणाली से होकर बहेगी। पीसना, कूटना, बर्तन मलना, चौका देना, रोटी पकाना, बच्चों की सेवा करना, घर-गृहस्थी का कार्य सँभालना आदि जो कार्य अब तक स्त्रियों के अधीन थे, वे कार्य और वे गुण, जिनसे यहाँवाले उन्हें गृहलक्ष्मी कहकर पुकारते थे, नहीं रह जायेंगे। यदि तमाम कलाएँ स्त्रियों के सिपुर्द रहतीं और उन्हीं के विकास की शिक्षा उन्हें दी जाती, तो कदाचित् और अच्छा होता। कारण, स्त्रियों और पुरुषों का एक सृष्टिगत भेद भी है, और इस तरह की स्पर्धा से दोनों के वैमनस्य की अधिक सम्भावना है। पर जहाँ यह सवाल होता है कि पुरुषों को स्त्रियों के सम्बन्ध में बोलने का क्या अधिकार है, वहाँ हम अवश्य मौन को ही अधिक महत्त्व-

पूर्ण समझते हैं। यहाँ भी स्त्रियाँ घोड़े की सवारी करती थीं, सेना-संचालन तथा राजकार्य का निर्वाह भी वे कर चुकी हैं। वे शास्त्रों में पारंगत विदुषी हो चुकी हैं, त्याग की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी हैं। फिर भी उनका आदर्श यहीं का था। वे किसी का अनुकरण नहीं करती थीं। पर आज ज़रा आदर्श तथा अपनी शिक्षा की तरफ कुछ ग़फलत देख पड़ती है। योरप का इतिहास तो उन्हें कण्ठाग्र याद रहता है, पर वे नहीं जानतीं कि अनसूया कौन थीं। हमें यहीं सन्देह होता है। हमारी देवियाँ केवल परानुकरण करें, यह हमें अभीष्ट नहीं, किन्तु यदि वे अपने को समझकर दूसरे देश की स्त्रियों से तमाम विषयों में स्पर्धा करें, तो हमें इससे गर्व का अनुभव होगा। पर ऐसा नहीं होता। हम जानते हैं, हमारी पढ़ी-लिखी देवियाँ देहात की गृहलक्ष्मियों से घृणा करती हैं। पर वे देहात की स्त्रियाँ प्रेम तथा नम्रता की मूर्ति होती हैं। पुरुष और स्त्री, दोनों के लिए संसार का ज्ञान आवश्यक है। पर अपने मेरुमूल से विच्युत होना दुर्बलता तथा मुग्धानुकरण ही है। हमारे समाज का पतन तो पराधीनता के कारण अनिवार्य ही था; पर उत्थान के लिए परावलम्ब भी ज़रा खटक जाता है। आज योरप का गृहस्थ-जीवन स्वतन्त्रता के प्रवाह में एक प्रकार बह-सा गया है। वहाँ होटलों, क्लबों आदि में ठहरने की प्रथा चल गयी है। दूसरे, नौकरों का पकाया हुआ खाते हैं, पैसे के बल से गृहस्थ-धर्म की परवा नहीं करते। इसीलिए स्त्रियों के इतने परिवर्तन होते गये हैं। यहाँ इस कृषिप्रधान देश के लिए होटलों में ठहरकर ज़िन्दगी पार करना ग़ैरमुमकिन-सा जान पड़ता है। गृह बनाकर रहने से स्त्री-पुरुष के धर्म अलग-अलग हो जाते हैं, और समाज को तदनुकूल ही दोनों की शिक्षा की ज़रूरत पड़ती है। ऐसा न होने से अघोरी जीवन ही रह जाता है। इसीलिए हमने कहा कि स्त्रियों की वृत्ति के अनुसार ही शिक्षा भी हो, तो समाज की प्रगति कुछ और सरल तथा क्षिप्रगामी हो जाय।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## प्रातःकालिक घोषणा

हिन्दू-भारत जिस दिन असंख्य दीपावलियों से आलोकित हो रहा था, जब निराशा की काली रात आशा-प्रदीपों से दिवस में परिणत कर दी गयी थी, जब पराधीन और दीन भारत भाग्य के पाँसे पर शान्ति और सुख का दाँव लगाये हुए बैठा था, उस समय, उस दिन भारत के वायसराय लॉर्ड इरविन इंगलैण्ड से लौटे। दिवाली के भोर, जब जलते हुए आशा-प्रदीपों का अनुमान-तैल समाप्त-प्राय हो रहा था, जब भाग्य का पाँसा कोर के बल लुढ़क चुका था और निराशा-निशा का उषा-कालीन अन्धकार घनीभूत हो रहा था, देहली के राजप्रासाद से प्रातःकालीन मधुर तूर्य-निनाद के समान वायसराय महोदय की घोषणा ने भारत के राजनीतिक जीवन के एक नये ब्रह्म मुहूर्त की सूचना दी। देश के वन्दी और मागध दौड़-दौड़कर तार-यन्त्र की लय के साथ प्रभु-गुण-गान करने लगे। माण्डलिकों की विलासमयी निद्रा की खुमारी बहुत कुछ उतर गयी। सद्गृहस्थों ने भविष्य का प्रोग्राम बनाया,

ग्रौर साम्प्रदायिक दूकानदारों ने नये फैशन की चीजों से दूकानों की श्री-वृद्धि की। किन्तु दीवाने, भक्त, संन्यासियों ने भभूत रमायी, लँगोट कसा, चीर पहना ग्रौर शंख-ध्वनि के साथ ग्रपने इष्ट-साधन में तत्पर हो गये।

भारत के राजनीतिक जीवन की भाग-दौड़ फिर प्रारम्भ हुई। नया प्रातःकाल दूर छूट गया। घोषणा की मधुर ध्वनि सुदूरवर्ती व्यापारिक केन्द्र से उठते हुए कर्कश-घोर कलह-वाद के वज्रपात में विलीन हो गयी। सवेरा गया। ग्राशा मन्द हुई। उपासना बन्द हुई। भक्त सावधान हुग्रा। जीवन का संग्राम ग्रबाध गति से चल निकला।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## वायसराय की विज्ञप्ति

लॉर्ड इरविन कंजर्वेटिव ग्रथवा ग्रनुदार दल के सदस्य हैं, उनकी नियुक्ति भी ग्रनुदार दल की सरकार ने ही की थी। जब तक ब्रिटिश राजनीति में ग्रनुदार दल का प्राधान्य रहा, तब तक वह ग्रपने नेता तथा इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री मि. बाल्डविन की नीति का ही पालन करते रहे, उन्हीं के ग्रादेशानुसार भारतीय प्रश्नों पर सम्मति देते रहे। किन्तु इधर जून में जब ग्रनुदार दल की पराजय हुई, ग्रौर मजदूर-दल का प्राधान्य हुग्रा, तो सरकार की भारतीय नीति में भी कुछ परिवर्तन ग्रावश्यक हुग्रा। ग्रौर, भारतीय शासन-सुधार-जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर तो वायसराय ग्रौर प्रधानमन्त्री मि. मैक्डोनाल्ड का पारस्परिक संवाद ग्रत्यन्त वांछनीय हो गया। इसीलिए वायसराय लॉर्ड इरविन कुछ महीने पहले विलायत गये थे। वहाँ से लौटकर उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है, जिसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार वायसराय महोदय ने भारतीय दृष्टिकोण ग्रौर राजनीतिक परिस्थिति को मजदूर-सरकार के सामने रक्खा, ग्रौर किस प्रकार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने उन्हें यह उद्घोषित करने का ग्रधिकार दिया कि सन् 1917 की घोषणा में भारतीय शासन-सुधारों का ग्रन्तिम लक्ष्य ग्रौपनिवेशिक स्वराज्य ही है, ग्रन्य कुछ नहीं। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि निकट-भविष्य में होनेवाले शासन-सुधारों की सफलता के लिए यह ग्रावश्यक है कि देशी राज्यों ग्रौर ब्रिटिश-भारत का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित हो जाय; क्योंकि सम्भव है, भविष्य में भारत-सरकार ग्रौर देशी राज्यों में किसी प्रकार का झगड़ा उठ खड़ा हो, ग्रौर वह एक वैध वाद-विवाद का रूप धारण कर ले। इसलिए भविष्य का मार्ग निश्चित करने में देशी रियासतों तथा भारतीय राजनीतिज्ञों की सम्मति लेना ग्रत्यन्त उचित ग्रौर ग्रावश्यक है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने से पहले पार्लमिन्ट के लिए यह लाभदायक होगा कि वह भारतीय नेता ग्रौर देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कानफ़रेंस करें, ग्रौर जहाँ तक सम्भव हो, ग्रधिक-से-ग्रधिक विषयों पर उनकी सहमति ग्रौर ग्रनुमति के ग्रनुसार ही कार्य करे। इसलिए यह घोषणा की गयी है कि जब साइमन कमीशन ग्रौर उसके सहकारी भारतीय कमीशन की रिपोर्ट प्राप्त होकर प्रकाशित होगी, ग्रौर जब ब्रिटिश गवर्नमेन्ट भारत-सरकार से इस विषय में

खूब सलाह कर चुकेगी, तब भारत के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों और देशी राज्यों के प्रमुख प्रतिनिधियों की एक कानफ़रेंस बुलायी जायगी। इस वाद-विवाद के पश्चात् जो कुछ भी मार्ग निश्चित होगा, वह पार्लमिन्ट के सामने रक्खा जायगा, और पार्लमिन्ट की ज्वाइण्ट कमेटी के निश्चयों और संशोधनों के बाद वह रिफार्म बिल के रूप में परिणत होकर पार्लमिन्ट की स्वीकृति के लिए पेश किया जायगा। इस प्रकार वायसराय महोदय का विश्वास है यह सर्व-सम्मत तथा वध शासन-सुधारों का मसविदा एक सफल और सर्वमान्य चीज़ होगा। वह आशा करते हैं कि इससे इंगलैण्ड और भारत का सद्योजनित मनोमालिन्य बहुत कुछ दूर हो जायगा, और भारत के राजनीतिक शरीर की पीड़ा और घावों को बहुत कुछ सुख मिलेगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## कसौटी पर

वायसराय की विज्ञप्ति में तीन सन्देश हैं—

(1) शासन-सुधारों के अन्तिम लक्ष्य के विषय में।

(2) साइमन-कमीशन का क्षेत्र विस्तृत करके उसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी सम्मिलित करने के विषय में। और,

(3) साइमन-कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने से पहले ब्रिटिश गवर्नमेन्ट द्वारा एक प्रतिनिधि-कानफ़रेंस बुलायी जाने के विषय में।

प्रथम सन्देश में कहा गया है कि सुधारों का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य है, और 1917 की मांटेगू-विज्ञप्ति में भी इसी लक्ष्य की ओर निर्देश था, इत्यादि।

मांटेगू-विज्ञप्ति में सुधारों का ध्येय उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-विधान कहा गया था, और इसका यही अर्थ समझा गया था कि अन्ततोगत्वा भारत को भी औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जायगा। जनता का यह विश्वास तब और भी दृढ़ हो गया था, जब वर्सेलीज़ के सन्धिपत्र पर भारत ने भी लीग ऑफ़ नेसंश के एक असली मेम्बर की हैसियत से दस्तखत किये थे। किन्तु यू. पी. के वर्तमान गवर्नर, दमन-नीति के प्रबल प्रतिपोषक और नौकरशाहों में तानाशाह सर माल्कम हेली ने—जो उस समय भारत-सरकार के होम-मेम्बर थे—इसका दूसरा ही अर्थ लगाया था। उनकी अनुदार और गोरी समझ में उत्तरदायित्वपूर्ण और औपनिवेशिक स्वराज्य में बहुत भेद था। इसी कारण उसी समय से भारतीय जनता के मन में एक सन्देह पैदा हो गया था। इरविन-विज्ञप्ति ने इस हेली-सूझ का कचूमर निकाल दिया है, और बिलकुल स्पष्ट तथा असन्दिग्ध शब्दों में यह उद्घोषित कर दिया है कि भारतवर्ष एक दिन अन्य उपनिवेशों के समान ही अधिकार पावेगा।

किन्तु वह दिन कब आवेगा, इसके विषय में हमारे बड़े लाट ने कुछ भी नहीं कहा। केंचुए की चाल से चलकर ही यदि यह ध्येय पूरा किया जायगा, तो इस घोषणा से फायदा ही क्या? सबसे मुख्य प्रश्न तो समय का ही है। 500 वर्ष बाद

पूर्ण स्वतन्त्रता देने का वादा करने का भी यही अर्थ होता । समय-सम्बन्धी प्रश्न का निबटारा किये बिना ध्येय की घोषणा बिलकुल व्यर्थ है। इससे कांग्रेस और युवक भारत की मनस्तुष्टि नहीं हो सकती। सुन्दर हवाई महलों के स्वप्न देखकर सन्तुष्ट और आह्लादित होनेवाले राजनीतिक नेताओं के दिन लद गये । अब तो क्रियात्मक और ठोस बातों की जरूरत है। उनके बिना युवक भारत की जाग्रत् स्वातन्त्र्यलिप्सा शान्त नहीं की जा सकती। यदि सरकार चाहती है कि एक ओर तो मेरठ-षड्यन्त्र, लाहौर-हत्याकाण्ड और अन्यान्य राजनीतिक अभियोगों द्वारा युवक-हृदय को कुचल डाला जाय, और दूसरी ओर इस प्रकार के अनिश्चित और नीहारिकामय धुँधले प्रलोभन उपस्थित कर उसको वशंवद बना लिया जाय, तो यह उसकी भारी भूल है। जब तक वह अपने इन दुष्कर्मों का प्रायश्चित नहीं करती, जब तक उसका दमन-चक्र, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, भारत की आशाओं और अधिकारों पर वज्र-प्रहार करना बन्द नहीं करता, तब तक उसकी किसी भी सदिच्छा पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हमें खूब याद है, जब 1917 में मि. लॉयड जार्ज की चिकनी जाभ ने भारतीयों के योरपियन महासमर-सम्बन्धी महान् आत्मत्याग के बदले में उनके साथ मनुष्यत्व का बर्ताव करने की घोषणा की थी। सन् 1919 में दी हुई उनकी भारत-सम्बन्धिनी वक्तृताओं को भी हम खूब दुहरा चुके हैं। किन्तु इनके साथ-ही-साथ हम जलियानवाला बाग़ की राक्षसी लीला को भी नहीं भूले। पंजाब का अपमान अब भी हमारे हृदयों में काँटे की तरह कसकता है। मालूम नहीं, उस समय मनुष्यता का बर्ताव करने की हामी भरने-वाली ब्रिटिश राजनीति की वह चिकनी जुबान किस घर का जूठन चाटने गयी हुई थी। पता नहीं, वह फ़राग़दिल ब्रिटिश डिप्लोमेसी किस कोने में छिपी हुई यह तमाशा देख रही थी।

तब फिर लाट साहब की इस अनिश्चित विज्ञप्ति का क्या विश्वास किया जा सकता है ? इसके अतिरिक्त सन् 1917 की घोषणा का यह अर्थ मजदूर-दल की सरकार द्वारा ही बतलाया गया है। अन्य पार्टियों के नेताओं ने इस विषय में जो संकीर्णता दिखायी है, वह नितान्त लज्जाजनक और घृणास्पद है। सम्भव है, किसी कारणवश लेबर गवर्नमेन्ट के हाथ से इंगलैण्ड का शासन-सूत्र इसी साल छिन जाय, तब फिर लाट साहब की इन सदिच्छाओं और मजदूर-दल की इस उदारता का उत्तरदायित्व किस पर होगा ? अतएव हमारी सम्मति में तो लॉर्ड इरविन का यह प्रथम सन्देश कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

दूसरा सन्देश साइमन-कमीशन की पूछ-ताछ का क्षेत्र विस्तृत करना है। इसका अर्थ यह है कि साइमन-कमीशन की रिपोर्ट में देशी रियासतों और ब्रिटिश-भारत से सम्बद्ध बातों का भी समावेश होगा। किन्तु साइमन-कमीशन के किसी भी पूछ-ताछ के अधिकार को हमने स्वीकृत नहीं किया है। भारतवर्ष-भर के पढ़े-लिखे लोगों ने उसका बहिष्कार ही किया है। अतएव उसका क्षेत्र विस्तृत हो या संकीर्ण, इससे हम भारतीयों को कोई सरोकार नहीं। भारत के भविष्य का निश्चय करने का अधिकार तो केवल हमें और हमीं को है। किसी भी गोरे कमी-शन द्वारा की गयी पूछ-ताछ में हम विश्वास नहीं रखते।

रही तीसरी बात, सो उसके विषय में हमें यही कहना है कि इस अभिप्रेत कानफ़रेंस के लिए भी लाट साहब ने साफ़-साफ़ कुछ नहीं कहा। अस्पष्ट रूप से एक भावी कानफ़रेंस की ओर निर्देश-मात्र किया है, और वह भी ऐसे शब्दों में, जिनका कोई निश्चित अर्थ नहीं निकाला जा सकता। साइमन-कमीशन की

नियुक्ति से बहुत पहले ही भारतीय नेताओं ने 'गोलमेज-कांफ्रेंस' की आवश्यकता पर जोर देना प्रारम्भ किया था। किन्तु उस समय सरकार ने नेताओं के इस प्रस्ताव को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, और एक ख़ालिस चिट्टे कमीशन की नियुक्ति कर डाली। उसका विश्वास था कि गुलाम हिन्दोस्तानी मजबूर होकर इस कमीशन का स्वागत करेंगे। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि देश के कोने-कोने में, हिन्दोस्तान के बच्चे-बच्चे द्वारा, साइमन-कमीशन का अभूतपूर्व अपमान और बहिष्कार किया गया, तब अब जाकर उसकी आँखें खुली हैं, और इसीलिए, अपनी पिछली ग़लती को मेटने के लिए, आँसू पोंछने की यह तरक़ीब काम में लायी जा रही है।

परन्तु हम सरकार को बतला देना चाहते हैं कि यदि वह हिन्दोस्तानी नेताओं को बुलाकर केवल उनके विचार ही सुनना चाहती है, तो उसके लिए यही अधिक उपयुक्त होगा कि वह नेहरू-रिपोर्ट का एक पारायण कर ले। उस रिपोर्ट में लिखी माँगें हिन्दोस्तान की कम-से-कम माँगें हैं। उनकी पूर्ति के लिए यदि सरकार तैयार है, तभी नेताओं की कानफ़रेंस बुलाना सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। भारतीय नेताओं का सहयोग तभी प्राप्त हो सकेगा, जब सरकार यह समझ ले कि वह ब्रिटेन और भारत-नामक एक ही परिस्थिति के दो राष्ट्रों के पारस्परिक शान्ति-व्यवहार की शर्तें तय करने जा रही है, न कि यह कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे परतन्त्र राष्ट्र को कुछ टुकड़े फेंक देने की तैयारी में है। इसके अतिरिक्त सहयोग-प्राप्ति का दूसरा मार्ग है ही नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## नेताओं का निश्चय

वायसराय की विज्ञप्ति पर विचार करने के लिए भारतीय नेताओं की एक कानफ़रेंस सभापति पटेल महोदय के घर पर हुई थी। युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बंगाल, मदरास, बम्बई आदि सभी प्रान्तों के प्रमुख नेता इस कानफ़रेंस के लिए ही दिल्ली पधारे थे। कई घण्टों के वादानुवाद के पश्चात् बहुमत से निम्नलिखित शर्तों पर वायसराय महोदय की अभिप्रेत कानफ़रेंस से सहयोग करने का निश्चय हुआ—

(1) सरकार की साधारण नीति आज से इस प्रकार की होनी चाहिए, जिससे मालूम हो कि वह सचमुच समझौता चाहती है, और इसलिए उसे भारतीयों के साथ मनोबल का व्यवहार करना चाहिए। इससे भारत का अशान्त राजनीतिक वायुमण्डल बहुत कुछ शान्त हो जायगा।

(2) समस्त राजनीतिक क़ैदियों को छुटकारा दे दिया जाय। तथा

(3) कानफ़रेंस में देश की समस्त उन्नतिशील राजनीतिक संस्थाओं का प्रबल प्रतिनिधित्व होना चाहिए। और, चूँकि कांग्रेस इस प्रकार की संस्थाओं में सबसे बड़ी और सर्वमान्य संस्था है, इसलिए उसके प्रतिनिधियों की संख्या सबसे

ग्रधिक होनी चाहिए।

इन तीन शर्तों को पूरा करने के ग्रतिरिक्त सरकार की साधारण व्यवस्था में भी उदारता का व्यवहार ग्रावश्यक है। सरकार की कार्यकारिणी सभा तथा व्यवस्थापिका सभाग्रों का सम्बन्ध भी ग्रब ग्रभिप्रेत कानफ़रेंस के उद्देश्यों के ग्रनुरूप ही होना चाहिए, तथा वैध शासन-प्रणाली की रीतियों ग्रौर व्यवहारों पर उचित ध्यान रखना चाहिए। इसके साथ-ही-साथ इसकी तो ग्रत्यन्त ग्रावश्यकता है कि साधारण जनता को सरकार के व्यवहार से ग्रभी से ऐसा मालूम पड़ने लगे कि ग्रब भारतीय राजनीति के क्षेत्र में एक नये युग का ग्राविर्भाव हुग्रा है, ग्रौर भावी शासन-सुधार इस नवयुग के प्रवर्तक नहीं, बल्कि परिणाम होंगे। जनता की सन्तुष्टि के लिए यह भी ग्रावश्यक होगा कि यह कानफ़रेंस यथा-सम्भव शीघ्रातिशीघ्र ही बुलायी जाय।

ग्रन्त में यह ग्राशा प्रकट की गयी है कि यह कानफ़रेंस इसलिए नहीं बुलायी जायगी कि वह ग्रौपनिवेशिक स्वराज्य दिये जाने के लिए उपयुक्त समय निश्चित करे, बल्कि उसका उद्देश्य ही होगा, ग्रौपनिवेशिक स्वराज्य की शासन-प्रणाली निश्चित करना।

नेताग्रों की इन शर्तों पर महात्मा गाँधी, मालवीयजी, सर तेजबहादुर सप्रू, डॉक्टर ग्रंसारी, डॉ. मुंजे, श्रीयुत् शेरवानी, श्रीयुत् ग्राणे, श्री सैयद महमूद, सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलालजी, डॉक्टर बेसेंट, श्रीमती नायडू, श्री. ए. ग्रार. ग्रायंगर, श्री सेनगुप्त, श्री वल्लभभाई पटेल, श्री जगत्नारायणलाल ग्रौर श्री जी. ए. नटेसन के हस्ताक्षर हैं।

भारतीय नेताग्रों की ये माँगें बहुत थोड़ी ग्रौर ग्रौचित्यपूर्ण हैं। इन माँगों से कम ग्रौर कोई सम्मानपूर्ण माँग हो ही नहीं सकती थी। यदि सरकार इन शर्तों को ही पूरा कर दे, तो सम्भव है, भारतीय नेताग्रों का एक बहुत बड़ा भाग उसके साथ सहयोग करने के लिए तैयार हो जाय। पर हमें तो ग्राशा होती नहीं कि वह इन शर्तों पर समझौता करने के लिए तैयार होगी; क्योंकि हमारी नौकरशाही की नाक इतनी लम्बी नहीं, जिसकी ग्रोट में उसकी इतनी हेठी छिप सके। उसकी नाक तो इतनी छोटी है कि वह हिन्दोस्तानियों की ज़रा-सी भी माँग पूरी करने का इरादा करते ही समूलोन्मूलनोन्मुख हो उठती है। ऐसी हालत में एक बार पहले ही ग्रपमानित हुए भारतीय नेता फिर से ग्रपमानित होने का साहस न करेंगे, ग्रौर इस कानफ़रेंस ग्रौर सरकार से पूर्ण ग्रसहयोग करने के लिए ही तैयार हो जायँगे। सरकार को नेताग्रों की इस माँग का उत्तर खूब सोच-विचारकर ही देना होगा। ज़रा-सी भी ग़लती होते ही समस्त भारत में ग्रशान्ति की वह प्रबल ज्वाला धधक उठेगी, जिसके बुझाने के लिए समस्त ब्रिटिश-साम्राज्य का ग्रश्रु-वारि भी पर्याप्त न होगा। शक्तिशाली ब्रिटिश-साम्राज्य की सम्पूर्ण पाशविक शक्ति भी युवक भारत के उबलते हुए जोश का मुकाबला न कर सकेगी। उसकी तोपें ग्रौर मशीनगनें निश्शस्त्र भारतीय नौजवानों के सत्याग्रह-संग्राम से निरुत्तर होकर शक्तिहीन ग्रौर बेकाम हो जायँगी।

इसीलिए हम एक बार फिर कहते हैं कि सरकार को बहुत सोच-समझकर ही नेताग्रों की इन शर्तों का उत्तर देना चाहिए, ग्रन्यथा भावी ग्रशान्ति का उत्तर-दायित्व उसी पर होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## बाबू सुभाषचन्द्र वसु का व्याख्यान

बंगाल के रत्न बाबू सुभाषचन्द्र वसु ने पंजाब के विद्यार्थियों द्वारा ग्रामन्त्रित होकर लाहौर में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक व्याख्यान दिया। उसका शीर्षक है 'India has a mission to fulfil' (भारत को एक उद्देश पूरा करना है)। इस व्याख्यान में राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए ग्रापने बड़े महत्त्व की बातें कही हैं। ग्रापने बंगाल तथा पंजाब को एक ही सूत्र में पिरो दिया है। ग्रपने साहित्य की चर्चा करते हुए कहा है कि बंगला-साहित्य में पंजाब के बड़े-बड़े मनीषियों का जिक्र ग्राया है, जो बंगाल के लोगों में बड़े चाव से पढ़ा जाता है। यहाँ तक कि रवीन्द्रनाथ ने भी पंजाब के जननायकों की ग्रपने लेखनी-मुख से खूब प्रशंसा-स्तुति की है। उनकी इन पंक्तियों का बंगाल में बड़ा ग्रादर है, लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसके बाद जीवन की एकता, विद्यार्थियों का राजनीति से सम्बन्ध, भावों का सार्वभौमिक परिवर्तन, समय का प्रवाह, उत्तरदायित्वपूर्ण ग्रान्दोलन, ग्रन्धकार-युग का नाश, भविष्य नागरिक, यथार्थ जीवन के चिह्न, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपाय, भारत की जातीय सभा का महत्त्व, स्त्रियों की शिक्षा, सुधार, मजदूर-ग्रान्दोलन, युवक-ग्रान्दोलन, कृषक-ग्रान्दोलन ग्रादि ग्रनेक विषय उसी भाषण में सन्निवेशित कर दिये हैं। भाषण निस्सन्देह बड़ा गौरवपूर्ण है, ग्रौर युवक-शिरोमणि सुभाषचन्द्र से हम लोग जैसी ग्राशा करते थे, वैसा ही हुग्रा भी है। परन्तु हम सुभाष बाबू से कुछ ग्रौर ग्राशा रखते थे। जिस वीरवर यतीन्द्रनाथ की स्मृति को लेकर पंजाब में वह ग्राये थे, उस वीर की उदारता की उन्होंने पूर्ण मात्रा में रक्षा नहीं की। उन्हें यह स्मरण नहीं रहा कि यह भाषण वह पंजाब के विद्यार्थियों में दे रहे हैं। जहाँ राष्ट्र को एकता के सूत्र में जोड़ने तथा प्राचीन ग्रन्धवाद को बहाकर उच्च-नीच तमाम हृदयों को सहानुभूति के एक ही तागे में पिरो जाने की उन्होंने इतनी बातें कही हैं, वहाँ राष्ट्र की भाषा पर कहीं एक पंक्ति भी नहीं ग्राने पायी। हम ग्रापसे तथा ग्रापके उदार, नवीन, मार्जित विचारवाले देश से पूछते हैं, क्या यही वीरवर यतीन्द्रनाथ की स्मृति है, जिसने मृत्यु के ग्रन्तिम समय में कहा था, मैं बंगाली नहीं, भारतीय हूँ, मेरी क्रिया कालीबाड़ी के हाते में न की जाय? हम ग्रापसे पूछते हैं, क्या उस वीर के यह कहने का कोई तात्पर्य ही नहीं था? "मैं बंगाली नहीं, भारतीय हूँ" इस उक्ति से उस निश्छल त्यागी महापुरुष ने ग्राप ही लोगों को बहुत कुछ सीखने के लिए दिया है, जिसका इतना जल्द ग्रापको विस्मरण हो गया। ग्राप एक क्षण के लिए भी नहीं सोच सके कि ग्राप पंजाब में भाषण दे रहे हैं, जहाँ के प्राणों में हिन्दी का ही स्पन्दन हो रहा है। लेकिन एक शब्द भी ग्रापने राष्ट्र-भाषा पर नहीं कहा, ग्रौर ग्राप वह मनुष्य थे, जिन्हें कलकत्ते के राष्ट्र-भाषा-सम्मेलनवाले कितनी ही बार सामने की कुर्सी पर बैठा चुके हैं, हिन्दी के सम्बन्ध में भाषण पढ़ा चुके हैं। बंगला में पंजाब के जन-नायकों के चरित्र का उल्लेख जो ग्रापने किया है, इससे हमें यही ध्वनि छिपी हुई मिली कि ऐ पंजाब के विद्यार्थियो, हम लोगों ने तुम्हें बड़े चाव से चित्रित किया है, तुम लोग हमारा साहित्य देखो। साहित्य में जो सहानुभूति का उल्लेख है, उसके खुलासा ग्रर्थ की ग्रपेक्षा यह छिपा ग्रर्थ ही समालोचक को पहले जँचता है, जबकि राष्ट्र की तमाम बातों—तमाम परिस्थितियों का उल्लेख करके भी उसकी भाषा का कहीं भी जिक्र नहीं किया गया। यह वीर यतीन्द्रनाथ की सहृदयता का, उसकी

वाणी का, यथार्थ उपयोग एक उत्तरदायित्वपूर्ण बंगाल के युवक-रत्न द्वारा हुआ कदापि नहीं कहा जा सकता। बंगालियों में प्रान्तीयता की बू उस महावीर को अगर न मिली होती, तो वह क्यों कहता कि मैं बंगाली नहीं, भारतीय हूँ। सुभाष बाबू उस वीर का सुयोग लेकर इस प्रकार पंजाब जाकर खुलेंगे, यह हम न जानते थे। बंग-भाषा में क्या, हर एक भाषा में अपर प्रान्तों, अपर देशों के वीरों की गाथाएँ, कहानियाँ, नाटक, इतिहास आदि रहते हैं, और सब लोग उन्हें चाव से पढ़ते हैं, उनसे सहानुभूति रखते हैं। यह सिर्फ इसलिए कि वे वीरों पर लिखे गये हैं। वहाँ दूसरे लोग वीरता, पौरुष का ही पक्ष करते हैं। पर इसके माने यह नहीं होते कि साहित्य में किसी देश ने किसी देश का आदर किया। जननायक व वीर, सार्वभौमिक मनुष्य होते हैं, और सुभाष बाबू की तरह के लोग उनसे लाभ उठाने-वाले, जिन्हें दस रोज भी यतीन्द्रनाथ की बातें याद नहीं रहीं और मौका देख फायदा उठाने की सूझ गयी। उन्होंने जिन विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ का जिक्र किया है कि उन्होंने भी पंजाब के नेताओं को आदरपूर्वक अपने पद्य में स्थान दिया है, उन रवीन्द्रनाथ ने उन वीरों के त्याग से ही खिचकर उन पर कविताएँ लिखी हैं। 'भानुसिंह' अपना नाम रवीन्द्रनाथ ने तारुण्य-काल में इसलिए रक्खा था कि सिख वीरों का वह बड़ा आदर करते थे। उनकी पंक्तियाँ—

"कादेर मशाले, आकाशेर भाले,
आगुन जेतेछे छुटे।"
"बंदा जखन बंदी होइल तुरानी सेनार करे।"

हम लोगों में सुभाष बाबू के उपदेश पहले से ही प्रचलित हैं। हम लोग बंग-साहित्य तथा उसके वर्तमान काल के अमर निर्माताओं का हृदय से आदर करते हैं। सुभाष बाबू स्वयं सोचें, मैं बंगाली नहीं—भारतीय हूँ, इस वाक्य की क्या ध्वनि है। राष्ट्र पर बोलते समय राष्ट्र की भाषा की कोई बात न कहना कहाँ तक युक्ति-संगत है, यह क्या सुभाष बाबू-जैसे मनुष्य को समझाने की जरूरत है? पहले हम सुना करते थे कि बंगाल में कुछ नवयुवकों ने जो राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन खोल रक्खा है, वह नाममात्र के लिए है, वहाँ काम कुछ नहीं होता, कुछ नवयुवकों ने मारवाड़ी तथा धनी सज्जनों से रुपये वसूल करने तथा अपने उदर भरने का एक स्वाँग रच रक्खा है, और सुभाष बाबू का बंगाल में कहीं दौरा होता है, तो ये लोग चिल्लाने लगते हैं कि वह राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए वहाँ जा रहे हैं, इस पर अब हमारा विश्वास दृढ़ हो गया। एक बार हमने सुना था, सुभाष बाबू ने एक व्याख्यान में कहा है, (जबकि उन्हें लोग घेर-घारकर ले आये थे) कि हिन्दी हमें इसलिए सीखनी चाहिए कि हमें मिलों में मजदूरों से काम लेना है। सुनते हैं आप लोग? यह कद्र है हिन्दी की। हिन्दी इस तरह के लोगों की भाषा है सुभाष बाबू की दृष्टि में। परन्तु कल अगर महाराज उदयपुर सुभाष बाबू को बुलावें, तो आप झट कहेंगे, हमारे, यहाँ डी. एल्. राय ने आप राजपूतों को बड़े ऊँचे शब्दों में चित्रित किया है, और वे ग्रन्थ बंगाल में बड़े आदर से पढ़े जाते हैं।

हिन्दी के प्रति उदासीनता, बंगाल की प्रान्तीयता, अपने ही को सबकुछ समझना, यह सब अधिकांश बंगालियों के खास निशान हैं। इसका मुख्य कारण हमारी समझ में यह आता है कि ये लोग अँगरेजी शिक्षा के बड़े कायल हैं। यहाँ के लोगों में पुरानापन देखकर इनकी श्रद्धा नहीं होती। ये बहुत अभिमानी भी होते हैं। इनकी भाषा के साथ हिन्दी का जोड़ भी नहीं बैठता। इनका उच्चारण मंगोलियन उच्चारण है। आर्य-उच्चारण के मार्ग पर जीभ की जैसी गति होती है,

इनके उच्चारण में उससे बिलकुल विपरीत। हिन्दी-साहित्य का ज्ञान न रहना भी उसके प्रति इनकी उदासीनता का कारण है। अभी बहुत दिन नहीं हुए, परसाल जाड़े के दिनों में, जब विद्यासागर-कॉलेज-होस्टल में हिन्दी के विद्यार्थियों ने अपनी समिति का वार्षिक उत्सव महामना मालवीयजी के सभापतित्व में मनाया था, उस समय अँगरेज़ी के विद्वान् प्रोफेसर जे. एल. बैनर्जी महाशय ने हिन्दी की खूब दिल्लगी उड़ायी थी, और अपने साहित्य की वैसी ही तारीफ भी की। पर उन्हें किसी बंगला-ज्ञाता हिन्दी के लेखक से उत्तर भी वैसा ही युक्ति-तर्क-पूर्ण मिला था, और उसकी बातों का समर्थन भी महामना मालवीयजी ने अपने 'सभापति के भाषण' में किया था। अँगरेज़ों का शासन बंगाल में बहुत दिनों से है। इसलिए अँगरेज़ीपन वहाँ ज्यादा है, और यही कारण है कि उसके साहित्य का अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाव से वैसा ही उत्कर्ष भी हुआ। हिन्दी के लिए यह बात और ज़ोर देकर कही जा सकती है। जितने दिनों से यहाँ अँगरेज़ी शासन है, उसे देखते हुए हिन्दी ने बंगला के मुकाबले ज्यादा तरक्की की। शीघ्र ही उसके भीतर से रवीन्द्रनाथ और डी. एल्. राय-जैसे कवि और नाटककार भी निकलेंगे। हिन्दी के प्राचीन साहित्य का तो बंगला बेचारी क्या सामना करेगी। साहित्य के अपर अंग हिन्दी में बंगला से कम पुष्ट नहीं। पर यह सब बंगाली भाइयों को समझावे कौन? दूरदर्शी महात्माजी न होते, तो शायद इतनी आवाज़ भी हिन्दी के लिए अब तक न उठ पाती। पर महात्माजी की वाणी पर अब कहीं से राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में कोई नुक्ताचीनी नहीं हो सकती। हिन्दी का यह एक ही व्यक्तित्व इकतीस करोड़ का व्यक्तित्व है, इसकी सफलता भले ही कुछ दिनों बाद प्रकट हो। पर हिन्दीभाषियों को अपनी मातृभाषा की सेवा के लिए हर तरह से तैयार हो जाना चाहिए।

एक बार अरमीनियन घाट से जो जहाज़ घटाल जाता है, उस पर प्राच्य-विद्यामहार्णव बाबू नगेन्द्रनाथ सेन जा रहे थे। हमारे एक मित्र भी, जो हिन्दी की सेवा कर रहे हैं, उसी पर भ्रमण करने जा रहे थे। सेन महाशय फलता के पासवाले अपने आश्रम जा रहे थे। उनके साथ तामलुक (ताम्रध्वज की राजधानी, ताम्रलिप्त, पूर्वकाल का समुद्र-तट, बन्दरगाह, प्राचीन ऐतिहासिक स्थान) के एक वकील वार्तालाप कर रहे थे। हमारे हिन्दी-सेवक नवयुवक मित्र की उम्र उस समय बहुत थोड़ी थी। उनसे मालूम हुआ, उनके लेख तथा कविताएँ उस समय हिन्दी के पत्रों से वापस ही आया करती थीं। सेन महाशय से वकील साहब की राष्ट्रभाषा पर बातचीत हो रही थी, हमारे मित्र चुपचाप बैठे हुए सुन रहे थे। सेन महाशय राष्ट्रभाषा के योग्य हिन्दी को ही चुन रहे थे, और वकील साहब कह रहे थे, जबकि अँगरेज़ी की एक शिक्षा लदी हुई है ही, तब दूसरी किसी भाषा का अनावश्यक दबाव क्यों डाला जाय? अवश्य इस तर्क का फैसला नहीं हुआ। कारण, यह किसी जिज्ञासु को दिया हुआ उत्तर नहीं था, जो वकील साहब मान लेते। उन्हें तो तर्क द्वारा समय पार करना था। इधर सेन महाशय को राष्ट्र के कल्याण की चिन्ता थी। सेन महाशय ने बहुत कुछ कहा, हिन्दी तो हम लोग उल्टी-सीधी बोल लेते ही हैं। ज़रा व्याकरण सीखकर कुछ मार्जन कर लेने से ही काम चल जायगा। अँगरेज़ी के भीतर से सच्ची सहृदयता का विस्तार नहीं होता, वह यहाँवालों पर जैसे रोब जमानेवाली एक भाषा हो, उसके उच्चारण के साथ ही एक प्रकार की अकड़ आ ही जाती है, यह उसका विजातीय प्रभाव है। इससे हमारा सच्चा उपकार नहीं होता, बल्कि अपकार ही ज्यादा होता है, दूसरे साधारण

लोगों की इच्छा-शक्ति को जितना हम देशी भाषा के भीतर से समेट सकते हैं, उतना विदेशी भाषा के भीतर से नहीं, हमें तो राष्ट्र की एक भाषा चाहिए, जबकि हमें राष्ट्र का सुधार करना है—ग्रादि-ग्रादि। वकील साहब बोले, तो यह काम क्या बंगला नहीं कर सकती ? सेन महाशय ने कहा, बंगला का इन्द्रजाल बंगला ही के लिए हो सकता है, तमाम भारत में बंगला के प्रचार की बातें करना एक प्रकार का ग्रन्याय करना है, भारतवर्ष के ग्रधिकांश लोग हिन्दी ही बोलते हैं। उर्दू ग्रौर हिन्दी में बड़ा भेद नहीं, केवल शब्दों का देशी-विदेशीपन है, क्रिया एक ही है, विभक्तियों के प्रयोग एक ही प्रकार के हैं, शब्दों की जगह ग्ररबी-फ़ारसी बैठा दीजिए, उर्दू है, संस्कृत बैठा दीजिए, हिन्दी है, हाँ, कुछ शब्द हिन्दी के ग्रपने भी हैं, जो हिन्दी-उर्दू, दोनों में लिखे जाते हैं। इस प्रकार बड़ी देर तक वकील साहब को उन्होंने समझाया, पर बंगाली वकील साहब न बंगला का ही मोह छोड़ सके ग्रौर न ग्रँगरेजी का ही। उन्हें हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में सबसे बड़ी ग्रड़चन यह देख पड़ रही थी कि ग्रनावश्यक एक तीसरी भाषा का लदाव हम पर पड़ रहा है, इसीलिए वह राष्ट्र-सम्मेलन तथा समाज-सुधार ग्रादि के काम ग्रँगरेजी के मारफ़त ही कर डालना चाहते थे। इस तरह की गुफ्तगू होते-होते फल्ता का स्टेशन ग्रा गया, ग्रौर सेन महाशय विदा हो हँसते हुए उतरने लगे। वकील साहब की तरह सुभाष बाबू भी तमाम काम ग्रँगरेज़ी द्वारा ही चला लेना चाहते हैं, एक तीसरी भाषा का ग्रकारण दबाव क्यों पड़े ! फिर भी कलकत्ते के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के सभापति, न जाने क्या हैं !

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## राष्ट्र की युवक-शक्ति

कांग्रेस नज़दीक है। इस कांग्रेस की बागडोर युवकों के हृदय-सम्राट् पं. जवाहर-लालजी के हाथ में है। ग्रबकी ही भारत के भाग्य का ग्रभीप्सित निर्णय होगा। इसके लिए भारत की युवक-शक्ति को हर तरह से कार्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन के बाद ऐसी ग्राशा ग्रौर कभी नहीं की गयी। इधर राजनीतिक मामलों में जो विप्लव हुए हैं, जैसी धर-पकड़ हुई है, उससे भी हमारी युवक-शक्ति का चेतन-प्रवाह कुछ तीव्र हो गया है। देश की ग्राशा के साधन देश के युवक ही हैं। कांग्रेस भी ग्रबकी उस स्थान पर हो रही है, जहाँ के युवक हिन्दोस्तान के युवकों के ग्रग्रणी रहे हैं, जिनका कार्य-सक्षम पुष्ट यौवन संसार की किसी भी शक्ति का मुक़ाबला कर सकता है। वीरवर युवक-श्रेष्ठ यतीन्द्रनाथ का ग्रात्म-त्याग इधर एक नवीन स्फूर्ति हमारे युवकों में फूँक चुका है। श्रमिक दल का लांछन भी युवक-शक्ति के उद्बोधन के लिए कम महत्त्व नहीं रखता। पुलिस का ग्रत्याचार कहाँ तक बढ़ गया है, टैक्स ग्रादि में कैसी-कैसी मौलिकता काम में लायी गयी है, यह हमारे युवकगण संवाद-पत्रों में पढ़ चुके होंगे। देश को हर तरह की पराधीनता के पाश से मुक्त करनेवाली हमारी युवक-शक्ति ही है। ग्रभी-ग्रभी चीन का राष्ट्र-

विप्लव इसकी साक्षी दे चुका है। जिस देश में युवक जानदार नहीं, जिस देश के भावी उत्तराधिकार के लिए युवकगण प्रयत्नशील नहीं, वह देश गुलामी की बेड़ियों को काट नहीं सकता। जिस स्वाधिकार-शासन के अंगूर के गुच्छे के लिए देश के नेता ललचाये हुए हैं, वह बहुत ऊँची डाल पर, उनकी पहुँच के बाहर, लटकता हुआ देख पड़ रहा है। बड़े लाट साहब की घोषणा में ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट की तरफ से भारत के राजनीतिक अधिकारों की कोई घोषणा नहीं है, बल्कि वहाँ एक चाल-सी है। वह यह कि घोषणा के बहाने अनेक राजनीतिक दलों को मिलाकर मतभेद करा दिया जाय। बम्बई के जिन्ना और जयकर की घोषणा में यही सन्देह प्रबल हो गया है। हमारे देश में ऐसे दलवालों की कमी नहीं, जो कृपा-दृष्टि के ही भिक्षुक हैं, ज़रा-सी मुसकिराहट पाने पर ही कुत्ते की तरह पिघलकर दुम हिलाने लगते और उसे ही अपने दिल में स्वराज-सुख समझते हैं। यह अधिकारियों को भी अच्छी तरह मालूम है, और इन्हीं विभीषणों की फूट से वे राजनीतिक विभीषिकाओं की सृष्टि कर डालते हैं। बड़े लाट की घोषणा में न तो भारत के श्रमिकदलों की नीति के परिवर्तन पर कुछ है, और न शीघ्र औपनिवेशिक स्वाधिकार-शासन देने की कोई बात। यहाँ साइमन-कमीशन को सार्वभौमिक असफलता ही मिली थी। बड़े लाट साहब का नेताओं को बुलाकर एकत्र करना अँगरेजों की प्राचीन चालबाज़ी का जौहर दिखाना ही हो सकता है। यह नाटक यहाँवाले बहुत देख चुके हैं। मांटेगू-रिफ़ार्म के समय जिन लोगों ने इस तरह ठगे जाकर देश को मूड़ा था, पीछे उनकी भी दुर्दशा की हद हो गयी थी। नेताओं की शर्तें बहुत साधारण हैं, ऐसा इसलिए किया गया है कि लिबरलों के साथ कांग्रेस-नेताओं का साम्य रहे। अगर इस तरह की शर्त भी नामंज़ूर कर दी गयी, तो निश्चय समझना होगा कि ब्रिटिश सरकार के उद्देश विश्वासयोग्य नहीं। अनेक नेताओं ने अपने हस्ताक्षर नहीं किये। जवाहरलाल जी भी नहीं करना चाहते थे। पर बहुत कहने-सुनने पर उन्होंने अपने दस्तख़त कर दिये हैं। फिर भी हमें महात्माजी के उद्‌गारों से जैसा मालूम है, वह पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर अटल हैं। यहाँ उन्होंने सामयिकता की ही रक्षा की है। अबकी साल देश के सामने यह जो परिस्थिति आ गयी है, इसके निर्वाह के लिए हम युवकों की ही अपराजित शक्ति का भरोसा रखते हैं। देश की मर्यादा तथा सम्मान की रक्षा के लिए हमारे युवक ही हृदय के अन्तस्तल से देश की मदद कर सकते हैं। कांग्रेस की अनुकूलता, तथा उसकी आज्ञा के पालन के लिए अबकी हमारे युवकों को तन-मन से कार्य-क्षेत्र की ओर बढ़ आना चाहिए। संसार की आँखों को भारत के युवक ही वह दृश्य दिखा सकते हैं, जो भारत के अतीत गौरव ने अनुकूल है। जिनकी मेधा परिष्कृत है, जिनका जीवन निष्पाप तथा उज्ज्वल है, जो देश के वर्तमान काल के गौरव और भविष्य की आशा हैं, जिनके हृदय में किसी प्रकार के कलंक का स्पर्श नहीं हुआ, विद्या की ही तरह जिनकी मुखकान्ति दीप्तिमान् है, अबकी स्वाधीनता की पुकार पर, माता के हृदय के वे ही रत्न चमक उठें। कांग्रेस का कोई भी इंगित उनके द्वारा व्यर्थ न जाय। अबकी हमारे युवक-सम्राट् विजयी होकर ही रहें। 'वन्दे मातरम्'।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन स्थगित

हमें यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी कि अबकी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, गोरखपुर, के सभापति मित्रवर श्रीयुत् गणेशशंकर विद्यार्थी चुने गये हैं। राजनीतिक क्षेत्र में विद्यार्थीजी का कार्य हमारे प्रान्त में बेजोड़ है। राष्ट्रीय कविताओं को पहले-पहल उन्होंने 'प्रताप' में प्रोत्साहन दिया था। 'प्रभा' में भी विद्यार्थीजी की जैसी सेवा रही, उसकी पूर्ति आज तक हिन्दी में नहीं हो सकी। अवश्य जेल चले जाने के कारण 'प्रभा' की सेवा अच्छी तरह विद्यार्थीजी नहीं कर पाये थे; पर उसमें उन्हीं की छाया, उन्हीं के इंगित का संचालन-क्रम मिलता था। विद्यार्थीजी एक ऐसे युवक हैं, जिनकी सेवा के सामने हर एक युवक अपना मस्तक झुका देता है। साहित्य की दृष्टि से भी प्रताप के महत्त्व को हिन्दी का कोई साप्ताहिक पत्र नहीं प्राप्त कर सका। विद्यार्थीजी के सभापतित्व में एक और आशा यह थी कि उधर राजनीति का सिंहासन युवक-वीर पं. जवाहरलालजी सुशोभित कर रहे हैं, और इधर राष्ट्र-भाषा हिन्दी का आसन वीरवर विद्यार्थीजी। इतना अच्छा अवसर शायद ही अब आवे। युवकों की ऐसी विजय प्राचीनता-भक्त भारत में इधर शताब्दियों से नहीं देखने को मिली। विद्यार्थीजी के सभापतित्व से हिन्दी को बड़ा लाभ है। उसकी युवक-शक्ति का उन्मेष तो है ही, साथ ही उसके प्रसार, प्रचार, संगठन, समाराधन, योग्यता-प्रोत्साहन आदि नवीन युग के सभी दलों के विकसित होने की सम्भावना है। राष्ट्र को भाषा के भीतर से कैसी आवश्यकता है, यह विद्यार्थीजी से अच्छा दूसरा नहीं समझ सकता। कारण, विद्यार्थीजी, राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र, दोनों के वीर सेवक हैं। इस साल का यह निर्वाचन बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इसके लिए हमें इतना आनन्द है, जिसका वेग हम सँभाल नहीं सकते। हम यह भी सुन चुके हैं कि इस निर्वाचन से अनेक प्रतिष्ठित साहित्य-सेवी उदासीन हैं। वे कुछ और ही सोचे हुए थे। पर पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी की उक्ति, इस उदासीनता के उत्तर में, हम यहाँ उद्धृत करते हैं—"कोई क्यों न सभापति हो, क्या वह न तुम्हारा भाई है? पिशाचिनी ईर्ष्या इन बातों में भी हाय समाई है!"

अबकी राष्ट्र का जैसा रुख है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का आसन सुशोभित करने के लिए, हम फिर कहते हैं, विद्यार्थीजी से योग्य मनुष्य दूसरा नहीं। यदि सेवा का भार रक्खा जाय, तो विद्यार्थीजी किसी भी प्रवीण से कम प्रवीण नहीं; फिर भी वह 'नवीनों' को साथ रखते—'नवीनों' के साथ ही रहते हैं।

जहाँ हम हर प्रकार से आनन्द मना रहे थे, वहाँ हमें यह सुनकर कि सम्मेलन स्थगित कर दिया गया, वैसा ही दुःख भी हुआ। सम्मेलन का स्थगित हो जाना हिन्दी-साहित्य के लिए बड़ी लज्जा की बात है। युक्त-प्रान्त में ही सम्मेलन स्थगित हो जाय, इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या होगी? केवल 48 घण्टे पहले सम्मेलन के स्थगित होने की खबर लीडर में छपी थी। सम्मेलन के अधिकारियों को इतना समझ लेना था कि इस थोड़े-से समय में यदि सम्मेलन स्थगित कर दिया जायगा, तो रंगून से आनेवाले, मदरास से आनेवाले प्रतिनिधियों तथा दर्शकों की क्या दशा होगी? हमें विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि आसाम, मदरास तथा पंजाब के कितने ही डेलीगेट आ चुके थे, उनमें से कुछ ने लौटकर लखनऊ में हमें भी दर्शन दिये थे। गोरखपुर में स्वागत करने की सब तैयारियाँ थीं। सिर्फ

सम्मेलन की झोली में रुपये नहीं डाले जा सकते थे। जहाँ को रुपये मिलेंगे, सम्मेलन वहाँ होगा, यह बड़े दु:ख की बात है। गोरखपुर में अभी-अभी महात्माजी का दौरा हो चुका है। लोगों से रुपये माँगने का अधिकार वहाँ के कार्यकर्ताओं को नहीं रहा। यह हम वहीं के एक कार्यकर्ता के मुख से सुनकर लिख रहे हैं। हम नहीं जानते, इसके भीतर और क्या-क्या रहस्य हैं। पर गोरखपुर में महात्माजी के जाने के बाद तक शिथिलता थी, सम्मेलन की कोई तैयारी नहीं थी, यह हम सुन चुके हैं, वहीं के लोगों के पत्रों से मालूम कर चुके हैं। और, यदि हम भूलते नहीं तो वहाँ के कार्यकर्ताओं में कुछ आपसी वैमनस्य भी था, जिससे सम्मेलन की सम्भावना की अपेक्षा तब तक लोगों में आशा ही प्रबल हो रही थी। पर कैसी भी परिस्थिति रही हो, विचार तो यह कहता है कि जब निमन्त्रण दिया गया, तब आप लोग जाइए। सम्मेलन की तिथि उठा देने के माने क्या? रुपये अन्यत्र मिल सकते हैं, यदि रुपयों के ही कारण वह बन्द कर दिया गया। गोरखपुरवालों का प्रत्यक्ष दोष तो तब था, जब जानेवाले की वे खातिर न कर सकते। यह सब हमारे संगठन का दोष है, और अपने राग की प्रधानता रखने का। हिन्दी-साहित्य को जो दूसरे प्रान्तवाले कौड़ी-क़ीमत का नहीं समझते, इसका दोष जितना साहित्य पर नहीं, उससे अधिक साहित्यिकों पर है। हम अच्छी तरह जानते हैं, विद्यार्थीजी का सभापति चुना जाना बहुतों की आँखों में मिर्च का काम कर गया है, और दिल में छाले का। जाति की गुलामी के साथ-साथ यह भी एक प्रकार की भाषा की गुलामी है। अपने को बड़ा तो क़रीब-क़रीब सभी समझते हैं, ज़रूरत है दूसरे को बड़ा समझने की। विद्यार्थीजी का कदाचित् यही एक बड़ा गुण है कि यह यथार्थ क़दरदाँ हैं, और यह भी उनकी इस सम्मान-प्राप्ति का एक कारण है। किसी भी शहर में आप जायँ, विद्यार्थीजी के प्रशंसकों की वहाँ कमी न होगी। व्यक्ति, वस्तु और विषय का सब पार्श्वों से विचार किया जाता है। 'प्रताप' के उत्तर पर फटीचर-मतवाले व्यंग्य कर सकते हैं। उनकी षंढ-फुफकार से किसी लज्जाशील भाषा का ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता। उसकी क़ीमत साहित्य के अशराफ़ जौहरी ही समझ सकते हैं, वृकोदर नहीं। यह वही विद्यार्थीजी हैं, जिन्होंने राष्ट्र की छाप देखकर कला की सींगों से भाषा की भूमि पर भाव बेझनेवाली कहानी की भी तारीफ़ की थी। हम जानते हैं, बेझना षंढराजों का स्वभाव है। जब नासिका के प्रलयंकर श्वास से ताड़ित तड़ित् उनकी स्नायुओं में प्रवेश कर जाती है, उनकी आँखों की राह से उनके दिव्य भाव रक्त-वर्ण धारण कर फूट पड़ते हैं, तब वे अपने को सँभाल नहीं सकते; अपने मान की रक्षा तथा गौरव की वृद्धि के लिए बेझना शुरू कर देते हैं तथा स्वयं ही अपनी विजय के प्रशंसक बनकर जैसा गर्वोल्लास करते हैं, विशाल पुच्छ को आगुच्छ उठाकर जैसी मनोहर गति से आगे तथा पश्चात् फिरते हैं, वह कवियों ही की वर्णना का विषय है। परन्तु हम लोग साधारण कोटि के मनुष्य हैं। इतना भयभीत कर देने से लगुड़-ग्रहण करने की इच्छा होती है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## घोषणा का मध्याह्न

'सुधा' के पिछले अंक में वायसराय की प्रातःकालिक घोषणा के विषय में हमने जो नोट लिखा था, उसके अन्तिम शब्द शायद पाठक भूले न होंगे। घोषणा के 3 या 4 दिन बाद ही हमने वह नोट लिखा था। भारत तथा इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करके घोषणा के महत्त्व के विषय में हम जिस परिणाम पर पहुँचे थे, वह गत मास की घटनाओं से बहुत कुछ सत्य सिद्ध हुआ है। वायसराय महोदय की घोषणा का महत्त्व तथा भारतीय राजनीतिज्ञों का तद्विषयक उत्साह पार्लियामेन्ट के वाद-विवादों, विलायती पत्रों की समालोचनाओं और बाल्डविन-मैक्डोनाल्ड पत्र-व्यवहार के कारण बहुत कुछ कम हो गया है। दिल्ली कानफ़रेंस की विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर करनेवाले नेताओं में से कई तो इतने निराश हुए हैं कि उन्होंने उस विज्ञप्ति से अपने हस्ताक्षर निकाल दिये जाने की प्रार्थना की है। शेष नेताओं ने अपनी उस विज्ञप्ति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता समझकर प्रयाग में एक दूसरी कानफ़रेंस की योजना की थी।

वायसराय की सदिच्छापूर्ण घोषणा के विरुद्ध इस प्रकार के असन्तोष के कई कारण हैं। जब तक उन कारणों का प्रतिकार नहीं होता, तब तक भारतीय जनता के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका उपस्थित ही रहेगी। प्रथम तो सरकार को जल्दी-से-जल्दी भारत की समझौतेवाली शर्तों पर कोई निश्चय कर डालना चाहिए। बिना इस निश्चय की घोषणा किये प्रस्तुत गोल-मेज कानफ़रेंस की आशा करना एक दुराशा-मात्र होगी।

उपर्युक्त निश्चय के अतिरिक्त सरकार के कारनामों से भी यह प्रकट होना चाहिए कि वह सचमुच कोई समझौता चाहती है। उसकी विज्ञप्तियों और कार्यों से उसके इरादे खूब स्पष्ट और परिलक्षित हो जाने चाहिए। अभी घोषणा की बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो बिलकुल अस्पष्ट और अनिश्चित-सी हैं। उन बातों का स्पष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। जनता ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों की फिसल जानेवाली जीभ और द्विजिह्व प्रकृति तथा शब्दों को तोड़-मरोड़कर अज्ञातपूर्व अर्थागम करने की प्रवृत्ति को भली-भाँति जानती है। "Wrong Interpretation of the meaning conveyed there in"—नामक अँगरेजों की पेटेन्ट राजनीतिक पदावली से वह भली-भाँति परिचित है। वह यह भी खूब जानती है कि चतुर ब्रिटिश-सरकार भारतीयों की एकता से डरकर भेद-नीति को काम में लाने में कभी नहीं हिचकती, और समय-असमय इस प्रकार की सदिच्छापूर्ण घोषणाओं के बम-गोले छोड़कर उसकी राजनीतिक एकता का नाश करने में कभी नहीं चूकती। इसीलिए वायसराय महोदय तथा मि. बेन की स्पीचों से वह आश्वस्त नहीं हुई। वह चाहती है कि सरकार शीघ्र-से-शीघ्र अपनी चालें स्पष्ट कर दे। जब वह देखती है कि विलायत और हिन्दुस्तान में इस घोषणा के भिन्न-भिन्न आशय समझे गये हैं, तो उसका सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है। जहाँ एक ओर भारतवर्ष में वायसराय महोदय की घोषणा का यह अर्थ लगाया गया था कि सरकार निकट-भविष्य में ही भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने के लिए तैयार है, वहाँ दूसरी ओर विलायत में बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं द्वारा जनता को यह समझाया जा रहा है कि इस प्रकार की आकस्मिक घटना होने की तथा गोल-मेज़ कानफ़रेंस द्वारा सन् 1917 की घोषणावाली नीति में किसी परिवर्तन की कोई सम्भावना

नहीं है।

घोषणा के इन दो वैकर्ण पहलुओं के कारण भारतीय जनता का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही है। भारतीय नेताओं का असन्तोष भी इसी दृष्टि से उचित कहा जा सकता है। उनका प्रयागवाला निश्चय भी इसीलिए उचित, न्यायपूर्ण तथा दूरदर्शितापूर्ण समझा गया है।

यदि सरकार देश के इस बढ़े हुए क्षोभ और असन्तोष को रोकना चाहती है, तो उसे शीघ्र-से-शीघ्र अपने निश्चय की घोषणा करनी चाहिए। यदि यह निश्चय भारतीय जनता द्वारा समझे गये वायसराय की विज्ञप्ति के आशय से भिन्न हुआ, तो उसे एक भयंकर विरोध के लिए भी तैयार रहना चाहिए। अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए बिलकुल तैयार देश की युवक-शक्ति के बढ़े हुए जोश और उत्साह का इस टुच्ची घोषणा द्वारा यदि सरकार उपहास करना चाहती थी, तो उसे उसके उत्साह और जोश की भयंकर बाढ़ का सामना करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। उसे याद रखना चाहिए कि कमज़ोर बाँध से रोका हुआ वेगवान् सिन्धुनद का उत्ताल प्रवाह एकदम अदम्य और विनाशकारी हो जाता है। यह फिर छोटे-मोटे बन्धनों की परवा नहीं करता। सरकार यदि भारत की आशाओं पर हरताल पोतनेवाला निश्चय करेगी, तो भारत के नये राष्ट्रपति, युवक-सम्राट् जवाहरलाल नेहरू तथा स्वाधीनता के दीवाने अन्य युवक नेताओं के नेतृत्व में चलनेवाला युवक-भारत औपनिवेशिक स्वराज्य-जैसे सरकारी कृपा-कटाक्षों की प्रतीक्षा किये बिना ही पूर्ण स्वाधीनता के मार्ग पर अग्रसर होगा। उस समय सरकार का सारा पशुबल भी उसका मार्ग-निरोध न कर सकेगा। सरकार द्वारा बहायी हुई निशस्त्र भारतीय युवकों के खून की नदियों, जेल की दीवारों और सरकार के अत्याचार के सब जंगली साधनों को पार करके वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही जायगा, और अन्त में अदूरदर्शी ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ, जॉर्ज तृतीय के मूर्ख मन्त्रियों के समान, यह कह उठेंगे कि उन्होंने अपनी मूर्खता से पश्चिमवाले अमेरिकन राष्ट्र की तरह पूर्व के भारतीय साम्राज्य को भी खो दिया।

इसीलिए हम फिर दुहराते हैं कि सरकार को खूब सोच-समझकर एक ऐसा निश्चय करना चाहिए, जिसमें देश के इन जोशीले युवकों का उबलता हुआ उत्साह इतना विनाशकारी न हो जाय। देश के वृद्ध तथा शान्ति के इच्छुक, अनुभवी नेताओं के हाथ से अभी परिस्थिति नहीं निकल पायी है। वे इस उद्दाम युवक-आन्दोलन को अभी रोक सकते हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू-जैसे पूर्ण स्वतन्त्रता-वादी युवक का दिल्लीवाले घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देना देश के इन वृद्ध नेताओं की म्रियमाण शक्ति का अब भी परिचय देता है। अपने निश्चय द्वारा यदि सरकार इन नेताओं के शान्ति के उपायों को सफल बनाना चाहती है, तो उसे शीघ्र ही विलायती राजनीतिज्ञों और पत्रों के भारत-विरोधी वक्तव्यों का प्रतिवाद करना चाहिए, और भारत को शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज्य देने की घोषणा कर देनी चाहिए। अन्यथा 31 दिसम्बर की मध्यरात्रि के 12 बजे, जब गिरजाघरों के घण्टे नव वर्ष का स्वागत करने के लिए बज रहे होंगे, और जब समस्त ब्रिटिश साम्राज्य प्रसन्नता और हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा होगा, ग़रीब भारत के नौजवान प्रातःकाल ही से प्रारम्भ होनेवाले स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए कमर कस रहे होंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

# कांग्रेस का रंगमंच

जिस समय यह अंक पाठकों के हाथ में पहुँचेगा, उस समय लाहौर की रंगभूमि पर कांग्रेस-महानाटक का अभिनय हो रहा होगा। विभिन्न जातियों तथा विभिन्न प्रान्तों की जनता के सामने देश के विभिन्न राजनीतिक दल अपने कर्तव्य दिखला रहे होंगे।

देश की गत वर्ष की प्रगति को देखते हुए यह नहीं मालूम होता कि अबकी बार कांग्रेस का अधिवेशन शान्त और अक्षुब्ध हो सकेगा। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि अगले वर्ष के लिए जो प्रोग्राम बनाया जायगा, वह बहुत ही कठिन और श्रमसाध्य होगा। अबकी बार पिछले वर्षों के समान कागजी कर्तब दिखलाकर ही कांग्रेस चुप नहीं हो जायगी। कांग्रेस की नीति में भी घोर परिवर्तन होगा। इस परिवर्तन की पूर्व-सूचना अभी तक आये हुए प्रस्तावों की संख्या से भली-भाँति मिल रही है। वायसराय महोदय की घोषणा के बहुत-से पहलुओं के बहुत-से अर्थ लगाने के कारण देश के भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के विभिन्न मत हो रहे हैं। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी दल कांग्रेस की नीति में परिवर्तन की इच्छा कर रहे हैं। इन विभिन्न तथा छोटे-छोटे दलों में से केवल दो ही दल ऐसे हैं, जिनकी सम्मति का देश में आदर हो रहा है। पहले दल की सम्मति में वायसराय की घोषणा पर जब तक और कोई निश्चित टीका नहीं की जाती, तब तक स्वराज्य की आशा करना—किसी समझौते की उम्मेद करना—बिलकुल व्यर्थ है। यह दल कांग्रेस की वर्तमान प्रतीक्षा-नीति के बिलकुल विरुद्ध है। वह चाहता है कि कलकत्ता-कांग्रेसवाले प्रस्ताव को ही कार्य में परिणत किया जाय, और पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जाय। किन्तु उसकी सम्मति में सारे देश के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा के बजाय यदि देश के कुछ भागों के लिए ही यह घोषणा की जाय तो अच्छा होगा। हाँ, कांग्रेस के विधान (Creed) में एतद्विषयक परिवर्तन अवश्य कर दिया जाय। किन्तु उस विधान को शनैः-शनैः कार्य में लाया जाय। इसीलिए इस दल की सम्मति में कुछ चुने हुए स्थानों में (उदाहरणतः बारडोली) प्रजातन्त्र-प्रणाली की एक दूसरी शासन-विधि का सूत्रपात किया जाय, और महात्मा गाँधी तथा मोतीलालजी-जैसे प्रमुख नेताओं से प्रार्थना की जाय कि वे इन्हीं स्थानों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखकर अहिंसात्मक आन्दोलन, सत्याग्रह तथा टैक्स न देना आदि उपायों से इस नवीन शासन-विधान की सफलता के लिए उद्योग करें, तथा वहाँ नियमबद्ध शासन और प्रजातन्त्र के स्थापन का प्रयत्न करें।

देश के अन्य भागों में भी इसी समय राष्ट्रीय संगठन का कार्य खूब तेज़ी से होना आवश्यक है। सत्याग्रह-संग्राम में संलग्न देश के भागों को जब जिस किसी सहायता की आवश्यकता हो, तब वही सहायता जुटाना इन अन्य भागों का कर्तव्य होना चाहिए।

उपर्युक्त विचारवाले दल की प्रबलता दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है। गवर्नमेन्ट की दमन-नीति ने देश के नौजवानों को उस ओर प्रवृत्त करने में और भी सहायता दी है। उनकी सम्मति में तो गवर्नमेन्ट की अत्याचारपूर्ण नीति के कारण देश के सामने उपर्युक्त मार्ग के सिवा अब कोई दूसरा उपाय ही नहीं रह गया।

दूसरा उन लोगों का दल है, जो विश्वास करते हैं कि प्रस्तावित गोलमेज़

कानफ़रेंस के अधिवेशन और निश्चयों की प्रतीक्षा करना ही कांग्रेस के लिए अधिक हितकर होगा। इस कानफ़रेंस का निश्चय ज्ञात होने पर अगले वर्ष के मध्य-भाग में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाकर देश का भावी प्रोग्राम निश्चित करना इस दल का उद्देश्य है।

देश के बूढ़े नेताओं और मध्य श्रेणी के राजनीतिज्ञों की बहुलता के कारण इस दल का प्राबल्य भी कम नहीं है। अधिकतर आशा की जा रही है कि कांग्रेस के रंगमंच पर इस दल की ही विजय होगी। यदि कहीं सरकार ने नेताओं के घोषणा-पत्र की शर्तें मान लीं, या राजनीतिक क़ैदियों के छोड़ने की हामी भर ली, तब तो इस दल की विजय बिलकुल निश्चित ही है। महात्मा गाँधी और पण्डित मोतीलालजी-जैसे पुराने राजनीतिज्ञों की शतरंज की चालें उस समय देश के युवकों और उनके हृदय-सम्राट् जवाहरलाल को खूब ही छका डालेंगी। पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती नौजवानों को उस समय एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा।

परन्तु यदि कहीं सरकार ने अपनी नीति और हृदय की गति में कोई भी परिवर्तन न किया, यदि कहीं वह महात्माजी तथा मोतीलालजी से समझौता करने को तैयार न हुई, तो देश के उबलते हुए खून की बहिया में इन बूढ़े नेताओं का सारा अनुभव, सब चालें और सब नियन्त्रण बह जायगा। कांग्रेस फिर पूर्ण स्वतन्त्रता के विधान का उल्लंघन न कर सकेगी। तब फिर सरकार की कठिनाइयों और आफ़तों का कोई ठिकाना न रह जायगा। महात्माजी भी तब इस बहिया को न रोक सकेंगे।

देश का भाग्य, कांग्रेस का निश्चय और सरकार की कुशलता, तराजू के इन्हीं दो पलड़ों में झूल रही है। वायसराय का उत्तर आख़री बाँट होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दू-अबला

संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में स्त्रियों को अबला कहने की प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही है। किन्तु भारत के आदिम इतिहास से लेकर अब तक लाखों स्त्रियों ने अपने इस नाम की निरर्थकता सिद्ध कर दी है। आजकल के उन्नति के युग में तो उन्हें अबला कहना एक वितण्डा-मात्र है। योरप की स्त्रियों की सार्वजनीन उन्नति और प्रबलता को देखते हुए, घोंघा पण्डितों के अतिरिक्त, कौन ऐसा होगा, जो उन्हें अबला कह सके? वे विमानों द्वारा आकाश में निर्भय विचरती, समुद्र में निर्द्वन्द्व होकर तैरती और सड़कों पर बड़े वेग से मोटर दौड़ाती हैं। अपूर्व बल-कौशल और असि-संचालन में दक्ष होती हैं। शिक्षा तथा दीक्षा में वे आधुनिक पोंगा-पण्डितों और दढ़ियल मुल्लाओं से हज़ारगुना अधिक शिक्षित और दीक्षित होती हैं। तब फिर उन्हें अबला कहना प्रथम श्रेणी की मूर्खता नहीं, तो क्या है? हाँ, मुल्लाओं और पण्डितों की कृपा से पद-दलित हिन्दोस्तानी नारी अवश्य

अबला कही जा सकती है ! उसके सब अधिकारों को इन्हीं दोनों जन्तु-विशेषों ने राहु के समान अपना सर्वग्रासी मुँह खोलकर हड़प लिया है। शास्त्रों की दुहाई दे-देकर हमारे 'पण्डज्जियों' ने उनकी शिक्षा और दीक्षा का कचूमर बहुत पहले ही निकाल डाला है, कुलटात्व का दोषारोपण करके उनकी स्वतन्त्रता का नाश कर दिया है, और फिर उस पर तुर्रा यह कि मिताक्षरा आदि सत्यानाशी टीकाओं द्वारा उनके खाने-पीने की सामग्री पर भी छापा मारने की योजना की है। मृत्यु के समय ब्राह्मणों को दान तथा संकल्प करने की तो इन पेटुओं ने शास्त्रीय व्यवस्था करवा दी, किन्तु जिस आदमी के दान और संकल्प से इनका पेट भरता है, उसकी स्त्री और पुत्री का, पति और पिता की मृत्यु के बाद, उसकी सम्पत्ति में कोई अधिकार होने की बात ये स्वार्थी साफ हजम कर गये हैं। इसीलिए 'सर्वाधिकार पर-रक्षित' होने के कारण हिन्दोस्तानी स्त्री नितान्त 'अबला' है। उसकी दशा अत्यन्त करुण है। उसका जीवन सागर की उत्ताल तरंगों पर तैरनेवाले तिनके के समान अनिश्चित और दयनीय है। वह पशुओं से भी नीचा जीवन व्यतीत करती है।

उसका संसार में पदार्पण होते ही—हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार—पृथ्वी कई अंगुल नीचे धस जाती है। फूटी थाली को बजाकर दुनिया में उसका स्वागत किया जाता है। जन्म से लेकर बाल्य-काल तक वह प्रकृति और माता की कृपा से जीवित रहने पाती है। पिता और अन्य पुरुष-सम्बन्धियों की आँखों में तो वह काँटे की तरह चुभा करती है। बीमारी और वेदना में वह विरले ही पुरुषों की सहानुभूति पाती है।

किसी प्रकार बाल्य-काल की इन विपत्तियों से छुटकारा पाकर जब वह 8 या 9 वर्ष की होती है, तो "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी; दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला" की दुहाई मचानेवाले मूर्ख ब्राह्मण भिक्षान्न-जीवियों की आँखों में वह आमदनी का एक साधन जँचने लगती है। यजमानों के मुफ्त के माल से नाज भरने की कुठलियों के समान बढ़े हुए तोंदवाले पुरोहितजी और उलटे उस्तरे से मालिक की हजामत करनेवाले धूर्तराज हज्जाम के हाथ में उनके विवाह का प्रबन्ध सौंप दिया जाता है। 70 वर्ष के मरियल बूढ़े वर को नारदीय वानर-रूप में उपस्थित करके, रात के 2 या 3 बजे के राक्षसी मुहूर्त्त में, जब दुनिया सोती है, और बारात ऊँघती है, सत्यनारायण की कथा के श्लोकों द्वारा और "गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे" की ध्वनि के साथ, वही नापितराज तथा वही भूसुर पुरोहितजी, यहाँ टका धरवाकर और वहाँ पैसा रखवाकर, वर्तमान हिन्दू-धर्म की उस अपवित्र विवाह-वेदी पर—जिस पर लाखों मासूम बच्चियों के शैशव और सौभाग्य का बलिदान किया जा चुका है, जो करोड़ों हिन्दू-विधवाओं के नारकीय दुःखों से परिपूर्ण जीवन की प्रथम सीढ़ी और असंख्य कामुक बुड्ढों के विलास-मन्दिर की देहली है—उस अबोध बालिका का निर्दय बलिदान कर देते हैं। बाहर द्वार पर बजती हुई कर्ण-कर्कश नफ़ीरी की अप्रिय आवाज़ निस्तब्ध रात्रि के घनीभूत अन्धकार के अवगुण्ठन को चीरकर हिन्दू-गृहस्थ की चहारदीवारी के अन्दर होनेवाले इस नारकीय अत्याचार की—जिसे हमारे हृदय-हीन पण्डित विवाह के नाम से पुकारते हैं—इस गुप्त पापाचार की घोषणा-सी करती है। प्रातःकाल होता है, और रक्तवर्ण वस्त्रों से आच्छादित वर-वधू को देखकर घराती और बराती अत्यन्त प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। वे नहीं देखते कि इन रक्तमय वस्त्रों के नीचे हिन्दू-धर्म का भयानक अत्याचार छिपा हुआ है। वे नहीं जानते कि

उन लाल वस्त्रों का वह रक्त हिन्दू-अबला के बलिदान का रक्त है। कालीमाई के भक्तों के समान, निर्दोष और निरीह बकरे के रक्त की तरह, हिन्दू-अबला के इस बलि-रक्त को देखकर नृशंस हिन्दू-समाज हर्षित होता है। बेज़बान और बेबस हिन्दू-कन्या बुड्ढे ऊँट के गले मढ़ जाती है, और समाज आशा करता है कि वह कुछ न कहे, वह इस अत्याचार को, पुरुषों की इस अन्याय-लीला को चुपचाप सह ले। उससे आशा की जाती है कि वह आजन्म-बुड्ढे की मृत्यु के बाद भी—उसी खुर्राट की, जिसने उसके जीवन को मिट्टी में मिला दिया, जिसने उसके सारे सुख-स्वप्नों, सारी आशाओं, सारे हौसलों पर हरताल पोत दी, जो उसका सबसे बड़ा शत्रु और मनुष्य-रूप में उस पर पैशाचिक अत्याचार करनेवाला है, याद में सतीत्वपूर्ण जीवन व्यतीत करे! आँखों के अन्धे पण्डितों द्वारा बनाये हुए मनमाने शास्त्रों की दुहाई दे-देकर नृशंस हिन्दू-समाज नारी-हृदय की भभकती हुई विरोधाग्नि को बुझाना चाहता है। वह विधवाओं की आँखों में पहले स्वयं उँगलियाँ ठूँसकर फिर उनकी स्वाभाविक अश्रुधारा को भी रोकना चाहता है। हिन्दू-नारी की निस्सहाय और निर्बल अवस्था का इससे अधिक करुण चित्र क्या हो सकता है? जन्म से लेकर वैधव्य तक अत्याचार किये जाने पर भी उसे जी-भरकर रोने तक का मौका नहीं दिया जाता। वैधव्य की दशा में—उस दशा में, जब हिन्दू-गृहस्थों के सामाजिक जीवन में उसका कोई स्थान नहीं रह जाता, जब वह किसी भी सामाजिक तथा वैयक्तिक कार्य में भाग नहीं ले सकती, जब हिन्दू-समाज उसे मृतवत् समझ लेता है—यदि कहीं उसने पुनर्विवाह करने की इच्छा की, तो सारे हिन्दू-शास्त्रों और ब्राह्मणों, बिरादरियों तथा सम्बन्धियों की संगठित शक्ति उस मृतप्राय नारी की नन्ही-सी जान की गाहक हो उठती है। आह! बेचारी हिन्दू-अबला! उस पर किये गये शास्त्रीय अत्याचारों का यहीं अन्त नहीं होता। 'पंडज्जी' की मिताक्षरा वैधव्य में भी उस पर प्रहार करती है। उस मृतप्राय और असहाय अवस्था में भी हिन्दू-शास्त्र उस पर कायरतापूर्ण हमला करता है, हिन्दू-समाज उसका रक्त चूसना चाहता है। पति की मृत्यु के बाद पति की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। उसे केवल आजीविका-मात्र मिल सकती है। पिता की मृत्यु के बाद, यदि उसके कोई पुत्र न हुआ, तो उसकी विधवा तथा निरपत्य पुत्री उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती। दूध में पड़ी मक्खी की तरह वह पिता के घर से भी—जहाँ पति की मृत्यु के बाद, उसकी सम्पत्ति से वंचित होने के कारण, उसे प्रेमपूर्ण प्रश्रय मिला था—चार कोस दूर के सम्बन्धियों द्वारा निकाल बाहर की जा सकती है। पति और पिता की लाखों की सम्पत्ति में से उसे मुट्ठी-भर चावल भी नहीं मिल सकते। क़ानून—'पंडज्जी' की मिताक्षरा की व्यवस्था पर निर्भर क़ानून—उसके विरुद्ध है, अतएव फटी धोती पहनकर दर-दर भीख माँगने के लिए वह बाध्य हो जाती है। हिन्दू-शास्त्र की आज्ञा न होने के कारण वह पढ़-लिख भी नहीं सकती, जिससे वह अपना पेट तो भर सके। बस, चकलाख़ाना या ठीकरा, ये ही दो जीविका के साधन उसके लिए खुले हैं।

भला ठिकाना है कुछ इस अत्याचार का! भिखमंगों के इस भयानक अत्याचार के कारण ही हिन्दू-नारी अबला है।

क्या हिन्दू-समाज के नौजवान और सदियों से इन शास्त्रीय अत्याचारों को चुपचाप सहन करनेवाली हिन्दू-नारियों की वर्तमान शिक्षिता पुत्रियाँ, धर्म के नाम पर होनेवाले इस भयंकर पापाचार के विरुद्ध आन्दोलन न करेंगी? क्या

चारों ओर क्रान्ति की आग भड़कने पर भी वर्तमान हिन्दू-धर्म की इन अत्याचार-पूर्ण रूढ़ियों का नाश न होगा ? क्या संसार-भर की अबलाओं के सबला हो जाने पर भी हमारी हिन्दू बहनें अबला ही रहेंगी ?

भारतीय नारी की वर्तमान जागृति, मातृ-शक्ति की दुर्गा-मूर्ति, बहन की रण-विजयिनी शक्ति इन प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर देगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## लाहौर-कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू का अभिभाषण

पं. जवाहरलालजी के सभापतित्व में जैसे अभिभाषण की आशा की गयी थी आपने वैसा ही जोरदार विचारपूर्ण भाषण दिया है। आपने कहा—"महासभा ने इस जाति को दीर्घकाल की निद्रा से जगाकर उसके भीतर राष्ट्रीय चेतना का संचार कर दिया है, राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव मजबूत की है। आज हम लोग यहाँ एक संकटजनक मौके में आ उपस्थित हुए हैं। हमारी कितनी शक्ति है, यह हम जानते हैं, साथ ही हमारी दुर्बलता कितनी है, इसे भी हम जानते हैं। हम आशा तथा शंका दोनों को लेकर भविष्य की ओर हेर रहे हैं।" आपने जातीय इमारत की चर्चा करते हुए लिखा है—"एक-एक ईंट के सहारे हमारी जातीय इमारत तैयार हुई है। अपना बलिदान करनेवालों के शवों के ऊपर से बहुधा भारत को आगे बढ़ना पड़ा है। अतीत के वे पुरुष-सिंह आज हम लोगों में नहीं हैं। परन्तु उनकी हिम्मत हम लोगों में है। भारत-माता अब भी यतीन्द्रदास तथा विजय की तरह के आत्मदाताओं को पैदा कर सकती है।" इसके बाद सभापतित्व के लिए महात्माजी के पहले चुने जाने तथा उनके अपनी अक्षमता सूचित करने, और लोगों द्वारा जबरदस्ती अपने सभापति बनाये जाने पर शक्ति का अभाव तथा कृतज्ञता जाहिर करते हुए जाति के वर्तमान जीवन-संकट पर आपने कहा—"आज हमारी जाति के जीवन में कई गहन समस्याएँ आ गयी हैं। आप लोगों को इन कुल समस्याओं पर विचार करना होगा। आप लोग जो निश्चय करेंगे, उससे भारत के इतिहास की धारा बदल सकती है। यह समस्या केवल आप ही लोगों के सामने नहीं, तमाम संसार के सामने उपस्थित हो गयी है—सब देशों के लोग इसका सामना कर रहे हैं। आज अब विश्वास का युग नहीं रहा, साथ-ही-साथ ऐश-आराम भी चला गया है। हर विषय में आज संशय की झलक मिलती है। जो विषय हमारे पूर्व-पुरुषों के निकट बहुत पवित्र थे, अथवा अपरिवर्तनीय थे, उन सब विषयों में भी संशय की रेखा खिंच गयी है। सब जगह संशय तथा चांचल्य दृष्टिगोचर हो रहा है, जिससे राष्ट्र तथा समाज एक परिवर्तन के मुहाने पर आ पहुँचा है। स्वाधीनता, न्याय-विचार, सम्पत्ति और पारिवारिक अधिकारों के सम्बन्ध में अब तक जो धारणा चली आ रही थी, अब उस पर हमला किया गया है। फल अनिश्चित है। हम लोग इतिहास के एक सन्धि-काल में आ गये हैं। नवीन सृष्टि की सम्भावना से आज संसार चंचल हो रहा है। भविष्य हमें क्या पुरस्कार देगा, यह कोई नहीं

कह सकता। फिर भी हम एक दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि पृथ्वी की भविष्य-व्यवस्था के निर्णय में भारत का भी एक महत्त्वपूर्ण भाग रहेगा। योरपीय प्रभुता का संक्षिप्त ग्रायु-काल प्राय: समाप्त हो ग्राया है। ग्राज ग्रब केवल योरप की ग्रोर ही सबकी दृष्टि नहीं लगी है। भविष्य का ग्रवलम्ब ग्रमेरिका तथा एशिया है। मिथ्या तथा ग्रसम्पूर्ण इतिहास के पाठ से हममें से बहुतों के मन में यह भ्रम-धारणा पैदा हो गयी है कि योरप ही सदा से पृथ्वी के ग्रपर ग्रंशों पर प्रभुत्व करता ग्रा रहा है ग्रौर पश्चिमी ग्राँधी तथा वज्र के शान्त होने पर एशिया फिर ग्रध्यात्म-चिन्ता में डूब गया है। हम लोग यह भूल गये हैं कि सदियों तक लगातार एशिया के सैनिक योरप पर धावा करते रहे हैं।" इसके बाद ग्रापने भारत के स्थान निर्णय पर कहा—"संसार के ग्रान्दोलन में केवल चीन, तुर्की, फ़ारिस ग्रौर मिस्र ही नहीं, किन्तु रूस तथा ग्रपर पाश्चात्य देशों ने भी भाग लिया है। ग्राज की सभ्यता किसी एक देश ग्रथवा एक ही जाति की बपौती नहीं। सब देशों का दान लेकर इसका संगठन हुग्रा है। हरएक देश ने ग्रपने खास तरीके से उसे ग्रपनाया है। ग्राज जिस तरह संसार को देने के लिए हमारे पास कुछ है, उसी तरह संसार की ग्रपर जातियों के पास से सीखने लायक बहुत कुछ हमारे लिए भी है।" ग्रत: भारत के इतिहास की धारा पर ग्रापने विचार किया है, ग्राप कहते हैं—"भारत की समाज-व्यवस्था संसार की ग्राँखों में एक विस्मयकर सृष्टि है। इतिहास में इससे ज्यादा विस्मय पैदा करनेवाली घटनाएँ बहुत थोड़ी हैं। हज़ारों वर्ष की बाधाग्रों तथा विघ्नों को ग्रतिक्रमण कर यह समाज जीवित है। इसका कारण यह है कि भारतीय समाजसंपूर्ण परिवर्तनों को हजम कर जाने में समर्थ रहा है। ग्रादर्श की विभिन्नता को भारतीय समाज ने दूर करना नहीं चाहा, उसने चाहा है ग्रादर्शों के भीतर साम्य की प्रतिष्ठा करना। पार्सी ग्रादि जो विदेशी इस देश में ग्राये हैं उन लोगों ने भारतीय समाज में ग्रादर का स्थान प्राप्त किया है। मुसलमानों के ग्राने के बाद समाज का यह साम्य नष्ट हो गया था। परन्तु फिर भी भारत साम्य की स्थापना करता रहा। हमारे दुर्भाग्य से इस भेद के दूर होने के पहले ही हमारे राष्ट्र की व्यवस्था टूट गयी। इस देश में ग्रँगरेजों का शासन हुग्रा, हमारा पतन हो गया।" फिर ग्रापने परमत-सहिष्णुता का उल्लेख किया। कहा—"योरप ने जब धर्म के नाम पर लड़ाइयाँ लड़ीं, ग्रौर क्रिस्तान लोगों ने ईसा के नाम पर एक-दूसरे की हत्याएँ कीं, भारतवर्ष उस समय भी दूसरों के धर्म पर सहिष्णुता दिखलाता रहा है। दुर्भाग्य की बात है कि ग्राज भारत की वह सहिष्णुता नहीं रह गयी। सर्वदल-सम्मेलन ने समस्या-समाधान के लिए जो निश्चय किया, मुसलमान ग्रौर सिक्ख भाई उसका विरोध कर रहे हैं। गणित की संख्या ग्रौर सैकड़े के हिसाब की कसौटी चल रही है। छोटी संख्यावाला सम्प्रदाय यदि दृढ़प्रतिज्ञ हो, तो बड़ी संख्यावाला सम्प्रदाय उसका नाश नहीं कर सकता। यह याद रखना चाहिए कि संसार के सब स्थानों में ग्रल्पसंख्यक मनुष्य ही ग्रर्थ ग्रौर शक्ति के ग्रधिकारी होकर ग्रधिक संख्यावाले मनुष्यों पर प्रभुत्व कर रहे हैं।" धार्मिक कट्टरता पर ग्रापने कहा—"धार्मिक कट्टरता पर मुझे बिलकुल विश्वास नहीं। यह कट्टरता दूर हो रही है, देखकर मुझे हर्ष है। किसी विशेष सम्प्रदाय या धर्ममत के ग्रन्तर्गत होने पर ही कोई राज-नीतिक या ग्रर्थनीतिक ग्रधिकार ग्रवलम्बित है, ऐसा कारण खोजने पर भी मुझे नहीं मिलता। मैं जानता हूँ, शीघ्र ही धर्म ग्रौर सम्प्रदायों की छाप दूर होगी ग्रौर ग्रर्थनीति के ऊपर संग्राम शुरू होगा।" इसके बाद ग्रापने सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट पर ग्रालोचना की, फिर समझौते के दिखलावे पर कहा—"बड़े लाट का

उद्देश अच्छा है, भाषा भी मुलायम है। परन्तु बड़े लाट के विशद अभिप्राय तथा मुलायम भाषा की अपेक्षा हमारे सामने प्रतीयमान कठोर सत्य की यथार्थता बढ़कर है। ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट क्या देगी, यह उसने खुलकर नहीं कहा, न किसी निर्दिष्ट विषय के लिए उसने वचन ही दिया है। कल्पना को अत्यधिक विस्तृत किये बिना यह बात किसी तरह भी नहीं कही जा सकती कि यह आमन्त्रण कलकत्ते के प्रस्ताव का क्रियात्मक रूप है।" इधर की राजनीतिक देशी-विदेशी स्वाधिकार-शासन की बातों पर कहने के बाद आपने कांग्रेस के कर्तव्य का उल्लेख किया। आपने कहा—"सहयोगिता की शर्तें पूरी नहीं हुईं। जहाँ स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए आशा ही नहीं, वहाँ क्या हम सहयोगिता कर सकते हैं? हमारे सहकर्मी जिस समय कैद में हों, जिस समय चारो ओर दमन की ताण्डव-लीला चल रही हो, उस समय क्या हम सहयोगिता कर सकते हैं?" फिर आपने स्वाधीनता के आदर्श पर कहा—"वर्तमान समय में स्वाधीनता का अर्थ छिन्न संकीर्णता है। संकीर्ण जातीयता के दर्प से सभ्यता हैरान है। वह इस समय व्यापक सहयोगिता तथा परस्पर निर्भरशीलता चाहती है। हम जिस स्वाधीनता का प्रयोग करना चाहते हैं, वह किसी तरह भी इस व्यापक अर्थ का विरोध नहीं करती। हमारे पास स्वाधीनता का अर्थ ब्रिटिश-प्रभुत्व तथा साम्राज्यवाद के ग्रास से सम्पूर्ण मुक्ति है।" पश्चात् आपने ब्रिटिश-साम्राज्य के स्वरूप की वर्णना करते हुए कहा—"ब्रिटिश-साम्राज्य···कोई राष्ट्रसंघ नहीं। जब तक यह साम्राज्य लाखों मनुष्यों पर प्रभुत्व करेगा और अधिवासियों की इच्छा के विरुद्ध पृथ्वी के एक विशाल भू-भाग पर अधिकार कर रहेगा, तब तक ब्रिटिश-साम्राज्य इस प्रकार के किसी संघ की गणना में नहीं आ सकता। साम्राज्यवाद जब तक इसकी बुनियाद रहेगा और दूसरी जातियों को चूसना जब तक इसकी आमदनी की प्रधान राह रहेगी, तब तक यह सम्मिलित राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में ब्रिटिश-साम्राज्य पर एक राजनीतिक तूफान आया हुआ है। इस साम्राज्य के पैर उखड़ रहे हैं। इस साम्राज्य का दूसरा अंग दक्षिण आफ्रिका इससे सन्तुष्ट नहीं। आइरिश फ्री स्टेट भी इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं रहना चाहता। मिस्र दूर हटता जा रहा है। जब तक साम्राज्यवाद तथा साम्राज्यवाद के आनुसंगिक अन्याय दूर न होंगे, तब तक भारतवर्ष इस ब्रिटिश-साम्राज्य का बराबर का हिस्सेदार नहीं हो सकता। जितने दिनों तक यह सब दूर न होगा, उतने दिनों तक साम्राज्य के टुकड़े की हैसियत से रहने पर भारत को पैरों के नीचे दबकर ही रहना होगा, और उसका चूसना बाकायदा जारी रहेगा। ब्रिटिश-साम्राज्य का आलिंगन बड़ा ही ख़तरनाक है। जिस आलिंगन से प्राणों का संचार होता है, अबाध ही जिस आलिंगन का आदान-प्रदान होता है, यह वह आलिंगन नहीं। यह आलिंगन जब वैसा नहीं, तब इसे मृत्यु का आलिंगन कहना चाहिए।" तदनन्तर आपने विश्वशान्ति की बातों को फालतू बातें बतलाया, आपने कहा—"विश्वशान्ति की एक बात उठी है। संसार की भिन्न-भिन्न जातियाँ आपस में समझौता कर रही हैं। परन्तु शान्ति के समझौते पर भी अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि हो रही है। शान्तिदेवी को सिर्फ़ मीठी बातों से सन्तुष्ट रखने की कोशिश की जा रही है। एक देश जितने दिनों तक दूसरे देश पर प्रभुत्व करेगा, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय का खून चूसता रहेगा, तब तक वर्तमान व्यवस्था के रद्द करने का प्रयत्न रहेगा ही, इसके अन्दर कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती। साम्राज्य-लोलुपता और अर्थ-लोलुपता के भीतर शान्ति कभी आ नहीं सकती।" इसके बाद आपने ज़बानी जमाख़र्च पर कहा—"स्वाधीनता तथा औपनिवेशिक स्वाधिकार-शासन के सम्बन्ध में हम लोगों ने

ज़बानी तर्क-वितर्क बहुत किये हैं। परन्तु यथार्थ काम है शक्ति छीन लेना। उस शक्ति का नाम हम कुछ भी कहें, उससे कुछ आता-जाता नहीं।...यदि इस देश की छाती पर से विदेशी सैनिकों को हटा दिया जाय और अर्थनीति के पंजे से भारत को मुक्ति मिले, तो समझा जायगा कि भारत को मुक्ति मिली।" अनिच्छापूर्वक विपत्ति को गले लगानेवाले युवकों के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए आपने कहा—"हमारा परिवार उजड़ा जा रहा है। युवकगण जेल जा रहे हैं, फाँसी में लटक रहे हैं। क्या यह दृश्य हमारे लिए ताकते रहने का है? जो थोड़ी मज़दूरी पाता है, उसका त्याग कर अनशन में रहकर सत्याग्रह करना क्या उसके लिए आनन्द का विषय है? जब उनके लिए कोई चारा नहीं रह जाता, तभी वे लोग निराहार रहकर सत्याग्रह करते हैं। हम लोग जातीय संग्राम के इस विपत्ति-संकुल मार्ग को इसीलिए ग्रहण करते हैं कि सम्मानजनक सन्धि के लिए और दूसरा उपाय नहीं।" देशी राज्यों की समस्या जैसी करुण हो रही है, उस पर आप कहते हैं—"देशी राज्य अतीत काल के ध्वंसावशेष हैं। इन सब राज्यों के अधिकांश राजागण अब भी विश्वास करते हैं कि उनके अधिकार ईश्वर-प्रदत्त हैं। वे लोग दूसरों के हाथों के खिलौने होकर भी सोचते हैं, राज्य तथा राज्य की चीज़ें उन्हीं की सम्पत्तियाँ हैं, वे इच्छानुकूल उनका ख़र्च कर सकते हैं। देशी राज्य के एक राजा ने ऐसा भी कहा है कि यदि भारतवर्ष और इंगलैण्ड में लड़ाई हो, तो वे इंगलैण्ड का पक्ष लेकर मातृभूमि से लड़ेंगे। देशी नरेश यदि समझकर नहीं चलेंगे, तो उनका ध्वंस अवश्यम्भावी है।" 'कृषक तथा श्रमिक-समस्या और शिल्प वाणिज्य से दरिद्रों का सहयोग' इन विषयों पर आपने मार्क्स के विचार जाहिर किये, फिर कहा कि मनुष्य सबसे बड़ा है, रुपये के लिए हम मनुष्यों की बलि नहीं दे सकते। आपने कहा—"यदि श्रमिकों को बिना भूखों रक्खे हुए कोई शिल्प न चलता हो, तो वह शिल्प बन्द कर देना उचित है।" इसके बाद यथार्थ शक्ति का आपने उल्लेख किया। कहा—"जब तक हम यथार्थ शक्ति अर्जित न कर पावें, तब तक ये कुल आशाएँ कल्पना-मात्र हैं।" अदालत और विद्यालय के वर्जन पर आपने कहा कि इस समय स्कूल तथा अदालत के वर्जन करने की नीति की घोषणा समीचीन नहीं जँचती, पर जब संग्राम छिड़ जायगा, तब यह गैरमुमकिन है कि हमारे युवक उसमें लिप्त रहकर विद्यालय भी जाया करें, परन्तु कौंसिलों का त्याग करना ही चाहिए। प्रवासी भारतवासियों के लिए आपने कहा कि मैं उनके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना नहीं चाहता, पर इसके मानी ये नहीं कि उनसे मेरी सहानुभूति है ही नहीं। उनके भाग्य का निर्णय भारत के समरक्षेत्र में होगा। हम जिस लड़ाई के लिए कमर कस रहे हैं, वह हमारे और उनके लिए ही है। पश्चात् आपने कांग्रेस को ही जाति की आशा बतलाते हुए अपना सारगर्भित, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण समाप्त किया। यह युक्तिपूर्ण, तेजस्वी भाषण आपके स्वाधीन विचारों के अनुकूल ही हुआ है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## पण्डित जवाहरलाल नेहरू
### (जीवनी)

वर्तमान लाहौर-कांग्रेस के सभापति पण्डित जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रपति पण्डित मोतीलाल नेहरू के एकमात्र लड़के हैं। आपकी माता का नाम श्रीमती स्वरूप-रानी नेहरू है। महात्माजी ने कहा था, भारतवर्ष में ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं कि पहले साल पिता कांग्रेस का सभापति चुना जाय और दूसरे साल पुत्र। पं. जवाहरलाल अपने पिता के योग्य पुत्र हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू का जन्म 1890 ई. में हुआ। अब आपकी उम्र 40 साल से भी कम है। इतनी कम उम्र में अखिल भारतवर्षीय राजनीतिक कांग्रेस के सभापति के आसन पर, एक स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले के अतिरिक्त, अब तक दूसरा नहीं बैठा। जब पं. जवाहरलाल की उम्र 14 साल की थी, उस समय पं. मोतीलालजी ने उन्हें इंगलैण्ड के हैरो विद्यालय में पढ़ने के लिए भेज दिया। इंगलैण्ड के हैरो, ईटन आदि पब्लिक-स्कूलों में वहाँ के बड़े-बड़े घरानों के बालक ही पढ़ने के लिए जाया करते हैं। यहाँ पढ़ने समय जवाहरलालजी को इंगलैण्ड के बड़े-बड़े घरानों के लड़कों से मिलने, उनसे वार्तालाप आदि करने, उनके आचार-व्यवहार देखने तथा सीखने का अवसर मिला था। इंगलैण्ड के युवराज हैरो में जवाहरलालजी के सहपाठी थे। पं. जवाहर लाल ने इंगलैण्ड में आठ साल तक अध्ययन किया। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बी. ए. की परीक्षा पास कर आप कानून का अध्ययन करने लगे। 1912 ई. में बैरिस्टर होकर इलाहाबाद लौटे और अदालत में क़ानून का व्यवसाय करने लगे। यहाँ कुछ ही समय में आपकी प्रतिभा का लोगों को परिचय मिल गया। 1916 ई. में आपके साथ कुमारी कमला कौल का शुभ पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न किया गया। कौल-परिवार की भारत में काफ़ी प्रसिद्धि है। 1920 ई. में, जब भारत में असहयोग का डंका बजा, देश के दूसरे-दूसरे प्रतिष्ठित लोगों की तरह आपने भी कानून-व्यवसाय का परित्याग कर दिया। उसी समय से आज तक एकान्त निष्ठा के साथ आप देश की सेवा में लगे हुए हैं। गत कई सालों में आपने देश के राज-नीतिक आन्दोलनों में जो विशिष्ट स्थान अधिकृत किया है, उसी का यह पुरस्कार है कि आज आप उत्तरदायित्वपूर्ण इतने बड़े सम्मान के योग्य समझे गये हैं। असहयोग आन्दोलन के समय आपने प्रकाश्य-रूप से यह घोषणा की थी कि आप विलायती वस्त्रों की दूकान में धरना देंगे। इसके लिए दूसरे श्रोताओं को भी आपने बुलाया था। कांग्रेस-कमिटी की एक दूसरी सभा से विलायती वस्त्रों के दूकानदारों को विलायती वस्त्रों के बेचने से रोकनेवाली कुछ चिट्ठियाँ मिलीं। इस सभा के सभापति पं. जवाहरलालजी थे। इस अपराध से 385 और 505 दफ़ा के अनुसार आप गिरफ्तार कर लिये गये, और अदालत में 18 महीने के सश्रम कारावास की सजा मिली। तमाम जीवन विलास की गोद में पले हुए पं. जवाहरलाल ने देश की सेवा में यह दण्ड स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् नाभा में 145 दफ़ा के अनुसार आप पर एक मुक़द्दमा चलाया गया। इस मामले में, नाभा की अदालत में, पं. जवाहरलालजी ने जैसे बयान दिये, उनसे आपकी तेजस्विता, देशप्रेम तथा कूट-नीति के दुरूह जाल को भेद कर जाने की अपार मेधा-शक्ति का अद्भुत परिचय मिला है। यह भारत के इतिहास में चिरकाल के लिए अमर रहेगा। आपको अधिक दिन नहीं लगे, अपनी सच्ची लगन तथा सेवा के बल पर शीघ्र ही आपका स्थान

देश के प्रमुख नेताओं में हो गया। आपकी राजनीतिक चेष्टाओं के प्रथम विकास में ही जैसी निर्भीकता तथा प्रतिभा का देशवासियों को परिचय मिला, उससे वे सहज ही समझ गये कि आप एक असाधारण मनुष्य हैं। आप जैसे दूरदर्शी हैं, वैसे ही कर्मी भी। 1923 ई. से आज तक देश की अनेक बड़ी-बड़ी सभाओं के आप सभापति चुने जा चुके हैं। इन सभाओं में किसी-किसी का गौरव कांग्रेस ही के बराबर है। 1923 ई. में बनारस में होनेवाले संयुक्त-प्रदेश के राजनीतिक सम्मेलन के आप सभापति चुने गये थे। 1928 में झाँसी में होनेवाले प्रादेशिक राष्ट्र-सम्मेलन के आप सभापति चुने गये। उसी साल अमृतसर में प्रादेशिक राष्ट्र-सम्मेलन तथा दिसम्बर में कलकत्ता के अखिल वंग-छात्र-सम्मेलन के आप सभापति हुए। इस साल दिसम्बर में नागपुर में होनेवाली अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस के आप ही सभापति चुने गये थे। ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस सम्पूर्ण भारतवर्ष के श्रमिकों की सभा थी। अपर देशों की तरह भारतवर्ष में भी श्रमिक-समस्या बलवती होती जा रही है। पहले स्वर्गीय देशबन्धुदास, लाला लाजपतराय आदि इस ट्रेड-यूनियन के सभापति का आसन अलंकृत कर चुके हैं। 1928 ई. में बम्बई में होनेवाले युवक-सम्मेलन के भी आप सभापति चुने जा चुके हैं। 1927 ई. में आप फिर योरप घूमने गये। इस बार आप जहाँ भी गये, वहीं भारत की राजनीतिक समस्या का मूल तत्त्व लोगों को समझाया। इसी समय हॉलैण्ड में साम्राज्यवाद-विरोधी संघ का अधिवेशन हुआ। यहाँ भारत की तरफ़ से भारत के अधिकार की बातें आपने अच्छी तरह प्रकट कर दीं। इस सम्मेलन में संसार के समस्त पीड़ित देशों के प्रतिनिधि गये थे। पं. जवाहरलालजी ने अपनी भाषण-शक्ति तथा दूरदर्शिता द्वारा सम्मेलन के सम्पूर्ण प्रतिनिधियों को इस तरह मुग्ध कर दिया था कि आप ही इस सम्मेलन के वाइस-प्रेसिडेन्ट नियुक्त किये गये। इसके बाद आप रूस-भ्रमण करने गये, और मद्रास-कांग्रेस के कुछ काल पहले आप भारत लौट आये। इसी समय आपने महात्माजी के 'यंग इण्डिया' पत्र में रूस में वर्तमान काल की शिक्षा का किस प्रकार प्रसार हो रहा है, इसकी वर्णना करते हुए कई चित्ताकर्षक निबन्ध लिखे थे। मद्रास-कांग्रेस के कर्तव्य का निर्धारण करने में आपने एक ख़ास अंश ग्रहण किया था। आप ही के प्रयत्न से इस कांग्रेस में "पूर्ण स्वाधीनता ही भारतवासियों का राजनीतिक आदर्श है", यह प्रस्ताव ग्रहण किया गया था। इसके पहले की कांग्रेसों में मौ. हसरत मोहानी आदि नेताओं ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास कराने के लिए प्रयत्न किया था। परन्तु महात्माजी के विरोध के कारण उनकी चेष्टा व्यर्थ हुई थी। मद्रास-कांग्रेस में महात्माजी मौजूद न थे। इस कांग्रेस में आपके प्रयत्न से एक और महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ। योरप में भ्रमण करते समय आपने प्रत्यक्ष कर लिया था कि किस तरह एक दूसरे महासमर के लिए वह तैयार हो रहा है। आपके प्रयत्न से कांग्रेस ने इस मर्म का प्रस्ताव ग्रहण कर लिया कि अँगरेज़ लोग भारतवासियों को स्वाधिकार-शासन नहीं देंगे, तो भविष्य की लड़ाई में भारतवासी भी ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट को किसी प्रकार की सहायता न देंगे। कलकत्ते की कांग्रेस में भी पं. जवाहरलालजी ने प्रमुख स्थान अधिकृत किया था। इस कांग्रेस में आपने स्वाधीनता के प्रस्ताव को पास करा लेने का प्रयत्न किया था। अन्त में महात्माजी, पं. मोतीलाल नेहरू आदि नेताओं के साथ आपकी तथा सुभाषचन्द्र वसु की इस प्रकार बातचीत हुई कि एक साल के लिए स्वाधीनता की घोषणा का प्रस्ताव स्थगित रक्खा जाय। बाद खुली कांग्रेस में श्रीयुत् सुभाषचन्द्र वसु ने अपने दलवालों के आग्रह से, प्रतिज्ञा का भंग कर, स्वाधीनता के प्रस्ताव

को पास करा लेने की चेष्टा की। पर आपने प्रतिज्ञा की रक्षा की।

इस साल आप ही लाहौर की कांग्रेस के सभापति चुने गये। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद से अब तक राजनीतिक वायु-मण्डल में अनेक परिवर्तन हुए हैं, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण हैं। कांग्रेस ने गवर्नमेन्ट को एक साल के लिए जो समय दिया था, इसके अन्दर जातीय दावा पूरा करने के लिए गवर्नमेन्ट की तरफ़ से कोई उल्लेख-योग्य कार्य नहीं हुआ। बड़े लाट की घोषणा में इस सम्बन्ध की जिस आशा का संचार हुआ था, दिल्ली में होनेवाली बड़े लाट के साथ नेताओं की बैठक के उखड़ जाने से वह भी जाती रही। बस कांग्रेस के लिए स्वाधीनता की घोषणा करने के अलावा और दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। महात्माजी ने भी, 1929 की 31वीं दिसम्बर के बाद से स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन करेंगे, ऐसा कहा था। अब इस वर्ष स्वाधीनता की घोषणा हो जाने के बाद नौकरशाही के साथ देशवालों के एक विराट् संघर्ष की सम्भावना है। इस संघर्ष के समय कांग्रेस की नाव की पतवार पकड़नेवाले जवाहरलालजी कैसी दृढ़ता और कार्य-कुशलता दिखलाते हैं, यह देखना है! पं. जवाहरलाल अद्भुत तेजस्वी तथा तीक्ष्ण-धी साहसी नेता हैं। देश के काम के लिए जिस तरह वह नौकरशाही से नहीं डरते, उसी तरह वह अपनी विवेक-बुद्धि से जो कुछ ठीक समझते हैं, उसे करते हुए अपने पिता तथा राजनीतिक गुरु महात्माजी को टाल जाने में भी संकोच नहीं करते। महात्माजी ने स्वयं भी लिखा है, तेजस्विता में कोई भी उन्हें अतिक्रम नहीं कर सकता। स्वदेश-प्रेम में उनके मुक़ाबले कोई नहीं। कोई-कोई कहते हैं, वह बड़ी टेढ़ी प्रकृति के हैं। देश की मौजूदा हालत में यह एक गुण है। परन्तु सिपाही की तरह क्रूर होने पर भी उनमें राजनीतिज्ञोचित दूरदर्शिता भी है। वह हुक्म-तामीली के समर्थक हैं। कोई कार्य अपनी इच्छा से विरुद्ध होने पर भी निमन्त्रण के विचार से वह उसे कर देते हैं। वह अपनी साधारण सीमा से बहुत दूर तक विचार कर सकते हैं। वह नम्र तथा स्फटिक की तरह स्वच्छ हैं, और उनकी सत्यवादिता सन्देह के परे है। उनके हाथों से जाति के स्वार्थ की किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## इंगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध

इंगलैण्ड और भारत का जेता और विजित का ही सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में दो ही बातें प्रबल हैं, भय और दबाव, जिससे भारत के लिए तरक्की करना अत्यन्त कठिन हो गया है। जहाँ कहीं तरक्की का पौदा पनपता हुआ देख पड़ता है, वहीं उसकी जड़ काट दी जाती है। भारत हर तरह से अधिकार-रहित है। इसलिए बाहरी सम्मान का वह क़तई हक़दार नहीं। भीतर भी उसमें अनेक छिद्रान्वेषी जीव हैं, अनेक प्रकार की कमजोरियाँ हैं, जिनके दूर करने के उपायों का बड़ी बुद्धिमता से तिरस्कार किया जाता है। इंगलैण्ड के हाथ भारत एक सोने की चिड़िया फँस गयी है। वहाँ के पूंजीपति यह बात किसी तरह पसन्द नहीं करते कि

भारत को आवश्यकता से अधिक अधिकार दे दिये जायँ। इससे अँगरेज़ी व्यापार को गहरा धक्का लगता है, जिससे इंगलैण्ड की शक्ति के ह्रास होने की सम्भावना है। अँगरेज़ों का जातीय सूत्र-व्यवसाय, भारत के स्वाधिकारों से दब जायगा, यह भय वहाँवालों को सदा ही लगा हुआ है। महात्माजी के आन्दोलन के बाद से इंगलैण्ड के व्यवसायी भारत की तरफ़ से खूब सजग रहते हैं। और, ये पूँजीपति ही चूँकि प्रकारान्तर से इंगलैण्ड के विधाता हैं, इसलिए ये इतने उदार होंगें कि अपनी भलाई भूलकर भारत की भलाई का ख़याल करेंगे, यह बिलकुल भ्रान्त धारणा है। भारत अँगरेज़ी माल के खपाने के लिए अँगरेज़ों का सबसे बड़ा केन्द्र है। यहाँ से कच्चे माल की जितनी पैदावार होती है, उसका अधिकांश वहीं के व्यापारियों के हाथ लगता है, जिसके एक-एक के सैकड़ों वसूल होते हैं। शासन् अपने ही हाथ में है। सुविधा खोज लेने में दिक्कत नहीं पड़ती। अलावा इसके, अपर स्वतन्त्र राष्ट्रों में व्यावसायिक साम्य भी बहुत-कुछ है। यहाँ यह बात नहीं। यहाँ तो व्यवसाय की पराधीनता और भी कठोर तथा पीसनेवाली है। यही कारण है कि किसानों की दुर्दशा का अन्त नहीं होता। पाट, सन, रुई, गल्ला आदि जितना कच्चा माल यहाँ पैदा होता है, मुँह-माँगे दामों पर ही दिया जाता है। किसान लोगों में माल रोक रखने की दृढ़ता नहीं, और उस दृढ़ता की जड़ भी काट दी गयी है। कारण, लगान उन्हें रुपयों से देना पड़ता है, खेत की पैदावार का तिहाई-चौथाई हिस्सा नहीं। समय पर लगान देने के तकाज़े का ख्याल उन्हें विवश कर देता है, वे मुँह-माँगे भाव पर माल बेच देते हैं। यह इतनी बड़ी दासता है, जिसका उल्लेख नहीं हो सकता। आजकल के किसान यह बात भूल गये हैं कि माल उनका है, इसलिए वे ही उसके दामों के निर्णायक हैं। वे बाज़ार की तरफ़ आँखें फाड़े हुए भाव का रास्ता देखते रहते हैं। अगर कुछ दिन के लिए भी माल वे रख छोड़ें, तो समय पर लगान न दे सकने के कारण उन पर जमींदारों की बेभाव की पड़ती है। इस तरह वे सोलहो आने विवश हैं। भारत का कुल बाजार पराधीन है। अँगरेज़ व्यापारी इसकी भी खबर रखते हैं। इधर भारत की आमदनी की रक़म का भी अधिकांश ग्रेटब्रिटेन के ही पेट में पच जाता है। कितने ही गँवार यहाँ के पाये हुए प्रभूत अर्थ से पलते और चार पेग चढ़ा जाने के बाद "ब्रिटेन श्यल नेवर बी स्लेव्स" की रागिनी अपने खुरखुरे कण्ठ से अलापा करते हैं। यहाँ के आराम तथा अधिकारों को अर्थलोलुप इंगलैण्ड किसी बड़ी हद तक छोड़ देगा, इस पर राजभक्तगण भक्ति की पराकाष्ठा के प्रभाव से प्रत्यक्ष विश्वास कर सकते हैं, पर हमें इस पर बिलकुल ही विश्वास नहीं। यह जो अप्रकट इन्द्रजाल का बाक्स लेकर बड़े लाट साहब आये हैं, इस पर केवल यहीं नहीं, विलायत में भी ज़ोरों की बहस छिड़ी हुई है। विलायत का श्रमिक दल अबके चुनाव में विजयी हुआ है। वह चाहता है कि भारत को कोई भारी अधिकार सौंपा जाय। पर भारत के नमक से पलकर विलायत लौटनेवाले लॉर्ड रीडिंग तथा सर रेज़ीनाल्ड क्रेडक् आदि अनेक महोदय हैं, जिन्होंने इस समय भारत की अयोग्यता का डंका पीटने का बीड़ा उठा लिया है। आप लोग प्रबन्ध लिखते हैं, प्रचार करते हैं, वक्तृताएँ देते हैं, कहते हैं, भारत जैसा अयोग्य तथा अशिक्षित है, उसे अधिक अधिकार प्रमत्त कर दे सकता है, उसके हाथों में अधिकारों की अधिकता गयी नहीं कि अनर्थ हुआ। अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू लोग कहते हैं, भारत का उत्तरदायित्व अँगरेज़ों ने अपने हाथों में लिया है, उनके लिए यह कदापि उचित नहीं कि वे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान खो दें, अयोग्य को योग्य मान लें, नाबालिग के हाथों में अधिकार सौंप दें।

इसी भारत-हितैषी दल के साथ मिले हैं मि. विंस्टन चर्चिल। आप मशहूर साम्राज्यवादी हैं, और अनुदार दल के एक ज़बरदस्त पाधा। चिरकाल से भारत के सम्बन्ध में सरकार की जो नीति रही है, उसकी अवहेलना करने पर कौन-कौन से उपद्रवों की शंका है, इसकी एक खासी तालिका तैयार कर अब आप प्रचार के कार्य में व्रती हुए हैं। आप श्रमिक गवर्नमेण्ट से बहुत घबराये हुए हैं, और वह भारत को कोई बड़ा-सा अधिकार न दे बैठे, इसकी शंका करके आप अपने अनुभव का प्रचार तन-मन से करने लग गये हैं। आपने कनाडा-क्लब में वक्तृता देने के लिए जाकर कहा है कि कनाडा के गोरे भी इस अधिकार के देने की बात से भौंचक्के रह गये हैं। मज़ा यह कि अँगरेज़ जनरल साहब ने—बन्दा तो सिपाही है, रस की बातें क्या जाने—पेटी खोलकर रख दी है, और लेखनी उठाकर पागल इंगलैण्ड-वासियों को समझाना आरम्भ कर दिया है। आपका फ़र्माना है कि भारत अँगरेज़ों की विहार-भूमि है। यही एकमात्र स्थान है, जिसे अँगरेज़-जाति अपनी लीलाओं के लिए रख सकती है। यहाँ के लोग भी चौथे दर्जे के हैं, और जबकि तोपों के बल पर बिना किसी प्रकार की बाधा के हम लोग अपना दख़ल क़ायम रख सकते हैं, तब उसे अधिकार देना, उसके लिए स्वार्थ-त्याग की बातें करना प्रलाप के सिवा और कुछ नहीं। इस तरह अनेकानेक बातें प्रतिरोध के सम्बन्ध में रोज़ सुनने को मिलती हैं। इधर राजभक्तगणों का हाल ही और है। उन्हें बहुत बड़ी शंका है कि युवक-समुदाय, जो अपने ही बल पर स्वराज लेने की बातें कर रहा है, इससे कहीं ऐसा न हो कि जो कुछ मिल रहा है, वह भी न मिले। वे लोग बड़े समझदार की गहन-गम्भीर मुद्रा से कहते हैं—अरे चुप! सरकार की भैंसों को लाल परचे दिखाकर भड़काना ठीक नहीं! ये लोग कहाँ तक आशा और विश्वास रखते हैं, इसका पता लगा लेना बहुत कठिन है; पर इनकी इस तरह की उपदेशपूर्ण नीति में राजभक्ति की बदौलत प्राप्त पदवी-प्रसाद की तरह कोई प्रसादाकांक्षा अवश्य छिपी हुई है। भारत के सामने अब वह समय आ गया है, जब वह अपनी आशाओं तथा आकांक्षाओं की आप ही पूर्ति कर लेने के लिए तैयार हो गया है। तोपों की बदौलत ताज का गर्व अगर टिक सकेगा, तो जनरल साहब अवश्य ही उसे छोड़ेंगे नहीं। इसी तरह अपने बल पर अपने अधिकार लेनेवाले भी बिना आशाओं को पूरा किये अब हट नहीं सकते, जैसी कि उनकी दृढ़ता देख पड़ती है। ब्रिटिश जाति को भारत अच्छी तरह पहचान चुका है। अब बार-बार एक ही दाँव नहीं चल सकता। भारत ने बचत अच्छी तरह याद कर ली है। वह जितना चाहता है उतना कभी किसी से मिल नहीं सकता। ब्रिटिश-सरकार कुछ संन्यास तो ले नहीं रही, जो कहा जाय कि भई, बेचारी ने सर्वस्व दे डाला। भारत का जो कुछ खो गया है, वह पूरे अंशों में उतना चाहता है। ब्रिटिश-सरकार उसका सबकुछ दे देगी, तो आख़िर उसके पास रह क्या जायगा? उधर वहाँ के तेज़ निगाहवाले राजनीतिक यह भी समझते हैं कि जैसी हलचल मची हुई है, बिना कुछ दिये अब निस्तार नहीं। मज़दूर-दल को भी खुश करना है। काम मज़दूर ही करते हैं न? उन पर सवारी कसे बिना इंगलैण्ड के लिए भी खतरे में पड़ने का डर है। कहीं उनके विचारों ने पल्टा खाया—रूस पड़ोस ही में है—तो फिर पूँजीपति लोग अकेले राष्ट्रीयता का बोझ कैसे लादेंगे? इंगलैण्ड की ज़मीन तो कुछ लड़ेगी नहीं, दूसरों के आक्रमण पर ये मज़दूर लोग ही कटेंगे, लिहाज़ा इन्हें भी प्रसन्न रखना है। इस तरह इंगलैण्ड की प्रभुता भी रहेगी, राष्ट्रीयता में भी बाधा नहीं पड़ेगी और मज़दूरों पर पूँजीपतियों का आशीर्वादी हाथ भी फिर जायगा। यह सब वहाँ के

लोग अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए परिस्थिति को डाँवाडोल कर देने के विचार से राजनीति के हथकण्डे किया करते हैं, जिससे कोई ताड़ न सके। दो बातें लिख देने से ही जब तिल का ताड़ बन सकता है, तो 'बचने का दरिद्रता' खूब खुलकर लिखा गया, कभी इस तरह, कभी उस तरह; कोई इस ओर, कोई उस ओर।

ग्राम-पंचायत का अधिकार दिया गया, पर चुनाव में खासा तमाशा रहा; कोई भी पेंशन-याफ्ता सूबेदार, जमादार और पुलिस के मददगार नहीं बचे, जिन्हें पंच और सरपंच न बनाया हो। एक दफ़ा हमारे एक मित्र मुक़द्दमे में फँस गये। कोई छोटी-सी फ़ौजदारी थी। मुक़द्दमा डिप्टी साहब के यहाँ से वहीं के ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट के पास भेज दिया गया। ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट वज्र बहरे थे। उनके सेक्रेटरी भी बहरे थे। एक वकील साहब गये; पर बक-झककर लौट गये। मामला सुने कौन? हमारे मित्र ने एक दूसरे वकील से सलाह ली कि क्या किया जाय, तो हमारा मुक़द्दमा यहाँ से उठकर फिर डिप्टी साहब के यहाँ चला जाय। यह तो कुछ सुनते ही नहीं। वकील ने कहा—नहीं, मुक़द्दमा इस बहाने से नहीं लौट सकता, सरकार उन्हें कानवाला ही समझती है, मुक़द्दमा उठ सकता है, अगर कोई रिश्ता किसी से उनका पाया जाय। सरकार का दान ऐसा ही तुला हुआ होता है, यह यहाँवाले अब अच्छी तरह समझ गये हैं। सुभाष बाबू ने मध्य-देश के प्रादेशिक युवक-सम्मेलन में जो भाषण दिया है, तथा और-और जगहों में उन्होंने स्वतन्त्रता के अर्थ जो लगाये हैं, वे बहुत ठीक हैं। उनका कहना है कि किसी भी प्रकार की परतन्त्रता एक क्षण के लिए युवकों को सह्य नहीं होनी चाहिए। युवकगण यह नहीं चाहते कि इसमें इतना अच्छा है और इतना बुरा, इसलिए इतना छोड़कर इतना ग्रहण किया जाय। युवकों को आमूल परिवर्तन चाहिए, जहाँ सबकुछ अपना ही है, जहाँ अपनी ही प्रतिभा का चमत्कार है, अपने ही हाथों की कारीगरी है, अपने ही आदमियों की पाबन्दी है, अपने ही कर्तृत्व की अधीनता है, जहाँ परावलम्बन किसी बात में नहीं। यही इस समय अधिकांश देश-सेवकों की राय है। सब लोग इंगलैण्ड की चालों से हैरान हो गये हैं। कोई नहीं सोचता कि गोरी जातियों के सहारे से उठने का कुछ भी साधन प्राप्त न होगा। दक्षिण की महिलाओं ने शिक्षा को भी दूर कर देने की आवाज़ उठायी है। उनका कहना है, इस शिक्षा से मनुष्योचित वीर्य तथा शालीनता की प्राप्ति नहीं होती। ये इतने सब शाब्दिक आक्रमण विलायत के राजनीतिज्ञों के कानों तक पहुँचते नहीं, ऐसी बात नहीं। बल्कि इस आवाज़ को धीमा कर देने के विचार से ही, जहाँ तक जान पड़ता है, लाट साहब भारत के लिए गूलर का यह फल लेकर आये हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## फ्रेंच महावीर क्लेमेंशो

फ्रांस की राष्ट्रीय उन्नति के विधायक महावीर क्लेमेंशो का 88 साल की उम्र में स्वर्गवास हो गया। क्लेमेंशो का तमाम जीवन घोर कठोरता के भीतर से बीता

है। मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उन्होंने उसी कठोरता की साधना की। वह फ्रांस के प्राण थे। विगत महासमर में जर्मनों से हारने पर जब फ्रांस की नसें ढीली पड़ गयीं, तब इन्होंने ही उसकी शिराओं में गर्म खून बहाया था, उसे फिर से दृढ़ता-पूर्वक शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए तैयार किया था। राष्ट्र की हित-चिन्तना ही इस महावीर का एकमात्र लक्ष्य था। राष्ट्र की कठोरता के पीछे इनका जीवन इस प्रकार नीरस हो गया था कि लोगों को इनकी हिम्मत देखकर दंग रह जाना पड़ा। 24 नवम्बर (1929) की 2-15 रात्रि को इनकी आत्मा शरीर-पिंजर से निकल गयी। मृत्यु के कुछ पहले इन्होंने शेर की दहाड़ से कहा था—"मैं अपनी मृत्यु-शय्या के चारों ओर स्त्रियों को नहीं देखना चाहता। स्त्रियाँ और आँसू, इनमें से कोई मुझे पसन्द नहीं। मैं पुरुषों के सामने मरना चाहता हूँ।" औरतों की सूरत से उन्हें इतनी नफ़रत थी, और वह कमज़ोरी से इतनी घृणा करते थे कि अपर स्त्रियों का आना तो उन्होंने रोक ही दिया था, किन्तु जो दो परिचारिकाएँ उनकी सेवा कर रही थीं, उन्हें भी उन्होंने गृह से निकाल दिया था। उनकी मृत्यु के समय साधारण जनों में इतनी चंचलता बढ़ गयी थी कि फ्रेंच-सरकार की तरफ से इसके लिए ख़ास बन्दोबस्त करना पड़ा था। उनके मकान में पहरेदार लगाने पड़े थे। उनकी मृत्यु होने पर सम्पूर्ण फ्रांस में जातीय पताका गिरा दी गयी थी। लोगों ने शोक-सूचक चिह्न धारण किया था। प्रेसीडेन्ट मिस्टर डूमार्ग और प्रधानमन्त्री मिस्टर तारदू तथा और-और प्रतिष्ठित लोग इस महान् राजनीतिज्ञ के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए आये थे। इनके मरने पर अखबारों के विशेषांक निकले थे। उनमें लिखा था—"हम लोग क्लेमेंशो के प्रति विशेष श्रद्धा निवेदित करते हैं।" इस फ्रेंच-शार्दूल ने अपने पिता की समाधि के पास ही क़ब्र बनाने का आदेश दिया था। तदनुसार वेंडी-वन में उनकी क़ब्र तैयार की गयी है।

मिस्टर क्लेमेंशो 1841 ई. के सितम्बर में पैदा हुए थे। आपके पिता ने अपने चरित्र के अनुसार आपको गणतन्त्र की सेवा, कठोर कर्मनिष्ठा और अत्याचार से घृणा करने की शिक्षा दी थी। पुत्र ने अपने भविष्य के जीवन में वैसा ही किया था। शिक्षा समाप्त कर राजनीतिक मतवाद के लिए 24 साल की उम्र में ही आपको 2 महीने की सजा मिली थी। 1866 ई. में आप संयुक्त-राज्य, अमेरिका, गये। वहाँ फ्रेंच-भाषा के अध्यापक होकर जीविका चलाने लगे। वहीं एक अमेरिकन युवती से आपने विवाह किया। उससे तीन सन्तानें हुईं। 1870 ई. में फ्रांकोप्रशियन समर में डॉक्टरी का व्यवसाय लेकर आप फ्रांस वापस आये। इस लड़ाई के बाद मॉटसारस्टी-शहर के आप मेयर निर्वाचित हुए। शहर के रास्ते-घाट, शासन, स्वास्थ्य, पुलिस आदि की बुरी व्यवस्थाओं को दूर करने के लिए आपने दिलोजान से प्रयत्न किया। इसके बाद फ्रेंच पार्लमेन्ट की गलतियाँ दूर करने और उस समय के मन्त्रिमण्डल को तोड़कर, उसका पुनर्निर्माण करने का आपने बीड़ा उठाया। उस समय जैसी वाक्चातुरी, राजनीतिज्ञता तथा अध्यवसाय का आपने परिचय दिया है, उसका वर्णन करना असम्भव है। उसी समय से आपको 'व्याघ्र' कहकर लोग पुकारने लगे। 1906 में आप फ्रांस के प्रधानमन्त्री चुने गये। आपने धर्म और राष्ट्र को पृथक् कर दिया। और भी अनेक प्रकार के शासन-संस्कार किये। 1911 ई. में जर्मन-युद्ध का आभास मिलने पर आपको कुछ शंका हुई थी। 1913 ई. में आप एक सैनिक संवाद-पत्र के सम्पादक हुए। उसमें आनेवाले समर की बड़े अच्छे ढंग से आलोचना करने लगे। 1914 ई. में महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ। उस समय आपकी उम्र 74 साल की थी। पर फिर भी जैसी शक्ति तथा तत्परता का आपने

परिचय दिया, उसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। एक तो ऐसे ही फ्रेंचों की कार्य-कुशलता प्रसिद्ध है, उस पर उस समय की आपकी चातुरी, शक्ति तथा साहस आदि लासानी थे। महासमर के समय तीन साल तक आपकी दिनचर्या इस प्रकार थी—

आप रात के एक बजे या दो बजे उठते थे। सुबह से पहले अपना तमाम कार्य समाप्त कर देते थे। छः या सात बजे तक व्यायाम तथा जलपान कर चुकते थे। पश्चात् जो लोग आपसे मिलने आते, उनसे आप वार्तालाप तथा आलोचनाएँ किया करते। इसके बाद सौ-दो सौ पत्रों का उत्तर लिखते। सम्पूर्ण फ्रांस से ये सब पत्र आपके पास आया करते थे। इनसे आप अपनी जाति के मनोभावों का अध्ययन करते थे। इसके बाद झटपट कुछ भोजन करके देश की रक्षा के लिए मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होते थे। फिर आप लक्सेमबर्ग-शहर छोड़कर पेरिस जाते थे। वहाँ अपने संवाद-पत्र के लिए कार्य करते थे।

1914 ई. के सितम्बर के महीने में आपकी स्पष्टवादिता के अपराध में आपका अखबार जब्त कर लिया गया। दो दिनों के बाद आपने दूसरा पत्र निकाला, और गोले, बारूद और बन्दूकें बढ़ाने के लिए गवर्नमेन्ट पर दबाव डालने लगे। इस समय की आपकी बड़ी भयंकर-भयंकर वक्तृताएँ हैं। 76 साल की उम्र में, 1927 [1916] ई. में, आप ही की विजय हुई। आप समर-सचिव बनाये गये। उस समय फ्रांस की हालत बहुत खराब थी। वह श्रान्त, हारा हुआ, अवसाद-ग्रस्त, चिन्ताशील मृतकल्प हो रहा था। उस समय फ्रांस की नैतिक आबोहवा भी कलुषित हो रही थी। फ्रांस की इन दुर्दशा के दिनों में महावीर क्लेमेंशो—वृद्धकेसरी क्लेमेंशो, मौत को हथेली में लेकर, अपने सफेद बालों में चमकते, अपनी तनी हुई भौंहों में सोचते, तेज आँखों में दृप्त, झुर्रियोंवाले गालों में दृढ़प्रतिज्ञ युद्धभूमि में उतरे। फ्रांस की सीमा में इस बार—अन्तिम बार के लिए तोपें गरज उठीं—वीर-व्याघ्र की विजय-घोषणा हुई।

इस महान् कर्म का भार ग्रहण कर महावीर क्लेमेंशो ने एक प्रकार विश्राम छोड़ ही दिया। पश्चात् इसी बुढ़ापे में आप भारत-भ्रमण करने के लिए आये। भारत की प्राचीन सभ्यता, शिक्षा, गंगा-तट का सौन्दर्य तथा प्राचीन बनारस के दृश्यों ने आपको मुग्ध कर लिया। फिर 1922 ई. में 81 साल की उम्र में आप अमेरिका गये। अमेरिका के राष्ट्रों में फ्रांस के पक्ष से प्रचार करते रहे। 1925 ई. में आप पेरिस लौट आये। आपने दर्शन-शास्त्र तथा अन्यान्य कई विषयों की पुस्तकें लिखी हैं। मृत्यु से पहले तक, अन्तिम समय में, आपने केवल साहित्य की साधना की है। आपके जीवन की नदी अनेक प्रकार के तरंगभंगों से, अनेक मोड़ लेती हुई, बही है। आज वह सफलता के समुद्र को आलिंगन कर गयी। आप अमर हो गये।

आपकी जैसी इच्छा थी, मृत्यु के बाद आपको वेंडी-वन में ले जाकर समाधिस्थ किया गया। आपकी इच्छानुसार कब्र के पास कोई वक्तृता नहीं दी गयी। कोई शोक-प्रकाश नहीं किया गया। लड़ाई के समय आपको जो उपहार मिले थे, तथा जिस छड़ी को लेकर आप युद्ध की खाइयों की देख-भाल करते थे, वे सब भी आपके साथ समाधि में रख दिये गये हैं। संसार विश्रुत फ्रेंच-वीरांगना जोआॅन आर्क की कब्र से कुछ मिट्टी लाकर इस महावीर के शवाधार पर छोड़ी गयी। आपके प्रति अन्तिम सम्मान का प्रदर्शन पेरिस में 101 तोपों की सलामी से किया गया। फ्रांस की दुकानें बन्द हो गयी थीं। दुनिया की सब जातियों के लोगों ने आपके प्रति सम्मान-प्रदर्शन के तार भेजे हैं। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के अधिकारियों तथा प्रतिष्ठित

लोगों ने आपके गुणों की तारीफ़ की है। मि. मैकडोनाल्ड, मि. लॉयड जॉर्ज, लॉर्ड ग्रे, लॉर्ड डर्बी आदि लोगों ने आपके शौर्य, ओजस्विता, कर्म-तत्परता आदि की मुक्त-कण्ठ होकर प्रशंसा की है। सबका यही कहना है कि अपनी जाति को जैसी विपत्ति से उन्होंने बचाया है, उसे देखते हुए, वे सबकी श्रद्धा के पात्र हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राष्ट्र और नारी

संस्कृत-साहित्य में जो विधाता की आदि शृंगार-सृष्टि, वनपादपों के पादमूल में खड़ी सखियों के साथ आलबालों में जल सींचकर कौतुकालाप करती हुई, महाकवि की कल्पना की उज्ज्वल प्रतिमा, शकुन्तला वन्य वल्कलों से अपने पीन-पुष्ट भरे-उभरे हुए नवीन यौवनांगों को ढके, सलाज-सप्रेम दृष्टि से चतुर्दिक् चंचल हेरती हुई मिलती है, वह केवल नाटक की प्रधान नायिका या पुराण की कल्पित पात्री ही नहीं, किन्तु वह तत्कालीन राष्ट्र की सर्वोत्तम आदर्श नारियों की ज्योतिर्मयी साहित्य की प्रधान अभिनेत्री है। संस्कृत-साहित्य में दूसरी शकुन्तला नहीं। उसके सरस-कोमल-मधुर उपाख्यान के स्वर्गीय प्रेम का रसास्वादन करने के साथ-ही-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह तपोवन की तपस्या, प्रेममयी नारी-शिरोमणि शकुन्तला ही उस समय के एकच्छत्र सम्राट् भरत की जन्मदात्री थी। भारत की सम्राज्ञी, भारत की सम्राट्-माता शकुन्तला के चरित्र में भारत-राष्ट्र की आदर्श-नारियों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें एक ही साथ अपार रूप तथा अविचल तपस्या, एकनिष्ठ पति-परायणता तथा आश्चर्यकर ओज, एक ही देह की द्युति में लावण्य तथा कठोर संयम की विद्युत्-शिखा, अपांगों में अचूक सम्मोहनास्त्र तथा अपार धैर्य और शान्ति मिलती है। प्रेम-शृंगार जितना ऊँचा, त्याग भी उतनी दूर तक समान्तराल रेखा की तरह खिंचा चलता हुआ। यह तत्कालीन भारत-राष्ट्र की कल्याणी नारी-मूर्ति है, जिसे देखकर कामनाएँ आप ही में मुरझाकर मर जाती हैं—शान्ति के रूप में स्वर्गीय सुख का अनर्गल प्रवाह बह चलता है।

आज जो अतृप्त उद्दाम वासनाएँ विषय के आसन पर बैठने-बिठाने के लिए हमारे राष्ट्र की शिक्षित महिलाओं को सदा ही दंश दे रही हैं, जिनके ज़हर से उनका स्वर्णोज्ज्वल शृंगार-शरीर प्रतिदिन स्याह पड़ता जा रहा है, इसका कारण वास्तव में यह है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के विशद उपाय को ही वे भूल गयी हैं। वे इतनी बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप-रंग, हाव-भाव, केश-वेश आदि की तरफ़ बढ़ी हुई हैं कि उन्हें अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ़ देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। आईने में अपने चित्र को वे दूसरी स्त्रियों के चित्रों में कल्पित कर देखती हैं और उस मानसिक आदर्श से बहुत पीछे रहने के कारण अपने अम्लान रूप के पुष्प को नहीं पहचान पातीं, बल्कि उसे देख-कर पाला की मारी हुई फूली डाल की तरह मुरझा जाती हैं। यह आत्मिक दैन्य है,

जहाँ दृष्टि रूप पर नहीं, उसके साधनों पर पड़ती है, जहाँ अपने ही साथ राष्ट्र की स्वाधीन सत्ता स्वप्न के छाया-चित्रों की तरह विलीन हो जाती है, और निद्रा के क्रमश: प्रगाढ़ होते हुए स्तब्धान्धकार पर सत्य का भान होने लगता है। मरीचिका सत्य नहीं, सत्य जल ही है, और तृष्णार्त के लिए आवश्यक भी वही है; पर मरीचिका की ज्योति, रम्यता तथा आकर्षक अपार-अतुल है। तृष्णा की सतायी हुई आत्मा में क्षणिक धैर्य के आये बिना मरीचिका की माया प्रत्यक्ष भी नहीं होती। वह उसी के पीछे भटकना अपना उद्देश्य समझती है।

अभी उस दिन लखनऊ में, नारियों के समाज में, एक नेता ने रूप तथा वस्त्रों पर भाषण करते हुए कहा, "आप लोगों में वे आँखें होनी चाहिए, जिनमें रूप के सच्चे मूल्य की पहचान हो। अब विदेशी वस्त्रों से सौन्दर्य बढ़ता नहीं, बल्कि सुन्दरता घट जाती है, जैसे रूप को कलंक स्पर्श कर रहा हो।" इतना सुनते ही खद्दर की साड़ी से सजी हुई एक किशोरी, प्रभात की ज्योतिर्मयी तरंग की तरह, अपने अल्पसज्जित रूप की तरुण लहरों से उमड़ पड़ी। वहीं संसार-प्रसिद्ध भारत की आदर्श राष्ट्र-नेत्री भी बैठी हुई थीं। उनके अधरों के पल्लव अन्धकार से ढक गये। उनकी बेशक़ीमती विदेशी सूत की ज़रीदार देशी साड़ी भी अपनी रजत-श्वेत द्युति से उस अन्धकार को दूर नहीं कर सकी। उस तरुणी बालिका की अदम्य द्युति राष्ट्र की आत्मा की ज्योति थी, वहाँ प्राणों का प्याला अपने अपार रूप के गर्व से उस समय उसके लिए ऊपर तक भरकर कुछ छलक गया था, जिसकी प्रभा से सभास्थल कुछ काल के लिए तड़ित-हत, चकित, स्तम्भित रह गया था। उस अपराजित खिली हुई रूप-राशि में थोड़ी देर के लिए राष्ट्र-नारी की अभाव-शून्य अपनी ही मौलिकता से स्वर्गीय छवि आ गयी थी। इसी छवि की स्थायी प्रतिष्ठा देश की वर्तमान महिलाओं में हो, तो वे अपनी आत्मा की शक्ति तथा सौन्दर्य से परिचय प्राप्त कर सकती हैं।

इतनी ही सुन्दरता राष्ट्र की नारियों के रूप का सोलहो शृंगार नहीं, क्योंकि वस्त्र बाह्य भूषण ही है। आत्मा को अलंकृत करने के लिए उन्हें आत्मिक भूषणों की आवश्यकता है। यहाँ आता है शिक्षा तथा संस्कृति का प्रश्न। यही आत्मा के स्थायी प्रकाश हैं, जिनके खुलने पर राष्ट्र के अज्ञान के कारण होनेवाले छल-छिद्र तथा उत्पात-पीड़न अपने फैलाये हुए माया के अन्धकार में अपने को छिपा न सकेंगे, वे पाप-मुख प्रकट हो जायँगे। फिर उनके तिरस्कार के लिए देर न होगी। ज्ञान कभी भी पराधीन नहीं रह सकता। बल्कि यदि एक ही शब्द में स्वाधीनता की परिभाषा की जाय, तो वह ज्ञान ही होगा। यह ज्ञान-राशि भी यदि हर तरफ से हमारे राष्ट्र की नारियों को पराश्रित कर रखे, तो उनके हृदय से निकला हुआ स्वतन्त्रता का स्रोत भी पर-राष्ट्र-सागर-वाही होगा, उसका प्रवाह कभी भी अपने ज्ञान के महासागर की ओर नहीं हो सकता। यह दार्शनिक सत्य है। हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने राष्ट्र की महिलाओं के लिए चाहते हैं कि वे दूसरों को अपनी आँखों से देखें, अपने को दूसरों की आँखों से नहीं। और यह उपयोग सार्वभौमिक रूप से किया जाय, ताकि फिर एक बार राष्ट्र की नारियाँ पालनों पर बच्चों को झुलाते हुए, 'त्वमसि निरंजन:'-जैसे शिशु-सुप्ति-गीत गायें, और बालक नवीन यौवन के उन्मेष में सहस्र-सहस्र कण्ठों से कह उठें—"न मे मृत्यु-शंका, न मे जाति-भेद:।"

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी,1930 (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध पद्म में संकलित**]

## रूप और नारी

आकाश की आत्मा सूर्य का खुला हुआ प्रकाश ही पृथ्वी के ससीम सहस्रों पादपों के अखिल जीवों में रूप की कमनीय कान्ति खोल देता, भावना को अपार्थिव एक स्वर्गीय कुछ कर देता, भीतर से उभाड़कर भूमा के प्रशस्त ज्योतिमण्डल में ले आता है। उस स्वतन्त्र प्रकाश के स्नेह-स्पर्श से सुप्त प्रकृति की तन्द्रा छुट जाती, उसके सहस्रों रूप अपनी लाख-लाख आँखों से अपने ही विभिन्न अनेक अम्लान चित्रों को प्रत्यक्ष करते हैं, हृदय के अन्धकार की अर्गला, जिसके कारण प्रकाश-पुंज प्रवेश नहीं कर पाता, खुलकर गिर जाती, ज्योति का जगमग प्रवाह, जो चारो ओर बहता हुआ सृष्ट जीवों की स्वाभाविक स्वतन्त्रता का स्रोत खोलता फिरता है, हृदय में भर जाता है। मोह का मन्त्र-मुग्ध आवेश कट जाता, पुलकित हो हृदय, अपने हलके ऐश्वर्य से प्रसन्न, खिल जाता है, उसी तरह, जैसे ज्योति के एक ही लघु चुम्बन से पुष्पों के प्राण खुल जाते, पल्लव प्रसन्न हो हिलने-डोलने, झूमने-घूमने लगते हैं।

यह ज्योतिःप्रवाह अरूप है। जड़ों में यह चेतन-संयोग ही गति है। प्रत्येक पद पर इसका अज्ञात स्पर्श जीव-जग करता रहता है, अन्यथा दूसरा चरण उठ नहीं सकता, उसे अपनी सत्ता का निश्चय नहीं हो सकता। वह वहीं निर्जीव प्रस्तर की तरह अचल है। उसमें स्वतः विचरण की शक्ति नहीं, पृथ्वी के साथ ही उसे अलक्ष्य के इंगित से महाकाश की परिक्रमा करनी पड़ती है। जीव को हर साँस में वह स्पर्श मिलता है।

साहित्य में इस अरूप की स्वतन्त्र सत्ता को नारियों में स्थिर रूप दिया गया है। कलाविदों ने वहीं पुरुष और प्रकृति का सौहार्द, दोनों का अपार प्रेम, निरन्तर योग देखा। आकर्षण दोनों के सम्भोग-विलास में ही है, वह और अच्छा जब एक ही आधार में हो। यही बीज-मन्त्र है, जिसका जप कर उन्होंने नारियों के अगणित-अपार रूपों में सिद्धि प्राप्त की। ये सिद्ध रूप परवर्ती काल के साहित्य की आत्मा में प्राणों का प्रवाह भरते गये हैं। बाह्य महाशून्य की चेतन-स्पर्श से जगी हुई असंख्यों रूपसी-अप्सराओं की तरह ये साहित्य की पृथ्वी पर चपल-चरण, नम्र, शिष्ट, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकृति की श्री-शृंगारमयी, रूप के ऊषा-लोक में अपलक ताकती हुई, लावण्य की ज्योति से पुष्ट-यौवना युवती, कुमारिकाएँ हृदय-शून्य के चेतन-स्पर्श से जगकर उठी हुई हैं, जो मूर्त बाह्य रूप-राशि ही की तरह अमर हैं, जिनसे बाह्य स्वतन्त्रता की तरह अपार आन्तरिक स्वतन्त्रता मिलती है, और बाह्य के साथ अन्तर के साम्य का निरुपद्रव सन्देश।

रूप की चम्पा अपने स्नेह की छाया डाल पर पल्लवों के भीतर अधखुली कोमल-सरल चितवन से अपरिचित संसार को देखती, न-जाने किस अज्ञात चंचल भावावेश में डोलकर अपने गृह के पत्र-द्वार बन्द कर लेती है; अरूप के इस चपल रूप-स्पर्श से कवि के मस्तिष्क की सुप्त स्मृतियाँ तत्काल आँखें खोल देतीं, रूप की स्वर्णच्छवि चित्त के चित्र-पट पर अपनी सम्पूर्णता के साथ सुडौल अंकित हो जाती है। वह उस मूक वाणी में प्राणों का संचार कर देता है—वही प्राण, जिसका अनुभव, पुलक अभी-ही-अभी उसे रोमांचित कर चुका है। साहित्य के एक पृष्ठ में एक विकच नारी-मूर्ति, तम के अतल-प्रदेश से मृणाल-दण्ड की तरह अपने शत-शत दलों को संकुचित-सम्पुटित लेकर, बाहर आलोक के देश में, अपनी परिपूर्णता

के साथ खुल पड़ती है। जड़ों में प्राण संचरित हो जाते, अरूप में भुवन-मोहिनी ज्योतिःस्वरूपा नारी।

तरंगों की अंग-संचालन-क्रिया, अविराम-प्रवाह, पुनः-पुनः आकाश के प्रति उठ-कर उनकी चुम्बन-चेष्टा, सहस्रों भंगिमाएँ, उठ-उठ बारम्बार गिरना, गिर-गिर उठने की शक्ति प्राप्त करना, उत्थान और पतन के बीच इतना ही विराम प्राप्त कर क्रमशः बढ़ते ही जाना प्रत्यक्ष कर कवि के हृदय का, आदि-सृष्टि के रहस्य का बन्द द्वार खुल जाता है; किस तरह, कितने दुःसाध्य अध्यवसाय के पश्चात्, सहस्रों निष्फल-सफल चेष्टाओं के भीतर से आधार-पद्म की सुप्त शक्ति जाग्रत् हो सहस्रार में परमप्रिय ब्रह्म से मिलती है, वह दर्शन कर लेता है। जीवन की पराजय का फिर उसे भय नहीं रह जाता। अविराम प्यास, चिरन्तन कामना, जिसे सदा ही बहती हुई लहरों में वह देखता है, साहित्य के हृदय में प्रिया की तृष्णा के रूप से अपने अनुभव-सत्य की इस तरह की पंक्तियाँ छोड़ जाता है—

"जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपति भेल।
लाख-लाख युग हिये हिय राखनु
तयो हिय जुड़न न गेल।" (बंगला पाठ से)

भावना के हृदय में रूप की विदग्धता की आग भर देता है—नारी भावनामयी बन रूप के शिखर पर चिरकाल बैठी रहती है, अमर अक्लान्त वह अनुपम मूर्ति माइकेल ऐंजेलो की भावना-मूर्ति की तरह मनुष्य-जाति के हृदय की जाग्रत् देवी, शक्ति की अपार महिमा, सौन्दर्य की प्रेयसी प्रतिमा बनकर मनुष्य-समाज को स्वतन्त्र विचारों की ओर मौन इंगित से बढ़ाती हुई।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930 (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध पद्म** में संकलित]

## हिन्दी की अभिनय-कुशलता

भाषा की प्रसिद्धि बहुत कुछ नाटकों से भी होती है। नाटक सामयिक समाज के यथार्थ चित्र हैं। उनसे समाज की शिक्षा, सभ्यता, आचार-विचार, वस्त्राभूषण आदि तमाम बातों का पता मिल जाता है। मनोरंजन के साथ ही उनके द्वारा जो उपदेश दिये जा सकते हैं, वे शायद और किसी भी तरह से नहीं। आज जिन सुधारों के लिए अस्वाभाविक रीति से गला फाड़-फाड़कर सुधारक लोग विकट चीत्कार करते रहते हैं, वही नाटकों द्वारा आसानी से किये जा सकते हैं। नाटक के पात्रों की विवेचना में भाषा को सार्वभौमिक विस्तार प्राप्त होता है। कारण, हर एक पात्र की भाषा का उसमें विवेचन रहता है। भाषा का सुधार भी स्टेज पर ही होता है। मुहावरों का प्रयोग, उनका चमत्कार, उनकी स्वच्छता तथा सादगी के वहीं प्रमाण मिलते हैं। वहीं उनके रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं। नवीन परिच्छदों के आविष्कार भी अभिनय-शालाओं में ही हुआ करते हैं। संगीत की मिश्रित तथा मौलिक रचना

का चमत्कार प्रत्यक्ष करने के लिए रंगमंच ही सर्वोत्तम साधन है। सारांश यह कि एक ही जगह कला तथा कौशल के मनोहर चित्र, प्रकृति तथा समय के सुहावने दृश्य देखने को मिलते हैं। जिस जाति के नाटक उन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं, वह जाति अपने जातीय अभिमान के बाहरी चिह्न नहीं रखती। योरप के स्टेजों की विचित्रता, नाटकों का अपूर्व रचना-कौशल, परिच्छदों की सहस्रों कोटियाँ, वाद्य-यन्त्रों के अनेकानेक आविष्कार, नृत्य के सार्वदेशिक रूप, संगीत की मिश्रित अगणित धाराएँ, आचार-विचारों के साथ भाषा तथा भावों की नवीन ज्योतियाँ पश्चिम की स्वतन्त्रता के प्रवाह को दिन-दिन प्रखर करती जा रही हैं। उनके यहाँ नाटकों तथा उपन्यासों में भाषा के भेद बदलते ही रहते हैं। संसार की सभी जातियों का उनके पात्र अनुकरण करने की चेष्टाएँ करते हैं। यहाँ के नाटक भी वहाँ खेले जाते हैं। पर हमारे दैन्य का ठिकाना नहीं। पारसी-कम्पनियों का अनुकरण ही हिन्दी के नाटकों का जीवन है। उन्हीं की वज़ा-क़ता हिन्दी में नकल की जाती है, जिससे प्रतिदिन अस्वाभाविकता का प्रकोप बढ़ता जा रहा है। कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक भी नहीं, जो इस तमाम कूड़े को प्रवाह की नवीन नाली में बहा दे। अभी उस दिन तक हिन्दी के नाटकों में गानों की ही प्रधानता थी। जिस समय अन्य प्रान्तीय नाटक उत्कर्ष की अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए हों, उस समय हिन्दी के नाटकों में गाने की प्रधानता कितनी लज्जा की बात है! शिक्षा के अभाव ने हिन्दी-संसार को चारों तरफ़ से मेट दिया है। मारवाड़ी सज्जन, जिन्हें नाटक आदि देखने का शौक है, ज़रा देर के लिए भी इस कमी का अनुभव नहीं करते। उन्हें रुपये झोंककर मनोरंजन मोल लेने से काम। फिर वह चाहे जिसका हो, और चाहे जिस कोटि का हो। वे केवल अर्थोपार्जन करना जानते हैं, पर उसका सदुपयोग उन्हें बिल्कुल नहीं आता। कलकत्ते-जैसे विशाल नगर में मारवाड़ियों के असंख्य प्रासाद हैं। लाखों रुपये वे लोग अन्यान्य कामों के लिए खर्च करते हैं। पर वे लोग अपना रंगमंच नहीं तैयार करा सकते। हरद्वार में अपने पिता के नाम तीन धर्मशालाएँ, जहाँ चूहे भरे रहते और गीदड़ मौज करते हैं, बनवा दे सकते हैं, इसमें उनकी सद्गति हो जाती है; पर वे अपनी भाषा और अपने साहित्य की रक्षा करना नहीं जानते। रंगमंचों में चरित्र के कलुषित होने की, पूर्व-पुरुषों के नरक जाने की तथा समाज के अध:पतन की जो भावना इन अशिक्षित धन-कुबेरों में भरी हुई है, उससे और कोई सुधार नहीं हो पाता। राजे-महाराजे भी अनेक हैं। पर जिन्हें कुछ नवीनता से प्रेम है, वे बेचारे नेता बनने के लिए ही मर रहे हैं। जैसे तमाम इन बलीवर्दों के बल पर ही वे स्वतन्त्र हो जायेंगे। स्वतन्त्रता के जो आलम्बन हैं, उसके लिए जो मार्जन ज़रूरी है, समाज तथा भाषा और भावों में जो संस्कार आवश्यक हैं, उन सबको वे एक ही छलाँग में पार कर जाते हैं। इनके बिना ही कल्पना के राज्य में वे सुखपूर्वक स्वतन्त्र विचरण करते हैं। देश की मूर्खमण्डली से वाहवाही प्राप्त कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। थोड़ा-सा कुछ करने पर ही वीरत्व का डंका बजने लगता है। पर ये सब बातें एक दिन में तो होती नहीं। इनके लिए अपार धैर्य आवश्यक है। रंगमंच बनवाना, पश्चिमी कला सीखना, भाषा में मार्जन लाना, नये-नये मिश्रित स्वरों का आविष्कार करना, अभिनेत्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध करना, तमाम संसार की नाटक-कला का ज्ञान रखना कोई एक दिन का काम तो है नहीं, न इससे बहुत जल्द प्रसिद्धि ही मिल सकती है। मुमकिन है, नहीं, निश्चय है, पहले गालियाँ ही मिलेंगी। इन सब अड़चनों को पार कर साहित्य तथा समाज का महान् उपकार करे, वैसा आदमी भी तो होना चाहिए। घड़ी-भर के लेक्चर से स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनेवालों में धैर्य कहाँ। हाँ,

बुन्देलखण्ड के एक राजा साहब ने एक बार हिम्मत की थी। उन्होंने शायद दो लाख की कीमत से (कलकत्ते का) कोरिंथियन स्टेज ख़रीद भी लिया था। पर यह हिन्दी की हित-चिन्तना से प्रेरित होकर नहीं, कहते हैं, इसमें कोई गुप्त रहस्य है। ऐसे गुप्त रहस्यों में राजे-महाराजे करोड़ों रुपये लगा सकते हैं। पर इन रहस्यों के सुलझाने और मज़ा लेने से कुछ हिन्दी का उपकार तो होता नहीं, न नाटक-कला की ही श्री-वृद्धि होती है। ये सब रहस्य जिस तरह उठते हैं, वैसे ही विलीन हो जाते हैं। मारवाड़ी लोगों में भी धन-व्यय के ऐसे ही मार्ग हैं। ऐसी दशा में क्या आशा की जाय कि हिन्दी के नाट्य-संसार का मोह अचिर भविष्य में दूर होगा। काशी की नाटक-मण्डली ही ग़नीमत है। भला नक्कारखाने में तूती की आवाज़ बोलती तो रहती है। नाटकों की यह अवस्था बहुत कुछ दर्शकों की रुचि के कारण भी गिरी हुई है। हम कह चुके हैं, स्वतन्त्र नाटक समाज की रुचि के नियामक होते हैं; पर पारसी कम्पनियों के नाटक साधारण जनों की रुचि के अनुगामी। वहाँ वही ख़याल रहता है, जिससे पैसे मिलें, मौके-बे-मौके कृष्णजी के दर्शन कराये जायँ, ताकि भक्तराज मारवाड़ीगणों की बाछें खिल जायँ। वास्तव में वत्सगणों की बाछें खिल जाती हैं; पर हिन्दी की तथा नाटक-कला की जैसी दुर्दशा होती है, वह कलेजा मलकर रह जानेवाले कलाविद् ही समझते हैं। अशिक्षा-काल में बुरा-भला संगीत अच्छा लगता है, और शिक्षित दशा में भाषण-कौशल। संगीत भी, पर कम। पारसी-कम्पनियों के जो भारत-प्रसिद्ध नाटककारगण हैं, वे स्टेज के विज्ञापनों में ही प्रसिद्ध हैं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत बड़ी पैठ उनकी नहीं। कारण साधारण जनता की भूमि में चापलूसी तो चलती नहीं, वहाँ सच्चा विवेचन ही होता है। ये लोग वहाँ नहीं जाते। ये इतना जानते हैं कि अब लोग कुछ समझने लगे हैं। पर समझवाले लोगों के पास उपाय नहीं। अतः किसी स्टेशन पर 'राधे-श्याम की रामायण' सुनकर ख़रीदनेवालों का मुँह ताककर बेचारे चुप रह जाते हैं। अच्छे नाटकों के लिखने की दूसरे लोगों में रुचि भी कैसे हो? कोई समझे भी, क़द्र करे, तब न? उनके लिए स्टेज करना सम्भव है नहीं, शहर और देहात के लोगों तक उनका प्रसार हो नहीं सकता। 5 साल में 1000 प्रतियों के बिकने-न-बिकने का भय प्रकाशक को भी है। अतएव हिन्दी में नाटकों की उपज समाज की ही तरफ़ से रुकी हुई है। कलकत्ता-बम्बई-जैसे शहरों में नाटकों के द्वारा रुचि परिवर्तित करने की चेष्टाएँ की जातीं, तो अब तक रास्ता बहुत कुछ साफ़ हो जाता। परन्तु इसके लिए दिल्ली अभी बहुत दूर है। यह भी दृढ़ सत्य है कि समाज तथा जाति के उन्नयन के लिए नाट्य-संसार के मार्जन तथा संस्कार अत्यन्त आवश्यक हैं। यह कार्य भी हमारे नवयुवकों की ओर अपलक दृष्टि से ताक रहा है। जिन्हें समाज से परित्यक्त होने का भय नहीं, जो हिन्दी के उच्चारण की शुद्धता बेहोश हालत में भी रख सकते हैं, वेश्याओं के साथ पार्ट खेलने में जिन्हें शर्म नहीं, जो कला के प्राण हैं, वे ही इस अपावन संसार की शुद्धि कर सकते हैं, तभी उत्त-मोत्तम नाटकों की रचना भी होगी। अभी तो 'परिषद्' 'समिति' आदि नाटक की लाश ही ढो रही हैं। पारसी-कम्पनी के अनुकरण से नाटक और नाट्य-कला का उद्धार न होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सारदा-बिल का विरोध

सारदा-विवाह-बिल का इधर ज़ोरों से विरोध किया गया। मुसलमान भाइयों की एक पहले हड़ताल हो चुकी थी। पर अब कर्मणा भी विरोध जारी हो गया है। इसमें पुराने विचारों के पण्डित अग्रणी हैं। अभी थोड़े दिन हुए कानपुर में भी पण्डितों की एक सभा हुई थी, और 8 वर्ष की बालिका के विवाह से वैकुण्ठ में अकुण्ठित गति प्राप्त करनेवाले पण्डितों ने खूब खुलकर शास्त्रार्थ किया और सिद्ध भी कर डाला कि विना 8 साल की लड़की का विवाह किये हिन्दू-धर्म की रक्षा हो नहीं सकती। इधर देश की जैसी परिस्थिति है, इससे शायद विधवा-विवाह की ही तरह इस बिल का परिणाम होगा, और हमारा ख्याल है, बड़ी-बड़ी बातों के लिए दबाव कभी कारगर नहीं होता, उससे विपरीत फल की ही प्राप्ति होती है। लोग जिस तरह रूढ़ियों के गुलाम हैं, उन्हें स्वभाव के अनुकूल न चलने देने से उनकी आत्मा एक बड़े-से बोझ के नीचे दब जाती है, जिससे उनकी साँस रुक जाती और उन्हें हृदय की यन्त्रणा मिलती है। वे अपने पूर्व-संस्कारों की प्रदक्षिणा करते हुए ही सुखी रहते हैं। उन्हें उन्हीं संस्कारों के भीतर से संस्कारों के बाहर ले जाना है। अवश्य आशुफल की आशा रखनेवाले इतने स्थिरचित्त नहीं होते। हम अनेक बार लिख चुके हैं कि देश के दारिद्र्य तथा निर्बलता का प्रधान कारण बाल-विवाह ही है, नवीन संस्कृति की नींव मज़बूत करने के लिए आवश्यक है कि यह कुप्रथा समाज से शीघ्र दूर कर दी जाय। पर नहीं, मूर्ख जनता पर पण्डित और मुल्लाओं का जैसा प्रभाव है, ये धर्म के ठेकेदार कभी देश की मूर्ख-मण्डली को सँभलकर अपनी दशा पर विचार करने नहीं देंगे। इधर हमारे एक पण्डित लक्ष्मणजी शास्त्री द्रविड़ ने भी लड़के के विवाह से इस क़ानून का भंग किया है, और सनातन धर्म की धुरी के सामने आये हैं। गाँवों में इस समय बड़े ज़ोरों से विवाह हो रहे हैं। जिन्हें तीन साल बाद भी कन्या का विवाह करने पर रोहिणी-दान का फल प्राप्त होता, वे गौरी के पिता से भी प्रगति में आगे हो रहे हैं। मारवाड़ियों ने तो पूरे पाँच साल तक के लिए छुट्टी कर ली है। यह तमाशा देखकर देश की मानसिक दयनीय स्थिति पर दुःख होता है। समाज के अंग से यह पण्डित-पाप जब तक दूर न होगा, तब तक समाज की शिशुता से यौवन की ज्योति नहीं निकल सकती। लोग इसी तरह पुस्तकों के पन्नों में स्वतन्त्रता और धर्म की तलाश करते फिरेंगे, मनुष्य के विचारों और प्रकृति में नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## देश की स्थिति और सरकार

देश की स्थिति उत्तरोत्तर भयंकर हो रही है। सरकार की तरफ से देशवासियों का असन्तोष बढ़ता जा रहा है। जो सरकार आतंक द्वारा, कठोर शासन के

प्रभाव से, मनुष्यों की आत्मा को पराधीन कर रखना चाहती है, वह कहाँ तक बुद्धिमान् है, इसका निर्णय दूसरे ही करेंगे। सभ्य कहलानेवाली सरकार यह करेगी, यह विश्वास हमारा जाता रहा। इस दमन की पूर्व-सूचना लखनऊ-दरबार के समय बड़े लाट साहब इरविन बहादुर ने दी थी। पर उस समय देशवासियों का ध्यान शासन की इतनी कठोरता तक नहीं पहुँचा था। नेता लोग यही समझते थे कि सविनय क़ानून-भंग करनेवालों को सरकार क़ानून के दायरे की ही सज़ा देगी। पर पीछे दमन में जैसी कठोरता तथा असभ्यता दिखलायी गयी, महात्मा गाँधी भी उससे विचलित हो गये। बड़े लाट साहब को लिखी हुई अपनी दूसरी चिट्ठी में उन्होंने उसका उल्लेख भी कुछ किया है। आज दो महीने से कलकत्ता, बम्बई, मदरास, पटना, लखनऊ, पेशावर, शोलापुर, धरसना आदि देश के सैकड़ों स्थानों में पुलिस ने जैसे अमानुषिक अत्याचार निहत्थी जनता पर किये हैं, उससे देशवासियों ने ब्रिटिश जाति की सभ्य शासन-कला अच्छी तरह प्रत्यक्ष कर ली। सरकार जानती है, आन्दोलनकारी किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करेंगे, वे निश्शस्त्र हैं, इससे सरकार की फ़ौज़ निर्भय होकर उन पर आक्रमण करती है। पशु-बल का आज तक पशु-बल के द्वारा ही दूसरे-दूसरे देशों में जवाब मिलता रहा है; जहाँ उसका अभाव रहता है, वहाँ उसके नग्न ताण्डव का रूप ऐसा ही भयंकर हो जाया करता है। स्त्रियों और बच्चों के अंगों पर डण्डों की मार कर घावों से बहती हुई रक्तधाराओं को देखकर अपने शासन के सुदर्शन रूप पर इतरानेवाली अँगरेज़ सरकार के लिए उपयुक्त शब्द हमारे कोश में अभी नहीं; मुमकिन है, पीछे गढ़ लिया जाय। सरकार सब तरफ़ से हिन्दोस्तानियों पर आतंक जमाना चाहती है, और इस आतंक के अन्धकार में डालकर अभी बहुत दिन अँधेरे में भटकाते रहना ही सरकार का उद्देश्य जान पड़ता है। उधर गोल-मेज़-बैठक की चर्चा भी बड़े लाट साहब कर रहे हैं। यह सब देखकर जान पड़ता है कि यहाँ के आन्दोलन को दबा लेने के बाद सरकार की इच्छा है कि अपनी मर्ज़ी के अनुसार ही इस देश के नालायक आदमियों को कुछ हक़ वह दे दे, अन्यथा अगर यहाँ भी माँग पूरी करनी पड़ी, तो ब्रिटेन का बहुत बड़ा स्वार्थ बरबाद होगा। इसी दृष्टि को रखकर पुलिस के कार्यों की तारीफ़ की गयी है। शायद इस महकमे की तनख्वाह भी बढ़ा दी जाय। सरकारी नौकरों को बहिष्कार से बचाने के लिए आर्डिनेंस पास कर बड़े लाट साहब ने एक उपाय भी निकाल दिया है। इधर भू-स्वामी ज़मींदार, ताल्लुक़दार, राजा, महाराजाओं से भी सरकार बहुत बड़ी मदद की आशा रखती है। इस तरह अपना गरोह सँभालकर सरकार समझती है कि वह इने-गिने आन्दोलनकारियों को जेल में भरकर और जनता को बन्दूकें और मशीनगनें दिखला, उस पर आतंक जमाकर पिछले दिनों के आन्दोलन की तरह इसे भी दबा देगी।

अबके भारत में जैसा सार्वभौमिक दमन हो रहा है, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। प्रस-आर्डिनेंस के द्वारा कांग्रेस के समर्थक जनता के जितने भी मुखपत्र थे, सब दबा दिए गये। उनका प्रकाशन विवश होकर ग़रीब प्रकाशकों ने बन्द कर दिया, जिससे सरकार को दमन करने में और सुविधा हुई, और जनता की हानि। कारण, जो संवाद उस तक पहुँचते थे और जिनकी छानबीन और सत्यता पर उसे विश्वास था, उनका पहुँचना बन्द हो गया। तार सरकार के हाथ में है, अतएव ख़बरें भी सरकार की मर्ज़ी के अनुसार ही आने-जाने लगीं। जनता चाहे उन ख़बरों पर विश्वास करे, चाहे कपोल-कल्पना करती रहे। किसी सच्ची ख़बर का

तमाम देशों में, समान रूप से, एक ही समय, फैलने का जो सूत्र था—देश के अपने संवाद-पत्र, वह तार कट गया, और इससे विश्रृंखला पैदा हो गयी। सरकार को विश्रृंखला से ही शासन की सुविधा है। देश का जो सर्वमान्य महापुरुष है, उसके विचार मस्तिष्क के विकार क़रार दिये गये। इससे जनता के प्रतिनिधि की इज्जत भारत के राज-प्रतिनिधि वाइसराय के मस्तिष्क में कितनी है, यह सूचित कर दिया गया। पर मेधावी मि. बेन साहब एक मुँह से स्त्रियों और बच्चों पर डण्डे चलानेवाली पुलिस की कार्रवाइयों की तारीफ़ कर, दूसरे शब्दों में दो बड़े देशों को आन्तरिक ख़ार दूर कर मित्र-भाव से मिलने की सलाह देते हुए किस मस्तिष्क का परिचय देते हैं, यह समझाने के पहले ही समझ में आ जाता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने खद्दर की गाँधी-टोपी पहननेवालों को सताने, पकड़ने, बेइज्ज़त करने की ख़बर पा सरकार की बहुत बड़ी निन्दा की है। शोलापुर ही नहीं, लखनऊ में भी खद्दर की टोपी पहननेवाले पकड़े गये। सरकारी अदालतों में खद्दर का बहिष्कार किया गया। इस तरह सीधी राह पर चलनेवालों पर भी सरकार का टेढ़ा बर्ताव रहा, यह शायद ब्रिटेन का सभ्य शासन है, और अधिकारियों के परिष्कृत मस्तिष्क की उपज। गोलियों का चलना बन्द नहीं हुआ। नये-नये आर्डिनेंस निकलते जा रहे हैं। 144 की धूम है। जहाँ हत्याकाण्ड होता है, वहाँ जाने से देश के प्रतिनिधि नेता रोक लिये जाते हैं। इच्छानुसार सरकारी जाँच प्रकाशित की जाती है। अख़बार सच बात कहते हैं, तो उनका गला घोंट दिया जाता है। आँख के सामने जो घटना होती है, वह कही नहीं जा सकती। तरह-तरह की गलतफ़हमी फैलती और फैलायी जा रही है। हिन्दू-मुसलमानों के जिस भेद के कारण यहाँ शासन की बुनियाद सुदृढ़ है, उसे तरह-तरह की कार्रवाइयों तथा वाक्-पटुता से पुष्ट करने की कोशिशें जारी हैं। कितने ही महोदयों ने दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की मुद्रा से आन्दोलन को एकदेशीय क़रार देने के लिए कहा है कि मुसलमान इस आन्दोलन से अलग हैं। पर सबसे बड़ा हत्याकाण्ड जहाँ हुआ, उस पेशावर में अधिक संख्या मुसलमानों की ही है, और वही लोग अधिक संख्या में शहीद हुए हैं, यह उनके लिए आन्दोलन में मुसलमानों का साथ है ही नहीं। कितने ही मुसलमान नेता जेल में भर दिये गये, पर मुसलमानों को आन्दोलन से अलग ही बताया गया। इन सब बातों से हिन्दोस्तानी समझ गये हैं कि सरकार के कारगुज़ार कर्मचारियों में सत्य का अंश कितना है! महात्माजी ने बड़े लाट को जो दूसरा पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने इस सत्य को खुलासा कर दिया है—"Officials, I regret to have to say, have not hesitated to publish falsehoods to the people even during the last five weeks." धरना और कर न देने के आन्दोलन के विरुद्ध जो आर्डिनेंस निकाला गया है, इससे वाणिज्य तथा शासन दोनों की पुष्टि की ओर सरकार की कुल शक्ति लगी हुई देख पड़ती है। किसी-किसी का अनुमान है कि यदि इससे भी सरकार को सफलता नहीं मिली, तो आश्चर्य नहीं कि सरकार कांग्रेस को ही एक अवैध संस्था क़रार दे दे। महात्माजी ने जिन दीन शब्दों में, अपने देश के दुखी भाइयों के लिए, बड़े लाट साहब से, अपने पहले पत्र में, प्रार्थना की है, उनका कुछ भी असर लाट साहब पर नहीं पड़ा। उल्टे स्वाती के जल के प्यासे चातकों पर इस प्रकार आर्डिनेंस-पर-आर्डिनेंस जारी करके वज्र-प्रहार किया गया।

विलायत के पत्रों से जैसे समाचार मिल रहे हैं, वहाँ के व्यापारियों के पेट में भी चूहे अभी ही से डण्ड पेलने लगे हैं, और वे सरकार को शीघ्र समझौता कर

लेने की सलाह दे रहे हैं। यहाँ के कर्मचारी अँगरेज़ लोगों की भी जड़ हिल गयी है। वे लोग बाहर तो बड़े मुस्तैद देख पड़ते हैं, पर भीतर से, जैसा कि बड़े लाट साहब को श्रीयुत् पटेल ने लिखा था, उनका दिल हाथों बैठ गया है। कपड़े की एक ऐसी समस्या है, जिसके बहिष्कार से अँगरेज व्यापारी पागल हो जायँगे। कलकत्ते के मारवाड़ी वणिक्-मण्डल ने कुछ समय तक कपड़े न मँगाने की महामना मालवीयजी से प्रतिज्ञा की है, और बम्बईवाले भी इस पर दृढ़ हैं। तब तक अगर घर-घर चर्खे का प्रचार हो गया, और देश को वस्त्रों के लिए विदेश की राह न देखनी पड़ी, देश ही के खद्दर से काम चल गया, तो फिर और ही गुल खिलेगा। इसी की शंका से अँगरेज़ी शासन के सूत्रधारों की रात में आँख नहीं लगती। और. यह व्यवसायियों की रक्षा के लिए धरने पर आर्डिनेंस लगाकर इसी उद्देश्य की सिद्धि का विचार किया गया जान पड़ता है। सबसे मज़ेदार बात है, फ़ौज, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों को समाज से बहिष्कृत न होने देने के उपाय की उद्भावना करते हुए आर्डिनेंस जारी करना (ये तीनों नये आर्डिनेंस अभी बम्बई प्रान्त में जारी किये गये हैं, ज़रूरत पड़ने पर सरकार अन्य प्रान्तों में भी जारी कर सकती है)। कम सोचने की बात नहीं कि अब तक सामाजिक मामलों में सरकार का हाथ न था, पर अब हाथ ही नहीं, अपने नौकरों के साथ सामाजिक मामलों में सरकार पूरा साथ भी देगी। समाज के दोषों का दण्ड समाज ही देता रहा है। महात्माजी ने गिरफ़्तार होने से पहले सरकारी कर्मचारियों का—कान्स्टेबल, चौकीदार, जमादार, मुखिया, पटवारी, फ़ौज के सिपाही और सूबेदार तक तथा सरकारी दफ्तर के नौकरों का, चाहे वे डिप्टी कमिश्नर ही क्यों न हों—बहिष्कार करने की आज्ञा लिखी थी, यानी समाज के लोग इनके साथ सामाजिक बहिष्कार करें। पता नहीं, इन हुक्का-पानी-अलग-हुओं को सरकार किस तरीके से समाज में मिलायेगी। क्या अब आगे चलकर ऐसा भी होगा कि जो लोग इनका बहिष्कार करेंगे, वे सरकार के फ़ौजदारी दरिया की किसी धारा में ही बहाये जायँगे? अथवा काला पहाड़ की तरह सरकार की इन मानस-पुत्रियों के साथ एक साथ ही बैठकर उन्हें खाना खाना होगा?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## महात्माजी की गिरफ़्तारी और सरकार

यह सभी लोग जानते हैं कि आधी रात के बाद, बड़ी सावधानी के साथ, अहिंसा के अवतार वृद्ध कमज़ोर महात्मा गाँधी को सरकार के कर्मचारियों ने गिरफ़्तार किया। उस समय महात्माजी सो रहे थे। वह कोई चोर या डाकू नहीं थे। उन्हें नींद से जगाकर गिरफ़्तार किया गया। कर्मचारियों का यह तरीक़ा देखकर उनकी दिली धड़कन में शासन की उदारता और कार्य की जगह हमें शृंगाल-नीति ही दिखलायी पड़ती है, जिससे किसी तरह भी उनके प्रति हमारी श्रद्धा का उद्रेक नहीं होता। वे लोग यह कार्य दिन में भी कर सकते थे, जैसे कि प्राय: अन्यत्र और-

ग्रौर कार्यकर्ताग्रों को गिरफ़्तार किया है। यदि उन्हें उस समय भीड़ बढ़ने की शंका थी, तो इससे कोई हानि ग्रवश्य न होती। कारण, ग्रहिंसा के देवता ही उनके साथ थे, ग्रौर जिस तरह मोटर ग्रौर मोटर-लारियों पर गिरफ़्तार हुए लोगों को सरकार के कर्मचारी ले जाते हैं, उसी तरह महात्माजी को भी वे लोग ले गये थे, ग्रतः उन्हें सोच लेना था कि ग्रादमियों की दौड़ से मोटर की रफ़्तार कितनी ग्रधिक है। हर जगह मोटर के घिरने की भी कोई शंका नहीं थी कि दर्शनाभिलाषियों के लिए सरकारी कर्मचारियों को मोटर रोकनी पड़ती; कर्मचारी लोग ग्रवश्य ही मोटर पर महात्माजी की गिरफ़्तारी का डंका बजाते हुए नहीं जा रहे थे।

महात्माजी सन् 1827 के रेग्युलेशन नं. 25 के ग्रनुसार गिरफ़्तार किये गये हैं। 'प्रवासी' ने लिखा है, एक सौ तीन साल पहले लड़ाई में जिन ग्रस्त्रों का उपयोग होता था, ग्रब कोई भी सभ्य जाति उस तरह की तोप-बन्दूकें, बारूद ग्रौर गोले-गोलियों से लड़ाई नहीं करती; ग्रादमी मारने के नये-नये ग्रस्त्र ग्रौर नये-नये उपायों का निर्माण ग्रौर उद्भावना की गयी है। लेकिन महात्माजी ने जिस ग्रहिंसात्मक स्वाधीनता की लड़ाई छेड़ी है, उसके विरुद्ध ब्रिटिश-सरकार को 103 साल के पुराने जंग-लगे ग्रस्त्र को ब्रह्मास्त्र के तौर पर, काम लाना पड़ा। राजनीति-कुशल ब्रिटिशजाति की उपजाऊ शक्ति यहाँ किसी भी नये उपाय का ग्राविष्कार नहीं कर सकी। इसका ग्रर्थ यह है कि 103 साल पहले भारतवर्ष को किसी-किसी ग्रवस्था में ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी जिस उपाय का ग्राश्रय लेती थी, ग्राज 103 साल के बाद भी कम्पनी की उत्तराधिकारी ब्रिटिश सरकार के मत से भारतवर्ष की ग्रवस्था के वैसे ही कुछ होने की वजह से इस पुराने उपाय का सहारा लिया गया है। इसे देखते हुए कहना चाहिए कि ग्रँगरेजों के 103 साल की ग्रविराम ग्रौर ग्रविश्राम भारत-हितैषणा ग्रौर हित-प्रयत्न करते रहने पर भी भारतवर्ष 1827 ई. में जैसा था, 1930 ई. में भी राष्ट्रीय मामलों में मूलतः वैसा ही बना हुग्रा है। शताब्दी के बाद भी यदि भारतवर्ष सन्तुष्ट, शान्त ग्रौर ठण्डा न हुग्रा हो, तो उसकी चिकित्सा के लिए ब्रिटिश-जाति ग्रपने ज्ञान ग्रौर बुद्धि के मुग्राफ़िक़ ग्रौषध-प्रयोग ग्रवश्य ही करेगी। ग्रस्तु देश को वह तर-व-ताज़ा-दिमाग नहीं कर सकी, क्या यह ग्रकृतकार्यता ब्रिटेन के लोगों को भी स्वीकृत होगी?

महात्माजी-जैसे एक विशाल व्यक्तित्व के महापुरुष को पकड़ने के पश्चात् बम्बई की सरकार ने एक कैफ़ियत भी दी है, पर सरकार ने ग्रपने हमेशा के ग्रभ्यास की तरह जनता की रुचि की उसमें ज़रा भी परवा नहीं की। या तो सरकार समझती है कि जनता का विशेषत्व कुछ है ही नहीं, ग्रौर वह जो कुछ भी कह देगी उस पर जनता विश्वास कर लेगी ग्रथवा ग्रातंक में ग्राकर प्रभावित हो जायगी; ग्रथवा वह जो कुछ कहती है, वह सिर्फ़ ब्रिटेन के ग्रादमियों को सूचना देने के लिए। जनता की ग्रावाज़ ग्राज तक सरकार को ग्रपने रास्ते पर नहीं ला सकी। ग्रतएव टीका-टिप्पणियों का कोई फल-विशेष नहीं हो सकता। ग्रस्तु, बम्बई-सरकार ने कहा है कि जिस सविनय ग्रवज्ञा की लड़ाई में मिस्टर गाँधी प्रमुख नेता रहे हैं, उससे व्यापक रूप से क़ानून ग्रौर श्रृंखला का भंग हुग्रा ग्रौर भारत के प्रत्येक प्रदेश में जनता की शान्ति में बड़ा उपद्रव रहा। क़ानून को तोड़ना तो सत्य ही है। पर शान्ति में उपद्रव सरकार की पुलिस ग्रौर फौज ने ही विशेष रूप से किया है। संवाद-पत्रों में जहाँ कहीं से संवाद मिले हैं, पुलिस ग्रौर फ़ौज के ही ग्रत्याचारों का उल्लेख रहा है। सविनय क़ानून-भंग करनेवाले बराबर मार खाते रहे हैं, पर उन लोगों ने हाथ नहीं उठाया। कहीं-कहीं जनता ने कुछ छेड़-छाड़

ज़रूर की है। पर वे आन्दोलनकारी नहीं थे। इन सब उपद्रवों के कारण गाँधीजी कदापि नहीं हो सकते। यदि यह आन्दोलन न भी होता, तो भी उपद्रव होते रहते। देश में सविनय क़ानून-भंग करनेवालों के अलावा ऐसे भी दल हैं, जो सशस्त्र विरोध के पक्षपाती हैं। उनका प्रशमन अगर किसी ने किया है, तो एकमात्र गाँधीजी ने। लाहौर-कांग्रेस के समय जब बड़े लाट की गाड़ी को बम से उड़ा देने की प्रचेष्टा पर खेद-प्रकाश हो रहा था, उस समय बहुत-से लोग उसके प्रतिकूल-पंथी थे। ऐसी हालत में यह अशान्ति का दोष गाँधीजी पर मढ़कर बम्बई-सरकार ने एक मौलिक उद्‌भावना-शक्ति का परिचय दे डाला। अभी-ही-अभी विदेशवाले भी कोई-कोई कह गये हैं कि यदि हिन्दोस्तान स्वतन्त्र हो जाय, तो उस समय ब्रिटिश-जाति का यदि कोई मित्र भारत में मिलेगा, तो वह एकमात्र मिस्टर गाँधी होंगे।

महात्माजी की गिरफ़्तारी के और भी कई कारण दिखलाये गये हैं। कहा गया है, गुजरात में उनका बहुत ज़्यादा प्रभाव है। अहमदाबाद से डण्डी तक पैदल जाने में उनकी इस लड़ाई के प्रभाव का काफ़ी अनुमान किया गया। इस अंश में ख़ास तौर से कुछ ताल्लुकों में उनके अनुयायियों ने कठोर सामाजिक बहिष्कार का संगठन कर लिया है। साथ-ही-साथ वे जाति-च्युत कर देने का भय-प्रदर्शन करते हैं, यहाँ तक कि भोजन-पान का प्रबन्ध तोड़ देना चाहते हैं। काफ़ी तादाद में मुखियों को इस्तीफ़ा देने में मजबूर किया है। इस तरह राज-कार्य के संचालन में काफ़ी असुविधा डाल रहे हैं। इसके बाद एक बात बम्बई-सरकार ने यह भी कही है कि पिछले दिनों नमक-क़ानून तोड़ने, शराब की दूकानों में धरना देने और विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करने पर भी जब मिस्टर गाँधी को विशेष फल मिलता हुआ न देख पड़ा, तब उन्होंने किसानों को लगान न देने के लिए उकसाया।

बम्बई-सरकार ने महात्माजी पर जो लांछन लगाये हैं, अभी वे किसी मूल्य के नहीं ठहराये जा सकते। कारण, उनका विचार किसी खुली अदालत में नहीं किया गया। उन्हें पकड़कर चुपचाप जेल में बन्द कर दिया गया है। इस तरह उनकी ज़बान बन्द कर दी गयी, और अब उनके अनुयायियों पर लांछन लगाये जा रहे हैं। यह कदापि न्यायानुकूल नहीं कहा जा सकता। सरकार दण्ड दे सकती है, देगी; पर जिसे दण्ड दिया जाता है, उसे अभियोग के उत्तर देने का मौक़ा भी दिया जाता है।

बायकाट पर पटेल ने बड़े लाट को लिखा है कि भारत-सरकार के कर्मचारियों ने सामूहिक रूप से उनका बहिष्कार किया था। बड़े लाट साहब ने इस बात का कोई भी उत्तर नहीं दिया। श्रीयुत् पटेल का बायकाट करने के कारण बिना विचार के कोई क़ैद कर लिया गया हो, ऐसा सुनने में नहीं आया। सामाजिक बायकाट में समाज का ही अधिकार रहा है, और रहना चाहिए। एक समाज के लोग किसके साथ भोजन-पान करेंगे, किसके साथ नहीं, किसे सौजन्य दिखलावेंगे, कहाँ वैवाहिक सम्बन्ध करेंगे, किसे वस्तु बेचेंगे, यह समाज की स्वतन्त्रता है। आज भी दूसरे समाजों के, दूसरी जातियों के हाथ का पानी हिन्दू नहीं पीते; मसलन मुसलमानों के हाथ का पानी हिन्दू नहीं पीते थे, पर उनके शासन-काल में भी इसके लिए उन पर कोई दबाव नहीं पड़ा। अब अगर वे मुसलमानों के हाथ का पानी पियें, और अँगरेज़ों की छाँह पड़ने पर नहायें, तो इसके लिए सरकार किसी सभ्य कानून के अनुसार उन्हें रोक नहीं सकती। समाज के साथ उन लोगों

का कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता, जो उस समाज के नहीं। भारतीय समाज को जब रेल के डब्बे में 'फ़ार योरपियन्स्' लिखकर बिलकुल बहिष्कृत किया जाता है, यद्यपि वे भी उतना ही किराया देते हैं, तब सरकार रेल के किसी भी अधिकारी को इसके जुर्म में नहीं पकड़ती। बल्कि कहना चाहिए कि यह रेल-बायकाट सरकार खुद करती है, जबकि उसी की मातहत गाड़ियों का यह हाल रहता है। बायकाट शब्द ही विदेशी, आयरलैण्ड का और सभ्य प्रयोगों में आनेवाला जबकि बतलाया जाता है, तब भारतीयों ही के लिए वह किसी जुर्म का कारण कैसे बन सकता है, यह समझ में नहीं आता। हाँ, बकरेवाली कहावत समझ में आ जाती है—एक बकरा किसी की बकरी से प्रेम करता था। प्रेम से बकरी भले ही खुश होती हो, पर बकरी के मालिक बड़े नाराज़ रहते थे। एक दिन ज़्यादा कीमत पर उस बकरे को उन्होंने ख़रीद लिया। फिर मकान के सामने ही पूँछ की तरफ़ से उसे काटने लगे। लोगों ने देखा, तो पूछा, भई वाह, यह भी कोई ज़िबह करने का तरीक़ा है? उन्होंने कहा, बस चले जाइए, बकरा हमारा है, हम इसे पूँछ ही की तरफ़ से काटेंगे! अब सरकार ने भी भारत के समाज के बकरे की पूँछ पकड़ी है। देखिए, क्या होता है?

धरने से कोई फल नहीं हो रहा, यह सरकार को कैसे मालूम हुआ? और, धरने से कोई फल नहीं हुआ, इस कारण ही गाँधीजी किसानों को लगान न देने के लिए उकसाते हैं, यह भी बम्बई-सरकार को कैसे मालूम हो गया? हम नहीं जानते थे कि बम्बई-सरकार ने दिल की बात समझने (Thought reading) का ऐसा उत्तम अभ्यास कर लिया है। किसी टैक्स के देने-न-देने में निष्क्रिय प्रतिरोध करना सभ्य संसार में अवैध नहीं माना गया। हमारे देश में प्रजातन्त्र नहीं है, दूसरे देश के लोगों को टैक्स न देकर अपनी माँगों की तरफ़ दृष्टि आकर्षित करने की रीति ग्रहण करने के लिए भारतीय अनधिकारी हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीयों में बहुत लोग ऐसे हैं, जो टैक्स न देकर उसके लिए दुःख उठाने को तैयार हैं, पर प्रतिकार के लिए टैक्स न देना कोई अपराध है, यह भी स्वीकार नहीं कर सकते। गुजरात के खेड़ा ज़िले में बारडोली और जशोहर ज़िले के बन्दबिला में टैक्स न देने के कारण लोगों ने दुःख झेले हैं, परन्तु उनके कोई नेता इसलिए बिना विचार के कैद नहीं कर लिये गये!

धरसना और धारवाड़ा के नमक के कारखानों पर आक्रमण करने का एक और अपराध गाँधीजी पर लगाया गया है। आक्रमण शब्द की सार्थकता कभी सशस्त्र सिपाहियों के सामने निश्शस्त्र की नहीं होती। आक्रमण करने का जो भयावह दृश्य सरकार की आँखों में आया है, वह काल्पनिक हो सकता है, पर सत्य क़दापि नहीं। नमक के कारख़ाने में जाने का गाँधीजी का अभिप्राय था साधारण-जनों की तरफ़ से जाकर रक्षित नमक के स्वत्व पर दखल करना, जिससे लोगों के एक बड़े दुःख का निवारण हो। उनके मत से नमक पर सरकार का एकाधिकार अन्याय है। उन्होंने बड़े लाट साहब को लिखते हुए अपने पत्र में लिखा भी है कि वे अपने साथियों के साथ धरसना जाकर नमक के कारख़ाने का दखल चाहेंगे। गाँधीजी बल-प्रयोग के द्वारा, धक्के-मुक्कियों के सहारे या लट्ठबाजी का भरोसा रखकर नमक के कारख़ाने पर दख़ल करना नहीं चाहते थे। अपने साथियों के साथ उनके अधिकार माँगने के समय पुलिस उन्हें गिरफ्तार कर लेती, वे अवश्य उस समय निरस्त हो जाते, उनकी तरफ़ से कोई दंगा-फसाद न होता, फिर आक्रमण के

क्या मानी ?

बम्बई-सरकार ने गाँधीजी की ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाइयों में निहायत संयम प्रदर्शित किया है, इसका उल्लेख भी आया है। कहा गया है कि घटनाओं ने ज़ाहिर कर दिया है कि प्रकृति के नियम कठोर और अमननीय हैं, यदि मि. गाँधी के उद्यम को बिना रोक-टोक के चलने दिया जाय, तो पहले के असहयोग के प्रयत्न की तरह लहू और आग के संसर्ग से मिले हुए इतिहास की पुनरावृत्ति होगी।

खून और आग की आवृत्ति की अधिकतर सम्भावना जहाँ से थी, जहाँ वह अधिक मात्रा में मौजूद है, इधर दो महीने के इतिहास ने दिखाया कि वहीं से उसका अस्फोट हुआ। इसके लिए ज्यादा उत्तरदायी सरकार है या महात्मा गाँधी ?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## लखनऊ में गोली और पुलिस की डण्डेबाजी

लखनऊ में जो प्रकाण्ड ताण्डव नौकरशाही ने किया है, उसकी अनेक जाँचें हो रही हैं। एक रिपोर्ट कमिश्नर साहब की निकल चुकी है। दूसरी नागरिकों द्वारा नियुक्त की हुई एक कमेटी की जाँच निकली है। कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति पं. मोतीलाल नेहरू और श्रीयुत् पुरुषोत्तमदास टण्डन, जो युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के स्थानापन्न सभापति हैं, गत 2 जून को लखनऊ आये थे, पर अभी तक उनकी जाँच प्रकाशित नहीं हुई। एक जाँच सरकार की तरफ से भी हो रही है।

गत 25 मई को साढ़े पाँच बजे के क़रीब 150 से ऊपर स्वयंसेवकों का एक जुलूस कौंसिल-चेम्बर के रास्ते से होकर हजरतगंज जाना चाहता था। इस जुलूस का श्रीमती मित्रा नेतृत्व कर रही थीं। दो दर्जन महिलाएँ जुलूस के साथ थीं। जब जुलूस रायल होटल के पास पहुँचा, तब उसने देखा कि घुड़सवारों तथा पुलिस के सिपाहियों से रास्ता रुका हुआ है। इसी जगह पुलिस-सुपरिंटेन्डेन्ट तथा डिप्टी-कमिश्नर भी मौजूद थे।

पहले यहाँ श्रीमती मित्रा गिरफ्तार की गयीं। फिर महिलाओं को लारी पर चढ़ा पुलिस आलमबाग़ ले गयी, और वहाँ दो घण्टे तक रोक रखा।

इसके बाद एक सीटी बजी। बस पुलिस जुलूस पर डण्डे बरसाने लगी। स्वयंसेवक जख्मी हो-होकर गिरने और तितर-बितर होने लगे। उनके कपतान ने उन्हें वहीं लेट जाने की आज्ञा दे दी थी। स्वयंसेवकों ने इस आज्ञा का "आजादी या मौत" के नारे के साथ उचित पालन किया। इससे उन पर और भी भयंकरता तथा बेरहमी के साथ पुलिस के डण्डे बरसे। पर स्वयंसेवकों ने अपनी जगह नहीं छोड़ी, न किसी ने बदले के लिए हाथ उठाया। पुलिस की लाठियों के अविचलित-अनर्गल प्रहार से सैकड़ों स्वयंसेवक जख्मी हो गये—किसी का हाथ टूटा, किसी के पैर में चोट आयी, किसी का सिर फट गया।

जो दर्शक रास्तों, मकानों, ग्रहातों में खड़े हुए यह दृश्य देख रहे थे, उन पर भी पुलिस के डण्डे पड़े, यहाँ तक कि दर्शक स्त्रियाँ तथा बच्चे भी इस कार्य से नहीं बचे। जुलूस से दूर खड़ी श्रीमती बख्शी यह नग्न ताण्डव देख रही थीं, इस जुलूस के साथ उनका कोई ताल्लुक़ न था। जब उन्होंने ग्रपने भाई पं. हरिहरनाथ किचलू को, जो चीफ़ कोर्ट के वकील हैं, पुलिस के हाथों से मार खाते हुए देखा, तब उनसे रहा नहीं गया, ग्रौर ग्रपने भाई की सेवा के लिए दौड़ पड़ीं, उन पर भी पुलिस के क्रूर प्रहार होने लगे। इलाहाबाद की श्रीमती जे. मुशरीन एबट हाल के सहन में ग्रपने 16 वर्ष के बच्चे के साथ खड़ी थीं। उन्हें एक ग्रँगरेज़ ने बुरी तरह पीटा। फिर एक सवार ने उन्हें डण्डे मारे। उनकी कनपटी ग्रौर हाथों में चोट ग्रायी। उनके बच्चे का सिर फट गया। छोटे-छोटे दस-दस, बारह-बारह साल के कई बच्चे डण्डों की मार से घायल हुए, उनकी हड्डियाँ टूट गयीं। कांग्रेस के दफ्तर से ग्रब तक 219 ग्रादमियों के घायल होने की सूचना निकली है, ग्रौर कमिश्नर की विज्ञप्ति में 30 घायल होने ग्रौर 4 मरने की। श्रीमती मित्रा को 6 मास की सादी कैद की सजा दी गयी।

उसी रोज़ रात दस बजे फिर जुलूस निकाला गया, ग्रौर निर्भयता से घूमता रहा। इसके बाद 26 मई को ग्रमीनुद्दौला-पार्क में, जैसा कि कांग्रेस-कमेटी ने घोषित किया था, एक विराट् सभा का समावेश हुग्रा। पहले जुलूस निकाला गया। इस जुलूस के निकलने के कुछ समय पहले पुलिस के 200 सिपाही ग्रा गये, ग्रौर तमाम नाके बन्द करके खड़े हो गये, ग्रादमियों ग्रौर ट्रैफिक की ग्रामद-रफ़्त बन्द कर दी। तरह-तरह की बातें जुलूस के सम्बन्ध में हो रही थीं। 200 गोरों की एक पलटन ग्रा गयी, ग्रौर उसने पार्क को ग्रपने चार्ज में ले लिया। सिपाहियों की इतनी भीड़ देखकर लोगों में भय तथा कौतुक का संचार होने लगा, ग्रौर रास्तों पर धीरे-धीरे भीड़ बढ़ती गयी। फौज के एक ग्रफ़सर ने ग्रमीनुद्दौला-पार्क में फहरा रहे राष्ट्रीय झण्डे को उखाड़कर जमीन पर फेंक दिया। जुलूस उसी तरह जय-घोष के साथ घूमता-फिरता कांग्रेस-कमेटी के दफ्तर पहुँचा। इस समय पार्क से फौज़ हटा ली गयी ग्रौर गिराये हुए जातीय झण्डे को लोगों ने भीतर घुसकर फिर खड़ा कर दिया। फिर उधर पुलिस की चौकी के पास जनता ग्रौर पुलिस में कुछ छेड़-छाड़ होने लगी। पुलिस ने गोलियाँ चलायीं। कितने मरे, इसका यथार्थ हाल नहीं मालूम। हाँ, शहरवालों का दिल इस बात को जानता है कि गोलियाँ कितनी भयंकरता से चलीं। इस पर जाँच के पश्चात् ही कुछ लिखना ठीक होगा। सरकार की ग्रोर से एक जज पूरी जाँच करने के लिए मुक़र्रर हुए हैं।

इसके बाद से ग्रमीनाबाद ग्रौर ग्रमीनुद्दौला-पार्क में ग्रब तक फौज़ ग्रौर पुलिस का राज्य है। कोई हवाखोरी के लिए पार्क के भीतर नहीं जा सकता। फुट-पाथ पर घोड़े लीद करते हैं।

उधर गाँधी-टोपीवाले पकड़े जाते थे ग्रौर मोटर-लारियों द्वारा दूर ले जाकर छोड़ दिये जाते थे। फिर पथिकों की छड़ियाँ ग्रौर डण्डे छीनने की धूम रही। ग्रभी करफ्यू ग्रॉर्डर ज़ारी है। 15 दिन के लिए था, ग्रब 15 दिन के लिए ग्रौर बढ़ा दिया गया है। दो रोज़ मोहर्रम के वक्त ग्रार्डर उठा लिया गया था। छः-छः स्वयंसेवकों का जत्था इस ग्रॉर्डर को भंग करने के लिए रोज़ निकलता ग्रौर गिरफ्तार होता है। मोहर्रम के दो रोज़ जत्थे का निकलना बन्द था। इधर जत्थे के साथ जय बोलनेवाले साधारण लोग भी गिरफ्तार कर लिये जाते हैं। कालाकाँकर-नरेश के छोटे भाई कुँग्रर सुरेशसिंहजी भी ग्रपना जत्था निकालकर गिरफ्तार हो

गये हैं। उनके साथ कुँअर शालिवाहनसिंह तथा कुँअर नरेन्द्रसिंह भी गिरफ्तार हुए हैं। 6 आदमियों के जत्थे के साथ 11 दर्शक गिरफ्तार किये गये। आदमियों की आमदरफ्त बहुत कम होती है। बाजार की दशा निहायत शोचनीय है—बिक्री बहुत कम होती है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## नौकरशाही का महिलाओं पर हमला

आज तक सभ्य संसार में स्त्रियों की जैसी इज़्ज़त की गयी है, शायद अँगरेज़ सरकार इसके लिए सबसे बढ़कर अपना दावा पेश करेगी। स्त्रियाँ अपने देश की हों या विदेश की, विशेषतः निस्सहाय अवस्था में वे शत्रुओं के निकट भी सुरक्षा की अधिकारिणी हैं। पर अपनी शिक्षित और सभ्य महिलाओं पर गर्व करनेवाली अँगरेज़ सरकार दूसरी जाति की स्त्रियों को किस दृष्टि से देखती और उनका कैसा सम्मान करती है, इसका इससे बढ़कर और दूसरा कौन-सा उदाहरण होगा कि लखनऊ की सत्याग्रही महिलाओं को शहर से बाहर आलमबाग़ ले जाकर वहाँ दो घण्टे तक रोक रखने के पश्चात् रात्रि के समय उन्हें भटकते फिरने, हैरान होने और असहाय अवस्था में गुण्डों से अपनी आत्म-रक्षा करने के लिए छोड़ दिया गया! जो महिलाएँ कभी पर्दे के बाहर नहीं हुईं (और इस प्रान्त की प्रचलित पर्दा-प्रथा को अर्द्धाधिक शताब्दि से पूर्ण शासन करनेवाली सरकार जबकि जानती थी, ऐसी हालत में), उनके प्रति यह व्यवहार क्या सरकार के कर्मचारियों द्वारा किया हुआ उनका अपमान नहीं? आलमबाग़ में किसी राजनीतिक उद्देश्य से महिलाओं को सरकार के लोग नहीं ले गये; वहाँ उनसे कोई ज़बान-बन्दी नहीं ली गयी; वहाँ किसी हवालात या पुलिस-स्टेशन में उन्हें नहीं रक्खा था; अगर भीड़ हटाना ही एक बहुत बड़ा राजनीतिक उद्देश्य था, तो वे महिलाएँ शहर में ही रोक रक्खी जा सकती थीं, और वहाँ से भी लारियों में लाकर शहर में छोड़ दी जा सकती थीं, और जबकि ऐसा नहीं किया गया, तब इसके समझने में किसी को कोई दिक़्क़त नहीं पड़ती कि भारतीय स्त्रीत्व की सरकार के लोग कितनी इज़्ज़त करते हैं।

बंगाल की महिलाओं के साथ जो दुर्व्यवहार सरकार के पोष्य पुत्रों ने किया है, उसका उल्लेख संवाद-पत्रों के पाठक पढ़ चुके हैं। हम यहाँ एक उद्धरण 'अमृतबाजार-पत्रिका' से लिया हुआ 'माडर्नरिव्यू' का पेश करते हैं—

"The following is a list of Satyagrahis who are said to have been beaten and insulted by the police on Tuesday, the 6th of May, 1930, at Kholakhali, a village near the town of contai, whilst they were protecting the National Flag. I was sent there by the Bangiya Ain Amanya Parishad on the 10th of May, 1930 to investigate and give a medical report of the wounds received by those women."

(1. Padmavati—aged 40)

A bruise just under the right clavicle 4 in. by 3 in. It is said to have been caused by the tread of a booted policeman as she fell down.

(2. Durga Dasi—aged 30)

Swelling and tenderness of right wrist. Said to have been caused by a "lathi" blow.

(3. Rajeswari—aged 25)

A lacerated wound at upper part of forehead near the midline about $\frac{1}{2}$ square inch in area and 1/8 in. deep. Said to have been caused by the pointed end of a 'dao'.

(4. Kurani Dasi—aged 50)

Two abrasions on the dorsum of the right foot each about 9 Square inch in area. An abrasion on the medial side of the big toe of left foot 1/4 square inch in area. All three abrasions are said to have been caused by the tread of booted policeman. A bruise on the calf muscles on the right leg 5 in. by 3 in.

A bruise on the left buttock 3 inches long and 1/4 inch broad. Said to have been caused by a whip.

(5. Biraja Dasi—aged 30)

Three linear bruises running transversely each about 2 in. long and 1/4 in. broad on the anterior aspect of the right thigh. Said to have been caused by a whip.

(Sd.) MAITREYEE BASU,
M. B., Contai,
The 10th May, 1930.

इसमें जो पाँच महिलाएँ—पद्मावती, दुर्गादासी, राजेश्वरी, करनीदासी और विरजादासी—आयी हैं, ये सब खोलाखाली (बंगाल) में जातीय झण्डे की रक्षा कर रही थीं। उसी समय उन पर पुलिस का हमला हुआ, और पाँचों पुलिस की मार और गुण्डेशाही से घायल होकर कांथी के अस्पताल में ले जायी गयीं। किसी को बूट-समेत पुलिस के नौकरों ने रौंदा, किसी को लाठी मारी, और किसी को चाबुक से पीटा, जिसका उल्लेख घावों के साथ कांथी की डॉक्टर मैत्रेयी वसु एम. बी. ने किया है।

यह पुलिस के कृत्यों का जीता-जागता चित्र है, और नौकरशाही भारतीय स्त्रीत्व को किस दृष्टि से देखती है, उसका ज्वलन्त प्रमाण। इधर श्रीमती मुशरींन ने लखनऊ के मामले पर सरकारी जाँच में जो बयान दिया है, वह भी देखने लायक़ है—"...हुसेनगंज के चौराहे पर बहुत-से पुलिस कान्स्टेबुलों ने ताँगे को रोक लिया। तब हम लोग ऐबट रोड के किनारे ऐबट हाल के सामने फुटपाथ पर खड़े हो गये। वहाँ बहुत आदमी नहीं थे। रायल होटल के चौराहे पर पुलिस के कई सिपाही थे। मैंने बहुत-सी लाल पगड़ियाँ रायल होटल में भी देखीं। पुलिस ने रायल होटल के पास जुलूस को रोक लिया...उस समय ऐबट हाल के मैदान के फाटक खुल गये थे, और हम उसी हाते में चले गये। अब एक सीटी की आवाज

सुनायी दी, और रायल होटल से बहुत-से लट्ठबन्द सिपाही आते हुए दिखायी दिये तथा लाठियों की वर्षा शुरू हो गयी। इस समय वालंटियर 'शान्ति-शान्ति' कह रहे थे, और पब्लिक 'शेम-शेम' चिल्ला रही थी।

"उस पर दर्शकों का भी पीटना शुरू हुआ, और लोग भागने लगे। पुलिस उनका पीछा कर रही और उन्हें पीट रही थी।...सत्याग्रही कह रहे थे—'आजादी या मौत!' उनके कपड़ों पर ख़ून दिखलायी दे रहा था। इसके बाद पुलिस ने उनके हाथ या टाँग पकड़कर, घसीटते हुए, पास कच्ची नाली में डाल दिया। इस समय मैं हाते में एक ज़ख्मी आदमी को देख रही थी। मुझे किसी ने पीछे से धक्का दिया। पीछे घूमने पर देखा, 15-20 पुलिस के सिपाही आदमियों को पीट रहे थे। ...घूमकर मैंने देखा, एक पुलिस अफ़सर हाथ में डण्डा लिये हुए खड़ा था। मैंने उससे पूछा कि मैं कहाँ जाऊँ। इसके उत्तर में उसने मेरे सिर पर एक डण्डा मारा। इस मार से में चौंधिया गयी। मैंने अपना चेहरा अपने हाथों से थाम लिया। इस पर भी उसने मेरे हाथ पर एक डण्डा मारा। फिर मेरी पीठ पर एक डण्डा पड़ा, और मुझे धक्का दिया गया। जब मैंने अपने चेहरे पर से हाथ उठाया, तो देखा, पुलिस के सिपाही लोगों को पीट रहे थे। मेरे भाई किचलू को (यह चीफ़कोर्ट के वकील हैं।—सं०) भी मारा गया, और वह गिर पड़ा। तिस पर भी तीन-चार सिपाही मेरे भाई को डण्डों से मार रहे थे। मैं बरामदे में चली गयी। वहाँ भी पुलिस-वालों ने मुझे डण्डे मारे तथा एक सिपाही ने मुझे नीचे गिरा दिया। नीचे आकर मैंने देखा कि मेरा सोलह साल का पुत्र ज़मीन पर पड़ा हुआ है, और उसके सिर से ख़ून निकल रहा है। मैं चिल्लायी कि लड़के को लोग क्यों मार रहे हैं। इससे मुझ पर फिर डण्डे पड़े। मैं जिधर गयी, उधर मुझ पर मार पड़ी। पुलिसवाले गाली भी बक रहे थे। थोरी देर बाद पुलिसवाले चले गये। मेरी बहन की बहुत बुरी हालत थी। वह बेतरह पीटी गयी थी। मेरे भाई भी बुरी तरह पीटे गये थे।

"मैं अपनी बहन के लड़के को ढूंढ़ने बाहर गयी। फाटक पर बहुत-से सिपाही थे, जो मुझ पर झपटे। पर फिर लौट गये।...मेरे आठ घाव थे, श्रीमती बख़्शीजी के सात, मेरे लड़के के सात तथा मेरे भाई के बहुत-से ज़ख्म थे। डॉक्टर ताराचन्द मेरे भाई के पास रात-भर रहे थे, क्योंकि उनकी हालत बहुत ही ख़राब थी। जनता वहुत शान्त थी, और मारने से पहले कोई चेतावनी नहीं दी गयी।"

यह ब्रिटिश सरकार के रक्षण में भारत की स्त्रियों का हाल है!

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## समाज और मनुष्य

हमारे देश के किसी-किसी नेता ने कहा है कि समाज में जो कमजोरियाँ हैं, उन्हें दूर करने के उपाय स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् सोचे जायँगे। स्वर्गीय स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती महाशय भी इसी विचार के मनुष्य थे। शासन जब तक अपने हाथों में नहीं, तब तक समाज की बुराइयों को दूर कर उसे आधुनिक युग के

अनुकूल करना बहुत कठिन है, यह उन्हीं की दृष्टि से सत्य है, जो समाज को अपनी ही कल्पना से देखते हैं, और उसे किसी मशीन की तरह अपनी ही इच्छा के अनुसार चलाना चाहते हैं। हमारे विचार से बाह्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति अपने ही भीतर के विचार तथा उद्यम से होती है। अतः यहाँ स्वतन्त्रता के बीज हमें मनुष्यों के हृदय में ही मिलते हैं। जो लोग अपनी उच्च शिक्षा, अपार उद्यम, यथेष्ट त्याग और अलंघ्य साहस के बल पर जन-नायकत्व प्राप्त कर इस प्रकार की बातें करते हैं, वे अपनी अबाध शक्ति से लक्ष्य तक पहुँचकर कुछ अकर्मण्य मनुष्यों को भी अपने साथ ही खींच ले जाते हैं, उनकी योग्यता और अयोग्यता, शक्ति और दुर्बलता का विचार नहीं करते। इस तरह प्रायः ऐसा होता है कि समाज कुछ दूर चलकर फिर उनका साथ नहीं देता और यह उनकी मानसिक स्थिति को देखते हुए स्वाभाविक भी कहा जा सकता है। नेता लोग स्वयं जितने योग्य हैं, समाज को उस योग्यता की कल्पना तक करने के काबिल नहीं कर लेते। फल यह होता है कि वे आगे खींचते हैं, और कुछ दूर उठकर, सामर्थ्य के न रहने के कारण, आगे बढ़ने से घबराया हुआ समाज, प्रतिक्रिया के रूप से, फिर अपने पूर्व स्थान को पहुँचना चाहता है, जिससे नेताओं के आगे खींचने और समाज के पीछे हटने के विरोधी गुणों से शक्ति का व्यर्थ ही नाश होता है।

मनुष्य यन्त्र नहीं। उससे कुछ कराया नहीं जा सकता। वह कोई काम तभी कर सकता है, जब उसका तात्पर्य वह स्वयं अच्छी तरह समझे। इन तमाम बातों के समझने के लिए नेताओं में जितनी शिक्षा सन्निवेशित है, उसका शतांश भी समाज के लोगों में नहीं, और यन्त्र भी वे नहीं हैं। यही कारण है कि जब किसी महान् लक्ष्य पर पहुँचना होता है, और समाज को अपने पूर्वाधिकृत गुण और कर्म छोड़ने पड़ते हैं, तब कुछ काल के लिए वह छोड़ भले ही दे, पर जब किसी कठिन समस्या का सामना उसे करना पड़ता है, तब अपने विचारों की असमर्थता के कारण वह अपना पूर्व-मूषिकत्व ही पसन्द करता है, वह यन्त्र की तरह फिर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ना चाहता। इसका कारण यही कि वह स्वयं एक विचार करनेवाला मनुष्य है। अब तक वह प्रेरित होकर इतनी दूर तक आया था, अब उस प्रेरणा पर वह स्वयं विचार करने लगा, और जिस कठिनाई का उसे सामना करना पड़ा है, उसे वह अपनी इस प्रगति के कारण ही होते हुए समझने लगा, इसलिए लौट गया। मनुष्य-जाति को एक संस्कार को छोड़कर दूसरे की तरफ तभी बढ़ाया जा सकता है, जब उसमें संस्कारों के बदलने की शिक्षा डाल दी जाय; उसमें इतना मार्जन हो कि स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार कर सके। अनभ्यस्त मार्ग पर चलने में पढ़े-लिखे लोगों की भी जहाँ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और बड़े दुःख से ही वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं, वहाँ साधारण मनुष्य के लिए, जिन्हें दूर तक कल्पना करने की आदत नहीं, अभ्यास के चक्र की ही प्रदक्षिणा जो करते रहे हैं, उनके लिए पुरुषानुक्रमिक उस आदत को बदलना और मृत्यु का सामना करना एक ही बात होती है—वास्तविक मृत्यु उनके लिए होती है। कारण, चिरकालिक एक संस्कार को बदलकर दूसरे पर कदम रखते समय पहले का मनुष्य मर जाता है, फिर जो जीवन उस संस्कार से गठित होता है, वह दूसरा ही जीवन है, और इतना बड़ा साहस, जिससे मृत्यु का मुकाबला हो, मस्तिष्क-रहित समाज के लोग नहीं कर सकते। यही कारण है, शारदा-विवाह-ऐक्ट की इस साल जरा भी परवा नहीं की गयी। पण्डितों ने भी अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार आठ-आठ और नौ-नौ साल की बालिकाओं का विवाह कर गौरी और

रोहिणी के दृष्टान्त देखे-दिखाये। वे इतना भी नहीं सोच सके कि यह उक्ति बहुत आधुनिक और मुसलमान-शासन काल में प्रचलित हुई है। इस वैवाहिक रीति को सनातन तथा अनादि और अनन्त काल से चली आती हुई ही उन्होंने माना।

जाति के इस गुलाम मस्तिष्क पर हम अनेक बार लिखा चुके हैं, और हमारा विश्वास है कि गुलामी की इज्जत जिस जाति में इतनी बड़ी लगी हुई है, वह राजनीतिक कार्यों में त्याग की पराकाष्ठा तक पहुँचकर ध्येय को प्राप्त करने में उसी तरह प्रेरणा के द्वारा कुछ आगे बढ़कर अपने पूर्व स्थान को लौट सकती है। दूसरे देश, जहाँ राजनीतिक ध्येय प्राप्त हुए हैं, अपनी सामाजिक दशा में इतने पिछड़े हुए नहीं थे। वे नवीन भावना तथा नवीन कार्यक्रम को पहचानते थे। इसलिए भीतर से उनकी सहानुभूति थी। यहाँ देहात के लोग, जहाँ किसी-किसी गाँव में शुद्ध हिन्दी लिखनेवाला भी नहीं निकलता, राजनीति के ध्येय को प्राप्त कर अपने सुधारों के करने की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे जानते भी नहीं कि हमारा राजनीति का ध्येय क्या है। सरकार के प्रति उनका हार्दिक असन्तोष अवश्य है, पुलिस का यथेच्छ दवाव उन्हें अखरता है, पर वे अपने विचारों के अनुसार ही राजनीतिक मामलों में टीका-टिप्पणियाँ करते हैं, जो निराशाजनक तथा वर्तमान समर के उत्तम भेद को न जानने की ही सूचना दे जाती हैं। इससे राजनीतिक आन्दोलनों को जितना बल मिलना चाहिए, नहीं मिलता। मनुष्य अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को तभी छोड़ सकता है, जब वह अपने सामने कोई बड़ा स्वार्थ रख लेता है, और उसे समझता हुआ उसकी तरफ अग्रसर होता है। यहाँ यू. पी. की जनता विचारों की इस हद तक नहीं पहुँच सकती। शिक्षा की कमी तथा रूढ़ियों का प्राबल्य होने के कारण वह अपने क्षुद्रतम स्वार्थ में ही पड़ी हुई है। जब छोटे त्याग द्वारा बड़े फल की प्राप्ति का दृश्य उसे दिखलाया जाता है, तब वह अपने छोटे त्याग को अपनी हानि और बड़े फल की प्राप्ति को मरीचिका समझकर निरस्त हो जाती है। देश की यह बहुत ही दयनीय दशा है। सरकार बेचारी भारतवर्ष की रक्षा के लिए सामरिक ख़र्च-भर का रुपया भी नहीं पाती, फिर देश के लिए शिक्षा को अनिवार्य करने का खर्च वह कहाँ से लाये ? समाज तैयार नहीं हो पाता और गुलामी के नये-नये बोझ जो उस पर लदते रहते हैं, चुपचाप ढोता चला जा रहा है। मनुष्य को हर प्रकार की परतन्त्रता से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब वह अपनी परतन्त्रता के स्वरूप को पहचाने। यदि मूर्ति ही समाज के मस्तिष्क में चरम-इष्ट-प्राप्ति रही, तो उनके फूटने पर हिन्दू-मुसलमानों का लड़ना भी चिरस्थायी रहेगा, और तब विचारक के रूप से किसी सरकार का रहना भी दार्शनिक सत्य की नींव मजबूत करेगा। पर यदि मूर्ति इष्ट-प्राप्ति का साधन रहेगी, तो साधन का नष्ट होना दूसरी वस्तुओं की नश्वरता की तरह ही अवश्यम्भावी समझा जायगा, और एक साधन के नष्ट होने पर दूसरे के उद्भव की तरह, मूर्ति की जगह दूसरी मूर्ति बन या स्थापित हो जाया करेगी, और कभी वैमनस्य या हत्याकाण्ड की ज्वाला प्रचण्ड रूप धारण नहीं कर सकेगी। हिन्दू-मुसलमानों का सौहार्द भी दृढ़ रहेगा, और फिर जनाब जान साहब के फैसले की भी किसी को आवश्यकता नहीं रहेगी। यह है धार्मिक विचारों की पहली सीढ़ी। फिर अगर समाज के लोगों की उपासना और पूजा के लिए अपने मन को स्थिर करने के सिवा दूसरा बाहरी साधन ही न रह जाय, तो किसी बाह्य विक्षेप या बाहरी उपद्रव से शान्ति-भंग की कोई शंका भी न रहे। रही मन की बात। सो मन को स्थिर कर शान्ति की साधना की आदत डाल ही ली गयी है। वहाँ

उत्तेजना के लिए जगह कहाँ ? पर जब शान्ति का रूप कहीं बाहर होगा, तब उसके नष्ट होने पर शान्ति का भी नाश समझिए, और फिर अशान्त चित्त जो कुछ भी करे, थोड़ा है। जब अपने ही अन्दर शान्ति का रूप मिल जाता है, तब लड़ाई और कमजोरियों के बीज भी अपने ही अन्दर मिल जाते हैं, और उनका सुधार भी शान्ति की स्थापना द्वारा हो जाता है, और तब बाहर के सर्वस्व तक के लिए मनुष्य को किसी प्रकार का संकोच या भय नहीं होता। अन्तर के सुधार से बाहर का भी तमाम वातावरण शुद्ध हो जाता है। तब मनुष्य समझकर ही कुल काम करता है, इसलिए कि उसके अन्दर समझ की प्रतिष्ठा हो जाती है।

देश के स्वाधीन काल के मनुष्यों को जब हम देखते हैं, तब उन्हें इसी तरह के विचारवाले पाते हैं, और स्थितप्रज्ञ समाज के एक ही केन्द्र से सहस्त्रों धाराएँ फूटकर अनेक प्रकार के प्राकृतिक आविष्कार, सत्य, चमत्कार, काव्य, कला, शिल्प, वाणिज्य, राष्ट्रनीति, समाजनीति आदि के रूप में अपनी स्वतन्त्र दिशाओं से, स्वतन्त्र मार्ग से, बहती हुई पूर्णता के एक ही समुद्र से मिलती हैं। पर यदि एक ही धारा से तमाम धाराएँ तैयार करने की कोशिश की गयी, तो वे सब नहरें होंगी, प्राकृतिक प्रवाह नहीं। फिर उस एक धारा में इतना पानी भी नहीं निकल सकता, जो तमाम नहरों को भरता रहे। हमें पहले समाज के पूर्ण मनुष्यों की आवश्यकता है, नियम जिनके बनाये हुए हैं, जो नियमों के बनाये हुए नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

राष्ट्रीयता की भावना के उदय होते ही राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आप-से-आप उठ खड़ा होता है। इस देश में ही नहीं, अन्य अनेक देशों में राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठ चुका है, और परिस्थितियों के अनुसार अनेक रूपों में वह प्रश्न हल भी किया गया है। योरपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य का एक विशेष महत्त्वपूर्ण युग गुजर चुका है। यूनान के पतन के उपरांत जब रोम की उन्नति हुई, और जब सारी योरपीय सभ्यता का केन्द्र एथेंस से हटकर रोम में आया, तब वहाँ की लेटिन-भाषा की जैसी उन्नति हुई, इतिहास में उसका पूरा-पूरा उल्लेख है। सारे सभ्य योरप का झुकाव उसकी ओर हुआ, और पीछे से बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में उसका प्रवेश भी हुआ। प्रवेश हुआ, यह नहीं कहना चाहिए; कहना चाहिए कि बड़े-बड़े विश्वविद्यालय उसे प्रवेश देकर गौरव-सम्पन्न हुए। गौरव-सम्पन्न हुए, यह यदि न कहें, तो इतना तो अवश्य कहेंगे कि उन्होंने उसे प्रवेश देकर अपने को गौरव-सम्पन्न समझा। जो देश सभ्यता की दौड़ में जितना आगे रहता है, जिस देश का आध्यात्मिक, आर्थिक आदि जितना अधिक उत्थान होता है, उस देश की भाषा का भी उतना ही अधिक विस्तार, सम्मान आदि होता है। यूनान की भाषा की तुलना में रोम की लेटिन-भाषा का विकास अधिक विस्तृत हुआ था, क्योंकि अन्य बातों के अतिरिक्त रोमन लोगों में साम्राज्य-विजय की भावना प्रबल थी। रोमन जहाँ-जहाँ गये, अपनी

सभ्यता, अपने क़ानून-कायदे (Law and Order) के साथ अपनी भाषा भी ले गये। रोमन साम्राज्य के विकास-युग में लेटिन-भाषा योरप के सारे सभ्यजन-समाज की बोल-चाल की भाषा कहलाने लगी। भावों और विचारों के सुगम विनिमय के लिए लेटिन की आवश्यकता थी, यह ठीक है; पर सभ्य कहलाने के लिए उसकी जितनी आवश्यकता थी, उतनी और किसीलिए नहीं। लेटिन के विकास के मूल में यही है —सभ्य रोम की सभ्य भाषा का सार्वदेशिक ग्रहण।

परन्तु सभ्यता की नाप-जोख बदलती रहती है। रोमन साम्राज्य के पतन के उपरान्त यद्यपि रोम की सभ्यता की धाक योरप में वैसी ही बनी रही, और लेटिन-भाषा के अभ्यासी सभ्य लोगों की संख्या में कमी नहीं आयी; परन्तु जब योरप के जन-समाज में प्रजातन्त्र के भाव उदय हुए और जब योरपीय देशों में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ (संयोगवश उन्नीसवीं शताब्दी में ये दोनों ही बातें साथ-साथ हुईं), तब लेटिन की रौनक़ कम हुई, और अनेक राष्ट्र-भाषाओं का उदय हुआ। स्वयं इटली ने लेटिन को छोड़कर इटालियन-भाषा की श्री-वृद्धि की। राष्ट्र-संघटन के लिए एक भाषा का होना परम आवश्यक और उपयोगी समझा गया, इसी कारण अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि अनेक भाषाएँ लेटिन की स्पर्द्धा में उठ खड़ी हुईं। यह नहीं कहा जाता कि योरप के सामान्य जन-समाज की बोल-चाल की भाषा किसी समय लेटिन हुई थी। हाँ, एक समय था, जब लेटिन की ओर सभ्यता-प्रिय पढ़े-लिखे लोगों का झुकाव अत्यधिक था, और शिक्षा के बड़े-बड़े केन्द्रों का ध्येय अधिक-से-अधिक संख्या में लेटिन के विद्यार्थी तैयार करना था। ऑक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज की अँगरेज़ी-युनिवर्सिटियाँ इस ओर विशेष दत्तचित्त थीं। लन्दन-युनिवर्सिटी की स्थापना के उपरान्त गइँलैण्ड के विश्वविद्यालयों में अँगरेज़ी की भी खातिर होने लगी।

एक उदाहरण और अँगरेज़ों की साम्राज्य-वृद्धि के युग का लीजिए। उनका प्राथमिक उद्देश्य व्यापार था। अँगरेज़ व्यापार करने की ग़रज़ से संसार के कोने-कोने में फैले, और धीरे-धीरे विशाल अँगरेज़ी सल्तनत का जन्म हुआ। व्यापार के लिए एक देश के लोग दूसरे देश की भाषा भी सीख लें, यह न तो आवश्यक ही है, और न ऐसा कहीं हुआ ही है। प्राचीन भारत संसार के अनेक प्रदेशों से घनिष्ठ व्यापारिक संसर्ग रखता था, पर उसने कभी भी सामूहिक रूप में कहीं की भाषा नहीं ग्रहण की। कुछ थोड़े शब्दों के परिचय-मात्र से व्यापार का काम चल सकता है, चला है। पर अँगरेज़ों ने जहाँ-जहाँ अपना व्यापार फैलाया, वहाँ-वहाँ अपना राज्य, अपना धर्म और अपनी भाषा भी फैलायी। योरप इँगलैण्ड के चकमे में नहीं आया। यद्यपि धर्मतः दोनों क्रिश्चियन थे, और व्यापारिक सम्पर्क भी दोनों में घनिष्ठ था; पर इँगलैण्ड की भाषा योरप को कम स्वीकार हुई। उतनी ही स्वीकार हुई, जितनी व्यापार के लिए आवश्यकता थी। पर अँगरेज़ी कूट-नीति का चक्र एशिया और आफ्रिका आदि में खूब चला। स्वयं भारतवर्ष में अँगरेज़ों की कुटिल नीति फैली, और ऐसी फैली कि अब सुनकर आश्चर्य होता है! भारतवर्ष अँगरेज़ों की साम्राज्य-लालसा का सर्व-प्रधान ध्येय रहा है। यहाँ की सभ्यता, और संस्कृति अँगरेज़ों की सभ्यता और संस्कृति से बहुत कम मेल खाती थी, पर सात समुद्र पार से आकर इतने विस्तृत और इतने सभ्य देश में राज्य करना जिन अँगरेज़ों को अभीष्ट था, वे बिना अपनी कूट-नीति का प्रयोग किये कैसे रह सकते थे? अँगरेज़ों की नीति हुई—भारत के इतिहास को विकृत कर दो, और हो सके, तो उसकी भाषा को मिटा दो। चेष्टाएँ की जाने लगीं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति तुलना में नीची

दिखायी जाने लगी। हमारी भाषाएँ गँवारू, असाहित्यिक और अविकसित बतायी जाने लगीं। हमारा प्राचीन इतिहास अन्धकार में डाल दिया गया। बाक़ायदा अँगरेज़ी की पढ़ाई होने लगी। इस देश का शताब्दियों से अन्धकार में पड़ा हुआ जन-समाज समझने लगा कि जो कुछ है, अँगरेज़ी सभ्यता है, अँगरेजी साहित्य है, और अँगरेज़ हैं।

कुछ समय के बाद हममें प्रकाश फैला। हम सँभले। बंगाल के राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि कुछ ऐसे अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न विद्वान हुए, जिन्होंने वस्तुस्थिति का अन्वेषण किया, और उसे समझा। स्वामी दयानन्द का कार्य इस क्षेत्र में उत्तर-भारत के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। अँगरेज़ कहते थे कि चूँकि भारतवर्ष कोई एक देश नहीं है, अनेक देशों का समुदाय है, जहाँ न एक भाषा है और न एक प्रकार का समाज, अनेक छोटी-बड़ी भाषाओं के रहते भारतवर्ष उन्नति नहीं कर सकता, इसलिए सबको अँगरेज़ी पढ़नी चाहिए। अँगरेज़ी के हिमायती अब तक कुछ ऐसी ही दलील पेश करते रहते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इनमें कुछ तो इसी देश के निवासी भारतीय हैं। हमें उनकी बात पर हँसी भी आती है, और कष्ट भी होता है। भारतवर्ष एक देश नहीं है, अनेक देशों का समुदाय है, यह वे ही कह सकते हैं, जिन्हें यहाँ के इतिहास का कुछ पता नहीं, और जिन्हें यहाँ की सभ्यता और संस्कृति की नींव का ज्ञान नहीं। परन्तु जो यह जानते हैं कि प्राचीन भारत ने एक सूत्र में गुँथकर अपना सर्वतोमुखी विकास किया है, जिन्हें यह मालूम है कि इस देश ने सुख और दुःख की परिस्थितियों में एक साथ रहकर काम किया है; विजय की है तो एक साथ, हारे हैं तो एक साथ; जिनको इसका पता है, राम, कृष्ण, बुद्ध, रामानुज, कबीर, तुलसी आदि सैकड़ों महापुरुष और वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय प्रादेशिक सीमा से ऊपर समस्त देश में, वायु की भाँति, एकरस फैले हैं, वे ऐसे भ्रम में कदापि नहीं पड़ सकते। योरप के जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि देशों में यदि एकता है, तो भारत में उससे एक इंच भी कम नहीं। यदि विभिन्न जातियों (Races) के होते हुए भी वे देश एक राष्ट्र की दृढ़ता पा सकते हैं तो हिन्दुओं, मुसलमानों (दोनों ही आर्य और अनार्य भी हैं) के इस देश में भी वही राष्ट्रीयता स्थापित हो सकती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यदि इस देश को अपना पूर्व गौरव पहचानकर अपना अस्तित्व बनाये रखना है, यदि इसे अन्य सभ्यताओं के मुक़ाबले खड़े होकर अपना मस्तक नत नहीं करना है, और यदि राजनीतिक, आर्थिक आदि विषयों में इसे विदेशियों का गुलाम नहीं होना है, सारांश यह कि यदि इसे संसार के इतिहास में कुछ अपना व्यक्तित्व बनाये रखना है, तो भारतवर्ष को राष्ट्रीयता के एक पाश में अवश्य बँधना पड़ेगा। बिना एक राष्ट्र-भाषा के राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो सकता। यह बात राममोहन राय, दयानन्द आदि ने समझी थी, और इस युग की सब महान् आत्माएँ इसका समर्थन करती हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## भारत की राष्ट्र-भाषा

यह प्रश्न अब काफ़ी पुराना हो चुका है कि भारत की राष्ट्र-भाषा क्या हो ? प्रश्न पुराना है, पर नये-नये उत्तर अब तक बराबर दिये जा रहे हैं। एक समय था, जब यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग में अँगरेज़ी की महिमा समायी हुई थी, और उठते-बैठते ही नहीं, सोते-जागते भी उसके व्यवहार की धुन सवार थी। जब कोई देश अपने को भूल जाता है, तब ऐसी ही अवस्था होती है। समय बदला। धीरे-से यह ज़माना आया, जब मातृ-भाषा संस्कृत की ओर झुकाव हुआ। कहा जाने लगा, संस्कृत ही सारे भारत की भाषा हो सकती है। इस कथन में व्यावहारिकता का ध्यान नहीं रक्खा गया। अँगरेज़ी के विरुद्ध जो प्रतिघात हुआ, उसी की झोंक में ऐसी बात कह दी गयी। संस्कृत कभी इस देश के जन-समाज की बोल-चाल की भाषा रही है, इसमें सन्देह है। कुछ विद्वान इसे केवल साहित्य की भाषा स्वीकार करते हैं, और कुछ इसे किसी काल की प्रादेशिक भाषा बतलाते हैं। इसका प्रयोग शिष्ट जन ही करते थे। वह संस्कृत अब हमारे घरों में बोली जाय, इस बात में प्राचीन-प्रियता, स्वदेश-प्रेम आदि चाहे जितना हो, पर भाषाशास्त्र के व्यावहारिक नियमों के सामने यह ठहर नहीं सकती। संस्कृत हमारे पूज्य पूर्वजों की पवित्र वाणी रही हो, इस दृष्टि से हमारे लिए वह शिरोधार्य है। वह देववाणी है, हम मनुष्य उसकी पूजा करेंगे, पर इससे अधिक हम शायद कुछ न कर सकेंगे। शास्त्रों के अध्ययन से हम अपने "हिय के विमल विलोचन" खोलेंगे, हम अपने देश के सुधा-स्रावी अमर साहित्य के रसास्वाद से परम तृप्ति लाभ करेंगे, पर संस्कृत को घरेलू भाषा बनाकर अपनाने की बात व्यर्थ है। हम उसे इतना नीचा नहीं गिरा सकते, न वह इतने नीचे गिर ही सकती है।

तब क्या हो ? कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष के विविध प्रान्तों का विभाजन प्रचलित अनेक भाषाओं के अनुसार हो, और अलग-अलग प्रान्तों की अलग-अलग भाषाएँ अपना-अपना विकास करें। हिन्दी के क्षेत्र में मित्रवर अध्यापक धीरेन्द्र वर्मा ने ऐसी ही एक स्कीम पेश की है। प्रान्तों का विभाजन केवल भाषा के आधार पर हो, हम यह नहीं मानते, और इसे बहुत कुछ अव्यवहार्य भी समझते हैं। पर यहाँ हमको इस मतभेद से कोई मतलब नहीं। यह तो भविष्य की राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर है। क्या होगा, अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। पर प्रान्तों के संकीर्ण घेरे में भाषाओं को बाँट देने से राष्ट्र-भाषा का प्रश्न हल नहीं होता। यह ठीक है कि साहित्यिक विकास के लिए भाषाओं को प्रतिबद्ध होने में कुछ सुविधा रहेगी। विभिन्न प्रान्तों के विश्वविद्यालय अपने यहाँ की भाषा की ओर ध्यान देंगे, वहाँ के साहित्यिक उसकी श्री-वृद्धि प्रतियोगिता की भावना के साथ करेंगे, पर यह बात दूसरी है। साहित्यिक उत्कर्ष के साथ ही भावों के सार्वदेशिक सुगम विनिमय का ध्यान भी रखना पड़ेगा, और यही राष्ट्र-भाषा का प्रश्न है। भरतपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि हिन्दी को यदि राष्ट्र-भाषा बनाना हो, तो उसके साहित्य की श्री-वृद्धि करो, उसे आकर्षक और सर्वग्राही बनाओ। रवि बाबू भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि और साहित्यिक हैं, इसलिए उन्होंने राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को भी साहित्यिक दृष्टि से देखा, तो आश्चर्य नहीं। पर जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, साहित्य और भाषा का प्रश्न बहुत कुछ एक होते हुए भी बहुत कुछ अलग भी है। बंगला का आधुनिक

साहित्य बहुत उच्च कोटि का बतलाया जाता है, पर वंग-भाषा-भाषियों की संख्या में इस कारण कुछ विशेष वृद्धि हो गयी हो, यह बात शायद नहीं है। साहित्यिक उत्कर्ष की ओर थोड़े-से विद्वानों का ही ध्यान रहता है, भाषा के सामूहिक प्रचार में वह कम ही सहायक होता है। संसार के संस्कृत, लेटिन, यूनानी आदि उन्नत साहित्य इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। साहित्य का उत्कर्षापकर्ष कृत्रिम और मानवीय साधनों पर अवलम्बित है, भाषा का स्वाभाविक विकास होता है।

महात्मा गाँधी ने राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को जिस तरह हल किया है, आज उससे प्राय: सभी निष्पक्ष विवेकशील व्यक्ति सहमत हैं, और उसे व्यावहारिक रूप देकर महात्मा गाँधी ने उसे सफल भी सिद्ध कर दिया है। उनका मत है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो, और प्रत्येक प्रान्त के निवासी उसे सीखें, और उससे परिचित हों। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। अधिकांश मुसलमान थोड़े-से परिवर्तित रूप में हिन्दी ही बोलते हैं। उच्चारण-सौकर्य और सरलता के कारण वह प्राय: सर्वत्र बोली और समझी जाती है—नहीं समझी जाती, तो थोड़े ही प्रयास से समझी जा सकती है। महात्माजी के प्रयत्न से हिन्दी का आशातीत अखिल भारतीय प्रचार हुआ है, और देश की सर्वमान्य संस्था राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यवाही भी हिन्दी में होने लगी है। महात्माजी अपने अधिकांश व्याख्यान हिन्दी में देते हैं, अतएव उनके असंख्य अनुयायी हिन्दी पढ़ने और समझने का प्रयत्न करने लगे हैं। तामिल और दक्षिणतम प्रदेशों में भी हिन्दी समझी जाने लगी है। महात्माजी के इस कार्य के लिए समस्त भारतीय जनता उनकी चिरकृतज्ञ हुई है। सर पी. सी. राय, श्री सुभाषचन्द्र, सेठ जमनालाल बजाज आदि अन्य बड़े-बड़े व्यक्ति भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर उसके प्रचार की चेष्टा कर रहे हैं।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो, जहाँ इस मत के समर्थक महात्मा गाँधी-जैसे महापुरुष हैं, वहाँ इसके विरोधी भी कम नहीं। प्रान्तों की संकीर्ण सीमा में बँधे हुए अनेक व्यक्ति तथा हिन्दू-मुस्लिम-विभेद के कट्टर हिमायती कुछ लोग हिन्दी के प्रतिकूल कहते सुने जाते हैं। हिन्दी-उर्दू का विवाद यद्यपि अब तक बन्द नहीं हो गया है, पर समझदार लोग यह समझने लगे हैं कि इनमें कोई विशेष विभेद नहीं—कम-से-कम बोल-चाल की दृष्टि से हम दोनों को एक मान सकते हैं। यह प्रश्न तो यों हल हो जाता है, पर प्रान्तीय भाषाओं के कुछ समर्थकों—विशेषकर बंगालियों—के विरोध का प्रश्न रह जाता है। बंगालियों ने सबसे पहले अँगरेज़ी पढ़ी, सबसे पहले वे सभ्य बने। वे अपने को बंगाली और शेष समस्त भारत को 'हिन्दोस्तानी' कहने में संकोच नहीं करते। बंगाल की समता कोई कर ही नहीं सकता, यह उनकी दृढ़ धारणा है। उनमें प्रान्तीय संकीर्णता कूट-कूटकर भरी है। सभी बंगाली नहीं, पर अर्द्ध-शिक्षित अधिकांश बंगाली बंगला-भाषा को ही राष्ट्र-भाषा मानते होंगे। उनकी चले तो वे बंगला को संसार-भर की भाषा बना दें। इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल भी भारतवर्ष का एक अंग है, और उसकी उन्नति पर सारे भारतवर्ष को हर्ष और गर्व है, पर राष्ट्रीय प्रश्न विशेषकर राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में बंगाली जिस सापेक्ष अथवा विरोधी बुद्धि का परिचय देते देखे जाते हैं, वह कदापि बंगाल के गौरव के अनुकूल नहीं। पर सब बंगाली ऐसे नहीं। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को लेकर स्वामी माधवानन्द ने हाल में प्रबुद्ध भारत में जो लिखा है, बंगाली उदारता का वह एक उदाहरण है। यद्यपि सर्वांश में हम उससे सहमत नहीं, पर प्रान्तीय भावनाओं के पक्षपाती बंगालियों के लिए विद्वान् स्वामी माधवानन्द का उपर्युक्त लेख कुछ काम का सिद्ध होगा। हम सामान्यत: सभी राष्ट्र-भाषा-

प्रेमियों और विशेषतः कट्टर बंगालियों से स्वामीजी के लेख को पढ़ने का अनुरोध करते हैं। नीचे हम उनकी कुछ पंक्तियों का आशय देते हैं—

"हम राष्ट्र-भाषा के लिए उसी भाषा को चुनें, जो सरलता से सीखी जा सके, सहज में जिसका उच्चारण किया जा सके, जिसका अधिक प्रचार और प्रचलन हो, जिसे इच्छानुसार प्रयोग कर सकें, और जिसका साहित्य सम्पन्न हो। यदि हम इन पाँचों दृष्टियों से देखें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा बनने की सबसे अधिक अधिकारिणी है।

"संस्कृत से सीधा सम्पर्क रखने के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कारों की जैसी अभिव्यक्ति हिन्दी करती है और कर सकेगी, वैसी और कोई भाषा नहीं।"

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साइमन-कमीशन की रिपोर्ट

साइमन-कमीशन को हमारे देश के लोग भूले नहीं होंगे। ये सात आदमी, जिनमें सर जॉन साइमन प्रमुख थे, विलायत से चुने जाकर, हमारे देश में, हमारी हर तरह की स्थिति तथा योग्यता की जाँच करने के लिए आये थे, इसलिए कि हम लोग जिन अधिकारों के लिए आवाज़ उठा रहे हैं, उन्हें प्राप्त करने की हममें कहाँ तक योग्यता है। पर चूँकि इस कमीशन में हिन्दुस्थान के लोगों को रखना पसन्द नहीं किया गया, ये ठेठ विलायत के लोगों से ही चुने जाकर यहाँ आये थे, इसीलिए इनका यहाँ विरोध किया गया। ये जहाँ-जहाँ भी गये, वहीं-वहीं लोगों ने काले झण्डों से इनका बहिष्कार किया। यहाँ की सभी पार्टियों—नेशनलिस्ट, स्वराजिस्ट और लिबरल—इस कमीशन के खिलाफ़ थीं। लखनऊ में राष्ट्रपति पं. जवाहरलालजी के साथ, इसी कमीशन का बहिष्कार करते समय, पुलिस की छेड़-छाड़ हुई थी, और पं. जवाहरलालजी को इससे चोट आ गयी थी। फिर तअल्लुक़दारों ने जब इन्हें निमन्त्रित किया था, तब क़ैसरबाग में चारों तरफ़ से पुलिस का कड़ा पहरा रहने पर भी कनकौओं में "साइमन, लौट जाओ" आदि बातें लिखकर, छत पर से लोगों ने उड़ाया था और कनकौए लड़ाकर काटे थे, जिससे इस कमीशन के न्योता खाने के समय, टेबिल के नजदीक ही, वे उड़-उड़कर गिरे थे। फिर लाहौर में भी इसका इसी तरह बहिष्कार किया गया, जिससे पुलिस के डण्डे से भारत के सर्वमान्य नेता लाला लाजपतरायजी को सख्त चोट आयी, और उनका प्राणान्त हो गया। इधर महात्माजी के इस आन्दोलन को ज़ोर पकड़ते हुए देखकर विलायत तथा हिन्दुस्थान की सरकार रिपोर्ट के शीघ्र प्रकाशित होने की आवाज़ उठाने लगी। अस्तु। वह रिपोर्ट 10 जून को प्रकाशित हो गयी। पर कुल नहीं, यह उसका पहला हिस्सा ही अभी निकला है। इसका दूसरा हिस्सा इस महीने के अन्तिम सप्ताह तक प्रकाशित हो जायगा।

इस पहले भाग में सात अध्याय हैं—(1) समस्या का रूप, (2) वर्तमान

शासन-पद्धति, (3) संशोधित शासन, (4) वर्तमान शासन-प्रणाली, (5) अर्थ-प्रणाली, (6) शिक्षा, (7) भारत में लोकमत की स्थिति।

प्रथम अध्याय में यहाँ की भिन्न-भिन्न कौमों तथा धर्मों का उल्लेख किया गया है। अपना उल्लू सीधा करने का पहले ही प्रयत्न। उसमें जो यह कहा गया है कि यहाँ के लोगों को एक सूत्र में बाँधने में अँगरेज़ी शिक्षा तथा अँगरेज़ी शासन को ही महत्त्व प्राप्त है, और इनके कारण ही यहाँ के लोगों में अपना लक्ष्य तथा उचित स्थान, संसार के लोगों के मुक़ाबले में, प्राप्त करने की चाह पैदा हुई है, कितना सत्य है, यह ब्रिटेन के लोगों को जानने में अभी कुछ दिन भले ही और लगें, पर हिन्दुस्थान के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, गोया अँगरेज़ों के आने के पहले न यहाँ राज्य था, न शासन-शृंखला थी, न प्रबन्ध था, और न एकता में बँधने का दृढ़ सूत्र। देहात और कस्बों में जो अन्तर बतलाया गया है, इसमें कमीशन ने काफी पृष्ठ घेरे हैं। हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई, सिख आदि पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि हिन्दू और मुसलमानों में झगड़े का कारण यह है कि दोनों अलग जातियाँ हैं, और दोनों के धर्म तथा सामाजिक बर्ताव भी अलग-अलग हैं, और चूँकि खाना-पीना और वैवाहिक सम्बन्ध में ये दोनों जातियाँ एक-दूसरे से सम्मिलित नहीं, इसलिए इनका विवाद और भी बढ़ जाता है, और कभी-कभी ज़रा-सी बात पर बड़ी उग्र परिस्थिति ग्रहण कर लेता है। कमीशन कहता है कि प्रान्तीय कौंसिलों के लिए इस तरह की स्कीम ठीक होगी—जिस प्रान्त में मुसलमानों की ज्यादा संख्या है, वहाँ मुसलमानों का ही बहुमत रहे, और जहाँ कम है, वहाँ उनकी विशेष रूप से रक्षा की जाय। भेद पैदा करनेवाली अँगरेज़ी मस्तिष्क की उपजाऊ बुद्धि इस तरह श्रीगणेश से ही शुरू हुई है, और जब बहिष्कार से हिन्दुओं और मुसलमानों को कमीशन ने सम्बद्ध होते हुए देख लिया, तो एक को फोड़कर मिलाने की यह तरक़ीब सोची। कहा गया है, हिन्दुओं की संख्या अधिक है, वे धनी और शिक्षित भी हैं, और इसी आधार पर वे अपना दावा तथा अधिकार पेश करते हैं, और इन्हीं कारणों से मुसलमान अपनी विशेष रक्षा के लिए यह याद करते हुए माँग पेश करते हैं कि वे भारतवर्ष की शासक-जाति की सन्तान हैं। यह ठीक है, पर उनकी माँग सरकार द्वारा पूरी की जा सकती है, इसमें किसी मुसलमान को सन्देह हुए बिना नहीं रह सकता। वर्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने बड़े हक़ को समझनेवाले मुसलमानों की काफी बड़ी संख्या है। ये लोग अपना वही अधिकार चाहते हैं, जो उनके हाथों से अँगरेज़ों ने ले लिया है। क्या अँगरेज़ सरकार उनकी वह माँग उन्हें देकर प्रसन्न कर सकती है? पंजाब के सिक्खों के लिए भी विशेष अधिकारों की बात कमीशन ने छेड़ी है, और अन्त्यज, योरपियनों तथा ऐंग्लो-इण्डियनों के लिए भी जगह है। मतलब यह जान पड़ता है, हिन्दू हैं भी बहुत, अतः देने से बहुत खर्च हो जायगा, कोई पीठ बचानेवाला रखना ही चाहिए, अतः जो लोग संख्या में कम हैं, उन्हें कुछ देकर प्रसन्न करना चाहिए। इस तरह जिन्हें स्वयं ही शिक्षा के मैदान में आगे बढ़ा हुआ करार देते हैं, उन्हें घपले में डाल उनकी शिक्षा की कद्र कर रहे हैं! फिर बीच में रहनेवाली भी तो कोई क़ौम चाहिए, जो कुछ पिसे, और यह भी हो कि उसके पास धन भी ज्यादा हो। अतः साइमनों ने अपने ज्ञान में धोखा बिलकुल नहीं खाया। रिपोर्ट में भारत और ब्रह्मदेश के अन्तर का भी उल्लेख किया गया है। देशज नरेशों के पूर्ण मतैक्य के साथ उनकी भी समस्या हल करने का उपाय सोचा गया है। भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने में सबसे बड़ी अड़चन यह बतलायी गयी है कि सब प्रान्तों में सैनिक भाव बराबर

तौर पर नहीं है। आप लोगों ने समझाया भी है कि तरक्क़ी तो धीरे-धीरे ही होगी। जबकि भारतवर्ष पारस्परिक सम्बन्ध में दृढ़ नहीं है, और जबकि हर प्रान्त अपनी सैनिक शक्ति के अभाव से अपनी रक्षा करने में सक्षम नहीं, यदि ब्रिटिश-जाति का आधिपत्य, उसकी सैनिक शक्ति हट जायगी, तो फल यह होगा कि और-और प्रान्तों की सैनिक जातियाँ अपना अधिकार जमाने की कोशिश करेंगी, जिससे देश में भयंकर स्थिति हो जायगी। इनका संगठन केवल ब्रिटिश आधिपत्य की छत्रछाया में रहने के कारण है। हिन्दुस्थानी फौज़ हिन्दुस्थानी अफ़सरों के मातहत काम नहीं कर सकती, शायद हिन्दुस्थानी अफ़सरों में नियन्त्रण की शक्ति का सर्वथा अभाव है। और, फौज़ी विभाग को यदि किसी उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथ एक सहायक परिषद् बनाकर दिया जाय, तो भी खतरा है। है ही, यदि मण्डल भस्मासुर की तरह भस्म कर देनेवाले वर की परीक्षा वरदाता पर ही पहले कर बैठे। प्रेसिडेन्ट पटेल पर भी आक्षेप है कि वह अपने अधिकार का अनुचित प्रयोग करते हैं, और जिन मामलों में पार्लमिन्ट के स्पीकर भी हस्तक्षेप नहीं करते, उन पर भी यह हमला कर बैठते हैं। म्युनिसपैलिटी के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो कुछ लोगों को दिया गया है, उसका निर्वाह तथा संचालन न कर ये राजनीतिक मामलों में पड़े रहते हैं, और यह इसलिए कि अगले निर्वाचन में भी इन्हें ही सफलता मिले। कृषकों के सम्बन्ध में कहा है कि यद्यपि सभी देशों के किसान राजनीतिक मामलों में नहीं रहते, पर भारत के किसान तो खास तौर से नहीं, वे साम्प्रदायिक संकीर्णता में पड़े हुए हैं। इस प्रकार जैसी अग्र सूचना दी गयी है, अब हमें आगे की बातें बहुत कुछ सूझने लगी हैं।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## वर्तमान आन्दोलन में महिलाएँ

वर्तमान आन्दोलन को जीवित कर रखने में हमारी महिलाओं ने देश की जो सेवा की और करती जा रही हैं, वह अनमोल है। असहयोग-आन्दोलन के समय स्वर्गीय देशबन्धु दास की स्त्री की तरह राजनीतिक मैदान में बहुत थोड़ी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने काम किया। इस बार हर प्रान्त और बड़े शहर में देवियों ने देश की सेवा के लिए पुरुषों का हाथ बटाया है, जिससे देश में एक नयी ही जागृति फैल गयी है। संवाद-पत्रों में पुलिस के द्वारा किये गये अत्याचारों की कथाएँ हम लोग पढ़ चुके हैं, पर कहीं से भी उनकी स्फूर्ति के घटने के समाचार नहीं मिले। पहले भी जब राजपूत वीरांगनाओं के जौहर का युग था, एक बार राजपूतों के तम्बुओं के लिए डोरियों का अभाव होने पर राजपूत रमणियों ने डोरियाँ बनाने के लिए अपने सिर के बाल काट दिये थे, और इस तरह अपने देश को एक समागत संकट से बचाया था, जिसका उल्लेख करते हुए एक बंगाली कवि ने लिखा है—

“सुकेशिनी सिर-शोभा केशेर छेदने<br>
वृथा नाहिं यदि ताहे होय उपकार।”

उसी तरह आज भी गृह का प्रांगण, सुख की मृदुल सेज छोड़कर अन्त:पुरचारिणियों को बाहर खुले हुए मैदान में आना पड़ा है। लखनऊ, जहाँ हिन्दू और मुसलमानों की पर्दा-प्रथा का राज्य है, महिलाओं के, खुले वातावरण में, सभाओं और जुलूसों में, अधिक-से-अधिक संख्या में, उपस्थित होने का दृश्य देख चुका, और इससे उनके आन्तरिक भावों का सुन्दर परिचय मिल जाता है। बम्बई, मद्रास, बंगाल और पंजाब-सिन्ध की महिलाओं की तो बात ही क्या? श्रीमती रुक्मिणीलक्ष्मीपति बी. ए., जो मद्रास-युनिवर्सिटी-सिनेट की सदस्या, मद्रास के युवक-संघ की प्रेसिडेन्ट हैं, इस आन्दोलन में गिरफ्तार होनेवाली सबसे पहली महिला हुई। फिर संसार-प्रसिद्ध श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती मित्रा, श्रीमती सरस्वती आदि भारत की ज्योतिस्वरूपा देवियों ने आन्दोलन की बुनियाद मज़बूत करने के इरादे से हँसते-हँसते कारागार के कठोर कष्टों को स्वीकार कर लिया। कलकत्ते की देवियाँ पिकेटिंग में अविचल भाव से काम कर रही हैं, यद्यपि कहीं-कहीं कापुरुष नर-पिशाचों के हाथों उनका घोर अपमान होता है। डॉक्टर मुथूलक्ष्मी रेड्डी ब्रिटिश इण्डिया में लेजिस्लेटिव कौंसिल की पहली स्त्री-सदस्य हैं। उन्होंने महात्मा गाँधी के कारागार तथा सरकार की दमन-नीति के विरोध-स्वरूप अपने पद से इस्तीफा दे दिया। लखनऊ की श्रीमती अवस्थी झण्डाजुलूस में 144 तोड़कर हँसते-हँसते जेल चली गयीं, और अपने प्रिय पति के मार्ग का अनुसरण कर सच्ची सहधर्मिणी का नक्शा खींच दिया। वीरवर पं. जवाहरलाल नेहरू की वीर भगिनी कुमारी कृष्णा, वीर पत्नी श्रीमती कमला और वीर माता श्रीमती स्वरूपरानी भी, इस कड़ी धूप में, कष्ट की कुछ भी परवा न करती हुई, प्रयाग में विलायती कपड़ों की दूकानों पर पिकेटिंग करती हुई देखी गयी हैं। इस तरह देश के कोने-कोने से महिलाओं के अपार उद्यम तथा अविचल धैर्य के संवाद प्रतिदिन मिलते रहते हैं। यह निस्सन्देह देश के मंगल की सूचना है। मातृशक्ति के पुनरुद्बोधन के द्वारा भारत के महान् उद्देश्य की सिद्धि अवश्य होगी—

"या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता,
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम:।"

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सामाजिक व्यवस्था

आजकल हमारे देश में जो सामाजिक व्यवस्थाएँ प्राचीन प्रणालियों की रक्षा के लिए प्रचलित हैं, उनसे समाज को फलत: कोई लाभ नहीं होता, बल्कि नुकसान ही अधिक उठाना पड़ता है। समाज वही जीवित है, जो आवश्यकतानुसार अपना रूप बदल सकता है, न कि वह जो कुछ पुरानी लकीरों का फ़कीर हो। नवीन युग के आगमन के साथ, भारत में भिन्न-भिन्न अनेक जातियों के स्थायी रूप से बस जाने के कारण, भारत के ही अनेक लोगों के अलग-अलग धर्म ग्रहण कर लेने के कारण, अब भारत के आदिम निवासी हिन्दुओं के लिए बहुत बड़ी आवश्यकता आ

पड़ी है कि अपने समाज का केवल कुछ सुधार ही नहीं, किन्तु आमूल परिवर्तन करें। समाज में यह शक्ति न रहने से समाज के शासन का यथार्थ अधिकार उसके हाथ में नहीं रह जाता, और समाज के लोग पहले के किसी मनुष्य के बनाये हुए एक ख़ास नियम को पकड़कर चलते हुए अन्त तक यन्त्र बन जाते हैं। हमारी इस समय यही दशा हुई है। सामाजिक दुर्बलता के कारण ही हिन्दू-समाज की अनेक जातियाँ स्वयं संघबद्ध होकर, अपनी उच्चता का ब्राह्मण-आदर्श ही अपने सामने रखकर ब्राह्मण और क्षत्रियों के अनेक रूपों में बदल गयी हैं। यह एक प्रकार समाज के शीर्षस्थानीय ब्राह्मण और क्षत्रियों के अधिकारों के साथ स्पर्द्धा-सी की गयी है। पर यह एक तरह स्पर्द्धा का स्पर्द्धा के द्वारा जवाब देना ही ठहरा, न कि ब्राह्मण और क्षत्रिय बनना।

इस समय देश की जैसी स्थिति है, देश में शूद्र के सिवा दूसरी और कोई जाति नहीं। प्रकृति ने दृप्त हिन्दू-समाज को जैसी मार, उसके दर्प की प्रतिक्रिया के रूप से, दी है, उससे अब सब लोग बराबर ज़मीन पर आ गये हैं। एक शूद्र से एक ब्राह्मण का कर्म से कोई फ़र्क़ नहीं रह गया, और शासकों की निगाह में भी इस समय का प्रचलित भेद गुणजन्य कोई महत्त्व नहीं रखता। सिर्फ़ अकड़ने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रियों के अनेक प्रकार रह गये हैं, जिनमें सामाजिक शृंखला कोई नहीं रह गयी, सब लोग एक ही प्रकार के व्यवसाय और जीवनोपाय उठा लेते हैं; पर आज तक जिन्हें वे जाति में अपने से छोटा समझते आये हैं, उनके प्रति वैसा ही घृणा का बर्ताव करते रहते हैं। इसी के फलस्वरूप दूसरी जातियाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण बन-बनकर पहले के ब्राह्मण और क्षत्रियों से बदला चुकाने पर तुल गयी हैं, उनके मुक़ाबले सिर उठाकर चलने लगी हैं, जिससे सुधार के बदले व्यापक रूप से कुसंस्कारों की ही जड़ मज़बूत होती जा रही है। और तो क्या, एक ही जाति के ब्राह्मणों की उच्च-नीच श्रेणियों में घृणा के भाव भरे पड़े हैं, और वैवाहिक सम्बन्ध तो क्या, कुलीन समझे जानेवाले ब्राह्मण अपनी ही साधारण श्रेणीवाले ब्राह्मणों के यहाँ पानी भी नहीं पीते, चाहे कल का पानी पियें, हाड़ों से साफ़ की हुई शक्कर खायें, और उबाली हुई मुर्गियों का अर्क अस्पताल की दवाओं में पी जायें। यह कोई सामाजिक शृंखला नहीं। इस प्राकृतिक स्थिति को कि उसने तमाम भारतवासियों को लाकर एक ही ज़मीन पर खड़ा कर दिया है, उनके भेद-भाव को दूर कर दिया है, न समझनेवाले लोग कट्टरता की ही बुनियाद मज़बूत करते हैं, न कि बुद्धि की; और चूँकि इस तरह का प्रचलन हिन्दू-समाज में है, इसलिए हिन्दू-समाज किसी बुद्धि तथा विवेक के आश्रय पर इस समय नहीं खड़ा, किन्तु कट्टरता ही उसके इस विभिन्न अस्तित्व का एकमात्र आधार है। यदि वे लोग समाज को विवेक के अनुसार क़ायम रक्खें, तो कुल उलझनें सुधर जायँ, और बराबर ज़मीन पर रहकर अपने-अपने गुणों तथा कर्मों के अनुसार एक बार सब लोगों को तरक्क़ी करने के समान अधिकार प्राप्त हों, समाज का आमूल-संस्कार हो जाय।

हिन्दू और मुसलमानों की समस्या इस देश की पराधीनता की सबसे बड़ी समस्या है। वर्तमान समाज का जो रूप है, इसके भीतर से इस नवीन रूप के निकले बिना, उस समस्या की उलझन भी नहीं मिट सकती। पहले जब मुसलमान यहाँ आये थे, तब अज्ञात-कुल-शील होने के कारण उस समय उनके साथ जो असहयोग तमाम धार्मिक और सामाजिक कार्यों में किया गया, वह ठीक था। पर अब वह असहयोग समाज के लिए सदा ही हानिकर होता रहेगा। अब वे इसी देश के मनुष्य हैं। हिन्दुओं का सर्वोच्च वेदान्त-धर्म वैयक्तिक नहीं। इसलिए हिन्दू-धर्म को

किसी ख़ास परिभाषा के द्वारा सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। उसमें जो सामाजिक आचार-विचार समयानुसार बनते, चलते तथा बदलते रहे हैं, वे सनातन नहीं, वे समय के अनुसार आवश्यकता की पूर्ति तथा जाति की रक्षा के लिए तैयार किये गये हैं। मुसलमान तथा अन्य-अन्य जो जातियाँ हिन्दुस्थान में बसी हुई हैं, उनसे यदि हिन्दुओं का सामाजिक व्यवहार न रहे, तो सदा ही उनसे तकरार होती रहेगी, जिससे नुक़सान के सिवा फ़ायदा कभी नहीं हो सकता। रही बात यह कि शुद्धि के प्रचलन से मुसलमानों को हिन्दू बनाओ, यह नितान्त भ्रमोत्पादक उक्ति है। हिन्दू अगर मुसलमानों को हिन्दू बना सकते हैं, तो मुसलमान भी तबलीग़ जानते हैं, और इससे स्पर्द्धा के सिवा कभी मैत्री की स्थापना नहीं हो सकती। पर अगर मुसलमानों के साथ पान-पानी आदि प्राथमिक साधारण व्यवहार जारी हो जाय, तो इससे हिन्दुओं की ज़बानी मैत्री वास्तव में कुछ काम कर दिखा सकती है, और हमेशा की यह मार-काट बन्द हो जायगी। धर्म के नाम पर जो यह इतना बड़ा हत्याकाण्ड हो जाया करता है, न होगा। समाज की यह प्रगति उसी शिक्षा के द्वारा हो सकती है, जिसमें वर्तमान देश, काल तथा पात्र के समझने की शक्ति है। केवल मनुस्मृति को रटकर रख देने से अथवा त्रिकाल-सन्ध्या की विधियों का बाक़ायदा निर्वाह करने से केवल कुछ 'हं, लं, वं' के द्वारा निरर्थक जीवन पार कर देना ही होगा, इससे शिक्षा का यथार्थ तत्त्व मस्तिष्क के अन्दर नहीं पैठ सकता। रही बात इस भय की कि हिन्दू मुसलमानों में हज़म हो जायँगे, सो यह भय तो पं. नत्थाराम को ही हो सकता है, किसी समझदार को नहीं, जो अपने मुसलमान भाई के यहाँ भोजन करके भी अपने इष्ट, देश, जाति तथा धर्म की दृष्टि में पवित्र ही रहता है।

हम जानते हैं, हमारी ये बातें अधिकांश लोगों को अरुचिकर मालूम होंगी, पर जिन्हें ऐसा होगा और होता रहता है, उनकी बुद्धि का अन्दाज़ा हमने पहले ही से लगा लिया है। महात्माजी ने जो समाज के लिए नयी सलाह दी है, वह भी समाज में कम खलबली नहीं पैदा करेगी, कम-से-कम यू० पी० के समाज में। सरकार के साथ जो लोग पुलिस, फौज तथा अदालतों में रहकर सहयोग करते हैं, वे अपने ही देश के भाइयों की प्रगति के बाधक समझे जाते हैं। महात्माजी ने हर तरह से उनके सामाजिक बहिष्कार की आज्ञा दी है, और वर्तमान वायु-मण्डल को देखकर हमारा विश्वास दृढ़ हो गया है कि अनेक प्रान्तों के लोग ऐसा करेंगे भी। वहाँ भी ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं। उनका अगर सरकार से सहयोग करने के कारण सामाजिक बहिष्कार किया गया, तो अवश्य ही समाज में एक नया और बड़ा ज़ोरदार आन्दोलन पैदा होगा। अपने आदमियों की रक्षा के लिए सरकार ने नये आर्डिनेंस जारी कर दिये हैं, जिनका हमने अन्यत्र उल्लेख किया है। पर अगर हमारे यू. पी. में भी कहीं अपर प्रान्तों का यही प्रसंग छिड़ गया, तो सोचिए कि बाबा मनु फिर किस ताक़ पर रह जायँगे। यदि वाजपेयीजी कहीं पुलिस या फ़ौज़ में नौकर हुए, और उन्होंने नौकरी न छोड़ी, और उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया, तो सरकार चाहे उनके विरोधियों में से अधिकांश को सख़्त-से-सख़्त सज़ा क्यों न कर दे और यदि किसी ने उनके बेटे से अपनी लड़की की शादी न की, तो बहुत प्रसन्न होकर विलायत की ही किसी मिस से विवाह करा देने के लिए तुल जाय, पर वाजपेयीजी की त्रिकाल-सन्ध्या तो समाज द्वारा बेगार ही ठहरायी गयी न ? मुसलमानों की मैत्रीवाला विचार भी उसी तरह का है। सब प्रणालियाँ मनुष्यों ने ही सोचकर समय-समय पर अपनी भलाई के लिए समाज में चलायी हैं। यदि हम उन्हें पकड़कर उन्हें ही अपना धर्म मान बैठें, तो हम धोखा खायँगे। कारण, हम

एक जड़ तरीके को धर्म समझ लेंगे। धर्म कभी कोई क़ानून, कोई रीति नहीं हो सकता। इसलिए हमें अपने समाज को हर वक्त इस प्रकार तैयार रखना चाहिए कि फ़ौज के सिपाहियों की तरह, इच्छानुसार, जब जैसी ज़रूरत पड़े, हम समाज को उसी तरह, उसी रूप में, उसी राह से निकाल ले जायँ। यह है समाज के सभ्य शासन, नियन्त्रण और संचालन की बात। पर जब एक ही रूढ़ि को, एक ही आदत को अज्ञात भाव से हम मानते जायँगे, तब उस आदत की तरह हम भी जड़ बन जायँगे। किसी गाड़ी को एक ही राह से चलाने का कोई फ़ायदा नहीं, वह राह पहले भले ही बहुत अच्छी रही हो। यदि उस राह पर कोई पहाड़ टूटकर गिर गया हो और वह रुक गयी हो, तो समझदार चलानेवाला रास्ता काटकर ही गाड़ी निकालेगा। यदि दूसरा रास्ता न हो, तो तैयार करके निकलेगा। पर पहाड़ उठाकर गाड़ी निकालने की मूर्खता कोई नहीं कर सकता। हमारे समाज की राह पर इस समय अड़चनों का पहाड़ टूट पड़ा है, और हम लोग न तो दूसरे ही रास्ते से गाड़ी निकाल रहे हैं, और न स्वयं रास्ता तैयार कर रहे हैं, बल्कि बेहोश हुए बराबर उसी पहाड़ से टकरा रहे हैं, और हमारी अक्लमन्दी पर दूसरे समाज के लोग इशारेबाज़ियाँ तथा मज़ाक़ कर रहे हैं!

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## 'स्टेट्समैन' की राजनीतिज्ञता

श्री ऐनीबेसेन्ट ने भारत को शीघ्र ही स्वराज्य देने के लिए कहा था। वह भारत में दीर्घकाल से रह रही हैं, और भारत की परिस्थिति से अच्छी तरह परिचित हैं। इधर जब गोल-मेज-बैठक के लिए उनके पास निमन्त्रण गया, तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों के अनुकूल यह प्रश्न किया है कि भारत को स्वराज्य दिया जायगा या नहीं। यदि स्वराज्य से किसी अल्पांश के द्वारा ही भारत को सन्तुष्ट किया जा रहा हो, तो वह उस सभा में सम्मिलित नहीं होंगी। मालवीयजी ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि गोल-मेज-बैठक में किसी भी भारतीय को सम्मिलित नहीं होना चाहिए। और-और नेता पहले ही पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अनेकानेक उक्तियाँ कर चुके हैं। इससे भारत के अधिक जन-समूह की मनोवृत्ति का अच्छी तरह पता लग जाता है। महासमर के प्रारम्भ से लेकर आज तक विलायत की सरकार ने बराबर भारतवासियों को धोखा दिया है, और अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति नहीं की। यह अँगरेज़ पत्रकार भी जानते हैं। पर उनके हृदय का ज़हर भारतवासियों के प्रति कभी-कभी बड़ी तीव्रता से प्रकट हो जाता है, और जिस भेद-नीति के आश्रय से भारत में अँगरेज़ी सरकार टिकी हुई है, वह किसी-न-किसी तरह से निकल ही पड़ता है। गत 8 जून का 'स्टेट्समैन' श्रीमती ऐनीबेसेन्ट की उक्ति पर लिखता है—
"So long as democratic principles remain what they are now understood to be and the balance of power is ascretained by a counting of individuals, self government in India, whether it

be called dominion status or anything else, means that the country will be governed by the majority and as circumstances are in India to-day that means it will be governed by the Hindus."

हिन्दुओं की संख्या अधिक समझकर 'स्टेट्समैन' को व्यर्थ ही इतनी चिन्ता है। और, अगर इस तरह हिन्दुस्थान की छाती पर रहकर वह यह राजनीतिज्ञता बघारता हो, तो उनसे हिन्दुओं की राजनीति का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना था, और यह स्वराज्य हिन्दुओं का स्वराज्य होगा, कहने के तात्पर्य में हिन्दू-मुसलमानों की बढ़ती हुई मित्रता की ही उसने सूचना दी है। उसे मालूम हो जाना चाहिए कि हिन्दू और मुसलमान अब दगाबाजों को खूब समझ गये हैं। अब वे दिन गये, जब आप लोग फ़ाकता उड़ाते थे, अब वे दिन आ रहे हैं, जब आप लोगों को भी बोरियाँ बँधना समेटना होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## व्यंग्य-विनोद

आजकल छायावादियों में 'प्रसाद'जी का घोड़ा तेज़ जा रहा है। दिक्क़त सिर्फ़ एक है। घोड़ा नाज़ुक है, 'प्रसाद'जी स्थूल।

'निराला'जी का ऊँट बुरा नहीं, लत बुरी। घुटने टेक दिये, तो उठना क़सम। खोदिए, करवट बदल दी। फिर चुप।

पन्तजी बाबू महादेवप्रसादजी सेठ को लिखनेवाले हैं, अब आप अपना पुराना मोटो बदल दीजिए, अब 'तुंग हिमालय-शैल-शृंग' मुझे लिखिए, और 'चंचल-गति सुर-सरिता' 'निराला'जी को।

गर्म खबर है कि 'माधुरी' के अगले अंक में मुख्य सम्पादकीय नोट नायिकावाद पर होगा।

'त्याग-भूमि' में आते ही 'सुमन'जी ने हुण्डी उलट दी। पहले पृष्ठ की पहली ही पंक्ति में बानगी—"मेरे जीते, मैं देखूँ, तेरे पैरों में कड़ियाँ ?" अर्थात् "मैं मेरे जीते तेरे पैरों की कड़ियाँ देखूँ ?" देश-भक्ति का उबाल है न ? शुद्धाशुद्ध का खयाल नहीं रहा, न कवि को, न सम्पादक को। और भी सुनिए। इसके बाद है—"क्यों न टूट पड़ती हैं मुझ पर नभ की ये फुलझड़ियाँ ?" फुलझड़ियाँ जैसे कोई तोप के गोले हों।

हों-न-हों, 'कड़ियाँ' का तुक तो मिलना ही था। 'घड़ियाँ' का प्रयोग हृदय-वादी जुठार चुके थे, 'छड़ियाँ', 'लड़ियाँ' शृंगार-पथियों के हक में गयी थीं, 'जड़ियाँ'

वैद्यराजों की झोली में, कवि के हाथ 'फुलझड़ियाँ' लगीं, बैठा दिया। भाव पर बे-भाव की पड़े तो पड़े। कवि का क्या कुसूर ? तुक तो चाहिए ही।

कहते हैं, बनारस में शीघ्र मुछन्दर-मुछमुण्ड-भिड़न्त होगी। कारण है 'काव्य में रहस्यवाद'—पुस्तक।

सुनते हैं, 'उग्र'जी 'दीन'जी के पास फिर जानेवाले हैं। कारण, उनकी प्रतिभा का गैस उड़ गया है, दीनजी पम्प करके फिर साहित्य-संसार में छोड़ देंगे।

समझ में नहीं ग्राता कि उपाध्यायजी लोगों से इतनी मीठी-मीठी बातें क्यों करते हैं। सम्मेलन के सभापति तो हो चुके।

दीनजी जहाँ रहते हैं, वहाँ विद्यार्थियों को नाक दबाकर जाना पड़ता है। इसलिए दीनजी को 20) मासिक एलाउएंस मिलेगा।

बहुत सोचकर साहित्य-मन्त्री श्रीयुत् कृष्णदेवप्रसाद गौड़ एम. ए. ने 'प्रसाद'-प्रशंसा की सोल एजेंसी ली थी। पर ग्रभी तक विशेष फ़ायदा नहीं हुग्रा। ग्रगले साल से छोड़ देनेवाले हैं।

जोशी-बन्धुग्रों में साहित्य के विरह ने फिर जोर मारा है। चतुर्वेदी बनारसीदास-जी उन्हें ढाढ़स दे रहे हैं। यह विरह 'विशाल-भारत' के 'कला-ग्रंक' के लिए चढ़ा है।

'विशाल-भारत' का कला-ग्रंक ग्रद्वितीय होगा। पर ग्राहक ग्रब तक ग्रतृतीय हैं।

चतुर्वेदीजी से किसी ने पूछा, क्या ग्रापका यह कलांक 1930 ई. में निकल जायेगा ? ग्रापने कहा, हाँ, प्रो. तारादास ग्रगली फरवरी तक लेख भेज देंगे।

हास्यरसावतार पं. जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी स्टेट की मैनेजरी छोड़नेवाले हैं। क्योंकि वहाँ उन्हें मारवाड़ी नहीं मिलते।

प्रो. पं. सकलनारायण शर्मा को चतुर्वेदीजी का गद्य ज्यादा पसन्द है। क्योंकि उसमें कभी-कभी उन्हें सुधार करने का मौका मिलता है।

शास्त्री चतुरसेनजी 'चाँद' के लिए "ग्रब, जब, तब" लिख रहे हैं। सहगलजी जप रहे हैं—"सब, कब", "सब, कब"।

कहते हैं, जब सहगलजी का मन्त्र सिद्ध हो जायगा, तब ये बातें उलट जायँगी, सहगलजी कहेंगे—"ग्रब, जब, तब", चतुरसेनजी जपेंगे—"सब, कब"।

पं. विनोदशंकर व्यास ग्राजकल निराश हैं। क्योंकि उग्र-मन्त्र का उन्हें ग्राशु-फल मिला है।

पं. देवीदत्त शुक्ल तन्त्र-मत पर क्यों ज्यादा लिखते हैं, उसका पता लगाते-लगाते लोगों ने अब मतलब लगा पाया है। कहते हैं, इसलिए, चूँकि वह बाला के शुक्ल हैं।

प्रो. पं. बदरीनाथजी भट्ट ने पाँच महीने की छुट्टी ली है। भट्टजी कहते हैं, स्वास्थ्य-सुधार करेंगे। मित्र लोग कहते हैं, कोई बड़ा शिकार फाँसा है।

भट्टजी की जगह के लिए इलाहाबाद वाले दो हिन्दी के एम्. ए. सिर के बल खड़े हैं। पर जगह किसी वलियाटिक को मिलनेवाली है।

अभ्युदय-सम्पादक पं. कृष्णकान्तजी वर्तमान आन्दोलन के सूत्रधार होकर भी स्कूली किताबें छपवाना चाहते हैं, इसलिए कि शिक्षा आदि जो कुछ विभाग मिल गये हैं, वे अपने हैं, जो नहीं मिले, उनके लिए पूर्ण-स्वतन्त्रता-संग्राम होगा।

पं. रामनरेशजी त्रिपाठी अब "नरेश-कौमुदी" निकालनेवाले हैं। इसमें सब राज-कवि होंगे। जिन राजा और तअल्लुकदारों के पिता-प्रपितामह कवि थे भी नहीं, त्रिपाठीजी को उनके काव्य की भी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो गयी हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## आर्यों की आदिभूमि, पंजाब

वेद अपौरुषेय कहलाते हैं। कम-से-कम हिन्दोस्तान के अधिकांश मनुष्यों का यही विश्वास है। वे मनुष्य-कृत नहीं, ब्रह्मा के मुख से निकले हैं। महाप्रलय होने पर वे फिर अनादि आत्मा में लीन हो जायेंगे। हिन्दुओं के इस विश्वास में, और कुछ नहीं तो, वेदों की प्राचीनता अवश्य ही सूचित होती है। आजकल बहुत-से अँगरेज़ विद्वान् भी हैं, जो वेदों को ही संसार के साहित्य में सबसे पुराना मानते हैं।

इन पश्चिमी पण्डितों और उनके पूर्वीय शिष्यों के मत से वेदों की रचना, प्राचीन पंजाब में, ईसा के डेढ़-दो हज़ार साल पहले, हुई थी, और इन मन्त्रों के निर्माता ऋषि मध्य योरप की किसी जगह से आये थे। वे कहते हैं, पहले यहाँ काले-काले आदमी, चोर, लुटेरे आदि के रूप में, रहते थे। उन लोगों ने लड़ाई में इन्हें परास्त किया। फिर यहाँ अपना दख़ल जमा बैठे। उनके मत से आर्यों की यह चढ़ाई चार-पाँच हज़ार साल पहले यहाँ हुई थी। भारतवर्ष के अधिकांश पण्डितों की यही राय है, और इसी के आधार पर यहाँ के प्राचीन इतिहास का निर्माण हुआ, और स्कूलों तथा कॉलेजों में हमारे लड़के यही पढ़ते और इसी सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं।

आजकल वेदों का पठन-पाठन हमारे देश में एक प्रकार है ही नहीं। स्वामी दयानन्दजी सरस्वती को इस देश में वेद-पाठ के उद्धार का सबसे बड़ा श्रेय है।

पश्चिम के विद्वानों ने भी इसके उद्धार के लिए बड़ा परिश्रम किया। आचार्य मैक्समूलर की लगातार 40 साल की तपस्या प्रसिद्ध है, जिससे वेदों का यथार्थ उद्धार हुआ, और यन्त्रालय से मुद्रित होकर निकलने की नौबत आयी। स्वामी दयानन्द के स्कूल के पं. भीमसेन शर्मा जैसे भारत के प्रतिष्ठित वैदिक विद्वान् अब तक बहुत थोड़े हुए हैं, जिससे यह कहने में कोई द्विधा नहीं होनी चाहिए कि अब वेद-पाठ में योरप का ही प्राधान्य यहाँ माना जाता है, और इस देश के लोगों में उन्हीं की राय मानी भी जाती है। यहाँ के दो-एक वैदिक पण्डितों को छोड़कर पश्चिमी विद्वानों के मतों पर और दूसरे पण्डितों ने रायज़नी नहीं की। पश्चिम के लोगों के पास अर्थ है, सुविधाएँ हैं, सुयोग हैं, प्रोत्साहन मिलता है, ख़र्च के लिए देश से अर्थ मिलता है, स्वाधीनता है, इसलिए वे अपने उद्यम में सफल होते हैं। वे प्रसन्न हैं, स्वच्छन्द हैं, जीवन की जटिलताओं का प्राप्त शक्ति से मुक़ाबला कर जाते हैं। और लोग, जो अपर कारणों से दबे हुए हैं, उनके स्वच्छन्द विचारों से भी दब जाते हैं; न दबने पर भी उसी वज़न का उत्तर देने के लिए उनके पास न तो समय है, न विद्या, न प्रोत्साहन और न ख़र्च।

जिन दो-एक मनुष्यों ने पश्चिमी विद्वानों को अपनी आलोचना द्वारा उत्तर दिये, और एक प्रतिकूल मत की स्थापना की थी, वेदों में आर्यों के सम्बन्ध का एक नया आविष्कार किया, स्वर्गीय लोकमान्य बालगंगाधर तिलक उन्हीं में से एक हैं। 1903 ई. को इन्होंने आर्कटिक्स् होम इन दि वेदज् (Arctics Home in the Vedas) नाम की एक किताब लिखी। इसके बाद बंगाल में पण्डित उमेशचन्द्र विद्यारत्न महाशय ने मंगोलिया-प्रदेश में आर्यों का आदिस्थल साबित करते हुए बंगला में एक किताब लिखी। गुजरात के श्रीयुत् पावगीजी ने Aryavartic Home द्वारा आर्यावर्त को ही आर्यों की आदिम भूमि सिद्ध किया। इधर अनेक प्रमाणों से पं. रघुनन्दन शर्मा साहित्य-भूषण महोदय ने हिन्दी में अक्षर-विज्ञान लिखकर उसके एक प्रकरण में गंगा, यमुना और सरस्वती के बीच की भूमि में ही आर्यों का आदिम वास सिद्ध किया। श्रीयुत् अविनाशचन्द्र दास महाशय के अन्दर लोकमान्य तिलक की पुस्तक पढ़ने के बाद, वैदिक साहित्य के अवलोकन की इच्छा प्रबल हुई। 15 साल तक उन्होंने वैदिक साहित्य पढ़ने की तैयारी की, और वेदों का अध्ययन किया। आपके मत से आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद-संहिता के समूह-मन्त्र सप्तसिन्धु (वर्तमान पंचनद या पंजाब) में ही तीन युगों तक लगातार आविष्कृत होते रहे (ऋग्वेद3।32।13; 6।21।5)। आपका कहना है कि उस समय देश की भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं थी। पंचनद या सप्तसिन्धु के कुछ दूर पूर्व से लेकर आसाम की उपत्यका तक समुद्र था। पंजाब के दक्षिण तरफ़, वर्तमान राजपूताना में, एक दूसरा समुद्र था। पश्चिम तरफ़ आजकल के सिन्धु-देश को जोड़कर एक दूसरा समुद्र था, और उत्तर तरफ हिन्दुकुश-पर्वत के उत्तर तमाम मध्य एशिया-भर में एक बृहत् और भूमध्यसागर था। इन चारों समुद्रों की सीमा के भीतर आर्य-भूमि थी (ऋग्वेद 9। 33। 6; 10। 47। 2)। सप्तसिन्धु-प्रदेश के उत्तर-पश्चिम, वाह्लीक, गान्धार और वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान और पश्चिम की वर्तमान आरकोसिया (Arachosia) आर्य-भूमि के अन्तर्गत थी। ऋग्वेद में कुभा (आजकल की काबुल-नदी), क्रुमु (वर्तमान कुरम-नदी) और वजीरिस्तान के प्रान्त भागों से प्रवाहित गोमती (आजकल की गोमल-नदी) आदि के उल्लेख मिलते हैं। इन नदियों के तट पर रहकर आर्य-ऋषि याग-यज्ञ किया करते थे। ऋग्वेद में वाह्लीक में प्रवाहित कुछ और नदियों के भी उल्लेख मिलते हैं, और उसमें पंचनद

या सप्तसिन्धु की तो सभी नदियों का ज़िक्र आया है। उत्तर के हिमालय तथा मूजवान (आधुनिक कैलास) का भी प्रसंग मिलता है।* मूजवान-पर्वत पर उत्तम सोमलता पैदा होती थी।

ऋग्वेद में कीकट आदि देशों के जो वर्णन आये हैं, वे अवश्य ही परवर्ती काल के हैं। कीकट मगध के दक्षिण के एक पर्वत का हिस्सा है। यह टापू-सा था। चारों ओर सब समुद्र था। कारण, कोशल, पांचाल, वत्स, विदेह, अंग-वंग आदि के उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलते। इससे जान पड़ता है कि ये सब देश उस समय जल-मग्न थे, और कीकट-पार्वत्य एक टापू-सा था। वहाँ के लोग दूध के साथ सोमलता का रस मिलाकर देवतों को अर्पित नहीं करते थे। गाएँ भी ज्यादा दूध नहीं देती थीं।

पंजाब ही आर्यों का आदिम स्थान है। दृशद्वती का उल्लेख ऋग्वेद में सिर्फ़ दो बार आया है। गंगा और यमुना का उल्लेख है ही नहीं। कारण, ये नदियाँ हिमालय से चलकर नीचे समुद्र में मिल जाती थीं। आकार की छोटी थीं, इसलिए उल्लेख नहीं हुआ। फिर ज्यों-ज्यों समुद्र हटता गया, ये अपना पथ निकालकर समुद्र की तरफ़ बढ़ती गयीं, और इनके तटों की भूमि को वास के योग्य देख, यज्ञादि द्वारा स्थानों की शुद्धि कर आर्य लोग पंजाब से पूर्व को बढ़ते आये।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## व्याख्यान का नतीजा

1929 ई. की 7वीं नवम्बर को बनारस-स्टार-कैम्प में, श्रीमती ऐनीबेसेन्ट के प्रचारित नये मसीहा श्री कृष्णमूर्तिजी का भाषण हुआ था, जो 'नव ज्योति' की गत मई की संख्या में निकला है। जब ज़र्रे-ज़र्रे में कवियों को ख़ुदा देख पड़ता है, दार्शनिकों को ईश्वरीय सत्ता के सिवा दूसरी सत्ता देख ही नहीं पड़ती—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" है, तब व्यक्ति-विशेष में किसी को या किसी सम्प्रदाय को ईश्वरी शक्ति का विकास देख पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसके मूल में यदि कोई अपर उद्देश्य हो, जिधर युक्ति और तर्क स्वभावत: प्रेरित कर देते हैं, तो उसके लिए भी विशेष चिन्ता की बात नहीं, जबकि राह भूलना राह चलते हुए मनुष्यों के स्वभाव में दाखिल है, और खोजकर फिर राह पर आ जाना भी उनका स्वभाव।

इस व्याख्यान में श्री कृष्णमूर्तिजी श्रीगणेश में ही कहते हैं—"संसार में कोई नयी बात नहीं। प्रत्येक वस्तु पर विचार हुआ है, विचार को हर प्रकार से समझाया जा चुका है, और प्रत्येक दृष्टिकोण दिखलाया जा चुका है। जो पूर्व-

* महाभारत में (१४।८।१) मुंजवान् या मूजवान्-पर्वत के सम्बन्ध में लिखा है—

"गिरेर्हिमवत: पृष्ठे मुंजवान् नाम पर्वत: ।
तप्यते तत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिम् ।"

यास्क के निरुक्त में भी है—"मौजवतो मूजवति जातो मुजवान् पर्वतो मुंजवान् मुंज।"

काल में कहा गया है, वही भविष्य में भी सदैव कहा जायगा, इसलिए साधारण दृष्टिकोण से कोई बात नयी नहीं हो सकती। आप केवल उसी बात को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं। परन्तु उस मनुष्य के लिए, जो किसी चीज़ की, किसी विचार की स्वयं परीक्षा करना चाहता है, प्रत्येक वस्तु नयी हो जाती है।"

क्यों नयी हो जाती है, किस तरह नयी हो जाती है, यह आपने नहीं बतलाया। क्या लाल वस्तु पीली दिखने लगती है या हरी सफ़ेद? या "उसे मारो" का अर्थ "मुझे मारो" प्रतीत होने लगता है? जितने शब्द आपने अपने व्याख्यान में प्रयुक्त किये हैं, उनमें कोई भी आपका गढ़ा हुआ न होगा, और अवश्य नहीं, फिर उनके संगठन से तैयार हुआ एक अर्थ ही आपका कैसे होगा? और जो आपने कहा, "यदि किसी को सब धार्मिक पुस्तकों, विचार के आविर्भावों और शब्दों के मायाजाल से परे जाने की इच्छा है, तो उसके लिए प्रत्येक वस्तु नवीन, स्पष्ट और सारगर्भित हो जाती है।" अर्थात् अभी जो हम बसन्त-काल में पत्तों और फूलों की शोभा देखते हैं, इनका रंग तब और गहरा या हलका दिखने लगेगा? और वही नवीन तथा स्पष्ट होगा—ऐसा? अथवा, आँखों में अभी जो प्रकाश है, उसकी जगह पावरवाले चश्मे की तरह दूसरी शक्ति भर जायगी, जिससे वस्तु की सच्ची सत्ता दिखने लगेगी—ऐसा? और सारगर्भित, किस तरह सारगर्भित? अभी आम के जिस स्वाद का ज्ञान है, तब दूसरा ही स्वाद मिलेगा और तभी आम सारगर्भित मालूम होगा—ऐसा? आपने कुछ समझाया नहीं। छायावादी या रहस्यवादी तरीके से कहते ही चले गये हैं।

पहले आपने कहा, नया नहीं, अब कहते हैं—

"जीवन के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए आप परम्परा से चली आयी विचार-शैली या पुराने खयालों को दिमाग में रखकर उस महत्त्व के पास नहीं पहुँच सकते (हम कहेंगे, पहुँच सकते हैं, पहुँचे हैं, पहुँचते हैं, और पहुँचेंगे—सं.), चाहे आप पुराने साहित्य में कितने ही निपुण क्यों न हों, और चाहे उन मीठे-मीठे सिद्धान्तों को भले ही क्यों न जानते हों, जिनका मूल्य कुछ नहीं है।" और यदि कोई नया कवि हो, ख़ूब नयी-नयी बातें बनाना जानता हो, किताबें पढ़कर उनकी पंक्तियों का यहाँ-वहाँ प्रयोग करता हो, सिर के चारों ओर उँगली फेर-फेरकर नाक दिखाता हो तो?

एक बात और बड़े मजे की है। जहाँ प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म है, चेतन सत्ता है, स्वतन्त्रता के बीज हैं, और प्रोत्साहन से उसके वे गुण विकसित होने लगते हैं, जैसा कि कहा जाता है—"डाँके दून, प्रचारे चौगुन," वहाँ आप सबको मिट्टी का पुतला समझकर उपदेश देते हैं, यानी डूबते हुए पर और बोझ बनकर गिरते हैं, जड़त्व-गुणाश्रय मनुष्यों पर अपनी तरफ से भी जड़ प्रहार करते हैं। आपने अपनी स्वतन्त्रता की जैसी आवाज़ लगायी है, वह वास्तव में भ्रमात्मक नहीं, इसका आपके पास क्या प्रमाण है? और, स्वयं भ्रमित होकर दूसरों को आप भटका रहे हैं, इसके विरोध में ही आपके पास कौन-सी युक्ति है? आपने जो कुछ कहा है, उसका जब अधिकांश ही हमें पुराना, विशृंखल रूप से रखा हुआ दिखलायी दे रहा है, तब एक बहुत बड़ी नवीनता आपको मिल गयी हमें इस पर कैसे विश्वास हो?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## मार्जन और स्वतन्त्रता

विद्या ज्ञान है। ज्ञान का प्रकाश मार्जन। इससे मन और बुद्धि प्रखर होती है, चमकती है, जैसे अस्त्र शान पर। हमारी पराधीनता का कारण अविद्या है, जिसके अन्धकार में हम दिग्भ्रान्त पथिक की तरह लक्ष्य-शून्य चलते ही जा रहे हैं। मार्जन अथवा प्रकाश पथ का निर्णायक है। उससे उद्देश्य और विधेय का ज्ञान होता है, मनुष्य केवल यन्त्र नहीं रह जाता, उसे अपने कर्तृत्व का बोध होता है।

प्रकाश के आने पर मनुष्य अपनी राह आप खोज लेता है। तमाम मनुष्यों को एक ही मार्ग से चलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सब मनुष्यों को एक मार्ग से ले चलना उन्हें बुद्धि से तिरस्कृत करना, यन्त्र कर देना है। और, जब तक विद्या का प्रकाश नहीं फैलता, मनुष्य आप ही अपने पथ का निर्देश नहीं कर सकता। सूर्य एक है, पर पादप सहस्र-सहस्र। इसी तरह ज्ञान एक है, पर जीवनोपाय अनेक। वे अनेक जीवनोपाय उस प्रकाश के बिना नहीं सूझ सकते। प्रकाश में, जितनी गुत्थियाँ हैं, सुलझ जाती हैं।

संगठन भी ज्ञान-मूलक ही दृढ़ हुआ करता है। तोते को रटाइए; बाबा, काका, दादा कहेगा। पर उसे इन शब्दों के अर्थ नहीं मालूम, इसलिए इस शब्द-जन्य संगठन का सूत्र उसके पास नहीं। उसके बाबा, काका, दादा शब्दों को सुनकर प्रसन्न होनेवाले भी सहानुभूति के मोह में हैं।

चीनवालों ने अफ़ीम छोड़ दी, उन्हें अपनी कमजोरी का पता चला। इटली ने अपने चारों ओर की अवस्था देखी। चौदह सौ वर्ष के बाद स्वाधीन हो गया। आज वह योरप के आश्चर्य का केन्द्र है। इसकी जड़ में है मार्जन और व्यक्तिगत विकास का महत्त्व।

किसी भी देश को एक ही प्रकार की उन्नति अभीप्सित नहीं। एक ही प्रकार की उन्नति यथार्थ उन्नति है भी नहीं। उन्नति वही, जो सब तरफ से हो। सार्वभौमिक उन्नयन व्यक्तित्व के विकास से होता है, जब हर मनुष्य अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर विकास प्राप्त करे। मनुष्य में ऐसी इच्छा-शक्ति विद्या-जन्य मार्जन के द्वारा ही आ सकती है, अन्यथा बुद्धि विकसित नहीं हो सकती।

इंगलैण्ड की शक्ति अपराजित है, जिसका कारण, वहाँ के मनुष्य हर मार्ग से बहुत दूर तक पहुँचे हुए हैं, हर रास्ते का हाल बतला सकते हैं, और देश पर संकट पड़ने पर सब लोग एक ही व्यूह में सम्बद्ध हो जाते हैं। फल यह होता है कि जितने प्रकार से उन लोगों ने तरक्की करके स्वतन्त्रता को कायम रखा है, वे सब प्रकार उनके संगठित युद्ध में अमोघ अस्त्रों की तरह काम देते हैं। केवल भेड़धसान से मनुष्य-समूह के लिए हारने की ही अधिक सम्भावना रहती है। कारण, अमार्जित मनुष्य परमुखापेक्षी हुआ करता है। वह हर वक्त अपने चलने के लिए दूसरे के इंगित की अपेक्षा में रहता है, अतः वह सदा ही पराधीन है।

मार्जन प्रभावित करनेवाला है, प्रभावित होनेवाला नहीं। प्रत्येक विभाग के उच्चतम मनुष्यों ने ही संसार के अपर मनुष्यों को प्रभावित कर रखा है। ऐसे मनुष्य भारतवर्ष में भी हैं। पर समष्टि ऐसी नहीं, इसीलिए ज्ञान-जन्य वृहत् संगठन नहीं हो पाता। ज्ञान और मार्जन ही स्वतन्त्रता के आधार हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## वस्त्र-समस्या

विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार की धूम है। देश के युवक हज़ारों की संख्या में पिकेटिंग करते हुए जेल चले गये। इधर महिलाओं ने भी इस आन्दोलत में भाग लिया है। अब तक भारत की महिलाओं में जागृति नहीं हुई थी। इस आन्दोलन से वे अपने मकान की सीमा को पार कर देश-भर में फैल गयी हैं। अनेक प्रकार की यातनाएँ, अपमान, लांछन बरदाश्त करती हैं, पर अपने उद्देश्य की ओर बढ़ती ही जा रही हैं। अभी बम्बई में महिलाओं ने जुलूस निकाला, और ढाई लाख राष्ट्रीय झण्डे बेचे। उनके प्रयत्न से तीन लाख के करीब बम्बई के लोगों ने स्वदेशी कपड़े पहनने की प्रतिज्ञा की। अभी-अभी वर्तमान राष्ट्रपति पटेल ने बम्बई के व्यापारियों की सभा में भाषण करते हुए कहा, 1921 ई. में अगर आप लोग महात्माजी की पुकार के अनुसार काम करते, तो आज यह नौबत ही न आती। इस समय जो आन्दोलन खड़ा हुआ है, इसे देखते हुए, आप लोगों को पीछे नहीं हटना चाहिए; कारण, इस आन्दोलन को धक्का पहुँचा, तो आप लोगों को दोहरी हानि उठानी पड़ेगी। कांग्रेस की आज्ञा के अनुसार चलने से आपका दिवाला निकलता है, पर विदेशी वस्त्रों के विक्रय से देश चौपट हुआ जा रहा है। जब से आप लोगों ने व्यापार शुरू किया, अरबों रुपये विदेश भेज चुके, अब अपनी हानि का मुकाबला करके बतलाइए कि यह ठीक है या नहीं।

वस्त्रों के सम्बन्ध में पूज्या श्रीमती गाँधी ने उत्तर भारत के दौरे में जो कहा था कि देवियाँ चर्खे चलायें, यह बड़े काम की बात है। गाँवों के लोग यदि इतना भी ध्यान दें कि अपने-अपने परिवार-भर के कपड़े का सूत अपने ही घरों में कात लिया करें, तो एक बहुत बड़ी समस्या हल हो जाय। अन्न और वस्त्रवाला सवाल जब तक गृहस्थ स्वयं हल नहीं कर लेता, उसे विपत्ति का सामना करना पड़ता है। हर जिले में एक-एक चर्खा-संघ स्थापित होना चाहिए जिसकी अनेक शाखाएँ हों, और उस जिले के कस्बों तथा बड़े-बड़े गाँवों से फूटी हुई, ज़िले के एक ही केन्द्र से जुड़ी हुई हों, ज़िले-भर को वस्त्र देने का भार केन्द्र रक्खे, और खर्च का हिसाब, ताकि अगले साल से कम-से-कम उतनी कपास खेती द्वारा वहाँ पैदा करा ली जाय, और यदि वहाँ कपास की खेती न होती हो, तो दूसरे केन्द्रों से उसकी पूर्ति करायी जाय। इस तरह व्यापक वस्त्र-व्यवसाय के साथ-साथ ग्राम-संगठन भी सुदृढ़ होगा, और भारतवर्ष-भर का वस्त्र-व्यवसाय अपने अधिकार में रहेगा। इसके लिए कार्यकर्त्ताओं को बहुत शीघ्र ध्यान देना चाहिए। जैसा कि पहले नेताओं ने कहा है, हिन्दोस्तान की मिलों से दो-तिहाई कपड़ा निकल आता है, फिर कोई कारण नहीं कि एक ही साल के उद्यम से एक-तिहाई खद्दर-वस्त्र तैयार न कर लिये जा सकें।

यदि वस्त्रों के निर्माण में ग़फ़लत होगी, इसी तरह बाहरी आडम्बर में लोग पड़े रहेंगे, तो एक समय इसका अभाव बहुत ही बुरी तरह धक्का देगा। शहर और देहात के लोगों तथा व्यवसायियों को इधर जल्द ध्यान देना चाहिए।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## कविवर रॉबर्ट ब्रिजेज़

इँगलैण्ड के प्रख्यात कवि रॉबर्ट ब्रिजेज़ इस नश्वर-संसार में अपनी अमर रचनाएँ छोड़कर गत 21 एप्रिल, 1930 ई. को सुरलोक प्रयाण कर गये। आप अँगरेज़ी साहित्य के Poet Laureate[1] थे।

आपका जन्म 23 अॉक्टोबर (Encyclopaedia Britannica[2] के हाल के संस्करण के अनुसार 25 अॉक्टोबर), 1844 ई. को इँगलैण्ड के नार्थ सी (North Sea) ज़िले में हुआ था। आपके पिता मिस्टर आई. टी. ब्रिजेज़ थे। आप अपने पिता की 9 सन्तानों में आठवें थे। आप बचपन में बड़े ही कौतुक-प्रिय और मशहूर खिलाड़ी थे। ग्यारह आदमियों के खेलों में, तारुण्य में ही, आपने नामवरी हासिल कर ली थी। 1854 ई. के सितम्बर में पढ़ने के लिए आप एटन भेजे गये। वहाँ 9 साल तक रहे। फिर 1863 ई. के अॉक्टोबर में कारपस क्रेस्टी कॉलेज (Corpus Christi College), ऑक्सफोर्ड आये। यहाँ आपने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया, और पदवी प्राप्त की। आपके चिकित्सक-रूप से कवि-रूप का कितना वैषम्य! डॉक्टर ब्रिजेज़ से उस समय किसे आशा थी कि आगे चलकर यही मनुष्य एक दिन इँगलैण्ड का प्रसिद्ध राज-कवि होगा? आप निविष्ट-चित्त, दृढ़-व्रत तथा उज्ज्वल-चरित्र विद्यार्थी थे। कालेज-जीवन में ही आपके चेहरे पर महत्त्वाकांक्षा की किरणें फूट रही थीं। वहाँ आप अपने चारित्रिक विशेषत्व के कारण एक दर्शनीय विद्यार्थी थे।

सलाहकार-चिकित्सक की हैसियत से लन्दन के ग्रेट आरमोन्ड स्ट्रीट के शिशु-अस्पताल तथा ग्रेट नार्दर्न अस्पताल में कुछ दिनों तक आप चिकित्सा करते रहे। 1880 ई. से आपने इस जीवन का बिलकुल ही परित्याग कर दिया, और एक कवि तथा साहित्यिक की हैसियत से रहने लगे। इस बीसवीं शताब्दी में आपकी अन्तिम कृति (The Testament of Beauty) आपकी 85वीं वर्षगाँठ के समय प्रकाशित हुई, जिसमें आपकी बदली हुई रुचि-विशेषता के उत्तम विचार हैं। पहले, 1873 ई. में, जब आपकी रचनाओं का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ, आपका "अव्यापारेषु व्यापार:" अच्छी तरह ज़ाहिर हो रहा था, जैसे किसी जल्द शुद्ध किये हुए मनुष्य के पूर्व-संस्कार झलक रहे हों। यद्यपि इस समय भी साधारण-जनों में आपका उतना प्रसार नहीं, आपकी अपनी भाषा में भी नहीं, तथापि ऐसक्विथ की सरकार ने आपकी प्रतिभा तथा परिश्रम के पुरस्कार-स्वरूप, आपको, 1913 ई. में, आल्फ्रेड आस्टिन के बाद, "Poet Laureate" की उपाधि से सम्मानित किया। साधारण जनों तक आपका नाम न रहने पर भी कुछ चुने हुए आदमी आपके प्रशंसक हो गये थे। 1873 ई. से आपकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं।

आपकी अनेक रचनाएँ हैं, पर स्थानाभाव के कारण हम उनका उल्लेख नहीं कर सके। 1929 ई. में क्लारेउनप्रेस, ऑक्सफोर्ड, से प्रकाशित आपकी अन्तिम पद्य-रचना "Testament of Beauty" आपकी कृतियों में सर्वोत्तम मानी गयी है। इसमें टेनिसन की सादगी है, और साथ-ही-साथ भावों की उच्चता। भाषा के मार्जन में भी, इस पुस्तक में, आपने कमाल दिखला दिया है। आपने शैली में अपने देश के अनेक कवियों की राह ग्रहण की। कभी कीट्स की तरह लिखा, कभी

1. राजकवि. 2. अँगरेज़ी का कोष

शैली का अनुकरण किया; कभी वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-चित्रों का साम्य दिखलाया, कभी ब्लेक की राह पकड़ जीवन-रहस्यों का उद्घाटन किया। भाषा के नवीन युग के कार्यकर्त्ताओं में आपका नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कृतियों से मालूम पड़ता है, आप ईश्वर पर विश्वास रखते थे। आपकी धार्मिक भावों की कृतियाँ ईश्वर-परायणता सूचित करती हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राजा और प्रजातन्त्र

योरप के लोगों ने पहले-पहल इस भावना का प्रचार किया कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र-राज्य कभी था ही नहीं, इसका उद्भव योरप से ही हुआ है। प्रायः अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की पूर्वीय देशों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की विचार-धारा है। ओरिएंटल-शब्द की सृष्टि द्वारा यौगिक जो अर्थ पूर्वीय देशों के मनुष्यों के लिए लगाते हैं, उसमें कहीं रद्दोबदल नहीं करते, जैसे सब धान बाईस पसेरी हों, जैसे पूर्वीय सभी देश एक ही तरह की सभ्यता, समाज-शृंखला तथा राष्ट्र-शासन में अभ्यस्त रहे हों। भारतवर्ष को छोड़कर पूर्वीय और जो देश हैं, जैसे यहूदी, अरब, काकेशियन, पारसी आदि, इनमें प्रजातन्त्र न था। बादशाह अथवा समाज का मुखिया नेता होता था, उसकी ज़बान ही कानून थी। यहूदियों में एकतन्त्र-शासन न था। वे लोग देवतों की दोहाई देकर, दैवी शासन क़ायम रखते थे, इसलिए उसे हम प्रजातन्त्र-शासन नहीं कह सकते। यही हाल मुसलमानों का था। इधर के पूर्वीय देशों में पश्चिमी सभ्यता-विस्तार के पहले समय तक मुसलमानों का शासन था, और खलीफ़ों के बाद से बादशाहत में परिणत होनेवाली मुसलमानी सल्तनतें अन्यान्य बातों को छोड़ जाने पर भी पहले के नियामानुवर्तन को नहीं छोड़ सकीं, वह एकाधिकार, जो पहले से शासन में उनके यहाँ प्रचलित था, अब भी रहा। अब बादशाह का हुक्म ही क़ानून बन गया। अवश्य जातिगत कुछ धार्मिक आदर्श क़ानून में रक्खा गया, पर यह गणतन्त्र नहीं।

योरप के लोग इतिहास के इसी युग में चक्कर काटकर रह जाते हैं, और गणतन्त्र या प्रजातन्त्र-शासन को इन सभ्यताओं में न पाकर तमाम पूर्वी सभ्यता को इस शासन से अनभिज्ञ करार देते हैं। भारत को छोड़कर अपर देशों में यह बात थी भी नहीं। देव-शासन पारसियों में भी था। सिर्फ़ भारतवर्ष में पहले ही से क़ानून थे, जिन्हें मानकर राजा को भी चलना पड़ता था। इँगलैण्ड में यह बात अब भी नहीं है। पार्लमिन्ट जो क़ानून पास कर देता है, सम्राट् यद्यपि उसका खण्डन नहीं करते, पर खण्डन करने की शक्ति उन्हें मिली हुई है, वे चाहें तो कर सकते हैं, यहाँ वाइसराय तथा गवर्नरों को भी वह शक्ति मिली हुई है, और समय-समय पर वे इसका उपयोग भी करते हैं। यह गणतन्त्र नहीं हुआ।

भारतवर्ष के राजों में क़ानून के उल्लंघन की शक्ति न थी। जो क़ानून यहाँ समाज तथा राज्य के शासन में धर्म-शास्त्र के नाम से प्रचलित हैं, वे मनुष्य-शास्त्र

ही हैं, उनका सम्बन्ध केवल यथार्थ मनुष्यता के साथ जुड़ा हुआ है। बहुत पहले राजा नहीं था, मनुष्यों को शासन की आवश्यकता नहीं थी। कारण, सब लोग अपने धर्म-मार्ग पर चलते थे, यह भारत का स्वर्ण-युग था। महाभारत में महामना भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं, पीछे जब शृंखला के टूटने से अत्याचार बढ़ने लगा, तब पृथ्वी ने अपनी रक्षा के लिए ब्रह्मा से विनय की। ब्रह्मा ने ध्यान-मग्न हो विधानों की सृष्टि की। उन्होंने मानस पुत्र पैदा किया, वह पहला राजा हुआ। विधानों का अनुसरण करता रहा। अमेरिका के प्रेसिडेन्ट के पहले भी यहाँ प्रजा-पति होते थे। वे मनुष्यों को राह पर रखने की बराबर प्रचेष्टाएँ करते और स्वयं भी धर्मानुकूल चलते थे। जब-जब वे धर्म-च्युत हुए, तब-तब उनका प्रजापतित्व जाता रहा। जिस रोमन आटोक्रैसी का पश्चिम में उस दिन तक इतना प्रभाव रहा है, वह भी भारत से ही गयी है। आटोक्रैसी भारत के बिगड़े-दिमाग व्यक्तित्व के इच्छुक राजाओं ने खड़ी की थी। परशुराम ने इक्कीस बार जिन शक्तियों का नाश किया था, वे सब इसी श्रेणी के, गणतन्त्र के न माननेवाले, दृप्त राजे-महा-राजे थे। आटोक्रैसी इस तरह यहीं से फैली। पर वह भारत का अनुकूल शासन न था।

यहाँ साधारण-जनों द्वारा ही राजा चुना जाता था। वेद-ब्राह्मण-जातक आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं। राजपुत्र होने के कारण ही कोई राजा न हो सकता था, जब तक वह प्रजा-द्वारा निर्वाचित न हो। अभिषेक की रीति तथा मन्त्रों से स्पष्ट है कि केवल राज-रक्त से सम्बन्ध होने के कारण कोई राजा न हो पाता था, उसे जब तक प्रजा न चुने।

राजा मनोनीत करने का वैदिक मन्त्र बड़ा ही सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण है, अर्थ है—

"प्रसन्न चित्त से तुम हम लोगों के भीतर आकर प्रतिष्ठित हो, स्थित हो, हमारे भीतर रहो, सब लोग तुम्हें चाहते हैं।" इस तरह के अनेक मन्त्र और अभिषेक के महत्त्वपूर्ण विधान हैं।

राजा रक्षा के लिए होता था, मारने के लिए या ठगने और लूटने के लिए नहीं। राजा को तलवार ब्राह्मण देता था। कारण यह, ब्राह्मण की दी हुई तलवार हिंसा नहीं करेगी, रक्षा करेगी। वह तलवार सदा ही नीति तथा शान्ति की प्रतिष्ठा करती रहेगी, अत्याचारियों का दमन तथा दुर्बलों का उद्धार करेगी।

राज-प्रकरण से स्पष्ट है, भारत में पहले गणतन्त्र था। बुद्ध-काल में, जहाँ तक आधुनिक इतिहास पहुँच सकता है, भारत में प्रजातन्त्र शासन ही था। कभी-कभी अत्याचारियों के कुचक्र से देश फँस जाया करता था, शासन दूसरा रूप ग्रहण कर लेता था। अस्तु, योरप के लोग जो यह कहते हैं कि राष्ट्रीय स्वाधीनता का पूर्वीय लोगों का ज्ञान था ही नहीं, यह माननेवाली बात नहीं, प्रत्युत यह उन्हीं का अज्ञान है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## कविवर रवीन्द्रनाथ और वर्तमान आन्दोलन

रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में इस समय एक ग़लतफ़हमी फैली हुई है। मुमकिन है, वह कुछ अंशों में सच भी हो। इधर पत्रों में छपा था कि सर तेजबहादुर सप्रू को उनके किसी मित्र ने विलायत से तार दिया है कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीयुत् श्रीनिवास शास्त्री, मि. ऐंड्रूज़ आदि भारतीयों को कानफ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए कहते हैं। इधर बाबू रामानन्द चटर्जी महाशय लिखते हैं, हमारे पास ऐंड्रूज़ का तार आया है, उन्होंने लिखा है, मैं बराबर पूर्ण स्वाधीनता का समर्थन करता रहा हूँ, डोमीनियन स्टेटस का नहीं। इससे उनके समर्थन पर कुछ सन्देह किया जाता है। दूसरे यह भी कहा जाता है कि जब इस आन्दोलन से कविवर रवीन्द्रनाथ का कोई तअल्लुक़ नहीं, तब वह इस तरह की राय कैसे दे सकते हैं, और देंगे भी, तो आन्दोलन करनेवाले इस राय को मान क्यों लेंगे। रवीन्द्रनाथ-जैसे उत्तरदायी मनुष्य इस तरह की अदूरदर्शिता करेंगे, यह मानने लायक बात नहीं। फिर यह भी कहा जाता है कि उन्होंने इधर विलायती पत्रों में जो दो लेख छपवाये हैं, उनमें लॉर्ड इरविन और अँगरेज़-जाति की काफी प्रशंसा की है, वहाँ अँगरेज़ों की दमन-नीति की समालोचना कमज़ोर पड़ गयी है। एक दूसरी बात जो उन्होंने कही है, वह यह है, यदि भारत किसी अपर साम्राज्य-शासक के अधीन होता, तो इससे भी अधिक अत्याचार होते। यह लिखकर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं, हमने सच्ची बात लिखी है। इस पर रामानन्द बाबू लिखते हैं, उन्होंने सब साम्राज्य-वादी जातियों को पढ़ा है या नहीं, हमें नहीं मालूम; परन्तु उनका यह अनुमान कि यह होता, तो यह होता उनके-जैसे प्रभाववाले मनुष्य का अनुमान होने पर कौड़ी-कीमत का है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## प्रो. लाला भगवानदीनजी 'दीन' का स्वर्गवास

अपनी अविनश्वर कृति से हिन्दी-संसार को उन्नति के मार्ग पर कुछ क़दम आगे बढ़ाकर हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् कविवर लाला भगवानदीनजी 'दीन' गत 28 जुलाई को रात दस बजे के लगभग 22 रोज़ तक बीमार रहकर त्रिदोष के स्पर्श से नश्वर शरीर को छोड़ स्वर्ग सिधार गये। आपकी मृत्यु से हिन्दी-साहित्य की जो क्षति हुई, उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। ईश्वर आपके परिवार के लोगों तथा प्रिय जनों को धैर्य और आपकी आत्मा को स्वर्ग में शान्ति दे।

लालाजी की प्रतिभा के विकास का केन्द्र छतरपुर है। वहीं से अध्यापन-कार्य करते हुए आपने हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया, और हिन्दी के प्राचीन साहित्य के पारंगत विद्वान् हो गये। छतरपुर से आप काशी गये और यहाँ से आपकी साहित्य-सेवा क्रमोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगी। आप एक ही आधार में

कवि, समालोचक, टीकाकार, लेखक तथा प्रसिद्ध अध्यापक थे। आपकी विद्वत्ता से आकृष्ट हो महामना मालवीयजी ने आपको हिन्दू-विश्वविद्यालय का अध्यापक नियुक्त कर लिया था। कई साल से आप वहाँ हिन्दी के अन्यान्य अध्यापकों की तरह विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे।

व्रजभाषा-साहित्य में लालाजी ने बड़ा परिश्रम किया। उसके अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ कीं। 'अलंकारमंजूषा' से आपके अलंकार-ज्ञान का परिचय मिल जाता है। पहले कई साल तक आपने 'लक्ष्मी' का सम्पादन किया था। आपने केशव की कविताओं पर टीका लिखी, 'तुलसी-ग्रन्थावली' का सम्पादन किया। 'नवीन वीन', 'वीर-पंचरत्न', 'बिहारी और देव' आदि अनेक गद्य-पद्य की पुस्तकें लिखीं।

आप अच्छे समालोचक थे। स्वभाव में विरोधियों के प्रति लिखते समय कुछ कटुता आ जाती थी। 'भारत-भारती' की आपने बड़ी तीव्र आलोचना की थी। इसी तरह 'मतवाला' में बिहारी की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए देव के पक्षपातियों के खिलाफ़ लिखा। आलोचना करते समय आप जामे से बाहर हो जाते थे। इसलिए लोग प्रायः आपको चिढ़ा दिया करते थे। इतने पर भी स्वभाव के आप बड़े प्रसन्न तथा मिलनसार थे। आप वर्तमान छायावाद के खिलाफ़थे। यह आपसे बहस करने का आपके विद्यार्थियों के लिए एक कारण बन गया था।

आपकी तीन शादियाँ हुईं। आपकी पत्नी स्वर्गीया बुन्देलाबाला हिन्दी की अच्छी कवयित्री थीं। इस समय आपकी एक छोटी कन्या ही आपके वंश की प्रदीप है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साइमन-रिपोर्ट

सर जॉन साइमन की रिपोर्ट के पहले खण्ड की आलोचना हम कर चुके हैं। भारत-सचिव ने "Historical State Documents" कहकर उसका स्वागत किया है, वहीं दूसरे लोगों ने उसे कोरी नक़ल कहकर दिल्लगी भी उड़ायी है। रिपोर्ट का दूसरा खण्ड भी 24 जून को प्रकाशित हो गया। तथ्य की बातें इसी में हैं।

कहते हैं, सर जॉन साइमन विलायत के सबसे बड़े बैरिस्टर हैं। सुनते हैं, उनकी आमदनी सालाना 9 लाख रुपये थी। इतने बड़े बैरिस्टर और एक-चौथाई पृथ्वी पर शासन करनेवाले इँगलैण्ड के बैरिस्टर सर जॉन साइमन ने भारत की समस्याओं पर विचार करते हुए दिमाग़ का दिवाला निकाल दिया। पहले खण्ड में जितने प्रकरण आये हैं, वे सब जान-बूझकर रक्खे गये हैं, सिद्धान्त की पुष्टि के विचार से, जैसे सेना की रक्षा के लिए कहीं किलेबन्दी की गयी हो, कहीं खाई खोद डाली गयी हो, कहीं पहाड़ खड़ा कर दिया गया हो। सुविधानुसार जहाँ जैसी ज़रूरत मालूम हुई, घटनाओं का घुमाव, गुप्त-लुप्त-रीतियाँ अख्तियार की गयी हैं, फिर भी पहले खण्ड में समझाने के लिए भरसक प्रचार किया गया है कि किसी पक्षपात का सहारा नहीं लिया गया। उदाहरणार्थ, गत दस वर्षों के राजनीतिक इतिहास की

आलोचना पेश करते हैं। इससे साइमन-रिपोर्ट के अन्दर छिपे हुए उनके मनोभाव अच्छी तरह ज़ाहिर हो रहे हैं। रौलट-ऐक्ट के पास होने के बाद जनता की उत्तेजना का बैरिस्टरी ढंग से ही उल्लेख किया गया है। पर जिन कारणों से यह उत्तेजना प्रकाशित की गयी थी, इनकी कोई भी कथा नहीं। जलियानवाला बाग़ और डायर-ओडायर के कृत्यों पर केवल यह लिखकर छोड़ दिया गया कि यह 1919 ई. के मार्च में एक विशाल जन-दौरात्म्य (Mob Violence) हुआ था, ख़ास तौर से पंजाब और गुजरात में और इससे अमृतसर के जलियानवाला बाग की दुर्घटना हुई। ऐसी-ऐसी नाज़ुक-ख़याली इस रिपोर्ट में भरी हुई है। उस आन्दोलन को Mob violence के रूप में खड़ा किया गया है। हम समझते हैं, सर जॉन साइमन अगर कविता लिखते होते, तो बड़ा नाम पैदा करते—आपकी कल्पना-शक्ति प्रचण्ड है।

इस रिपोर्ट की एक बड़ी तारीफ़ यह हुई है कि सात के सातों इससे सहमत हैं। लोग कहते हैं, तभी तो चुन-चुनकर भेजे गये थे, और तबेले की लतिऔफ़ बुरी भी है, फिर उस समय जबकि "पहले डंके में जिन बन्दी" का मौक़ा हो। लोग कहते हैं, सातों के सहमत होने की आवाज़ उठानी न थी, इससे "guilty concience" (बुरा मतलब) पकड़ में आ जाता है। अकालियों के आन्दोलन को साम्प्रदायिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया लिखा है। एक जगह कहा गया है कि मिस्टर गाँधी के विरोध करने पर भी स्वराज्य-दल के लोग जातीय दल की सहायता से व्यवस्था-परिषद में आते हैं। परन्तु सत्य यह है कि जब स्वराज्य-दल के लोग व्यवस्था-परिषद गये थे, तब महात्माजी यरवदा-जेल में थे, और वोटरों से उन लोगों ने यह कहा था कि परिषद में जाकर महात्माजी की मुक्ति के लिए प्रयत्न करेंगे। इस तरह की बातों से सिर्फ़ पन्द्रह सफ़े में दस साल का इतिहास खत्म है।

दूसरा खण्ड 316 सफ़े का है। इसके बारह प्रकरण हैं। इस रिपोर्ट ने अपने 316 पृष्ठों में जाहिर कर दिया कि भारत के स्वाधिकार-शासन के लिए 1919 ई. के इण्डिया-ऐक्ट में जो आश्वासन था, वह आश्वासन-मात्र है। अब इन ग्यारह वर्षों के बाद ब्रिटिश गवर्नमेन्ट ने सूचित कर दिया कि इँगलैण्ड भारत के अधिकारों की बात पर किसी तरह भी रहमदिली नहीं दिखला सकता।

इस रिपोर्ट के जिस हिस्से में शासनाधिकारों पर विवेचन किया गया है, वहाँ बड़े लाट साहब को इसी तरह क़ायम-मुक़ाम रखा है, बल्कि उनके अधिकारों को सुदृढ़ तथा और भी व्यापक करने की कोशिश की गयी है। प्रादेशिक शासकों को उनके संकेत के अनुसार चलना होगा। बड़े लाट भारत-सचिव या व्यवस्थापन सभा के निकट उत्तरदायी न होंगे। ऐसे शासन का नाम गणतन्त्र अथवा स्वाधिकार-शासन होगा। खुफ़िया-पुलिस पर बड़े लाट साहब का प्रत्यक्ष-सम्बन्ध तथा अधिकार रहेंगे। प्रादेशिक शासक अथवा मन्त्रियों का निर्वाचन उन्हीं की मंजूरी से होगा। मांटफ़ोर्ड-स्कीम में आर्थिक जो कुछ भी स्वतन्त्रता प्रादेशिक शासकों को दी गयी थी, वह "Provincial fund" (प्रादेशिक कोष) की रचना द्वारा छीन ली गयी। अर्थात् मांटफ़ोर्ड-स्कीम के अनुसार प्रादेशिक शासक ऋण-संग्रह कर सकते हैं; पर साइमन-स्कीम के अनुसार नहीं कर सकते; ऋण लेना और ब्याज का निश्चय करना बड़े लाट साहब पर निर्भर है। बड़े लाट साहब की कार्यकारिणी समिति के सदस्य अब तक सम्राट् द्वारा चुने जाते थे, परन्तु साइमन-रिपोर्ट के अनुसार बड़े लाट स्वयं अपने इच्छानुसार सदस्यों की नियुक्ति करेंगे।

इस तरह की अनेकानेक बातें हैं, जिनके उल्लेख से व्यर्थ ही समय का व्यय है। उनकी सारवत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि शिमले में गधे पर दोनों खण्ड रिपोर्ट लादकर जनता ने जुलूस निकाला, और फिर उनका अग्नि-संस्कार किया, लाहौर में पचास हज़ार लोगों ने साइमनों की सात मूर्तियाँ तैयार कर जुलूस निकाला, और लाला लाजपतराय की मूर्ति के सामने रिपोर्टों के साथ उन्हें जला दिया।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय का भाषण

प्रतिभा के कारण कविवर रवीन्द्रनाथ तथा सर जगदीशचन्द्र वसु की जैसी प्रसिद्धि देश तथा विदेशों में है, वैसी ही, उतनी ही सीमा तक पहुँची हुई आचार्य राय की भी है। पर जिस जगह चारित्रिक उत्कर्ष का प्रसंग छिड़ता, देश-प्रेम की चर्चा होती है, वहाँ आचार्य राय अनतिक्रम्य, देश को प्रकाशित करनेवाले एक ही कौस्तुभ मणि हैं। आपकी महत्ता तथा प्रतिभा की व्याख्या नहीं हो सकती। आप विद्यार्थियों के प्राण, देश की वेदी पर सर्वस्व चढ़ा देनेवाले महापुरुष हैं। आपके उज्ज्वल चरित्र का अन्दाज़ा इससे लगाइए कि बंगाल की पर्दानशीन महिलाएँ भी आपके निर्मल देश-प्रेम तथा समाज-संस्कार के उपदेश सुनने के लिए आपको अपने घरों पर बुलातीं और असंकुचित हो आपसे वार्तालाप करती हैं। आपसे बढ़कर बंगाल में और कोई भी व्यक्ति नहीं, जिस पर सर्वसाधारण अकुण्ठित चित्त से श्रद्धा करता हो। आप सिर्फ एक कमीज़ और सलीपर पहने हुए मिलेंगे, जो बंगाल की प्रचलित और सादी पोशाक है। जो लोग केवल आपके नाम से परिचित हैं, और आपको देखा नहीं, वे कॉलेज-स्कायर में टहलते हुए आपको देखकर कभी-कभी धक्के मारकर भी चले जाते हैं। आप दुबले-पतले, हँसकर रह जाते हैं। 'बंगाल कैमिकल' के आप ही अधिष्ठाता तथा संरक्षक हैं।

अभी बम्बई में आपका एक महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। उसमें आपने कहा, देश के जो लोग देश ही की बनी हुई चीज़ों का उपयोग नहीं करते, वे देश के साथ विश्वासघात करते हैं। आन्दोलन के सम्बन्ध में आपने एक बात बड़े मार्के की कही। विदेशी बहिष्कार के द्वारा विशेष फल नहीं मिल सकता, यदि स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार तथा निर्माण न हो। आपने कहा, मेरे जीवन का सबसे प्रिय विषय स्वदेश की वस्तुओं तथा वस्त्रों का प्रचार है। 'बंगाल कैमिकल' की स्थापना का यही कारण है। यदि केवल विदेशी द्रव्यों का बहिष्कार जारी रहा, और देश ने उस अभाव की पूर्ति न की, तो एक दिन देश को इसके लिए विशेष रूप से नीचा देखना होगा। आपने व्यापार-सम्बन्धी और और बातें समझायीं। आपका ध्यान उस दिन की तरफ़ लगा हुआ है, जब भारत की बनी हुई चीज़ें, वस्त्र तथा अन्यान्य द्रव्य पहले की तरह फिर विदेशों को जाया करें। औद्योगिक प्रचार तथा प्रसार के लिए आपने बड़ा ज़ोर दिया।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## पेशावर की स्थिति

'टाइम्स ऑफ़् इण्डिया' आदि पत्रों से पेशावर की जिस स्थिति का पता चलता है, उससे मालूम हुआ कि वहाँ की हालत उत्तरोत्तर ख़राब होती जा रही है। बहुत जगह गर्मी को शान्त करने के लिए दमन-नीति को छोड़कर साम-नीति अख़्तियार की जाती है। सीमा-प्रान्त के लोग ऐसे नहीं हैं, जो बराबर दमन सह सकें। आग-पर-आग झोंकते रहने का कभी भयंकर परिणाम प्रस्फोट के रूप से निकलता है। पर भारत-सरकार दमन के प्रभाव से ही उत्तेजना शान्त किया करती है। ख़बर है, पेशावर में इस समय ज़िले-भर में मार्शल-ला ज़ारी है, और सीमा-प्रान्त के कमिश्नर को इच्छानुसार फ़ौजी क़ानून के प्रयोगोपयोगों के अधिकार मिल गये हैं। बलवाइयों के दमन के लिए उन्होंने ज़िले के कई केन्द्र कर हर जगह एक-एक नियन्त्रणकारी रख दिया है। बलवाई अफ़रीदियों की, कहते हैं, कांग्रेस से सहानुभूति है, और वे लोग गाँधीजी के बड़े भक्त हैं। एक बार एक महिला खद्दर धारण किये रहने के कारण इनके हाथों पड़कर भी बच गयी। उसकी समझ में इनका 'गाँधी मलंग' शब्द ही आया। लिखा है, इस दल के एक नायक ने गाँधीजी की मुक्ति के लिए सरकार को लिखा है। बाहर के अफ़रीदी लोगों को गाँववाले छिपा लेते हैं, जिससे दमन करने की असुविधा होती है। समय बरसात का है, इसलिए फ़सल के कारण राह भी नहीं मिलती, जिससे अधिक सैन्यों का संचालन किया जाय। और, बलवाई लोग खड़ी फ़सल में छिप जाते हैं। और जातियाँ भी अफ़रीदियों से मिली हुई हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## मांसाहार

भारतवर्ष में धर्म तथा सभ्यता के अनेक प्रकार, अनेक रूप हैं। यहाँ के मनुष्यों को कभी एक प्रकार का धार्मिक परिच्छद पहने हुए देखिए, कभी दूसरे प्रकार का, यद्यपि वैदिक काल से आज तक की स्थिति में सभ्यता का साम्य भी मिला दिया जा सकता है। कुछ हो, एक-एक धार्मिक युग के अभ्युदय तथा तिरोधान के साथ मनुष्यों के आचार-व्यवहार भी बनते तथा बदलते गये हैं। साम्य मुख्यत: एक बात का रहा है। वह यह कि यहाँ के प्रतिष्ठित सम्मान्य मनुष्यों में, पश्चिमी सभ्यता के आदर्श की तरह, 'eat, drink and be merry' (खाओ, पियो, मौज करो) सिद्धान्त नहीं रहा। संसार की नश्वरता और अक्षय स्वर्ग या अचला शान्ति-स्थिति पर उनका सदैव ध्यान रहा, और इसलिए उनके कार्य भी एतदनुकूल होते रहे।

हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही धारणा दृढ़ हो जाती है। क्षत्रियों की मृगया और ब्राह्मणों का "विविध मृगन कर आमिष राँधा" आदि प्रकरण देखकर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि मांस-भक्षण के लिए इस देश में कोई बड़ी रोक

न थी। "कान्यकुब्जद्विजः श्रेष्ठः"—लोगों के यहाँ, आज भी, मांस-भक्षण में वैष्णवी अरुचि रहने पर भी, खानेवालों को समाज तिरस्कृत नहीं कर सकता, और इनकी कर्म-काण्ड की योग्यता पर मुग्ध होकर प्राचीन काल के महाराज आदिशूर जिन पाँच कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों को अपने यहाँ बंगाल ले गये थे, जो लोग मुखर्जी, चटर्जी, गांगुली आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, अपने पूर्व-संस्कारों को मत्स्य-बहुल बंगाल में उत्तरोत्तर मार्जित करते गये, और शिक्षा तथा सभ्यता की बात पूछिए, तो कदाचित् भारत में नयी बिजली का इन्हीं के मस्तिष्क में अधिक प्रकाश मिलेगा। ब्राह्मणों में और-और सम्प्रदाय हैं, जो मांस नहीं खाते, पर क्षत्रियों में कोई क़ौम ऐसी भी है, जो मांस नहीं खाती, यह हमें नहीं मालूम। हाँ, अधिकांश वैश्यों में मांस निषिद्ध देखा है। अन्यान्य जातियाँ मांस खाती हैं।

देश में जैसी प्रसिद्धि है, उसके अनुसार हमारा भी अनुमान है कि इस देश में बौद्ध और जैनियों के प्रभाव से मांस-भक्षण कुछ मन्द पड़ा। पर कान्यकुब्जों की तरह प्रभावशाली समाज पर इनका असर नहीं पड़ा, ये लोग अपनी प्राचीन प्रणाली के अनुसार ही चलते गये। बौद्ध और जैन-धर्म के आविर्भाव का कारण तथा उसके पहले की यहाँ की स्थिति पर जब हम विचार करते हैं, तब हमें स्पष्ट जान पड़ता है कि उन दिनों मांस-भोजन का इस देश में ख़ास तौर से प्रचलन था। वैदिक यज्ञों की जीव-हिंसा बुद्ध की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन की एक बहुत बड़ी वजह है। दूसरे, किसी वस्तु या विषय का विरोध या प्रतिरोध तभी होता है, जब उसका अत्यन्त प्रचलन हो, और इस कारण उसमें बुराइयाँ भी अनेक प्रकार की आ गयी हों। बौद्ध और जैनों के बाद वैष्णव-धर्म ने भी मांस का विरोध किया, उत्तर भारत में इसी धर्म का प्रभाव पड़ा, और आज इसीलिए मन्त्र-दीक्षित लोग यहाँ मांसाहार नहीं करते। बौद्धों और जैनियों के प्रवर्तन से तैयार की हुई देश की धार्मिक रुचि के अनुकूल वैष्णव-धर्माचार्यों ने भी मांस-निषेध उचित समझा होगा। लोगों की रुचि के अनुसार धर्म का संगठन करने पर वह सुदृढ़ हो जाता है, और लोगों का उस पर विश्वास भी होता है। कबीर यद्यपि रामानन्दी थे, फिर भी, ग़ालिब की तरह, उन्होंने उस्ताद से अलग अपनी एक नयी राह निकाल ली थी। कबीर निराकारवादी थे। परन्तु वह भी दया-धर्म-प्रभाव को नहीं छोड़ सके। उनके "बकरी मार भेड़ को धाये, दिल में दरद न आयी; साधो, पाण्डे निपुन कसाई" पद्य को पढ़कर यही धारणा बद्धमूल हो जाती है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि वह मत्स्य-भोजन करते थे। जैन-धर्म के प्रवर्तक महावीर के मना करने पर भी उन्होंने मत्स्य-भोजन नहीं छोड़ा। यह भी प्रसिद्धि है कि शूकर-मांस के भक्षण से बुद्ध का शरीरान्त हुआ। ये लिखी बातें, जिनमें पहली तेलोवादजातक की है, कहाँ तक सत्य हैं, हम नहीं कह सकते। पर यह ज़रूर है, जहाँ-जहाँ समुद्र के किनारों तथा नदी-बहुल देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा है, वहाँ-वहाँ पीछे से मांस-भोजन विशेष रूप से होने लगा था। इस प्रकार सिद्धान्त में बुराइयों का प्रवेश हो गया था।

मांस-भक्षण के सम्बन्ध में मनु-संहिता की राय भी हम देना चाहते हैं। हिन्दू-धर्म के अनुसार मनु-संहिता बुद्ध के आने से पहले की है। पर आधुनिक अन्वेषकों के विचार से हमें नहीं मालूम, बहुत सम्भव है, पीछे की हो। उस मनु-संहिता में एक जगह है—

"यज्ञाय जग्धि मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः;
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते।"

(यज्ञ से बचा हुआ मांस खाना देवोचित है, अन्यथा मांसाहार की प्रवृत्ति राक्षसोचित।)

यह समझ में नहीं आता कि यज्ञ-जैसे पुण्य-कार्य के लिए तो मांस-जैसे अशुद्ध पदार्थ का अनुमोदन-समर्थन किया गया, पर भक्षण और शरीर-धारण के निमित्त उसका निषेध क्यों रहा। मारना बुरा है, अगर वह केवल हत्या या तज्जन्य मनो-रंजन हो। पर शरीर-धारण के लिए अगर हत्या की गयी, तो हमारी समझ में नहीं आता कि उससे किस तरह पाप-स्पर्श होता है।

"यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः,
भृत्यानां चैव वृत्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा।"

(यज्ञ के लिए ब्राह्मणों द्वारा मारे जानेवाले पशु-पक्षी प्रशस्त हैं। पालितों के पोषण के लिए उनका वध धर्मानुकूल है। अगस्त्य ने पहले ऐसा आचरण किया था।)

यहाँ "ब्राह्मणैर्वध्याः" ध्यान देने लायक़ है। इस वाक्य से अकारण पशु-हत्या निषिद्ध हुई। ब्राह्मण-वृत्तिवाला मनुष्य अकारण हत्या नहीं कर सकता। उपर्युक्त शब्द से क्षत्रियों के हत्या-संस्कार भी सीमित कर दिये गये। पर शरीर-धारण के लिए मांस-भक्षण की आज्ञा दे दी गयी। प्रथम श्लोक में 'प्रवृत्ति' के उल्लेख से ही राक्षस-विधि का निर्धारण किया है। यदि 'प्रवृत्ति' शब्द न रहता, तो विधि राक्षसी भी न होती। अन्यान्य अनेक श्लोकों में मनु ने मांस-भक्षण के लिए आज्ञा दी है। पर मनु यह भी कहते हैं—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः;
मांसानि च न खादेत् यस्तयोः पुण्यफलं समम्।"

(सौ वर्ष तक लगातार प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करनेवाला और जो मांस नहीं खाता, इन दोनों के पुण्य बराबर हैं।)

मनु वैदिक विध-विधान को देवी कहकर टाल गये हैं। अन्यत्र तो अपनी रायज़नी का दावा उन्होंने किया है, हर वैदिक विधियों पर नहीं किया। इससे साबित है कि प्रथम वैदिक काल में यज्ञ करके मांस-भक्षण जब प्रचलित था, तब यह निस्संशय यहाँ की सनातन प्रथा थी। और, यज्ञ के पश्चात् मांस खाने के अर्थ, हम जहाँ तक समझते हैं, पकाया हुआ मांस ही है; इस समय भी अनेक देशों के लोग कच्चा मांस खाते हैं, और अग्नि-संस्कार से अनभिज्ञ होने के कारण वे असभ्य कहलाते हैं; इस पकाये हुए मांस से यज्ञकारी अग्नि का प्रथम आविष्कार करने-वाले आर्य अपनी सभ्यता का ही प्रमाण पेश करते हैं, और फिर उस पके मांस को देवता को अर्पित कर खायँ या ऐसे ही, विशेष अर्थ नहीं रखता। अगर रखता है, तो मांस खानेवालों की ही पुष्टि करता है, क्योंकि जो वस्तु देवता तक को समर्पित की जाती है, उसे मनुष्य अनायास ही भक्षण कर सकता है, उसे धर्म-विरुद्ध कहने का किसी को अधिकार नहीं रह जाता।

धर्म के पीछे से अनेक प्रकार हो गये। गीता में जहाँ अर्जुन को श्रीकृष्ण ने क्षात्र-धर्म का उपदेश किया है, वहाँ बन्धु-बान्धवों के वध को भी प्राप्य राज्य-श्री को प्राप्त करने के लिए धर्मानुकूल बतलाया है। और, हिंसा का भाव ही उड़ा दिया, आत्मा हिंसा नहीं करती, यह कहकर। आधुनिक जगत् में ही नहीं, जबकि संसार के अधिकांश सभ्य मनुष्य मांसाहार करते हैं, चिरन्तन सत्य के विचार से भी श्रीकृष्ण की यही उक्ति संगत जान पड़ती है। हिंसा के सम्बन्ध की यह सबसे बड़ी बात है, हिंसा की वृत्ति चित्त में न हो। यह समझना भी कठिन है कि बिना

हिंसावृत्ति के हिंसा हो कैसे सकती है। उद्धरण की जगह नहीं, शास्त्र इसका अनुमोदन करते हैं। किसी वृत्ति के आने पर चित्त अस्वस्थ हो जाता है, अतः उसके प्रभाव से जो कार्य होता है, वह कलुषित हो जाता है—बहुत कुछ बिगड़ भी जाता है। मसलन, युद्ध के समय क्रोध के आने पर बल क्षीण हो जाता, कौशल भूल जाते हैं; पर चित्त स्थिर रहने से अधिक पटुता दिखलायी जा सकती है, और शत्रु का निधन भी सम्भव है। पर युद्ध के लिए क्रोध आवश्यक नहीं, इसी तरह मारने के लिए हिंसा भी अनावश्यक है। आजकल के विज्ञान-युग में, जबकि अल्पवयस्क विद्यार्थी भी जानता है कि करोड़ों जीवाणु प्रति श्वास-संचार से पेट के अन्दर जाते हैं, अहिंसा, मांस-भक्षण निषेध आदि की चर्चा खिलवाड़ जान पड़ती है। फिर जब 'दलिया', भिगोयी मूँग आदि कितने परिमाण में रोज़ खायी जाय तो हज़म हो, इस तरह की फ़ेहरिस्त देश के प्रतिष्ठित लोग, लोक-प्रिय पत्रों में, निकालते हैं, उस समय उनकी तजवीज़ से हँसी को मुश्किल से रोकना पड़ता है, जैसे 'दलिया', 'मूँग', 'चने' आदि निष्प्राण हों। जो लोग कहते हैं कि उससे जीव का ज्ञान नहीं होता, उन्हें समझना चाहिए कि यह उन्हीं का अज्ञान है, और इससे 'मूँग' निर्जीव नहीं हो जाती। एक अज्ञान को पालते हुए उन्हें इतना बड़ा ज्ञानाडम्बर भी नहीं दिखलाना चाहिए। रही बात दूध की, सो माँ के स्तनों में ईश्वर का दिया हुआ उतना ही दूध रहता है, जितना उसका बच्चा पी सके। कहीं-कहीं इस विधि का उल्लंघन है, और वहीं यह दुग्ध-दोहन सार्थक भी है, यानी बछड़ा जब पीकर छोड़ दे, तब दुहने पर दोष स्पर्श नहीं होता, अन्यथा बछड़े को धीरे-धीरे (in cold blood) मारने की हत्या अवश्य लगती है। और, बीस सेर दूध देनेवाली गउएँ आस्ट्रेलिया में भले ही हों, गो-भक्त भारत में तो बहुत ही कम हैं कि बछड़े के पीकर छोड़ देने के बाद दुही जायँ, और जबकि सदी-फ़ीसदी भारतवासी ऐसा नहीं करते, तब उन्हें समझना चाहिए कि प्रतिदिन वे अंशतः गो-वध करते रहते हैं। मतलब यह कि जीव का आहरण किये बिना जीव का आहार सिद्ध नहीं होता। फिर कम हत्या करेंगे और बचकर करेंगे, धर्म की दोहाई देकर करेंगे, बछड़े को पालकर करेंगे, यह सब ढोंग है। आप बछड़े के बाप तो हैं नहीं जो उसके लिए आपको इतना दर्द हो, आप अपना मतलब गाँठ रहे हैं, बछड़ा मर गया, तो आपको दूध कहाँ से मिलेगा, उसका सूख जाना भी तो खुदाई नियम है। फिर इन बछड़ों के सम्बन्ध में कलकत्ता आदि में जो हाल होता है, वह बड़ा ही वीभत्स है। बछड़ा ज्यादा कीमत पर बेच दिया जाता है। बछड़े की जीभ योरपियनों-अमेरिकनों के लिए सुस्वादु तथा अनमोल खाद्य है, उनको आर्डर-सप्लैयर ख़रीद लेते हैं—मुसलमान वणिक्। इधर लकड़ी का एक बछड़ा बनाकर सफ़ेद कपड़े लपेट, या चूने से रँगकर, ग्वाले लोग गायों के सामने खड़ा कर देते हैं। मृग की मरीचिका की तरह गायों को वत्स का भ्रम होता है, और वैज्ञानिक कारण खास यह है कि तब तक दूध सूख न जाने के कारण गउएँ दुहवा लेना ही पसन्द करती हैं, क्योंकि दूध के भार से स्तन बोझीले लगते, जिससे उन्हें तकलीफ़ होती है। वे उसी कृत्रिम वत्स को चाटकर अपनी यह हाजत कि दुह जाने से शरीर हल्का हो जाय, रफा करा लेती हैं।

आहार का शंकर ने सूक्ष्मतम आध्यात्मिक अर्थ लिया है। उनका कहना है, जो आहृत हो, वही आहार है; यदि किसी ने तुम्हें गालियाँ दीं और तुम खामोश रह गये, तो तुमने उन गालियों का आहरण किया, इससे तुम्हारा आध्यात्मिक शरीर पुष्ट हुआ। इस तरह भी दूसरे को दुर्बल कर पहला सबल होता है;

गालियाँ देनेवाले के प्राण कमजोर हो जाते और सहनेवाले को धैर्य के कारण बल प्राप्त होता है। शंकर के बाद के आचार्यों ने आहार का बाह्य रूप लिया, और खाद्य के गुणों का विश्लेषण कर सात्त्विक गुणवाले भोजन का प्रचार किया। 'सात्त्विक' नाम से प्रत्यक्ष हिंसा का भाव भले ही मिट जाता हो, परोक्ष हिंसा बनी रहती है, जैसे कि दलिया के खाने की हिंसा है। शंकर की उक्ति में जो तत्त्व है, वह आध्यात्मिक तौर से दूसरों का ज़हर पीकर, उनके प्रति आनन्द के परमाणुओं का प्रक्षेप कर उन्हें पराजित करना है। यह भी युद्ध ही है, और सब मारों से बुरी मार है। शिव के विष-पान करने के रूपक में यही तत्त्व मिलता है। विष कोई सात्त्विक पदार्थ नहीं, और न शिव कोई साधारण कोटि के हैं। शिव हैं साक्षात् कल्याण-स्वरूप, मंगल-मूर्ति। पर वे विष पीते हैं। इस उक्ति में पूर्वोक्त शंकर का ही तत्त्व मिलता है। जिस तरह उन्नतात्मा मनुष्य साधारण मनुष्यों के ईर्ष्या-द्वेष आदि का आहार कर और उन्नत होते हैं, ईर्ष्या का ईर्ष्या से जवाब देकर सार्वकालिक विरोध की जड़ नहीं जमाते, उसी तरह शिव संसार का ज़हर पीकर सदैव कल्याणमय रहते हैं। जो व्यक्ति बुरे परमाणुओं का प्रक्षेप करता है, उसके प्रति महात्मा लोग उन परमाणुओं से बदला न दें, पर प्रकृति तत्काल देती है। उसका शरीर उन्हीं परमाणुओं के अन्दर डूब जाता और जलता रहता है। महात्मा इसी तरह साधना से चलते हुए शिवत्व को प्राप्त करते हैं, और मन्द प्रकृति के लोग अवनत होते हुए फल-भोग करते रहते हैं—उन्हें शान्ति नहीं मिलती। आहार के भीतर का इतना बड़ा तत्त्व है। प्रतिक्षण सबल निर्बलों का, धनी दरिद्रों का, विद्वान् मूर्खों का, सुन्दर कुरूपों का, पुरुष स्त्रियों का, स्त्रियाँ पुरुषों का, भूत भूतों का, मन मन का, आत्मा आत्मा का आहार कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते तथा प्रतिष्ठित होते रहते हैं। इन बड़े आहारों के मुक़ाबले, जिनके पाप का अन्दाजा लगान कठिन, और पाप होता भी है या नहीं, बतलाना भी कठिन, मांसाहार तो बहुत ही स्थूल, नगण्य है। हम यहाँ यह भी बतला देना चाहते हैं कि हमारा मतलब मांसाहार का प्रचार करना नहीं, यद्यपि हम उसे राजसिक भोजन मानते और बासी रोटियों से ताजे पके हुए मांस को अधिक गुणकारी समझते हैं, खासतौर से जीवन-संग्राम में पड़े हुए सांसारिक लोगों के लिए कर्मोपयुक्त भोजन। हाँ, मांसाहार से हम शाकाहार को श्रेष्ठ समझते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दू या हिन्दवी

अगले कुछ ही महीनों के अन्दर होनेवाली मनुष्यगणना पर विचार करते हुए कुछ लोगों ने यह विज्ञप्ति निकाली है कि हिन्दू लोग इस बार अपनी जातियों का अलग-अलग ब्यौरा न लिखाकर सिर्फ़ हिन्दू लिखावें। यह विचार बहुत अंशों में दुरुस्त है। हिन्दुओं की कमज़ोरी के कारणों की तलाश करते समय पहला कारण उनकी जाति-पाँति का झमेला देख पड़ता है। अनेक स्थलों पर इसीलिए हिन्दुओं को नीचा

देख जाना पड़ा। इन्हीं जाति-पाँति के अनेक टुकड़ों में बटे रहने के कारण शासकों की दृष्टि में हिन्दू-जाति का कोई भी महत्त्व नहीं। और, संख्या में उनसे कम होने पर भी मुसलमान भारत की मुख्य जाति मान ली गयी है। हिन्दुओं के लिए नान-मुसलमान का खिताब दिया गया है, जिससे अधिकारियों की इस जाति-विभाग पर यथेष्ट अवज्ञा प्रकट होती है।

इस अवज्ञा से बचने और अपने को समष्टि-रूप से संगठित करने के लिए अपनी जाति को छोड़कर हिन्दू लिखवाना बहुत अच्छा है, इसमें सन्देह नहीं; पर इसमें सफलता कहाँ तक होगी, यह विचारणीय है। पहले तो पुराने विचारवाले ऊँची-ऊँची जातियों के जितने लोग हैं, क्षुद्रतम अधिकारों को रखने पर भी जो लोग समाज के अब के श्रेष्ठ अधिकारों पर दखल करते आ रहे हैं, इस बात को किसी बड़े-से-बड़े नेता के कहने पर भी मान लेंगे, इसमें सन्देह है, यद्यपि इससे उनके सामाजिक अधिकारों की किसी प्रकार कोई न्यूनता नहीं होती, अधिकन्तु, हिन्दू के नाम से कुछ लोग वर्तमान नेताओं की पार्टियों की तरह एक दल में परिणत हो जायँगे; दूसरे, ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, सिक्ख, जैन आदि जिन लोगों ने हिन्दुओं ही के अंग से छूटकर अपने-अपने अलग नामकरण कर लिये हैं, वे निस्सन्देह इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेंगे। हर समाज के लोग अपनी एक-एक मौलिकता भिड़ाएँगे, तब अनेक मौलिकताएँ किसी एक परिणाम में मिल सकेंगी, इसमें बहुत बड़ा सन्देह है। उदाहरण के लिए हम सिक्ख भाइयों की एक बात पेश करते हैं। लाहौर में कांग्रेस के दिनों नेहरू-रिपोर्ट के रद्द हो जाने से सिक्खों ने प्रसन्नता ज़ाहिर की थी। फिर यह भी कहा था कि वर्तमान आन्दोलन में सिक्ख सबसे पहले रहेंगे, बशर्ते उनकी भी कुछ बातें मान ली जायँ। अब परिणाम-स्वरूप वर्तमान आन्दोलन में सबसे ज्यादा ज़ोर जहाँ रहा, उस पंजाब में उनकी एक शर्त मान भी ली गयी। राष्ट्रीय झण्डे के तीन रंगों में सिक्खों के पीले रंग का समावेश कर दिया गया। पहले महात्माजी तीन रंगों की जैसी व्याख्या करते थे, अब इस चौथे रंग के मिलने के बाद वह व्याख्या किस रूप से प्रकट होगी, पता नहीं। मुमकिन है, पहले के त्रिगुण और चातुर्वर्ण्य विभाग होकर निकलें। फिर अपर देशों के लोग इस परिवर्तन को मान लेंगे या नहीं, यह विचारात्मक है। इसी तरह हिन्दू बनना भी अनेक मौलिकताओं को एक बार फिर लड़ाना है।

अगर यह विचार हो कि हिन्दुओं की संख्या चूँकि अब भी दूसरी जाति के लोगों से अधिक है, इसलिए हम हिन्दू-नाम से संगठित हो गये, तो दूसरी जाति पर हमारा प्रभाव रहेगा, शासकों की दृष्टि में भी हमारी इज्ज़त होगी, हम अधिक अधिकार प्राप्त कर सकेंगे, और दूसरों के दबाव में नहीं आवेंगे, बल्कि दूसरों को ही अधिक होने के कारण, अपनी आकर्षण शक्ति से, अपने अन्तर्गत कर लेंगे, यह विचार राजनीतिक कूटता का परिचय हो सकता है, भारत की भलाई की बहुत बड़ी बात नहीं। कारण, मुसलमान और ईसाई भी भारत के ही रहनेवाले हैं। वे अपनी तरफ़ से समष्टि-रूप से भारत के किसी प्रश्न पर विचार करते हैं या नहीं, इसके देखने से पहले हिन्दू लोग स्वयं समष्टि-रूप से कहाँ तक विचार करते हैं, यह देखना चाहिए।

'हिन्दू' नाम पर हम लोगों का जितना अनावश्यक प्रेम है, इतना ही यदि आवश्यक ज्ञान-जन्य जातीय प्रेम हो जाय, तो बहुत-सी बिगड़ी हुई बातें बन जायँ और अपना आमूल परिवर्तन कर हम लोग पहले ही की तरह चमकने भी लगें। पढ़े-लिखे लोग जानते हैं, हिन्दू-नामकरण विदेशियों का किया हुआ है। सभ्य होकर

आर्य-समाज आर्य-जाति कहकर परिचय देने लगी, और ब्राह्मसमाज ब्रह्मवादी ऋषियों से अवतरित संस्था हो गयी। पर आर्य कोई जाति नहीं थी। किसी को भद्र कहने से 'भद्र' जाति नहीं बन जाती। इसी तरह ब्रह्म से लिया गया गुण-रूप भी किसी जाति का नामकरण नहीं। मनुष्यों की एक मनुष्य-जाति ही हुआ करती है। फिर कहीं रहने की वजह वह कहीं का मनुष्य कहलाये। स्वामी विवेकानन्द इस देश के मनुष्यों की कोई जाति नहीं मानते थे; वे कहते थे, हम लोग वैदान्तिक हैं।

'वैदान्तिक' से ज्ञान-जन्य साम्य कर दिया गया। पर भारत की अपर जातियों को अपने अंग मान लें, तो वह साम्य दूसरे देशों के लिए भेदात्मक होगा, और जैसे जड़ विचार बाहरी दुनिया के लिए काम में लाये जाते हैं, उन सबका समर्थन करनेवाला राष्ट्र-भाषा के भीतर से एक शब्द भी मिलता है हिन्दवी, जिसे विचारवान् राष्ट्रीय भाववाले मुसलमानों को भी मानने में कोई अड़चन नहीं हो सकती।

'हिन्दू' शब्द से 'हिन्दवी' में कोई फ़र्क़ नहीं। सिवा इसके कि प्रथमोक्त शब्द प्राचीन अनेक संस्कारों, अनेक ऐतिहासिक तथा राजनीतिक घृणाओं और आपत्तियों से मिला हुआ, दूसरों का दिया हुआ जातीय शब्द है, और शेषोक्त सुधार के शंख-नाद से भरा हुआ, तमाम भेदों को दूर करने की ध्वनि करता हुआ, अपनी ही मौलिकता से चमकता हुआ शब्द। यदि इससे अच्छा और व्यापक तथा सुरुचि-संयुक्त दूसरा शब्द कोई गढ़ा जा सके, जो राष्ट्र-भाषा के महत्त्व की रक्षा करता हुआ राष्ट्र को एक ही भाव की रज्जु से बाँध सकता हो, तो हमें उसे मान लेने में कोई एतराज़ नहीं। पर यह हम ज़रूर कहेंगे कि नवीन साहित्य-संस्कार की तरह 'हिन्दू' शब्द से कोई नवीन नाम-संस्कार करना आवश्यक है, जिसे मानते हुए किसी भी भारतवासी को आपत्ति न हो। जिस तरह अँगरेज़ीदाँ मनुष्य, किसी भी जाति के हों, विदेशों में अपने को 'इण्डियन' कहते हुए संकुचित नहीं होते, उसी तरह एक व्यापक जातीय शब्द, भारतवासियों के परिचय के तौर पर, गढ़ना ज़रूरी है। फिर धीरे-धीरे उसका प्रचार और उपयोग किया जाय। भारती या भारतीय भी एक शब्द हो सकता है।

हमारे सामाजिक सुधार दायरे के अन्दर कभी नहीं हो सकते। क्योंकि दायरे को पार करना ही प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया है। पहले के लोग, हमारा मतलब वैदिक काल से है, दायरे में कभी नहीं रहे। इसीलिए उनकी जातीयता भी मनुष्य के भीतर से पूर्णत्व है। पूर्ण मनुष्य किसी देश में नहीं बाँधा जा सकता। उसकी अनु-भूति जिस तरह पूर्ण है, उसके आचरण भी उसी तरह स्वतन्त्र, पर उच्छृङ्खल, और दूसरों को कष्टप्रद नहीं। पहले के मनुष्य यथार्थ विश्वात्मा थे, सच्चे विश्व-नागरिक। वे सब जातियों में मिल सकते थे, और सब जातियों को मिला सकते थे। सबको संस्कृत, शुद्ध रूप देते थे। उनका विरोध घेरे से था। घेरे के ही अनेक गुण और रूप अनार्य तथा आसुर भावों के निर्णायक हैं, इन्हीं से उनका विरोध था। विरोचन से भी कहा गया था, तुम वही हो, पर उसने इसका दुरुपयोग किया। उसने शरीर को यथार्थ सत्ता समझ लिया और भोग-विलास करने लगा। इससे वह और उसके अनुयायी असुर, राक्षस और दैत्य कहलाये। इन्द्र बुद्धिमान था। बार-बार शंकाएँ लेकर गया। उसे आत्मा का ज्ञान हुआ।

अस्तु, विरोचन की तरह, पत्थर की मूर्ति को ही साक्षात् देवता समझनेवाले हिन्दुओं में, दिव्यता के पर्दे में, वही महान् आसुरी भाव छिपा हुआ है। "मूर्ति-

पूजाऽधमाधमा" यहीं की उक्ति है, अन्त तक विवाह हो जाने के पश्चात् नवयुवतियों की तरह, पूजकों का मूर्तिपूजन-रूपी गुड़ियों का खेल छूट जाता है, उन्हें उनके हृदय से सजीव प्रियतम आकर मिलते हैं। इसी तरह प्राचीन हिन्दू-भाव की गुड़ियों का खेल राष्ट्र के मनुष्यों के प्रिय सम्मेलन में आज नहीं, तो एक दिन अवश्य छूट जायगा, और संकीर्णता की ये अनेक हदें, जो कभी विशालता की रक्षा के लिए की गयी थीं, अपर आवश्यक विशालता के विचार से फिर तोड़ दी जायँगी; नहीं तो इस देश के हिन्दू, मुमलमान, क्रिस्तान, जैन, पारसी, सिक्ख आदि का कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। देश में पहले की तरह बड़े-बड़े पुरुषों का आना बन्द नहीं है। बन्द है साधारण मनुष्यों की सुशिक्षा का द्वार, जिसके कारण लोग अपने बृहत रूप को नहीं पहचान सकते, और वर्तमान वैदेशिक दुर्गुणों से प्रभावित हो अनेक भागों में बटते हुए, एक-दूसरे को दबाने के प्रयत्न करते हुए क्रमश: क्षुद्र से क्षुद्रतर होते जा रहे हैं, जिससे "divide and rule" (फूट डालकर शासन करो) की ही नींव मजबूत हो रही है। शासन-भाव को इतने ही बड़े संगठनात्मक जातीय शब्द से उत्तर देना है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## संगठन का एक रूप

मनुष्य मनुष्य है। स्वाधीनता उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। जो जनसमूह पराधीन हो जाता है, उसकी पराधीनता के कुछ ख़ास कारण होते हैं। इस समय हमारे देश में, उन प्रबल कारणों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना उनके परिणाम के रूप से आनेवाले उपद्रवों पर दिया जाता है। त्याग की महत्ता क़रीब-क़रीब सभी भारतवासी मानते हैं। महात्माजी के जीवन को इसी एक गुण ने महान् कर दिया है। देश के लोगों में जो इस समय बहुत बढ़े हुए शुमार किये जाते हैं, उनमें किसी से यदि केवल एक त्याग के लिए कहा जाय, तो शायद ही वह करें। दो साल की सज़ा शायद सब लोग मंजूर कर लेंगे, पर जाति का सवाल छोड़ देने के लिए कहिए, मुसलमान के हाथ की पकायी रोटियाँ खाने के लिए कहिए, विद्रोह फैल जायगा। हिन्दोस्तान की सब जातियों को एक ही स्नेह की दृष्टि से देखनेवाले आदमी हैं अवश्य। पर हम यहाँ साधारण जनता की बातें कर रहे हैं, जो इस आन्दोलन में पूर्ण रूप से सहानुभूति रखती देख पड़ती है, और वैसे ही संगठन का पूर्ण महत्त्व नहीं जानती।

पहले तो इसके लिए शिक्षा आवश्यक है। नयी लायी हुई मिट्टी से आप घड़े, कमोरे, नाद और दियालियाँ आदि कुछ गढ़ नहीं सकते, जब तक उस मिट्टी को तैयार न कर लें। मिट्टी तैयार हो जाने पर जो चाहें, गढ़ सकते हैं। शिक्षा ऐसी ही मिट्टी है। जितने आदमी जेल में साल-साल-भर की सज़ा भुगत रहे हैं, अगर आन्दोलन से पहले कहा जाता कि भारत में तीस हज़ार केन्द्र बनाकर मूर्ख ग्राम-वासियों को शिक्षा दीजिए, उन्हीं की मातृ-भाषा में, संसार की आवश्यक बड़ी-बड़ी

बातें, उन्हीं से प्राप्त रोटियों से गुज़र करते हुए, किसी से लड़िए मत, वे परिश्रम करके अन्न पैदा करेंगे, आपके भोजनों की फ़िक्र करेंगे, आप उनकी विद्या तथा शिक्षा की फ़िक्र कीजिए, आपको और उनका इस तरह बराबर का व्यवहार रहेगा, तो इतनी बड़ी संख्या देख पड़ती या नहीं, हमें सन्देह है !

काम कितना अच्छा होता, इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। इस प्रकार के दो साल का प्रयत्न भारत को एक शताब्दि के लिए उठा देता। यों एक-दूसरे से सीख-सीखकर दो साल में भारत में ऐसी जनता अवश्य हो जाती, जो एक काफ़ी तादाद में प्रत्येक विषय पर खुद ही मस्तिष्क लड़ाती। मनुष्य का मनुष्य के प्रति इतना ही अधिकार है कि वह उसकी स्वाधीन विचारों की रुकी हुई नाली साफ कर दे, न कि यह कि दूसरे को यन्त्र समझ अपनी राह पर चलाने की कोशिश करे। हम किसी का विरोध नहीं करते, क्योंकि हम स्वयं स्वाधीनता के मार्ग की तलाश करते हैं, यह हम निस्सन्देह कहेंगे, सशस्त्र विरोधी को निरस्त्र आवेश से उत्तर देना युक्ति के अनुकूल नहीं। हमारे देश में जन-नायक, लोकप्रिय, प्रसिद्ध होने की जितनी तीव्र वासना है, देश के पलने के लिए उतना दर्द नहीं। सहानुभूति-मात्र हृदय पीड़ित, पद-दलित लोग जन-नायकों का साथ बराबर देंगे, क्योंकि थोड़े-बहुत अंशों में जन-नायकों में त्याग रहता ही है; पर, यदि वे सदा अनुसरणकारी और नेताओं के प्रवर्तित उपाय-पथ के चक्र ही बनते रहे, तो हम निस्सन्देह कहेंगे, वे रथी कभी नहीं बन सकते। अन्यथा हमें कोई समझा दे कि वह किसान, जिसने कुछ भी नहीं पढ़ा, और अपनी सहृदयता से प्रेरित होकर देश के नाम पर चार साल कारावास किया, कैसे 'सुभाष बाबू' बन सकता है ? यदि उसकी इस साधना से सुभाष बाबू का मस्तिष्क उसमें नहीं आ सकता, तो उसकी जेल-यात्रा भी मस्तिष्क-विकास का कारण न होने की वजह से स्वाधीनता की दात्री नहीं हो सकती। कारण, स्वाधीनता मस्तिष्क ही में रहती है।

नेता लोग अपने उपायों को सफलता तक आसानी से पहुँचा देते हैं, विरोधों की कल्पना नहीं करते, अथवा करने पर भी अपने मानसिक बल से उन्हें पार कर जाते हैं। पर जनता नेता नहीं। उसमें इतना मानसिक बल नहीं। वह किस तरह उन विरोधों का सामना कर सकती है ? फिर इतनी भीतरी अड़चनों के रहते हुए बाहर का ज़बरदस्त सुधार हो जायगा और बहुत शीघ्र, यह एक कल्पना-मात्र है।

सशस्त्र सरकार के मुक़ाबले के लिए जनता निश्शस्त्र भले ही हो, पर यदि वह विद्या और ज्ञान के अस्त्र से भी रहित है, तो हम कहेंगे, यह खम्भ फोड़कर नरसिंह के निकालने की चेष्टा ज़रूर है, पर वहाँ पराविद्या के आधार प्रह्लाद को अलग ही कर दिया है। विद्या के बल से सब सुधार आप-ही-आप होते जाते हैं। क्योंकि वह क्रिया विद्या की प्रतिक्रिया के रूप से होती है। भीतर के अन्धकार को बिना दूर किये बाहर के प्रकाश का सामना पतंग-परिणाम ही है। यहाँ "बहै न हाथ, दहै रिस छाती" की एक उक्ति बहुत प्रचलित है। पर जिनके सामने परशुराम की यह हालत हुई थी कि मारने का इरादा करने पर भी हाथ नहीं उठ रहे थे, वह राम थे। राम की तरह नेताओं ने देश के लोगों को स्थितप्रज्ञ कर दिया है या नहीं, हम नहीं जानते, पर यह हम रोज़ संवाद-पत्रों में पढ़ते हैं कि पुलिसवालों के हाथ कहीं भी नहीं रुके।

मित्र, हम मज़ाक़ नहीं उड़ा रहे। हम पत्थर नहीं हैं। देश की स्वतन्त्रता सबको प्रिय है, और सबके हृदय की सुवर्ण-कल्पना। हाँ, पथ भिन्न-भिन्न हैं। शास्त्रों

की अनुकूल महत्ता से मिलने के कारण ही महात्माजी आज संसार के सबसे बड़े मनुष्य हैं। देश में और भी अनेक त्यागी, तीक्ष्ण-धी महापुरुष हैं, जो अपने त्याग के कारण ही देशवासियों के मन के पूज्य स्थान को अधिकृत कर रहे हैं। हम उसी शास्त्र के स्वर से स्वर मिलाकर कहते हैं, ज्ञान का दान सब प्रकार के दानों से श्रेष्ठ है। वही ज्ञान, जो शुल्क-जन्य नहीं, घोर दासता के पाश काट सकता है, और उसके मुक़ाबले पृथ्वी-दान, वह भारत-साम्राज्य क्यों न हो, तुच्छ है। स्वतन्त्रता ज्ञान से होगी, पृथ्वी से नहीं। बहुत बड़े-बड़े आदमियों का कहना है, ऐश्वर्य ने मनुष्य नहीं बनाये, मनुष्यों ने ही ऐश्वर्य पैदा किया है। आज अनेक लोग ऐश्वर्य से मनुष्य बनाने की ग़लती कर रहे हैं। वे धन से भूख मिटाते हैं, उपाय तथा क्रिया से नहीं। इससे भूख और बढ़ती जाती है, और उपायों के आविष्कार नहीं होते।

अपने शासन की कठोरता के उत्तरदायी हमीं हैं, यह पहले समझना आवश्यक है। जब तक हम अपनी मुक्ति के लिए चेतना को छोड़कर किसी भी जड़ के प्रार्थी रहेंगे, तब तक हमारा मस्तिष्क गुलाम अवश्य रहेगा। जितने परिमाण में जड़ परमाणु मस्तिष्क में रहेंगे, उतने ही परिमाण में उन्हें रोकने के लिए बाहर से ही आपको विरोध दीखेगा। यह प्राकृतिक तथा दार्शनिक सत्य है। ज्यों-ज्यों आपका मस्तिष्क साफ़ होगा, त्यों-त्यों बाहर से भी विरोध हटता जायगा। फिर उस स्वतन्त्र, स्थितप्रज्ञ राम का, पूर्ण परिष्कृत होने पर, विरोध हो ही नहीं सकता।

नेता लोग तत्त्व नहीं देखते। देखते हैं, राम ने भी विरोध किया था—राम लड़े थे। कहिए, यह रावण के ही कार्य की प्रतिक्रिया थी, राम अपनी लक्ष्मी को छोड़ कैसे देते, नहीं समझेंगे। हम कहते हैं, राम कहीं भी नहीं लड़े। सब जगह विरोधी कार्यों की राम के भीतर से प्रतिक्रिया हुई, और उसने स्वतन्त्रतापूर्ण मनुष्य की विजय सिद्ध की। जिसके मस्तिष्क में किसी प्रकार की जड़ात्मिका बुद्धि नहीं, उसका ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है, वह कभी हार नहीं सकता। अस्तु, हम भारत को भारत के ही सिद्धान्तों के भीतर से, जो सभी अच्छे सिद्धान्तों से मिलते हैं—सदा सार्वदेशिक हैं, अपना पूर्ण सुधार करते हुए अभीप्सित स्वतन्त्रता के लक्ष्य पर पहुँचा हुआ देखना चाहते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## विवाह के विचार पर बर्नार्ड शॉ

हिन्दी के पठित पाठकों को अँगरेज़ी-साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार और दार्शनिक बर्नार्ड शॉ का नाम मालूम होगा। सरल, मुहावरेदार, प्रांजल तथा चुभती हुई अँगरेज़ी के लिखने में आप संसार में अद्वितीय हैं। आपने अपने एक नाटक की भूमिका में, जिस तरह 100 सफ़े के नाटक में 150 सफ़े की भूमिका लिखा करते हैं, वर्तमान इँगलैण्ड की विवाह-पद्धति पर विचार किया है, और जिस तेज़ क़लम से विरोध करते हुए सतर्क प्रमाणों की पेशियों के साथ-साथ विलायती समाज के कल्पद्रुम की जड़ हिला दी है, आशा नहीं कि और दो-चार साल भी वह विवाह के ऐसे ही फल

देता रहेगा। शॉ महाशय बड़े ही ओजस्वी, स्वतन्त्रमना लेखक हैं। आपके विचारों से हमें एक जो लाभ है, हम उससे कुछ फायदा उठा सकते हैं। कारण, अपने समाज के भी हमें, दूसरी जातियों के समाज को देखकर, अपनी संस्कृति तथा लक्ष्य के अनुकूल, संस्कार करने होंगे—

"If marriage can not be made to produce something better than we are, marriage will have to go, or else the nation will have to go."

आपका कहना है कि अगर विवाह उनकी मौजूदा हालत में कोई तरक्क़ी नहीं कर सकता, तो वह उठा दिया जाना चाहिए, नहीं तो जाति का ही जनाज़ा निकला समझिए।

"It is no use talking of honour, virtue, purity, and wholesome, sweet clean English home lives when what is meant is simply the habits I have described. The flat fact is that English home life today is neither honourable, virtuous, wholesome, sweet, clean nor in any creditable way distinctively English."

"निष्प्रयोजन है कि विवाह के सम्बन्ध में सम्मान, धर्म, पवित्रता और स्वास्थ्य-प्रद, मधुर, स्वच्छ अँगरेज़ी पारिवारिक जीवन का ज़िक्र छेड़ा जाय, जिनके मानी सिर्फ़ कुछ आदतें हैं, जिनका मैं वर्णन कर चुका हूँ। इसकी ठेठ भाषा यह है कि अँगरेज़ी पारिवारिक जीवन इस समय न तो सम्मानित है, न पवित्र, न स्वास्थ्यप्रद, न मधुर-स्वच्छ, न किसी भी प्रशंसनीय तौर पर विशिष्ट अँगरेज़ी।"

आप विवाह को साम्प्रदायिक तथा धार्मिक अनेक बन्धनों से दूर कर देना चाहते हैं, और इस तरह की प्रथा योरप में ही प्रचलित है, जिसका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

"In Sweden, one of the most highly civilized countries in the world, a marriage is dissolved if both the parties wish it, without any question of conduct. That is what marriage means in Sweden."

अर्थात् स्वीडन में, जो संसार के सभ्यतम देशों में एक है, दोनों (स्त्री-पुरुष) की इच्छा से ही विवाह-सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। आचरण का कोई सवाल नहीं उठता। वहाँ विवाह के मानी भी यही हैं।

शॉ महाशय ने जैसा लिखा है, इससे पाश्चात्य जीवन की धारा किस समुद्र की ओर बह रही है, वह अच्छी तरह समझ में आ जाता है। बात है निगाह की। वहाँ के सामाजिक जीवन में भलाई का जो पर्दा पड़ा हुआ है, शॉ महाशय की नजर उस पर्दे पर नहीं अटकती। वह पर्दे के भीतर के दृश्य देखकर विलायती वैवाहिक जीवन की गिरती हुई यवनिका की कल्पना कर घबराये हुए हैं। उनकी दृष्टि में धर्म का आडम्बर ढोंग है। इसीलिए वह इतनी तेज़ ज़बान से विवाह के बाहरी दिखलावे, तमाम धार्मिक पर्दे उठा देना चाहते हैं, तमाम क़ानून रद्द कर देना चाहते हैं। वे विवाह को तभी तक महत्त्व देते हैं, जब तक दो प्रेमियों के प्राण एक-दूसरे से जुड़े हैं। यह स्त्री और पुरुष की बाहरी स्वतन्त्रता की हद है।

जब विलास की प्रधानता रहेगी, तब दैहिक स्वतन्त्रता का यही परिणाम होगा। जड़वादी योरप, भोगवादी योरप अब अधिक दिनों तक शिरश्चरण-हीन धार्मिक लोगों का भार नहीं ढो सकता। धार्मिक कट्टरता का इतिहास उसे अच्छी

तरह याद है। धर्म के नाम पर जो घोर अत्याचार हुए हैं, उन्हें वह नहीं भूला। उसके एक हाथ में विज्ञान का महास्त्र है, दूसरे हाथ में तमाम संसार के भोग्य पदार्थ। उसका ईश्वर भी संसार है और लक्ष्य है शरीर-सुख, यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्।

हिन्दोस्तान की संस्कृति लक्ष्य में इससे जुदा होकर भी जुदा नहीं, पर कहने की दुनिया में यही कहा जायगा कि बिलकुल पृथक् है। यह बुराई का काँटा भलाई से निकालता है, और फिर भलाई के काँटे को भी छोड़कर स्वरूपलीन या पूर्ण स्वतन्त्र होता है। शॉ महाशय ने समाज की वैवाहिक बुराई के काँटे को जिस उपाय से निकालना चाहा है, भारत के लोग उसे भलाई का काँटा शायद नहीं कहेंगे। बहुत मुमकिन है, उसे उच्छृंखलता कहें। शॉ महाशय-जैसे लोग जिस विषय का विरोध कर रहे हैं, उसकी जगह प्रचलित दूसरे सभ्य देश की प्रथा पेश कर रहे हैं, यह विरोध किसी उच्छृंखल भावना से किया गया नहीं कहा जा सकता। उन्होंने समाज का कल्याण समझकर ही ऐसा लिखा है। पकड़ सिर्फ एक जगह है, लक्ष्य पर। शॉ महाशय इस प्रकार समाज को वैवाहिक जीवन में भी स्वतन्त्र रखना चाहते हैं। वह स्वतन्त्रता वैदिक या वैदान्तिक स्वतन्त्रता नहीं। इसी लक्ष्य-भेद से इन्द्र और विरोचन की अलग-अलग गति हुई थी।

हमें वर्तमान चमत्कार-पुलकित पाश्चात्य विकास पर आश्चर्य नहीं, आश्चर्य है महाभारत लिखनेवाले ऋषि व्यास जी पर और हिन्दी में रामायण लिखनेवाले महात्मा तुलसीदासजी पर, जिन्होंने, पता नहीं कब, शायद तब राक्षसी, आसुरी और दानवी सभ्यता का यह चमत्कार लक्षांश में भी न था, पर कल्पना की आँखों से सत्य-रूप प्रत्यक्ष कर लिये, और शर्मिष्ठा, शूर्पनखा के चरित्र चित्रित कर दिये। एक का सम्बन्ध भगवान् रामचन्द्र के ही वंश में होता है, जिससे पुरु की उत्पत्ति होती है। हम एक बार लिख चुके हैं, और फिर लिखते हैं, शर्मिष्ठा का चरित्र मनन करने लायक है। वह विवाहित होकर नहीं गयी थी, गयी थी असुर-गुरु शुक्राचार्य की कन्या, महाराज ययाति की पत्नी देवयानी की सेवा के लिए। साम्राज्य-लोलुप उसके पिता ने अपने स्वार्थों के विचार से अपनी कन्या को गुरुकन्या की सेवा के लिए भेज दिया था, अन्यथा शुक्राचार्य रुष्ट हो जाते। मुर्दों को जिलाने से जो फ़ायदा, युद्ध में, असुरों को उनके मृत-संजीवनी-मन्त्र द्वारा पहुँचता था, वह रुक जाता। देवयानी की शर्मिष्ठा से बड़प्पन पर तकरार हो गयी थी। देवयानी नाराज़ हो गयी थी। पिता से शर्मिष्ठा को अपनी दासी बनाने का आग्रह किया था। शर्मिष्ठा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, मैं अपने वंश की रक्षा के लिए, जाति को जीवित रखने के लिए देवयानी की सेवा स्वीकार करती हूँ। एक बिल्कुल पश्चिमी महिला के रंग-ढंग मिलते हैं। फिर महाराज ययाति उससे भी प्रेम करते हैं। तब हिन्दू-समाज का लक्ष्य होता है शर्मिष्ठा के शील पर। शर्मिष्ठा का जो लक्ष्य जाति की भलाई, अपराजेय शक्ति, आसुर मर्यादा के बढ़ाने की ओर था, वही हिन्दुओं के यहाँ सद्-गुण विवेचित होता है। और, उसके गर्भ से जो पुत्र हुआ, वह इतना बड़ा महात्मा हुआ कि भोगी पिता को अपना यौवन ही दे दिया। इस तरह असुर-राज-कन्या आसुरी तेज तथा नम्रता को लिये हुए भी भारतीय बन जाती है।

दूसरी शूर्पनखा है, जिसमें सद्गुण नहीं, केवल उद्दाम भोग-वासनाएँ हैं। और, तुलसीदास का चित्रण भी कितना तुला हुआ। "तीन लोक फिरिकै मैं आयी" में शताब्दियों पहले शॉ महाशय की बाहरी स्वतन्त्रता की मूर्ति को खींचकर दिखला दिया।

हिन्दोस्तान में विवाह की आध्यात्मिक व्याख्या, सतियों की गाथाएँ आदि युग से लेकर आज तक साहित्य की सबसे मधुर पंक्तियाँ हैं। स्त्रियों की महिमा भारतीय सभ्यता के हृदय की तस्वीर है। वह कभी इस प्रतिमा को विसर्जित नहीं कर सकती, बल्कि सभ्यता ही इस रूप से सजीव हो उठी।

अब शायद कुछ साफ़ हो गया, योरप की निगाह हमेशा बुराइयों पर है। वहाँ जितने भी सुधार हुए हैं, बुराइयों पर उनसे प्रतिघात किया गया है, भारत में भलाई के काँटे से बुराई का काँटा निकाला गया है। यहाँ की गुरुकुल-शिक्षा भी ऐसी ही थी। आज अनेक प्रकार के सुधारों की आवाज उठ रही है। सुधार हो भी रहे हैं। उनका समर्थन शर्मिष्ठा के सम्बन्ध की तरह भले पत्र में किया भी जाता है। उदाहरण में विधवा-विवाह को ले सकते हैं। युवती विधवाओं से, वे किसी भी कुल की हों, देश-काल के अनुसार समाज का जैसा पतन हो रहा है, वह आँख-वाले सभी लोग देखते और जानते हैं। ऐसी दशा में विधवाओं का एक के साथ सम्बन्ध होना अधिक पापों से बचाव ही हुआ, और गार्हस्थ्य-सुखों का भोग भी औरों की तरह होगा। यहाँ सत्ययुग का पचड़ा नहीं चल सकता। कारण, वह आदर्श अब केवल किताबों में हैं। जैसे कर्म, स्थिति तथा अन्यान्य लोगों का सहयोग है, वैसी ही यहाँ की मानसिक दशा भी है। प्रति शत, प्रति हज़ार या प्रति लाख कुछ साध्वियों का होना भी हम स्वीकार करते हैं, यहाँ हमारा मतलब अधिक संख्या से है, जो गुलामी के कारण ओतप्रोत शूद्र है। ब्राह्मण व क्षत्रिय आदि बनना तो अपर जातियों को चिढ़ाना है। अस्तु।

ज़रा और सुनिए—"How strong was the feeling that a husband or a wife is an article of property, greatly depreciated in value at secondhand and not to be used or touched by any person but the proprietor, may be learnt from Shakespear...But this is not what a man feels about the thing he loves but about the thing he owns."

(कितनी कठोर धारणा थी ! पति-पत्नी जैसे कोई जायदाद हों, दूसरी बार जिसकी क़ीमत निहायत घट गयी हो, और मालिक के सिवा दूसरा आदमी न उसे छुए, न इस्तेमाल करे, यह शेक्सपियर से सीखा जा सकता है।...लेकिन यह वह नहीं, जो आदमी प्यार करनेवाली चीज़ पर सोचता है, यह मालिकाना है।)

विवाह का परिणाम इतना ही नहीं कि इच्छानुसार उसका उच्छेद कर दिया जाय, क्योंकि नाबालिग़ बच्चे क़ानूनन पिता-माता की ही परवरिश के अधिकारी हैं, उनका फिर क्या होगा ? अँगरेज़ जाति में अपर बन्धनों के साथ एक यह बन्धन भी है। अब तक शॉ महाशय बेपर की उड़ा रहे थे। यहाँ ज़रा पकड़ में आये, तो माना नहीं और विरोध में एक दूसरी प्रबल युक्ति दी। देखिए—

"It is true that if you divorce the parents, the children have to be disposed of. But if you hang the parents, or imprison the parents, or take the children out of the custody of the parents because they hold Shelley's opinions, or if the parents die, the same difficulty arises. And as these things have happened again and again, and as we have had plenty of experience of divorce decrees and separation orders, the attempt to use children as an obstacle to divorce is hardly

worth arguing with. We shall deal with the children just as we should deal with them, if their homes were broken up by any other cause. There is a sense in which children are a real obstacle : they give parents a common interest which keeps together many a couple who, if childless, would separate. The marriage law is superfluous in such cases. This is shown by the fact that the proportion of childless divorces is much larger than the proportion of divorces from all causes."

(यह ठीक है कि अगर आप माँ-बाप को पृथक् कर दें, तो लड़कों का ठिकाना करना होगा। लेकिन अगर आप माँ-बाप को फाँसी दे दें, या सज़ा कर दें, या लड़कों को माँ-बाप की देख-रेख से ले लें, क्योंकि शेली की तरह वे भी ख़ास राय रखते हैं, या माँ-बाप अगर मर जायँ, तो वही कठिनाई खड़ी होती है। और, जबकि वे घटनाएँ बार-बार घट चुकीं और हमें विच्छेद-आज्ञाओं की यथेष्ट अभिज्ञता है, ऐसी हालत में बच्चों को विवाह-विच्छेद का बाधक बतलाना कदाचित् ही विचारणीय है। हम उन बच्चों के साथ वही वर्ताव करेंगे, जैसा कि उनके घरों के अन्य किसी कारण से नष्ट हो जाने पर उनके साथ करते। हाँ, एक तरह से बच्चे विवाहोच्छेद के बाधक भी होते हैं—वे माँ-बाप दोनों के प्यार की वस्तु होते हैं, जिससे कितने ही जोड़े जुड़े रहते हैं, जो अगर निसन्तान होते, तो अलग हो गये होते। विवाह-क़ानून ऐसी दशाओं में एक फ़ालतू विना कानून है। यह प्रकट बात है कि तादाद में बच्चेवाले विवाहोच्छेद अन्य कारणों से हुए उच्छेदों से बहुत ज्यादा होते हैं।)

यहाँ हमें योरपीय स्वाधीन वृत्ति का पूरा परिचय मिल जाता है। स्वाधीन विहारिणियों के मर्म तक शॉ महाशय पहुँच सके हैं। इसी खुली हुई ओजस्वी अँगरेज़ी का आज संसार के लोगों में अद्भुत आकर्षण है, आज शॉ महाशय लेखन-कला-कौशल में संसार के बहुमत के अनुसार सबसे कुशल हैं। हम भी आपकी उद्दाम, अविचलित, तीव्र, सरल, मधुर, सुन्दर भाव-धारा की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते, यद्यपि आपके इन विचारों में हमें अपने फ़ायदे की कोई भी बात नहीं देख पड़ी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## जनता और सरकार

क्रमशः देश का राजनीतिक वायुमण्डल जैसा ज़हरीला होता जा रहा है, इससे सरकार का स्वास्थ्य प्रति दिन बिगड़ता हुआ ही नजर आ रहा है। जनता और सरकार के बीच जिस समझौते से शासन का सुदर्शन-चक्र चल सकता है, अँगरेज़ सरकार की ओजस्विनी प्रकृति उसे मानने के लिए तैयार नहीं। उसके हाथ में शक्ति है। वह समझती है, शक्ति के दुरुपयोग से भी वह जनता को दबा देगी।

भारत सब तरह दुर्बल है। और, सरकार प्राय: जनता की शक्ति को तौलकर ही लाचारी दर्जे उससे सहयोग किया करती है, यदि सरकार का विलायती या योरपीय अर्थ लिया जाय। वर्षों पहले से तैयारी कर रखनेवाली जर्मन सरकार दूसरी बड़ी-बड़ी सरकारों को सुदृढ़ देखकर भी अपनी वैज्ञानिक शक्ति पर भरोसा रखती हुई ज़रा भी नहीं घबरायी। पर रूस, फ्रांस, अमेरिका और जर्मनी और सब जगह एक दिन सरकार को जनता के मुक़ाबले पर झुकना पड़ा।

अभी कैम्ब्रिज में भाषण करते हुए, माननीय शास्त्री ने कहा है, स्वाधीनता की घोषणा मिस्टर गाँधी ने अब की है, पर यह मिस्टर गाँधी ही थे, जिन्होंने अब तक इसे रोक रक्खा था, नहीं तो बहुत पहले ही इसकी घोषणा कांग्रेस की तरफ़ से हो गयी होती। जब उन्होंने देखा कि नवयुवकों का ज़ोर बढ़ रहा है, और वे जिस तरह अपने सम्पत्तिवाद-विरोधी विचारों से अस्थिर हो रहे हैं, उन्होंने सोचा कि भारत के नवयुवकों को शान्ति तथा निर्विरोध उपायों से अपनाना चाहिए, और उनके सामने अधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया; अन्यथा विरोधात्मक क्रियाओं की सम्भावना थी। मिस्टर गाँधी के निर्विरोध उपाय के रहने पर भी क़ानून के रक्षक आन्दोलनकारियों से बुरी तरह और बड़ी निष्ठुरता के साथ पेश आये।

इस तरह जो लोग इस आन्दोलन में शरीक नहीं, कदाचित् इससे सहमत भी नहीं, और सरकार के मातहत रहनेवाले हैं, वे भी सरकार की कार्रवाइयों से सन्तुष्ट नहीं। जिनका विश्वास हत्या पर है, और अब तक शायद अपने पूर्व कथन के विचार से चुप थे, वे भी सरकार की कार्रवाइयों से क्षुब्ध-से हो गये हैं। संवाद-पत्रों में प्रतिदिन दो-चार बम-धड़ाके पढ़ने को मिलते हैं। अधिकारियों पर भी बम चलाकर हत्या करने के उपाय सोचे गये। पर सरकार अपने दमन में क्रमश: और दृढ़ता दिखला रही है। बम्बई, पनवेल, मुरादाबाद और जहाँ भी ज़रूरत हुई, शान्ति के नाम से गोलियाँ चला दी गयीं। रिपोर्ट इच्छानुसार की जाती है, और प्रचार के जो साधन रेल, तार, वायुयान, जहाज़ आदि हैं, उनसे फ़ायदा उठाया जाता है। जनता का वास्तविक महत्त्व कुछ भी नहीं। उसकी पूछ कहीं भी नहीं। जनता और सरकार के इस भाव के परिणाम की विशेष रूप से विचार करने की भी ज़रूरत नहीं। कारण, संसार का इतिहास अनेक बार ऐसे परिणामों की आवृत्तियाँ कर चुका है। हमारा अनुमान है, गोलमेज-कानफ्रेंस के हो जाने के बाद, सरकार को दमन की और सुविधा होगी। क्योंकि घिर भारत के निश्चित किये हुए भाग्य की रक्षा के लिए सरकार को नयी संजीवनी शक्ति मिलेगी।

साधारण-जनों का जैसा रुख़ देख पड़ता है, और आग में गोलियों के अंगारे झोंक-झोंककर उसे बढ़ाने में सरकार को जैसी कुशलता हासिल है, शासन के चारु संचालन में हमें दक्षता की जगह हत्या के भारी हाथ ही नज़र आते हैं। शासन एक तरफ़ से कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। और, देश के जैसे दृश्य सरकार ने अबके देखे हैं, शायद भारत के लिए इसके चौथाई हिस्से की भी उसने पहले कल्पना नहीं की होगी। महात्मा गाँधी और प्रमुख नेताओं को क़ैद करने से आन्दोलन को धक्का ज़रूर पहुँच सकता है, पर इससे जनता की प्रतिदिन रुष्ट होती हुई धारणा सरकार की तरफ़ से बदल नहीं सकती। जापान की आग्नेय उत्पत्ति और भूकम्प का कारण उसकी परिस्थिति है। यदि तमाम देश की ऐसी ही स्थिति हो, तमाम भूमि ज्वालामुखी पर रक्खी हुई हो, तो कभी-न-कभी सम्पूर्ण देश के लिए दु:खद परिणाम अवश्यम्भावी है। भारत सरकार को मित्र-राज्य एक आड़ की तरह भले ही देख पड़ते हों, पर सड़ी थुन्नियों में पुराना ठाट कभी नहीं टिका। देशी राजाओं

की प्रजा के भी मनोभाव प्रायः प्रकट होते रहते हैं। तोप, बन्दूक, गोली-बारूद आदि साधनों से पहले मनुष्य है। इसलिए जनसंख्या सदा ही अग्रगण्य है।

महात्माजी ने अँगरेज़ सरकार के मर्म-स्थल पर प्रहार किया है। यह अँगरेज़ सरकार की चूसने की नीति के विरोध में तुली हुई ऐसी मार है, जिसके सामने किसी प्रकार की भी बुद्धि अपना इन्द्रजाल नहीं फैला सकती। उस रोज तक उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को हम यही कहते हुए सुनते थे कि जिस चालाकी का अस्त्र सरकार हमारे शासन में छोड़ती है, हमें भी सरकार से उसी रीति से पेश आना चाहिए। देशबन्धु दास ने स्वराज्य-दल का संगठन इसी अभिप्राय से किया था। बल्कि कहना चाहिए, महात्माजी से पहले अँगरेज़ी राज्य में भारत की राजनीति का इतिहास बिलकुल दूसरी तरह का था, जो जनता से बहुत दूर था। महात्माजी जनता के प्राणों तक पहुँच गये हैं, वे कूटनीति को मानवीय धर्म से दूर समझकर उसके प्रति सविनय अवज्ञा दिखलाने की शिक्षा देते हैं। इस अस्त्र को साधारण जनता अनायास ग्रहण कर सकती है, और यह अवज्ञा सरकार की तमाम कूटनीतियों के लिए अकेली यथेष्ट है। यह सार्वकालिक असन्तोष की आग सरकार के प्रतिकूल जनता के हृदय को जला रखती है, जिसकी गरमी और ज्वाला तोप और बन्दूकों की ज्वाला से बहुत अधिक है, यह कभी निष्फल नहीं हो सकती। कारण, यह प्राण संचारिणी है, कूटनीति के पूर्ण नाश का प्रयोग। ऐसी जनता से सरकार रक्षक के ही रूप से मिल सकती है, शासक के रूप से नहीं।

['सुधा,' मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## भू-डोल का वैज्ञानिक सिद्धान्त

भू-कम्प संसार में सब जगह होता है, कभी यहाँ, कभी वहाँ। इस विषय में वैज्ञानिकों के लिए ख़ास तौर से दिलचस्पी नहीं हो सकती। पर 'सुधा' के पाठक ऐसे अनेक साहित्यिक होंगे, जिनका इस विषय के ज्ञान से मनोरंजन होगा। भू-डोल के सम्बन्ध में हमारे यहाँ हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार यह विश्वास है कि शेष-नाग के हिलने से पृथ्वी काँप उठती है; जब पृथ्वी में पाप का भार बढ़ जाता है, और शेष-नाग उसे सहन नहीं कर सकते, तब उनका फन डोल उठता है, जिससे पृथ्वी डगमगाने लगती है। पर बात ऐसी नहीं। क्योंकि अगर हिन्दुओं के इस विश्वास के अनुसार ही पृथ्वी का डोलना ठीक होता, तो एक ही वक़्त सब पृथ्वी काँप उठती। कारण, सारी धरा शेष-नाग के फन पर रखी हुई है। पर ऐसा नहीं होता। भू-कम्प सब देशों में एक ही वक़्त नहीं होता। वह कुछ ही अंशों में हुआ करता है। वैज्ञानिकों ने अब इसका बड़ा अच्छा निर्णय कर लिया है।

यह जो एकाएक ज़बरदस्त भू-डोल हो जाता है, जैसा कि गत 1923 ई. में जापान में हुआ था, जिससे कितने ही लोगों का प्राणान्त हो गया, कितने ही मकानात ढह गये, इसके अलावा समुद्र की तरंगों की तरह हर वक्त पृथ्वी के

कम्पन की तरंगें उठती रहती हैं, यानी पृथ्वी प्रति मुहूर्त काँपती रहती है, पहले वैज्ञानिकों को इसका पता न था। वे समझते थे, समुद्र की लहरों के थपेड़े से पृथ्वी इस प्रकार काँपती रहती है। पहले जब भू-कम्प की जाँच करनेवाले यन्त्र न थे, तब समुद्र की तरंगों के थपेड़े से पृथ्वी के काँपने का जो यह अनुमान किया गया था, ताराओं की दूरी की नाप के लिए खुर्दबीन मिलाते समय किया गया था। एक प्याली में गलित पारा रखकर खुर्दबीन की सात रेखाएँ पारे में पड़नेवाले हिलते प्रतिबिम्बों के साथ मिलायी जाती हैं। पर यह मेल करना बड़ा कठिन है। कारण, पारा हर वक़्त काँपता रहता है, जिससे रेखाओं के प्रतिबिम्बों को मिलाना दुश्वार हो जाता है। इसी कम्पन से वैज्ञानिकों ने अनुमान किया था कि समुद्र के थपेड़े से पृथ्वी में कम्पन होता है। जर्मनी के गुटेनवार्ग का यह मत है। स्कॉटलैण्ड के वाकार, अमेरिका के क्लोट्ज़् आदि ने समुद्र की तरंगों को ही इस कम्पन का कारण बतलाया है।

जिस भू-डोल से संसार में बड़े-बड़े उपद्रव हो जाते हैं, जैसे कि 1897 ई. के भू-कम्प से आसाम में और 1904 ई. के भू-कम्प से कांग्रा में कई हजार आदमी काम आ गये, और गत वर्ष के भू-कम्प से दिल्ली, लाहौर और पंजाब के कितने ही मकानात गिर गये, पुल टूट गये, यह आकस्मिक भू-कम्प एक ख़ास वजह से हुआ करता है। पृथ्वी के ऊपर नारंगी के छिलके की तरह एक छिलका है। इसमें जगह-जगह पक्के मकान की ईंटों की तरह बड़े-बड़े पहाड़ सटे हुए हैं। ताप के घटते-बढ़ते रहने के कारण इन पहाड़ों के किनारे ढीले पड़ जाते हैं, और फिर धरा के कम्पन के कारण वे अपने स्थान से किसी विशाल गर्त में गिर जाते हैं। इनके गिरने से जो बड़ी-बड़ी तरंगें पृथ्वी पर ऊठती हैं, उन्हीं से भू-डोल होता है, और बड़े-बड़े अनर्थ संघटित हो जाते हैं। भू-डोल में किस जगह पृथ्वी के भीतर पहाड़ गिर गया, जहाँ से ये अनर्थकारी कम्पन उठे, यह समझ में आ जाता है।

एकाएक इस प्रकार की दुर्घटना जहाँ होती है, वहाँ से तीन प्रकार के कम्पन उठते हैं, और चारों तरफ तरंगाकार बहते रहते हैं। दो तरह के कम्पन ऐसे हैं, जिन्हें लम्बे और बेंड़े तौर पर बहनेवाले कम्पन कहना चाहिए। प्रति सेकेण्ड चार मील पहले की गति है, और प्रति सेकेण्ड ढाई मील दूसरे की। इन तरंगों की गति में फ़र्क़ रहने के कारण भू-कम्प के केन्द्र से दूर किसी भी जगह पहली तरंग पहुँचेगी, फिर दूसरी। इन दोनों प्रकार की तरंगों में पहली से दूसरी कितनी देर में आयी, इसका ज्ञान रहने पर और इनकी गति की नाप मालूम होने पर, कितनी दूरी पर भू-कम्प हुआ, यह बतलाना गणित-शास्त्र का सीधा सवाल है। इस तरह तीन जगहों से यदि भू-कम्प के केन्द्र की दूरी का हिसाब लगाया जाय, तो भू-कम्प का केन्द्र कहाँ है, यह स्कूल का बालक भी बतला सकता है। इन दोनों तरंगों से केवल भू-कम्प के केन्द्र का ही निर्देश नहीं होता, ये पृथ्वी के भीतर से आते समय पृथ्वी के संगठन के भी अनेक संवाद ले आती हैं।

प्रिंस गेलिट्ज़िन ने जिस भू-कम्प-मापक यन्त्र का आविष्कार किया है, उससे भू-पृष्ठ का यह सदैव कम्पन अच्छी तरह पकड़ में आ जाता है। रशिया के प्रसिद्ध भू-तत्त्व-विद् प्रिंस गेलिट्ज़िन के द्वारा इस आविष्कृत यन्त्र में अनेक गुण हैं। इस यन्त्र से इच्छानुसार भू-कम्पन की गति बढ़ाकर फोटोग्राफ लिया जा सकता है। पानी पर रोड़ा फेंकने से जिस प्रकार उसके ऊपर तक तरंग उठती है, भू-कम्प की जगह से तीसरे प्रकार की तरंगें, जिनका उल्लेख अभी नहीं हुआ, ऐसे ही उठती

हैं। इनकी गति प्रति सेकेण्ड दो मील है। पहले की दो प्रकार की तरंगों से इनकी गति मन्द है। अतः ये तरंगें सबसे पीछे आती हैं। इन्हीं के बहने के समय इमारतें ढह जाती हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## श्री विजय वर्मा और 'सुधा'

'माया' नाम की कहानियों की एक पत्रिका कभी-कभी प्रयाग से प्रकाशित हुआ करती है। उसके सम्पादकीय विभाग में विजय वर्मा-नामक कोई सज्जन कार्य करते हैं। आप कभी-कभी अपनी नयी सम्पादकीय का नमूना अपने लेखकों को दे दिया करते हैं। बहुधा आपके क़लम-वज्र के आघात से लेखकों की उड़ान में सहायता देनेवाले कल्पना-पक्ष गिर जाया करते हैं। एक बार तो बनारस का एक मेरु पर्वत भी आपके डर के मारे भारत-सागर की शरण लेने के लिए बाध्य हुआ था। ऐसी दशा में श्रीमान्‌जी के अत्याचारों से पीड़ित लेखक लोग, निष्पक्ष होकर, जब अन्य आश्रय खोज निकालते हैं, तो वर्माजी का दूरगामी क्रोधानल ठीक उस दशा को पहुँच जाता है, जिसे लोग भूतावेश की दशा कहते हैं। 'माया' के इसी नये जुलाई 20 को निकलनेवाले अंक में आपकी यह दशा चरम सीमा को पहुँच गयी है। आपने "परीक्षकों की परीक्षा" करते हुए अपनी सहयोगिनी 'सुधा' का भी भूतावेशपूर्ण शब्दों में ही ज़िक्र किया है। हमें दुःख और शोक है कि वर्माजी की मानसिक दशा इतनी चिन्ताजनक हो उठी है। अतएव उनके इस अनर्गल प्रलाप पर हम कुछ भी ध्यान नहीं देना चाहते, क्योंकि क़ानून भी मनुष्य की दशा विशेष में कही गयी बातों को नोटिस नहीं करता। वर्माजी के नोट की भाषा ही उनकी इस चिन्ताजनक मानसिक दशा का परिचय देती है। अच्छा हो, यदि वह किसी अच्छे वैद्य से इस विषय में सलाह करें।

'माया' के दूसरे सम्पादक 'मुस्तफ़ीजी' की प्रशंसा किये बिना भी हम नहीं रह सकते, क्योंकि उन्होंने इस विषय में उचित और न्याय्य साहस का परिचय दिया है। "परीक्षकों की परीक्षा" नोट सम्पादकीय स्तम्भ में न होकर अलग छपा है। इससे पता चलता है कि प्रसादजी, कृष्णानन्दजी आदि की शिकायतों के लिए उत्तरदायी हैं केवल हमारे साहित्यिक-दुर्वासा श्री विजय वर्मा, न कि माया-सम्पादकों की जोड़ी। कृष्णानन्दजी के पास, कुछ दिन हुए, जो पत्र मुस्तफ़ीजी ने भेजा था— कहानी के लिए प्रार्थना करते हुए—उससे भी यही ध्वनि व्यंजित होती थी कि माया-स्वर्ग के इन्द्र विजय वर्मा हैं, मुस्तफ़ीजी नहीं, उन पर हुआ वज्राघात भी आप ही के आवेशों का परिणाम था। मुस्तफ़ीजी के सही-सलामत दिमाग की वह उपज न थी। 'भारत' में दुबारा प्रकाशित प्रसादजी की बहु-समालोचित कहानी 'पगली' के रिवाइज्ड एडिशन से पता चलता है कि वर्माजी कारगुज़ारी से विश्व-साहित्य के सर्वोत्तम रत्न भी नहीं बच सकते। उन पर भी वह पॉलिश कर दिया करते हैं। किन्तु उनकी इस पॉलिश से चीज़ चमकने लगती है या नहीं, यह 'सुधा'

में प्रकाशित "प्रसादजी की एक कहानी"—नामक लेख से पाठकों को मालूम ही हो गया होगा। स्वयं प्रसादजी को वर्माजी की यह हरकत कितनी उचित जँची, यह 'भारत' से पता चलता है। किन्तु इस पर भी वर्माजी अपने इस कार्य को उचित और न्याय्य ठहराने का प्रयत्न कर रहे हैं, यही दुःख है। बस, इसी से उनकी दयनीय मानसिक दशा का पता चलता है।

अन्त में हम मुस्तफ़ीजी से प्रार्थना करते हैं कि वह वर्माजी की प्रतिभा के इस अप्रत्याशित विकास की ज़रा देख-भाल किये रहें, अन्यथा वे निर्बन्धन होकर कहीं कोई उत्पात न खड़ा कर दें।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## विलियम एडवर्ड बर्गार्ड ड्युबॉय

अछूत-समस्या इतिहास देखने पर चिरन्तन जान पड़ती है। "तुलसी हरि की भगति बिन, चारो बरन चमार" के सन्त-साहित्य से लेकर प्रचलित दैनिक गृहस्थ-जीवन तक अछूत-समस्या किसी-न-किसी रूप से मिल जाती है जैसे अछूत-जाति मनुष्यों के सभ्यतम रूपों की खोयी शृंखला (Missing link) हो। ब्राह्मण-चमार के वर्ण-भेद की तरह गोरे-काले का वर्ण-विभेद गोरी जातियों के क्रम-विकास के प्रथम इतिहास से ही मिलता है। यहाँ के ब्राह्मण बड़े गम्भीर होकर कहते हैं कि वे दास्य प्रथा के अनुमोदक कभी नहीं थे। ठीक है। पहले वह जैसा भी रूप रहा हो, अब चिरन्तन शूद्रत्व की पुष्टि ब्राह्मण ही करते हैं, जो शायद गुलामी की प्रथा से भी भयंकर है।

वर्तमान अछूतों में, यानी काली जातियों में, जिनमें ब्राह्मण-देवता भी हैं, हबशियों का नम्बर सबसे बढ़ा है। कोई-कोई कहते हैं कि दक्षिण-भारत के अछूत आफ्रिका से आये हुए पहले के हवशी हैं। कुछ हो, महाप्रतिभाशाली विलियम ड्युबॉय हबशी हैं। रंग के लिहाज़ से ड्युबॉय को हबशियों में ब्राह्मण कहना चाहिए। उनका ताँबे-सा रंग देखकर खून में योरपीय धारा मिलती है। माता में डच खून था और पिता में फ्रेंच। डच, फ्रेंच और हबशी रंगों ने ड्युबॉय में अपना मिश्रण दिखाया। पर और सब लक्षण वैसे ही। सिर के बाल घुँघराले और होंठ चौड़े और मोटे।

जब ड्युबॉय ने दुनिया को अपनी आँखों पहचानना सीखा, तब संसार से गुलामी की प्रथा उठ गयी थी। पर हबशियों की इज्ज़त गुलामों से बढ़कर न थी। ड्युबॉय मासाचुसेट के बैरिंटन नगर में पैदा हुए थे। जब वह मिशनरी स्कूल में भर्ती हुए, तब और-और जितने गोरे लड़के थे, बालक ड्युबॉय को समझा दिया कि यह चमड़ा गोरा नहीं है, इसलिए पढ़ने से फ़ायदा न होगा। अपमान से बालक के आँसू आ गये। उसने दूसरी दुनिया देख ली, जहाँ वह सबसे गोरा था।

ड्युबॉय स्कूल की परीक्षा पास कर गया। उसके जातिवालों की आँखों में तअज्जुब फूट पड़ा। आज तक किसी भी हबशी-बालक ने यह परीक्षा पास नहीं

की थी। ड्युबॉय नैसविल के फ़िस्क-कॉलेज में भर्ती हो गया। गाँव की हबशिनें उसकी माता से पूछतीं, पढ़कर क्या होगा ?—हम लोगों को पढ़ने से कोई फ़ायदा पहुँच सकता है ? माता गम्भीर हो जाती; कहती, "हाँ, उसने कहा है, मैं पढ़कर अपनी जाति के सब लोगों के आँसू पोंछ दूँगा।" हबशिनें आशा की साँस भर तअज्जुब की निगाह से अपनी पड़ोसिन को देखतीं और परस्पर ड्युबॉय की पढ़ाई के तिल को ताल की उपमा से बढ़ाकर कुछ जातीय गर्व तथा उसके द्वारा आकाश से एकाएक टपकनेवाले महान् विद्या-फल की प्रतीक्षा किया करतीं। उसकी माता उसके लिए दिन-रात खटा करती थी। मज़दूरी से जो कुछ मिलता था, उसी से वह अपना और ड्युबॉय का ख़र्च चलाती रही।

फ़िस्क-कॉलेज से विलियम ड्युबॉय हार्वार्ड-कॉलेज में भर्ती हुए। आज तक इस कॉलेज में कोई हबशी-छात्र नहीं आया था। ड्युबॉय ने यहाँ विशेषता के साथ उपाधि प्राप्त की, और फिर श्लेथर-फ़ण्ड के लिए अर्ज़ी दाख़िल की। जर्मनी में ऊँची शिक्षा देने के उद्देश्य से छात्रों के लिए यह फ़ण्ड खोला गया था। किसी के भी ध्यान में पहले नहीं आया कि कभी हबशी-छात्र भी इसके लिए प्रतियोगिता करेगा। इसलिए इनकी अर्ज़ी देखकर अधिकारी चौंक पड़े। ड्युबॉय को बचपन से ही उनकी जाति के प्रति गोरों की स्वाभाविक घृणा के प्रमाण मिलते रहे। अतः उन्होंने गोरों के बर्ताव अच्छी तरह समझ लिये थे। इतिहास के प्राथमिक युग से उनकी जाति के प्रति जैसे घृणा-जन्य भाव गोरों के रहे हैं, अब ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उनके मार्मिक चित्र भी इन्होंने अपने अन्दर अंकित कर लिये। अतः इस वृत्ति के न मिलने के कारण घबराये नहीं, बल्कि उन्हें एक नयी प्रेरणा मिली।

वह पिछले कई वर्षों से हबशियों के भविष्य की कल्पनाएँ करते आये थे। अनेक प्रकार की आशाओं के स्वप्न देखते हुए शिक्षा की इस हद तक पहुँचे थे। कितने ही मनोहर चित्र फूलों की तरह उनके चित्त की डालियों पर खिल चुके, जिनमें जाति की भलाई के अच्छे-अच्छे फूलों के लगने की सम्भावना देख पड़ती। उन्होंने सोच लिया था कि जिस जाति ने घोर दैहिक कष्टों के भीतर से आज तक संग्राम किया, वह साहस तथा धैर्य में दूसरी जातियों से कदापि कम नहीं हो सकती। केवल उसके जीवन के प्रवाह को सुधार देना है। वह बुद्धि की सहायता से दूर तक स्वयं नहीं सोच सकती। कारण, दुर्भाग्य तथा अशिक्षा ने उसे यह अवसर नहीं दिया। दूसरे, उसके अन्दर एक यह भाव दृढ़ हो गया है कि वह केवल गोरों की सेवा के लिए पैदा हुई है, वह इससे बड़ा और कोई महत्त्व नहीं रखती। उसकी इस विचारधारा की गति बदल देना है। इस प्रकार की अनेक बातें ड्युबॉय अपने छात्र-जीवन में सोचते रहे, जिनसे उनका अपना स्वार्थ पहले ही से व्यापक जातीय स्वार्थ बन रहा था।

इसकी थोड़ी प्रेरणा नहीं होती। ड्युबॉय ने निश्चय कर लिया कि वह ख़ुद परिश्रम करके अध्ययन-क्रम को जारी रक्खेंगे। उन्होंने एक जहाज़ में नौकरी कर ली। फिर योरप की सभी राजधानियों का चक्कर काटते रहे। सब जगहों से प्रकाश-कण संचित करने लगे। जिस रोज़ पहले-पहल उन्होंने इँगलैण्ड में क़दम रक्खा, उनकी तरह गर्वित मनुष्य शायद वहाँ कोई न था। वह अकेले विराट् योरपीय सभ्यता से मानसिक समर कर रहे थे। लंदन के विश्वविद्यालय से वह डॉक्टर की उपाधि प्राप्त कर अमेरिका लौट गये। योरप में उन्हें बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कभी बिना भोजन के और कभी आधे पेट रहकर ही समय पार करना पड़ा। अमेरिका में उइल बर्फोर्स-विश्वविद्यालय में उन्हें अध्यापक

की एक जगह मिली। अमेरिका के साधारण लोगों के सामने उस दिन से ड्युबॉय एक तअज्जुब के रूप से प्रकट हुए। फिर वहाँ के हर एक आन्दोलन में, हर एक सभा और समिति में उनका विद्रोही स्वर भावों की पूर्ण उत्तेजना से भरा हुआ सुनायी पड़ने लगा। जहाँ कहीं भी स्वार्थ के भीतर से मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों को धक्का पहुँचा है, वहीं ड्युबॉय का विद्रोही स्वर मनुष्यों के अधिकारों की ओजस्विनी कविता के रूप से लोगों को सुन पड़ा। विद्वान उनकी इस रागिनी से मन्त्रमुग्ध हो गये।

सिर्फ स्याह चमड़े से ढके रहने के कारण हबशियों को जो तकलीफें बरदाश्त करनी पड़ी हैं, इन पर सोचते-सोचते ड्युबॉय की आँखों में खून के आँसू आ जाते थे। कभी-कभी पुतलियों के मेघों में बिजली कौंध उठती थी। मनुष्यता के इस अपमान के विरोध के लिए उनकी नस-नस उत्तेजित हो उठती थी। आज इस महामनस्वी को संसार की सभ्यता का जो प्रकाश मिला, इसने देखा, सभी जातियों की माला की गुरियाँ एक ही सूत में पिरोयी हैं, गोरे और काले का भेद केवल अज्ञान-जन्य तथा बाहरी है।

अध्यापक रहने के समय से ही ड्युबॉय अपनी जाति की हितेच्छा से प्रेरित होकर बोलने तथा लिखने लगे थे। उनके समालोचक उन्हें जाति का महापुरुष मानते हैं। उनकी अँगरेज़ी अँगरेज़ी-साहित्य में ओज के लिए इतनी तारीफ़ पा चुकी है, जितनी शायद ही किसी बड़े अँगरेज़-लेखक को मिली होगी। पंक्ति-पंक्ति में उनकी प्रतिभा चमक रही है, उनके जलते हुए प्राणों की तीव्र जलपना। अमेरिका के हबशियों पर प्रभुता के प्रहार होने लगे, 1905 ई. की बात है, उस समय ड्युबॉय ने जिस तर्कपूर्ण तेज साहित्य की सृष्टि की थी, उनके प्राणों की करुणा जिस तरह शिरा-शिरा में सहानुभूति संचारित करने की शक्ति तथा छवि लेकर उनकी लेखनी से उतरी, समस्त अमेरिका और योरप उनके प्रति तत्काल आकृष्ट हो गया। अध्यापक रहने के समय उन्होंने "The soul of a Black Folk" नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसका संसार के साहित्य में आज अपना ख़ास स्थान है।

आफ्रिका और अमेरिका के हबशियों के संगठन के विचार से "National Association for the advancement of coloured People" (एक जातीय संस्था) का संगठन किया। ड्युबॉय ने निश्चय कर लिया कि वह अपनी अध्यापकता छोड़कर इस संस्था की नींव दृढ़ करने के लिए एक संवाद-पत्र निकालेंगे। इसी विचार से वह न्यूयार्क आये। 1910 ई. में "The Crisis" (दी क्रिसिस) प्रकाशित कर शीघ्र ही अपनी तीव्र ओजस्विनी भावना से उसे चमका दिया। इस पत्र के सम्पादन में अनेक विघ्नों का उन्हें सामना करना पड़ा। जब ये हबशियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए आवाज उठाने लगे, तब गोरी जातियों, खासकर अमेरिकनों को बहुत बुरा लगा। वे कहने लगे कि यह सब इसलिए हो रहा है कि ड्युबॉय को शिक्षा मिल गयी। उधर उनके भाई-बन्द हबशी लोग भी तनना सीखने लगे और हर अड़चन पर उन्हें प्रतिकार की सूचना देते रहे। जिन्होंने कभी प्रतिकार करना सीखा नहीं था, वे समझने लगे कि अपनी रक्षा के लिए जाति स्वयं उत्तरदायी है। 1919 ई. में जब विगत महासागर का अन्त हो गया, उन्होंने जाति के कल्याण की कल्पना से अमेरिका और आफ्रिका की समस्त हबशी-जातियों की कांग्रेस करने का निश्चय कर लिया। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली। अपने श्रम से संचित किया हुआ समस्त अर्थ उन्होंने इस कांग्रेस के खर्च में लगा दिया। वे जानते थे, पराधीन

तथा दलित जातियों में दैवी शाप के तौर पर अनेक प्रकार के दुर्गुण एकत्र हो जाते हैं, जिनके कारण वे अपने ही अनेक हिस्से कर देती, कट-छटकर कमज़ोर हो जाती और फिर अपने शासन के लिए संगठित दूसरी जाति को प्रकृति के मौन इंगित के द्वारा निमन्त्रण भेजती हैं। हबशियों में ऐसी अनेक बुराइयाँ हैं। वे आपस ही की जातियों में वैमनस्य रखते और एक-दूसरे से घृणा करते हैं। ड्युबॉय कांग्रेस के द्वारा इन भावों को दूर करना चाहते थे। इस कांग्रेस के बाद कांग्रेस की चार और बैठकें हो चुकी हैं। इस महापुरुष ने अपने जीवन को जाति की शुभ-चिन्तना तथा उन्नयन के कार्यों में पूर्णतः पार कर दिया। यह अपनी जाति के प्रथम तथा अद्वितीय महापुरुष हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साहित्य की आकांक्षा

विश्व-साहित्य की हर तरह की आकांक्षा कृतिकारों ने ही पूरी की। कृषकों के अविराम श्रम से पैदा हुए शस्य-फल की तरह उन्हीं की प्रसूत कृतियाँ संसार की मानसिक तृष्णा-बुभुक्षा उपशमित करती रहती हैं। जितने भी प्रकार के परिवर्तनों की बाढ़ संसार के हृदय से होकर आवश्यकतानुसार काट-छाँट तथा सुधार-संशोधन करती हुई, प्राचीन किसी कुत्सित सृष्टि के तरु को अपनी पूरी ताकत से उखाड़-पछाड़कर नये प्रवाह के आनन्द में अठखेलियाँ करती हुई बह गयी है, वहाँ, उन सबके कारण-स्वरूप अलक्ष्य शक्ति के बृहदाधार कृतिकार ही देख पड़ते हैं। महान् रचनात्मिका शक्ति को उन्होंने अपने अदम्य प्रयत्न से धारण किया अथवा उनके अप्रतिहत प्रयत्न के आधार में आप ही शक्ति ने आश्रम ग्रहण किया। इस सार्थक सम्मेलन की आवश्यकता थी उस साहित्य की आकांक्षा-पूर्ति के लिए। किसी भी साहित्य की बात सोचिए, स्रष्टा में अबाध चेष्टा, अपराजित वृत्ति, अनर्गल उद्दाम आवर्त उठते हुए देखिएगा। इस तरह एक ही मनुष्य की शक्ति ने, देखिए, तमाम संसार को आवृत कर लिया—संसार के उस साहित्य की आकांक्षा की पूर्ति कर दी—दृप्त सहस्त्रों कण्ठों से उसका विजय-घोष गूँज उठा—लाखों मनुष्यों ने उस कार्य को उठा लिया।

हमारे साहित्य की भी एक ऐसी ही आकांक्षा है, तमाम देश में व्याप्त हो जाने की। साहित्य, देश की वाणी को, देश के ही दिव्य स्वर से सुनाना चाहता है, साथ ही, सब सम्प्रदायों में व्याप्त ओंकार की तरह सबको साथ लेकर अपने निर्विकल्प तत्त्व में लीन कर पृथ्वी के उत्कृष्ट उपादान ज्योतिर्मय सौरमण्डल में लीन हो जाना। साहित्य की यह तरंग जैसे बार-बार उठकर अपने साथ ही अपने साहित्यिकों को लक्ष्य तक उठा देना चाहती है, पर असमर्थ बहुभार-ग्रस्त साहित्यिक उसके साथ नहीं चल पाते। जिसमें जितनी शक्ति है, उतनी ही दूर तक वह जाता है। अपर साहसी साहित्यिक, दग्ध-पंख सम्पाती की तरह, प्रतिभा की उस महाज्योति से हमेशा के लिए झुलसकर ज़मीन पर आ जाते हैं। साहित्य की तरंग

उसी तरह उठती रहती है।

देश के राजनीतिक क्षेत्र में अँगरेज़ी कार्यकरी भाषा है। आज तक किसी भी देश में विदेशी भाषा द्वारा प्राणों का आदान-प्रदान नहीं हुआ। आपद्धर्म-निर्वाह स्वयं जिस तरह कानों को खटकता है, अँगरेज़ी द्वारा हमारे महान् कार्य का फल भी उसी तरह मुट्ठी-भर भीख होती है—पहाड़ के पेट की चुहिया। हमारे कुछ ही ऐसे तीक्ष्ण-धी नेता हैं, जो हिन्दी बोलते हैं, अधिकांश हिन्दी की असम्भवता पर विश्वास रखनेवाले; गोया उनके दिमाग में राष्ट्र-भाषा की व्याप्ति असम्भव है, और पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव! जो काम कभी इस देश में संस्कृत के द्वारा हुआ था, और तमाम आर्य-जाति को, उस भाषा की दी हुई संस्कृति के सूत्र में बँधते हुए, जिस तरह आपत्ति नहीं हुई, बल्कि आज तमाम भारतवर्ष की मिलती हुई एकता की एकमात्र वही साक्षी हो रही है, वही काम, उसी तरह, इस नवीन संस्कृति के अनुसार हिन्दी के द्वारा होना है। आवश्यक तमाम अंशों की पूर्ति हमारे साहित्य की आकांक्षा है। संगठन, सुधार प्राणों से सम्बन्ध रखते हैं, और प्राण भाषा से। सुभाष बाबू शब्दजाल द्वारा बंगाल और पंजाब को थोड़े ही समय के लिए फाँस सकते हैं, स्वामी अचलानन्द हडिया डँगूर को धूमायमान कुण्ड और शब्दायमान कण्ठ से तीन ही मिनट में शुद्ध कर देंगे, पर संगठन, शुद्धि और संस्कृति को स्थायी भाषा ही करेगी। आज अँगरेज़ी बोलनेवाली बंगालिन से किसी पंजाबी का विवाह हो सकता है, पर कल हिन्दी की ज़रूरत ज़रूर होगी। अँगरेज़ी से हुआ सम्मेलन अँगरेज़ी उद्देश से कदापि खाली न रहेगा।

इन भावों के तेज प्रचार की जिस तरह कमी है, उसी तरह इनसे ओत-प्रोत महाशक्तिशाली साहित्यिक भी नहीं हैं, जो साहित्य के आकाश को अपने प्रभात-स्वर से मुखर कर दें। जो कुछ लोग अन्धे के निर्भर दण्ड की तरह नज़र आते हैं, उनके लिए अभी अत्यधिक साधना दरकार है, जबकि उनकी प्रतिध्वनि भारतवर्ष-भर में होगी; बहिर्देशों का सवाल तो किसी अगली पीढ़ी के लिए पड़ा है।

हिन्दी में तृप्ति की साँस लेते हुए साहित्य-सेवा करनेवाले जितने लोग देख पड़ते हैं, अधिकांश स्पष्टवादिता से बाहर केवल दलबन्दी के बल पर साहित्य का उद्धार करनेवाले चचा-भतीजे लोग हैं। चचा साहित्याचार्य और भतीजे सम्पादक। फिर क्या, पत्र हाथ में है, तो दल बाँध लेने में देर कहाँ? "परस्परं प्रशंसन्ति" होने लगा। यह साहित्य के क्षेत्र में महा अधम कार्य है। क़रीब-क़रीब सभी लोग इस तरह की हरकत ताड़ जाते हैं। पर समय कुछ ऐसा है कि जमात ठगों की ही ज़ोर-दार है। भले आदमियों को कोई पूछता नहीं। साहित्य के मशहूर लंठ आचार्य माने जाते हैं—हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक!!! इस विज्ञापनबाज़ी से किसी को कुछ प्रशंसा-लाभ भले ही हो जाय, साहित्य को कोई क़ीमती चीज़ नहीं मिलेगी। बल्कि दूसरे लोग भी इसी तरह स्वयं साहित्य-रत्न हो-होकर साहित्य के पृष्ठों में अवतार लेते रहते हैं। यह सब साहित्य की निहायत नीच वृत्ति का परिचय है, और अभी जैसे रंग-ढंग देख पड़ते हैं, बहुत जल्द इसका निराकरण भी नहीं हो रहा। किसी से किसी संस्था ने एक किताब लिखा ली; उस संस्था के प्रधान का कोई संड़ा लेख उनके 'एम. ए., पी-एच्. डी.,-त्व' के कारण किसी अच्छे पत्र में छप गया, सम्पादकों ने उन हिन्दी के नामी लेखक—संस्था के पुस्तक-लेखक महाशय से अपनी पत्रिका पर राय माँगी, आपने लिख दिया, गजानन्द शर्मा एम. ए., पी-एच्. डी. महाशय का लेख सर्वोत्तम है। पत्रिका में छप गया। पाठक पढ़कर मुँह बनाकर रह गये। समझवाले समझ गये, इस राय के यह मानी हैं कि

हे संस्था-चालकजी, मुझसे कुछ किताबें और लिखाइए, मैंने आपकी भर-पेट तारीफ़ की है। हिन्दी के प्रतिष्ठित लोग सत्य को साक्षी कर कहें, यह सोलहो आने सच है या नहीं ? क्या इसी सिद्धान्त के अनुसार हिन्दी की उत्कर्ष साधना होगी ? एक बार एक हाल ही अध्यापक हुए लेखक ने अपने एक पुराने प्रतिष्ठित प्रोफ़ेसर को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि साबित किया था, और प्रमाणाभाव का कारण भी लिखा—उनकी रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

सच तो यह है कि बड़े-बड़े आदमियों को हिन्दी लिखने का ज़रा भी शऊर नहीं, साधारण लोग तो कुछ लिख भी लेते हैं। हिन्दी के विकास-युग में इससे दुःख की बात और क्या होगी कि आज तक श्रद्धेय द्विवेदीजी का स्थान रिक्त पड़ा है। उनके कार्य छोड़ने के बाद से अब तक कोई भी ऐसा समर्थ साहित्यिक नहीं नज़र आया, जो उस रिक्त स्थान की पूर्ति कर देता। भाषा-मार्जन के साथ-साथ द्विवेदीजी का त्याग भी सम्मिलित है, और यही कारण है कि उनके द्वारा साहित्य की आकांक्षा गति के अनुसार पूरी होती गयी—नये-नये लेखक प्रतिभा प्राप्त कर चमकते हुए बढ़ते गये। साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए बहुत बड़ी उदारता आवश्यक है। हमें विश्वास है, हमारे मित्र साहित्यिक इस टिप्पणी की बुराइयों को छोड़कर, इसका सार ग्रहण कर साहित्य की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शुद्ध हृदय से तत्पर होंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1930 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## उपाधियों की व्याधि

बड़े आश्चर्य की बात है कि इस उन्नति और राष्ट्रीयता के युग में भी लोग उपाधियों की व्याधि से बच नहीं सके। भारतवर्ष में तो अपने नाम के आगे खानबहादुर या राय साहब की दुम लगाने के लिए लोग कलेक्टर साहब और तहसीलदार साहब के जूतों पर नाक रगड़ते फिरते हैं। वे जो गन्दे और नीच काम इन अक्षरों की प्राप्ति के लिए करते हैं, वे जनता से छिपे नहीं। आजकल इस देश में जितने लोग इन उपाधियों को लिये बैठे हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे निकम्मे और सरकार-भक्त हैं कि जनता के गले पर छुरी चलाने, कलेक्टर साहब के पास झूठी शिकायतें पहुँचाने और सब प्रकार के दुष्कर्म करने में उन्हें ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं होती। भारतवर्ष के इन सरकारी टाइटिलों की जो कद्र जनता करती है, वह सन् 1921 से अब तक स्पष्ट प्रमाणित हो चुकी है। सरकार द्वारा दिये हुए टाइटिल जनता में बदनामी के पट्टे समझे जाते हैं। सर और रायबहादुर, क़ैसरेहिन्द और ख़ानबहादुर का ख़िताब अब लोग अपने लिए एक अपमान की बात समझने लगे हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय और ऐसे ही अन्य सम्भ्रान्त भारतवासियों ने अपनी इन उपाधियों को त्यागकर जनता के इस विश्वास की पुष्टि की है कि ये उपाधियाँ किसी उत्तम कार्य या उत्तम गुणों के लिए नहीं, बल्कि किसी देशद्रोह या भारत-विद्वेष का कार्य करने के लिए ही प्रायः

दी जाती हैं। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें केवल उनके गुणों के कारण ये उपाधियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु सरकार ऐसे लोगों को इसलिए उपाधियाँ नहीं देती कि वह उनके गुणों पर मुग्ध होती है, बल्कि इसलिए कि संसार-भर उन महापुरुषों की कीर्ति-गाथा से उद्घोषित होकर उसे ऐसा करने के लिए मजबूर कर देता है।

यह उपाधियों की व्याधि केवल भारतीय बीमारी हो, सो बात नहीं। सारे संसार में ही यह महामारी बुरी तरह फैली हुई है। वह इतनी व्यापक है कि भिन्न-भिन्न सर्विसों के सदस्यों तक में भी उसका प्रवेश हो गया है। भारतीय आई. सी. एस., आई. एम. एस. के समान ही अन्य देशों में भी लोग अपनी सर्विस का नाम अपने नाम के साथ, उपाधि के रूप में, लिखते हैं।

इस व्यापक उपाधिप्रियता का प्रारम्भिक कारण था जनता की वैचित्र्येच्छा। साधारण जन-समाज से अपना वैचित्र्य प्रकट करने की इच्छा से ही विशिष्ट पुरुषों ने अपने विशिष्ट गुणों को प्रकट करनेवाली उपाधियों का आविष्कार कर डाला, और उन्हें अपने नाम के साथ उपयुक्त करना भी प्रारम्भ कर दिया। इसी वैचित्र्य-प्रियता के कारण संसार के प्रायः सभी मनुष्य अपने-अपने देश की सरकार द्वारा दी जानेवाली उपाधियों के लिए इतने लालायित रहते हैं। युनिवर्सिटियों, सभा-सोसायटियों तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रदत्त उपाधियों की जन-प्रियता का भी यही प्रधान कारण है। किन्तु ज्यों-ज्यों इन उपाधियों से विभूषित लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों जनता में उनकी इज्ज़त भी कम होती जाती है। इतने हज़ार बी. ए. और बी. एस्सियों के दिन-रात पैदा होते रहने के कारण अब लोग बी. ए. या बी. एस्-सी. बने रहकर ही सन्तुष्ट नहीं होते। वे अब ऐसी विशिष्ट युनिवर्सिटी-डिग्रियाँ प्राप्त करना चाहते हैं, जो इने-गिने लोगों को ही अब तक मिल सकी हैं। इसके अतिरिक्त वे उपाधियाँ भी बहुत पसन्द की जाती हैं, जिनकी प्राप्ति में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हों। बहुत-सी वे उपाधियाँ भी, जिनके प्राप्त करने के लिए सरकार ने ख़ास शर्तें निश्चित कर दी हैं, बड़े सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। इन विशिष्ट और श्रम-साध्य उपाधियों के विपरीत जनता में ऐसी उपाधियों का भी खूब प्रचार है, जो कुछ रुपयों के दान या चन्दा देने से उप-लब्ध हो सकती हैं। हमारे देश में तो ऐसे उपाधिधारी सैकड़ों एम्. आर. ए. एस्. या एफ्. आर. ए. एस्. मारे-मारे फिरते हैं। ऐसे लोग अपने नाम के पीछे धूम्रकेतु की लम्बी पूँछ के समान इन उपाधियों की दुम लगाकर अपने आपको विद्या-व्योम का चमत्कमाता चन्द्रमा या सूर्य समझने में ज़रा भी नहीं हिचकते।

जनता की इस उपाधि-प्रियता को देखकर अब तो लोगों ने उसे आमदनी का एक द्वार बना लिया है। जगह-जगह ऐसे उपाधि-वितरण करनेवाले कारखाने खुल गये हैं, जहाँ से 'बोगस' उपाधियों का व्यापारिक 'मैनुफ़ैक्चर' हुआ करता है। प्रतिदिन दी जानेवाली ये व्यापारिक उपाधियाँ चाहे जितनी सड़ियल या अज्ञात क्यों न हों, परन्तु उनके धारण करनेवाले महाशय सदा यही समझा करते हैं कि इस दुनिया में केवल वे ही एक विशिष्ट उपाधिधारी महान् व्यक्ति हैं। इस उपाधि-प्रेम की निस्सारता यहाँ तक बढ़ गयी है कि लोग निरर्थक सभा-सोसायटियों की सदस्यता में केवल इसलिए अभिमान अनुभव करते हैं कि उनके कारण उन्हें अपने नाम के साथ कुछ अक्षर जोड़-लेने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। सी. आई. सी. जी. (चेयरमैन ऑफ़् दि इंस्टिच्यूट ऑफ़् सिनीमागोअर्स), एम. ए. टी. डी. (मेम्बर ऑफ़् दि एसोसिएशन ऑफ़् टी-ड्रिंकर्स) और अन्य ऐसी ही उपाधियाँ, जो उनके

अर्थ पता लग जाने पर, जनता के उपहास तथा मनोरंजन की सामग्री हुआ करती हैं, वहुत से लोगों के नामों के साथ लगकर उन्हें जनता की दृष्टि में विशिष्ट आदमी बनने का शौक़ीन बना देती हैं।

वर्ण-माला के विभिन्न अक्षरों से बने हुए इन साइनबोर्डों का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया है कि शायद शीघ्र ही इन निस्सार उपाधिधारियों का एक मत ही वन जाय। तव तो हमारे व्याख्यान-वाचस्पतियों, कथा-वाचकों, चन्दन-घिसकों, आर्यसमाज-गालीप्रदायकों, पेट-पण्डितों, पण्डित-पत्र-सम्पादकों और अन्य ऐसे-ही-ऐसे स्वार्थपरायण द्रविड़ महोपाध्यायों एवं अन्य रँगे सियारों की खूब वन पड़ेगी। रायसाहब और ख़ानवहादुर कहलानेवाले जन्तुओं को भी तव खूब पनपने का मौक़ा हाथ आवेगा। भगवान् करें, वह दिन शीघ्र ही आवे, जब इन पुरुष-अहिल्याओं का उद्धार हो।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दू-धर्म के प्राथमिक सिद्धान्त

हिन्दू-धर्म इतना व्यापक तथा उदार है कि संसार की प्रायः सभी आस्तिक अथवा नास्तिक धर्मों का उसमें समावेश हो जाता है। संसार की प्रायः सभी जातियाँ तत्प्रस्तुत जीवन-सिद्धान्तों की परिचर्या करके उसकी सर्वंसहा गोद में प्रश्रय पा सकती हैं। अनन्त वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के साथ-ही-साथ उसका सामाजिक नियन्त्रण भी ऐसा व्यापक है कि उसमें प्रायः सभी प्रकार के सामाजिक नियमों का वैकल्पिक विधान कर दिया गया है। इन सब कारणों से हिन्दू-शब्द किसी एक मत-विशेष का नहीं, अपितु एक संस्कृति-विशेष का ही परिचायक हो उठा है। चार्वाक और वाममार्ग जैसे इन्द्रिय-प्रधान धर्म उसमें वैसे ही पनप सकते हैं, जैसे कर्मकाण्डमय मीमांसा-धर्म अथवा उपासनामय भक्तियोग। एक ही संस्कृति के विभिन्न रूप होने के कारण उनके विकास में जरा भी रुकावट नहीं होती। हिन्दू-धर्म की व्यापक शक्ति उनके मार्ग में ज़रा भी बाधक नहीं होती। वह धीरे-धीरे अपने मूल-सिद्धान्तों की ओर उन्हें खींच लेती और फिर शीघ्र ही उनका रूप बदल डालती है। जिन धर्मों ने हिन्दू-धर्म की इस व्यापिका शक्ति की आकर्षण-परिधि से बाहर रहकर अपनी विचित्र तथा स्वतन्त्र संस्कृति का विकास करना चाहा, उनका उसने ढाँचा ही बदल दिया, और धीरे-धीरे उन्हें अपने विशाल अंक में आश्रय देकर अनुगृहीत किया। सिन्ध में आकर बसनेवाली बहुत-सी विदेशी जातियों का लुप्तप्राय अतीत हिन्दू-धर्म की इस विशाल वादन्यता का परिचय देता है। शक, पल्हव, कुशन, सीथियन, यवन तथा अन्य विभिन्न संस्कृतियों को लेकर आनेवाले विदेशियों का आज हिन्दुत्व से पृथक् कोई अस्तित्व ही नहीं। वे आज हिन्दू-संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं। दक्षिणी-भारत में प्रचलित ईसाइयत के विश्लेषण से भी पता चलता है कि प्राचीन ईसाई उपदेशक सेंट टॉमस के मद्रासी अनुयायी वर्तमान हिन्दू-धर्म के जितने निकट हैं—उसके सिद्धान्तों को जितना मानते हैं, उतना वे ईसाइयत

के नहीं। उनमें मूर्ति-पूजा, वर्ण-विभेद, बाल-विवाह, आदि प्रायः सभी हिन्दू-रीति-रिवाज प्रचलित हैं। दो सौ वर्ष के पश्चात् सम्भव है, वे अपनी ईसाइयत को परित्याग करके, अथवा ईसाइयत के एक और ही विकृत रूप को लेकर हिन्दू-संस्कृति के एक अंग ही बन जायँ। गाँव में रहनेवाले मुसलमानों के रहन-सहन और रीति-रिवाज देखकर भी यही अनुमान होता है कि हिन्दू-संस्कृति के मूल-सिद्धान्तों की ओर ये लोग बड़ी तेज़ी से बढ़ रहे हैं। वह दिन दूर नहीं, जब बौद्ध और चार्वाक-सम्प्रदायों के समान ही ये ईसाई और मुहम्मदी सम्प्रदाय भी व्यापक हिन्दू-धर्म की गोद में आश्रय पाकर अपना अस्तित्व ही भूल जायँ।

हिन्दू-धर्म की इस महान् व्यापकता का मूल-कारण है उसका ईश्वर की अनन्त-रूपता में विश्वास। यह ईश्वर की किसी आकृति-विशेष अथवा मूर्ति-विशेष को ही हृदय से चिपटाकर नहीं बैठता। उसका खुदा सातवें आसमान पर झुर्रियोंदार खाल तथा लम्बी दाढ़ी लिये नहीं बैठा, न वह ईसाइयों के खुदा के समान सातवें दिन आराम करनेवाला एकदेशी, अज्ञानी तथा चिड़चिड़ा बुड्ढा है। उसका खुदा संसार के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, अनन्तमूर्ति, निराकार खुदा है। उसके अनन्त रूप, अनन्त नाम तथा पूजा के अनन्त प्रकार हैं। अतएव इस अनन्तमूर्ति ईश्वर की किसी भी प्रकार से उपासना करनेवाला पुरुष हिन्दू कहला सकता है। उपासना की ऐसी स्वाधीनता अन्य किसी भी धर्म में नहीं। संसार के सभी धर्म जहाँ सामूहिक प्रार्थना तथा सामूहिक उपासना का आदेश करते हैं, वहाँ हिन्दू-धर्म केवल वैयक्तिक उपासना की ही आज्ञा देता है। इसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण उसकी व्याप-कता का और भी विकास हो सका है। इसी के कारण संसार के सभी वर्तमान तथा भविष्य-धर्म भी उसकी परिधि में प्रविष्ट किये जा सकते हैं।

हिन्दू-जीवन का आदर्श ही हिन्दू-धर्म का जीवन है। केवल उसी के कारण वह संसार के अन्य धर्मों तथा संस्कृतियों से भिन्न कहा जा सकता है। हिन्दू-जीवन का आदर्श ही हिन्दू-संस्कृति का भी प्राण है। उसके बिना न तो हिन्दू-धर्म का अस्तित्व रह सकता है, न हिन्दू-संस्कृति का। हिन्दू-धर्म के अनुसार यह सारा दृश्य जगत् तथा मानव-जीवन का लीला-रहस्य अनित्य और नश्वर है। केवल ब्रह्म की —ईश्वर की ही नित्यता में उसका विश्वास है। प्रकृति और जीव दोनों ही उस ब्रह्म की अवस्था-विशेष समझी जाती हैं। अतएव इस नश्वर संसार की अनित्य वस्तुओं पर सच्चे हिन्दू की आस्था नहीं होती। किसी सांसारिक लाभ की इच्छा से अथवा इहलौकिक फलप्राप्ति की कामना से नहीं, अपितु कर्तव्य-पालन तथा ईश्वर-सम्प्राप्ति की निष्काम भावनाओं से प्रेरित होकर ही वह संसार के इस कर्ममय जीवन में प्रवृत्त होता है। जीवन का सर्वोत्तम आदर्श कर्म नहीं, अपितु कर्म-मोक्ष ही समझा जाता है। संसार के वैषयिक तथा इन्द्रियगम्य आनन्दों से परे, शरीर और मन के अनुभव से भी दूर, जो एक अनन्त चेतना-शक्ति बुद्धि-गम्य तथा ज्ञान-गम्य समझी जाती है, वही हिन्दू-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य कही गयी है। यह विदेहावस्था ही प्रत्येक हिन्दू के लिए जीवन की सर्वोत्तम अवस्था है।

इस विदेहावस्था की प्राप्ति के लिए शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक परिशुद्धि अत्यन्त आवश्यक मानी गयी है, और उसकी सिद्धि के लिए अनेक यम-नियमों का विधान किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, धृति, क्षमा तथा तप आदि उस शुद्धि के आवश्यक अंग हैं। इस प्रकार शुद्ध जीवन के आधार पर स्थित ज्ञान-प्रधान, ब्रह्म-विश्वास और ब्रह्म-सम्प्राप्ति के उच्चतम आदर्श और लक्ष्य को मानव-जीवन का लक्ष्य बतलानेवाला हिन्दू-धर्म संसार के प्रत्येक धर्म में अपने

इन सिद्धान्तों का प्रकाश पाकर उन्हें स्नेह की दृष्टि से देखता और अपनाने का प्रयत्न करता है। यही उसकी इस व्यापक शक्ति का आदिम स्रोत तथा उसके इस विचित्र आकर्षक प्रभाव का उद्भव हेतु है।

अपनी इस निर्बंधन, निर्बाध तथा रूढ़ि-विहीन विचारधारा के प्रबल प्रवाह के कारण ही उसने अपने मार्ग में आनेवाले बड़े-बड़े साम्प्रदायिक शिला-खण्डों तथा विविध शाखा-सम्पन्न विविध धर्म-तरु-खण्डों की आज तक परवा नहीं की। अपने इस विशुद्ध तथा सीधे-सादे प्रवाह में पड़ी हुई विविध अशुद्धियों को उसने अपने अतल अन्तस्तल में विलीन करके उनके सारमात्र को अपना लिया। दूध में पड़े हुए पानी के समान ये मत-मतान्तर उसके अविच्छेद्य अंग बन गये।

किन्तु जब से उसने संकीर्ण रूढ़ियों, वर्णाश्रम-सम्बन्धिनी कुरीतियों तथा वैवाहिक अत्याचार-वाद को प्रश्रय दिया, जब से उसने अपना अस्तित्व सात्त्विक जीवन पर स्थापित न रखकर उसे केवल पोंगा-पण्डितों के पोथी-पत्रों तथा उनके स्वार्थमय कर्मकाण्ड के सुपुर्द कर दिया, तब से उसके ह्रास का प्रारम्भ हुआ। उसका यह एक-देशी रूप, जिसे लोग सनातन धर्म कहते हैं, छायावाद के उस "अनन्त की ओर" चला जा रहा है, जिसका आज तक किसी ने अनुमान तक नहीं किया था। हाँ, प्राचीन, विशुद्ध हिन्दू-धर्म आज भी उसी व्यापक रूप से स्नेह की गोद फैलाये संसार-भर का स्वागत कर रहा है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हमारे समाज का भविष्य रूप

हमारा समाज विगत रात्रि की, एक सभ्य सुन्दरी युवती के गले की माला है, जो उसकी नैश-केलियों से अच्छी तरह मसल गयी है; वर्तमान प्रभात के लिए अनुपयोगी; तमाम दल मले हुए, निर्गन्ध। अब माला के गुण-कीर्तन से सुन्दरी का श्रृंगार नहीं हो सकता। उसे सजाने के लिए नवीन प्रभात के नवीन प्रकाश में नयी माला तैयार करनी है। ये नव-विकसित पुष्प ही नवीन सौरभ देंगे।

हमारे देश में समाज का आदिम रूप संगठन के लिए पूरे तौर से उपयोगी था। उसका संगठन हो चुकने पर उसकी रक्षा के लिए चिरकाल तक दृढ़ प्रयत्न किया गया, जैसा कि प्राय: एक बनी हुई रीति के लिए किया जाता है। हर एक नाम-रूप की नश्वरता समाज के उस नाम-रूप के लिए भी है, यह एक साधारण सत्य है। हमारा समाज इस समय मृत है। दूसरा समाज इसके पीछे तैयार भी हो रहा है। सिर्फ़ मृत को मृत क़रार देनेवाले नहीं हैं, नये का नये हृदय से स्वागत करनेवाले भी हैं। यह सिर्फ़ इसलिए कि इससे प्राचीन अधिकारियों—ब्राह्मणों-क्षत्रियों—के अधिकार पूर्ववत् नहीं रह जाते, और वे अपनी मर्यादा की दुराकांक्षा अब तक धारण किये हुए हैं, यद्यपि इस ओत-प्रोत शूद्रत्व में उनके भी सब अंग डूबे हुए हैं।

प्राकृतिक सत्य धीरे-धीरे अपनी शक्ति के प्रमाण भी दे देता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय

धीरे-धीरे कमज़ोर हो रहे हैं, उनकी प्रतिष्ठा घट रही है, जाति-विचार केवल एक बाहरी ठाट रह गया है। पर इसे समझकर भी लोग नहीं समझना चाहते, यह दुर्बलता अभी पूर्ण मात्रा में है। जो प्रतिष्ठा पहले ब्राह्मणों और क्षत्रियों की इस देश में थी, जब तक वे देश और धर्म के लिए त्याग करते रहे, लड़ते रहे, अब वह नहीं रह गयी। राजदृष्टि में तो है ही नहीं, साधारण जातियों की नज़रों में भी वे गिर गये हैं, अपनी विचारहीन वृत्तियों के कारण इच्छानुसार जीवनोपाय ग्रहण कर। उपाय, जीविका, कर्म, जीवन-निर्वाह, राज्य-शासन, गुरुकुल आदि अपने प्रधान लक्षणों से दूर हटकर भी जो लोग यह कहते हुए जरा भी कुण्ठित नहीं होते कि वे उसी स्थान पर, अभी उसी तरह, सुरक्षित खड़े हुए हैं, वे असत्य कहते हैं, और इस तरह साधारण जातियों की दृष्टि में अपने असत्य-भाषण के ही अनुसार गिरते जाते हैं।

समाज की प्राचीन शृंखला द्वापर से ही टूटने लगी थी। मुसलमानों के आने पर उसका शरीर बिलकुल कमज़ोर हो गया। अँगरेज़ों के शासन में उसका वह शरीर तो गया ही, उसकी नाड़ियों में खून भी दूसरा बहने लगा, मस्तिष्क में नये विचार उठने लगे। पहले का भारत एक प्रकार मरकर नये जीवन से खिल उठा। अँगरेज़ों के जाति-परिवर्तन के उपाय यहाँ जाति को सुदृढ़ करने के नये मौलिक उपकरण बन गये। हिन्दुओं के बड़े-बड़े जातीय विचार, जो पहले अलभ्य थे, जिनसे अपरिचित रहने के कारण भारतीय समाज मुट्ठी-भर मनुष्यों के इंगित पर प्रवर्तन करता रहता था, पश्चिमी विद्वानों के विद्या-प्रेम के कारण सुन्दर रूप से मुद्रित होकर साधारण दृष्टि के सामने आने लगे। लोगों का अनुसरण-भाव जाता रहा। वे अपनी तरक्क़ी के लिए आप ही ज़िम्मेदार होने लगे। ब्राह्मणों से लोगों को घृणा हो चली।

समय के प्रहार से ब्राह्मण और क्षत्रियों के भी वे रूप नहीं रहे। स्वभाव तो उनका अँगरेज़ों के आने के पहले ही से बिगड़ा हुआ था। जातीयता का इन लोगों ने यहाँ के साधारण लोगों पर बड़ा ही दबाव डाला, जिसके चित्र हमें आज भी अच्छी तरह देखने को मिलते रहते हैं। बड़ा जब अपने बड़प्पन का डंका पीटता है, दूसरों से बलात् अपना बड़प्पन क़बूल करवाता है, तब वह बड़ा कदापि नहीं रहता। गत युग से लेकर आज तक ब्राह्मणों का इसी प्रकार का बड़प्पन है। लोग नहीं मानते, ये बलात् अपने संगठन और शक्ति के प्रभाव से मनवाते हैं। तपस्या है नहीं, लोभ और लालच के गुलाम बन रहे हैं, कार्य जैसा भी सामने आता है, उठा लेते हैं; विद्या रह नहीं गयी, उस विद्या का उपयोग भी देश में नहीं होता, अनाचार बढ़ गये हैं, सामाजिक बुराइयों के प्रथम केन्द्र फिर भी ब्राह्मण हैं, और लोग इनकी वैसी ही पूजा करें, कितनी बड़ी ग़लती है! देश में मुसलमानों की संख्या, ईसाइयों की तादाद ऊँची जातियों के अत्याचार के कारण बढ़ी, और बढ़ती जा रही है।

प्रकृति के नियमानुसार इसीलिए भारत को पराधीन होना पड़ा। इन पराधीन भावनाओं ने ही भारत को परतन्त्र किया। स्वतन्त्र विचारों का मस्तिष्क कभी पराधीन नहीं हो सकता।

आज ब्राह्मण-विचार, पुरानी परिपाटी जितने अंशों में यहाँ है, देश उतने ही अंशों में पराधीन है, और नवीन मानव-धर्म जितने अंशों में, उतने ही अंशों में देश स्वतन्त्रता-प्रेमी।

स्वतन्त्रता किसी खास जाति या ख़ास मनुष्य के लिए नहीं होती। यदि कोई

भंगी शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँचे, और यथार्थ शिक्षा अर्जित करे, तो क्या उसके लिए भंगी-शब्द का प्रयोग ही रह जायगा ? हमारे ब्राह्मण-क्षत्रिय क्या उसे उच्च समाजाधिकार देने के लिए तैयार हैं ?—यहीं मीमांसा छिपी हुई है। वह कौन-सी वृत्ति है, जो योग्य को योग्य नहीं समझती ?—अपनी महामूर्खता, महानीचता को केवल जन्मगत अधिकार के दावे पर दबा रखती है ? इसी का नाश करना है, किसी मनुष्य का नहीं। तब जाति आप मर जायगी। फिर मिठाई बेचकर राजाराम मिश्र किसी आर्ट्स के मास्टर नाई को डाँट नहीं सकते। रही बात संस्कृति की, सो नाई एम. ए. होकर संस्कृत नहीं हुआ, और मिश्रजी मिठाई बेचते हुए सुसंस्कृत हैं, इससे बड़ी मूर्खता दूसरी हो नहीं सकती।

हमारे विचार से जैसा समय का प्रभाव है, जैसा राज-धर्म है, जिस तरह की शिक्षा का प्रसार है, दरिद्र देश के लिए अर्थकरी जड़वादिता की जैसी शिक्षा ज़रूरी हो गयी है, प्राचीन कोई भी क़ायदा अब लगाया नहीं जा सकता। पुराने विचार से एक अच्छा इंजीनियर भी शूद्र है, कैसा भी कलाकार हो, दानवी गुण-संयुक्त है। पर इस समय देश के लिए यही दानवी और अधम-मानवी गुण आवश्यक हैं। प्रकृति ने देश की स्थिति को अपने अनुकूल कर लिया है—समाज के पूर्व अधिकार छीन लिये हैं—कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता। अब व्यक्ति में समष्टि के रहने के अनुभव-सत्य को व्यावहारिक रूप देना है, अर्थात् हर मनुष्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भाव हैं, मात्रानुसार, यहाँ तक कि आसुरी और दिव्य भाव भी। किसी भी जाति में पैदा हुआ मनुष्य हो, जब वह पढ़ता-पढ़ाता है—ज्ञानानुशीलन करता है, ब्राह्मण है; जब उसके अन्दर देश, जाति, विश्व और किसी की भी रक्षा के भाव उठते हैं, तब वह क्षत्रिय है; जब जीविकार्जन के लिए वह व्यवसाय-बुद्धि का उपयोग करता है, तब वह वैश्य है; जब वह अपने सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए दूसरों की परिचर्या करता है, तब वह शूद्र है; जब वह अज्ञान-जन्य कुछ करता—शरीर पर ध्यान देता—इन्द्रिय-सुख प्राप्त करता है, तब वह असुर है; जब पारमार्थिक विचारों में लीन रहता, पूजार्चा किया करता, उपासना-युक्त रहता है, वह देवता है। फिर जब किसी समय वही अपने सर्वस्व तक का दान कर देता है, वह मुक्त महापुरुष है।

इस तरह हर मनुष्य को सब सुविधाएँ मिल सकती हैं। यह प्राकृतिक सत्य है भी। जितने मनुष्य हैं, वे किसी भी देश के हों, ये सब भाव उनमें प्राप्त होंगे। इन तमाम भावों के सन्निवेश के बिना मनुष्य का पूर्ण मनुष्य-रूप तैयार ही नहीं होता। हमें दृढ़ विश्वास है, हमारे देश में वह समय शीघ्र आनेवाला है, जब प्रत्येक मनुष्य को ये अधिकार प्राप्त होंगे, और ब्राह्मण-क्षत्रिय का प्राचीन विवाद हमेशा के लिए मिट जायगा। संयुक्त-प्रदेश में ब्राह्मणों को देख-देखकर जो दूसरी जातियाँ भी अँगरेज़ी शासन का सुयोग प्राप्त कर उत्तरोत्तर ब्राह्मण और क्षत्रिय बनती जा रही हैं, यह उनकी महामूर्खता है। या ब्राह्मणों को देखकर ब्राह्मण बनने का एक लोभ-मात्र है। दूरदृष्टि से इसमें कोई तत्त्व नहीं। नवीन भारतीय समाज को इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं—वह तो आमूल सुधार का प्रार्थी है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

सरोवर के सुदर्शन जल की उपमा है दिव्यता श्रौर झरने की हीरकचूर्ण जल-राशि वेदान्त। जब तक झरने के या नदी के जल-प्रवाह के साथ सरोवर के जल का संयोग न होगा, कुछ दिनों के बाद वह जरूर गन्दा हो जायगा। किसी भी सुन्दर सीमित ज्ञान या मनोहर रूप में जब तक श्रनन्त ज्ञान श्रौर श्रविनश्वर श्रात्मा के रहने की, प्रत्यक्ष श्रनुभव के श्रभाव से, कल्पना नहीं कर ली जाती, तब तक वह सीमित ज्ञान नश्वर श्रौर रूप क्षण-भंगुर है। यहाँ पति-पत्नी के सीमित चित्र-प्रेम को इसीलिए चिरन्तन कहकर मनोविज्ञान-वेत्ताश्रों ने रूप-प्रेम श्रौर विषय-तृष्णा को वेदान्त की ज्ञान-धारा में डालकर श्रौर सुन्दर तथा मोहक कर दिया है। उनके सम्बन्ध को पुरुष श्रौर प्रकृति का सम्बन्ध देखा। पुरुष श्रौर प्रकृति के नित्य सम्बन्ध की तरह उसे भी नित्य बतलाया। यदि इस श्रत्यन्त सुन्दर श्रौर मनोहर संयोग के पीछे यह ज्ञान-राशि न होती—यह चिरकालिक श्रात्म-संयोग न रहता, तो तृष्णा ही विवाह का परिणाम बनी रहती, श्रौर रूप के नष्ट होने के साथ उनके प्रति हुश्रा श्राकर्षण भी शिथिल पड़ जाता। संयोग कितना ही दिव्य कहा जाता, वह नश्वर ज़रूर रहता।

इस प्रकार दिव्यता श्रार वेदान्त का सर्वत्र विचार है, सब विषयों पर, सब वस्तुश्रों पर। पर हमारे हिन्दी-साहित्य में श्रजीब तमाशा है। जिस पत्र में देखिए, वही दिव्यता श्रौर भारतीय संस्कृति के चीत्कार से फट रहा होगा। साथ ही वेदान्त के प्रति घृणा भी उतनी ही मात्रा में होगी। इससे समझते हुए देर नहीं लगती कि चीत्कार करनेवाले दिव्यता को क्या समझते हैं, श्रौर क्या वेदान्त को। हमें प्रत्यक्ष श्रनुभव है, श्रनेक महाशयों को हम जानते हैं, जो वेदान्त के नाम से चिढ़ते हैं, श्रौर दिव्यता के नाम से उसी तरह गाल फुलाकर गम्भीर हो जाते, जैसे दिव्यता का चित्र दिखा रहे हों। पर वेदान्त का ज्ञान न रहने से थोड़ी ही देर में, दिव्यता का वाष्प उड़ जाने पर, पूर्ववत् फिर पिचक जाते हैं। चिरकाल तक यह दिव्यता रहेगी, तो व्यापक श्रासुर शासक-प्रकृति का सिक्का मानकर सिर कौन झुकायेगा ?—श्रतः बेचारे मुरझाकर रह जाते हैं।

वेदान्त निरवलम्ब ज्ञान के सिवा श्रौर कुछ नहीं। जड़-संयोग होने पर ज्ञान नहीं रह जाता। इसका श्रनुभव होना चाहिए। इसके श्रनुभव की क्रिया ही साधना है, श्रौर श्रनुभव के पश्चात् की स्थिति, संस्कृति की रक्षा, दूसरों के लिए है। तब उस मनुष्य के विचार किसी हद में, किसी स्वार्थ में नहीं बँधे रहते; तब वह विश्व-नागरिक श्रौर उसकी बातें यथार्थ विश्वजनीन होती हैं, उसकी क्रिया दिव्य-गुण-युक्त।

साधारण लोग इसका श्रनुकरण या पुनर्वर्तन करते हैं, सत्य की प्राप्ति के लिए। वेदान्त स्वयं सत्य है, निर्लिप्त है, श्रक्लेद, श्रविनाशी, पूर्ण, श्रोत-प्रोत। दिव्यता के श्राइने से उसका प्रकाश श्रधिक मधुर देख पड़ता है। यों सभी सृष्टियों से उसकी झलक निकलती रहती है। दिव्यता का इतना ही महत्त्व है कि वह उस प्रकाश को बड़ी ख़ूबसूरती से धारण कर सकती है।

जब केवल दिव्यता है, तब उसका परिणाम केवल उत्तम भोग है। इसीलिए देवता भोग-योनि हैं। मनुष्य देवतों से बड़ा है, क्योंकि वह मुक्त हो सकता है, वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है। हमारे शास्त्रों में जो निर्देश सब शुभाशुभ कर्मों का फल

ब्रह्म में अर्पण करने का है, वह इसलिए कि केवल ज्ञान रहे, कर्मों का फल-भोग चला जाय। इसके द्वारा भी हमें मालूम हो जाता है कि हर कार्य के साथ हमारा ज्ञान का संयोग था, हमारे हर एक सुन्दर तालाब का बँधा हुआ पानी बहाव के जल से मिला हुआ था, आज वह बहाववाला जल नहीं रहा, इसीलिए वह सुन्दर सरोवर गन्दा हो गया है, जल दूषित। उसे कोई दिव्यता नहीं परिष्कृत कर सकती, बहाव का वही वेदान्त-जल आवश्यक है।

वेदान्त निरवलम्ब, केवल ज्ञान है, अन्य ज्ञान सावलम्ब, इसीलिए दूषित एकांग हैं, पार्थिव हैं। सावलम्ब ज्ञान से संसार के कार्य चलते हैं। वे भूमिष्ठ हुए जीव की तरह सक्लेद हैं; वेदान्त मुक्ति की तरह निर्बीज। आजकल हमारे जितने सुधार, जितने परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी जड़ में कोई बड़ी बात नहीं रहती। इसीलिए कार्य भी आवश्यकतानुसार नहीं होता। पर जिसमें ज्ञान होगा, उसके लिए किसी भी सुधार की आवश्यकता नहीं। बल्कि कहना चाहिए, जो जितने अंशों में अक्लेद है, वह उतने अंशों में सुधरा हुआ। सुधारक तो एक कीचड़ से निकलकर दूसरे कीचड़ में डालते हैं।

हिन्दोस्तान की स्वतन्त्रता विलायती स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, नहीं होगी। विलायती दैशिक स्वतन्त्रता के इन्द्रजाल से मुग्ध भारतीय उनका अनुकरण कर उसे प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्ति मौलिक उद्भव का दूसरा रूप है। विलायत के स्वतन्त्र मनुष्य भी किस हद तक परतन्त्र हैं, यह साधारण मनोविज्ञान का ज्ञाता भी समझ सकता है। यहाँ जिस तरह अनेक धर्मों का सागर समुद्वेलित है, यहाँ देश-धर्म कभी टिक नहीं सकता। कारण, केवल भारत तमाम पृथ्वी नहीं बन सकता, अरब भारत में नहीं आ सकता।

पर ज्ञान-संयोग तमाम पृथ्वी, सूर्य-मण्डल को भी पार कर जाता है। भारत को उस तरह के मनुष्यों की ज़रूरत है, जिनके पास केवल ज्ञान का महास्त्र है; जिन्हें मुसलमान परम प्रिय, ईसाई जिनका घनिष्ठ मित्र है, और जिनका धर्म प्रत्येक स्थिति से सर्वस्व-दान और इस तरह सर्वस्व-प्राप्ति है। उस सबकुछ पाये हुए को कोई चाह नहीं रहती, और संसार के बड़े-बड़ स्वतन्त्र देशों के मनुष्य भी उससे कुछ चाहने के लिए आते हैं, इस प्रकार पराधीन होकर। स्वतन्त्रता के, मानवीय मुक्ति के यथार्थ बीज उसी के पास रहते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हमारी महिलाओं की प्रगति

राजनीतिक आन्दोलन में महिलाओं का यह समागम, भारत के इतिहास में, मुसलमान-शासन के जौहर-काल के बाद दूसरा उदाहरण है। भारत की महिलाएँ अपनी वर्तमान प्रगति से चलकर संसार के स्त्रीत्व को बहुत बड़ी शिक्षा देंगी। अभी तक उनकी ज्योति घर की दीवारों के बाहर नहीं निकली थी। संसार का स्त्रीत्व इस समय स्पर्द्धा में पड़ा हुआ है। पहले ही से संसार की स्त्री-जाति यथार्थतः

पुरुषों के हाथ अपना महत्त्व खो रही है। उसे दवकर पुरुषों सें पेश आना पड़ता है। दोनों में स्वतन्त्रता के नाम पर उद्दाम तृष्णा और वासनाओं का नृत्य हो रहा है। दोनों के जीवन दिक्शून्य होकर केवल तृष्णा की निवृत्ति के लिए प्रसरित हो रहे हैं।

भारत की स्त्रियों की संसार के वर्तमान इतिहास में यथेष्ट निन्दा हो चुकी है। उनकी अशिक्षित दशा के वर्णन प्रवाह में उनके सयत्न-संचित अनेक अनमोल रत्न बह गये हैं, जो, एक-एक, सदियों की शिक्षा से निर्मित हुए थे, और पीछे, मूर्ख पहरेदार के सिपुर्द धन-राशि के सन्दूकों की कुंजियों की तरह, उनके पास रह गये। अब संसार के स्त्रीत्व के सामने उन रत्नों के रखने की ज़रूरत है, शब्द विद्या के द्वारा उन्हीं के मुख से उनके वर्णन की आवश्यकता आ पड़ी है। उन्हें दिखलाना है कि संसार के स्त्रियों की रक्षा के लिए उनके आत्मिक शृंगार भारत की अशिक्षित महिलाओं में ही सुरक्षित थे। भारत की स्त्रियों का यह दान अभी बाक़ी पड़ा हुआ है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के द्वारा उन्होंने केवल मुख खोलकर, सीधी आँखों से एक बार स्वपक्ष और परपक्ष को देखा है, इतनी ही दृष्टि की यह चमक है। विश्वास है, वह समय अब दूर नहीं, जब भारतीय स्त्रीत्व की एक बाढ़ संसार में आवेगी, और स्त्रियों की मर्यादा का लुप्त भारतीय गौरव एक बार संसार-भर में चमकेगा।

पुरुष अपने पथ के महान् उद्देश्य सार्थक करता है, स्त्री अपने पथ के। योरप में ऐसा नहीं हुआ। पुरुषों का पद ग्रहण करके ही, स्पर्द्धा के द्वारा, स्त्रियाँ महान् बनना चाहती हैं, जिससे स्त्रीत्व का नाश होनेवाला है। इसके लिए कितने ही बड़े-बड़े पण्डित पूर्व-सूचना दे रहे हैं। पर पुरुष कहकर एक भिन्न प्रकार की दृष्टि जब तक है, तब तक भिन्न स्त्री-सृष्टि भी रहेगी, जिसका महान् उत्कर्ष भी उसी प्रकृति के भीतर से सम्भव है। भारत की महिलाओं को उन्हें इसी के प्रमाण देने हैं, इसी की शिक्षा देनी है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## मनुष्य-गणना और जात-पाँत

जात-पाँत-तोड़क मण्डल के मन्त्री महोदय ने हमारे पास अपना एक सर्कुलर भेजा है। इसके द्वारा उन्होंने जनता से अपील की है कि वह आगामी मनुष्य-गणना के समय किसी प्रकार की जाति या उसके उपभेद का जिक्र तक न करे, और अपने जाति के खाने में 'क्रॉस' का चिह्न बना दे। सर्कुलर से यह भी पता चलता है कि भारत के सेंसस-कमिश्नर सर जेम्स क्रेरर ने मण्डल की इस सलाह को स्वीकार कर लिया है कि जो कोई व्यक्ति जात-पाँत के ढकोसले में विश्वास नहीं रखते, उन्हें जाति बतलाने के लिए मजबूर न किया जाय, और उनके जाति के खाने में "कोई जाति नहीं" लिख लिया जाय।

हमें इस बात का दृढ़ विश्वास है कि सरकार की यह स्वीकृति केवल ऊपरी दिखावा-मात्र है। वह भीतरी दिल से कभी भारतीय जाति-पाँति के ढकोसलों को दूर नहीं होने देना चाहती। पारस्परिक भेद-भाव की वृद्धि के लिए इन जाति-पाँतियों का रखना ही उसे श्रेयस्कर मालूम होता है। हर एक ज़िले में, हर एक कमिश्नरी में सरकारी अफ़सरों का यही प्रयत्न रहता है कि वे एक जाति के आदमियों को दूसरी जाति के आदमियों से लड़वा दें। सरकार के हाथ में जितनी भी बड़ी-बड़ी नौकरियाँ हैं, उन सबके लिए जाति अथवा धर्म का पचड़ा लगा हुआ रहता है। जब तक सरकार की इस प्रकार की प्रवृत्ति का अन्त नहीं होता, तब तक इन छोटी-छोटी दिखावटी बातों से जाति-पाँति का सदियों पुराना पचड़ा दूर नहीं किया जा सकता।

जात-पाँत-तोड़क मण्डल के इस प्रकार के प्रयत्नों से तथा सरकार के इस अनुग्रह-प्रदर्शन से भारतीय इतिहास के आदि युग से चली आनेवाली यह प्रथा किसी प्रकार दूर नहीं की जा सकती। केवल काग़ज़ पर थोड़ी देर के लिए "नो कास्ट" लिख देने से ही उस प्रथा का विनाशकारी प्रभाव नष्ट नहीं हो सकता। जब तक हम हिन्दू परस्पर मिलकर एक नहीं होते, जब तक चारों वर्णों के असंख्यों उपभेदों का नाश होकर केवल सनातन कर्मानुयायिनी वर्ण-व्यवस्था का शुद्ध रूप अवशिष्ट नहीं रह जाता, तब तक इस प्रकार के काग़ज़ी घोड़ों के दौड़ाने-मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। मण्डल को चाहिए कि वह अब आगे कोई क्रियात्मक प्रोग्राम भी, विशेष रूप से, देश के सामने रखकर इस विनाशकारिणी प्रथा का अन्त करने का शीघ्र प्रयत्न करे। केवल 'तोड़नात्मक' कार्य-क्रम का अनुधावन करने से अब भविष्य में किसी प्रकार की सफलता की उसे आशा न करनी चाहिए। यदि उसने क्रियात्मक सुधार का काम किया तथा इस प्रकार हिन्दू-समाज की मनोवृत्ति बदल दी, तो वह दिन दूर नहीं, जब अगली मनुष्य-गणना के समय ऐसे मनुष्यों की गणनातीत संख्या उसे प्राप्त हो जाय, जो सचमुच किसी प्रकार के भी जाति-पाँति के बन्धन में विश्वास न रखते हों।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1931 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## दहाड़-1

कविता के तख़्ते-नशीं कविवर रवीन्द्रनाथ कभी-कभी ऐसी बेपर की उड़ाते हैं, जैसे प्रलाप के समय सभी समझदार उनके शब्दों के जाल में फँस गये हों। आजकल सत्य की तरह सुलभ और इन्द्रजाल की तरह बृहत्तर वस्तु दुनिया में कुछ नहीं। रवीन्द्रनाथ जब इन दोनों के बल पर अपने अधिकार के हीरों की थैली खोलते हैं, उस समय केवल शब्दों और वाक्य-भाव को लेकर मुग्ध हो पश्चात्-लग्न-लोग भले ही मरीचिकी मरीचिका में भूल जायँ, साक्षात् सूर्य के साथ रहनेवाले उससे अलग हो चलनेवाले रूपों और प्रगतियों को तत्काल समझ लेते हैं। और यह ज्ञान

उन्हें समझाने से पहले ही रहता है कि हीरा और मरीचिका के सौन्दर्य, मोह और प्रकाश तीनों का परिचायक सूर्य ही है। जेठ की 'प्रवासी' में कविवर रवीन्द्रनाथ के कुछ पत्र निकले हैं। एक खास मतलब के लक्ष्य पर साधारण लोग भी सत्य ही कहते हैं, उनकी अवधारणा-भूमि भले ही निम्नकोटि की हो फिर रवीन्द्रनाथ जैसे महाकवि, अपराजेय-शक्ति लेखक एक खास मतलब छोड़ देंगे, ऐसा कोई उत्तरदायी साहित्यिक नहीं कह सकता। एतराज वहाँ अवश्य होता है जहाँ स्वर में भाव की जगह आवाज ही अधिक ऊँची सुन पड़ती है। रवीन्द्रनाथ के समालोच्य पत्र में यही दोष है। मैं उनकी आवाज की उच्चता के अनुकूल ही उसमें भाव पकड़ना चाहता हूँ, जिसकी मुझे शास्त्रों और विचारों के अनुसार उनके पत्र में त्रुटि देख पड़ती है।

एक जगह वे लिखते हैं—'आदमी की पूर्णता शतदल-पद्म की तरह है। उसके विकास का अन्त नहीं।' अर्थात् कमल जिस तरह सभी भंगिमाओं से खिलता है, देखिए कोई सीधे आकाश की ओर सरोवर के जल की ही तरह, कोई मराल की ग्रीवा की तरह ईषत् तिर्यक, तट की ओर, कोई जीवन-रहस्य की खोज में योगी की तरह अपने कारण-जल की ओर देखता रहता है, उसी तरह मनुष्य का विकास भी सार्वभौम है।

फिर लिखते हैं—'साधारणत: जिसे आध्यात्मिक साधना कहते हैं, उसे जब हम लोग लोभ की सामग्री कर लेते हैं तब प्रकाश पाने के लिए एक झरोखा छोड़कर और सब झरोखे चुनवा देने का उत्साह पैदा होता है। इस तरह के गुहावास के संन्यास को मैं नहीं मानता; गुहा के बाहर विराट संसार को मैं गुहा से ज्यादा सत्य समझता हूँ। इसीलिए, किसी खास आध्यात्मिक गुहा के भीतर पैठने पर मुझे परमार्थ की प्राप्ति होगी ऐसा लोभ यदि खयाल में मुझे कभी जकड़ ले तो कुछ ही समय में मैं ऊब जाता हूँ, उससे नि:सन्देह निकल आऊँगा।'

पहली उक्ति सब तरह की प्रसार-पुष्टि का सूक्ष्म-रूप है, दूसरी उसकी व्याख्या। पर यह कबीरदास की निरर्थ उलटवासी हो गयी है। कारण, 'एकहि साधे सब सधैं, सब साधे सब जायँ', इस उक्ति का भी विरोध नहीं हो सकता, उसी शतदल-विकास के सूत्राधार पर। कलकत्ता देखने के लिए एक ही मनूमेंट का निर्माण अदूरदर्शिता नहीं। रवीन्द्रनाथ की दलील यह असर जरूर रखती है कि समझ के बच्चे उनके साथ हो जाते हैं, क्योंकि वे भावों के खिलौना-पसन्द आदमी हैं, और भटकते हुए भटकना ही सबसे बड़ी बात समझते हैं।

जिस तरह कविवर से मिलने के लिए जब लोग आते हैं, तब अपनी-अपनी राह से होकर ही आते हैं, एक आदमी एक ही वक्त सब राहों से होकर नहीं आ सकता, उसी तरह यदि किसी का एक ही राह से विकास हो और वह उसकी चरम सीमा हासिल कर सके तो वह वहाँ अनेक राहों से पहुँचे हुए सभी महापुरुषों के बराबर है, और सबके ज्ञान तथा पथ-कार्य का समर्थक, समझदार। यही शतदल-विकास की सार्थकता है। सीधा खिला हुआ कमल भी पूर्ण-विकसित है और झुककर खिला हुआ भी पूर्ण-विकसित, उतना ही बड़ा, वैसा ही विकसित। रवीन्द्रनाथ सीधे खिले पद्म को टेढ़ा खिलने का न उपदेश कर सकते हैं, न समर्थन। अगर करेंगे तो उनकी अल्पज्ञता या कठहुज्जती होगी।

'गुहा के बाहर विराट संसार को मैं गुहा से ज्यादा सत्य मानता हूँ' यह उक्ति ऐकदेशिक, एक ही विषय पर जोर देनेवाली होने के कारण 'शतदल विकास'-वाली उक्ति की सार्वभौम मर्यादा नहीं रखती; यह रवीन्द्रनाथ के प्रतिपादन की

दुर्बलता है। फिर, गुहा संसार से अलग नहीं, न संन्यास एक कर्म-साधना से पृथक। अपरंच, 'गुहा के बाहर विराट संसार' यह शब्द-बन्ध मरीचिका, असत्य, प्रमाद और अज्ञान है। क्योंकि गुहा को देखकर ही बाहर के विराट की कल्पना होती है, अर्थात् यदि छोटा न रहे तो बड़े की कल्पना न हो, पृथ्वी के सब परमाणु अलग कर देने पर विराट-पिण्ड का अस्तित्व जाता रहता है, साथ-साथ छोटे-बड़े का भ्रम भी दूर हो जाता है और कौन छोटी गुहा है और कौन बड़ा संसार, इसके बतलाने में दिक्कत पैदा हो जाती है। एक साम्य-सूत्र के भीतर छोटे-बड़े की व्याख्या में रवीन्द्रनाथ की विचार-दुर्बलता अनेक जगह पकड़ी गयी है। छोटे के बाद बड़े का लोभ दिखाने के वक्त छोटे ही रवीन्द्रनाथ के साथ होंगे, जब छोटे को छोड़कर बड़े को पकड़ने के लिए उनके साथ-साथ दौड़ेंगे, और यही विचारों की मरीचिका है।

['रँगीला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 4 जून, 1932। असंकलित]

## छाया-चित्र-1

सिनेमा की तरफ लोग बेपेंदी के लोटे की तरह लुढ़कते हैं। ऐसा खुश होते हैं जैसे ससुराल जा रहे हों। वही ठाट-बाट, वही नाज व अदा। मिस सुलोचना, मिस सीता, गौहर और मिस जुबेदा वगैरह आँखों की रोशनी और दिमाग की ताकत बढ़ाने के लिए जैसे ब्रिस्टाल-सालसा हों। अठन्नी रोज कमानेवाले साधारण लोग भी चवन्नी चरितावली में हफ्ते में चार रोज जरूर ससुराल में किसी बीबी का मुँह देखेंगे। अब तक आँख के अन्धों ही को "चाशनीये शरबते दीदार थोड़ी-सी" मिलती रही, अब कान के बहरों को भी टूटे हुए दिल के आईने की आवाज सुनायी देने लगी। और प्यार नसीहत नहीं चाहता। वह मुसीबतों का पहाड़ उठायेगा, पर अपने ही दिल की राह होकर गुजरेगा, वह कटीली हो या पथरीली। दिल की सुई को देखकर ही हर शख्स अपने शरीर के जहाज को चलाता है। फिर जिस बन्दरगाह में दिल की तस्वीर हो, वहाँ हम इसी खयाल से नसीहत नहीं करते, और चर्राए हुए शौक को पूरा कर लेने के लिए ही कहेंगे। क्योंकि दिल की बीमारी और सब बीमारियों से बढ़कर है: बीमारी दिल का इलाज है ही नहीं। योरप को धन्यवाद है, जिसने ऐसी बुरी तरह दिल पर कब्जा कर लिया और आर्ट की दोहाई देकर अपना मतलब भी गाँठ रहा है।

अब हमारे यहाँ भी देशी छाया-चित्र तैयार होने लगे हैं। इधर पूंजीपतियों का काफी ध्यान आकर्षित हुआ है। पर अभी तक जितने मूक और बोलते हुए चित्र हमने देखे हैं वे अधिकांश रद्दी हैं। लखनऊ में 'दिलेर दुख्तर' टाकी हमें पसन्द आयी थी। 'लैला-मजनूँ' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' वगैरह कई टाकियाँ और देखीं। वे दुरुस्त नहीं आयीं। चित्रण में सबसे पहले तीसरे दर्जे के लोगों का ध्यान रहता है, क्योंकि सिनेमा के वही सबसे ज्यादा शौकीन होते हैं। इसलिए भारतीय फिल्मों का विदेशों में मजाक उड़ाया जाता है। पूंजीपति साहित्य की सृष्टि केवल

साहित्य के विचार से कर नहीं सकते, ग्रौर न यहाँ का सामाजिक जीवन वहाँ की तरह विस्तार रखता है। पर कुछ फिल्म ग्रच्छे साहित्यिकों की राय से तैयार होने चाहिए। क्योंकि ग्रच्छे होने पर विदेशों में भी उनकी खपत हो सकती है। यहाँ तो उनका ग्रादर होगा ही।

['रँगीला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 4 जून, 1932। ग्रसंकलित]

## हिन्दी का रूप ग्रौर प्रभाव

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी भाषातत्त्व के एक बड़े पण्डित हैं। ग्राप हिन्दी के भी एक बहुत ही योग्य विद्वान हैं। ग्रभी 'विशाल-भारत' की श्रावण की संख्या में ग्रापका 'कलकत्ते की बाजारी हिन्दुस्तानी' शीर्षक एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुग्रा है, जिसमें ग्रापने ग्रनेक प्रान्तों के हिन्दी-भाषी साधारण लोगों की भाषा पर विचार किया है।

हम इस बिगड़ी हुई हिन्दी के एक खास कारण पर पहुँचना चाहते हैं, जिसका सूत्र-रूप से डा. चटर्जी साहब ने स्वयं भी उल्लेख किया है कि यहाँ की हिन्दुस्तानी ग्रसल में पूर्वीय युक्त-प्रदेश ग्रौर विहार के निरक्षर जनसाधारण की व्याकरण-हीन हिन्दी है, जिस पर बंगला के उच्चारण, शब्दों ग्रौर मुहाविरों का रंग चढ़ा है। दूसरा कारण जो ग्रापने बतलाया कि शुद्ध हिन्दी-भाषा से बाजारी हिन्दुस्तानी का ग्रन्तर बोलनेवाले की मातृभाषा ग्रौर उसके हिन्दी-ज्ञान के परिमाण के ग्रनुसार घटा-बढ़ा करता है, यह भी बहुत दुरुस्त है। पर जिस जनतान्त्रिक बोली को संस्कृति-विशेष से ग्रलग ग्रापने बतलाया, वह भी हर बड़े शहर के बाजारों में (हिन्दी में ही) भिन्न रूप धारण किये हुए है। इस तरह जनतन्त्र का एक माध्यम निकालने पर, हम समझते हैं, भाषा ग्रौर व्याकरण का यही रूप होगा। गड़बड़ी जितनी होती है, वह प्राय: शब्दों के रूपों ग्रौर लिंगों की।

हिन्दी के इस वर्तमान रूप का कारण, हम जहाँ तक समझते हैं, हिन्दी ही या उर्दू है। हिन्दी पर हमने इसलिए जोर दिया कि बहुत-से लोग हिन्दी के इस रूप को हिन्दी के प्रथम चरण से ही साबित करते हैं, ग्रौर उर्दू बनी भी, तो हिन्दी का मुख्य ग्राधार लिया गया। फिर जितने मुहाविरे उर्दू में हैं, जो ठेठ यहीं के हैं, सब हिन्दी में प्रचलित हैं। ग्रवश्य इस प्रचलन के कारण ही उर्दू का वाक्य संगठन होता रहा। फर्क केवल शब्दों में रहा। हिन्दी के विस्तार में सहायक संस्कृत के शब्द हुए, ग्रौर उर्दू के विस्तार में फ़ारसी, ग्ररबी के। यही हिन्दी ग्रौर उर्दू की तरक्की का नतीजा है। भाषा बनी-बनायी है, उसे सीधी करने की बात ही है।

डॉ. चटर्जी साहब ने बहुत ही बजा फर्माया कि "हिन्दुस्तानी सीखना ग्रासान बात नहीं है। हिन्दुस्तानी के व्याकरण की जटिलता, उसके शब्दों की विभिन्नता ग्रौर मुहाविरों की बाहुल्यता ग्रादि के कारण हिन्दुस्तानी सीखना फ़ारसी सीखने से कहीं ग्रधिक कठिन है।" जो लोग संस्कृत, ग्रँगरेजी, बंगला ग्रादि परिष्कृत भाषाग्रों का व्याकरण जानते हैं, वे उनकी भिन्नता में भी एक बहुत ही मनोहर साम्य पाते हैं। पर हिन्दी में वह बात नहीं। हिन्दी का वाक्य-बन्ध उर्दू-फ़ारसी के

प्रभाव के कारण संस्कृत की दृष्टि से विजातीय हो गया है। पर यह वैजात्य हिन्दी-जनता के कानों को, खास तौर से बनारस से पंजाब तक के लोगों को, नहीं खटक सकता।

यहीं, "बनारस से पंजाब तक के लोगों को", इस शब्द-बन्ध में, 'तक' के व्याप्त्यर्थ के बाद सम्बन्ध-सूचक 'के' का हिन्दी में जैसा आगमन हुआ है, बंगला में नहीं हो सकता, संस्कृत में भी नहीं, यदि व्याप्ति की विभक्ति लग जायगी, न अँगरेजी में ही। महात्मा गाँधी इसीलिए हिन्दी के व्याकरण को अशुद्ध बतलाते हैं। पर बात ऐसी नहीं। जबान कभी अशुद्ध नहीं होती (चाहे वह किसी की, कितने ही अपढ़ों की हो) यदि वह कृत्रिम नहीं। यहाँ 'पंजाब तक' पर्यन्त-अर्थ के साथ विशेष्य बना है, बाद 'के' द्वारा सम्बन्ध की छटा आयी है।

हम पहली बात पर आते हैं, जहाँ बंगाल और बंगला के हिन्दी-भाषियों पर प्रभाव पड़ने की बात है। उच्चारण में तीन मूल ह्रस्व स्वर हैं—अ, इ, उ। और सब इन्हीं के जोड़ से बने हैं, जो स्वर-सन्धि में मिलते हैं। ऋ 'र्+इ' है। व्यंजन के उच्चारण का मूल स्वर है। इ और उ सार्वभौम हैं। बंगला के दीर्घ स्वरों के उच्चारण की सुविधा-असुविधा का यहाँ जिक्र नहीं करते। रही बात अ की। अ का उच्चारण बंगला में मंगोलियन होता है। उत्तरी पहाड़ी प्रान्तों, नेपाल, बंगाल, उड़ीसा, बिहार आदि प्रदेशों में इसका मंगोलियन उच्चारण होता है, जिसका ठीक-ठीक उच्चारण हिन्दी द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अँगरेजी में Awe का जैसा उच्चारण होता है, बंगला में अ का वैसा ही। हिन्दी में इसका आर्य-उच्चारण है। इसके उच्चारण के अनुरूप ही बंगाल और बंगला की जीवनी-शक्ति और अवयव-संगठन है। मस्तक भी बंगालियों का मंगोलियन होता है। स्वर की ही शक्ति सब शक्तियों से प्रधान है। सविशेष जानने के लिए शब्द-तत्त्व देखिए। ज्ञान-तन्तु के संयोग के साथ स्वर के शरों का त्याग बराबर होता रहता है, और विदेशी वहाँ (या किसी भी देश में) उस स्वर से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। बंगाल के हिन्दी-भाषियों की यही दशा है। प्रयाग के बंगालियों की भी हिन्दी-उच्चारण के कारण यही दशा। कलकत्ते के हिन्दी-भाषी प्रायः निरक्षर हैं, और प्रयाग के बंगाली प्रायः विद्वान। डॉ. चटर्जी साहब की बिगड़ी बाजारी हिन्दी के अनुकूल, जो अशिक्षितों द्वारा बोली जाती है, प्रयाग के बंगाली विद्वानों की बंगला की बानगी देखिए—

"आमार बापेर एकटा बेटी आछे।<br>
सेटार कल सादी होबे।<br>
आपनारा आसबेन।<br>
सादी बी देखबेन, पूड़ी बी खाबेन।"

एक बंगाली सज्जन अपने बंगाली मित्रों को क्लब में न्योता दे रहे हैं—"मेरे बाप के एक बेटी है। उसकी कल शादी होगी। आप लोग आइएगा। शादी भी देखिएगा, पूड़ी भी खाइएगा।"

इस तरह स्वर, भाषा-बन्ध और व्याकरण का सब पर प्रभाव पड़ता है। हर जगह यह बात है। फौज से लौटते ही हमारे सिपाही लोग खड़ी बोली का ऐसा उदाहरण रखते हैं कि तबियत फड़क उठती है—"हमको पानी होना।" बम्बई से लौटे हुए भैया लोगों को सुनिए, चारपाई पर बैठे "साहब बोला, मैं बोला" की झड़ी लगा रहे हैं। देहात में शुद्ध खड़ी बोली की नाक काटकर "बोलतिउ चहै न बोलतिउ, दिल-जान से फिदा हौं" गा रहे हैं।

इसका इलाज कभी नहीं हुआ, न होगा। मेदिनीपुर के तमलुक (ताम्रलिप्त) सब-डिवीजन में "मुई जाइठि, तुई कि करुठू बोस्या" बंगला की शुद्ध और प्रचलित किसी भी बोली में नहीं। पूर्व बंग की "आज्ञे, आष्ट गण्डा", "गरेर माटे गोरार गारी गरगरिए जाय" का प्रयोग साहित्यिक मजाक ही में हुआ है। कलकत्ते में इन बोलियों का कोई माध्यम नहीं। सब किसी तरह अपना काम निकालते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने बंगला के स्वरूप पर कहा, राजधानी की भाषा ही बंगला के लिए शुद्ध रूप है। स्वामीजी खुद भी कलकत्ते के थे। उन्हें सुविधा हुई भाषा की प्रचलित बामुहाविरा शैली निकालने में। रवीन्द्रनाथ ने भी अपने ही घर की भाषा को, पचास वर्षों की कठोर तपस्या द्वारा सुसज्जित कर, बंगला की सर्वांग-सुन्दरी प्रतिमा बना दिया। ब्राह्म-समाज तथा रवि बाबू के उच्चारण में आर्य-उच्चारण का प्रभाव पड़ा है। 'हइते' के 'ह' का ये लोग बिलकुल हिन्दी का-सा उच्चारण करते हैं। शरच्चन्द्र की भाषा का भी यही ऐकदेशिक हाल रहा। बोल-चाल की बंगला साहित्य में कलकत्ते के ही इर्द-गिर्द की बंगला हुई।

यही बात हिन्दी के लिए है। दिल्ली राजधानी है, लखनऊ भी अपनी शान में अद्वितीय। उर्दू के अनुकरण या हिन्दी के वैशिष्ट्य के कारण दिल्ली और लखनऊ के दोनों स्कूल मान्य हैं। खड़ी बोली का मार्जन करनेवाले आचार्य पं. महावीर-प्रसाद द्विवेदी लखनऊ-स्कूल के ही अन्तर्गत आते हैं। इसलिए लखनऊ और दिल्ली की साहित्यिक हिन्दी सभ्य-जनों का आदर्श है, हो भी रही है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## समाज और महिलाएँ

हमारे जातीय सितार के साज पुराने हो गये हैं। तारों में जंग लग गया है। कुछ टूट गये हैं, बहुत ढीले पड़ गये हैं। इसीलिए इससे बेसुरी आवाज निकलती है। राष्ट्र और वर्तमान धर्म का गला उससे नहीं मिलता। हमारी कोशिशें बेकार जाती हैं।

हम देखते हैं, राष्ट्र तथा धर्म के स्वर में स्वर मिलाने के लिए अनेक बार हमें सामाजिक परिवर्तन करने पड़े हैं। जो समाज वैदिक काल में था, वह बौद्ध-काल में न था। इसके बाद भी अनेक परिवर्तन हुए। नौबत यहाँ तक पहुँची कि मुसलमानों के शासन-काल के बिलकुल पराधीन युग में भी राष्ट्र और धर्म की रक्षा के लिए हमने अपने प्राचीन सनातन-सितार के तार बदले। तब युग के अनुकूल बजा सके।

अब फिर जाति के सामने वह सवाल पेश है। यही परिवर्तन जाति के जीवन की सूचना है। आज संसार के सभी राष्ट्र अपनी पुरानी प्रथाओं में शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन करते जा रहे हैं। क्योंकि वे जानते हैं, उन्हें संसार के समुन्नत राष्ट्रों से साम्य रखना है। यहाँ धर्म का कोई सवाल नहीं। कारण, धर्म तो मनुष्य की भीतरी-प्राणों की भावना है। बाहरी कर्मों, वेश-भूषा आदि में भाषा के परिवर्तन

की तरह बराबर रद्दोबदल जरूरी है। पर हम इस सामाजिक कार्य में उन्नतिशील सभी देशों से पीछे हैं। बड़ा वही है, जिसे अधिकांश प्रतिष्ठित जन बड़ा कहें। संसार के सभ्य जन हमें अपने बराबर बैठाने में संकुचित होते हैं।

इसके मूल में प्रधान कारण हमारी महिलाएँ हैं। देश ने महिलाओं की प्रगति पर ध्यान दिया तो है, पर काम तीव्र गति से नहीं हो रहा है। हमारा मतलब यह नहीं कि महिलाएँ योरपियन बीवियाँ बनायी जायँ। हम केवल उनके शिक्षा-सुधार और स्वतन्त्रता के लिए कहते हैं।

पुरुषों के अज्ञान का प्रहार महिलाओं पर होता है, जिससे देश की लक्ष्मी दुःखित रहती है। हमारे ही शास्त्र का कथन है—

"कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः।"

अमेरिका की तरह स्त्री को पुरुष के सामने रक्खा जाय या फ्रांस की तरह बराबर या इंगलैण्ड की तरह कुछ पीछे, इसका जिक्र नहीं। क्योंकि ये सब बाहरी, दिखलाऊ बातें हैं। स्त्री जिन अर्थों से पुरुष की सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी और गृह-लक्ष्मी है, उनका पूरा-पूरा निर्वाह किया जाय। शिक्षा-दीक्षा, आदान-प्रदान, सामाजिक, राजनीतिक और साम्पत्तिक अधिकार भी उसके पुरुष की ही तरह के हों। आज बाह्य स्वतन्त्रता का बहाव पश्चिम को इतनी दूर बहा ले गया है कि अब घर घर नहीं रहा। गृह-धर्म की मर्यादा एक तरह से जाती रही। घर होटल और क्लब हो रहे हैं। हम इस तरह 'घर-फूंक' तमाशा देखनेवाली सभ्यता का समर्थन नहीं करते। हमारा मतलब केवल मनुष्यता पर अवलम्बित है, जिसका हमारे समाज से तिरोभाव हो गया है।

भिन्न जातीयता हमारे देश में इतनी बढ़ी हुई है कि इस संकीर्ण दायरे में हमारा सामाजिक सुधार नहीं हो सकता। समाज-बन्धन का मुख्य आधार भी महिलाएँ हैं। पहले महिलाओं को सभी वर्णों में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता थी, पर अब वह नहीं रही। ऐसी भावना और कार्य हिन्दू-समाज में प्रचलित न रहने के कारण ब्राह्मसमाज को हिन्दुओं से पृथक एक सम्प्रदाय चलाना पड़ा। सिक्खों और ब्राह्मसमाजियों की तरह यदि नवीन विचारों का एक दल हिन्दुओं के अंग से कटकर अलग हो जाय, तो यह संगठन की जगह विच्छेद ही होगा, जिससे समाज की शक्ति घट जायगी। इसलिए खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध में जातीय व्यापक विशालता आवश्यक है। यदि कोई किसी खास नियम का पालन करता हो, तो उसके खण्डन की कोई बात नहीं, वह वैसा करता रहे, सिर्फ अपने प्रतिकूल आचार करनेवालों के प्रति वह घृणा-भाव न रक्खे। इससे वैवाहिक व्यापकता में बाधा नहीं पड़ सकती। आज भी एक ही समाज में भिन्न देवता के पूजक हैं, और इसलिए उनके खान-पान में फर्क रहता है। ब्राह्मणों में ही एक के यहाँ मांस प्रचलित नहीं, दूसरे खाते हैं। पर इससे उनके वैवाहिक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता। इसी तरह आचारों तथा विचारों को बढ़ाने की जरूरत है। श्रीमती सरोजिनी नायडू और चौधरानी सरलादेवी यह आदर्श भारत के सामने पहले ही रख चुकी हैं। बहुत पहले ऐसे सम्बन्ध-स्थापन के लिए "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" कहा गया है। पर अज्ञता के कारण व्यापक रूप से समाज का ध्यान इस ओर नहीं गया।

शिल्प, संगीत और कविता में स्त्रियों का पुरुषों से पहले अधिकार है। गृह की रुचिर रचना तथा जीवन के सुखों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक शिक्षा भी नारियों के अधिकार से जाती रही। ये ही वे मधुर आकर्षण हैं, जिनसे पुरुष इस नश्वर संसार में भी स्वर्ग-सुख का अनुभव करता है, और नारी केवल नारी न होकर

कला की दिव्य चन्द्रिका हो जाती है। महिलाओं की इन कलाओं में उस प्राचीन उच्च आदर्श के अब बहुत ही करुण रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हें जीवनी स्फूर्ति देने के साथ-ही-साथ हम देखेंगे कि हमारा समाज कहाँ-से-कहाँ चला गया है — जिन गृहों में पिशाचों का ताण्डव-नृत्य हो रहा था, वहाँ स्वर्ग की इन्द्र-सभा लग रही है ! आज स्त्री-शिक्षा और वैवाहिक जीवन-सम्बन्धी आदर्शों में, पश्चिमी विधानों के अनुसार, स्वीडन-देश अनुकरणीय हो रहा है। इंगलैण्ड के बड़े-बड़े लेखक वहाँ की सामाजिक प्रथाओं के प्रचलन के लिए अपने देश में कटिबद्ध हो रहे हैं।

हम नकल करने के लिए नहीं कहते, सिर्फ असल को असली रूप में प्राप्त करने के लिए कहते हैं। महिलाओं की स्वतन्त्रता ही उनके जीवन की सब दिशाओं का विकास करेगी। हमें सिर्फ उनकी स्वतन्त्रता का स्वरूप बतलाना है, और यह भी सत्य है कि पुरुषों के निरादर करने पर भी स्त्री-शक्ति का विकास रुक नहीं सकता, न वह अब तक कहीं रुका है। चूँकि पुरुष निराधार स्त्रियों की अपेक्षा इस देश में अधिक समर्थ हैं, इसलिए हम स्त्री-स्वतन्त्रता के कार्य में पुरुषों से मदद करने के लिए कहते हैं, क्योंकि नारी ही भावी राष्ट्र की माता है। मूर्ख, पीड़ित और पराधीन माता से तेजस्वी, स्वतन्त्र और मेधावी बालक-बालिकाएँ नहीं पैदा हो सकतीं, जिससे राष्ट्र का सर्वांग जर्जर रह जाता है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## धार्मिक ऐकदेशिकता

सामाजिक और राजनीतिक जटिल प्रश्नों की तरह भारत को धार्मिक प्रश्न का भी सन्तोष-जनक उत्तर देना है। हमारे यहाँ तमाम कमजोरियों और संकीर्णताओं की जड़ में विविध धर्म-भावनाएँ ही हैं, खासकर हिन्दू और मुसलमान धर्म में। आर्य-समाज द्वारा विचारों की व्यापकता को बहुत-कुछ सहायता प्राप्त हुई है। पर जिस ढंग से वैदिक धर्म का प्रचार किया गया है, उसमें कट्टरता प्रधान है। विचारवान धर्मों में सार भाग देखते हैं। सभी धर्मों के मूलतत्व मिलते-जुलते हैं। आचारों के साथ धर्म के ऊँचे अंग का कोई सम्बन्ध नहीं। वेद के ज्ञान-काण्ड के साथ मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि अपने-अपने धर्म के भीतर से सहमत हैं। वेद के मानी भी किसी पुस्तक-विशेष के नहीं, वह ज्ञान-रूप होकर सभी जातियों में सम्मिलित है। वेद को लेकर विवाद करने पर वेदज्ञों की ही मर्यादा नष्ट होती है, वेद अपने अर्थ में अक्षुण है।

जिस तरह जड़-विज्ञान में सत्य का सार्वभौम, चिराश्रय ऐक्य मिलता है और सभी देशों को समभाव से उन्नयन करने का अधिकार, उसी तरह धर्म-विज्ञान में भी। आजकल बड़े-बड़े विचारवान ऐसे ही प्रयत्न में लगे हुए हैं। पर हमारे यहाँ धार्मिक कट्टरता ही प्रबल है। इसका परिणाम यह होता है कि कट्टरता का जड़त्व मस्तिष्क का विकास नहीं होने देता। अपने अनुकूल न होने पर धार्मिक तत्त्व झूठे जान पड़ते हैं। यह आत्मानुकूल तत्त्व-वृत्ति बहुत बड़ी मानसिक दुर्बलता है। इसके

कारण सभी रेखाओं से मन:शक्ति का विकास नहीं हो पाता। प्रहार करनेवाली पशु-वृत्ति बनी रहती है। मनुष्य सब देशों के साहित्य, समाज, राजनीति और धर्म का महत्त्व नहीं समझ पाता। प्रगति एक हद में बँधी रहती है।

अपने सामाजिक व्यवहारों की तरह दूसरे धर्मों के साथ हमें सभ्य व्यवहार करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि इतना गिरकर भी हिन्दुओं ने किसी की धर्म-भावना पर प्रहार नहीं किया। अपर जातियों से इस सम्बन्ध में वे अधिक सहनशील रहे। यही कारण है कि हिन्दुओं की आध्यात्मिक शक्ति अन्य धर्मावलम्बियों से ज्यादा है, और इतने प्रहार सहकर भी इतने दिनों तक की गुलामी के भीतर वे जीवित हैं।

किसी को अपने अंग में मिलाने का यह तरीका नहीं कि उसकी या उसके धर्म की बुराई की जाय। धर्म सभी सच्चे हैं। उनका सार-भाग ग्रहण कर, अपनी आध्यात्मिक शक्ति एकत्र कर ऐसा धर्म-जीवन बनना चाहिए कि अपर धर्मों के लोग आपके पास अपनी ही अन्त:प्रेरणा से आकर्षित हों, और आपकी तृप्ति प्राप्त करने की प्रचेष्टा करें।

जिस गंगा की स्तुति करते हुए महाज्ञान शंकर भी द्वैतवाद की भूमि में आकर कहते हैं—

"इन्द्र-मुकुट-मणि-राजित-चरणे,
सुखदे, शुभदे, सेवक-शरणे,
रोगं, शोकं, पापं, तापं,
हर मे भगवति, कुमति-कलापम्।"

जिसके तटों पर अनादि काल से ऋषियों ने तपस्या की, जिसके दृश्य-मात्र से हृदय पवित्र होता है, उसका बहिष्कार धर्म-भावना के मूल में ही कुठाराघात है। विद्वानों को तत्त्व निकालना चाहिए, विरोध की वार्ता धर्म कदापि नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## रूस

गरीबों का आदर्श आज रूस ही है। रूस में जिस तरह एक दिन धनाधिकार प्रबल था, अनेकों पर एक की हुकूमत चलती थी, उसी तरह आज अनेक एक हो गये हैं। किसानों के सुख का स्वर्ग आज रूस ही है। महाकवि रवन्द्रिनाथ ने रूस-भ्रमण के अपने जो संस्मरण लिखे हैं, उनसे अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि रूस आज सभी दलित देशों का आदर्श है। वहाँ बड़प्पन के संस्कार ही अब नहीं रह गये। जातीय शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में रूस सबसे अधिक सभ्य है। दमन के दिनों में जिस साहित्य का निर्माण रूस में हुआ है, वह प्राण-शक्ति आज संसार-साहित्य में चेतना का संचार कर रही है। हमारे युवक-सम्राट वीर जवाहरलालजी को भी रूस के किसानों का आदर्श पसन्द है। हमारे देश में अन्न के सस्तेपन का प्रधान कारण भी रूस की पैदावार ही है।

पर साम्राज्यवादी लोग रूस की तरफ से जनता को बरगलाने की पूरी चेष्टाएँ करते जा रहे हैं। उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की विकृत बातों का प्रचार किया जा रहा है, जिसमें रूस की तरफ से जनता के हृदय में घृणा के भाव उत्पन्न हो जायँ। पर रूस चुपचाप यह सब देखता और सुनता हुआ अपनी उन्नति के मार्ग में दत्तचित्त है। रूस पृथ्वी के सब देशों से बड़ा है, पर उसकी जनसंख्या भारत की आधी है। साम्राज्यवादी बड़े प्रबल-प्रबल शत्रुओं से घिरी रहने पर भी रूस की सोवियट सरकार जनता के हित की तरफ, देश के विकास की ओर जितना ध्यान रखती है, उतना शत्रुओं से लोहा लेने की तरफ नहीं। सोवियट सरकार समझती है कि मनुष्य-जाति अपनी बौद्धिक तथा नैतिक दुर्बलताओं के कारण ही दूसरी जाति से पराजित होती है। जिसका मन स्वतन्त्र है, उसे कोई भी शक्ति परतन्त्र नहीं कर सकती। इसीलिए वह देश के मानसिक संस्कारों में तत्पर है। जहाँ इंग्लैण्ड अपनी आय का प्रतिशत 14, फ्रांस 20, अमेरिका 15, जापान 27 और पोलैण्ड 35 फौजी विभाग में खर्च करते हैं, और भारत की रक्षा के लिए 60 तक का नम्बर हो जाता है, वहाँ रूस 12.7 ही के खर्च से निर्भय रह रहा है। 1927 में रूस ने शिक्षा-विभाग में 80 अरब 30 करोड़ रुपये खर्च किये। इस अंक से आप समझ सकते हैं कि किसानों तथा साधारण लोगों के अज्ञान को दूर करने के लिए रूस की सोवियट सरकार कितनी दत्तचित्त है। जहाँ 1927 में प्रारम्भिक विद्यार्थियों की संख्या 94,34,000 थी, वहाँ इधर पाँच वर्षों में कई गुनी अधिक हो गयी होगी।

साम्राज्य की नयी योजनाएँ तैयार करने, शासन को नये-से-नये उपयोगी विधान देने के लिए मास्को में हर विषय के विशेषज्ञों का एक विभाग है, जिसे गॉसप्लैन कहते हैं। शासन के लिए ऐसा सुन्दर, सर्वमान्य संगठन संसार के किसी भी साम्राज्य में नहीं। सोवियट सरकार के ये विशेषज्ञ ही पंचवार्षिक योजना द्वारा साम्राज्य के हर पहलू को मजबूत करते हैं। कृषि, वाणिज्य, शिक्षा, शासन आदि में आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं।

रूस की जनसंख्या 14 करोड़ से ऊपर है। गाँव ढाई लाख हैं। मजदूरों के 23 केन्द्र हैं, जहाँ से उनके संगठन का कार्य होता है। बड़े संघ में 11,31,000 मजदूर हैं। इस संघ की आमदनी सवा दो अरब से अधिक रुपये की है।

जलवायु की स्वच्छता की तरफ भी स्वास्थ्य-विभाग विशेष ध्यान रखता है। जहाँ-जहाँ पहले अमीरों के मकानात थे, अब वे सब इमारतें सरकार के स्वास्थ्यागार हैं। कार्य के पश्चात विश्राम का महत्त्व सभी शिक्षित देशों में है। केवल भारत के गरीबों को संसार में विश्राम का सुख प्राप्त नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## महात्माजी की भीषण प्रतिज्ञा

महात्मा गाँधी संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। कौमी बटवारे से हिन्दुओं में फूट होती हुई देखकर उन्होंने गत 20 सितम्बर से अपने प्राण छोड़ देने का निश्चय कर लिया

है। जब तक इस फैसले में परिवर्तन न होगा, वह अनाहार-व्रत करेंगे। इसके पहले प्राण निकल जायँ, यह भी उन्हें स्वीकार है। वह प्राणों की वाजी लगाकर अपनी दुष्प्राप्य सहानुभूति से देश को शिक्षा देना चाहते हैं।

महात्माजी राष्ट्र के प्राण हैं। वह संयुक्त निर्वाचन चाहते हैं। इसी से देश में एकता रह सकती है। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए फूट जाने पर देश का स्वार्थ नहीं रहता। इससे विदेशी लोग ही स्वार्थसिद्धि करते हैं। देश में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो अपने सम्प्रदाय की भलाई के सामने देश की व्यापक भलाई को कुछ भी नहीं समझते। कुछ ऐसे हैं, जो अपना सम्प्रदाय-बल बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों से सरकार को शासन में, फूट रहने के कारण, सुविधा होती है। गोल-सभा में कौमी विचारों के पीछे मरनेवाले कट्टर लोग भी गये थे। वहाँ पृथक निर्वाचन की बातचीत पर महात्माजी ने संयुक्त निर्वाचन के लिए ही कहा था। अछूत-नेता भी थे। पर महात्माजी ही देश की सब जातियों की तरफ से मान्य एकमात्र मनुष्य थे। महात्माजी ने वहाँ के अपने व्याख्यानों में अपने कार्य पर पूरा प्रकाश डाला था कि देश का मुख्य उद्देश हमेशा उसके साथ रहेगा। साम्राज्यवादी अँगरेजों को अवश्य ही महात्माजी के साफ उद्गार हितकर न जँचे होंगे। अन्त तक कौमी फैसले में मुसलमानों को अधिक अधिकार देते हुए अछूतों को भी हिन्दुओं के अंग से काटकर अलग कर दिया। राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुओं की शक्ति यहाँ कितनी कमजोर की गयी, यह साधारण लोग भी समझ सकते हैं। फिर महात्माजी-जैसे राष्ट्र के प्राण को इसके भविष्य की चिन्ता से कितना कष्ट हो सकता है, यह भी सहज ही अनुमेय है। यदि यह उपाय चल गया, तो महात्माजी की सारी तपस्या, जो देश को एक करने के लिए हुई है, व्यर्थ हो जाती है। इस बटवारे को कबूल करना ही महात्माजी की हत्या है। पर वह किसी को इस दोष में सम्मिलित नहीं करते। वह स्वयं यह दृश्य देखने से पहले जाति को प्राण देकर अदृश्य हो जाना चाहते हैं। यही उनका मृत्यु-सत्याग्रह है।

अछूत हिन्दुओं के ही अंग हैं। उच्च वर्णों के अज्ञान के कारण वे अपनी उसी दशा में चिरकाल से पड़े रहे। पर आर्य-समाज ने उनके उद्धार में जबरदस्त कार्य किया। उन्हें उच्च आसन देने में संकोच नहीं किया। कांग्रेस ने कभी अछूतों को अछूत नहीं समझा। देश के सभी प्रान्तों का वर्तमान साहित्य अछूतों को अपनाने के मार्मिक चित्रों से भरा है। नवयुवकों ने अछूतों के साथ भोजन तक किया। पर प्राचीनपंथियों के प्राबल्य के कारण उनकी सामाजिक दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ। कौमी लड़ाइयाँ हुईं। पतितों के उठने के प्रयत्नों को पण्डितों ने विफल करने की पूरी ताकत से कोशिश की। फैसला अदालतों में होता रहा। मनोमालिन्य बढ़ता गया। नेताओं को एक विशिष्ट दल खड़ा कर लड़ने और प्रसिद्ध होने का मौका मिला। सरकार ने इस मौके को हाथ से न जाने दिया।

अब दुर्दशा से बचने के अभिप्राय से सनातनी लोग सँभलने लगे। पर फिर भी अक्ल का जंग एक दिन में नहीं छूटता। दिल्ली में आर्य-समाजी और सनातनियों में उत्तम-मध्यम प्रहार-प्रकरण हो गया। फिर भी अछूतों को अपनाने की जबरदस्त आवाज देश के कोने-कोने से उठ रही है। कानपुर में मन्दिर खुल रहे हैं। कलकत्ते में अछूत कालीजी के दर्शन करने जा रहे हैं। बम्बई में अछूतों को एक पंक्ति में बैठाकर ऊँचे खानदान की ब्राह्मण-महिलाएँ तक भोजन कर रही हैं। बिहार के तेरह लाख अछूत महात्माजी के साथ हैं। देश के अछूत महात्माजी का पूरा साथ देंगे।

देश के बड़े-बड़े नेता समस्वर से गाँधीजी के अमूल्य जीवन की प्रार्थना कर

रहे हैं। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ग्राज देश के महायज्ञ में जीवनाहुति देनेवाले महान तपस्वी की प्रतिज्ञा देखकर स्तब्ध हैं। उनके तार में जो समवेदना है, वह गाँधी-रवीन्द्र-जैसे देश के महत्तम मनुष्यों के कार्य-कलाप समझनेवाले लोग ही समझेंगे—"ग्रापके शरीर-त्याग से देश का कल्याण होगा, पर ग्रधिकारियों की समझ तक इस महत्त्व की पहुँच होगी, मैं नहीं समझता।" गाँधीजी की भीषण प्रतिज्ञा से देशव्यापी, संसारव्यापी हलचल हो रही है।

पहले खबर थी, महात्माजी उपवास से पहले छोड़ दिये जायँगे। सरकार ने प्रयत्न भी ऐसा ही किया था। पर साथ-साथ कुछ शर्तें भी रख दी थीं, जिन्हें महात्माजी ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए वह यरवदा-जेल में ही उपवास कर रहे हैं। कुछ ही चुने हुए लोग उनसे साक्षात कर सकेंगे।

ग्रछूतों के प्रश्न पर महात्माजी का कहना है कि ग्रछूत ग्रपने विचारानुसार कार्य करें। महात्माजी कुछ करने के लिए किसी से ग्रनुरोध नहीं करते। यह महापुरुष की ग्रन्तिम, सर्वग्रासिनी महत्ता है। ग्रब वह ग्रपने ग्रौर पराये स्वार्थ से बाहर हैं। ग्रब इस उपवास की मूर्ति में केवल महात्माजी हैं, जो सत्याग्रह के बल पर विश्व पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, जो ग्रमर जीवन के ज्ञाता, सदा मुक्त, सदा स्वतन्त्र हैं। जिस मन्त्र को लेकर वह भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में ग्रवतीर्ण हुए थे, ग्रब उसी की सिद्धि में उत्तीर्ण हो रहे हैं। यह जीवन साधारण समझ में नहीं ग्राता। यह समझ से बाहर की बात है। थोड़ी देर के लिए, शरीर-प्रेम के कारण, हम रो सकते हैं, उनके ग्रदर्शन से कलम रुक जाता है, हमें क्षोभ हो सकता है, पर उनका महामन्त्र यदि उनकी इच्छा के ग्रनुसार शरीर-दान की सिद्धि प्राप्त कर गया, तो उनके मृत्यु-जीवन को प्राप्त कर देश कितना ग्रग्रसर होगा, इसका ग्रनुमान भी नहीं किया जा सकता। हम भीरु हैं, साधारण कोटि के मनुष्य हैं, हम महात्माजी को सशरीर, सप्राण देखने के लिए ही ईश्वर से वारम्वार करबद्ध-साश्रु प्रार्थना करते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, ग्रक्तूबर, 1932 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## साम्राज्यवाद ग्रौर सत्याग्रह

साम्राज्यवाद इंगलैण्ड की राजनीति का मूल है। पूँजी के द्वारा वणिक-शक्ति की वृद्धि के इतिहास के साथ-साथ साम्राज्यवाद का इतिहास इंगलैण्ड के साथ गुँथा हुग्रा है। पूँजी की ही तरह यह हृदयहीन है। ग्रँगरेजों की शक्ति का समस्त संसार पर प्रभाव है। साथ-साथ ग्रपनी वृत्ति या जातीय साम्राज्यवाद-जीवन के कारण इंगलैण्ड संसार-भर में बदनाम है। इतिहास के जानकार जानते हैं कि इंगलैण्ड की सरकार पूँजीपतियों की सरकार है, ग्रौर साम्राज्यवाद उसकी जीवनी-शक्ति, मूल ग्राधार।

कूट-बुद्धि द्वारा फूट डालकर शासन करना ग्रँगरेजों की प्रधान शासन-प्रणाली मानी गयी है। इसका किसी तरह भी जब निराकरण नहीं हो सका, तब महात्मा

गाँधीजी ने इससे बचने और भूखे गरीब भारतीय किसानों की माँग, रक्षा की आवाज कांग्रेस द्वारा विलायत पहुँचाने के उद्देश्य से सत्याग्रह का अस्त्र धारण किया। सत्याग्रह मनुष्यों के सामने मनुष्यता का आदर्श रखता है। महात्माजी मनुष्यों में अग्रगण्य हैं। वह मनुष्यों के सामने मनुष्यों की आर्त पुकार को हमेशा पुरअसर समझते रहे हैं, और मनुष्यों से उन्हें बराबर मनुष्यता की ही आशा रही है। पर जवाब उन्हें साम्राज्यवाद का ही डंक मारकर बराबर दिया गया, जिसके विष से आज समस्त देश जर्जर है।

आज तक का इतिहास यही साक्षी दे रहा है कि कूटनीति को बराबर कूटनीति से उत्तर मिला, बाहु-बल को बराबर बाहु-बल का सामना करना पड़ा। सत्याग्रह की लड़ाई संसार के इतिहास में पहली लड़ाई है, जब हथियारबन्दों के सामने निःशस्त्र सैनिक सत्य का बल धारण कर भूखे पेट, सूखे-अधर बराबर मनुष्यता के समर-क्षेत्र में अड़े हुए हैं। इस बल के पुण्य-प्रभाव में अँगरेज सरकार का सम्पूर्ण शासन-चक्र अचल हो जाता है, ऐसा अँगरेजों ने ही कहा है। इसलिए कानून अपनी पूरी शक्ति से इस बल को पराभव देने के लिए सामने आया।

कांग्रेस इस देश के लोगों की एकमात्र जातीय संस्था है। पर कानूनन वह अवैध करार दी गयी। देश के संसार-विख्यात महामना मनीषीगण इस संस्था में हैं। पर फिर भी उस तरफ ध्यान न दिया गया। अभी कुछ दिन हुए, बड़े लाट साहब ने व्यवस्था-परिषद में घोषणा की है कि कांग्रेस का नाश करना ही होगा। कांग्रेस की जड़ मारने के लिए आर्डिनेंस मौजूद हैं। अब उनके स्थायी कानून बनने जा रहे हैं। जरूरत पर और भी आर्डिनेंस जारी किये जा सकते हैं। सत्याग्रह के शीर्ण शरीर को इतनी मजबूत जंजीरें बाँध रही हैं।

मि. मैकडानल्ड गाँधीजी के सत्याग्रह का अन्तिम आशय क्या है, बहुत पहले से जानते थे। ब्रिटेन के और और साम्राज्यवादी भी जानते थे। पृथक निर्वाचन के खिलाफ महात्माजी ने भारत के एक सर्वमान्य नेता की हैसियत से राय भी दी थी। फिर भी, साम्प्रदायिक फैसले से, मिथ्या को ही साम्राज्यवाद के किसी खास सत्य के उद्धार के लिए विजय प्राप्त हुई।

अब तक हिन्दू-मुसलमान ही एक देश में रहने का भाव भूलकर धार्मिक उद्दण्डता के कारण आपस में लड़ते रहे, अब हिन्दुओं के अंग से कटकर अस्पृश्य भी एक ओर बढ़ गये। देशव्यापी करुण चीत्कार पर यह वज्र-प्रहार हुआ देखकर ही महात्माजी ने अपने सत्याग्रह का चरम अस्त्र, मृत्यु-पाश धारण किया है। कांग्रेस के प्राण गाँधी, सर्वश्रेष्ठ पुरुष गाँधी, देश के सर्वमान्य नेता गाँधी, सत्याग्रह के मन्त्रदाता गाँधी सरकार द्वारा सब प्रकार समझे हुए होने पर भी अपने देश-हित की असफलता में सत्याग्रह-ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के लिए छोड़ दिये गये।

कूट-नीति जितनी भी जटिल हो, मनुष्य-नीति बड़ी आसानी से उसे सुलझा लेती है। आज सरकार के हाथ में शक्ति है, इसलिए गरीबों की पुकार पर उसने ध्यान नहीं दिया। मनुष्यता की तरफ एक बार फिरकर देखा भी नहीं। समशासन का अभिमान रखनेवाली सरकार ने वैषम्य को ही महत्त्व दिया, और शासन के रथ-चक्र के नीचे कितने निरीह चूर्ण हो गये, इसका विचार तक न किया।

जिन लोगों का यह कहना है कि प्रधानमन्त्री ने यह विचार उचित ही किया है, और यदि सब लोग एकमत होकर परिवर्तन के लिए कहेंगे, तो प्रधानमन्त्री मत बदल सकते हैं, उन्होंने प्रधानमन्त्री के फैसले में दलितोंवाले अंश पर अच्छी तरह विचार नहीं किया। राजा-मुंजे-पैक्ट यदि प्रधानमन्त्री स्वीकार कर लेते, तो

शायद महात्माजी सत्याग्रह के अन्तिम सोपान पर पैर न रखते, पर उन्होंने वैसा नहीं किया। बेंथल-आगाखाँ-अम्बेदकर-पैक्ट, जिसे 'माइनारिटी पैक्ट' कहते हैं, यों ही रह गया। उसमें दलितों को उनकी संख्या के हिसाब से पद प्रदान करने के लिए कहा गया था। पर प्रधानमन्त्री ने इसे भी स्वीकार नहीं किया।

प्रधानमन्त्री ने धीरता से ही अपना फैसला किया है, क्योंकि साम्राज्यवाद की बुनियाद इसी तरह सुदृढ़ रह सकती है। साम्राज्य-नीति के मुकाबले जन-नीति की इतनी करुण पुकार भी हृदय को द्रवित नहीं कर सकी। पर साम्राज्य-नीति का कहीं भी, किसी काल में भी, एक ही-सा बोलबाला नहीं रहा, क्योंकि वह बराबर मनुष्य-नीति के मस्तक पर पैर रखकर चलती रही है। इसलिए कभी तो उसे परिवर्तन स्वीकार करना पड़ा है, कभी वह चिरकाल के लिए दलित मनुष्य-नीति की गर्म साँसों से झुलसकर निष्प्राण हो गयी है। पर मनुष्य-नीति मनुष्य-समाज के आदिकाल से आज तक समभाव से वर्तमान है।

महात्मा गाँधी इस मनुष्य-नीति के पूर्णावतार हैं। जिस दिन यह विग्रह अपनी प्रतिज्ञा के तप में विदेह होकर देश के प्राण-प्राण में परिव्याप्त हो जलने लगेगा, उसी दिन सरकार समझेगी, उसने कितनी बड़ी गलती की। महामनुष्य की आत्मा उसकी मृत्यु के पश्चात और महान होती है, उसका कार्यक्रम तब बाधा-विघ्नों को अपनी सूक्ष्मता से अतिक्रम करता रहता है। क्राइस्ट योरप में इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। यदि गाँधीजी को भी यही प्रमाण देने का मौका दिया गया, तो गरीबों के तप्त प्राणों की ज्वाला फिर हरगिज सरकार शान्त न कर सकेगी। गाँधीजी कम-से-कम लेकर प्रसन्न होनेवाले मनुष्य हैं। तब देश अधिक-से-अधिक पाकर भी प्रसन्न न हो सकेगा।

आज 21 सितम्बर है, गाँधीजी के मृत्यु-साक्षात्कार का दूसरा दिन। अभी समय है। देश की दृष्टि के अन्तर्हित होने पर फिर सरकार की दी हुई कोई भी आँखें जनता को मार्ग न दिखा सकेंगी। इसलिए हम सरकार से अनुरोध करते हैं, वह अपनी अधिकांश जनता के प्रीतिपात्र को प्राप्त करे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## देशी रियासतों का रंग

यह जागृति का युग है। पर देशी रियासतों में अभी वैसा ही अन्धकार है, जैसा दो सौ वर्ष पहले था। बल्कि उससे भी कुछ बढ़ गया है। पहले राजों-महाराजों को हर वक्त लुट जाने की दहशत रहती थी। इसलिए अपना कुछ-न-कुछ संगठन और जनता के प्रति प्रेम के भाव रखते थे। यह सब अपने फायदे के लिए ही करते थे। क्योंकि किसी कारण राज्य छिन जाने पर भी यदि सहानुभूति नहीं छिनी, तो फिर से प्रजा को संगठित कर राज्य को प्राप्त करने की गुंजायश रहती थी। अब वह डर नहीं रहा, अतः प्रजा के मनोरंजन की भी विशेष परवा नहीं रही। विधाता के

वहीं से उतनी-उतनी जगह के विधाता बनकर आते हैं, जन्म-सिद्ध अधिकार की बदौलत मुफ्त का माल मिलता है, उड़ाया करते हैं। पेरिस और लन्दन की सैर होती है। केवल एक दृष्टि रहती है कि सरकार प्रसन्न रहे। दूसरों की महिलाएँ छीन ली गयीं, अत्याचार-पर-अत्याचार हुए, लगान-पर-लगान बढ़ा, प्रजा ने जरा-सी आवाज कृपा के लिए उठायी, तो गाँव-का-गाँव फूँक दिया गया। फिर भी विधाता विधाता ही हैं, और प्रजा प्रजा। प्रजा कर देने के लिए है, और राजा भोग करने के लिए। ब्रिटिश भारत के लोग देशी रियासतों के लोगों की तुलना में देवतों की तरह इस दैन्य में भी रहते हैं, फिर देशी रियासतों की प्रजा को कितने कष्ट हैं, इसका क्या अनुमान हो सकता है ? आज भारत के कोने-कोने में अछूतों के अधिकारों की वृद्धि हो रही है, कुएँ और मन्दिर उनके लिए खुल रहे हैं, पर एक रियासत का हाल है कि वहाँ का यह आन्दोलन दबाया जा रहा है, कार्यकर्ता जेल भेजे जा रहे हैं। कहीं इस बीसवीं सदी में भी अँगरेजी सलाह से राजपूती ढंग का शासन हो रहा है। कहीं अछूतोद्धार का काम न करने को कार्यकर्ता को नोटिस मिल रहा है, तो कहीं इस महा अर्थकष्ट पर भी रियाया पर लगान बढ़ाकर रियायत की जा रही है। विश्वास नहीं, देशी रियासतों के राजों-महाराजों को भी ईश्वर कभी सुबुद्धि देंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## पौरत्व

पौर या नागरिक देश के प्राण हैं। इनका संकट ही देश का संकट और इनका उत्कर्ष ही देश का ऐश्वर्य है। अतः देश की उन्नति के लिए यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि प्रत्येक प्रजा, प्रत्येक पौर अपना अधिकार समझे, तदनुसार व्यवहार करे, और अपनी व्यक्त एवं अव्यक्त, प्रस्फुट तथा अस्फुट शक्तियों, उनके गुण-दोषों का परिपूर्ण परिज्ञान प्राप्त करे; यही नहीं, उस ज्ञान का समाज के अभ्युदय के हित प्रचुर प्रयोग भी करे।

यह पौर या प्रजायुग है। इस युग में किसी 'राजा' द्वारा नियमों, अनुशासनों या प्रतिबन्धों की उत्पत्ति नहीं होती, प्रजा स्वयं ही 'राजा' है, स्वयं ही राज्य करती है, अर्थात् स्वयं ही अपने ऊपर नियमों का आरोप करती है, और स्वयं ही उन नियमों का प्रतिपालन। सरल, स्पष्ट शब्दों में प्रजातन्त्र का यही अर्थ है। यही अमेरिका के अमर प्रेसिडेण्ट अब्राह्म लिंकन के शब्दों में "प्रजा का प्रजा के लिए प्रजा द्वारा शासन" है। ऐसी स्थिति में पौरों के लिए यह नितान्त ही आवश्यक है कि किसी भा नियम, अनुशासन या प्रतिबन्ध के चालित करवाने या शिरोधार्य करने के पूर्व यह भली भाँति समझ लें कि उससे क्या हानि या क्या लाभ हो सकता है। ऐसा न करना अपने प्रति, अपने समाज और अपने देश के प्रति घोर विश्वासघात करना है।

अधिकांश जन-समुदाय का यह कथन है कि "जब तक भगवान हमें चार पैसे

ग्रौर पेट-भर भोजन देता है, तब तक हमें इन 'स्वत्व' या 'ग्रधिकार' के झंझटों से क्या करना है। जो होता है, होने दो। भगवान जो कुछ करता है, भले के लिए करता है; हमें क्या पड़ी है कि हम ग्रपना काम छोड़ इन ग्राफतों में फँसे, हमें बाबा! जन्म-भर यही करना है, यही करेंगे।" यह "कोऊ नृप होय, हमें का हानी ? चेरि छोड़ि नहिं होइब रानी"-वाली वृत्ति प्रजायुग के विपरीत है। यह मानसिक संकोच, भाग्यवाद एवं ग्रकर्मण्यता की सूचक है। इस वृत्ति का ग्राश्रय लेना ग्रात्म-निवेदन का प्रमुख ग्रंग भले ही हो, परन्तु जीवन के जटिल संग्राम का नहीं, यह वृत्ति शान्ति की ग्रनुचरी है, संग्राम में प्रभाव डालनेवाली 'डमडम' गोली नहीं। जीवन सुखों ग्रौर दुःखों के तुमुल संघर्ष का नाम है। संघर्ष के लिए चोट की सहिष्णुता चाहिए, चोट करने की कला में नैपुण्य चाहिए, एवं युद्ध के उपरान्त व्यवस्था करने की भी शक्ति चाहिए। संसार में वही मनुष्य सफल कहाता है, जो ग्रपनी ही नहीं, ग्रौरों की भी ग्रभिवृद्धि कर सके, जो पुरुष व्यक्तित्व के संकुचित व्यास के बाहर नहीं ग्राता, वह ग्रपना भला भले ही कर ले, ग्रौरों का भला नहीं कर सकता। जिस मनुष्य में ग्रपने को छोड़ दूसरे के ग्रच्छे-बुरे का ध्यान ही नहीं ग्राता, वह नगर या पुर के ग्रच्छे-बुरे की ग्रोर भला क्योंकर ग्राकृष्ट हो सकता है ? ग्रौर जो नगर के हित-ग्रहित से ग्रसम्बद्ध है, वह नागरिक या पौर कहलाने के कहाँ तक योग्य है ?

बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जो व्यक्ति किसी के लेने-देने में नहीं पड़ता, नगर के सुख-दुःख में भाग लेने से ग्रलग रहा, ग्रड़ोस-पड़ोस के ग्रच्छे-बुरे में भी सम्मिलित नहीं होता, जो ग्रपनी ढाई चावल की खिचड़ी ग्रलग पकाता है, जिसकी मथुरा त्रिलोक से न्यारी है, वही 'ग्रच्छा' मनुष्य समझा जाता है। उसकी तटस्थ वृत्ति, एकान्त-प्रेम तथा शान्त भावनाएँ उसके भोले ग्रौर भलेपन का पर्याप्त प्रमाण समझी जाती हैं, ग्रौर उसकी ग्रच्छाई की द्योतक। ऐसा पुरुष ग्रच्छा भले ही कहा जाय, परन्तु ग्रच्छा सभ्य, नागरिक या पौर नहीं कहा जा सकता। शान्ति ग्रौर एकान्तप्रियता दोनों बड़े ही ऊँचे गुण हैं, हम यह स्वीकार करते हैं, परन्तु क्या कभी गुण ही ग्रतिशयता के कारण दुर्गुण में परिवर्तित नहीं हो जाते ? यही हाल शान्ति ग्रौर एकान्त-प्रियता का भी है। एक सीमा तक ये गुण कहे जा सकते हैं, उस सीमा का ग्रतिक्रमण होते ही इनमें ग्रवगुणों की गन्ध ग्राने लगती है, ग्रौर उसी स्थिति में चिरकाल तक रहने से ये ही पूर्णरूपेण दुर्गुण हो जाते हैं।

शान्ति ग्रौर एकान्त-प्रियता के ग्रतिशय बाहुल्य से पौरत्व के विकास में बाधा पड़ती है। पौरत्व में शान्तिप्रिय होना भी ग्रावश्यक है, किन्तु इतना नहीं कि यदि छाती में दाल भी दली जाय, तो भी ग्रात्मरक्षा का भाव जाग्रत न हो, तो भी वीरता ग्रौर साहस का मन में प्रवेश न हो। पौरत्व का ग्रर्थ है नागरिकता। जिस प्रकार जल में रहकर मगर से वैर करना ग्रयुक्त है, उसी प्रकार नगर या पुर में रहते हुए उसके ग्रच्छे-बुरे से किनारा नहीं खींचा जा सकता। जो कोई ऐसा करता है, वह ग्रपने नगर के प्रति उपेक्षा करता है। ग्रौर, जिसकी उपेक्षा इतनी बढ़ी हुई है, उससे नगर या ग्रन्य नागरिक क्या ग्राशा रख सकते हैं ? पौरत्व की दृष्टि से ऐसे पुरुष का होना-न-होना बराबर है। परन्तु ऐसे होने से क्या न होना ही ग्रच्छा नहीं ?

ग्रच्छे नागरिक या भले पौर में गुणों के दो संयोगों का होना बड़ा ही ग्रावश्यक है—एक वे, जिनसे वैचक्षण्य या नैपुण्य का प्रादुर्भाव हो, दूसरे वे, जिनके द्वारा इस वैचक्षण्य का, लोकाभ्युदय के हित, समुचित सदुपयोग हो सके। यदि किसी पुरुष

में पर्याप्त नैपुण्य है, तो वह शीघ्र ही एक शक्ति प्राप्त कर लेता है, जिसके बल से वह अपना भला कर सकता है, और यदि उसमें सच्चे नागरिकता के भाव हैं, तो वह अपने लाभ को व्यापक दृष्टि से देख ऐसे उपाय करेगा, जिसमें नगर में रहने-वाले उसके दूसरे भाई भी उस लाभ के फल भोग सकें। सच्चा नागरिक नगर के सुख में अपना सुख और नगर के दुःख में अपना दुःख देखता है, इसीलिए वह अपने नगर की सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता है, पुर के हानि-लाभ के सामने वह वैयक्तिक सुख-दुःख को नगण्य समझता है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि गुणों का उत्तरोत्तर स्पष्टीकरण ही प्रभावोत्पादक हो सकता है। अस्फुट गुणवाले व्यक्ति की मान-वृद्धि नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में यह कहना अत्युक्ति नहीं कि सम्मान के लिए अभिव्यक्ति आवश्यक है। जीवन में उन्हीं व्यक्तियों की मान-तुष्टि होती है, जो जाति, समाज एवं देश के किसी भी अंग की अभिवृद्धि तथा उत्कर्ष के लिए प्राणपण से चेष्टा करते हैं, जो विघ्न-बाधाओं को देख घबराते नहीं, प्रत्युत उन्हें हटाने में प्रयत्नशील रहते हैं, जो कर्तव्य के आगे अपनी वैयक्तिता को समूल नष्ट करने से नहीं हिचकते! ऐसे ही पुरुष सच्चे नागरिक कहलाते हैं। इसके विपरीत, जो व्यक्ति तटस्थ-वृत्ति का आश्रय लेता है, उसके लिए जीवन के आरोह, अवरोह, अनुलोम, विलोम, हानि-लाभ, सुख-दुःख का कुछ अर्थ ही नहीं रहता, और यदि रहता भी है, तो अत्यन्त सूक्ष्म। उसका लोक-समुदाय पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ सकता कि एक क्रान्ति की तरंग उद्भूत हो जाय, या कोई ऐसी प्रलयंकारी आँधी उठे कि समाज अस्त-व्यस्त या त्रस्त हो सके। इस मनुष्य की इस एकान्त वृत्ति की प्रतिक्रिया उसी तक परिमित रहती है। ऐसे मनुष्य को समाज अहानिकर भले ही कहे, परन्तु इनसे जीवन की भीषण समस्याएँ न हल ही हो सकती हैं, न इनमें उन्हें हल करने की सामर्थ्य ही है। जो अपनी ही कठिनाइयाँ सरल नहीं कर सकता, वह समाज की क्या सहायता कर सकता है? यही कारण है कि सभ्य देशों में सभी मनुष्यों को निर्वाचन-अधिकार प्राप्त नहीं। निर्वाचन-अधिकार भी पौरत्व का एक स्वत्व है, अतः यह उन्हीं को प्राप्त है, जो इस स्वत्व की रक्षा कर सकें। जो इस प्रकार स्वत्व-रक्षा करने में समर्थ नहीं, वे इस अधिकार से बहिष्कृत समझे और रक्खे गये हैं।

संसार सशक्त के लिए आराम एवं अशक्त के लिए अरण्यवत् है। जीवन की सफलता के लिए शारीरिक और मानसिक दोनों शक्ति आवश्यक हैं। अशक्त नागरिक की स्थिति बड़ी ही बुरी है, वह धोबी के कुत्ते की भाँति न घर का समझा जाता है, न घाट का। अतः पौरों में सबसे पहले इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिए कि वे अपनी रक्षा—शारीरिक और साम्पत्तिक—कर सकें। जो अपनी रक्षा कर सकता है, वही, समय आने पर, दूसरे की भी रक्षा कर सकता है। जो स्वयं अपनी हाय-हाय में घुला जाता है, जो अपने ही रूप पर स्वयं आसक्त होता है, या जो अपने आगे संसार की उपेक्षा करता है, वह दूसरे का क्या उपकार करेगा?

शक्ति का होना पौरों के लिए आवश्यक तो है, परन्तु इसका अनियन्त्रित होना भी आवश्यक नहीं। बहुधा यह देखा गया है कि शक्ति के अनियन्त्रित होने से स्वेच्छाचार की अभिवृद्धि हो कठोरता का प्रादुर्भाव होता है, और लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है। यदि किसी प्रकार की मर्यादा या नियन्त्रण न हो, तो जो मनुष्य जितना ही निपुण और शक्तिशाली होगा, उसी अनुपात के अनुमार उसमें अधिक भीषणता निहित होगी, और समाज का वह उतना ही अहित कर सकेगा।

जीवन का एक यह भी विषम व्यंग्य है कि ऐसा नृशंस, दुर्दान्त व्यक्ति भी यदा-कदा 'शूर' या पराक्रमी समझा जाता है, शक्ति का बाहुल्य-मात्र ही पराक्रम नहीं, उसका प्रयोग भी ऐसा समुचित होना चाहिए कि उस अतिरिक्त शक्ति से समाज के अधिक-से-अधिक स्त्री-पुरुष लाभ उठावें। शक्ति का होना बुरा नहीं, बुरा है शक्ति का दुर्व्यवहार या दुष्प्रयोग। अतः प्रत्येक नागरिक में इतना साहस होना चाहिए कि मुक्त कण्ठ से उन मनुष्यों या संघों के विरुद्ध वाणी उठावे, जो अपने स्वार्थ के आगे अन्धे हो रहे हों। जो नागरिक ऐसा नहीं करते, वे नागरिकता के मूल-मन्त्रों से परिचित नहीं समझे जा सकते। पौरत्व स्वतन्त्रता का द्योतक है, उसमें वैयक्तिक या सामूहिक निरंकुशता के लिए स्थान नहीं।

प्रत्येक नागरिक के आदर्श उच्च होने चाहिए, इसका यह अर्थ नहीं कि वे आदर्श केवल कल्पनामात्र ही हों। कोरी कल्पनाओं से, यदि वे व्यावहारिक न हों, विशेष लाभ नहीं हो सकता। अव्यावहारिक आदर्शों के प्रचार से हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है। व्यावहारिक से हमारा अर्थ इस प्रकार के आदर्शों से हैं, जो सुगमतापूर्वक सर्वसमाज में प्रचलित हो सकें। सर्वसमाज में इसलिए कि नगर किसी एक ही समाज का आवास नहीं, वहाँ सभी जातियों और सभी समाजों के स्त्री-पुरुष रहते हैं, अतः आदर्शों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें सभी व्यवहार में ला लाभ उठा सकें।

पौरत्व का अनुशीलन बड़ा ही मनोरंजक एवं सुखप्रद है। इस विषय का समुचित अध्ययन मनुष्य के दृष्टिकोण को विशद और उसकी भावनाएँ ऊँची करने में समर्थ है। जिस प्रकार बालक गिरते-पड़ते ही उठकर चलना सीखता है, उसी प्रकार परस्पर के सभ्य संघर्ष से ही मनुष्य एक-दूसरे के सुख-दुःख से परिचय प्राप्त कर जीवन-संग्राम की भीषणता का अनुभव करता है, और परस्पर के अनुभवों का मिलान कर ऐसी युक्ति निकालता है, जिसके प्रयोग से जीवन की जटिलताओं की उपस्थिति में भी एक ऐसे उल्लास और प्रेममय वातावरण की सृष्टि होती है कि पारस्परिक व्यवहार सरल और जीवनयापन सुगम हो जाता है। यही यथार्थ पौरत्व या सच्ची नागरिकता है।

हिन्दी में अभी पौरत्व पर कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं। हमें आश्चर्य है कि हमारे सुयोग्य लेखकों ने इस ओर अभी तक ध्यान क्यों नहीं दिया। यह विषय पहले यों ही महत्त्वपूर्ण है, फिर इस समय तो इसके अध्ययन की बड़ी ही आवश्यकता है। हमारे देश के अधिकांश मनुष्य अँगरेजी से परिचित नहीं, अतः वे उस भाषा में इस विषय की जो सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें हैं, उनसे पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकते। हिन्दी में कोई अच्छी पुस्तक नहीं, अतः ऐसे मनुष्यों के सामने वास्तव में एक बड़ी कठिनाई है। भारतवर्ष में सुधारों की योजनाएँ हो रही हैं। इनके मर्म को भलीभाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि शासन-सम्बन्धी पुस्तकों का अनुशीलन किया जाय। ऐसी यदि छोटी-छोटी पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हों, तो बड़े जन-समूह की अवश्य ही इच्छा-तुष्टि हो, जो इस विषय की पुस्तकें पढ़ने के लिए लालायित हैं।

हम आशा करते हैं, हिन्दी के सुलेखक हमारी इस विज्ञप्ति पर ध्यान देंगे, और पौरत्व के सिद्धान्त और व्यवहार पर सरल भाषा में पुस्तकें लिख हिन्दी-भाण्डार के इस अंग की पूर्ति करेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सरकार की नीति

दिल्ली की खबर है कि महात्मा गाँधी नहीं छोड़े जायँगे। बड़े लाट साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी ने सर पी. एस. शिवस्वामी ग्रय्यर को सन्देश के उत्तर में ऐसी उक्ति की है कि जैसा भारत-मन्त्री ने गत 29 एप्रिल को पार्लियामेंट की कामंस-सभा में कहा था कि जिन व्यक्तियों का सविनय ग्रवज्ञा-ग्रान्दोलन से सम्बन्ध है, उनके साथ सहयोग का कोई प्रश्न नहीं हो सकता। ग्रतः सर शिवस्वामी जिस उद्देश की सिद्धि चाहते हैं, वह तब तक नहीं हो सकता, जब तक गाँधीजी सविनय ग्रवज्ञा-ग्रान्दोलन से निश्चित रूप से ग्रलग न हो जायँ। इससे पहले भी व्यवस्थापिका सभा में बड़े लाट साहब कांग्रेस को बिलकुल दबा देने के लिए कह चुके हैं। कानून ग्रौर ग्रार्डिनेंस उनके साथ हैं।

विदेशी सरकार की यह शासन-नीति देखकर ही महाकवि रवीन्द्रनाथ ने कुछ दिन पहले कहा है, देश की जनता के मर्मस्थल में सहानुभूति के नाम से सुई की नोक-भर जमीन भी सरकार के लिए नहीं। इसका कारण ग्रौर कुछ नहीं, सिवा इसके कि सरकार यहाँ की जनता के हृदय के दर्द की कोई दवा नहीं कर रही। रोब द्वारा शासन करना ही ग्रब तक चला ग्रा रहा है। शक्ति-संयुक्त सरकार को न-जाने क्यों यह नहीं सूझता कि प्राणों तक पहुँच शक्ति के द्वारा नहीं होती, सहृदयता के द्वारा होती है। मानवीय ऐसे सिद्धान्त सरकार के ग्रधिकारी नहीं जानते, यह बात नहीं हो सकती। शायद विलायती राजनीति ही ऐसी है, जो प्रत्येक राज-कार्य में शतरंज की चाल की तरफ हर तरफ देख-भालकर चली जाती है।

हमारा जहाँ तक ग्रनुमान है, विलायत में भी गाँधीजी ने ग्रपने भावी कार्यक्रम का जगह-जगह ग्रपने भाषणों में उल्लेख किया था, कहा था कि कुछ भी हो, कांग्रेस का कार्यक्रम बन्द न होगा; जैसा चल रहा है, चलता रहेगा। विलायती माल का बराबर बहिष्कार जारी रहेगा। इस पर सरकार चौकन्नी हो गयी है। इसी के ग्राधार पर बाद को सरकार की तरफ से विशेष तत्परता इस ग्रान्दोलन को दबाने के लिए हुई। सरकार महात्मा गाँधी को खूब पहचानती है। पर गुत्थी ग्रब इतनी उलझ गयी है कि धमकियों ग्रौर शासन से एक ग्रच्छा परिणाम नहीं निकलने का। शायद ग्रभी सरकार को इस पर विश्वास नहीं हुग्रा। इसके ग्रनेक कारण हैं। सरकार कभी मस्तिष्क को बड़ा नहीं मानती। क्योंकि वह स्वयं मस्तिष्क है। देश में ग्रौर जो बड़े-बड़े मस्तिष्क हैं, वे जब तक सरकार के मातहत हैं, तब तक उसी के मस्तिष्क से सम्मिलित एक हैं। जो उससे ग्रलग हैं, उनकी वही कीमत है, जो एक साधारण किसान की। इस ग्रान्दोलन में सरकार स्पष्ट देखती है कि सविनय ग्रवज्ञा प्रदर्शित करनेवालों से सविनय पेश ग्रानेवालों की संख्या ग्रधिक है। हृदय से वे भले ही महात्मा गाँधी या कांग्रेस के साथ हों, ग्रपनी ग्रार्थिक या किसी दूसरी विवशता के कारण वे सरकार के साथ हैं। जब तक उनका साथ सरकार को प्राप्त है, तब तक मातहत ग्रधिक लोग ही मिलते हैं। ग्रतएव तब तक विरोध को दबाने की गुंजायश है। इसी ग्राधार पर कई बार यह ग्रावाज उठी है कि कांग्रेस कहकर एक ग्रलग संस्था भारत में हो सकती है, पर भारत की एकमात्र संस्था वह कदापि नहीं।

पर हम सरकार से ग्रनुरोध करते हैं, वह दूसरे पक्ष का मस्तिष्क-बल देखकर उसकी ताकत का ग्रन्दाजा लगावे। देश के बड़े-बड़े महापुरुष एक ही तरफ हैं। हर

जिले, हर प्रान्त पर अधिकार रखनेवालों से लेकर समस्त संसार को प्रभावित करनेवाले बड़े-बड़े प्रतिभावान पुरुष आज सरकार के साथ हृदय से सहयोग नहीं कर रहे। भारत की जनता जितने अंशों में मूर्ख है, उतने की अंशों में उनकी बातें नहीं समझ रही, और जितने अंशों में समझदार है, उतने से पूर्णतया उन्हीं के साथ है। यदि राजनीति के जाल को अधिक जटिल और छिद्रों को छोटे कर फाँसने की अधिक सुविधा की जायगी, तो मुमकिन है, देश की राजनीतिक मछलियों की जगह उसे पानी-ही-पानी देख पड़े, और जाल बुनने, डालने और खींचने का केवल परिश्रम हाथ रहे।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दुओं का जातीय संगठन

समय ऐसा आ गया है कि अब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अपेक्षा संगठित शक्ति का महत्त्व ज्यादा हो गया है। चिरकाल से हिन्दुओं की शक्ति बिखरी हुई थी। इसका कारण अनेकानेक समाजों का बढ़ना, परस्पर का विच्छेद है। मुसलमानों से पहले ही यह विच्छेद जारी हो चुका था, और इसी फूट के फलस्वरूप इस देश पर मुसलमानों की विजय हुई। मुसलमानों में एकता थी। दीर्घकाल तक उन लोगों ने यहाँ राज्य किया। इनके आने के बाद भी, संकोच के कारण, एक-दूसरे को धर्म बचाने के अभिप्राय से छोड़ते हुए हिन्दू कमजोर होते गये। अब इस कमजोरी की हद हो चुकी है।

म्लेच्छ-शासन में रहने का स्मृति में निषेध है। क्योंकि इससे जाति में संस्पर्श-दोष आ जाते हैं। आर्य-जाति अनार्य-संस्कारों में पड़कर अनार्य हो जाती है। हमारे यहाँ ऐसा ही हुआ। चिरकाल के म्लेच्छ-संसर्ग ने जाति को पूर्व-स्थान से च्युत कर दिया। रक्षा के लिए अनेक प्रकार के चेष्टाएँ होती रहने पर भी आचार-विचार, वेश-भूषा और भाषा तक में म्लेच्छों के चिह्न आ गये। पर उच्च वर्णवालों ने फिर भी अपनी धार्मिक अकड़ न छोड़ी। पराधीन जाति शूद्रत्व को प्राप्त करती है, यह विश्वास उन्हें न हुआ।

जो शूद्र या अछूत इस देश में सदियों से उच्च वर्णवालों की सेवा करते आ रहे हैं, वे केवल सेवा करते रहें, यही विचार अधिकांश उच्च वर्णवालों के मस्तिष्क में रहे। उन्हें भी उन्नत होकर ब्राह्मण और क्षत्रियों की तरह समाज में मान्य होना है, यह ऊँचे विचारकों के सिवा किसी के भी मस्तिष्क में न आया। इसलिए जातीय प्रगति एक प्रकार जातीयता के भीतर से रुकी रही। इधर आर्य-समाज का कार्य प्रशंसनीय है। अँगरेजी पढ़े-लिखे नवयुवकों तथा साहित्यिकों ने कुछ कार्य किया, पर वह नहीं के बराबर है। समाज पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

जो लोग प्रतिभाशाली थे, वे जानते थे कि भविष्य में जाति की बागडोर ब्राह्मण-क्षत्रियों के हाथ में नहीं रह सकती। क्योंकि यह जातीय समीकरण का युग है। अब सब जातियाँ सम्मान तथा मर्यादा में बराबर हैं। जो सदियों से सेवा

करती ग्रा रही हैं, उन्हीं जातियों में यथार्थ मनोबल है। जब तक उनका उत्थान न होगा, भारत का उत्थान नहीं हो सकता। देश के लिए सच्चे सेवा-भाव से ये ही जातियाँ काम कर सकती हैं।

सरकार को ग्रब के कौमी फैसले में मौका मिला। उसने ग्रछूतों का एक ग्रलग सम्प्रदाय कायम कर दिया। पर महात्मा गाँधी भारत के एक बड़े ही प्रभावशाली तथा प्रतिभायुक्त नेता हैं। उन्होंने इसका ग्रन्त सोचकर इस ग्रछूत ग्रौर उच्च वर्णवाली फूट को मिटा देने के उद्देश्य पर प्राण-त्याग कर देने की प्रतिज्ञा कर व्रत किया। ग्रन्त में तमाम देश के नेताग्रों ने सम्बद्ध हो ग्रछूतों को मिलाकर मेल का जो समझौता किया, वह सरकार की तरफ से मान्य हुग्रा। महात्माजी ने उपवास बन्द कर दिया।

पर यह कितनी लज्जा की बात है कि ग्राज ग्रपने ग्रंग से छूटते हुए देख, ग्रपने को भविष्य में कमजोर हो जाने की शंका कर हिन्दू लोग कुछ हद तक ग्रछूतों के लिए उदार हो रहे हैं। जो लोग पुश्त-दर-पुश्त उच्च वर्णवालों की सेवा करते रहे, वे कभी उनकी जबान से सामाजिक ग्रधिकारों की बराबरी नहीं प्राप्त कर सके, ग्रौर वे ही उच्च वर्णवाले देश की स्वतन्त्रता के लिए पता नहीं, क्या-क्या बकते फिरते हैं। वे दूसरी स्वतन्त्र जाति से बराबरी के ग्रधिकार लेना चाहते हैं, पर घर में उन्हीं के भाई पैरों पड़े हुए ऊँचे ग्रधिकारों के लिए रो रहे हैं। उस दिन तक चमार उच्च वर्णवालों के कुएँ में पानी नहीं भर सकता था। ग्रब भी ग्रधिकांश जगह नहीं भर सकता। मुसलमान ग्रौर ईसाई वहीं डाँटकर, हिन्दुग्रों को रोककर पहले ग्रपना पानी भर ले सकते हैं।

सरकार ने राजनीति की यह बड़ी टढ़ी मार दी है। यहीं—इसी ग्रछूत-समस्या के पास हिन्दुग्रों की तमाम प्राचीन कमजोरियाँ एकत्र हैं। यहाँ से सँभलकर उठने में हिन्दुग्रों को कुछ समय लगेगा। क्योंकि ग्रभी 90 प्रतिशत, बल्कि इससे ग्रधिक ग्रादमी ऐसे ही हैं, जो राजनीति ग्रौर स्वराज्य से ज्यादा इसी ग्रछूत तत्त्व की रक्षा को महत्त्व देते हैं। यह पृथक-निर्वाचन-समस्या जब से खड़ी हुई, तमाम राजनीति का रुख ही बदल गया। पर यह ग्रच्छा ही हुग्रा। ग्रब सुधार ठीक जड़ पर पहुँचा है। जहाँ देश की जीवनी शक्ति है, ग्रौर जो ग्रब तक प्रसुप्त है, ठीक वहीं एक एकाएक जगाने का प्रयत्न हुग्रा। ग्रधिकांश ग्रछूत इस राजनीतिक विषय को नहीं समझते। ग्रब बराबरीवाले मामले को विशेष रूप से समझने की चेष्टा करेंगे।

ग्रछूतों का यह ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ेगा, बराबरवाले ग्रधिकार भी त्यों-त्यों वृद्धि प्राप्त करेंगे। वे ग्रपनी ही शक्ति से हिन्दुग्रों से वे ग्रधिकार ले लेंगे। तब भारत की शक्ति का ठीक-ठीक विकास होगा। उच्च वर्णवालों का ह्रास ग्रब स्पष्ट देख पड़ता है। ग्रच्छे-ग्रच्छे ग्रादमी बहुत दिनों से उनके कानों में यह ग्रावाज उठा रहे हैं कि यदि बचे रहना चाहते हो, तो ग्रछूतों के प्रति घृणा के भाव छोड़कर उन्हें ग्रपनाग्रो, उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करो, उनके सामाजिक ग्रधिकारों को बढ़ाते रहो, जो काम तुम्हारे लिए घर में करने को बाकी पड़ा है, जिसके बिना तुम्हारी शक्ति ग्रधूरी रह जाती है, उसे पूरा करके सँभालो। पर कहाँ कौन ध्यान देता है। ज्यों ही ग्रधिकारों का विभाजन हुग्रा कि उच्च वर्णवालों के पैर उखड़ गये।

महात्माजी लोक-रुचि के बड़े जबरदस्त परीक्षक हैं। उन्होंने समाज को एक ही सीढ़ी चढ़ने की राय दी। उन्होंने कहा, खान-पान संसार में किसी के साथ किया

जा सकता है, रोटीवाला सवाल हल होना ही ठीक है। बेटीवाले पर अभी वह कोई राय नहीं देते। फिर कुछ काल बाद, रोटीवाला सवाल हल हो जाने पर, बेटीवाला भी आप से प्रचलित होकर हल हो जायगा। पर यहाँ हम क्या देखते हैं? देखते हैं, जिस समाज की प्रगति से मुक्ति या स्वातन्त्र्य मिलता है, हमारा वह समाज कितना पीछे है।

कहा जा चुका है, गुलामों की एक जाति होती है, चाहे अँगरेजी ढंग से कह लीजिए या हिन्दोस्तानी ढंग से। पर जब गुलामों के भीतर भी गुलाम जातियाँ निकलती रहती हैं, तब समझना चाहिए कि गुलामी के कितने पेच काटकर उससे निकलने की जरूरत है। हमारे समाज में बहुत-से कुल ब्राह्मणों में ऐसे हैं, जिनकी शादियाँ नहीं होतीं, वे नष्ट हो रहे हैं, अनेक नष्ट हो गये; बहुत-से ऐसे हैं, जिनको ज्यादा-से-ज्यादा दहेज देकर लड़की व्याहनी पड़ती है, और उनके पास अर्थ का नाम नहीं, देश में उदारता भी नहीं, बिना रुपया लिये ऊँचे कुलवाले विवाह नहीं करते, कन्या-पक्ष के लोग नीचे कुलों में शादी करना नहीं चाहते। रुपये और कुल कन्या का यौवन नहीं चाहता। फल यह होता है, वह बिगड़कर किसी के साथ भाग जाती है। यह अत्याचार प्रतिदिन बढ़ रहा है। पर इसका कोई भी इलाज नहीं हो रहा। क्षत्रिय और वैश्यों में भी यह बात देख पड़ती है।

हर जगह, हर प्रसंग में हिन्दुओं के सामने अड़चनें हैं, पर उनको पार करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं हो रहा। पुरानी लकीर छोड़ने को कोई भी तैयार नहीं। सब वर्णों में एकता हो जाने पर विवाहवाला आदान-प्रदान देश की बहुत बड़ी रक्षा कर सकता है। पहली बात जो सबसे अधिक आवश्यक है, वह है तमाम जातियों की एकता, वह हासिल हो जायगी, आपस का वैमनस्य मिट जायगा। विवाह के लिए विशेष चिन्ताजनक भी कोई बात नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान, स्थिति और मर्यादा के बराबरवालों में ही यह आदान-प्रदान होगा। उस तरफ बढ़कर मार्ग दिखानेवाले भी कुछ हुए हैं। पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। यह व्यापक रूप से होना चाहिए। जब तक समाज का पक्का संगठन न होगा, समाज कभी भी मजबूत न होगा। और जब तक ये सामाजिक कमजोरियाँ रहेंगी, तब तक विरोधियों को छिद्र निकालकर फायदा उठाने की बात सूझती रहेगी। यह देश के लिए कम लज्जा की बात नहीं कि तमाम राजनीतिक रुख एक ही वार से पलट गया, जैसे इसके लिए देश तैयार ही न रहा हो। ऐसी अनेक कमजोरियाँ अपने ही अन्दर मौजूद हैं, बहुत शीघ्र जिनको दूर कर संगठित होने की जरूरत है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## 'एकैकश भार'

भारतवर्ष की वार्षिक आय का अधिकांश सेना पर व्यय होता है। इस सेना के दो भाग हैं एक गोरा, दूसरा काला। गोरे भाग में केवल-मात्र अँगरेज ही सिपाही होते हैं; काले भाग में यह बात नहीं। इस भाग में भारतीय सिपाहियों के अतिरिक्त अन्य जातियों (अफ़ग़ानी, बलूची, नैपाली) के भी वीर सैनिक भरती किये

जाते हैं। गोरों की भरती ब्रिटिश-आइल्स (इंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड, वेल्स और आयरलैण्ड) से ही होती है। अन्य जातियों के सैनिक इस गोरा-पल्टन में पहले स्थान ही नहीं पाते, और यदि पा भी जाते हैं, तो बड़ी कठिनाई से। भरती के उपरान्त ये गोरे सीधे भारत के लिए नहीं भेजे जाते, इन्हें कुछ दिनों इंगलैण्ड में ही युद्ध-शिक्षा दी जाती है। जब ये भली-भाँति दीक्षित हो चुकते हैं, इन्हें भारतवर्ष भेज दिया जाता है। यहाँ पर कुछ वर्ष रहने के उपरान्त ये पुनः इंगलैण्ड वापस भेजे जाते हैं। भरती के उपरान्त प्रारम्भिक युद्ध-शिक्षा देने में ब्रिटिश सरकार का जो व्यय होता है, उसका भार भारत-सरकार को वहन करना पड़ता है। प्रति सैनिक जो व्यय होता है, उसी को एकैकश भार या 'कैपिटेशन् चार्जेज' कहते हैं।

सरसरी तौर पर विचार करने से यह एकैकश भार समुचित ही ज्ञात होता है, अतः जब साधारण जन-समाज समाचार-पत्रों में यह पढ़ता है कि भारत-सरकार और व्यवस्थापिका सभा, दोनों इस भार के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं, तो उसे आश्चर्य होता है, और उसका आश्चर्य यह जानकर और भी बढ़ जाता है कि विलायत में भी एक दल ऐसा है, जो इस एकैकश भार को अन्याययुक्त कहता है; परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से उसका पूर्वभाव वही नहीं रह जाता, उसमें बड़ा परिवर्तन हो जाता है।

सिपाही-विद्रोह के उपरान्त जब भारत का शासन महारानी विक्टोरिया के हाथों आया, तो ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सेना-भार भी अपने वार-ऑफिस (युद्ध-विभाग) को सौंप दिया। वार-ऑफिस ने भारतीय सेना को स्वतन्त्र रूप न दे अपनी ही सेना का एक अंग बना लिया है। अतः प्रश्न यह उठता है कि जब भारतीय सेना ब्रिटिश-सेना का एक अंगमात्र है, फिर गोरे रंगरूटों को विलायत में शिक्षा देने का व्यय वार-ऑफिस भारत-सरकार से क्यों वसूल करता है? सेना के इस एकैकश भार के विरुद्ध इसीलिए भारत-सरकार आन्दोलन कर रही है। सच तो यह है कि 50 वर्षों से यह इसी चेष्टा में है कि यह भार भारत के ऊपर न डाला जाय। हाल में, इस आन्दोलन के फलस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने एक न्यायालय की सृष्टि की है। इसमें इस एककश भार के औचित्य और अनौचित्य पर भली-भाँति विचार किया जायगा। इस अदालत का नाम है 'कैपिटेशन् ट्रायब्युनल'। इस न्यायालय के लिए तीन सुप्रसिद्ध विचारकों की नियुक्ति हुई है। इनमें से एक तो हैं आस्ट्रेलिया के भूतपूर्व सालिस्टर-जनरल, सर रॉबर्ट गेरन; और अन्य दो भारतीय। भारतीय सज्जन हैं लाहौर-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर शादीलाल और इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर शाह मुहम्मद सुलेमान। हमें पूरा विश्वास है कि इन सज्जनों द्वारा की हुई जाँच के प्रकाशित हो जाने पर ब्रिटिश सरकार भारत के सिर से इस एकैकश भार को उठा लेगी। भारत-सरकार के अतिरिक्त इस भार के विरोध में सबसे पहले आवाजा उठानेवाले थे भारत के सुप्रसिद्ध पारसी नर-रत्न श्रीयुत दादाभाई नौरोजी। उनके उपरान्त सर डिनशा वाचा ने भी कई वर्षों तक इस विषय की चर्चा चालित रक्खी। आधुनिकों में श्रीहृदयनाथ कुंजरू, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, श्री बी. दास आदि ने इस भार के हटाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया है। आशा है, अनतिदूर भविष्य में यह भार उठा दिया जायगा, और भारत-सरकार को इस प्रकार जिस धन की उपलब्धि होगी, उसका ऐसा समुचित सद्व्यय होगा कि जनता को सब प्रकार सन्तोष मिलेगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

काल के कई परिमाण, कई माप हैं। एक परिमाण है 'युग'। समय के किसी प्रसार, काल की किसी अवधि को युग-संज्ञा यों ही नहीं दी जाती। युग-शब्द के उच्चारण से केवल-मात्र पल, घड़ी या प्रहरों का ही परिज्ञान नहीं होता, वरंच किसी अन्य भी वस्तु की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। युग की गणना किसी आधार के अनुसार होती है। आलम्ब रूप से गृहीत वस्तु, पहले तो, सार्वभौमिक या सार्वलौकिक होती है, यदि ऐसी विशेषता न भी लिये हो, कम-से-कम सभ्य-समाज में उपस्थित या व्याप्त अवश्य रहती है। या यों कहिए कि प्रत्येक युग में किसी-न-किसी गुण या कार्य का पर्याप्त प्राधान्य रहता है। आधुनिक काल विज्ञान-युग कहा जाता है। यह इसी हेतु कि इस समय विज्ञान का प्रभाव सार्वदेशिक है, इसकी विमल ध्वजा चारों ओर फहरा रही है।

विज्ञान की विजय साधारण नहीं, असाधारण है; आंगिक या देशिक नहीं, पूर्ण और अलौकिक है। वही विजय पूर्ण है, जो किसी जनपद-विशेष पर ही अधिकार न दिलावे, वरंच उस विजित प्रदेश की संस्कृति, वहाँ के जीवन पर भी पूरा-पूरा प्रभाव डाल सके। आज दिन विज्ञान हमारे देश में ही नहीं, हमारे गृहों में ही नहीं, हमारे जीवन में भी धीरे-धीरे प्रविष्ट हो गया है। आश्चर्य यह है कि हम इस विजय को विजय-सी नहीं समझते। विज्ञान की विजय का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। दियासलाई जलाते वक्त, सिगरेट का धुआँ उड़ाते समय, सान्ध्य वेला में बिजली का बटन दबाने पर भला कितनों को यह ध्यान आता है कि उपर्युक्त वस्तुओं की आड़ में विज्ञान छिपा हँस रहा है? कितने यह समझते हैं कि उनके बहुत-से कार्य सम्पूर्णतया विज्ञान के ही आश्रित हैं? विज्ञान का रूप प्रच्छन्न भी है, और प्रकट भी, इसी कारण हमें विज्ञान के गुणों की पूरी अनुभूति नहीं होती। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, हमारे ऊपर विज्ञान का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा है कि यदि कल, किसी प्रलयंकारी आकस्मिक घटना, किसी विनाशकारिणी आपत्ति किंवा किसी अविज्ञात दैवी प्रकोप के कारण, धरा से विज्ञान और तदुद्भूत विभूतियाँ मिट जायँ, बहुत सम्भव है, आज के नागरिक कल के उस विज्ञान-विहीन संसार को पहचान ही न सकें, और उसे एक विलक्षण लोक देख उसे भूमण्डल के स्थान में किसी अन्य लोक की संज्ञा दें।

यद्यपि मानव-जीवन का विज्ञान के साथ ऐसा परिपक्व एवं गम्भीरतम सम्बन्ध है, तथापि बहुत-से मनुष्य अपने को विज्ञान का इतना वशीभूत नहीं समझते। साधारण स्त्री-पुरुष यह सुन हँसते हैं कि अनतिदूर भविष्य में मनुष्य और विज्ञान का यह परस्पर सम्बन्ध और भी घनिष्ठ एवं गहन हो जायगा। इस बात पर सर्वसाधारण को विश्वास ही नहीं आता कि आगे चल हमारे 55 प्रतिशत कार्यों में विज्ञान और तज्जन्य प्रतिक्रियाओं की गहरी छाप होगी। यदि वैज्ञानिक उन्नति की यही गति रही, जैसी आजकल है, तो कई विद्वानों का अनुमान है कि विज्ञान को संजीवनी-विद्या का भी पता मिल जायगा। अभी तक विज्ञान ने मृत्यु के साधनों की ही अधिक खोज की है, पर अब वह जीवन की समस्या की ओर भी अग्रसर हुआ है। अभी तक काल के कराल शस्त्रों की ही व्याख्या और विश्लेषण हुआ है, अब जीवन के रहस्य, प्राणों की प्रच्छन्न प्रक्रिया के समझने की भरपूर चेष्टा की जा रही है। जिस दिन विज्ञान जीवन-शक्ति,

प्राण-शक्ति पर विजय पावेगा, उसी दिन से संसार के स्वरूप में एक महान परिवर्तन हो जायगा, और उसी शुभ-दिन से यहाँ के निवासी भी, स्वर्ग के सुविख्यात देवतों के सदृश अपने को अमर कहने का दावा कर सकेंगे। भविष्य का चित्र बड़ा ही नयनाभिराम ज्ञात होता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि सर्वसाधारण जन वैज्ञानिक चमत्कारों से पूर्णतया परिचित नहीं। और देशों की हम नहीं कहते, हमारे भारतवर्ष में इस समय यही दशा है। यहाँ का अधिकांश जन-समुदाय विज्ञान से परिचित रहना अलग रहा, 'भाखा', गिनती', साधारण लिखने-पढ़ने और जोड़ने-घटाने से भी अपरिचित है। यही कारण है कि यहाँ के बहुतेरे मनुष्य वैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा कर उन्हें एक हँसी का विषय, एक मजाक का मसाला समझते हैं! कितना विषम व्यंग्य है! विज्ञान और मनुष्य का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध और उसके विषय में हमारे सर्व-साधारण की ऐसी दशा! उसके प्रति हमारी जनता के ऐसे विचार!! ऐसी परिस्थिति में क्या यह हमारा कर्त्तव्य नहीं कि हम जनता को विज्ञान की महत्ता और उसकी विभूतियों के वैभव का परिचय करावें? क्या विज्ञान-से लोकोपकारी विषय को सर्वप्रिय बनाना आवश्यक नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अन्य देशों की अपेक्षा, विशेषत: पाश्चात्य देशों के मुकाबले, भारत में विज्ञान-विषयक अन्धकार अधिक है, और इसके हटाने में समय लगेगा। हम यह भी मानते हैं कि शताब्दियों के रूढ़िगत भाव तथा सहस्रों वर्षों की प्रवृत्तियाँ अचानक ही नहीं बदल जातीं। हम समझते हैं, पुराने विचारों से जकड़ा हुआ समाज सहसा न प्राचीन भावों का तिरस्कार ही कर सकता है, न नये क्रान्तिकारी भावों की झटिति स्वीकृति। हमारा यह मन्तव्य है कि सर्वसाधारण के वैज्ञानिक विषय-सम्बन्धी अज्ञान को हटाना प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है।

किसी भी वस्तु का परिचय कराने के लिए समुचित उपकरणों का होना आवश्यक है। अत: यह मान लेने पर कि विज्ञान की शिक्षा सर्वसाधारण के लिए हितकर है, यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि वे साधन कौन हैं, जिनकी सहायता से समाज के अधिक-से-अधिक अंश का भली-भाँति शिक्षण हो सकता है? सार्वजनिक शिक्षण के अर्थ जिन उपकरणों का आलम्ब लिया जाता है, वे हैं स्कूल, व्याख्यान, वादानुवाद आदि; परन्तु इनसे लक्ष्य की पूरी प्राप्ति नहीं होती। हमें यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि सार्वजनिकशिक्षा के माध्यमों में जितना ही कठोरता का सम्मिश्रण कम होगा, उतनी ही सफलता अधिक होगी। स्कूल में नियम, अनुशासन, परीक्षा आदि अनेक प्रतिबन्ध हैं, धन का भी पर्याप्त व्यय है, ऊपर से गुरुजी के डण्डे और डाँट-डपटों का पूरा डर रहता है। स्कूल में भरती होने पर मनुष्य अपने स्वातन्त्र्य में एक बड़ी बाधा का अनुभव करता है, अत: वह स्कूल जाने से ही झिझकता है, शिक्षा से लाभ उठाना तो अलग रहा। सार्वजनिक शिक्षा के दूसरे माध्यम व्याख्यान द्वारा ज्ञान की प्राप्ति तो होती है, परन्तु पूर्ण रूप से नहीं। वक्ता के भाषण में व्यक्तित्व की छाप के अधिक दीर्घ होने से यथार्थ का रूप बहुत कुछ अस्पष्ट रह जाता है। दूसरे, व्याख्यान की सभी बातें न सुनने में आती हैं, न सभी याद रह सकती हैं। अत: हमारी शिक्षा अधूरी रह जाती है, और अधूरे ज्ञान से लाभ के बदले अधिक हानि की ही सम्भावना रहती है। इसी प्रकार वादानुवाद भी एक ऐसा साधन है, जिसकी सहायता से शुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति उतनी नहीं होती, जितनी अभीप्सित है। असंस्कृत होने से कभी-कभी मन का झुकाव दल-विशेष की ओर हो जाता है, और वह अपने दल की

बातों को विवेक की कसौटी में न जाँच ब्रह्मवाक्य समझ उन पर अंध-विश्वास कर बैठता है। उपर्युक्त साधनों में एक तो समय की मर्यादा है, अर्थात एक नियत ही समय पर इनसे लाभ उठाया जा सकता है। दूसरे, धन का प्रचुर व्यय होता है। इनके अतिरिक्त ये साधन ऐसे हैं, जिनसे समाज में वैज्ञानिक जागृति होती तो है, परन्तु बहुत ही मन्थर गति से। मनुष्य की शिक्षा उन्हीं उपकरणों द्वारा अधिक सम्भव है, जिनका आश्रय ले मनुष्य को किसी अन्य का मुख नहीं ताकना पड़ता, जिनके आलम्ब से वह अपने सुबीते में अध्ययन कर सकता है, जिनकी उपस्थिति में उसे किसी बाह्य आधार की अधिक आवश्यकता नहीं होती। ऐसे माध्यमों में सबसे मुख्य हैं, समाचारपत्र।

यह निर्विवाद है कि समाचारपत्र शिक्षा के सबसे सुगम और सरल साधन हैं। इनका आश्रय लेने में न व्यय का आधिक्य है, न विवाद की आशंका। इनके द्वारा ज्ञान की उपलब्धि में न कटुता होती है, न कठोरता; न नियन्त्रण होता है, न स्वातन्त्र्य-हानि; न डण्डे का डर रहता है, न डाँट-डपटों का त्रास। ये सभी गुण पुस्तकों में भी उपस्थित रहते हैं, परन्तु समाचारपत्रों में पुस्तकों से एक अधिक विशेषता है। पुस्तक-प्राप्त ज्ञान पुराना भी पड़ सकता है, परन्तु समाचार-पत्रों द्वारा उपलब्ध विद्या में यह अड़चन नहीं। विज्ञान एक ऐसा विषय है, जिसमें उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है, अतः पुस्तकें इस ज्ञान-वृद्धि की निरन्तर सूचनाएँ नहीं दे पातीं। इस प्यास, विज्ञान-सम्बन्धी इस प्यास को पत्र ही मिटा सकते हैं। पत्रों के मोल लेने, ग्राहक हो जाने से मनुष्यों को एक और भी लाभ होता है, जो पुस्तकों द्वारा सम्भव नहीं। उन्हें एक ही स्थल पर कई विवरणों का पता मिलता है। एक ही पत्र में कई विषयों का समावेश होने से उन्हें, विभिन्न विषयों के परिज्ञान के हेतु, इधर-उधर नहीं भटकना पड़ता, न विविध विषय-सम्बन्धी उतनी पुस्तकें ही खरीदनी पड़ती हैं। यह नहीं, उन्हें विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सामायिक विषयों पर भी सम्पादक तथा अन्य विशेषज्ञों की टिप्पणियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका मनन करने से उन्हें सहज ही वस्तु-विशेष का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है।

पत्र और पाठक का परस्पर बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों, एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं। एक ज्ञान देता है, दूसरा धन। एक समझाता है, दूसरा समझता है। एक अभ्युदय का आकांक्षी है, दूसरा उस आकांक्षा की पूर्ति का साधन। अतः सभी उन्नतिशील देशों के पत्र सदा यही आकांक्षा रखते हैं कि उनके पाठकों में ज्ञान की जागृति हो। इस जागृति के लिए वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं, और यथासम्भव अपने पत्रों में ऐसे विषयों को स्थान देते हैं, जिनका पाठ ग्राहकों के लिए हितकर हो, और जिसके द्वारा वे संसार की प्रगति का पूरा परिचय पा सकें।

थोड़े-से व्यय द्वारा सर्वसाधारण को वैज्ञानिक जगत और वैज्ञानिक विभूतियों के परिचय कराने में समाचारपत्रों का बड़ा हाथ रहा है, और रहेगा। पत्रों को सार्वजनिक शिक्षा के सहज माध्यम मानने से जहाँ उनकी महत्ता बढ़ती है, वहाँ उनका दायित्व भी अधिक गम्भीर हो जाता है। वैज्ञानिक विषयों पर लिखना यों ही कठिन है, फिर उस विषय को सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाना वैज्ञानिक लेखक की कठिनाई को और भी बढ़ाता है। हम कठिनाइयाँ स्वीकार करते हैं, परन्तु हमारा यह कहना है कि कठिनाइयों के डर से सर्वसाधारण को वैज्ञानिक विषय और वैज्ञानिक विभूतियों से अपरिचित रखना हमारे कार्पण्य का सूचक

ग्रौर हमारे विवेक एवं बुद्धि का लांछन ही नहीं, गहरा कलंक है।

विज्ञान मनुष्य की ही नहीं, वरंच उस वातावरण की भी पूरी-पूरी खोज करता है, जो उसके चतुर्दिक है। वह पंचतत्त्वों का रासायनिक विश्लेषण ही नहीं करता, वरंच यह भी जानने का प्रयत्न करता है कि किस तत्त्व द्वारा मनुष्य के ग्रभ्युदय की कितनी ग्रभिवृद्धि हो सकती है, या हो सकेगी। इस प्रकार ग्रन्तर ग्रौर बाह्य का ग्रन्वेषण करते-करते विज्ञान प्रकृति के विचार से कभी ऊँचा उठ जाता है, ग्रौर उस ग्रविज्ञात सूत्रधार, उस ग्रपरिचित नियामक के परिज्ञान की ग्रोर भी ग्रग्रसर होता है, जिसकी प्रकृति एक शृंगारशीला नटी, एक ग्रकृत्रिम प्रतिच्छाया-मात्र है। जिस प्रकार श्रवण, मनन ग्रौर ग्रभ्यास ग्राध्यात्मिक उन्नति की तीन प्रधान परिधियाँ, तीन ग्राख्यात ग्राधार हैं, उसी प्रकार पठन, प्रयोग ग्रौर पाठन विज्ञान के तीन प्रमुख साधन, तीन प्रसिद्ध सीढ़ियाँ हैं। इन्हीं के द्वारा विज्ञान की उन्नति होती है। लेखन पाठन का ही एक विशिष्ट ग्रंग है। लेखक लेखन द्वारा ग्रपने ग्रनुभव या ग्रपने विचार सर्वसाधारण तक पहुँचाने या व्यक्त करने का प्रयास करता है। संक्षेप में लेख का यही लक्ष्य है।

सर्वसाधारण तक विचारों को पहुँचाने के लिए यह ग्रावश्यक है कि सर्व-साधारण की भाषा का ही यथासम्भव प्रयोग किया जाय। वैज्ञानिक पत्रकार या लेखकों के लिए यह ग्रौर भी ग्रावश्यक है कि वे बोलचाल में व्यवहृत होनेवाली भाषा का ही ग्रधिक प्रयोग करें, तभी उनके लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसके विपरीत व्यवहार में पाठक लेखक की उपेक्षा करते हैं। क्लिष्ट भाषा के प्रयोग से जर्जरित हो, शब्दों का कष्ट-साध्य ग्रर्थ ढूँढते-ढूँढते, व्याकरण के व्युत्पत्ति-जाल में फँस जाने पर मनुष्य उकता जाते हैं, श्रमित हो उठते हैं, ग्रौर लेखक का ग्राशय न समझने से खिन्न हो पत्र को ग्रलग रख देते या दूसरा प्रकरण पढ़ने लगते हैं। ग्रत: यह कहना ग्रत्युक्ति नहीं कि वैज्ञानिक विषयों के लिए भाषा का सरल होना प्राथमिक ग्रावश्यकता है।

शब्दों के सरल होने का यह ग्रर्थ नहीं कि वे लालित्य या रोचकता से शून्य रक्खे जायँ। वास्तव में शब्दों में रोचकता का पुट होना दाल में मसाले के समान है। बिना मसाले की दाल कोई खा भले ही ले, किन्तु उसमें न स्वाद रहता है, न वह भली-भाँति पच ही सकती है। स्वाद ग्रौर पाचन के लिए नमक ग्रौर मसाले ग्रावश्यक हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक विषय भी कोरे, शुष्क एवं नीरस शब्दों द्वारा ग्राह्य नहीं बनाये जा सकते। ऐसी रूखी भाषा के प्रयोग से न तो विषय का प्रवेश ही भली-भाँति हो सकता है, न उसके पढ़ने में ग्रानन्द ही ग्राता है। वैज्ञानिक पत्र-कारों के लिए यह ग्रत्यन्त ही हितकर है कि वे ग्रपने वाक्यों को ऐसा रूप दें, जिससे जनता उनके लेखों की ग्रोर ग्राकृष्ट हो, ग्रौर उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक ही नहीं, प्रत्युत व्यग्र हो उठे। व्यग्रता ग्रौर ग्रौत्सुक्य ही विज्ञान के परिपोषक ग्रौर ग्रन्वेषण-वृत्ति के उत्पादक एवं सहायक हैं। सर्वसाधारण के हित जो लेख लिखे जाते हैं, उनमें ग्रौत्सुक्यपूर्ण वार्ता की पर्याप्त मात्रा के होने से जनता उन्हें पूरा पढ़ डालती है। सच तो यह है, वैज्ञानिक लेखों में ही क्या, किसी भी विषय के लेखों में ग्रौत्सुक्य की मात्रा का होना, 'ग्रागे क्या लिखा होगा' की जिज्ञासा को जाग्रत करनेवाली शक्ति का रहना ही पाठक को पूरा-पूरा लेख पढ़ने के लिए बाध्य-सा करता है।

विषय को रोचक बनाने के लिए मुख्यत: दो साधन हैं। एक है चित्रों का बाहुल्य, ग्रौर दूसरा है शब्दों का समुचित विन्यास। चित्रों के होने से लेख की ग्राह्य शक्ति बहुत बढ़ सकती है। विभिन्न प्रसंगों के नाना चित्रों को देख तद्विषयक

लेख पढ़ने की स्वतः इच्छा होती है। चित्र सादे और सवर्ण (रंगीन), दोनों ही प्रकार के व्यवहृत किये जा सकते हैं। जन्तु-जगत का वर्णन करने में, शारीरिक शास्त्र-सम्बन्धी लेखों में तथा उद्भिज्ज प्राणियों की कथा कहने में रंगीन चित्र बड़ी सहायता करते हैं। इनके रहने से लेख की उपादेयता बढ़ जाती है। चित्र अपनी कथा आप ही व्यंजित करते हैं, और वैज्ञानिक लेखक के शब्द इन पर समुचित टिप्पणी के सदृश हो जाते हैं।

भाषा को रोचक बनाने के लिए चतुर लेखक अधिकतर उदाहरण, दृष्टान्त या उपमाओं का आश्रय लेते हैं। इनके प्रयोग से लाभ भी बड़ा होता है। सरल उदाहरणों से बड़ी-बड़ी कठिन बातों का भी अनायास ही ज्ञान हो जाता है। अतः यह वांछनीय है कि वैज्ञानिक पत्रकार उदाहरणों को युक्तिसंगत और उपमाओं को समुचित बनाने का ध्यान रक्खें। एक भी अनुपयुक्त उपमा अर्थ का अनर्थ कर सकती है। बहुतों की यह सम्मति है कि जब तक वैज्ञानिक विषयों का पर्याप्त ज्ञान और लिखने का पर्याप्त कौशल न हो, तब तक कलम उठाना आमों को कच्चा ही तोड़ना है। कई मनुष्य यह भी कहते हैं कि विज्ञान सर्वसाधारण के लिए नहीं है। यह विशेषज्ञों का धन है। हमें यह मत प्रिय नहीं। विज्ञान विशेषज्ञों का धन भले ही हो, परन्तु उसकी विभूतियाँ सर्वसाधारण की सम्पत्ति हैं, और उसकी वार्ता या उसका विवरण ऐसा नहीं कि सर्वसाधारण न समझ सके। जो यह मानते हैं कि वैज्ञानिक विषयों पर सर्वसाधारण के लिए लिखना समय का अपव्यय और शक्ति का व्यर्थ क्षय है, वे जनता के साथ घोर अन्याय, सर्वसाधारण की बौद्धिक शक्ति की अनुचित निन्दा एवं वैज्ञानिक पत्रकार या लेखक के प्रशंसनीय कार्य की अकारण ही अवहेलना करते हैं।

कई पुरुषों का विचार है कि विज्ञान-सम्बन्धी लेखों में बिना टेक्निकल या शैल्पिक शब्दों का व्यवहार किये काम ही नहीं चल सकता। इनकी समझ से हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर लिखना मूर्खता है, क्योंकि यहाँ शैल्पिक शब्दों के लिए समुचित पर्याय ही उपलब्ध नहीं। हमें ये विचार ठीक नहीं जँचते। हम यह समझते हैं कि यदि कोई अपने विषय का पण्डित और अपनी भाषा के प्रयोग में कुशल है, तो उसके लिए विषय का परिचय कराने के हेतु, प्रारम्भिक सार्वजनिक शिक्षा देने के अर्थ यह आवश्यक नहीं कि शैल्पिक शब्दों का प्रयोग किया ही जाय। आज दिन पाश्चात्य भाषाओं में ऐसी सैकड़ों पुस्तकें हैं, जिनमें विज्ञान-सम्बन्धी शैल्पिक शब्दों का प्रयोग है ही नहीं। इस प्रकार की अशैल्पिक, नान-टेक्निकल, भाषा में क्या हिन्दी में भी पुस्तकें नहीं लिखी जा सकतीं? सर्वसाधारण के लिए अशैल्पिक भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि शैल्पिक शब्दों का समझाना कहीं नितान्त ही आवश्यक हो जाय, तो क्या पर्याय के अभाव में उसी शब्द को अविकृत रख देने से या उसका विवरण और वर्णन देने पर कार्य की सिद्धि या अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती? और, यदि कुछ देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि पर्याय के बिना काम चल ही नहीं सकता, क्या उस अर्थ से किसी नये शब्द की सृष्टि नहीं की जा सकती? आविष्कारों के साथ-ही-साथ नये-नये शब्दों की भी सृष्टि होती है। सभी भाषाओं में ऐसा ही होता है। फिर क्या हिन्दी ही इस सनातन नियम का अपवाद है? क्या यही एक ऐसी विलक्षण भाषा है, जिसमें न नये शैल्पिक शब्द बनाये जा सकते हैं, न सर्वसाधारण को वैज्ञानिक विषय समझाये जा सकते हैं?

हम मानते हैं, वैज्ञानिक पत्र-कला सरल नहीं, वैज्ञानिक लेखक के मार्ग में बड़ी

कठिनाइयाँ हैं, परन्तु हमारा यह विश्वास है कि कठिनाइयाँ भी सरल हो सकती हैं, प्रतिबन्धों पर भी विजय हुआ करती है। विज्ञान का यही सबसे बड़ा उपदेश है। लगन सफलता की कुंजी है; लगन के होने से ही प्रकृति के भाण्डार से मनुष्य ने नवीन रत्न ढूँढ़ निकाले हैं। शैल्पिक शब्दों का अभाव, उपमाओं, उदाहरणों के ढूँढ़ने की कठिनता, उपयुक्तता का प्रतिबन्ध, सरलता और रोचकता की नितान्त आवश्यकता, चित्रों की उपलब्धि, विषय का पर्याप्त ज्ञान एवं लेख-कौशल आदि सभी बातें वैज्ञानिक पत्र-कला के काठिन्य का प्रदर्शन करती हैं, परन्तु जिस लेखक में लगन है, जिसमें अपने समाज के अभ्युदय की आकांक्षा है, जो विज्ञान का सन्देश घर-घर पहुँचाना चाहता है, जो विशेषज्ञों के धन को सर्वसाधारण में समान रूप से वितरित करने का अभिलाषी है, जो प्रतिबन्धों से घबराता नहीं, प्रत्युत मुक्ति का प्रयत्न करता है, जो वैज्ञानिकों के अनुभव को अपना बनाकर अपने अनुभव को सरलतापूर्वक औरों तक पहुँचाता है, जो भाषा के भाण्डार में नये शब्दों के लिए स्थान बनाता है, जो विज्ञान और समाज, विज्ञान और व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करता है, वह पत्रकार, वह लेखक कठिनाइयों पर विजय पाता है, और पत्रों द्वारा सर्वसाधारण को ऐसी शिक्षा देने में समर्थ होता है कि समाज में अनायास ही बड़ी ज्ञान-वृद्धि होती है। सचमुच ऐसा लेखक अपनी भाषा का ही हितैषी नहीं, अपने देश का ही अभ्युदय-प्रेमी नहीं, सारे संसार का कल्याणाकांक्षी है।

हमें आशा है, हिन्दी के उदीयमान वैज्ञानिक लेखक हमारे इन विचारों पर ध्यान देंगे, और विज्ञान के विभिन्न विषयों पर ऐसे लेख प्रस्तुत करेंगे, जिनसे सर्वसाधारण का मनोरंजन ही नहीं, उपकार भी होगा। अन्तरिक्ष-विद्या (मीटियरोलॉजी), धातु-विद्या (मिनरालॉजी), भूगर्भ-विद्या (जीयालॉजी), वनस्पति-विद्या (बोटेनी), जीव-विद्या (बायलॉजी) आदि पर पाश्चात्य देशों की भाषाओं में बड़े ही रोचक लेख उपलब्ध हैं। इन लेखों की शैली सरल और अशैल्पिक है, पर इनके पढ़ने में बड़ा ही आनन्द आता है। क्या हम आशा करें कि भविष्य में हमारे लेखक भी ऐसी ही प्रांजल और प्रमोददायिनी भाषा का प्रयोग कर हिन्दी के कलेवर को सुन्दर और सालंकार करने का प्रयास करेंगे?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1932 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हमारे हिन्दू और मुसलमान

यदि मुख्य आन्दोलन इस समय हमारे देश में कोई है, तो वह अछूत-समस्या और मेल-मिलाप की कोशिश है। महात्माजी एक महान राजनीतिक उद्देश्य के भीतर उठनेवाले छोटे-छोटे विघ्नों की कल्पना पहले कर चुके थे, इसलिए सूत्र रूप से उन्होंने कह दिया था कि अन्यान्य आवश्यक कार्यों तथा विचारों के होते रहने पर भी इस समय का मुख्य उद्देश इसी रूप में रहेगा। अन्त तक बात ऐसी ही हुई। राजनीतिक प्रगति को एक ऐसी ठोकर लगी कि साधारण समझवाले समझे

कि अब राजनीति की धारा पलट गयी।

हमें यहाँ इसके कारण पर विचार करना है। देखना यह है कि मुख्य कौन-सा कारण है, जो हिन्दू और मुसलमान नाम की देश की दो बड़ी जातियों में मैत्री का बाधक सिद्ध हो रहा है। दूसरे भीतरी कारण हम यहाँ छोड़ देते हैं। हम देखते हैं, प्राचीनकाल की तरह हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति वैमनस्य, विजातीय घृणावाले भाव कम नहीं। दोनों के आचरण ऐसे हैं, जो एक-दूसरे के बिलकुल प्रतिकूल हैं। यदि प्राचीनकाल की तरह इन्हीं आचरणों की बुनियाद पर हमारे हिन्दू स्थित रहे, तो हम दावे के साथ कहेंगे दोनों जातियों में प्राणों की मैत्री कभी नहीं हो सकती। सिर्फ कागजी मैत्री कुछ दिनों के लिए, जब तक दूसरी चोट दोनों के दिलों को नहीं लगती, भले हो जाय, पर इससे देश विरोध से खाली न होगा। दोनों के मन और कर्मों के संयोग के बगैर संयुक्त भावना केवल एक भावना है। कोई भी विचारक ऐसे संयुक्त भाव को महत्त्व न देगा।

मुसलमानों को उपदेश देने से पहले हमें अपने ही यहाँ तलाश करके देखना चाहिए कि हमने मुसलमानों के साथ सहयोग करने की कितनी तैयारी की। अवश्य इस प्रश्न के उत्तर में हमें बड़ी निराशा होगी। महात्माजी दूर तक देखते हैं। संयुक्त निर्वाचन में देश की केवल राजनीतिक भलाई ही नहीं, धार्मिक और सामाजिक हित भी है। समय को देखकर महात्माजी उच्चतम सामाजिक उद्गार भले ही न करें, पर वह इसका तत्त्व अच्छी तरह जानते हैं। देश में कितनी मुसलमानों की विदुषी कुमारियाँ हिन्दुओं के घर आयीं, और कितनी हिन्दुओं की मुसलमानों के घर गयीं, यह सामाजिक प्रश्न हल होने को अभी पड़ा ही है, जैसे किसी हित की प्रेरणा से नहीं, केवल प्रेम के फन्दे में पड़कर उन लोगों ने विवाह किया, और अपने-अपने कुल को कलंक लगाया हो।

जब तक इस तरह के विचारों पर समाज की सामूहिक दृष्टि आकर्षित न होगी, तब तक देश का कल्याण कदापि न होगा। हम इसीलिए हिन्दुओं को अपना वह स्वरूप इख्तियार करने के लिए लिखते हैं, जो वे भूल रहे हैं, और जो सबसे उत्तम, संसार को अपनी विशालता में मिलानेवाला वेदान्तवेद्य रूप है। हिन्दुओं की संकीर्णता के कारण ही मुसलमान, इस देश में, संकीर्ण हो रहे हैं। यदि फारस में वे बढ़े-चढ़े विचारों के हैं, रूस में उनके धर्म का चोला बदल गया है, टर्की में उनका कुछ और ही रूप हो रहा है, तो कोई कारण नहीं कि यहाँ के मुसलमान भी हिन्दुओं के बढ़ते हुए विचारों और समाज-सुधारों को देखकर अपना सुधार न करें।

पर कहने ही से संस्कारों के बंधनों से जकड़ा हुआ हिन्दू-समाज बढ़ नहीं सकता। यदि हमारे सहयोगी सम्पादकगण स्वयं तैयार होकर ज्ञान के आश्रय से रूढ़ियों को दूर करने में कटिबद्ध हों, और इस विषय की शिक्षा के लिए प्रयत्न किया जाय, तो सम्भव है, कुछ दिनों बाद इन भावनाओं का विस्तार समाज में होने लगे। अभी विस्तार के नाम से जो खिलाफ कार्रवाइयाँ समाज में प्रचलित हुई हैं, वे खुल्लमखुल्ला नहीं होतीं, क्योंकि भीतर से लोग उन्हें अधर्म ही समझते हैं। जैसे बाजारों में, होटलों में खाना, यह कोई पाप नहीं—कार्यवश देहात के ब्राह्मण शहर में आकर होटलों में भोजन करते हैं, पर इसे वे अधर्म और अपनी कमजोरी समझते हैं; इसलिए इसका समर्थन समाज में नहीं कर सकते। वे यह नहीं सोचते कि जो आदमी बुद्धि के संचालन से उपार्जन करता है, वह आग के पास नहीं रह सकता; इससे बुद्धि का ह्रास होता है; फिर जो मनुष्य घण्टे में 10) रुपये का काम करता

है, वह दो घण्टे भोजन पकाने में लगाकर क्यों अपना नुकसान करे ?

प्राचीन विचारों के हिन्दू हर बात में इसी तरह पराधीन हैं। स्वतन्त्रता पहले मस्तिष्क में पैदा होती है। जब मस्तिष्क की ऐसी दशा हो, तब बड़ी-बड़ी सफलताएँ उससे कैसे प्राप्त की जा सकती हैं ? अस्तु, देश की भलाई और जाति के कल्याण के लिए यह जरूरी है कि वैदान्तिक विचार हिन्दुओं के मस्तिष्क में प्रविष्ट कर दिये जायँ, जो अपने निःसंस्कार प्रकाश की तरह हिन्दुओं को केवल ज्ञान का उपासक कर दें, और वे सब जातियों से मिलने में, सबको मिलाने में संकोच न करें।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## वैज्ञानिक और धर्म

पुरुष और प्रकृति, दोनों पड़ोसी हैं, उनका परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। प्रकृति रहस्यमयी है, चंचला है, लावण्यपूर्णा है, अवगुण्ठनवती है, अतः पुरुष इसे देखने के लिए सदा लालायित रहता है। पुरुष प्रकृति को समझना चाहता है, उसके रहस्य से परिचित होने के लिए प्रयत्न करता है। प्रकृति कभी-कभी उसकी ओर कनखियों से देख, किंचित मुस्कराकर फिर अपने अवगुण्ठन में मुँह छिपा लेती है। पुरुष प्रकृति के घूँघट को हटा देना चाहता है, परन्तु प्रकृति सलज्जा नवोढ़ा की भाँति अपना घूँघट और भी बढ़ा देती है। प्रकृति जितना ही अपना रहस्य छिपाने का प्रयास करती है, पुरुष उतना ही उसे जानने के हेतु व्यग्र हो उठता है, बेचैन हो जाता है। पुरुष और प्रकृति के इस लुकी-लुकौवल से ही धर्म और विज्ञान की उत्पत्ति हुई है। धर्म पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतक है, विज्ञान इस सम्बन्ध का आलोचक। एक व्यवहार पर ध्यान देता है, दूसरा प्रतिक्रिया पर। दोनों ही सत्य के अन्वेषक हैं, दोनों ही प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। परन्तु प्रकृति का विषम व्यंग्य यह है कि दोनों ही एक-दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं। वैज्ञानिक समझता है कि प्रकृति का महत्त्व उसी पर प्रकट है, धर्मप्रेमी कहता है कि वैज्ञानिक ओसकण से पिपासा-शान्ति चाहता है, जो असम्भव है। वह अपने को सीमित देखता है, अतः वह असीम को सीमा देना अयुक्त जान उसे असीम ही कह सन्तुष्ट रहता है।

विज्ञान और धर्म में परस्पर विरोध हो या न हो, पर यह तो निश्चित है कि सृष्टि के सम्बन्ध में दोनों यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के उपरान्त स्थिति और फिर संहार स्वयंसिद्ध है।

सृष्टि, स्थिति और संहार, नियति का यही सनातन चक्र है। सभी पदार्थों का यही अनुक्रम है, इससे किसी की भी मुक्ति नहीं। इसी नियम के कारण जो आता है, वह जाता जरूर है, जो उत्पन्न होता है, वह कालकवलित अवश्य होता है, जो पुष्पित होता है, वही मुरझाता है। इसी चक्र के फेरे से कहीं आनन्द है, तो कहीं हाय-हाय ! कहीं हँसना है, तो कहीं रोना ! कहीं जागृति है, तो कहीं

सुषुप्ति ! उत्पत्ति, विकास और अवसान, यही विश्व की कहानी है, यही जैविक विकास का कारुणिक इतिहास है, यही विज्ञान और धर्म की एक पुकार है, यही इनके अनुसन्धानों का एक निष्कर्ष, एक निर्णय है।

सृष्टि, स्थिति और संहार, इनके भीतर कितना रहस्य निहित है, यही समझने की धर्म और विज्ञान चेष्टा करते हैं, और इसी चेष्टा में लगे रहने से इन पर भी नियति का आक्रमण हो जाता है। ये भी उत्पत्ति और अवसान के चक्कर में जा पड़ते हैं। एक समय में धर्म की अभिवृद्धि होती है, दूसरे में विज्ञान की। कभी एक का विकास होता है, तो कभी दूसरे का अवसान। आधुनिक युग में धर्म के प्रति बहुतों की अश्रद्धा हो चली है, और बहुत-से तो धर्म को धकियाकर ईश्वर का भी बहिष्कार करने के हेतु तत्पर हैं। इस धर्म और ईश्वर के बायकाट की आवाज इधर रूस से उठी है। यों तो नास्तिकों का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका है, पर इधर कुछ वर्षों से नास्तिकता की लहरें बहुत ऊँची उठ रही हैं। रूस ने जहाँ राजनीतिक विचारों में तूफान उठा दिया है, वहाँ वह धर्म के समुद्र को भी उद्वेलित करने से नहीं चूका। वह पुराने सामाजिक आधारों को चित करके ही सन्तुष्ट नहीं है, वह धर्म को इन सामाजिक बन्धनों का जनक और आलम्ब समझ इसे ही चौपट करने पर तुला बैठा है। ईश्वर की सर्वज्ञता और व्यापकता को वह नहीं समझता। यदि समझता भी है, तो पण्डे, पुजारियों को धर्मान्धों की वंचकता समझता है। सम्भवतः रूस की दृष्टि में ईश्वर विषमता का द्योतक है, अतः साम्यवाद, घोर साम्यवाद के इस युग में ईश्वर की स्थिति पर वह भला कैसे विश्वास कर सकता है ?

आधुनिक नास्तिकवाद के विकास में वैज्ञानिकों का भी बहुत-कुछ हाथ है, ऐसा अधिकांश जनता का विश्वास है। धार्मिकों ने खुदा की ढूँढ़ की थी, वैज्ञानिकों ने खुदाई की ढूँढ़ की थी, इनकी खोजों ने मनुष्य के अहंभाव को बहुत कुछ बढ़ा दिया है। परन्तु अभी यह भाव वहाँ तक नहीं पहुँचा है, जहाँ वेदान्ती पहुँच चुके हैं। धार्मिकों की खोज वेदान्तियों के सिद्धान्तों के साथ, विशेषतः अद्वैतमतानुयायियों के सिद्धान्तों के साथ, पूरी हो चुकी है, और वैज्ञानिकों की खोज अभी जारी है। धार्मिकों ने ईश्वर की सत्ता को माना है, अद्वैतवादियों ने उस सत्ता को अपने से अभिन्न समझा है। वे खुदा से खुद में आये हैं, उनके लिए खुदाई कोई दूसरी वस्तु नहीं, खुदी ही खुदाई है। वैज्ञानिकों ने खुदाई की परीक्षा प्रारम्भ कर दी है। वे खुदी की ओर बढ़ रहे हैं या खुदा की ओर, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह जानने को सब उत्सुक अवश्य रहते हैं कि वैज्ञानिक खुदा को मानते हैं या नहीं ?

हाल में विलायत की एक संस्था ने, जिसका नाम क्रिश्चियन एविडेंस सोसाइटी है, यह जानने के लिए कि वैज्ञानिकों के धर्म के प्रति क्या विचार हैं, कुछ प्रश्न संसारविख्यात रॉयल सोसायटी के सदस्यों के पास भेजे थे, और उनसे यह प्रार्थना की थी कि वे निर्भीकतापूर्वक अपने विचार प्रकट करें। वैज्ञानिकों ने उन प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं, वे बड़े ही मनोरंजक हैं।

पहला प्रश्न था—"क्या आप ईश्वरीय साम्राज्य पर विश्वास करते हैं ?" इसके उत्तर में कुछ वैज्ञानिकों ने 'हाँ' कहा, कुछ ने 'नहीं'। परन्तु मजे की बात यह है कि 'नहीं' कहनेवालों से 'हाँ' कहनेवालों की संख्या 10 गुनी अधिक थी।

दूसरा प्रश्न था—"क्या मनुष्य किसी अंश में स्वकार्यों के लिए उत्तरदायी है ?" इसके उत्तर में अधिकतर सदस्यों का यह मत था कि "मनुष्य अपने कृत्यों

के लिए पूर्णतया उत्तरदायी है।"

तीसरा प्रश्न था—"सृष्टिवाद और विकासवाद में परस्पर समन्वय है, या दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं?" इसके उत्तर में रॉयल सोसायटी के अधिकांश सदस्यों का मत है कि "दोनों में असंगति नहीं, विकास (इवोल्यूशन) रीति या प्रक्रिया का द्योतन करता है, सृष्टि (क्रिएशन) कर्तृत्वक्रम को लक्षित करती है।"

चौथा प्रश्न था—"क्या भौतिक-विज्ञान साकार और सगुण ईश्वर की भावना का तिरस्कार करता है?" इसके उत्तर में आधे से अधिक सदस्य कहते हैं कि "नहीं, यह बात नहीं है।"

पाँचवाँ प्रश्न था—"क्या आप मृत्यु के उपरान्त भी जीव की स्थिति मानते हैं?" इस प्रश्न पर बहुत से सदस्यों ने तो यह लिख भेजा कि "इस विषय में वे न 'हाँ' कह सकते हैं, न 'ना', क्योंकि उनके पास कुछ अनुभूत प्रमाण नहीं।" पर कई सदस्यों ने निर्भीकता से यह उत्तर दिया कि "वे मृत्यु के उपरान्त भी जीव की स्थिति मानते हैं।"

छठा और अन्तिम प्रश्न था—"क्या वैज्ञानिक धार्मिक होते हैं?" इसके उत्तर में बहुत से सदस्यों ने कहा—"वे उतने ही धार्मिक हैं, जितने और मनुष्य।"

इस प्रश्नोत्तरी से यह पता चलता है कि आधुनिक वैज्ञानिक धर्म के विरोधी नहीं हैं, पाखण्ड के विरोधी भले ही हों। अत: जनता में जो यह मत फैला है कि वैज्ञानिक नास्तिकवाद के फैलाने में बहुत-कुछ सहायक हुए हैं, भ्रमपूर्ण है। आजकल जिस दिशा में विज्ञान बढ़ रहा है, वह धार्मिक भावनाओं के लिए हानिकर नहीं, प्रत्युत सहायक है। आधुनिक वैज्ञानिकों की 'तत: किं'-वृत्ति उन्हें उस अनन्त के परिज्ञान की ओर खींच रही है, जो धर्म का प्राण है। अणु, परमाणु, जीवाणु की व्याख्या धर्म भी कर चुका है, ऐटम, मोलीक्यूल, एलेक्ट्रॉन को लेकर वैज्ञानिक भी तर्कणा करते हैं। एलेक्ट्रॉन की व्याख्या प्रो. आइंस्टीन ने 'सेंटर ऑफ डिस्टरबैंस' (विप्लव का केन्द्र) कहकर की है, परन्तु इतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं हुए। वास्तव में अनन्त की जिज्ञासा भी अनन्त ही की भाँति असीमित है, इसके विभिन्न क्षेत्र हैं। साधारण मनुष्य के लिए जिस प्रकार दार्शनिक के भाव समझने कठिन हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिक के भी। वह केवल यही समझता है कि सृष्टि, स्थिति और संहार नियति के चक्र का परिचय देते हैं। वह अधिक जानने का न प्रयास करता है, न जानना ही चाहता है। क्योंकि इस विषय में अधिक खोज करने से उसका सुखमय स्वप्न टूट जाता है। वह इतना ही जानता है कि संसार में ऐसे भी शुभ व्यसनी हैं, जो प्रकृति से उसके सुख के हेतु नये-नये उपहारों को प्राप्त किया करते हैं, और ऐसे भी विश्वप्रेमी हैं, जो उसके लिए आनन्द और समृद्धि की सदिच्छाएँ प्रकट करते रहते हैं और इसी से सन्तुष्ट रहते हैं। उनके लिए वैज्ञानिक और धार्मिक, प्रकृति के परीक्षक और प्रभु के पर्यालोचक, दोनों एक ही सन्देश भेजते हैं, और वह सन्देश सरल होते हुए भी गहन है, छोटा होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है; सहज होते हुए भी असाधारण है। सृष्टि, स्थिति और लय; आदि, मध्य, अवसान; उत्पत्ति, पालन और संहार—यही तो विधाता का खेल है, जिसे धर्म लीला कहता है; आधुनिक विकासवाद में भी इसी की प्रतिध्वनि हो रही है, ज्ञान और विज्ञान दोनों परस्पर निकट आ रहे हैं—दोनों का क्षेत्र बहुत-कुछ एक ही हो चला है। पुरातनकाल में दार्शनिक भी वैज्ञानिक होते थे। जो ऋषि थे, जो प्रभु को देखते थे, वे ही प्रकृति को भी समझते थे। इस युग में भी वह समय आ रहा है, जब प्रकृति को समझनेवाले वैज्ञानिक ही प्रभु के देखनेवाले दार्शनिकों में परिवर्तित

हो जायँगे। ज्ञान ग्रौर विज्ञान में 'वि'-मात्र का भेद है, यह 'वि' ग्रब विलुप्त होना चाहती है। इसके विनष्ट होते ही ज्ञान की शुभ्र छवि स्पष्ट हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं। यह स्वर्ण-ग्रवसर जितना ही शीघ्र ग्रावे, उतना ही ग्रच्छा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1933 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## भारतीय ग्रौर ग्रँगरेजी-साहित्य

मानवीय जीवन ग्रौर विकास की तरह भारतीय साहित्य का ग्रँगरेजी-साहित्य से पृथक ग्रपना विकास है। पृथ्वी की जो दो मुख्य सभ्यताएँ हैं, उनमें एक है भारतीय, दूसरी ग्रीक। ग्रँगरेजी-साहित्य की दीवार ग्रीक-बुनियाद पर ही उठी हुई है, इस तरह कि जिस लाटिन का प्रभाव तमाम योरप पर पड़ा, उससे प्रसूत रोमन सभ्यता ग्रीक सभ्यता से प्रभावित हुई। इसीलिए ग्रँगरेजी के विख्यात ग्रालोचक मैथ्यू ग्रारनाल्ड की मृत्यु होने पर किसी ने कहा था, "हमारा ग्रन्तिम ग्रीक जा रहा है।"

ग्रीक सभ्यता बहिर्मुख, देश-विजय-कामिनी, स्वामिनी बनने की लालसा रखनेवाली थी। ग्ररस्तू की महाप्रतिभा महावीर सिकन्दर को इसी तरफ उत्तेजना देती है। भारत के महानीतिज्ञ चाणक्य चालों से उसे मात देते हैं या नहीं, यहाँ हम यह नहीं कहेंगे। कहना यह है कि चाणक्य भारतीय साहित्य के कोई सर्वोत्तम विकसित रूप नहीं, पर ग्ररस्तू ग्रपने साहित्य का है।

ग्रीकों के बाद रोमनों का विकास ग्रौर भी बहिर्मुख होता है। इसके बाद योरप के ग्रपर देशों का क्रम-जागरण, उत्थान, संगठन ग्रौर शक्ति-संचय। समुद्र की शत-शत तरंगों, ग्रावर्तों से चक्कर खाती हुई बालुका-राशि जैसे जमकर निस्तल गर्भ से द्वीपाकार उठती है, इंगलैण्ड के साहित्य-संगठन का इतिहास ऐसे ही ग्रनेक कारणों से बदलता, बनता हुग्रा एक पुष्ट शक्ति से जीवन प्राप्त करता है। परन्तु प्राणों में उसी ग्रीसियन सभ्यता की बहिर्मुख धड़कन बनी हुई है। ग्रीक सभ्यता के उसी समय से, जब से पाश्चात्य सभ्यता इतिहास के जड़ प्रमाण पर विश्वास रखकर निर्मित हो रही है, भारत क्रमशः गिरता हुग्रा भी ग्रपनी विशेषता में ग्राज भी भारत है। शताब्दियों के ग्राक्रमण, वैदेशिक प्रभाव उसकी विशेषता से उसे नहीं च्युत कर सके।

महारानी एलिजाबेथ के समय ग्रँगरेजी-साहित्य की मौलिकता के सूर्य का उदय के बाद पहला पहर था। किसी-किसी ने इसे साहित्यिक दूसरा युगान्तर, किसी-किसी ने तीसरा माना है। महारानी विक्टोरिया के समय ग्रँगरेजी-साहित्य के काव्य का ग्रन्तिम विकास हुग्रा। पण्डितराज जगन्नाथ के बाद जैसे ग्रब तक संस्कृत-साहित्य में कोई कवि नहीं माना जाता, वैसे ही इधर रॉबर्ट ब्रिजेज जैसे सुकवियों का विकास होने पर भी टेनिसन से ही ग्रँगरेजी-साहित्य की कविता का समय समाप्त कर दिया जाता है। फ्रांस के राष्ट्र-विप्लव के बाद धीरे-धीरे योरप की समृद्ध शक्तियों में गद्य का प्राधान्य हो चला। ज्यों-ज्यों साधारणजनों की जीवन-समस्याएँ जटिल होती गयीं, त्यों-त्यों पश्चिमी साहित्य में गद्य की धाक

जमने लगी। एक कारण और है। वह है व्यवसाय। व्यवसाय में पद्य की नहीं, गद्य की जरूरत है। ज्यों-ज्यों योरप की जातियाँ भिन्न देशों पर व्यावसायिक प्रभाव फैलाने लगीं, त्यों-त्यों उन्हें भावनाओं से अधिक उपकरणों की आवश्यकता मालूम दी। पद्य के बाद गद्य और गद्य के बाद विज्ञान का यही क्रम-माहात्म्य है। अँगरेजी-साहित्य की भी योरप के ऊपर उन्नत साहित्यों की-सी दशा रही। परन्तु कुछ श्रेष्ठ आलोचकों ने वैज्ञानिक उन्नति का मूल पद्य बतलाते हुए पद्य के भीतर से वैज्ञानिकों को बढ़ने की सलाह दी। पद्य की लड़ियाँ पेश कर-कर उन लोगों ने सिद्ध भी किया कि ये जो भावनाएँ कवियों ने पहले लिखी हैं, आज वैज्ञानिक उन्हें ही जनता के उपयोग के लिए यन्त्रों द्वारा सिद्ध कर रहे हैं। उन्होंने कहा, जब और भी बड़े-बड़े सत्य पद्य में आविष्कृत होंगे, तब विज्ञान और अधिक तरक्की करेगा। बात यह कि साहित्य की पहली सुखद सृष्टि, पद्य की इस समय भी अँगरेजी और अपर योरपीय साहित्य को जरूरत है। यहाँ आलोचकों द्वारा मार्के की एक बात हम प्रत्यक्ष करते हैं, वे पद्य की आवश्यकता वैज्ञानिक सिद्धि के लिए बतलाते हैं, जो भौतिक, बहिर्मुख और जड़ है। इस प्रकार, हम देखते हैं, ग्रीक सभ्यता के प्रारम्भ से ही योरपीय सभ्यता अनेकानेक धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक और साहित्यिक विवर्तनों से स्वरूप बदलती हुई भी उसी एक विजय-लक्ष्य से लक्ष्मी प्राप्त करने की ओर बढ़ रही है। अँगरेजी-साहित्य के भीतर भी यही धारा प्रवाहित है।

भारतीय साहित्य इससे बिलकुल विपरीत है। उसका सर्वोत्तम विकास जैसे संसार को देखना ही नहीं चाहता। ऐतिहासिक युग से ही देखिए, बुद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, तुलसीदास, चैतन्यदेव, रामदास आदि-आदि भारत के अन्तिम श्री-काल से इस पराधीनता के मुसलमान-शासन तक साहित्य, समाज और दर्शन की वही प्राचीन अन्तर्मुखी गति रखते हैं। मुसलमान-सभ्यता के पूर्ण प्रभाव के समय संस्कृत को छोड़कर जनता की भाषा में जातीय महत्त्व भरकर भीतर से प्राणोत्सर्ग के लिए भी तैयार करनेवाले इन महात्यागी तपस्वी साधु साहित्यिकों ने कितना बड़ा विक्रम प्रकट किया। तमाम प्रान्तीय भाषाएँ जीवित हो उठीं। पुनः-पुनः फ़ारसी को मुँह-तोड़ जवाब मिलने लगा। ब्राह्मणगण जंगलों के बेल, बेर, कैथे, आम, महुए और शाक भोजन कर, शास्त्र छोड़ शस्त्र धारण कर, समाज को साथ ले अपनी शीर्ण दुर्बल बाहुओं से धर्म की विशेषता बचाने लगे। फ़ारसी के साथ पूरा असहयोग किया। व्रजभाषा के यौवन की पूर्ण ज्योतिर्मयी मूर्ति के साथ सखियों की तरह मैथिली, बंगला, गुरमुखी, गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाएँ हँस-हँसकर भारतीय सुषमा भरने लगीं। जनता अपनी ही भाषा के भीतर से सजग हो गयी। बौद्धकाल से आज तक योरपीय इतिहास से कम परिवर्तन भारत में नहीं हुए। पर भारत भारत ही रहा। जब से अँगरेजी सभ्यता फैली, हम देखते हैं, फिर वही प्राचीन क्रम प्रचलित है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव, ऋषि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुष अपने-अपने साहित्य तथा साधना के भीतर से भारत का वही लक्ष्य निर्देश करते हैं। अँगरेजी-साहित्य ने संसार को छा लिया है। पहले जो प्राण कवियों ने उसमें भरे थे, उनका पूर्ण परिचय उसके जातीय रूप में लक्षित है। उसी प्राण-शक्ति से अँगरेज-जाति संसार में प्रसरित हुई। ग्रीक सभ्यताकाल से ही योरपीय जातियाँ आगे चलकर प्रसार करती हैं, ऐसा ही अँगरेजी-साहित्य ने किया। वैदिक सभ्यता-काल से भारतीय पीछे जाकर, जन्म-मृत्यु का रहस्य-द्वार पार कर, पूर्णत्व प्राप्त करते

हैं। अँगरेजी-साहित्यिक प्रसार से भारतीय निरोध कम नहीं, कदाचित अधिक महत्व रखता है, अधिक प्रसारित होता है, क्योंकि पूर्णता प्राप्त करता है, जहाँ से प्रसार के लिए फिर जगह नहीं रह जाती। इसीलिए यहाँ का साहित्य बिलकुल दूसरे ढंग का है। आज के साहित्य में हमें दो महापुरुष मिलते हैं—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गाँधी। दोनों संसारप्रसिद्ध अपनी-अपनी तरफ से सर्वोत्तम मनुष्य हैं। परन्तु इनमें भी हम भारत का पूर्व-कथित सिद्धान्त पाते हैं। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा पद्य के भीतर जो जातीय सामंजस्य करती है, उसका उद्गम वेदान्त है, वेदान्त के साथ कुछ पश्चिमी विचारधाराओं को मिलाना चाहें, तो मिला सकते हैं, पर मुख्य वेदान्त ही है। इसी ज्ञान की विजय-वैजयन्ती योरप और विश्व के आकाश में उड़ रही है, अनेकानेक छन्दों में, रूपों में यही एक तत्त्व अपना वैचित्र्य दिखा रहा है। महात्माजी की अपार सहानुभूति, अहिंसावाद में जो जैन या वैष्णव-धर्म परिदृष्ट है, उसका भी प्रताप महाज्ञान वेदान्त-समुद्र से मिलता है। कारण, किसी भी खण्ड-सत्य का उद्गम महासत्य ही है। महात्माजी के साथ टॉल्सटॉय या किसी साहित्यिक ऋषि की विचारधारा मिलती हो, इससे कोई जरूरत हमें नहीं, हम उनका केवल माध्यम देखना चाहते हैं, उसका विकास और परिणति। एक बात और। जहाँ अँगरेजी-साहित्य को कवियों की जरूरत पड़ी है भौतिक विज्ञान की उन्नति के लिए, वहाँ भारतीय साहित्यिकों को आवश्यकता हुई है संसार को यान्त्रिक उन्नयन से निरस्त करने की। ऐसा ही रवीन्द्रनाथ भी कहते हैं, और महात्मा गाँधी भी। भारतीय साहित्यिक यान्त्रिक उन्नयन से संसार की यन्त्रणा का ही विस्तार देखते हैं। इसीलिए उन्होंने यहाँ बराबर इसका विरोध किया। मय दानव बड़ा ही सुन्दर कारीगर था। पर भौतिक उन्नति करनेवाला होने के कारण वह दानव कहलाया।

अँगरेजी-साहित्य का जो विकास बहिर्मुख होने के कारण हुआ, भारतीय वैदिक साहित्य का वही अन्तर्मुख होकर हुआ था, और इसी प्रकार फिर होगा। अपनी शक्ति का पता अपने ही भीतर है, बाहर नहीं। इसलिए यहाँ अन्तर्मुख होने की शिक्षा दी गयी। अँगरेज कवि जो बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ कर गये हैं, इसका कारण उनका अन्तर्मुख होना था। पर इसका दुरुपयोग यदि मनुष्यों को भौतिक साधनों की उन्नति द्वारा किया जायगा, तो गत महायुद्ध की तरह कोई विस्फोट अवश्य होगा। हम जड़-विज्ञान और धर्म-विज्ञान के समानार्थ पर फिर लिखेंगे। यहाँ सूत्र-रूप इतना ही कहते हैं, दोनों में पूर्ण सामंजस्य है। भारतीय साहित्य इससे भी बहुत आगे है। इसीलिए शक्ति के परिचय का यथासाध्य वर्जन है। भारतीय स्वतन्त्रता साहित्यिक पूर्णता है, जिसके भीतर विश्व का समस्त साहित्य भरा जा सकता है। पीछे चलने पर, मन के उद्गम का पथ पकड़ने पर, सभी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। हम अभय होकर अपनी सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दशा दूसरे देशों से और अच्छी तरह सुधार सकते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

धर्म के लिए सभ्य समाज के प्रायः सभी लोग जान देते हैं। केवल रूस और वहाँ के मत के अनुसार चलनेवाले अंशतः कुछ अपर देश धर्म से परेशान हैं। इनकी निगाह से वहाँ का प्रचलित धर्म अनुयायियों की कमजोरियों के कारण गिर गया है। यही हाल धर्म के माननेवालों का है। उनमें भी अविश्वास, दुर्बलताएँ और मानसिक संकोच समा गये हैं। सनातन धर्म, बौद्ध धर्म, क्रिश्चियन धर्म और मुसलमान धर्म आदि जितने प्राचीन धर्म पृथ्वी पर हैं, सब-के-सब किसी-न-किसी प्रकार की दुर्बलता से पंगु हैं। अच्छी तरह जाँच करने पर मालूम होता है, हर एक धर्म के अनुयायियों में ही अपने धर्म का विश्वास नहीं रहा। क्रैस्त-धर्म के माननेवालों में वैज्ञानिक प्रसार ज्यों-ज्यों बढ़ा, धर्म पर आस्था त्यों-त्यों घटती गयी। उनके अधिकांश लोगों में धर्म केवल एक सामाजिक शौक है। विज्ञान-व्यवसाय का क्रैस्त-धर्मवालों ने ज्यों-ज्यों पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में फैलाव किया, वहाँ-वहाँ के धर्मों की जड़ जड़वाद के भूकम्प से हिलने लगी। सनातन, पारसी, बौद्ध, मुसलमान, सभी धर्म इतिहास के पृष्ठों की तरह अपनी प्राचीन सभ्यता के दिखलावे के तौर पर रह गये। उन-उन देशों के लोगों ने जड़वाद तथा भौतिक विज्ञान का ही हृदय से स्वागत किया। बौद्ध और मुसलमान देशों के स्वतन्त्र राज्य भी योरपीय सभ्यता के कायल हो गये—उसे पूरी मात्रा में अपनी शिक्षा तथा शासन-प्रबन्ध में ग्रहण किया। भारतवर्ष पराधीन ही हुआ, तब राज सत्ता का उस पर ओत-प्रोत प्रभाव स्वाभाविक है। इस प्रकार जड़वाद द्वारा सभी प्राचीन धर्म ग्रस्त हो गये।

इस प्रकार प्राचीन धर्मों के माननेवाले देशों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। क्योंकि राज्य, शासन, समाज, व्यवस्था, आचार, विचार आदि सभी बहिर्मुख हैं। कोई देश राज्य-शासन करता हुआ, कोई राजा सिंहासन पर बैठा हुआ, कोई समाज पृथ्वी पर चलता हुआ अपने को अन्तर्मुख नहीं कह सकता। इस प्रकार के संसार में रहनेवाले लोग कुछ हद तक अन्तर्मुख हो सकते हैं, पर उनकी अधिकांश वृत्तियाँ उनके कर्माधिकार के अनुसार बहिर्मुख ही हैं। ऐसे बहिर्मुख लोग यदि बहिर्मुख जड़-विज्ञान के ऐश्वर्य से प्रभावित हो जायँ, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, न इससे यह सिद्ध होता है कि उनका वह प्राचीन धर्म इस नवीन भौतिकवाद से परास्त हो गया, क्योंकि उस धर्म को वे पहले भी न मानते थे; जितना मानते थे, वह नहीं के बराबर है, जबकि वह बहिर्मुख थे।

इसी 'मनुष्य-धर्म'-शीर्षक से निकले हुए अँगरेजी के 'कलकत्ता रिव्यू' नाम से प्रसिद्ध पत्र के कुछ कथनों की, जो धर्म पर कहे गये हैं, यहाँ हम आलोचना करते हैं। इस 'The religion of man' विशाल प्रबन्ध के लेखक हैं के. सी. सेन। इनका पूरा नाम कार्तिकचन्द्र सेन, कालीचरण सेन या कामिनीचरण सेन, ऐसा ही कुछ होगा। 'कलकत्ता रिव्यू' के लिखनेवाले और ऐसे गहन विषय पर और इतने उदात्त अँगरेजी स्वरपात, भाषाकौशल और भावप्रवणता से, जरूर कोई बड़े आदमी होंगे। विचार क्या हैं, कुल संसार 'कर-तल-गत आमलक-समान' है। आप लिखते हैं—

"What was at one time considered to be the ever-lasting religion of man-kind has lost its cash value, and humanity is anxiously waiting for a new religion."

अर्थात जो एक समय मनुष्यों का चिरस्थायी धर्म समझा गया था, वह अपनी मौजूदा कीमत खो बैठा है, और मनुष्यता उत्कण्ठा से एक नये धर्म की प्रतीक्षा कर रही है।

छानबीन करने पर यह सारा वाक्य निरर्थ है, यद्यपि यों पढ़ने पर एक अर्थ निकलता है। "जो एक समय मनुष्यों का धर्म समझा गया था," सेन महाशय का यह कहना 'वेद', 'श्रुति' और 'वेदान्त' में किसी का भी पर्यायवाचक नहीं, न यह 'निर्वाण' का ही ठीक-ठीक अनुवाद है, 'इस्लाम' का भी नहीं। सेन महाशय के कहने का ढंग देखिए; स्पष्ट जान पड़ता है, जैसे किसी या किन्हीं ने मनुष्य-समुदाय का एक चिरन्तन धर्म बनाया हो, पर बात ऐसी नहीं, 'वेद' अपने ज्ञान-अर्थ से ही चिरन्तन है, ऐसा ही अपर धर्मार्थों के लिए भी है। धर्माचार्य केवल ज्ञान के पूर्णालोक में लीन हुए थे, उसे बनाया नहीं। जो लोग देखकर लौटे उन्होंने उस ज्ञान को ही पूर्ण कहा है, बिजली की रोशनी तैयार कर सूर्य के प्रकाश की व्याप्ति उससे जुदा करने की कोशिश नहीं की, जैसा सेन महाशय का अद्भुत प्रयत्न कर रहा है। वह ज्ञान धर्म न नया है और न पुराना, वह सदा एकरस है। उससे छूट-कर अलग होनेवाले लोग एक नहीं पच्चीस भावनाओं के भीतर से गुजरें, पर वे भी एक ही पूर्ण ज्ञानाब्धि में मिलेंगी। यदि सनातन, बौद्ध या मुसलमान आदि शब्द प्राचीनता के ही कारण पुराने लगते हों, तो उनके अर्थों पर ध्यान देने की कृपा करें, इन भिन्न धर्मों के अर्थों में साम्य और आज की नवीनता मिल जायगी।

धर्म का जो सर्वोच्च सूत्र होगा, वही उसकी आत्मा या यथासत्य रूप कहा जायगा। ऐसे सूत्र सभी धर्मों में हैं। अत: मूलत: सभी धर्म अभेद हैं। भेद बाहरी दुनिया में, आचार-विचार, भाषा-वेश आदि हैं। पर वे कभी धर्म की आत्मा नहीं बन सके। 'The religion of man' कभी अँगरेजों को धोती या बंगालियों को हैट न पहना पायगा; न अँगरेज टोस्ट छोड़ेंगे, न बंगाली भात, जहाँ फर्क देख पड़ता है। काले गोरे नहीं हो सकते, न गोरे काले। मन में सभी बराबर हैं, मनुष्य-मात्र के बराबर अधिकार हैं, यह सभी धर्मों का मूल उद्देश है।

सेन महाशय ने जो लिखा है—"The religion of man' teaches us that all man form one personality actually and not merely potentially" (मनुष्य-धर्म हमें बतलाता है कि सब मनुष्य एक व्यक्तित्व वस्तुत: गठित करते हैं, केवल सम्भवत: नहीं), यह प्राचीन धर्मों के लिए भी कोई नयी बात नहीं। आपने 'actually' और 'potentially' द्वारा जो भेद किया, जान पड़ता है, नवीन और प्राचीन के भेद बतलाए गये हैं, वर्तमान जड़-प्राधान्य के वजन पर मनुष्य-धर्म को जोरदार करने के लिए 'actually' प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य-प्रगति की जैसी आलोचना आपने अपने निबन्ध में की है, और जन-समाज को बढ़ता हुआ बतलाकर जैसे 'मनुष्य-धर्म' की उद्भावना डा. रवीन्द्रनाथ की आड़ लेकर की है, यह सब लिखने और ऐसी ही समझवालों के समझने का दिल-बहलाववाला विषय होगा, कोई तत्त्व नहीं। जितनी भौतिक उन्नति हुई है, उसका दायरा प्राचीन धार्मिक उन्नति से बढ़ नहीं गया। आजकल बड़ी खूबी से आधुनिक जड़-विज्ञान प्राचीन धर्म-विज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। किसी भी पण्डित ने जड़-विज्ञान को धर्म-विज्ञान से बड़ा हुआ नहीं स्वीकृत किया। फिर एक नये मनुष्य-धर्म की कल्पना कैसे की जा सकती है? क्या यह केवल एक कहने की ही बात न हुई? आपने लिखा है—"The truth is that all existing religions are old and effete, while human life is progressive."

(सच तो यह है कि वर्तमान सभी धर्म पुराने हैं और जीर्ण, जबकि मनुष्य-जीवन उन्नतिशील है), यहाँ मालूम हो जाता है, सनातन धर्म, बौद्ध धर्म, क्रिश्चियन धर्म या मुसलमान धर्म को पुराना कहकर उसका क्या अर्थ समझते हैं। फिर धर्मों के भिन्न नामकरण के कारण यदि मनुष्यों के मेल में दिक्कत जान पड़ती है, तो नया 'मनुष्य-धर्म' भी इनसे एक पृथक धर्म ही होगा, जिसके माननेवाले, मुमकिन है, किसी-किसी धर्म के प्रचलन के अनुसार 'मनुष्य-धर्म' के खाते में नाम लिखाते हुए कहें—"मैं हिन्दू नहीं, बौद्ध नहीं, क्रिश्चियन नहीं, मुसलमान नहीं, मनुष्य-धर्म-दीक्षित हूँ।" इस तरह एक नये सम्प्रदाय का निकलना भी अनिवार्य है। फिर इसके साथ किसी 'उसका' संघर्ष न होगा, मनुष्यता पशुता में परिवर्तित न होगी, कैसे कहा जा सकता है ?

रही डॉ. रवीन्द्रनाथ की बात, सो हमें तो उनमें जो कुछ मिला, वह प्राचीन की ही एक सुन्दर खिचड़ी है, कुछ यहाँ के चावल, कुछ वहाँ की दाल, हिन्दोस्तान का पानी और योरप की बिजली की आग। पर पहले बिजली थी ही नहीं, यह आप ही कह लीजिए। हमें महाकवि रवीन्द्रनाथ में एक भी बात ऐसी नहीं मिली, जो पहले नहीं थी। मनुष्य का केवल मनुष्य-भाव उसे धर्म का रास्ता सुझा सकता है। यहाँ का वेदान्त मनुष्य-धर्म का सर्वोत्कृष्ट मार्ग निश्चित है, क्योंकि वह केवल ज्ञान है, और किसी व्यक्ति की, रचयिता की आज्ञाकारिता से बाहर है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## पुस्तकालय, पुस्तक-पाठ और उसका महत्त्व

ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र उपाय अध्ययन है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, चाहे वह आवश्यकता-पूर्तिवाली मुक्ति हो, चाहे सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पानेवाली। हमारी कमजोरी का एक सबसे जबरदस्त कारण हमारा अज्ञान है। देश को अर्थ से समर्थ करने के लिए अर्थ की ही जरूरत है, जो पुस्तकों में ज्ञान के भीतर से प्राप्त होगा।

हमारा विचार है, यदि देश में शिक्षा का विस्तार हो, और जिले-जिले, कस्बे-कस्बे और नगर-नगर साधारणजनों का असाधारण हित करनेवाले पुस्तकालय खोल दिये जायँ, वहाँ-वहाँ के नयी ज्योति से जगमग, नये खून से स्फूर्त, नवीन विचारों के आश्रय, त्यागी स्वदेश-हितैषी अधीत युवक अशिक्षितों के चिर-हित का विचार कर अपना थोड़ा-सा भी समय उनके शिक्षण के लिए दे सकें, स्वदेश-विदेश और स्वजाति-विजातियों के प्राचीन और नवीन ज्ञान-धारा में उन्हें नहलाकर स्निग्ध-मस्तिष्क बना सकें, तो वे अपने फायदेवाले, चिर-मलिन मानवीय कृत्यों को नये जीवन से आप चपल, वर्तमान सभ्यता के अनुरूप कर ले सकते हैं, और साहित्य, समाज, राजनीति तथा धर्म आदि जटिल विषयों की न सुलझती हुई गुत्थियों को अपने ही हाथ खोलकर दिखा दे सकते हैं। जो अज्ञानवाला आवरण कुहरे की तरह लोगों के जीवनाकाश पर छाया हुआ है, उसे ही हटाने की जरूरत है, ज्ञान का प्रकाश फिर स्वतः उन पर पड़ेगा, और इसके लिए जगह-जगह

पुस्तकालय खोलना अत्यन्त आवश्यक, धर्म से भी बढ़कर, ईश्वर से भी मान्य, प्राणों से भी निकटतर सम्बद्ध विषय है।

आज तक जितने भी भिन्न-भिन्न उपायों से संसार के लोग प्रभावित किये जा चुके हैं, वे सब-के-सब उपाय किसी-न-किसी प्रकार ज्ञान से ही युक्त तथा उक्त हैं। समस्त संसार पर ज्ञान का नियन्त्रण है, वह अध्यात्मवाद द्वारा हो या जड़वाद द्वारा, साहित्य के भीतर से हो या विज्ञान के भीतर से। सभ्य जातियों का प्राचीन इतिहास जहाँ तक उपलब्ध हो सका है, उसके दर्शन से यह निर्विवाद निश्चय मस्तिष्क में घर कर लेता है कि ज्ञान ही सभ्यता का मुख्य आश्रय रहा है, और सभी जातियाँ देश-देशान्तरों की ज्ञान-राशि से भरी पुस्तकों के संकलन, संरक्षण और पठन-पाठन में दत्तचित्त थीं। भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का मिश्रण समकालीन सभी समुन्नत जातियों में जो प्राप्त होता है, उसका यही कारण है कि सभी जातियाँ अपने समय की समृद्ध जातियों के ज्ञान और कला-कौशल से सविशेष परिचय रखती थीं। इतिहास यहाँ तक साक्ष्य देता है कि विजित जाति की पुस्तकें भी विजेतागण अपने देश ले जाते थे। मिश्र की हजारों पुस्तकें इसी प्रकार फारस गयी थीं। नेपोलियन देश को जीतकर वहाँ की सभ्यता के उपकरण अर्थ लेने से पहले लिया करता था।

बड़े-बड़े मनीषियों का, सृष्टि की पहली पहचानवाले स्वप्न-समय से लेकर आज तक, हजारों वर्षों का सम्मिलित परिश्रम, मनुष्य-बुद्धि का परिपाक पुस्तकों में एकत्र मिलता है। जो काम एक जिन्दगी तमाम कर देने पर भी कदाचित मनुष्य नहीं कर सकता, वह यदि पहले के किसी विद्वान द्वारा किया जा चुका है, चार ही दिन में पुस्तकों के भीतर से प्राप्त कर ले सकता है। नयी-नयी रचनाओं के लिए भी प्राचीन रचनाएँ देख लेना आवश्यक है, जो पुस्तकों में संगृहीत हैं। साहित्य, दर्शन, समाज, राजनीति, विज्ञान, गणित, चिकित्सा, चित्रकारी, वास्तु-निर्माण, संगीत, वाद्य, परिच्छद, राज्य-परिचालन, युद्ध-विद्या, संगठन आदि-आदि विषय पहले कैसे थे, अब कैसे हैं, प्राचीनतम के साथ नवीनतम का कैसे बदलते-बदलते यह भेद हुआ, फिर भी कैसा साम्य है, भाषा की एक ही प्रतिमा किस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वेश बदलती हुई अब भी अपनी पहली ही पहचानवाली चितवन से देख रही है, यह सब पुस्तकों के पाठ से भले प्रकार ज्ञात हो सकता है। यह सब समझ लेने पर मनुष्यों के प्रति मनुष्यों का यह भेद, यह दासता, यह आतंक, यह विरूपता नहीं रह जाती। जीवन सुगम और सुखमय बन जाता है।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## माउण्ट एवरेस्ट या माउण्ट सिकदार

उड़ाकों के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होनेवाली नयी घटना से सभी परिचित हैं। हास्टन-दल ने संसार के सर्वोच्च शैल-शिखर पर हवा के मार्ग से चढ़ाई की थी। हास्टन-दल अपने इस खतरनाक कौतुक में सफल हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रशंसा करें, या हास्टन-दल को बधाई दें। वास्तव में दोनों ही इस

हवाई कौतुक की सफलता के श्रेय के अधिकारी हैं। हम तो शेर के शिकारी और उसकी बन्दूक दोनों ही को बधाई का पात्र समझते हैं।

कितने हैं, जिन्हें उस व्यक्ति का नाम भी मालूम होगा, जिसकी मेहनत का मीठा फल एक अँगरेज अफसर के मुँह में डाल दिया गया था। वह था एक भारतीय, जिसने सबसे पहले संसार की सबसे ऊँची चोटी की खोज की थी, परन्तु आज उस यशस्वी भारतीय की किसी को याद भी नहीं आती। याद आये, तो कैसे आये। हममें गुणग्राहकता तो है ही नहीं—किसी की सफलता पर खुश होना और उस खुशी का उचित रूप में प्रदर्शन करना तो हमें आता ही नहीं। एक वे हैं—यदि उनका कुत्ता एक चूहे का भी शिकार करने में सफल होता है, तो उनके यहाँ शोर मच जाता है। सारा नगर-का-नगर उस कुत्ते के पंजे चूमने के लिए, उसे बधाई देने के लिए उमड़ पड़ता है। अखबारों के प्रतिनिधि उस वीर शिकारी की फोटो उतारने के लिए, उससे दो-दो बातें करने के लिए, टूट पड़ते हैं। चारों ओर उत्सव मनाये जाते हैं। नाच-रंग होते हैं। लोग उस कुत्ते को सिर पर चढ़ा लेते हैं। देखते नहीं, उनके समाचारपत्र शिकारियों, बाजीगरों, नटों और मदारियों के चित्रों से भरे पड़े रहते हैं। वह छोटे-छोटे कलाकारों और साहसी व्यक्तियों को भी इतना प्रोत्साहन देते हैं कि वे अपने क्षेत्र में नाम कर जाते हैं। जो वास्तव में प्रोत्साहन और प्रशंसा के पात्र हैं, उन्हें तो वे सातवें आसमान पर बिठा देते हैं।

एक भारतीय था श्रीयुत राधानाथ सिकदार। वही संसार की सबसे ऊँची चोटी का पता लगानेवाला था। उसकी सफलता, उसकी प्रतिभा तथा उसके सारे यश का सेहरा उसके भूतपूर्व स्वामी के सिर से बाँधा गया। आज वह शैल-शिखर, जो माउण्ट सिकदार के नाम से प्रसिद्ध होता, माउण्ट एवरेस्ट कहकर पुकारा जाता है। यह कोई नयी बात नहीं है। हमारी गोली से गिरे हुए शिकार की छाती पर बैठकर कितने ही विदेशियों ने समय-समय पर अपने चित्र उतरवाये हैं। उनके चित्र, उनके नाम समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए हैं, उन्हें ढेरों बधाइयाँ मिली हैं, परन्तु हमसे कभी किसी ने एक बार यह भी नहीं पूछा कि तुम किस खेत की बथुई हो।

श्रीराधानाथ सिकदार का शुभ जन्म सन् 1813 ई. में हुआ था। शुरू-शुरू में सिकदार महोदय केवल तीस रुपये मासिक पर भारतीय अनुसन्धान-विभाग में नौकर हुए थे। उस समय सर जॉर्ज एवरेस्ट इस विभाग के अध्यक्ष थे। अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अनवरत परिश्रम द्वारा, कुछ ही काल में, उसी विभाग में, सिकदार महाशय छै सौ रुपये मासिक पर एक बड़े पदाधिकारी नियुक्त हो गये। सिकदार सर जॉर्ज एवरेस्ट के उत्तराधिकारी सर एण्ड्रू वाफ के साथ काम करते थे। एक समय सिकदार साहब सर वाफ के साथ पहाड़ों की नाप-जोख करने गये हुए थे। एक दिन की बात है कि सिकदार सर वाफ के तम्बू में एकाएक घुस पड़े, और मारे खुशी के चिल्लाकर कह उठे "हुज़ूर, मैंने संसार के सबसे ऊँचे पर्वत का आज पता लगाया है।" सर वाफ ने मुस्किराकर कह दिया—"ख़ूब!" सिकदार को अपने परिश्रम का पुरस्कार मौखिक प्रशंसा तथा सराहना के अतिरिक्त और कुछ भी न मिला। सर वाफ ने उस चोटी का नामकरण अपने पेशे के पिता सर जॉर्ज एवरेस्ट के नाम पर कर दिया। तभी से वह ऊँची चोटी माउण्ट एवरेस्ट कहलाती है। सिकदार—अभागे सिकदार—का उस दिन से किसी ने नाम भी नहीं लिया।

माउण्ट सिकदार आज माउण्ट एवरेस्ट के नाम से सारे संसार में प्रसिद्ध है।

क्या संसार श्रीराधानाथ सिकदार को बिलकुल ही भुला देगा? भारतवर्ष को स्वर्गीय श्रीराधानाथ सिकदार पर गर्व है। जिस सर्वोच्च शैल-शिखर को एक साधारण पथारोही भारतीय ने खोज निकाला था, आज उसी चोटी तक पहुँचने के लिए हवाई बेड़ों की चढ़ाइयाँ होती हैं। यदि कोई उस चोटी के चरण चूमने में भी सफल होता है, तो संसार-भर में धूम मच जाती है। हास्टन-दल को संसार के सभी समाचार-पत्रों ने बधाइयाँ दीं—हम भी स्वर-से-स्वर मिलाकर वीर उड़ाकों को बधाइयाँ दे रहे हैं। बात चलने पर हमें भाई सिकदार की याद आ गयी। वह अभागा था। उसके भाग में यश बदा न था, इसीलिए हम उसके प्रति सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं।

सुनते हैं, रटलज साहब ने थल-मार्ग से एवरेस्ट-यात्रा करने का बीड़ा उठाया है। भगवान उन्हें एवरेस्ट की चढ़ाई में सफल करें, वह सही-सलामत वापस आयें, हमारी यही कामना है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## बेकारी

गत 10 वर्षों से संसार में बेकारी बढ़ती जा रही है। प्रत्येक राष्ट्र पर इसका प्रभाव पड़ा है। पूँजीपति भी इसकी चपेट से नहीं बचे। इसकी जिम्मेदारी साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और वैयक्तिक जीवनवाद पर लगायी जा सकती है, जिसके प्रलोभन में राष्ट्र परस्पर में दुर्भावना रखकर उनके स्वतन्त्र रूप से अर्थोपार्जन करने के क्षेत्र को नष्ट करके अपने व्यापार-केन्द्र बनाते, उनकी शक्तियों को अपना लेने की इच्छा करते और विजित करने की धुन रखते हैं। जापानी माल के ऊपर भारत-सरकार ने जो कठोर चुंगी लगाने का बिल असेम्बली में पास किया है, इस बात का ताजा उदाहरण है। मिलों और कारखानों में लाखों मनुष्य काम करते हैं। अपनी स्त्री-बच्चों को भी उसी में रखते हैं। जो कभी सुख और शान्त निद्रा नहीं सो सकते। आज उनके बन्द हो जाने पर बेकार बैठे हैं, उन्हें अब क्या काम मिल सकता है! अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर संगठन बनाकर प्रदर्शन करते और अपनी माँग पार्लियामेण्ट तक पहुँचाते हैं, और राज्य की ओर से उन्हें कुछ सहायता मिलती तो है, परन्तु भारत के मजूर किसे सुनायें। वे अपने भाग्य के सहारे अपने दुर्दिनों को करुणापूर्वक आधा पेट, आध पाव भोजन पाकर ही व्यतीत करते हैं। रूस ने पिछले पंचवर्षीय आयोजन में कितनी उत्तमता से अपनी बेकारी और दरिद्रता नष्ट कर दी, वहाँ के किसान, मजूर अपने को मनुष्य और सम्पन्न समझने लगे—तब वास्तव में यह बात माननी पड़ेगी कि यदि पूँजीवाद का अस्तित्व मिट जाय, तो भारत बेकारी से बच सकता है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## अखिल भारतवर्षीय शिक्षा-सम्मेलन

अखिल भारतवर्षीय शिक्षा-सम्मेलन डॉ. जियाउद्दीन अहमद के सभापतित्व में, गत 14-15 एप्रिल को, लाहौर में, हो गया। स्वागतकारिणी के अध्यक्ष थे राजा नरेन्द्रनाथ।

राजा नरेन्द्रनाथ ने अपने भाषण में अँगरेजी-शिक्षा पर बड़ा जोर दिया। आपका कहना है कि जिन विश्वविद्यालयों में अँगरेजी दूसरी भाषा के तौर पर है, वहाँ से निकले हुए छात्र देश के कार्यों में प्रथम स्थान अधिकृत नहीं कर सकते। मुमकिन है, राजा नरेन्द्रनाथ के इस अँगरेजी मोह का कोई कारण हो। पर हमें साथ-साथ देखना है, इस विषय पर देश के अपर मनीषी क्या राय देते हैं।

गत फरवरी की बात है। विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ का कलकत्ता विश्वविद्यालय में, स्वीकृत अध्यापक-पद से, एक भाषण हुआ था। आपकी काव्यमयी वक्तृता सुनने के लिए छात्र-छात्राओं के अतिरिक्त साधारणजनों की भी सिनेट-हॉल में अपार भीड़ थी। महाकवि ने उच्छ्वासपूर्ण व्यंजनामयी भाषा में कहा कि आजकल हमारी शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने के कारण हमारी भाव-प्रकाशन-शक्ति मन्द पड़ गयी है, हम इच्छानुसार, अनायास अपने भाव प्रकट नहीं कर पाते, क्योंकि प्रकाश-पथ मस्तिष्क में मातृभाषा से ही परिष्कृत होता है। महाकवि मातृभाषा के माध्यम द्वारा मस्तिष्क में सब प्रकार के भावों की प्रकाशन-शक्ति का संचार देखना चाहते हैं। आपने कहा, जापान का पाश्चात्य शिक्षा से भारत के विचार से कम दिनों से तअल्लुक है, पर वहाँ की सार्वभौम शिक्षा-संस्कृति से मनुष्यों की अपने ढंग पर होनेवाली चिन्तना-शक्ति अधिक पुष्ट है। ओत-प्रोत जल के भीतर मछली की प्रगति जैसे अबाध होती है, शून्य में खग की, वैसे ही अपनी भाषा के मुक्त पंखों से परिव्याप्त विश्वभाव-नभ में, मनोविहग स्वच्छन्द उड़ सकता है। दूसरी भाषा कभी जाति के मुक्त कण्ठ की भाषा नहीं हो सकती, खुले फूलों के परिमल की तरह उससे जीवन-विकास की गन्ध-सुरभि नहीं मिल सकती।

अभी कुछ ही दिनों की बात है, विश्वविख्यात, देश-पूज्य आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय प्रयाग का 'लीडर-कार्यालय' देखने गये थे। वहीं एक प्रबन्ध आपने लिखा। उसका शीर्षक है 'विदेशी डिग्रियों का मोह'। इसमें आचार्य राय लिखते हैं कि विज्ञान की शिक्षा के लिए देश में सुबीता न रहने के कारण उन्हें एडिनबरा जाना पड़ा था। परन्तु अब यहाँ विज्ञान-शिक्षण का समुचित प्रबन्ध है। फिर भी अधिक-से-अधिक संख्या में छात्र विदेश ही को जाते हैं। यह ठीक है कि सरकार की आँखों में विदेशी विश्वविद्यालयों की अधिक मर्यादा है, और पदवीधरों को पद-प्राप्ति में सुबीता होता है। परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि विदेशियों के प्रति हमारा एक अन्ध-विश्वास है (कि वे काबिल हैं)। विदेशी बराबर भारत के ज्ञान-विज्ञान को नेस्तनाबूद कर देने की कोशिश करते आ रहे हैं। भारतीय चिकित्सा-विज्ञान, भारतीय स्थापत्य-कला, भारतीय भास्कर्य आदि ग्रीस, मिश्र, अरब से लिये हुए हैं, ऐसे मिथ्या कथनों के प्रमाण के लिए योरप के लेखकों ने कितना परिश्रम किया है! परन्तु अब बहुजन-सम्मत सिद्धान्त यह है कि भारतवर्ष ही इन सब विज्ञानों की आदि जन्मभूमि है। भारतीय दर्शन इतना आगे बढ़ गया है कि आज तक पाश्चात्य दर्शन उसकी बराबरी को नहीं पहुँच पाया। विज्ञान के अपर विभागों में भारत ने क्या किया था, इसके प्रभाव-चिह्न अब लुप्त हैं, नहीं तो देखा जाता, वे

भी पृथ्वी के अपर देशों से श्रेष्ठ थे या निकृष्ट। भारतीय स्वास्थ्य-विज्ञान भी यहाँ तक बढ़ गया था कि उसके नियम हमारे दैनिक कृत्यों में आ गये थे।

अब जरा राजा नरेन्द्रनाथ की अँगरेजी-प्रिया उक्ति के साथ विश्व में अपनी विशेषता से प्रतिष्ठित इन दो महापुरुषों की उक्तियों का मिलान कीजिए। आपको सत्य निष्कर्ष प्राप्त हो जायगा। जिस अँगरेजी को राजा साहब शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वह एक भिन्न-भाषा-भाषी के स्वाधीन चिन्तन का भी माध्यम बन सकती है, इस विषय पर राजा साहब ने सोचने का कष्ट स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक सोच भी सकते हैं, हमें इसमें यथेष्ट सन्देह है। इसलिए इस सम्बन्ध में विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ की उक्ति पर सविशेष ध्यान देने को हम पाठकों से साभिप्राय निवेदन करते हैं।

राजा नरेन्द्रनाथ के विचार से यदि देशी भाषाएँ रोमन-लिपि में लिखी जायँ, तो अँगरेजी सीखना अधिक सुविधाजनक हो! आपका यह भी खयाल है कि यदि भारत ने रोमन-लिपि को अपनाया, और अपनी भाषा को समृद्ध करने का मूल-स्रोत अँगरेजी को स्वीकार किया, तो इंगलैण्ड से भारत साधु बन्धन में सुदृढ़ होगा।

देखा आपने! कितनी सहृदय, निष्कपट उक्ति है। कानपुर में हुए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के पद से दिया आचार्य पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी का भाषण हिन्दी-भाषियों को न भूला होगा। उसमें रोमन-लिपि के सम्बन्ध में, उससे होनेवाले राहु-ग्रास पर, जो प्रकाश आपने डाला है, अपनी हिन्दी-सन्तति को इस लिपि से बचने की जो चेतावनी दी है, हिन्दी के समर्थक विद्वान पाठक न भूले होंगे। आज राजा नरेन्द्रनाथ की आवाज उसी रोमन-लिपि के समर्थन में उठ रही है। इसके समर्थक हैं राजा नरेन्द्रनाथ और विरोधी आचार्य पं. महावीर-प्रसादजी द्विवेदी। अनुभव किस तरफ अधिक हो सकता है, पाठक स्वयं इसका निर्णय कर लें।

राजा साहब ने यथाधर्म पहले सहयोग किया है अँगरेज और अँगरेजी से, फिर पंजाब से जो संख्या जितनी दूर है, उससे—जैसे उसमानिया और कर्वे—पास की गुरुकुल, कन्या-महाविद्यालय आदि संस्थाओं का उल्लेख भी नहीं किया। इससे आपके भाषण की परार्थपरता प्रकट है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## निरस्त्रीकरण-परिषद

जिनेवा में इस समय बड़े-बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधि निरस्त्रीकरण पर विचार कर रहे हैं। इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जर्मनी, चार बड़े राष्ट्रों ने इस विषय पर एक प्रकार समझौता कर लिया था, पर परिस्थिति फिर विपरीत रूप धारण कर रही है। इसका कारण यह है कि जरा-सी छेड़छाड़ से सब चौकन्ने हो जाते हैं, और निश्चय धूल में मिल जाता है। यह सभी राष्ट्र समझते हैं कि निरस्त्रीकरण राष्ट्र के कल्याण के लिए जरूरी है। पर सब राष्ट्र एक-दूसरे से घबराते हैं कि

कहीं इसने शक्ति बढ़ा ली, तो क्या होगा ? यह अविश्वास इस परिषद को सफल नहीं होने देता। जर्मनी के चांसलर हर हिटलर ने कहा कि हमें निरस्त्रीकरण मंजूर तो है, पर हम किसी शक्ति से पीछे नहीं रहना चाहते। इंगलैण्ड के प्रधान-मन्त्री मि. मैकडानल्ड की योजना जर्मनी को पसन्द नहीं। फ्रांस के मन्त्री पौल ने कहा, जब तक शस्त्रों पर नियन्त्रण और संख्या-परिमाण निश्चित करनेवाली हमारी माँग पूरी न की जायगी, तब तक हम बड़ी तोप आदि घटाने की बातचीत पर कुछ बोलेंगे ही नहीं। फ्रांस की जो यह माँग थी कि सब राष्ट्रों की शक्ति मर्यादित रहे, इसके खिलाफ कार्यवाही की गयी, दूसरे राष्ट्रों को शस्त्र भेजे गये, देशी राष्ट्रों ने अपने यहाँ के कारखानों पर नियन्त्रण न किया। पहले इंगलैण्ड ने नियन्त्रण रक्खा था, पर जब दूसरे राष्ट्रों ने बेचना शुरू किया, तब इंगलैण्ड ने भी शुरू किया। यह नियन्त्रण संसार-भर में हुए बिना फ्रांस को यह समझौता स्वीकार नहीं। तुर्की के प्रतिनिधि तेफिक रशीद ने दारे-दनियाल में किला बनाकर तोपें रखने का अधिकार माँगा। इससे सब और चौंके। केवल अमेरिका दिलोजान से निरस्त्रीकरण के लिए तैयार है। सो इसलिए कि गोले-बारूद आदि में ये राष्ट्र व्यर्थ अपना रुपया फँसावेंगे, कारोबार उसी रकम से करेंगे, तो हमारा दिया हुआ युद्ध-ऋण वसूल हो जायगा, हमारे पास काफी रुपया आ जायगा।

इस तरह यह निःशस्त्रीकरण समस्या एक मजेदार स्वार्थ-साधन-समस्या हो रही है। राष्ट्र अपनी शक्ति घटाना नहीं चाहते। उधर यह भी देखते हैं कि व्यर्थ धन-नाश होता है। यदि यह समस्या हल हो जाय, तो योरप की बेकारी भी बहुत कुछ दूर हो जाय। हमारे विचार से तो—

"एक संग नहिं होहिं भुवालू !
हँसब ठठाय, फुलाउब गालू।"

अतः आप लोग एक-दूसरे पर विश्वास करके बल घटाइए, या ऐसे ही नाटक करते जाइए, और जनता की शक्ति का अर्जित धन मशीनगन, मेन ऑफ वार, हवाई जहाज और गोला-बारूद में खर्च कीजिए।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## आचार्य अमर हों !

उस दिन उनका (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का—सम्पादक), प्रयाग में, कैसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ था ! देश के कोने-कोने से राष्ट्रभाषा के पुजारी, अपने इष्टदेव के चरणों में श्रद्धा के स्नेहमय फूल चढ़ाने के लिए—उनकी एक झलक से अपने जीवन को सफल बनाने के लिए—उमड़ पड़े थे। वह उस दिन कैसे भव्य लगते थे ! कभी उनके मुखमण्डल पर बृहस्पति का पाण्डित्य प्रतिबिम्बित हो उठता था, तो कभी स्वयं सरस्वती की प्रतिभा। सहस्त्रों साहित्यसेवियों के बीच में वह भोले-भाले, दम्भहीन, विनयशील महापुरुष हीरे की तरह चमक रहे थे। वह हिन्दी-भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं। हिन्दी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ सम्पादक, समालोचक और लेखक हैं। हिन्दी-भाषा कैसे लिखी जाती है, यह उन्होंने लिखकर दिखा

दिया, पत्र का सम्पादन कैसे किया जाता है, यह उन्होंने स्वयं सम्पादन करके बता दिया, समालोचना क्या वस्तु है, यह उन्होंने अपनी समालोचनाओं द्वारा व्यक्त कर दिया।

वह आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं। विधाता हैं। सर्वस्व हैं। वह राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं—वह सचमुच आचार्य हैं। आधुनिक हिन्दी की उन्नति और विकास का अधिकांश श्रेय उन्हीं आचार्य को है।

वह तो अपने को राष्ट्रभाषा के विनम्र सेवक बतलाते हैं, राष्ट्रभाषा उन्हें अपना निर्माता कहकर पुकारती है। दोनों एक-दूसरे के अनन्य भक्त हैं, प्रगाढ़ प्रेमी हैं। हम दोनों ही के उपासक हैं। राष्ट्रभाषा हमें प्राणों से प्यारी है, आचार्य भी हमें उतने ही प्रिय हैं।

वह इतने बड़े होकर भी हमसे कितने प्यार से बोलते हैं! वह इतने ऊँचे होकर भी हम तुच्छ साहित्यसेवियों से किस स्नेह से मिलते हैं! यह उनकी उदारता है, बड़प्पन है। वह हमें पथभ्रष्ट होते देख चुमकारकर, बड़े मधुर शब्दों में, चेतावनी देते हैं—कभी रौद्र-रूप धारण कर झिड़की नहीं देते। वह हमें गलती करते देख कटु शब्द नहीं कहते, वरन् बड़े प्यार से हमें सावधान करते तथा हमारी भूल संशोधन करते हैं।

ऐसे स्नेही पथ-प्रदर्शक, ऐसे उदार गुरु, ऐसे भक्तवत्सल देवता, ऐसे निरभिमान आचार्य पाकर हम अपने को धन्य समझते हैं। आचार्य हिन्दी के गौरव हैं। हिन्दी-संसार ने ऐसे असाधारण, असामान्य तथा अलौकिक व्यक्ति की जयन्ती मनाकर वास्तव में अपना आदर किया है। आचार्य सचमुच आदर तथा उपासना के पात्र हैं। वह चिरायु हों, अमर हों, हमारी परमेश्वर से यही प्रार्थना है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## आचार्य द्विवेदीजी और डी. लिट्. की पदवी

गत तीन-चार वर्ष से पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी को 'डॉक्टर ऑफ़ लिटरेचर' की पदवी प्रदान करने का प्रस्ताव हो रहा है। परन्तु युक्त-प्रान्त की किसी भी युनिवर्सिटी की ओर से अब तक हमें कोई ऐसा संकेत नहीं मिला, जिससे यह प्रकट हो कि अधिकारीगण इस प्रस्ताव का सम्मान करेंगे, अथवा करने की तैयारी कर रहे हैं। अधिकारियों से इस सम्बन्ध में हम कह ही क्या सकते हैं! क्या वे आचार्य को नहीं जानते? क्या वे उनके महत्त्व से अपरिचित हैं? क्या वे नहीं जानते कि हिन्दी की उन्होंने कैसी सेवा की? और, क्या उन्हें इस बात का भी पता नहीं कि आज यदि वे आचार्य द्विवेदीजी का डी. लिट्. की डिगरी से समुचित सम्मान करेंगे, तो इससे उनकी ही शोभा बढ़ेगी?

हम इस प्रस्ताव के सबसे अधिक समर्थक रहे, परन्तु आज एकाएक ही इसका खोखलापन हमें नजर आया है। हम चाहते हैं, हिन्दी-जनता की ओर से किसी भी युनिवर्सिटी से आचार्य द्विवेदीजी को डी. लिट्. की पदवी प्रदान करने का प्रस्ताव

अब उपस्थित न किया जाय। ऐसा करने की आवश्यकता क्या है ? क्या डी. लिट्. की डिगरी हमारे निकट द्विवेदीजी के महत्त्व से अधिक मूल्यवान है ? क्या डिगरी प्राप्त होने से द्विवेदीजी महाराज का महत्त्व कुछ बढ़ जायगा ? और सबसे बड़ी बात तो यह कि जो पूज्य है, महान है, और हमारे निकट श्रद्धा का पात्र है, यदि कोई आदमी कहने और समझाने से भी उसके सम्मुख भक्तिभाव से अपना माथा नहीं झुकाता, और उसकी पूजा करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता, तो उससे ज्यादा अनुरोध और विनती करना स्वयं अपनी मूर्खना प्रदर्शित करना है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दोस्तानी-एकेडेमी और हिन्दोस्तानी-पत्रिका

प्रयागस्थ हिन्दोस्तानी-एकेडेमी नाम की अर्द्ध-सरकारी संस्था द्वारा 'हिन्दोस्तानी' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। इस पत्रिका के प्रकाशन, सम्पादन एवं ऐसे ही अन्य आवश्यक आयोजन के लिए एकेडेमी प्रतिमास पर्याप्त धन व्यय करती है। इस धन का जैसा चाहिए, वैसा सदुपयोग हो रहा है या नहीं, इस प्रकार की चर्चा कुछ दिन से अँगरेजी के प्रसिद्ध दैनिक 'लीडर' में हम पढ़ रहे हैं। यदि हिन्दी-जनता को इसका पता नहीं है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि हिन्दोस्तानी एकेडेमी का सब काम, वहाँ के दफ्तर की लिखा-पढ़ी और उसके सम्बन्ध की प्रत्येक कार्यवाही, प्रायः अँगरेजी द्वारा ही सम्पन्न होती है। हिन्दोस्तानी-पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी के लिए उपयोगी है या नहीं, इसकी चर्चा हिन्दी-पत्रों में हमने नहीं पढ़ी। खैर।

पत्रिका के ग्राहक इने-गिने हैं, इसलिए इसका प्रकाशन बन्द कर देना चाहिए, यह कोई दलील नहीं है। किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से पत्रिका का प्रकाशन नहीं हो रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि हिन्दोस्तानी-पत्रिका के पाठक कितने हैं ? हिन्दी समझनेवाले कितने व्यक्तियों के पास वह पहुँचती है ? उसके प्रकाशन आदि में इस समय जितना व्यय हो रहा है, क्या उसमें कुछ कमी की जा सकती है ? क्या कोई ऐसा भी उपाय है, जिसके द्वारा पत्रिका को अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके ? अथवा क्या उसका सम्पादन और प्रकाशन केवल उन्हीं विद्वानों के लिए है, जो उसमें लेख लिखते हैं ? यदि उसके पाठकों की संख्या उतनी ही सीमित है, जितनी उसके लेखकों की, तो यह अवस्था सचमुच ही अत्यन्त शोचनीय है।

यहाँ हम एकेडेमी के प्रकाशन के सम्बन्ध में भी दो बातें कहना चाहते हैं। एकेडेमी ने अब तक ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन किया है, जो सर्वसाधारण में लोकप्रिय हुआ हो ? गाल्सवर्दी के नाटकों का कैसा प्रचार हुआ ? 'चर्म बनाने के सिद्धान्त' कितने लोगों ने पढ़े और समझे, और कितने लोगों ने उनसे लाभ उठाया ?

क्या एकेडेमी ने अपने लिए प्रकाशन की कोई नीति भी अख्तियार की है ? यदि की है, तो उसका रूप क्या है ? अथवा जो पुस्तक सामने आयी, उसी को वह प्रकाशित कर डालती है ? अपने ग्रन्थों को अधिक लोकप्रिय और अधिक उपयोगी

बनाने का वह क्या प्रयत्न करती है? हमारी तुच्छ सम्मति में तो हिन्दी-पाठकों को गाल्सवर्दी, शॉ और शिलर के नाटकों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही अपने देश के प्रसिद्ध लेखकों की सुन्दर कृतियों की भी है। हिन्दी के अर्द्ध-पठित समाज को वैज्ञानिक और टेक्नकल विषय के जटिल ग्रन्थों की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी कि सरल, सुबोध और लोकप्रिय शैली में लिखी गयी छोटी-छोटी, सस्ती किताबों की।

देखें, एकेडेमी की इस सम्बन्ध में क्या सम्मति है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राजनीति और समाज

राजनीति के साथ समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि समाज की तैयारी को राजनीतिक तैयारी कहें, तो अत्युक्ति नहीं होती। हमने बहुत बार सूचित किया है, भारत की एक भी—दो, चार, छह सदी पीछेवाली परम्परा—जो भिन्न-भिन्न रूपों से हमारे सामने जाति तथा धर्म के नाम से खड़ी है, काम की नहीं; इस समय जितना ही उसका परिहार होगा, समाज राजनीतिक प्रगति में आगे बढ़ेगा। सबसे बड़ी इस देश में जो हिन्दू-मुस्लिम-समस्या है, वह भी, हमारे इस रूप के बदलने पर, बदल जायगी। जहाँ कट्टरता द्वारा कट्टरता का विरोध किया गया है, वहाँ कट्टरता बढ़ी ही है। प्रसार ही कट्टरता को प्रशमित कर सकता है।

हमारे मत से, भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ, प्राचीन राजधानियों के भग्नावशेष की तरह, भारत में बहुत पहले नष्ट हो चुकी हैं; तभी, जब यह देश पराधीन हुआ, बल्कि पराधीन होने के लिए क्षीण हो चला था। पहाड़ को नदियों से काट-काटकर जो प्रकृति बालू की रजों में परिणत कर साम्य-स्थापना करती है, उसी ने सदियों के प्रहार से भारत के जातीय स्तूपों को चूर्ण कर बराबर मनुष्यता की भूमि में परिणत कर दिया है। पहलेवाले बड़प्पन का विचार अब केवल ढोंग है। यदि हम अपनी जाति में सबको बराबर समझें, और उसी प्रकार

"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति;
भुक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्।"

को कार्य में परिणत करें, तो हमारा समाज प्रगतिशील हो जाय। तब हम मुसलमान भाइयों को भी अपना सकते हैं, क्योंकि गतिशील समाज ही दूसरे को अपने साथ ले सकता है। हम निश्चल, निश्चेष्ट वर्तमान सामाजिक रूप में दूसरे को साथ ले ही नहीं सकते। तब भारत का यथार्थ नवीन रूप आँखों के आगे आयेगा। तभी हम राजनीति की भूमि में ठीक-ठीक पैर रक्खेंगे। यह दस हाथ चलकर, यथेष्ट क्षति स्वीकार कर बीस हाथ लौट आना तब न होगा।

रही बात धर्म की। सो धर्म इस तरह किसी का दूर नहीं होता—विशेषत: हिन्दुओं का धर्म तो दूर हो ही नहीं सकता, जिसमें व्यक्ति के नाम से कुछ है ही नहीं, एक ही प्रकार के आचरण धर्म की प्राथमिक आख्या प्राप्त कर जिसमें नहीं देख पड़ते जो यह भी है और वह भी। पुन: जहाँ प्रकृति ने, अदृश्य विश्व-धर्म

ने सबको बराबर कर दिया हो, सृष्टि में भी जहाँ कुल मनुष्य एक कश्यप के पुत्र हैं, वहाँ मनुष्यों के व्यवहार में इतना फर्क क्यों ? फिर हिन्दू-मात्र, जिनमें अछूत भी मिले हुए हैं, किसी-न-किसी रूप से भगवत्सत्ता को स्वीकार करते ही हैं। अतः व्यावहारिक भेद तो केवल अज्ञान ही कहा जायगा।

खानापान, विवाहादि सम्बन्ध के लिए भी घबरानेवाली कोई बात नहीं। विवाह तो वास्तव में शरीर से पहले मन से सम्बन्ध रखता है, पुरुष और प्रकृति का मेल दो मनों के भीतर से होना चाहिए। आजकल ब्राह्मणेतर समाजों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो विद्या और बुद्धि में ब्राह्मणों के बराबर हैं। फिर ब्राह्मणों की कन्याओं का उनके साथ और उनकी कुमारियों का ब्राह्मणों के साथ मानसिक मेल तथा विवाह असंगत या अस्वाभाविक कदापि नहीं। और, ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में ऐसी स्थितिवालों की भी कमी नहीं, जिनसे चमार, धोबी, नाई और लोध आदि बुद्धि तथा कर्म-कौशल में बढ़े हुए हैं। फिर विवाह की व्यापकता में बाधा कौन-सी हो सकती है ?

इसके साथ है शिक्षा-व्यवस्था। आज जो बात हम कह रहे हैं, उससे पढ़े-लिखे भी अधिकांश लोग सहमत न होंगे। कारण, ऐसा उन्होंने कभी सुना नहीं, करने के आदी नहीं। नवीन भारत को आज के-से पढ़े-लिखों से कुछ फायदा नहीं; उन्होंने केवल अपने फायदे के लिए स्वल्पाधिक पढ़-लिख लिया है। आधुनिक शिक्षा में उपर्युक्त सामाजिक सुधारों की ओर ध्यान देकर अच्छी-से-अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन-प्रचलन, देहात की शिक्षा में देश के त्यागी नेताओं का शिक्षण-निरीक्षण-प्रबन्ध और आजकल के देहात के मदरसों के पाठ्यक्रम का उचित परिवर्तन होना चाहिए। इस तरह सौहार्द तथा सहानुभूति का प्रसार होगा, बालकों के मस्तिष्क दुरुस्त होंगे, दलितों को आश्वासन प्राप्त होगा, उच्च-वर्णवाले सामयिक प्रसंग को समझेंगे।

इस प्रकार समाज की सब तरफ से तरक्की कर लेने पर हमारे सामने मुसलमान भाइयों से मिलनेवाला सवाल हल होने को पेश होगा। तब हम इस प्रश्न का भी विशद उत्तर दे सकेंगे, इसी प्रकार अपनी सीमा को भारतवासियों-भर में विस्तृत कर।

हम देखेंगे, इसके साथ-साथ राजनीति के क्षेत्र में भी तब हम बहुत आगे बढ़ गये हैं। राजनीति की उखाड़-पछाड़ के लिए वास्तव में हमारी यही तैयारी तैयारी है। यदि हम अपने इसी रूप में पत्थर बने रहे, तो हम स्वयं अपनी दुर्बलता के परिचायक बने रहेंगे। पर यदि बदलते हुए हीरे बन सकें, तो उसकी चमक आप अपनी शक्ति से लोगों को लुभाकर अपनी तरफ खींचेगी। यदि हम मनुष्य हैं, तो तब भी हमारा एक धर्म रहेगा। पुनः जहाँ विशद विचार हमारे विवर्तन के कारण हों, वहाँ धर्मच्युत होने का कौन-सा प्रश्न ? धर्म तो यों भी भारत में अनेक रूप धारण कर चुका है, करता जा रहा है।

यहाँ से राजनीतिक प्रगति का श्रीगणेश होता है। इससे पहले, समूह रूप से, हम राजनीति के नामोच्चार के भी अधिकारी नहीं। पुनः-पुनः राजनीतिक प्रगति के रुकने का यही कारण है कि समष्टि की शक्ति पीछे खींच रही है। नेता समष्टि को साथ लेकर दौड़ाने से पहले यदि सोच लें कि उसमें साथ दौड़ने की कितनी शक्ति है, तो ठोकर खाकर बैठने की नौबत न आये।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 अगस्त, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राजनीति के लिए सामाजिक योग्यता

भारत की जातीय राजनीति ने रुख बदल दिया है। इसे यहाँ की राजनीतिक ग्रदूरदर्शिता भी कह सकते हैं। यहाँ के एक नेता ने ग्रपर नेताग्रों का समर्थन करते हुए लिखा है कि उनकी राजनीतिक चालें बड़ी गहरी थीं। नाकामयावी ग्रख्तियार से बाहर की बात है। हम इसे केवल मन को समझा लेना समझते हैं। यह कोई तथ्यपूर्ण बात न हुई। ग्रपनी गोटों को सुरक्षित न देखकर, उनके पिट जाने की बात न सोचकर एक उत्तरदायी चाल बढ़ा देना कोई राजनीतिज्ञता न हुई—यह गलती ही है।

इस राजनीतिक गलती का कारण हुग्रा उसकी सामाजिक दुर्बलता। घर में एक-दूसरे से ग्रलग रहकर सभास्थल में मेल की गलेबाजी में कितनी जान है, यह देश में रहनेवाले विरोधी दल से छिपा नहीं है! बल्कि शासन के प्रारम्भ से हमारा जातीय विच्छेद ही हमारी कमजोरी का कारण रहा, ग्रौर हम कल तक इसके सुधार के लिए न लगे। यह कारण ग्राज भी हमारे सामने उसी रूप में है, ग्रौर इसी का सुधार हमारा सब प्रकार का सुधार है।

हम बहुत पहले से कह रहे हैं, समाज का ग्रामूल परिवर्तन जरूरी है। प्रकृति ने सदियों की पराधीनता से दबाकर भारत की जातीय उच्चता को नष्ट कर दिया है। ग्रब सब एक ही जाति के हैं—शूद्र। वैश्य-शक्ति, राज-शक्ति ग्रौर ब्राह्मण-शक्ति, तीनों योरप को गयीं। हम इस बात को न समझकर, ब्राह्मण बनकर, भारतीय संस्कृति के एकच्छत्र सम्राट होकर भाइयों पर खोखली भारतीयता का रोब गाँठते रहे। ग्रब उस भारतीयता से कैसा फल पैदा हुग्रा, वह सामने है, चखिए।

जो ब्राह्मण ग्रौर क्षत्रिय ग्रपनी वर्णोच्चता का ढोंग भी नहीं छोड़ सकते, ग्रपने ही घर के ग्रन्त्यजों को ग्रधिकार नहीं दे सकते, भारतीयता के ग्रँधेरे में प्रकाश देखने के ग्रादी हैं, वे बिना दिये हुए कुछ पाने का विचार कैसे रखते हैं? उनकी सामाजिक नीचता 'समाज'-शब्द को, उन्नतिशीलता के ग्रर्थ को कैसे पुष्ट कर सकती है? हमारी राजनीतिक दुर्बलता यहीं पर है। यहीं से हमें समाज-जातीय समाज—भारतीय समाज की नींव डालनी है। उसी की मजबूती हमारे राष्ट्र की दृढ़ता है।

पहले हमारे नेताग्रों के केवल ग्रार्थिक ग्रौर राजनीतिक लक्ष्य थे, जिनका सहयोग समाज के साथ न था। जो समाज पुराना, हारा हुग्रा है, वह कितनी भी प्राचीन विभूतियों से युक्त हो, वह नवीन युग के लिए मृत है। उसी से पहले हमें लड़ना था। लड़कर परास्त करना था। परास्त कर नये समाज को सजीव ग्रौर बहुजनोंवाला बनाना था। तब हम राष्ट्र का पहला सोपान तय करते। इसी समाज से राष्ट्र को बल मिलता। यही समाज राष्ट्र का समाज है।

जो लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि इस तरह भ्रष्टाचार पैदा होगा, वे मूर्ख हैं, फिर कहिए, हम फिर कहते हैं, वे मूर्ख हैं। ग्रगर ग्राप नहीं जानते, तो विश्वास कीजिए, वे मूर्ख हैं। जो मनुष्य देश के सभी मनुष्यों को ग्रपने बराबर समझता है, वह ग्रगर भ्रष्टाचार फैलाता है, तो मनुष्य की उच्चता का, सदाचार का कोई प्रमाण नहीं।

धर्म के लिए भी कोई डर नहीं। हम लिख चुके हैं, बहुत बार ग्रपने पाठकों

से नम्र प्रार्थना कर चुके हैं कि जड़-विज्ञान आज ज्ञान के जितने ऊँचे सोपान पर स्थित है, उससे बराबरी करने, उसे परास्त करने में केवल आपका वेदान्त-ज्ञान ही समर्थ है। आप किसी स्थिति में रहकर वेदान्त के उपासक रह सकते हैं। वह मूर्ति-प्रेम नहीं, जिसे किसी महमूद की तलवार तोड़ सकती है, आपको दुखा सकती है। आपका प्रेम अविनश्वर है, यही आपको छोटों के पास ले जाकर उन्हें उठाने में शक्ति दे सकता है, यही व्यावहारिक वेदान्त है; यही भारत का सबसे बड़ा अस्त्र है। वीरो, छोटों को अपने बराबर कर लेने से बड़ा धर्म और कौन-सा है? जो बड़ा है, वही दूसरे को विद्या देकर, धन देकर, सहानुभूति देकर अपने बराबर कर सकता है। जो स्वयं छोटा है, वह क्या करेगा?

भारत की विशाल राष्ट्रीयता यहीं है। यहाँ हिन्दू-मुसलमानवाला सवाल नहीं। ऐसे मनुष्य को कोई हिन्दू या मुसलमान, धर्म-विशेष में कैद रहनेवाला मनुष्य, नहीं हज्म कर सकता। आप ही सोचिए, ऐसे भाव को कोई 'पन' क्या अपने में मिला सकता है? आप समझें, सब 'पन' इसी भाव के आश्रय में हैं या नहीं।

इसलिए तोड़कर फेंक दीजिए जनेऊ, जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं, जो बड़प्पन का भ्रम पैदा करता है, और समस्वर से कहिए कि आप उतनी ही मर्यादा रखते हैं, जितनी आपका नीच-से-नीच पड़ोसी, चमार या भंगी रखता है। तभी आप महामनुष्य हैं। उसी क्षण आप ज्ञान-काण्ड के अधिकारी हैं। एक समाज आपको च्युत करेगा, तो आपको दूसरा समाज मिलेगा। उसी समाज से आप साबित कर सकेंगे, आप समाज से नहीं बढ़े, समाज आपसे बढ़ा है।

यहीं से राष्ट्र की वृद्धि है, शक्ति है, उत्थान है, गति है। सब सुधार, सारी शिक्षा, कुल वैमनस्य का प्रतिरोध यहीं है। आज का सच्चा भारतीय यही है।

मित्रवर, देश को ऐसे ही महापुरुषों, ऐसी ही महाशक्तियों की आवश्यकता है। यही लोग राजनीति की जड़ सुदृढ़ कर सकते हैं; त्याग, तपस्या तथा अध्यवसाय द्वारा देश के मूर्खों को शिक्षा दे सकते हैं, समाज को राजनीति के लिए उपयुक्त बना सकते हैं, और सब भ्रम है, सारी बहस मिथ्या है, सारी स्कीम इन्द्रजाल है, सारा व्यक्तित्व दूसरों को गुलाम बनाने का बोझ है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 अगस्त, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## महात्माजी और हरिजन

महात्माजी ने अनशन करने की आदत अपनी माता से सीखी है। अनशन संसार के इतिहास में कोई नयी चीज नहीं है। इसके पूर्व भी लोगों ने अनशन किया है —भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी। ठीक 21 दिन का अनशन किया था डनियल ने, जबकि इसराइल के बालकों पर घोर अत्याचार हो रहा था। सेण्टपाल ने भी 13 दिन की भूख-हड़ताल की थी। महात्मा बुद्ध ने तो 47 दिन तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया था। मोहम्मद और मूसा ने दैवी प्रकाश की प्रतीक्षा में बड़े लम्बे उपवास किये थे। मारटिन लूथर जब बाइबिल का अनुवाद कर

रहा था, तो निरन्तर कई दिनों तक भूखा रहा था। गत दूसरी सदी में पालीकार्प-नामक महाशय भी खूब उपवास किया करते थे। वर्तमान युग में उपवास करते हुए हमारे देश के दो वीर हमसे बिछुड़ चुके हैं। उन दोनों वीरों के नाम से कौन परिचित नहीं है! साधू फुंगी और भाई दास को कौन नहीं जानता! आज देश के कर्णधार महात्मा गांधीने भी इस बुढ़ापे में 21 दिन का उपवास कर डाला! इसके पूर्व भी महात्माजी ने ऐसे ही कई व्रत किये हैं।

महात्माजी ने अपने गले में फाँसी की रस्सी डाल ली थी, परन्तु हमारे देश के धन्य भाग्य कि प्रकृति ने उनकी रक्षा की। महात्माजी भारत के लिए एक दैवी प्रसाद हैं। हमने अभी तक महात्माजी को नहीं पहचाना—हमने अभी तक उस दैवी प्रसाद से पूर्ण लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। महात्माजी ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी—हरिजन-समस्या को जल्दी-से-जल्दी सुलझाने के लिए, हमें यह जताने के लिए कि यदि हम अब भी न चेतेंगे, तो दैव की देन हमारे हाथों से छिन जायगी। क्या पता कि हमारी उपेक्षा-दृष्टि देखकर महात्माजी दूसरे उपवास की घोषणा न कर देंगे! यदि हम चाहते हैं कि महात्माजी जीवित रहें—हमारे लिए, हमारे देश के लिए, तो हमें हरिजनों को गले लगाना होगा, उन्हें अपनाना होगा, नीच-ऊँच का भेद सर्वथा मिटाना होगा। यदि हम अब भी अपने भाइयों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे, यदि हम अब भी उनका तिरस्कार करेंगे, यदि हम अब भी अपने ही ऐसे हाड़-चामवाले मनुष्यों को अछूत समझेंगे, उन्हें दुर-दुरायेंगे, तो वह समय दूर नहीं, जब संसार की सारी शक्तियाँ हमसे रूठ जायँगी, तथा हमारा ऐसा पतन होगा कि हम उठाये न उठेंगे। संसार हमारी अवस्था पर हँसेगा, हमारी मूर्खता पर हमारा उपहास करेगा।

क्या हम चाहते हैं कि हमारे देश से यह सहस्त्रों वर्ष का सामाजिक कोढ़ दूर न हो? क्या हम चाहते हैं कि संसार हमारी मूर्खता तथा अनिष्टकारी सनातनी नीति पर सदैव हमारी खिल्ली उड़ाता रहे? (क्या हम चाहते हैं कि हमारे हठवाद से चिढ़कर महात्माजी हमसे सदा के लिए विमुख हो जायँ? यदि नहीं, तो हमें इस अछूतपन के कलंक को धोना पड़ेगा। जो अपने हैं, उन्हें अपना समझ अपनाना होगा। जिन्हें निकृष्ट समझते रहे हैं, उन्हें उत्कृष्ट समझ हृदय से लगाना होगा। जिस दिन हम अपने करोड़ों भाइयों को आजन्म दासता से मुक्त कर देंगे, महात्माजी अपनी तपस्या सफल समझेंगे, हमें आशीर्वाद देंगे। संसार एक तपस्वी की तपस्या का अकस्मात तथा जादू-भरा परिणाम देखकर चकित रह जायगा)।

हर्ष की बात है कि महात्माजी ने अपना 21 दिन का उपवास समाप्त कर दिया। लेकिन इससे हिन्दू-समाज को चुप नहीं रह जाना चाहिए, वरन् और भी उत्साह के साथ हरिजन की ओर बढ़ना चाहिए।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 अगस्त, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साहित्य में प्रोपागैण्डा

विषय की दाल में नमक के बराबर ही प्रोपागैण्डा अच्छा होता है। क्योंकि इससे विषय की रोचकता बढ़ जाती है। पर जब वह पान में चूने की तरह ज्यादा हो

जाता है, तब अपना उद्देश भी खो बैठता है, हानिकर भी हो जाता है।

हमारे 'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी ऐसे ही प्रोपागैण्डिस्ट हैं। उनका हर प्रोपागैण्डा पान में ज्यादा चूने-सा हमें जान पड़ा। जिन-जिन लोगों के विरुद्ध उन्होंने प्रोपागैण्डा किया है, उनके आलोच्य विषय पर इतनी ज्यादा लिखा-पढ़ी की है, और तरीका इतना असाहित्यिक रहा है कि किसी भी मासिक पत्र के लिए यह सम्मानजनक कदापि नहीं कहा जा सकता। बल्कि इससे सम्पादक की अयोग्यता ही प्रकट हुई है। ऐसे कार्य सत्साहित्यिकों में यही भाव पैदा करते रहे हैं कि सम्पादक को इसके सिवा और कुछ नहीं आता।

न पसन्द आये विषय और पुस्तकों पर आचार्य पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने भी 'सरस्वती' के सम्पादनकाल में प्रतिकूल लिखा है। पर किसी विषय का पुनः-पुनः पेषण नहीं किया। जो कुछ लिखा, अधिकारपूर्वक लिखा। जनता पर इसका प्रभाव पड़ा। आज भी द्विवेदीजी की आलोचनाओं की प्रशंसा है। बात यह कि द्विवेदीजी उच्चकोटि के साहित्यिक हैं, साहित्यिक पत्रिका का मतलब तथा विरोध-लेखन की कला जानते हैं, उन्होंने यथादर्श इस कार्य का उत्तरदायित्व पूरा किया। चतुर्वेदीजी साहित्य के कितने बड़े ज्ञाता हैं, इसके सम्बन्ध में जनता की दृष्टि पर भले ही पर्दा पड़ा हो, साहित्यिक जन अच्छी तरह जानते हैं। चतुर्वेदीजी के इसी ज्ञान की प्रतिक्रिया पुनः-पुनः उनके उठाये हुए प्रोपागैण्डा में मिलती है।

कुछ प्रोपागैण्डा पर भी लिखेंगे। श्रीयुत 'उग्र' की चाकलेट-चर्चा पर कई महीनों तक चतुर्वेदीजी लिखते-लिखाते रहे। लोग कहते हैं, इसी के फल से 'उग्र' का साहित्य गिर गया, और हिन्दी के मैदान से भी वह हट गये। यह सोलहो आने गलत है। हिन्दी में 'उग्र' के चाकलेट का जसा विषय था, वह कुछ ही दिन चल सकता था। ऐसा ही चला भी, अब भी कुछ चल रहा है। हम समझते हैं, इस पुस्तक के कई संस्करण हो चुके हैं। इससे मालूम होता है कि लोगों की रुचि इस तरह थी; फिर पुस्तक लेखन के विचार से भी उतनी निन्द्य नहीं, जितनी धर्मात्मा लोगों द्वारा करार दी गयी। कला की दृष्टि से हिन्दी के कथानक-साहित्य की जैसी स्थिति है, वह काफी महत्त्व रखती है। अपरंच 'उग्र'जी ने केवल चाकलेट-चर्चा ही नहीं की, और भी बहुत-कुछ लिखा है। हिन्दी में श्री उग्र को ही राजनीतिक कहानियों के लिए यथाधिकार श्रेय दिया जा सकता है। हिन्दी के इने-गिने अच्छे नाटकों में उनके 'ईसा' का स्थान है। हिन्दू-मुस्लिम-भेद के हटाने का प्रयत्न 'चन्द हसीनों के खुतूत' में है। हिन्दू-मन को बुरे संस्कारों से हटाकर रास्ते पर लाने का प्रयास 'दिल्ली का दलाल' में है, जिसकी लोकप्रियता का यहीं पता लगा लीजिए कि डेढ़ महीने के अन्दर उसका पहला संस्करण बिक गया। चुभती सरल साहित्यिक भाषा उग्रजी से अच्छी लिखनेवाला हिन्दी में दूसरा नहीं। जिस साहित्यिक में इतने गुण हैं, हम चतुर्वेदीजी से पूछते हैं, आपने उसके खिलाफ ज्यादा लिखा या तारीफ में ? एक-आध कहानी की तारीफ आपने कर दी होगी, जहाँ तक स्मरण है, की है, पर यह केवल आपने शिष्टाचार की रक्षा की। आपके प्रोपागैण्डा का मतलब साहित्यिकों की दृष्टि में बहुत पहले ही आ गया है। आप किसी विषय का सुधार जो चाहते हैं, वह गौण है, मुख्य 'विशाल भारत' का प्रचार है। रही बात 'उग्र' के मैदान छोड़ने की, यह भी सोलहो आने झूठ है। जो मनुष्य बोलते हुए छायाचित्रों की कम्पनी में बराबर कहानी और दृश्य लिख रहा है, वह साहित्य से अलग कैसे हो गया ? अब तो वह

और दृढ़ता के साथ जनता तथा आप लोगों के सामने है। अच्छा, इन फिल्मों में जो चुम्बनालिंगन के एक-से-एक बढ़कर अश्लील चित्र निकलते हैं, इनके विरोध में भी आवाज उठाइए। देखें, कौन-सी कम्पनी आपका हितोपदेश सुनती है। और-तो-और, आपके पड़ोस में ही जो हजारों वेश्याएँ हैं, उन्हीं के विरुद्ध आन्दोलन उठाइए। कोई उनके यहाँ न जाय; उनका कुछ सुधार ही कर दीजिए; यह सब तो एक प्रत्यक्षवादी के लिए और भी प्रत्यक्ष व्यभिचार-नीचता रखता है। लोगों की रायें लीजिए, और छापिए 'विशाल भारत' में। भक्तगण कह भी देंगे—इसी कारण 'विशाल भारत' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पत्र है। उसे हम अपनी बहू-बेटियों के हाथ निर्भय सौंप सकते हैं।

आपने पं. सूर्यकान्तजी त्रिपाठी 'निराला' के खिलाफ भी आन्दोलन किया। कभी रहस्यवाद का रास्ता नहीं देखा, उस पर चलनेवाले के विरुद्ध अकड़कर खड़े हो गये। उससे पूछा भी नहीं कि यह जो लिखा है, इसका क्या मतलब है। बस, अपना प्रोपागैण्डा शुरू कर दिया। और जो लोग रहस्यवाद का 'र' तक नहीं जानते, उनकी सम्मतियाँ छापने लगे। आबाल-वृद्ध-वनिता सबकी रायें छापने की घोषणा कर दी, और बात-की-बात में एक भले-चंगे मनुष्य को पागल बना डाला। जब उसने कैफियत तलब की, प्रमाण-प्रयोगों से उत्तर दिया, प्रश्न किये, विषय पर उतरकर विवेचन कर लेने के लिए बुलाया, तब आप बगलें झाँकने लगे। यह सब इसलिए हुआ कि 'विशाल भारत' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पत्र है, और उसके सम्पादक हिन्दी में सब सम्पादकों से अधिक उत्तरदायी। हम पूछते हैं, चतुर्वेदीजी ने श्रीयुत श्रीनाथसिंहजी के अपूर्ण लेख का तो छूटते ही जवाब लिख दिया, और जनता के मस्तिष्क से भ्रम का भी निराकरण कर दिया, पर 'निराला'जी के सम्बन्ध में उन्हें अभी तक कुछ लिखने की फुर्सत क्यों नहीं हुई, जबकि उत्तर पूरा पा चुके? उन्होंने इसके उत्तर पर किसी पुरस्कार की भी तो घोषणा की थी।

यहीं से समाप्ति नहीं हुई। इस प्रोपागैण्डा की समाप्ति 'विशाल भारत' के जीवन की भी समाप्ति है। क्योंकि उसमें अनुवादों के सिवा हिन्दी की अपनी चीज कितनी रहती है, यह लिखे-पढ़े सभी लोगों को मालूम है। अस्तु, अब आपने श्री चतुरसेन शास्त्री पर आक्षेप शुरू किये हैं। शास्त्रीजी का गद्य हिन्दी के अधिकांश लोगों को पसन्द है। उनके उपन्यासों की काफी अच्छी बिक्री है। यह गद्य-काव्य, उपन्यास, कथानक, चिकित्सा, हिन्दुत्व की रक्षा आदि अनेक विषयों पर लिख चुके हैं, जिनमें सत्साहित्य की ही संख्या बढ़ी हुई होगी। हम पूछते हैं, एक ऐसे लेखक के खिलाफ, एक मामूली-से विषय पर, तिल को ताड़ बनाकर दिखाने की आपकी ही नीयत कौन-सी व्याख्या प्राप्त करती है? शास्त्रीजी को हम भी इतिहास का ज्ञाता नहीं मानते, पर इतिहास के देखने पर पता तो यही चलता है कि कल जो 'हाँ' थी, आज वही 'नहीं' बन गयी है? जो इतिहास पढ़ाये जाते हैं, उनकी काफी निन्दा हो चुकी है। ऐसी दशा में बहुत जोर किसी प्रमाण पर नहीं दिया जा सकता। फिर कौन लेखक किस विचार से इतिहास लिखता है, या कल्पना करता है, इसके निश्चय से पहले उस पर लांछन लगाना उचित नहीं। यदि ऐसा ही करना है—अगर आप किसी कारण से करना चाहते हैं, तो हम कहेंगे, आप बंकिम-साहित्य के खिलाफ आन्दोलन करने के लिए 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के सम्पादक को सलाह दीजिए; बंकिमचन्द्र ने मुसलमान भाइयों के खिलाफ बहुत लिखा है; वे आन्दोलन करें। इधर आप चित्तौड़-ध्वंस, महारानी पद्मिनी, महाराणा प्रताप सिंह, छत्रपति शिवाजी आदि पर पुस्तकें न निकलें,

क्योंकि मुसलमान भाई नाराज हो जायँगे, इसके लिए प्रयत्न कीजिए। और, उस महासतीत्व के काल में भी सीमान्त की एक महारानी पर लिखी हुई विंसेण्ट स्मिथ की इन पंक्तियों को—She subsequently bore a son to Alexander (यथानुक्रम उस (रानी) के सिकन्दर से एक लड़का हुआ)—पक्का प्रमाण मानते रहिए। हमारा मतलब शास्त्रीजी या किसी व्यक्ति-विशेष का पक्ष लेना नहीं, केवल यह निर्देश करना है कि चतुर्वेदीजी कितने समारोह के साथ एक आन्दोलन को उठाते हैं, जो साहित्यिक विचार से कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। एक दफा आपने अपनी राय दे दी, काफी हुआ। पर एक आदमी के पीछे पड़ जाने के मानी क्या? आपने चतुरसेनजी के लिए आये हुए आचार्य शब्द को भी कामाओं से बाँधा है। आपको इस शब्द के औचित्य पर शंका हो सकती है। पर अपने विषय का एक प्रतिष्ठित लेखक, जो बारह-चौदह वर्ष से लगातार हिन्दी की सेवा कर रहा हो, आचार्य कहला भी सकता है।

श्रीनाथसिंहजी के लेख का जो उत्तर चतुर्वेदीजी ने दिया है, इण्टरव्यू के कायदे बतलाये हैं, उदाहरण पेश किया है, सफाई देते हुए जनता को मिलाने की कोशिश की है, यह एक पत्र-सम्पादक के चित्र के बदले ऊँची आवाज उठाकर जनता को अपनी तरफ खींचने का प्रयत्न करनेवाले व्याख्यान-मंच के प्रोपागैण्डिस्ट की तस्वीर खींचता है। कोई भी साहित्यिक इण्टरव्यू पर लिखे हुए 'सरस्वती' के नोट को देखकर कहेगा, यह इण्टरव्यू पर व्यंग्य है—सच्चा इण्टरव्यू नहीं। पुनः, पं. बनारसीदासजी से इण्टरव्यू के तौर पर 'सरस्वती' के सम्पादक को बातचीत करनी पड़ेगी, यह कल्पना ही हास्यास्पद है। 'इण्टरव्यू' के औचित्य और चतुर्वेदी-जी पर किये गये अनौचित्य पर चतुर्वेदीजी के भक्तों को लेखन-कला का विशेष रूप से प्रदर्शन करना पड़ा है, पर 'सरस्वती' के सम्पादक की भी एक मर्यादा है, इधर किसी को भी ध्यान देने की फुर्सत नहीं हुई। व्यंग्य में अतिरंजना बड़ी बात नहीं। पर लेख असत्य कदापि नहीं। महात्माजी और रवीन्द्रनाथ के साथ रहने का चतुर्वेदीजी दूसरों पर रोब गाँठते हैं, पार्चे या चिट्ठियों का जिक्र करते हैं, यह बिलकुल सत्य है। इसकी गवाही उत्तरदायी साहित्यिक दे सकते हैं।

अच्छा चतुर्वेदीजी जो किसी भी व्यक्ति को इंगित-मात्र से गिरा और चढ़ा सकते हैं, ऐसी उक्ति श्रीनाथसिंहजी के लेख में जो आयी है, क्या यह भी झूठ ही है? क्या चतुर्वेदीजी बतलाने की कृपा करेंगे, वह कौन-सी शक्ति उनके पास है?

आपकी जो राय 'सुधा' के सम्बन्ध में है, यह मुमकिन है, सत्य हो, (हम आपके सम्बन्ध में व्यक्तिगत अधिक नहीं लिखना चाहते। आप स्वयं सोचें) यह अवश्य झूठ होगी।

सुधा के पाक्षिक रूप के प्रथम दर्शन हुए। देखकर ही चित्त प्रसन्न हो गया। मुझे उसने मोह लिया। चित्र, छपाई, कागज़ और लेख-संग्रह, सभी चारुता-चर्चित मालूम हुए।

म. प्र. द्विवेदी, 7-8-33।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

# विद्यार्थियों में अपव्यय

संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का एक लेख विद्यार्थियों के व्यर्थ व्यय के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ है। आचार्य राय विज्ञान में ही प्रसिद्ध नहीं, वह चरित्र में भी महापुरुष हैं। बंगाल के सर्वसाधारण उन्हें इष्टदेव की तरह मानते, श्रद्धा करते हैं। उनके-जैसा महत्तम मनुष्य भारत में दूसरा नहीं। वह अपनी आमदनी के केवल कुछ रुपये अपने खर्च के लिए रखते थे, बाकी गरीब विद्यार्थियों को पढ़ाई के खर्च के लिए दे देते थे। बंगाल केमिकल एण्ड फॉरमैस्यूटिकल वर्क्स-जैसी स्वदेशी संस्था खोलने का श्रेय आप ही को है। आपकी बंगाल में इतनी इज्जत है कि जिन गृहों में पर्दाप्रथा प्रचलित है, वहाँ भी आप बेरोक-टोक जाते थे, महिलाओं को उपदेश देते थे, और गृहस्वामी आपके पदार्पण से अपने अहोभाग्य समझते थे। महिलाओं में आपकी जैसी श्रद्धा बंगाल में विरल है।

वर्तमान समय छात्रों का अपव्यय देखकर आपने एक निबन्ध लिखा है। आपका कहना है कि पहले लड़कों को विश्वविद्यालयों से निकलने के साथ-साथ अच्छी जगहें मिल जाती थीं। इसलिए विलासिता कुछ सीमा तक क्षम्य थी। परन्तु अब वे दिन नहीं रहे। प्रथम श्रेणी के पासशुदह लड़के भी हाथ-पर-हाथ रक्खे घर बैठे रहते हैं। अतः अब फैशन के पीछे रुपये खर्च करने का समय नहीं रहा। जो धन वे पानी की तरह खर्च करते हैं, वह उतनी ही आसानी से पैदा नहीं किया गया। हमारे विद्यार्थी एक रुपयेवाली सीट में बैठकर सिनेमा देखते हुए या रेस्टोरों में रुपये-डेढ़ रुपये की चाय खाते हुए यह नहीं सोचते कि इस धन के उपार्जन के लिए उनके अभिभावकों को यथेष्ट त्याग स्वीकार करना पड़ा है, सख्त-से-सख्त जरूरतें दबानी पड़ी हैं।

आचार्य राय के कथन पर हमारे हिन्दी-भाषी विद्यार्थी ध्यान दें। लखनऊ के छात्र अपव्यय के लिए भारत-भर में बदनाम हैं। गाँधीजी तीन साल पहले जब लखनऊ-विश्वविद्यालय आये थे, तब बहुभाव-युक्त उन्होंने एक ऐसी ही बात कही थी (जब अँगरेजी में उन्हें अभिनन्दन दिया गया था) कि वह लखनऊ के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सुन चुके हैं।

सच तो यह है कि अपव्यय के उदाहरण भारत के सभी विश्वविद्यालयों में अत्यधिक हैं। कहीं-कहीं लड़कियों का व्यय-भार तो इतना अधिक हो गया है कि हजार-बारह सौ मासिक आमदनीवाला पति न मिलने के कारण वे क्वाँरी ही रह गयी हैं। पंजाब में हमें इसके सबसे अधिक उदाहरण मिले। कुमारियों के लिए सच्चरित्र, विद्वान, स्वस्थ वर ही आदर्श हैं, केवल उपार्जनशील नहीं। जहाँ लड़कियों की दृष्टि भावी पति के रुपयों की ओर जाती हो, वहाँ निस्सन्देह कहना चाहिए, ऐसी शिक्षा कुमारियों तथा महिलाओं को पतित करने के लिए हुई है, उठाने के लिए नहीं। उनसे देश को कदापि लाभ नहीं हो सकता।

मितव्ययिता, सादा जीवन तथा सदाचार ही युवकों और युवतियों के भविष्य-जीवन की दृढ़ बुनियाद हैं। इन्हीं पर उपार्जन की भीत उठती है, और संसार का गृह सुदृढ़ होकर निर्मित होता है। हिन्दी में आचार्य पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी इन गुणों के प्रत्यक्ष, प्रांजल उदाहरण हैं। आपका कर्म-कौशल, आपकी रुचि-चारुता हिन्दी में अन्यत्र अप्राप्य है। यह शक्ति आपके विद्यार्थीजीवन में प्राप्त चारित्र्य की पुरस्कृति है। आप विद्यार्थीकाल में अपने ही कन्धों अपना भोज्य

ग्राटा-दाल रखकर दो मंजिल दूर छात्रावास पैदल चलकर पहुँचते थे। अपनी इसी शक्ति से अर्जित मितव्ययिता के कारण, दरिद्र हिन्दी-साहित्य में रहकर भी, कई हजार रुपये आपने विद्यार्थियों की वृत्ति के लिए दिये। हमें विश्वास है, हमारे विद्यार्थी ऐसे महापुरुषों का ही आदर्श व्यय के लिए ग्रहण करेंगे।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## जहरीला घी और तेल

घी और तेल विकृत हो जाने पर स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही नहीं, प्राणघातक भी हैं। खराब घी से बना भोजन खाने पर अनेक बार हुई मृत्यु-घटनाएँ पढ़ने को मिली हैं। भारत के बाजारों में घी और तेल की खपत बहुत ज्यादा है। इसलिए जहाँ म्युनिसिपैलिटी की देखभाल होती रहती है, उन शहरों में कार्यकर्ताओं को बड़ी ईमानदारी से यह जाँच करते रहना चाहिए। अर्थ के लिए व्यवसायियों ने घी में चर्बी तक मिला दी है। मेलों में अनेक प्रकार की बीमारियाँ होती हैं। उनका मुख्य कारण घी और तेल का बना खाद्य पदार्थ ही होता है। अभी दिल्ली है 594 मन घी यमुना में बहा दिया गया। म्युनिसिपैलिटी की प्रयोगशाला में वह घी मिश्र तथा सड़ा हुआ देखा गया। जो व्यवसायी शुद्ध घी बेचने का विज्ञापन लगाकर मिलाया हुआ घी बेचते हैं, उन्हें कानून के अनुसार हजार रुपये जुर्माना और छह महीने तक सख्त कैद की सजा हो सकती है। वे कुछ अर्थ के पीछे समाज में महान अनर्थ पैदा कर देते हैं। पर व्यवसायी इस तरह उपदेशों से रास्ते पर न आवेंगे। म्युनिसिपैलिटी को इसकी कड़ी-से-कड़ी जाँच करनी चाहिए।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## स्वास्थ्य और व्यायाम

भोजन तथा व्यायाम के अभाव से हमारे देशवाले दिन-पर-दिन दुर्बल होते जा रहे हैं। स्वास्थ्य का सुधार किसी भी सुधार से पहले आवश्यक है। हमारे पूर्वजों को स्वास्थ्य का महत्त्व अच्छी तरह मालूम था। तभी 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' कहा है।

शरीर में पाँच सौ से भी अधिक पेशियाँ (Muscles) हैं। कुछ ऐसी हैं, जो जीवित हैं। उनका रंग लाल है। लम्बी, छोटी-बड़ी अनेक आकार-प्रकार की पेशियाँ हैं। पेशियाँ अंग-संचालन में सहायता देती हैं। पेशियों के संकुचित होकर शक्ति पहुँचाने के कारण ही हम खड़े हो सकते हैं। मुख्यतः इन पेशियों तथा स्नायुओं को सबल करने के लिए ही व्यायाम आवश्यक है। नसें फौज के सिपाहियों

की तरह हैं, जो स्वस्थ रहकर ही अपने कमाण्डर के आज्ञानुसार युद्ध के विभिन्न कार्य पूरे करते और अधिक समय तक लड़ने के लिए सक्षम होते हैं। जिस तरह मन-रूपी कमाण्डर की उन पर आज्ञा चलती है, उसी तरह उनकी पुष्टि तथा तेजस्विता भी कमाण्डर को प्रसन्न रखकर आज्ञा देने में सक्षम करती है। निस्तेज मन, घबराया कमाण्डर शासन तथा नियन्त्रित संचालन नहीं कर सकता। स्नायु-मण्डली को क्रियाशील रखने के लिए उत्तम भोजन, खुली हवा, निद्रा तथा व्यायाम आवश्यक हैं। इससे मन भी प्रसन्न रहेगा। दुःख तथा वियोग अथवा पीड़ा से जो लोग बहुत जल्द मुरझा जाते हैं, समझना चाहिए कि उनका शरीर और मन बहुत ही दुर्बल है। ऐसे मनुष्य दुःख में मूर्च्छित भी हो जाते हैं। ऐसी ही दुर्बलता के कारण महिलाएँ मूर्च्छा-रोग से ग्रस्त होती हैं। और भी अनेक प्रकार की व्याधियाँ हैं, जो स्वास्थ्यहीनता के कारण ही होती हैं, और उनका प्रकोप प्राणान्त तक कर देता है।

लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख तथा सिद्धियाँ स्वास्थ्य के विकास के साथ प्राप्त होती हैं। सौन्दर्य भी स्वास्थ्य ही की विभूति है। शरीर को निष्क्रिय रखने से शरीर धीरे-धीरे निष्क्रिय हो जाता है। अगर कुछ दिनों तक कोई पड़ा रहे, और पैरों को चलने का काम न दिया जाय, तो वह देखेगा कि उसके पैर कमजोर पड़ गये हैं, और उससे चला नहीं जाता। यही बात नसों के लिए भी है। इसीलिए तमाम अंगों का आवश्यक संचालन शरीर-धारण के लिए पहले आवश्यक है। व्यायाम न करने पर पेशियाँ छोटी तथा नरम हो जाती हैं, और रक्त का प्रवाह घट जाता है। इससे शरीर में रोग पैदा होते हैं। व्यायाम से हृत्पिण्ड की धड़कन तेज हो जाती है। इससे नसों में खून अच्छी तरह दौड़ सकता है। श्वास की गति तीव्र होती है। इससे शोधक वायु शरीर में ज्यादा भरती है। हमारे वर्तमान भारत की नवीन सन्तति—युवक तथा युवतियों—के लिए व्यायाम प्राणों की ही तरह प्रिय होना चाहिए। व्यायाम के प्रकार-भेद हमने नहीं लिखे, लोग अपनी सुविधा के अनुसार चुन लेंगे।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 सितम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर

उन्नीसवीं सदी का परार्द्ध भारत के इतिहास का अपर स्वर्णप्रभात है। कई पावन-चरित्र महापुरुष अलग-अलग उत्तरदायित्व लेकर, इस समय, इस पुण्य भूमि में अवतीर्ण होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती भी इन्हीं में एक महाप्रतिभामण्डित महापुरुष हैं।

हम देखते हैं, हमें इतिहास भी बतलाता है, समय की एक आवश्यकता होती है। उसी के अनुसार धर्म अपना स्वरूप ग्रहण करता है। हम अच्छी तरह जानते हैं, ज्ञान सदा एकरस है, वह काल के बन्धन से बाहर है; और चूँकि वेदों में मनुष्य-जाति की प्रथम तथा चिरन्तन ज्ञान-ज्योति स्थित है, इसलिए उसके परिवर्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती, बल्कि परिवर्तन भ्रमजन्य भी कहा जा सकता है।

पर, साथ-साथ, इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि उच्चतम ज्ञान किसी भी भाषा में हो, वह अपौरुषेय वेद ही है। परिवर्तन उसके व्यवहार-कौशल, कर्म-काण्ड आदि में होता है, हुआ भी है। इसे ही हम समय की आवश्यकता कहते हैं। भाषा जिस प्रकार अर्थ-साम्य रखने पर भी स्वरूपतः बदलती गयी है, अथवा, भिन्न देशों में, भिन्न परिस्थितियों के कारण, अपर देशों की भाषा से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है, इसी प्रकार धर्म भी समयानुसार जुदा-जुदा रूप ग्रहण करता गया है। भारत के लिए यह विशेष रूप से कहा जा सकता है। बुद्ध, शंकर, रामानुज आदि के धर्ममत-प्रवर्तन सामयिक प्रभाव को ही पुष्ट करते हैं। पुराण इसी विशेषता के सूचक हैं। पौराणिक विशेषता और मूर्तिपूजन आदि से मालूम होता है, देश के लोगों की रुचि अरूप से रूप की ओर ज्यादा झुकी थी। इसीलिए वैदिक अखण्ड ज्ञान-राशि को छोड़कर ऐश्वर्य-गुणपूर्ण एक-एक प्रतीक लोगों ने ग्रहण किया। इस तरह देश की तरक्की नहीं हुई, यह बात नहीं। पर इस तरह देश ज्ञानभूमि से गिर गया, यह बात भी है। जो भोजन शरीर को पुष्ट करता है, वहीं रोग का भी कारण होता है। मूर्ति-पूजन में इसी प्रकार दोषों का प्रवेश हुआ। ज्ञान जाता रहा। मस्तिष्क से दुर्बल हुई जाति औद्धत्य के कारण छोटी-छोटी स्वतन्त्र सत्ताओं में छँटकर एक दिन शताब्दियों के लिए पराधीन हो गयी। उसका वह मूर्तिपूजन-संस्कार बढ़ता गया, धीरे-धीरे वह ज्ञान से बिलकुल ही रहित हो गयी। शासन बदला, अँगरेज आये, संसार की सभ्यता एक नये प्रवाह से बही, बड़े-बड़े पण्डित विश्व-साहित्य, विश्व-ज्ञान, विश्व-मैत्री की आवाज उठाने लगे; पर भारत उसी प्रकार पौराणिक रूपकों के मायाजाल में भूला रहा। इस समय ज्ञान-स्पर्धा के लिए समय को फिर आवश्यकता हुई, और महर्षि दयानन्द का यही अपराजित प्रकाश है। वह अपार वैदिक ज्ञान-राशि के आधार-स्तम्भ-स्वरूप अकेले बड़े-बड़े पण्डितों का सामना करते हैं। एक ही आधार से इतनी बड़ी शक्ति का स्फुरण होता है कि आज भारत के युगान्तर-साहित्य में इसी की सत्ता प्रथम है, यही जनसंख्या में बढ़ी हुई है।

चरित्र, स्वास्थ्य, त्याग, ज्ञान और शिष्टता आदि में जो आदर्श महर्षि दयानन्दजी महाराज में प्राप्त होते हैं, उनका लेशमात्र भी अभारतीय पश्चिमी शिक्षा-सम्भूत नहीं; पुनः ऐसे आर्य में ज्ञान तथा कर्म का कितना प्रसार रह सकता है, वह स्वयं इसके उदाहरण हैं। मतलब यह कि जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नहीं हो सकता, जितना अँगरेजी-शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि दयानन्द सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खण्डन हैं। महर्षि दयानन्दजी से बढ़कर भी मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता। यहीं वैदिक ज्ञान की मनुष्य के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, यहीं आदर्श आर्य हमें देखने को मिलता है।

यहाँ से भारत के धार्मिक इतिहास का एक नया अध्याय शुरू होता है, यद्यपि वह बहुत ही प्राचीन है। हमें अपने सुधार के लिए क्या-क्या करना चाहिए, हमारे सामाजिक उन्नयन में कहाँ-कहाँ और क्या-क्या रुकावटें हैं, हमें मुक्ति के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने बहुत अच्छी तरह समझाया है। आर्य-समाज की प्रतिष्ठा भारतीयों में एक नये जीवन की प्रतिष्ठा है, उसकी प्रगति एक दिव्य शक्ति की स्फूर्ति है। देश में महिलाओं, पतितों तथा ब्राह्मणेतर जातियों के अधिकार के लिए महर्षि दयानन्द तथा आर्य-समाज से बढ़कर इस नवीन विचारों के युग में किसी भी समाज ने कार्य नहीं

किया। आज जो जागरण उत्तर-भारत में देख पड़ता है, इसका प्राय: सम्पूर्ण श्रेय आर्य-समाज को है। स्वधर्म में दीक्षित करने का यहाँ इसी समाज से श्रीगणेश हुआ है। भिन्न जातिवाले बन्धुओं को उठाने तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रहारों से बचाने का उद्यम आर्य-समाज ही करता रहा है। शहर-शहर, जिले-जिले, कस्बे-कस्बे में, इसी उदारता के कारण, आर्य-समाज की स्थापना हो गयी। राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी स्वामीजी एक प्रवर्त्तक हैं, और आर्य-समाज के प्रचार की तो यह भाषा ही रही है। अनेक गीत खिचड़ी शैली के तैयार किये और गाये गये। शिक्षण के लिए गुरुकुल जैसी संस्थाएँ निर्मित हो गयीं। एक नया ही जीवन देश में लहराने लगा।

स्वामीजी के प्रचार के कुछ पहले ब्राह्म-समाज की कलकत्ते में स्थापना हुई थी। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मधर्म की प्रतिष्ठा, वैदान्तिक बुनियाद पर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर कर चुके थे। वहाँ इसकी आवश्यकता इसलिए हुई थी कि अँगरेजी सभ्यता की दीप-ज्योति की ओर शिक्षित नवयुवकों का समूह पतंगों की तरह बढ़ रहा था। पुन: शिक्षा तथा उत्कर्ष के लिए विदेश की यात्रा अनिवार्य थी, पर लौटने पर वे शिक्षित युवक यहाँ के ब्राह्मणों द्वारा धर्म-भ्रष्ट कहकर समाज से निकाल दिये जाते थे। इसलिए वे ईसाई हो जाते थे, उन्हें देश के ही धर्म में रखने की जरूरत थी। इसी भावना पर ब्राह्मधर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रसार हुआ। वलायत में प्रसिद्धि प्राप्त कर लौटनेवाले प्रथम भारतीय वक्ता श्रीयुत केशवचन्द्र सेन भी ब्राह्मधर्म के प्रवर्त्तकों में एक हैं। इन्हीं से मिलने के लिए स्वामीजी कलकत्ता गये थे। यह जितने अच्छे विद्वान् अँगरेजी के थे, उतने अच्छे संस्कृत के न थे। इनसे बातचीत में स्वामीजी सहमत नहीं हो सके। कलकत्ते में आज ब्राह्म-समाज-मन्दिर के सामने, कार्नवालिस स्ट्रीट पर, विशाल आर्य-समाज-मन्दिर भी स्थित है।

किसी दूसरे प्रतिभाशाली पुरुष से और जो कुछ भी उपकार देश तथा जाति का हुआ हो, सबसे पहले वेदों को स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने ही हमारे सामने रक्खा। हम आर्य हों, हिन्दू हों, ब्राह्म-समाजवाले हों, यदि हमें ऋषियों की सन्तान होने का सौभाग्य प्राप्त है, और इसके लिए हम गर्व करते हैं, तो कहना होगा कि ऋषि दयानन्द से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञान-राशि वेदों से परिचित कर दिया।

देश में विभिन्न मतों का प्रचलन उसके पतन का कारण है, स्वामी दयानन्दजी की यह निर्भ्रान्त धारणा थी। उन्होंने इन मत-मतान्तरों पर सप्रमाण प्रबल आक्षेप भी किये हैं। उनकी इच्छा थी कि इस मतवाद के अज्ञान-पंक से देश को निकालकर वैदिक शुद्ध शिक्षा द्वारा निष्कलंक कर दें।

वाममार्गवाले तान्त्रिकों की मन्द वृत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन आदि वेद-विरुद्ध महा अधर्म कार्यों को वाममार्गियों ने श्रेष्ठ माना है। जो वाममार्गी कलार के घर बोतल-पर-बोतल शराब चढ़ावे, और रात्रि को वारांगणा से दुष्कर्म करके उसी के घर सोवे, वह वाममार्गियों में सर्वश्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा के समान है। स्त्रियों के प्रति विशद कोई भी विचार उनमें नहीं। स्वामीजी देशवासियों को विशुद्ध वैदिक धर्म में दीक्षित हो आत्मज्ञान ही-सा उज्ज्वल और पवित्र कर देना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द ने

भी वामाचार-भक्त देश के लिए विशुद्ध भाववाले वैदान्तिक धर्म का उपदेश दिया है।

आपने गुरु-परम्परा को भी आड़े हाथों लिया है। योगसूत्र के 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' के अनुसार, आप केवल ब्रह्म को ही गुरु स्वीकार करते हैं। रामानुज-जैसे धर्माचार्य का भी मत आपको मान्य नहीं, और बहुत कुछ युक्ति-पूर्ण भी जान पड़ता है। आपका कहना है कि लक्ष्मीयुक्त नारायण की शरण जाने का मन्त्र धनाढ्य और माननीयों के लिए बनाया गया है—यह भी एक दूकान ठहरी!

मूर्तिपूजन के लिए आपका कथन है कि जैनियों की मूर्खता से इसका प्रचलन हुआ। तान्त्रिकों तथा वैष्णवों ने भिन्न मूर्तियों तथा पूजनोपचारों से अपनी एक विशेषता प्रतिष्ठित की है। जैनी वाद्य नहीं बजाते थे, ये लोग शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि बजाने लगे। अवतार आदि पर भी स्वामीजी विश्वास नहीं करते। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' आदि-आदि प्रमाणों से ब्रह्म का विग्रह नहीं सिद्ध होता, उनका कहना है।

ब्राह्मणों की ठग-विद्या के सम्बन्ध में भी स्वामीजी ने लिखा है। आज ब्राह्मणों की हठपूर्ण मूर्खता से अपरापर जातियों को क्षति पहुँच रही है। पहले पढ़े-लिखे होने के कारण ब्राह्मणों ने श्लोकों की रचना कर-करके अपने लिए बहुत काफी गुंजाइश कर ली थी। उसी के परिणामस्वरूप वे आज तक पुजाते चले आ रहे हैं। स्वामीजी एक मन्त्र का उल्लेख करते हैं—"दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः; ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद्ब्राह्मणदैवतम्" अर्थात् सारा संसार देवताओं के अधीन है, देवता मन्त्रों के अधीन हैं, वे मन्त्र ब्राह्मणों के अधीन हैं, इसलिए ब्राह्मण ही देवता हैं। लोगों से पुजाने का यह पाखण्ड बड़ी ही नीच मनोवृत्ति का परिचय है।

स्वामीजी ने शैव, शाक्त और वैष्णव आदि मतों की तो खबर ली ही है, हिन्दी-साहित्य के महाकवि कबीर तथा दादू आदि को भी बहुत बुरी तरह फटकारा है। आपका कहना है—"पाषाणादि को छोड़ पलंग, गद्दी, तकिये, खड़ाऊँ, ज्योति अर्थात दीप आदि का पूजना पाषाणमूर्ति से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनगा था, वा कलियाँ था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ? और अन्त में फूल हो गया? जुलाहे का काम करता था, किसी पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिए गया, उसने उसका अपमान किया। कहा, हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते। इसी प्रकार कई पण्डितों के पास फिरा, परन्तु किसी ने न पढ़ाया, तब ऊट-पटाँग भाषा बनाकर जुलाहे आदि लोगों को समझाने लगा। तम्बूरे लेकर गाता था, भजन बनाता था, विशेष पण्डित, शास्त्र, वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख लोग उसके जाल में फँस गये, जब मर गया, तब सिद्ध बना लिया। जो-जो उसने जीते-जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे। कान को मूँद के जो शब्द सुना जाता है, उसको अनहत शब्द-सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को सुरति कहते हैं, उसको उस शब्द सुनने में लगाया, उसी को सन्त और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं, वहाँ काल नहीं पहुँचता। बर्छी के समान तिलक और चन्दनादि लकड़े की कण्ठी बाँधते हैं। भला विचार के देखो, इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है?" इसी प्रकार नानकजी के सम्बन्ध में भी आपने कहा है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान न था, और उन्होंने वेद पढ़नेवालों को तो मौत के मुँह में डाल दिया है, और अपना नाम लेकर कहा है कि नानक अमर हो गये—वह आप परमेश्वर हैं,

जो वेदों को कहानी कहता है, उसकी कुल बातें कहानियाँ हैं। मूर्ख साधु वेदों की महिमा नहीं जान सकते; यदि नानकजी वेदों का मान करते, तो उनका अपना सम्प्रदाय न चलता, न वह गुरु बन सकते थे, क्योंकि संस्कृत नहीं पढ़ी थी, फिर दूसरों को पढ़ाकर शिष्य कैसे बनाते, आदि-आदि। दादू पन्थ को भी आप इसी प्रकार फटकारते हैं। शिक्षा, मार्जन तथा अपौरुषेय ज्ञान-राशि वेदों का आपका पक्ष है। मत-मतान्तरों के स्वल्प जल में वह आत्मतर्पण नहीं करते। वहाँ उन्हें महत्ता नहीं दीख पड़ती। पुनः भाषा में अधूरी कविता कर ज्ञान का परिचय देनेवाले अल्पाधार साधुओं से पण्डित-श्रेष्ठ स्वामीजी तृप्त हो भी कैसे सकते थे? इन अशिक्षित या अल्पशिक्षित साधुओं ने जिस प्रकार वेदों की निन्दा कर-कर मूढ़ जनों में वेदों के प्रतिकूल विश्वास पैदा कर दिया था, उसी प्रकार नव्य युग के तपस्वी महर्षि ने भी उन सबको धता बताया, और विज्ञों को ज्ञानमय कोष वेदों की शिक्षा के लिए आमन्त्रित किया। स्वामी नारायण के मत के विषय पर आप कहते हैं—"यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः—जैसी गुसाईंजी की धनहरणादि में विचित्र लीला है वैसी ही स्वामी नारायण की भी है।" माध्व मत के सम्बन्ध में आपका कथन है—"जैसे अन्यमतावलम्वी हैं, वैसा ही माध्व भी है; क्योंकि ये भी चक्रांकित होते हैं, इनमें चक्रांकितों से इतना विशेष है कि रामानुजीय एक बार चक्रांकित होते हैं, और ये वर्ष-वर्ष फिर-फिर चक्रांकित होते जाते हैं; वे चक्रांकित कपाल में पीली रेखा और माध्व काली रेखा लगाते हैं। एक माध्व पण्डित से किसी एक महात्मा का शास्त्रार्थ हुआ था। (महात्मा) तुमने यह काली रेखा और चाँदला (तिलक) क्यों लगाया? (शास्त्री) इसके लगाने से हम बैकुण्ठ को जायेंगे, और श्रीकृष्ण का भी शरीर श्याम रंग था, इसलिए हम काला तिलक करते हैं। (महात्मा) जो काली रेखा और चाँदला लगाने से बैकुण्ठ में जाते हों तो सब मुख काला कर लेओ, तो कहाँ जाओगे?

स्वामीजी के व्यंग्य बड़े उपदेशपूर्ण हैं। आर्य-संस्कृति के लिए आपने निःसहाय होकर भी दिग्विजय किया, और उसकी समुचित प्रतिष्ठा की। स्वामीजी का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की ओर नहीं देखा, वेदों की प्रतिष्ठा की है। ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के सम्बन्ध में आपका कहना है—"ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नियम सर्वांश में अच्छे नहीं, क्योंकि वेदविद्याहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है? जो कुछ ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाजियों ने ईसाईमत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये और कुछ-कुछ पाषाण आदि मूर्तिपूजा हटाया, अन्य जालग्रन्थों के फन्दे से भी कुछ बचाये इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिए हैं, खान-पान-विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में पेट-भर निन्दा करते हैं, व्याख्यानों में ईसाई आदि अँगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अँगरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान नहीं हुआ, आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं, इनकी उन्नति कभी नहीं हुई। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते, ब्राह्म-समाज के उद्देश की पुस्तक में साधुओं की संख्या में 'ईसा', 'मूसा', 'मुहम्मद', 'नानक' और 'चैतन्य' लिखे हैं, किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"

आज शिक्षित सभी मनुष्य जानते हैं, भारत के अधःपतन का मुख्य कारण नारी-जाति का पीछे रह जाना है, वह जीवन-संग्राम में पुरुष का साथ नहीं दे सकती, पहले से ऐसी निरवलम्ब कर दी जाती है कि उसमें कोई क्रियाशीलता नहीं रह जाती, पुरुष के न रहने पर सहारे के बिना तरह-तरह की तकलीफें झेलती हुई वह कभी-कभी दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेती है, आदि-आदि। पं. लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़-जैसे पुराने और नये पण्डित अनुकूल तर्क-योजना करते हुए, प्रमाण देते हुए, यह नहीं मानते कि भारत की स्त्रियाँ उसके पराधीनकाल में भी किसी तरह दूसरे देशों की स्त्रियों से उचित शिक्षा, आत्मोन्नति, गार्हस्थ्य सुख-विज्ञान, संस्कृति आदि में घटकर हैं। इसी तरह धर्म और जाति के सम्बन्ध में उनकी वाक्यावली, आज के अँगरेजी-शिक्षित युवकों को अधूरी जँचने पर भी, निरपेक्ष समीक्षकों के विचार में मान्य ठहरती है। फिर भी, हमें यहाँ देखना है कि आजकल के नव्य युवक-समुदाय से महर्षि दयानन्द, अपनी वैदिक प्राचीनता लिए हुए भी, नवीन सहयोग कर सकते हैं या नहीं। इससे हमें मालूम होगा, हमारे देश के ऋषि, जो हजारों शताब्दियों पहले सत्य-साक्षात्कार कर चुके हैं, आज की नवीनता से भी नवीन हैं; क्योंकि सत्य वह है, जो जितना ही पीछे है, उतना ही आगे भी; जो सबसे पहले दृष्टि के सामने है, वही सबसे ज्यादा नवीन है।

वेद का अर्थज्ञान। ज्ञान की ही हद में सृष्टि की सारी बातें हैं। सृष्टि की अव्यक्त अवस्था भी ज्ञान है। स्वामीजी वेदाध्ययन में अधिकारी-भेद नहीं रखते। वह सभी जातियों की बालिका-विद्यार्थिनियों को वेदाध्ययन का अधिकार देते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि ज्ञानमय कोष — वह जड़-विज्ञान से सम्बन्ध रखता हो, धर्म-विज्ञान से—नारियों के लिए युक्त है; वे सब प्रकार से आत्मोन्नति करने की अधिकारिणी हैं। इस विषय पर आप 'सत्यार्थ-प्रकाश' में एक मन्त्र उद्धृत करते हैं—

**"यथेमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
**ब्रह्मराजन्याभ्या-शूद्राय चर्याय च स्वाय चारणाय।"**

(यजु. अ. २६। २)

"परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन-शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं, (उत्तर) (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि देखो, परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (आर्याय) वैश्य (शुद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरण्याय) और अति शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों को ग्रहण और बुरी बातों को त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। कहिए, अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह नास्तिक कहावेगा, क्योंकि 'नास्तिको वेदनिन्दकः', वेदों का निन्दक और न माननेवाला नास्तिक कहाता है।"

स्वामीजी ने वेदों के उद्धरणों द्वारा सिद्ध किया है कि स्त्रियों की शिक्षा, अध्ययन आदि वेदविहित हैं। उनके लिए ब्रह्मचर्य के पालन का भी विधान है।

स्वामीजी की इस महत्ता को देखकर मालूम हो जाता है कि स्त्री-समाज को उठाने-वाले पश्चिमी शिक्षाप्राप्त पुरुषों से वह बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वह संसार और मुक्ति दोनों प्रसंगों में पुरुषों के ही बराबर नारियों को अधिकार देते हैं। इस एक ही वाक्य से साबित होता है कि किसी भी दृष्टि से वह नारी-जाति को पुरुष-जाति से घटकर नहीं देखते।

आपका ही प्रवर्तन आर्यावर्त के अधिकांश भागों में, महिलाओं के उन्नयन के सम्बन्ध में, प्रचलित है। यहाँ स्त्री-शिक्षा-विस्तार का अधिकांश श्रेय आर्य-समाज को दिया जा सकता है। यहाँ की शिक्षा की एक विशेषता भी है। महिलाएँ यहाँ जितने अंशों में देशी सभ्यता की ज्योतिस्वरूपा होकर निकलती हैं, उतने अंशों में दूसरी जगह नहीं। संस्कृत के भीतर से स्त्री के रूप में प्राचीन संस्कृति को ही स्वामीजी ने सामने खड़ा कर दिया है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, के 16 अक्तूबर, 1933 के अंक में क्रमशः 'महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर', 'स्वामी दयानन्द और मत-मतान्तर' और 'महर्षि दयानन्द और नारी-समाज' शीर्षकों से प्रकाशित (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## साहित्य में दलबन्दी

दलबन्दी का भाव प्रतिभा के प्रतिकूल है। आज तक संसार में जितने प्रतिभाशाली व्यक्ति हुए हैं, उनमें दलबन्दी का भाव न था। उनके समय या उनके बाद जो एक दल उनके साथ अनुयायी अथवा प्रशंसक के रूप से बँधा हुआ देख पड़ता है, इसके लिए उन्हें दलबन्दी करनेवालों के अन्तर्भुक्त कहना ठीक नहीं। यह दल उस समय के हित के विचार से उनके साथ हुआ था। बुद्ध, शंकर, क्रैस्त आदि धर्माचार्यों के लिए हम ऐसा लिख रहे हैं। पर साहित्य में कालिदास, श्रीहर्ष, सूर, तुलसी, उमर ख़ैयाम, शेली, रवीन्द्रनाथ आदि अपने-अपने साहित्य के महोज्ज्वल रत्नचय तो दलबन्दी के भाव में कभी आये ही नहीं।

एक सच्चा-साहित्यिक या कवि अपनी प्रकृति के अनुसार ही दलबन्दी से पृथक रहता है। आदमियों में मिलकर या एक दल अपने साथ लेकर कभी कोई सूक्ष्म चिन्तन नहीं कर सकता। अध्ययन में भी दलबन्दी बाधक होती है। पुनः दलबन्दी का भाव किसी स्वार्थ का ही द्योतक है। स्वार्थ सीमा से बाहर नहीं जा सकता, इसलिए इसके रहते उच्च साहित्य का निर्माण असम्भव है। जहाँ हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने लिए लड़ते हों, अपने-अपने स्वार्थ की पुष्टि में लगे हों, वहाँ उनकी बातचीत और लिखा-पढ़ी में ऊँचा साहित्य नहीं मिल सकता। पुनः जो दल इन दोनों को मिलाये हुए दोनों के व्यापक स्वार्थ की बातचीत करता है, उसका साहित्य इनसे ठोस तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है, फिर भी, एक हद में रहने के कारण, वह भी सर्वोच्च साहित्य का आसन नहीं ग्रहण कर पाता। वेदों की इतनी बड़ी महिमा केवल इसलिए है कि वे देश और काल के बन्धनों से

बाहर हैं। यदि बर्नार्ड-शॉ-जैसे सब तरफ के साधारण मनुष्य केवल एक हद का साहित्य लिखते रहते, धर्म, समाज, राजनीति और दर्शन की प्रचलित प्रथाओं को न पार कर जाते, तो इतने बड़े साहित्यिक शायद ही होते। अँगरेजी भाषा को उनके लिए गर्व करने का अवसर शायद ही मिलता।

प्रतिभा बन्धन नहीं मानती। तभी साहित्य का कल्याण होता है। प्रतिभाशाली लेखक या कवि के समय दलबद्ध लोग शृंखला के टूटने का विचार कर प्रायः उससे असहमत रहे हैं। पर बाद को सबने उसका आदर किया है। जिस बौद्ध-धर्म का इस देश के वैदिक लोगों ने एक समय घोर विरोध किया था, उन्हीं लोगों ने उसके प्रवर्तक बुद्ध को राम और कृष्ण की तरह अवतार भी माना है। जिस माइकेल मधुसूदन को बंगालवालों ने साहित्य-हन्ता कहते हुए भी एक समय संकोच नहीं किया था, महाकवि रवीन्द्रनाथ तक ने जिसकी कटु आलोचना की थी, उसी की प्रशंसा करते हुए आज बंगाली और वही रवीन्द्रनाथ नहीं थकते। उमर ख़ैयाम, शेली, गालिब आदि का कितना मजाक समाज ने किया ! पर आज उनके साहित्य को देखकर लोग नतमस्तक हैं।

पर जैसा एक बार हुआ है, वैसा ही बार-बार होता है, इस कथन के अनुसार समाज में जैसे लोग पहले थे, वैसे ही आज भी हैं। इतने उदाहरण उन्हें मिल रहे हैं; पर उनकी वृत्ति वैसी ही बनी हुई है—उसी प्रकार प्रतिभा और नवीनता का आज भी विरोध हो रहा है। यथार्थ साहित्य निर्माता आज भी उसी प्रकार अपमान का भार रक्खे झुके हुए जाति, भाषा तथा साहित्य की ओर देखते-देखते चुपचाप सरस्वती के इंगित पर चले जा रहे हैं, कोई साथ नहीं; अक्षम, अज्ञान, रीतिवादग्रस्त असाहित्यिकों के विष-बुझे व्यंग्यवाण सहते जा रहे हैं।

दूसरी ओर दल के अयोग्य व्यक्ति-विशेष की पुनः पुनः होती हुई प्रशंसा लोक-मत-संग्रह कर रही है। आकाश असाहित्यिक, अयौक्तिक, अमौलिक और सार-शून्य विवाद-नादों से प्रतिध्वनित, अशान्त, क्षुब्ध हो रहा है। जनता सदा ही परमुखापेक्षिणी रही है, सत्य रहस्य से अज्ञात। इसलिए भारत में संन्यासियों का गुरुत्व कायम हुआ था कि जनता को सत्य की ही प्राप्ति हो। आज तक आडम्बर-मुक्त संन्यासियों का जो समाज पर प्रभाव है, इसका यही कारण है। 'सत्' के साथ न्यास करनेवाले झूठ न बोलेंगे, अधूरा तत्त्व न देंगे, यही भावना इस कार्य के मूल में थी। पर अब तो इस जड़-सभ्यता के युग में वह बात ही नहीं रही। न वैसे संन्यासी रहे न वह पन्था। संवादपत्रों के सहारे पूँजीपति ही ज्ञान देनेवाले, 'सत्' से न्यास करनेवाले, सत्यसंवाद प्रकाशित करनेवाले बन गये। फलतः जो दल उनके साथ आया, उनके अधीन रहा, वह उन्हीं का प्रचार सत्य के तौर पर उद्देश-सिद्धि के लिए करने लगा। इस तरह घात-प्रतिघातों से स्वार्थ का प्राधान्य लेकर दुनिया ही बदल गयी। भारत दुनिया से बाहर नहीं, बल्कि विशेषता खोकर योरप के और भी अधीन है। अतएव अयोग्य के पीछे उतने ही जोर से डंका बजने-वाला क्रम भी जारी हुआ।

हिन्दी-साहित्य भी इस परिणाम से न बच सका। यहाँ अधिकांश, अस्सी फीसदी साहित्यिक, केवल साहित्यिकता का प्रमाण पेश करने या किये रहने के लिए अपने से किसी बड़े साहित्यिक का डंका बाँधते हैं। प्रतिष्ठित साहित्यिक महाराज—यद्यपि वह प्रतिष्ठा कुछ मूर्खों की दी हुई है, उनके साहित्य की हद से बाहर के आदमी उन्हें साहित्यिक स्वीकार करते हुए लज्जित होंगे—अपने भक्त को प्रश्रय देते हैं, और गर्व के साथ सिर उठाकर साहित्य के यथार्थ ज्ञान के मस्तक

पर अज्ञान का एक बोझ और रख देते हैं। अन्धों को राह बताने से काने न बाज आयें, तो इसके लिए हमें कुछ नहीं कहना, क्योंकि एक तरफ तो वे देखते ही हैं, कहना तब पड़ता है, जब वे दो आँखवालों का मजाक करते हैं।

इस स्वल्पदर्शिता के प्रमाण ही हमारे साहित्यिकों की आज प्रामाणिकता हो रहे हैं, जिससे मौलिक उत्तर साहित्य दृष्टिदोष के लांछन से पीड़ित है। जहाँ-जहाँ साहित्य की शिक्षा दी जाती है, वहाँ अभी उसका कांक्ष्य प्रवेश नहीं हो सका। यह व्याधि इस साहित्य के निर्माणकाल से ही है, पर अभी इसका प्राबल्य कम नहीं पड़ा। पत्र, संस्थाएँ, व्यक्तित्व प्रायः सभी इस वातविकार-व्याधि से ग्रस्त हैं।

हम इसके विरोध से नवीन प्रतिभा को जाग्रत करने के लिए समर्थ युवक-शक्ति का सादर आवाहन करते हैं। अध्ययन, विद्या, बुद्धि और मार्जन के सुललित कौशल से इस रुक्ष, रूढ़, दलबद्ध, असमर्थ साहित्यिकता को वे साहित्यक्षेत्र से दूर करें।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 नवम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सनातनधर्म और अछूत

इस समय जबकि अछूतोद्धार के प्रयत्न में महात्मा गाँधी देश-भ्रमण कर रहे हैं, 'सनातनधर्म-महासभा' एक अखिल भारतवर्षीय विशेषण नाम के सामने लगाकर शहर-शहर में इस कार्य के विरोध में प्रोपागैण्डा कर रही है। 'दैवोऽपि दुर्बल-घातकः' यह उक्ति बड़ी सफलता से हिन्दुओं पर लगायी जा सकती है। कुछ लोग, जो देश के मान्य मनुष्यों की संस्था में नहीं, जिन्हें न शास्त्रों के विशद उद्देशों का पता है, न देश के व्यापक हितों का विचार, केवल अपनी स्वार्थसिद्धि जिनका मूल-मन्त्र है, कुछ संस्कृत पढ़ लेने पर भी जिनके कार्यों में, शब्दों में, अर्थ-ज्ञान में, संस्कृति कहीं छू नहीं गयी, जो धर्म के नाम पर भ्रमार्थ करते फिरते हैं, इस विरोध के लिए तत्पर हुए हैं।

देशवासियों से हमारा नम्र निवेदन है, जो लोग राष्ट्र के महत्त्व को मानते हैं, जिन्हें मनुष्य-मात्र के एक ही ईश्वर पर विश्वास है, जो अपने मनुष्यत्व का एक उत्तरदायित्व समझते हैं, ऐसे मनुष्य हर शहर में हैं; उनका कार्य होना चाहिए कि इस सामयिक प्रवाह को बल दें, इससे सहानुभूति ही नहीं—इसकी सिद्धि के लिए जहाँ तक हो, मदद करें, और अपने अबोध भाइयों की, पण्डित कहलानेवाले शास्त्रज्ञानरहित मनुष्यों के पंजों से सनातनधर्म की रक्षा करें। हम कहते हैं, सनातनधर्म संकीर्ण नहीं, व्यापक है, उसके अन्दर सब समा सकते हैं। जो धर्म व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष की सुविधा के लिए है, वह धर्म नहीं। स्वार्थी पण्डित जो अर्थ कर-करके लोगों को जाति-भावना में संकीर्ण करते रहते हैं, वे अर्थ नहीं, अनर्थ हैं। इन हरकतों से अपढ़ों को बचाना चाहिए। बहुत सीधी बात है, यदि कोई मनुष्य संस्कृत, शुद्ध उन्नत और श्रेष्ठ धर्म के ग्रहण का अधिकारी नहीं हो सकता, तो वह मनुष्य भी न होता। और, जबकि वह मनुष्य होकर पैदा हुआ है, तब उसके

उतने ही अधिकार हैं, जितने किसी मनुष्य के हो सकते हैं। पुनः वर्तमान समय में जिस सत्ता के अधीन तमाम देश बाहरी दृष्टि से है, उसमें रहकर स्मृति के अनुसार वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या द्विजातियों का देश नहीं रह सकता, संस्पर्शदोषों के कारण उसकी सभी जातियाँ शूद्र हो गयी हैं।

देश में नवीन युग, नवीन विचार, समभाव, समधर्म, एकाधिकार लाने और प्राप्त करने के लिए देश के समझदार युवकों तथा उदार मनुष्यों को, जहाँ तक हो सके, तैयार होकर इस अछूतोद्धार के सच्चे मार्ग पर आ जाना चाहिए। हमारी बहुत बड़ी सामाजिक दुर्बलता इस कार्य से दूर होगी। किसी भी विरोधी शक्ति को इसके मुकाबले में ठहरने न देना चाहिए।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 नवम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## जर्मनी में संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य हुई

हर हिटलर के उद्योग सें जर्मनी में संस्कृत की शिक्षा विश्वविद्यालय का अनिवार्य विषय हो गया। हिटलर साहब का कहना है कि विश्वबन्धुत्व का जितना पूर्ण रूप संस्कृत में प्राप्त होता है, भाषा की दृष्टि से, संस्कृति के विचार से यह जितनी पूर्ण है, उतनी दूसरी भाषा नहीं। यह ठीक है कि यदि संस्कृत की उच्च-शिक्षा प्राप्त हो और उसके बाद विद्वान् भाषातत्त्व के पूर्ण ज्ञान के लिए प्राचीन सभ्य भाषाओं का अध्ययन करें, तो वे देखेंगे, संस्कृत के बीज सभी में प्रविष्ट हैं, और दूसरी भाषाओं में जहाँ शब्दविवर्तन का अधूरा इतिहास या उल्लेख-मात्र रहता है, संस्कृत में वहाँ उसकी मूल धातु और प्रत्यय के द्वारा संस्कृति मूल, और भाव-प्रकाशन की रक्षा की गयी है। जब हम भाषाओं के शब्दों में साम्य पाते हैं, उनके प्रचार के कारण समझते हैं, इतिहास में पता लगाते हैं, उनके विकृत रूपों के साथ बाह्य प्रकृति का प्रभाव देखते हैं, तब हमारी धारणा दृढ़ हो जाती है कि विश्व-सभ्यता एक ही केन्द्र से विस्तृत हुई है, और अनेकानेक आचार-संस्कृतियाँ एक ही माँ की सन्तानें परस्पर भाई-बहन हैं। इस साम्य ज्ञान से एक दूसरी जाति से मिलने का बड़ी सुविधा, बड़ा उत्साह होता है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 नवम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दू-विधवाओं पर अनधिकार-चर्चा

बनारस में एक 'सनातनधर्म-महामण्डल' नाम की संस्था है। यह स्वयं तो अपने को बहुत समझती है, पर बनारस में ही इसकी बहुत बड़ी कद्र है, ऐसा नहीं जान पड़ता। जहाँ और-और संस्थावाले अपने ढाई चावलों की खिचड़ी अलग पकाकर

अपने अस्तित्व का प्रमाण रखते हैं, वहीं यह भी अपने डेढ़ चावल एक चूल्हे पर चढ़ाये हुए है। विधवाओं के अधिकार-विषय का विरोध करते हुए स्वल्पस्थल इस 'महामण्डल' ने कहा है कि विधवाओं को अधिकार देना हिन्दू-शास्त्र के विरुद्ध है। सांसारिक सुख विधवाओं के लिए नहीं हैं, उन्हें संन्यासियों का जीवन बिताना चाहिए। इस महामण्डल के महामनीषियों की ऐसी सहृदय राय हम मानने के लिए तैयार हैं। विधवाओं को किसी अधिकार की भी जरूरत नहीं, वे अवश्य संन्यासियों का आदर्श रक्खें, यदि महामण्डल के ही संन्यासियों या संन्यासियों की तरह रहनेवालों की भाँति विधवाओं को रहने के लिए पक्की कोठी, खाने के लिए उत्तमोत्तम भोजन, आराम करने के लिए लम्बी कुर्सियाँ, वार्तालाप, भ्रमण और मिलने-जुलने के लिए ऐसी ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय। चाहिए तो, एक बैंक भी हो, और कुछ अनुयायी भी।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 नवम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## अधिकार-समस्या

मनुष्यों के समाज में अधिकार-समस्या शायद सृष्टि के प्रारम्भ से है। बाहरी संसार को देखने के साथ-साथ शायद स्वभावतः यह अधिकारवाद मनुष्यों में पैदा हुआ था। यदि इसी अधिकार को व्यापक दृष्टि से देखेंगे, तो मालूम होगा, मनुष्य-जाति की सभ्यता का मूल भी यही है। जड़ और चेतन अधिकारों में ही मनुष्यों का इतिहास, दर्शन, समाज, साहित्य, राजनीति और विज्ञान आदि हैं। धर्मशास्त्र से लेकर वर्तमान शासन तक अधिकार और अधिकारिभेद अपनी महत्ता या नीचता के प्रमाणस्वरूप मौजूद हैं। जिस प्रकार बाहरी प्रकृति को वशीभूत कर, देश और प्रदेशों को जीतकर अधिकार की नींव दृढ़ की गयी है, मनुष्यों के मानसिक विकास कला-कौशल के अनेकानेक कार्यों द्वारा, इधर वैज्ञानिक उद्भावनाओं से भी, व्यक्तिगत और जातिगत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं, उसी प्रकार संसार से मुक्ति पाने के उद्देश पर भी अनेकानेक अधिकारों की सृष्टि हुई है, और ये सब उच्च-से-उच्च मनुष्यों द्वारा मान्य भी हुए हैं। मनुष्यों की भिन्न जातीय सभ्यता को अधिकारवाद के भीतर से हम और अच्छी तरह देख सकते हैं। हर जाति की विशेषता के रूपों में उसके अधिकार उसके पृथक व्यक्तित्व का साक्ष्य दे रहे हैं। इन्हीं के द्वारा एक जाति दूसरी जातियों से भिन्न और मौलिक है।

परन्तु जिस वायु में जीवनी शक्ति है, उसी में संहारिणी शक्ति भी है। जो खाद्य शरीर की पुष्टि करता है, वही रोग का भी कारण है। जिस अधिकारवाद की प्रेरणा ने स्वतन्त्रता की भावना दी, मनुष्यों को बढ़ाया, उसी ने गुलामी भी पैदा की, मनुष्यों को पशुतुल्य कर दिया। जिन अस्त्रों से रक्षा हुई, उन्हीं से लोग मारे भी गये। राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े का भेदभाव इसी अधिकार-वाद के कारण है। पुनः जीवन् में, शक्ति के राज्य में इस अधिकारवाद के बिना मनुष्य या किसी भी सृष्टि का अस्तित्व रह नहीं सकता। रहना ही—छोटा हो, बड़ा—अधिकार है। वहाँ शक्ति का वैषम्य रहेगा ही।

परन्तु इतने वैषम्य के भीतर भी एक साम्यावस्था है। आज तक संसार के बड़े-बड़े मनुष्यों ने उसी की खोज की है। जीवन की अमरता और बचने का रास्ता वहीं से निकलता है। वह उतनी जगह—यों वही एकमात्र सत्ता है, शक्ति की पृथ्वी मिथ्या अधिकारवाद से पृथक है। अधिकार पाने की मनुष्यों की प्रार्थनाएँ वहीं से उपायों के द्वारा पूर्ण हुई हैं। उसी ने छोटे-बड़े अधिकारों में बँधे हुए जीवों को बाँध रक्खा है, वही मुक्त भी करता है। जिस देश के लिए जैसा उपाय होना चाहिए, किसी एक के भीतर से अनेकों के मस्तिष्क में उसकी धारणा बँधकर प्रचार पाती है। भिन्न-भिन्न देशों के विवर्तन इतिहास में प्रत्यक्ष हैं। एक अधिकार से पीड़ित मनुष्य-समाज उसकी सत्ता मिटाकर दूसरे अधिकार से जीवित हो गया है। संसार में इतना ही बचाव का रास्ता है।

संसार के भिन्न-भिन्न देशों के नवीन संस्कारों को देखकर हमारे अधिकांश नेता भारत के लिए भी उन्हीं उपायों का प्रयोग करना चाहते हैं। पर हमारे विचार से, सत्य अनुकरण में कभी प्राप्त नहीं हुआ; बल्कि कहेंगे, अनुकरण किसी आदर्श की कभी पुष्टि नहीं कर सका। उसके लिए मौलिक उद्भावना ही दरकार होगी।

यदि हम अच्छी तरह भारत के अधिकारजन्य अन्तरायों की ओर देखें, तो हमें मालूम होगा, जो प्रकृति एक मौलिक शक्ति देना चाहती है, जब अनेकानेक विवर्तनों से वह जीर्णता को धूलिसात करती रहती है, तब वह चिरकाल से उस जाति को सविशेष उपकरणों के भीतर से तैयार करती रहती है। अधिकारवाद भारत में महाभारत के समय से ही प्रबल होने लगा था, और भारत के वर्णाश्रम-धर्म के भीतरी अधिकार भी तभी से और अधिक दृढ़ होकर वर्णाधिकारों के शासन में जड़ जमा रहे थे। बौद्धयुग इन्हीं भावनाओं का विरोधकाल है। पर तब तक चूँकि देश का शासन देश ही में था, इसलिए कर्मकाण्ड के अधिकारी शासक तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए तत्पर रहे थे, हम पहले लिख चुके हैं, संस्कृत-साहित्य में पुराणयुग का प्राबल्य इसका फल है—व्यास, कालिदास और श्रीहर्ष तक इसी वर्णाश्रमधारा की पुष्टि मिलती है। पर अब वह समय नहीं रहा। अब प्रकृति ने वर्णाश्रम-धर्म के सुविशाल स्तम्भों को तोड़ते-तोड़ते पूर्ण रूप से चूर्ण कर दिया है। हजार वर्ष के दूसरी जातियों और दूसरे धर्मवालों के शासन से इतने संस्कार-दोष, संस्पर्श-कल्मष इस वर्णाश्रम-धर्म के भीतर प्रविष्ट हो गये हैं कि अब कोई मूर्ख ही इसका अस्तित्व स्वीकार करेगा। जहाँ शिक्षा, शासन, व्यवसाय व्यवस्था, कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शक्तियों का परिचय न हो, केवल परसंस्कृतिग्रस्त अधीन राज्यों या अपने घरों में सोते हुओं के स्वप्नों के सदृश वर्णाश्रम-धर्म पहले की जागृति के संस्कार-रूप, छायादेह मात्र रह गया हो, वहाँ दूसरी जागृति में वह भ्रम ही साबित होगा, वहाँ इस समय उसका अस्तित्व अस्तित्व नहीं। इस पर भी यदि कोई इसे स्वीकार न करे, तो यह बुद्धिदोष के सिवा और क्या है?

जिस तरह एक ओर प्रकृति वर्णाश्रम-धर्म को तोड़ रही थी, उसी तरह दूसरी ओर वह शूद्र-शक्ति के अभ्युत्थान की तैयारी कर रही थी। अधिकार-भोग पर मनुष्य-मात्र का बराबर दावा है। जो यह समझता है, हम बड़े हैं, हम छोटे न होंगे, उसे मनुष्य कहलाने में बड़ी देर है। जो यह समझता है, बड़ा छोटा और छोटा बड़ा हो सकता है, उसे यह मानने में भी कोई आपत्ति न होगी कि शूद्र भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन सकते हैं। शूद्रों के इसी अधिकार पर भारत का भविष्य जातीय संगठन अवलम्बित है। अधिकार के बिना जीवन की भी कोई

व्याख्या नहीं हो सकती। पर अधिकार के दान तथा सदुपयोग के लिए सत्याधिकारी का जीवन अपेक्षित है। सब मार्गों से इसी अधिकार का दान उन्नतिप्रार्थी अधिकारियों के लिए होना चाहिए। यही साम्य स्थिति की वर्तमान उद्भावना कहती है।

वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरन्तन है। स्वाधीन-समाज की इससे अच्छी वर्णना हो नहीं सकती। कोई समाज इस धर्म को मानता भले ही न हो, पर वह संगठित इसी रूप से होगा। पर यह निश्चय है कि यह अधिकार सार्वभौमिक है, ऐकदेशिक, जातिगत या व्यक्तिगत नहीं।

यह स्थान, जहाँ मौलिकता का मूल—साम्यस्थिति है, यथार्थ स्वतन्त्रता है। इसी की बाहरी प्रेरणा बाहर मनुष्यों को अधिकारवाद में स्वतन्त्र करती है। यहीं अधिकाधिक संख्या में ठहरकर मनुष्य देश, समाज तथा संसार के लिए बड़े-से-बड़े कार्य कर सके हैं। यही स्थान हमारे समाज के अन्तःकरण में आज नहीं पाया जाता। इसीलिए उसके मनुष्य मौलिक विचारों से रहित जड़ अधिकारों की रक्षा के लिए व्यस्त हो रहे हैं।

हमारे देश के अधिकांश नेता त्याग तथा मनुष्यता में बहुत आगे बढ़े हुए भी केन्द्रच्युत हैं, इसलिए ऐसी आवाज नहीं उठाते, जिससे अधिकारवाद का मौलिक परिवर्तन हो। वे डरते हैं कि हम इतनी आजादी से काम लेंगे, तो देश हमारा साथ न देगा। जहाँ यह डर है, वहाँ वह केन्द्र नहीं। जहाँ वह केन्द्र है, वहाँ यह डर नहीं। कुछ नेता योरप का स्वप्न देखते हैं। पर वहीं के अधिकारवादों को वे देखें, तो देखेंगे, एक दूसरे से भिन्न है, दूसरे से मौलिक। यह मौलिक अधिकार भारतवर्ष का कैसा है, 'राष्ट्रीयता'-शब्द के पुनः-पुनः उच्चारण से इसका स्पष्टीकरण नहीं होता, सविशेष मनन से होता है। और, जितना बड़ा त्याग इसके लिए जरूरी है, वह किये अब तक के त्याग से और बड़ा है। अभी तो बहुत जगह मस्तिष्क की अकृत रेखाओं के सार्थक कार्यरूप बड़ी-बड़ी दुर्बलताएँ हैं। अभी तो दरिद्र भारत के नेता भी धनी हैं। जहाँ नेता लोग पूर्ण त्याग नहीं कर सके, वहाँ अनुयायी अथवा धन के बड़े-बड़े उत्तराधिकारी कैसे वह अधिकार छोड़ देंगे। अभी तो महलों में रहकर, कुटियों की सैर करके, देहात-दर्शन और देहातियों को उपदेश होते हैं—पुनः मोटर पर भ्रमण करते हुए। यह शिक्षा देना नहीं, शिक्षा का एक शिक्षाप्रद हास्य है। जिस देश में ऐसे-ऐसे राजे-महाराजे, सेठ आदि मौजूद हैं, जो अपने-अपने अर्थ के दान से शीघ्र देश को समर्थ कर सकते हैं, वह देश यदि दरिद्र है, तो यह ठीक ईश्वर का दिये हुए अधिकार के दुरुपयोग का चुस्त बैठता उत्तर है। न वैश्य अपनी अर्थ शक्ति का त्याग कर सकते हैं (हम धनी-मात्र को वैश्य-शक्ति में लेते हैं), न क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण ही अपनी सामाजिक मर्यादा छोड़ सकते हैं। अधिकारवाद की इसी पतित दशा में इस समय भारत है।

अवश्य वह युग आयेगा। हमें यथाशक्ति सत्य का उपहास न कर कार्य करते रहना चाहिए। इस भावना से भरा हुआ कोई भी कार्य—साम्यस्थिति के लिए कोई भी विचार अपूर्ण न रहेगा। उसी के भीतर से हमारी यह अधिकार-समस्या तब के उस अधिकार-उत्तर से हल हो जायगी—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 दिसम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

## पण्डित जवाहरलाल नेहरू और हिन्दी

पण्डित जवाहरलाल नेहरू नवयुवकों के आदर्श कहे जाते हैं। बहुत लोगों का कहना है, महात्माजी के बाद राजनीति में उन्हीं का नेतृत्व आ रहा है। वह देश की जातीय संस्था के सभापति भी हो चुके हैं। उनके त्याग की सहस्त्रों कण्ठ से प्रशंसा होती है। राष्ट्र के इतने प्रसिद्ध पुरुष राष्ट्रभाषा का कितना ज्ञान रखते हैं, इसका संवादपत्रों से एक पुष्ट प्रमाण प्राप्त हुआ है। अभी कुछ दिन हुए, काशी में, 'रत्नाकर-रसिक-मण्डल' की ओर से, पण्डितजी को एक मानपत्र दिया गया। उस सभा में समादर करनेवाले हिन्दी के कई प्रधान स्तम्भ मौजूद थे—पं. रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जयशंकर 'प्रसाद', पं. कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम.ए. आदि। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने मानपत्र दिया। उत्तर में पं. जवाहरलाल नेहरू बोले, हिन्दी में अभी तक दरबारी ढंग की ही कविता हो रही है, स्वराज्य होने पर उस सरकार का फर्ज होगा कि 3-4 सौ पुस्तकें दूसरी-दूसरी भाषाओं से अनूदित करावे। अपने प्रान्तीय भाषाओं का भी माहात्म्यकीर्तन किया।

पं. जवाहरलालजी उस जगह रहते हैं, जहाँ 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' है, जहाँ की केवल 'सरस्वती' हिन्दी-साहित्य का बहुत-कुछ युगान्तर-इतिहास कह सकती है। पर पण्डितजी को राष्ट्र के निर्माणोद्देश में इतनी तल्लीनता रही कि राष्ट्र-भाषा की कभी याद भी न हुई, उसकी शिक्षा राष्ट्र के लिए आवश्यक प्रतीत हुई ही नहीं। हमारे विचार से, राष्ट्र के लिए निकली हुई पण्डितजी की जो प्रतिभा राष्ट्रभाषा के सेवकों की समझ में कम आयी है, वही अगर राष्ट्रभाषा के रूप से कुछ पुस्तकों में निर्गत हो, तो साहित्यिक अच्छी तरह समझ जायँगे; पुनः पण्डितजी को भी मालूम हो जायगा, जिन्हें वह कुछ देना चाहते हैं, उन्हीं से प्राप्त करने की कितनी गुंजायश है, और राष्ट्र के मैदान में वह अपने को उनसे जितना आगे समझते हैं, राष्ट्रभाषा के मैदान में वे उनसे और दूर तक पहुँचे हुए हैं या नहीं।

हिन्दी-भाषियों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि पं. जवाहरलालजी हिन्दी-काव्य-साहित्य की वर्तमान प्रगति से कहाँ तक परिचय रखते हैं! आज जिस काव्य-साहित्य का हिन्दी में प्रावल्य है, युग है, वह दरबारी कविता की धारा है!!

भाषण में पण्डितजी ने यथेष्ट संयम रक्खा था, एक अनजान अज्ञात विषय पर जैसा रखता है। यदि आपके स्वराज्य-सरकार द्वारा अनूदित होनेवाली पुस्तकों के नाम कोई पूछता, तो निस्सन्देह आप उन्हीं पुस्तकों को कहते, जो हिन्दी में अनुवादित हो चुकी हैं। आपने प्रान्तीय साहित्य के महत्त्व पर, और जहाँ तक स्मरण है, उससे कुछ लेने के विषय में भी कहा है। बंगाल साहित्य-प्रान्त में सबसे ऊँची है। वहाँ का कोई भी बड़ा साहित्यिक, दार्शनिक, कवि, नाटककार और औपन्यासिक हिन्दी में अनुवाद-रूप में आने से बच गया है, हमें नहीं मालूम। वंकिमचन्द्र, गिरीशचन्द्र, माइकेल मधुसूदन, स्वामी विवेकानन्द, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, प्रायः सभी हिन्दी में आ गये हैं। गुजराती और मराठी से भी अनुवाद हुए हैं। विलायत से रूस तक का अनुवाद हिन्दी में है। फिर भी पण्डितजी स्वराज्य-सरकार द्वारा यह अनुवाद-कार्य कराने के लिए मस्तिष्क में विशद भावना पाले हुए हैं।

जो लोग वहाँ पण्डितजी का ऐसा अद्भुत भाषण सुनकर चुप रह गये, उन लोगों ने सभ्यता का विचार किया होगा। अन्यथा ऐसे विद्वत्तापूर्ण भाषण का उत्तर वे दे सकते थे! सम्मान देने के लिए बुलाकर विरोध करना उन्होंने अपनी साहित्यिकधारा के अनुसार उचित न समझा होगा। हम हिन्दी-साहित्यिकों से ऐसे स्थलों के लिए निवेदन करते हैं—वे इस दार्शनिक सत्य की रक्षा करें, यदि अपमान से बचना चाहते हैं—

"जो दूसरे को बड़ा मानता है, वह दूसरे से छोटा समझा जाता है।"

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 दिसम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## टर्की की समुन्नति

29 ऑक्टोबर को टर्की में प्रजातन्त्र का दसवाँ महोत्सव मनाया गया। संसार की घटनाओं में टर्की का परिवर्तन किसी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उसके उन्नायक गाजी मुस्तफा कमालपाशा जैसे वीर, साहसी सेनानायक हैं, वैसे ही राजनीति में भी विशारद हैं। उनकी राष्ट्रीयता प्रशंसा से परे है। टर्की एक दिन जिस तरह संसार की वर्तमान प्रगति से दबता जा रहा था, आज उनके प्रयत्नों से उसी तरह समुन्नत भी हो गया है। उन्होंने टर्की की भाषा तथा लिपि बदल दी, और प्रजा को जापान की तरह किसी भी धर्म के ग्रहण की स्वाधीनता दे दी है। देश का जीवन शिक्षा द्वारा पूर्ण आधुनिक करने का प्रयत्न किया, और उन्हें सफलता हुई। पर्दे की जो प्रथा थी, उसका पूरा-पूरा बहिष्कार किया। योरप के सभ्य देशों के तरीके से सैनिकों को युद्धशिक्षा दी, और वाणिज्य-व्यवसाय की आशा से अत्यधिक उन्नति कर दिखायी। दस साल पहले सिर्फ 150 कारखाने वहाँ थे, पर आज उनकी संख्या 2200 पहुँच चुकी है।

महिलाओं की उन्नति की ओर भी ध्यान रक्खा गया, जिससे राष्ट्र के दोनों पक्ष जोरदार हों। आज वहाँ सभी क्षेत्रों में महिलाओं के अधिकार प्राप्त करने के प्रमाण मिलते हैं। वे मैजिस्ट्रेट हैं, म्युनिसिपल-कमिश्नर हैं, मन्त्रिमण्डल में चीफ आडीटर हैं, प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील आदि से लेकर क्लर्क तक हैं। उनके अधिकारों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि जीवनसंग्राम में किसी तरह भी वे पुरुषों से पीछे हैं। खेल-कूद, तैराकी आदि विनोद के भी सभी भागों में उनकी स्वतन्त्रता है। वे हवाई जहाज भी चलाती हैं। बालिकाओं का पहनावा हलका और चुस्त हो गया है।

टर्की-सरकार ने आर्थिक स्थिति का सुधार किया है। अब उसकी आय पहले से अधिक हो गयी है। प्रजातन्त्र कभी बजट का अतिक्रमण नहीं करता। ऋण लिये बिना ही उसने 1100 मील लम्बी रेल का जाल बिछा रक्खा है। जिस टैक्स से किसान दब रहे थे, वह हटा दिया गया है। वे समझ भी रहे हैं कि उनकी सरकार उनकी दशा को सुधारने में लगी हुई है। ऐसी कार्रवाई की गयी है कि कम-से-कम लागत में अधिक-से-अधिक लाभ हो। यहाँ का सिक्का स्थायी है। रहन-सहन के लिए खर्च भी कम होता है। व्यापार के आयात-निर्यात दोनों पक्ष सधे हुए हैं।

टर्की को खास नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसने संसार में अपने व्यापार की सीमा काफी विस्तृत कर ली है।

यह सब सुधार प्रजा पर दबाव डालकर, कानून के द्वारा नहीं किया गया। यह सब उनकी इच्छा के अनुसार ही हुआ है। पुरुषों के लिए कुछ विधान हैं, पर स्त्रियों के लिए कानूनी कोई बन्धन नहीं रक्खा गया। नवीन बातों की महत्ता सुनाई गयी, इसी से उनके विचार बदल गये। मुस्तफा कमालपाशा अपने इन लोक-रंजन कार्यों के लिए प्रजा को प्राणों से प्रिय हैं। वह टर्की की इतनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं। उनका कहना है—

"मैं टर्की को संसार के सभ्यतम देश की बराबरी तक पहुँचाना चाहता हूँ। अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को आधुनिक सभ्यता से ऊँचा स्थान दूँगा। मुझे निश्चय है, 15 साल के भीतर मुझे सफलता प्राप्त होगी।"

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 दिसम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## लखनऊ-विश्वविद्यालय और हिन्दी

इससे बड़ा आश्चर्य दूसरा नहीं हो सकता कि सुदूर कलकत्ते की तो बात क्या, पड़ोस में ही, प्रयाग, काशी और आगरा-विश्वविद्यालयों में हिन्दी एम. ए. कक्षा तक स्थान प्राप्त कर चुकी है, पर हमारे लखनऊ-विश्वविद्यालय में अभी एम. ए. दर्जे में उसका प्रवेश नहीं हो सका। यह बड़े-बड़े तअल्लुकेदारों की युनिवर्सिटी कहलाती है, जिनमें हिन्दुओं की ही बड़ी संख्या है। पर इन माई के लालों को अपने अन्यान्य आवश्यक कार्यों से इतनी फुरसत कहाँ कि इस ओर ध्यान दें! अवध की हिन्दी आदर्श हिन्दी समझी जाती है, किन्तु वहीं उसे विश्वविद्यालय में उचित उच्च स्थान प्राप्त नहीं है, क्या यह परिताप का विषय नहीं?

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 दिसम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सौन्दर्य और विवाह

सौन्दर्य को प्यार करना स्त्री और पुरुष दोनों के लिए स्वाभाविक है। जब आँखें खोलकर अपनी ही दृष्टि से लोग संसार को देखना शुरू करते हैं, जीवन के उस बसन्तकाल में कोमल प्रभातरश्मियों से चमकती अरण्यच्छवि का सुन्दर मुख ही उन्हें अधिक अच्छा लगता है। किरणों के भीतर वृन्त पर हवा की हिलोरों से हिलती, हँसती, पास बुलाती, एकटक देखती हुई कलियों से उनकी दृष्टि बँध जाती है। उसी प्रकार कलियाँ भी पूरे उच्छ्वास से चटककर सुन्दर सूर्य और चन्द्र को ही अपलक देखती रहना चाहती हैं। यह प्राकृतिक सत्य है, जीवन के विकास-

काल का पहला जादू।

पर इसीलिए, पहला होने के कारण ही, यह अधूरा भी हो सकता है। है भी। प्रौढ़ लोग ऐसा ही कहते हैं। केवल सौन्दर्य को, रूप को, साहित्य में भी सबसे बड़ा महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ। 'नैषध' में बगीचे का वर्णन युवकजन तन्मय होकर सुनते हैं। महाकवि श्रीहर्ष की अद्भुत वर्णनशैली उन्हें रूप की तड़ितप्रभा से चकित, स्तम्भित कर देती है, पर आचार्य वहाँ हँसते हैं। उस स्थल को वे काव्योत्कर्ष में श्रेष्ठ नहीं मानते। पर जब 'मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' वाला स्थल आता है, तब उनके काव्यानन्द की थाह नहीं रहती। युवकों को यहाँ उत्तम चित्रों की जगह उत्तम ध्वनियाँ रहने के कारण, सूक्ष्मतम सौन्दर्य होने पर भी, दृष्टि की सार्थकता के अभाव से अच्छा नहीं लगता; वे केवल आचार्य की व्याख्या सुन लेते हैं। पर विचारणीय यह है कि सौन्दर्य किसमें अधिक है—बाहरी आकर्षक चित्र में या अन्तरंग अरूप सत्ता में? मान्य प्रमाणों के लिए कहना पड़ेगा कि सौन्दर्यबोध के बड़े-बड़े मनुष्यों ने जहाँ के लिए कहा है, वहीं। इस प्रकार हम देखेंगे, सौन्दर्य जितना ही सूक्ष्म होता गया है, वह उतना ही मान्य हुआ है, और उसकी व्यापकता उतनी ही वृद्धि पा गयी है। अन्त तक यही स्थूल सौन्दर्य सत्य, शिव और सुन्दर की शाश्वत व्याख्या प्राप्त करता हुआ साहित्य तथा जीवन का चिरन्तन परिणाम बन गया है।

सौन्दर्य के इसी सूक्ष्मबोध के कारण शेली की अपेक्षा शेक्सपियर बढ़कर माना जाता है। देव और बिहारी, तुलसी और कबीर की समता नहीं कर सकते। सौन्दर्य के बाह्य आकार-प्रकार, भावइंगित आदि की विशेषता बतलानेवाले अँगरेजी के अपरापर कवियों से ब्लैक दूर तक पहुँचा हुआ कहा जाता है।

विवाह के लिए कुमारियों के विवेचन में इसी सूक्ष्म सौन्दर्य का विचार रक्खा गया है। इसीलिए रूप को प्राधान्य नहीं दिया गया। रूप यदि सीजनल फूलों की तरह केवल बाहरी सौन्दर्य तक ही सीमित है, तो एक दिन वह कुम्हलाकर सदा के लिए आँखों के मोह से दूर हो जायेगा। किसी स्थायी उपयोग में वह नहीं आ सकता। पर रूप के रंगीन न होकर केवल सादे, बेला, जुही, चमेली आदि के गुण-सुगन्धवाले फूल, तेल आदि में रक्षित सुगन्ध के द्वारा, स्थायी महत्त्व प्राप्त करते हैं। फिर गुलाब-जैसे रूप और गुण दोनों के आकर तो चिर अभिनन्दनीय होंगे ही। विवाह-समस्या पर यही विचार कुमारियों के सम्बन्ध में रक्खा गया है। उनकी शिक्षा तथा संस्कृति की पुष्टि की ओर ध्यान दिया गया है, उनके स्वभाव का खयाल रक्खा गया है। वैवाहिक जीवन के लिए एक गुणवती युवती रूपवती की अपेक्षा अधिक मंगल और सुख-शान्ति की देनेवाली है। और, इस विचार से, गुणों की तरफ लक्ष्य कर किये गये विवाह का परिणाम रूपवाले विवाह की तरह बुरा नहीं होता। हाँ, जहाँ रूप और गुण दोनों हैं, वहाँ की बात ही क्या? वह तो सोने में सुगन्ध है।

विवाह केवल सौन्दर्य का ऐन्द्रजालिक खेल न होकर दो मनुष्यों में ऐक्य-स्थापना कर एक-प्राणता के एक संसार की सृष्टि करता है, जहाँ रूप अथवा लालसा की तृप्ति से बहुत ऊँचा उठा हुआ एक विशाल उत्तरदायित्व है, जहाँ विवाहित जीवन की सामाजिकता बाहरी संसार से उत्तरोत्तर अपना सहृदय घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करती है। इसलिए केवल रूप की तरफ जाना अदूर-दर्शिता है।

आजकल सौन्दर्यव्याधि योरप से चलकर हमारे देश को भी बुरी तरह

जकड़ती जा रही है। पहले हमारे यहाँ जो लड़की न देखने देने की शालीनता के भीतर अनेक प्रकार की ठग-विद्याएँ छिपी हुई थीं, कानी, लँगड़ी, निर्गुण और कुरूपा कुमारियों के विवाह समाज-नियम के पर्दे की आड़ में कर दिये जाते थे, उसके विरोध में आज जो सौन्दर्यदर्शन का जागरण-मन्त्र चारों ओर पढ़ा जा रहा है, यह उतनी ही हद तक अच्छा है, जहाँ तक पहलेवाली प्रथा के विरोध से सम्बन्ध है, पर जहाँ केवल रूप की प्रधानता आधुनिक विचारों में है, वहाँ हम इसके विरोधी हैं। मुमकिन है, साधारण सुन्दरी कुमारी गुणों से पूर्ण हो। वहाँ यदि उसके योग्य कोई शिक्षित युवक, रूप के अभाव के कारण, उसका पाणिग्रहण करने से विमुख हो, तो यह योरप से आयी हुई सौन्दर्य-व्याधि ही कही जायगी।

बहुत जगह देखने में यह आता है कि पढ़ी-लिखी सुन्दरी युवतियाँ अच्छी आमदनीवाले वर की तलाश में सजी हुई बैठी रहती हैं—राजा, रईस या आई. सी. एस. से कम से वे बात नहीं करना चाहतीं। जब तक अच्छी नौकरी या काफी दौलतवाला पति नहीं मिलता, वे विवाह नहीं करतीं, मानों धन से विवाह करना ही उनका जीवन का ध्येय हो ! यह सब, हमारे विचार में, शिक्षा का सुफल नहीं। इससे समाज की अधोगति ही होती है, और परिणाम यह होता है कि उनका विवाह तब होता है, जब सौन्दर्य का खिला हुआ सुमन कुम्हलाने लगता है। फिर उन सुन्दरियों को विवाह हो जाने पर भी दाम्पत्तिक सच्चा सुख नहीं प्राप्त होता। कारण, एक तो उनकी विवाह की आयु ही जाती रहती है, और दूसरे उन्हें वर भी इच्छानुकूल तो क्या, सुयोग्य भी नहीं मिलते। विलास प्राणों की वस्तु नहीं, वह बाहरी आडम्बर-मात्र है। सच्चे प्रेम में लुभाने या लुब्ध होने की क्रियाएँ नहीं रहतीं। वहाँ स्त्री-पुरुष बिना किसी सहारे के, निराभरण स्वर्गीय दिव्य दृष्टि के ही द्वारा एक-दूसरे के रिक्त जीवन के प्याले को ऊपर तक भर देते हैं। यही पति-पत्नी भाव की स्थायी रति, श्रृंगार है, जिसे रस-सृष्टि में पहला स्थान प्राप्त है।

क्लियोपेट्रा, रानी मेरी, कैथेरिन हावड, एनी बोलेन आदि की बातें जाने दीजिए, आज रूप के गर्म बाजार में योरप की युवतियों की कितनी घोर दशा है, देखिए। सौन्दर्य की प्रतियोगिता के न होने की आवाजें जो कुछ वर्षों से उठ रही हैं, इसका यही कारण है कि वहाँ से पुरष्कृत होकर निकली हुई युवतियों का जीवन ही बाद में बरबाद हो गया है। इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं, और प्रायः हर साल मिलते जाते हैं। जब कोई सुन्दरी पहले की प्रसिद्धि पायी हुई सुन्दरी से बढ़कर मानी जाती है, तब पहली इस स्पर्द्धा के सहन के लिए असमर्थ होकर प्रायः आत्मघात कर लेती है। कहीं प्रेमियों को ही बुरा परिणाम भोगना पड़ा है। पेरिस की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कुमारी पेरिस ने, 1928 में, अपने प्रेमी की हत्या कर डाली, अब बीस साल का कठोर कारावास पूरा कर रही है। एडिथ टामसन को भी सौन्दर्य का पुरस्कार मिल चुका था, पर उसे पति की हत्या के अपराध में प्राण-दण्ड दिया गया। फारस की सुन्दरी फ्लारी ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार सौन्दर्य की बाहरी शोभा जितनी आकर्षक होती है, आग की तरह उसी प्रकार जलानेवाली भी। वह गुणों के जल से ही शीतल हो सकती है।

सूक्ष्म रूप आँखों से देखने का विषय नहीं, उसे मन से समझना पड़ता है। जहाँ मन को वश करने की शक्ति होती है, वहाँ रूप की अदृश्य महाशक्ति का प्रकाश है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए विवाह के लिए स्थूल रूप ग्राह्य नहीं हो सकता।

जिस संयम के द्वारा मनुष्य पशु न होकर मनुष्य है, वह रूप में नहीं, गुणों में

है। रूप में बल्कि संयम की शिथिलता ही पायी जाती है। इसलिए गुण-धर्म को छोड़कर पतंगों की तरह रूप की आग की तरफ बढ़ने का परिणाम हमारे नवयुवकों के लिए लाभप्रद कभी नहीं कहा जा सकता। देश की दासता पर रूप की गुलामी एक इतना बड़ा भार है, जो युवक के उस जीवन की समाप्ति से पहले नहीं उतरता। कर्मजीवन रूप की मरीचिका के पीछे अकर्मण्य हो जाता है—मनुष्य-मृग जलाशय देखकर प्यास बुझाने के लिए केवल भटकता फिरता है; वहाँ जल की जगह जलती हुई ज्योति ही मिलती है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 दिसम्बर, 1933 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## शिक्षा-समस्या और हिन्दी

आजकल शिक्षा-समस्या पर फिर जोरों से विचार होने लगे हैं। देश का ऐसा कोई प्रतिभाशाली मनुष्य नहीं, जिसने विश्वविद्यालयों की वर्तमान शिक्षा-पद्धति पर प्रतिकूल न कहा हो। महाकवि रवीन्द्रनाथ तो बराबर इस शिक्षा-विभाग के खिलाफ कुछ-न-कुछ कहते आये हैं। उनका अपना जीवन इस शिक्षा की धूप से अलग ही स्नेह की छाया में पलकर पुष्ट हुआ है, और वह कितना प्रतिभाशाली आगे चलकर सिद्ध हुआ, इसके प्रमाण की अब आवश्यकता नहीं रही। आज पृथ्वी में कोई भी साहित्यिक ऐसा नहीं, जो उनके समान सार्वभौममान्य साहित्यिक हो, न उनकी-इतनी पूजा संसार ने दूसरे साहित्यिक की की। वह जिस प्रतिभा के वरपुत्र हैं, उससे परिचय प्राप्त करने के जो तरीके उन्होंने बतलाये हैं कि स्नेह-पूर्वक बालकों को उन्हीं की मातृभाषा में शिक्षा मिलनी चाहिए, बुद्धि के विकास के लिए बालकों की स्वतन्त्रता पर बराबर ध्यान रखना उचित है। कुछ पढ़ाने के बाद बालक की रुचि का पता लग जाता है कि किस तरफ उसका झुकाव है—जो बालक चित्रकला सीखना चाहता है, उसे गणित सिखाने से लाभ न होगा आदि-आदि। उनके बतलाये हुए वे ही उपाय अधिक उपयोगी हैं।

महात्माजी भी हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति से खुश नहीं। आचार्य पी. सी. राय वर्तमान शिक्षा के विरोध में अनेक भाषण दे चुके हैं। उनका कहना है कि इंगलैण्ड के बड़े-बड़े कवियों, समालोचकों, यहाँ तक कि राजनीतिज्ञों में भी कोई विश्वविद्यालय के पदवीधर नहीं थे। चार साल पहले इंगलैण्ड के कार्यकर्त्ता बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों में कोई भी विश्वविद्यालय का उत्तीर्ण छात्र न था। काशी-विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए आचार्य राय ने कहा कि संसार के अधिकांश महापुरुषों को विश्वविद्यालयों की शिक्षा नहीं मिली। शेक्सपीयर, केशवचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरच्चन्द्र, गिरीशचन्द्र घोष, बर्नार्ड शॉ, एच. जी. वेल्स किसी कॉलेज से नहीं निकले। रैमजे मैक्डोनॉल्ड, मुसोलिनी, हिटलर, स्टैलिन आदि राज-नीतिज्ञों ने किसी विश्वविद्यालय में पदवी नहीं पायी। हम हिन्दी में भी देखते हैं, पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं. गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, बाबू सियारामशरण गुप्त, पं. रामचन्द्र शुक्ल, पं. सुमित्रा-

नन्दन पन्त ग्रादि किसी विश्वविद्यालय से पदवी प्राप्त कर साहित्य की सेवा के लिए नहीं ग्राये थे। इनके साहित्यिक उत्कर्ष पर कुछ लिखना व्यर्थ है। गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास, महाकवि विहारी तथा जन्मसिद्ध कविवर कवीर किसी विश्वविद्यालय के रत्न नहीं थे। ग्राज इन्हीं की पुस्तकें पढ़कर विद्यार्थी हिन्दी की एम. ए. उपाधि धारण करते हैं।

हमारा मतलब विश्वविद्यालय का विरोध नहीं। विश्वविद्यालय तो शिक्षा के केन्द्र-स्वरूप रहेंगे ही। हम केवल शिक्षा-प्रणाली पर लिख रहे हैं। जिन उपायों से विद्यार्थियों को शिक्षा मिलती है, वे उनके मनोविकास के ग्रनुकूल नहीं।

पहले तो शिक्षा की प्राप्ति इतनी व्ययशील है कि साधारण लोगों के लिए वह सुलभ नहीं। दूसरे, पाठ्यक्रम ऐसा है कि विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि छै-छै घंटे रात जगकर पढ़ते हुए भी विद्यार्थी कोर्स समाप्त नहीं कर पाते। एक तो दूसरी भाषा, उस पर कोर्स का पहाड़ ऊपर रक्खा हुग्रा। तीसरे, ग्रध्यापकों के लेक्चरों की गति नायगरा फाल से ज्यादा तेज, ग्रधिकांश विद्यार्थी समझ ही नहीं पाते, नोट करना तो दूर की बात है। डी. लिट, पी-एच. डी., एल-एल. डी., डी. एस-सी. ग्रध्यापक-वर्ग जब ग्रपने ही वजन पर विद्यार्थियों को समझकर व्याख्यान देते हैं, तब उनकी क्या दशा होती है, 'ज्ञाता स्वाद: स ननु सभयं यो विहातुं समर्थ:'। कभी-कभी ग्रध्यापक महोदय तैयारी करने के भय से कठिन विषयों को सहज कहकर विद्यार्थियों पर ही छोड़ देते हैं। ऐसे ग्रनेक कारणों में मुख्य यह है कि जब तक शिक्षा विद्यार्थी को उसी की मातृभाषा में नहीं दी जाती, तब तक उसकी पूरी तरह प्राप्ति ग्रसम्भव है।

हमारे देश में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं, जो विश्वविद्यालय के हर विभाग के कोर्स ग्रपनी मातृभाषा में तैयार कर दें। बहुत-कुछ है, पर जो कमी पाठ्य-ग्रन्थों की होगी, वह पूरी हो सकती है। इससे देश को ग्रामदनी का भी एक जरिया प्राप्त होगा। ग्रभी तो ग्रधिकांश किताबें विदेश से ही ग्राती हैं, ग्रौर उनकी ग्रामदनी का सोलहो ग्राने हिस्सा विदेशी विद्वान ग्रौर प्रकाशक खा जाते हैं। यहाँ की भी पुस्तकें हैं, पर इतने से मतलब हासिल नहीं होता।

ग्रँगरेजी की शिक्षा यदि दूसरी जबान के तौर पर नहीं, तो इस हद तक हो, जिससे विद्यार्थियों को बोलने, लिखने ग्रौर पढ़ने का ज्ञान हो जाय। जो लोग ग्रागे बढ़ना चाहें, वे ग्रागे का प्रबन्ध कर सकते हैं। इस तरह प्रान्तीय भाषाग्रों को ग्रनेक सुबीते प्राप्त होते हैं। साधारण लोग भी ग्रपनी मातृभाषा के द्वारा सहज ही में ऊँची शिक्षा से परिचित हो जाते हैं।

विश्वविख्यात व्यवसायी राकफेलर के कथन का उल्लेख करते हुए ग्राचार्य राय ने कहा है कि राकफेलर महोदय का कहना है कि ग्राजकल कॉलेज जाकर युवक-युवतियाँ विलासी हो जाते हैं। यह दोष हमारे यहाँ के विद्यार्थियों पर भी है। इस गरीब देश के विद्यार्थियों पर यह बहुत बड़ा कलंक है। इसके कारण उनका स्वास्थ्य तो बरबाद जाता ही है, बेकार होने पर उनका जीवन भी नष्ट हो जाता है। हमें यह लिखते हुए बड़ा दु:ख है कि शिक्षा के लिए जाकर इस प्रकार की ग्रशिक्षाएँ ही हमारे विद्यार्थियों के गले पड़ जाती हैं। कॉलेज से निकलने पर ही कोई सरकारी नौकरी या दूसरी ग्रच्छी जगह किसी को मिल जायगी, ऐसी बात नहीं। फिर इसे बढ़े हुए दिमाग का फल क्या हो सकता है, यह सहज ही समझ में ग्रा जाता है।

पंजाब ग्रादि जिन प्रान्तों को ब्रिटिश सरकार ने बाद को ग्रपने राज्य में

मिलाया है, वहाँ अब भी अँगरेजी की ही तूती बोल रही है। वहाँ लोग अँगरेजी को ही मातृभाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित किये हुए हैं। अँगरेजी पढ़ने-पढ़ाने की ओर ही उनका ध्यान अधिक है। मातृभाषा हिन्दी के प्रति उनकी यह उदासीनता परिताप का विषय है। कारण, उचित शिक्षा के प्रचार के लिए मातृभाषा का ही माध्यम ठीक है, हम इसके पक्ष में हैं। हिन्दी के अधिकारी तथा प्रतिष्ठित पुरुषों को इसके लिए उद्योग करना चाहिए। इससे देश को कितने लाभ हैं, यह गणना से बाहर है। अपनी भाषा के भीतर से शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों का दिमाग भी योरप की व्यर्थ चिन्ता से खराब न हुआ करेगा, शिक्षा भी आसान होगी, कुछ ही वर्षों में ऊँची-से-ऊँची शिक्षा युवक-युवतियों को प्राप्त हो सकेगी। भाषा का भी सिर ऊँचा होगा, उसके साहित्य की द्रुत-गति संवर्द्धित होगी।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## बंगालियों की प्रान्तीयता

संसार में सर्वोच्च आदर्श है अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का। उसके बाद राष्ट्रीय भाव का स्थान आता है। पर प्रान्तीयता तो इतनी कलुषित वस्तु है कि उसकी जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। किन्तु, दुर्भाग्यवश, भारत में प्रान्तीयता का बड़ा जोर है, और यदि यह भाव किसी प्रान्त में नहीं है, तो वह उतनी ही हानि उठाता जा रहा है। बंगाल की प्रान्तीयता का पुराना रोना है। मद्रास की तथा महाराष्ट्र की प्रान्तीयता भी हम खूब जानते हैं। पंजाब की प्रान्तीयता भी छिपी नहीं है। बम्बई में, गुजराती समाज में, युक्त-प्रान्तवासी 'भैया' का कैसा हेय स्थान है! यदि यह भाव किसी प्रान्त में नहीं है, तो युक्त-प्रान्त में। और यही कारण है कि आज इस प्रान्त के हर एक कार्यालय में 90 प्रतिशत अन्य प्रान्तीय अफसर हैं, तथा इस प्रान्त के लोगों को अन्य प्रान्तों में प्रान्तीयता के कारण तथा इस प्रान्त में अप्रान्तीयता के कारण स्थान नहीं मिलता। प्रान्त-प्रेम बुरा नहीं है; प्रान्तीय तथा मातृभाषा पर गर्व होना भी स्वाभाविक है, पर प्रान्त के नाम पर अन्य प्रान्त-वालों को एक पराया समझना तथा एक ही देश का होकर पहले प्रान्त और फिर देश तथा पहले प्रान्तीय-भाषा, फिर देश-भाषा या राष्ट्रभाषा को स्थान देना अनुचित तथा निन्दनीय बात है, और जो लोग ऐसा दुर्भाव पनपा रहे हैं, वे अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। 'पहले बंगाल, फिर हिन्दोस्तान' की पुकार कुछ समय पूर्व बंगाल से बहुत सुनायी पड़ती थी। पर धीरे-धीरे बंगालियों ने इससे अपनी गहरी हानि समझ ली। इसके बाद हिन्दू-समाज के समूह-मात्र के हित को एक ओर कर, बंगाल के हिन्दू-मुसलमान दोनों भारतीय साम्प्रदायिक एकता की समूची सम्भावना को ले डूबे। भाषा के प्रश्न में कोई बंगाली यह चाहता ही नहीं कि 'देशी' उसकी भाषा में गति पावे। यह आक्षेप कितना सच्चा है, यह हम नहीं स्वयं बंगाली जानते हैं। आज कितने बंगाली हैं, जो बड़े उत्साह से बंगला पढ़ाने के लिए तैयार हैं—किसी गैरबंगाली को!

बंगाल का अँगरेजी-पत्र हो, उससे कितने गैरबंगाली युवक प्रोत्साहन पाते

हैं। यह कहा जायगा कि एक हिन्दी-पत्रिका बंगाल से निकलती है। इस विषय में जितना कम कहा जाय, थोड़ा है, पर इधर कई बंगाली नेताओं ने एक अद्भुत बात कही है। वे कहते हैं—"बंगाल के लिए स्वदेशी का अर्थ है, बंगाली वस्तु, यानी बंगाल की बनी चीजें खरीदना। यह सोचने की बात है कि यह कितनी निन्दनीय बात है। क्या बंगाली यह समझते हैं कि बंगाल केमिकल या बंगाल के टॉयलेट के समान की खरीद की सलाह बंगालियों को देकर वे अपनी ही गहरी हानि नहीं कर रहे हैं? क्या केवल बंगाल के भरोसे ये अद्भुत संस्थाएँ पनपी हैं, या चल सकती हैं? क्या इस प्रकार एक गहरा विषैला धुआँ नहीं उठाया जा रहा है, जिससे स्वयं बंगाली की ही गहरी हानि होगी?

किन्तु हम यह समझते थे कि यह एक नादान कल्पना है, जिसका श्रेय केवल गैर-जिम्मेदारों के सिर है। किन्तु हाल ही में 'अमृत बाजार पत्रिका' ऐसे पत्र में एक नोट पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि 'परीक्षक' मैच में कोई भी ऐसा बंगाली खिलाड़ी न निकला, जो एम. सी. सी. नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश टीम से मुकाबला करनेवाली अखिल भारतीय टीम के ग्यारह खिलाड़ियों में से एक बनाया जा सके। हमें भी इसका उतना ही खेद है। पर पत्रिका यहीं समाप्त नहीं होती। यह ताने के साथ इस बात पर छिपा हर्ष प्रकट करती है कि एम. सी. सी. ने उत्तरी भारत का जितना दौरा किया है, वह अन्य उत्तरी प्रान्तों के खिलाड़ियों को बच्चों के समान हराती जा रही है।

एक बंगाली खिलाड़ी न शामिल किये जाने का—जिसमें बंगाल का ही दोष है, और किसी का नहीं—इतना अधिक खेद होना कि समूचे उत्तर-भारत की पराजय पर हर्ष प्रकट करना कितनी अनुचित बात है! जहाँ तक हम समाचार पत्रों को देख रहे हैं, उत्तर-भारत के खिलाड़ी बच्चों की तरह नहीं हराये जा रहे हैं। दूसरे, बिना बंगाल के भी वे जमकर विलायती टीम का सामना कर रहे हैं।

अस्तु, बंगाल से, बंगालियों से हमारा अनुरोध है कि वे इस प्रान्तीयता की माया छोड़ दें। यह विष अन्य प्रान्तों में भी है, पर बंगाल का बहुत ऊपर आ रहा है। हम जानते हैं, बहुत से निष्पक्ष बंगाली महानुभाव भी हमसे सहमत हैं, और समान रूप से दुःखी हैं।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## विवाह की उम्र

विवाह के सम्बन्ध में देश में बड़ा भ्रम फैला हुआ है। पहली बात तो यह है कि सदियों तक मार खाते-खाते जनता का मस्तिष्क नष्ट हो गया है। वह अपने फायदे की नयी बातों पर विचार नहीं कर सकती। पुनः रूढ़ि के अनुसार चलना भीजनता का मुख्य स्वभाव है। इसे बदलकर समयानुकूल करने में देर लगती है। जहाँ शिक्षा का काफी प्रसार हो चुका है, वहाँ भी लोग प्राचीन संस्कारों को तत्काल बदल नहीं सकते। यही कारण है कि बर्नार्ड शॉ की विवाह और त्यागवाली बातें ग्रेट ब्रिटेन में भी स्वीकृत नहीं हुई—वे केवल पुस्तकों में लेखक के प्रति पठित समाज

की सहानुभूति पैदा करने के लिए हैं। विवाह तथा त्याग के जो प्राचीन नियम वहाँ प्रचलित थे, वही अब भी हैं। केवल महिलाओं के अधिकार बढ़ा दिये गये हैं। औपन्यासिक शरच्चन्द्र ने भी विवाह-विषय पर स्वतन्त्र चित्रण किया है। परन्तु ऐसी स्वतन्त्रता बंगाल में भी प्रचलित नहीं हो सकी। बात यह कि लोग जिस तरह के कार्यों में बँध जाते हैं, उन्हें फिर छोड़ नहीं सकते। हमारे यहाँ विवाह की जो प्रथा अधिकांश समाजों में चल रही है, हमारे विद्वान जानते हैं कि वह बहुत आधुनिक है। हमारा मतलब बाल-विवाह से है। मुसलमान-शासन के समय कुमारियों पर जो उपद्रव होते थे, उनसे उनकी रक्षा के लिए ही बाल-विवाह का प्रचलन हुआ था। पहले कन्याएँ पूर्णयौवना होकर ही विवाह करती थीं। एक पति के अनेक पत्नियों का होना यहाँ की प्राचीन प्रथा है। इसके समर्थन में कहा जाता है कि यहाँ कन्याओं की संख्या अधिक होने के कारण यह रीति थी। कुछ रहा हो, इस समय हमारे शिक्षित-समुदाय को यह बात जँच गयी है कि ये दोनों प्रथाएँ निन्द्य हैं। बूढ़े वर का युवती कुमारी से विवाह तो सर्वथा त्याज्य है। वे विवाह कर सकते हैं, यदि उन्हीं के जोड़ की विधवा उनसे विवाह करे। बहुविवाह के लिए तो कोई भी समझदार कभी सलाह नहीं दे सकता। हमें आश्चर्य है, 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' द्वारा पुरुषों से काम की आठगुण शक्ति ज्यादा रखने पर भी स्त्री पुरुष के साथ अकेली क्यों न रह सकी—उसके पति महाशय को अनेक पत्नियों से विवाह करने का अधिकार कैसे प्राप्त हो गया। हमारे समाज के कर्ण-धारों ने पुरुषों की स्वतन्त्रता की हद बढ़ायी है, इसमें सन्देह नहीं।

लोगों में मस्तिष्क बहुत कम रह गया है, इसका प्रमाण इससे मजबूत और क्या होगा कि सारदा-कानून का बड़े-बड़े पण्डितों तक ने बहिष्कार किया। उसमें समाज के अनुकूल लड़के-लड़की की बहुत थोड़ी-थोड़ी उम्र रक्खी गयी है। पर यह भी बाल-विवाह का पक्ष लेनेवाला हमारा मुर्दा समाज न सह सका। बराबर कानून के खिलाफ विवाह करनेवालों के नाम दावा दायर होने के समाचार मिलते रहते हैं। यदि यह कानून तोड़ने का इलजाम सरकार अपनी तरफ से लगाती, तो पता नहीं, मुजरिमों की संख्या कहाँ तक पहुँचती। यहाँ तो देश के समाजसुधारक लोग खर्च की कमी के कारण केवल चुने-चुने लोगों पर मुकदमा चलाते हैं। समाज के इतने पतन के बाद उसके उठने का कारण उसके अनेकानेक सुधार ही होंगे। इस समय सबसे बड़ा सुधार जो समाज को चाहिए, वह है मस्तिष्क को हर तरह की रूढ़ि के बन्धनों से मुक्त कर देना। मनुष्य आँखों के सामने कोई पर्दा डालकर प्रकृति के सत्य-दृश्य नहीं देख सकता। जब तक मस्तिष्क में किसी प्रकार की भावना, चाहे वह अच्छी ही क्यों न हो, अपनी जातीय या वर्णिक विशेषता के रूप से रहेगी, तब तक एक विजातीय अवर्णिक भाव भी रहेगा, जिसके रहते निष्पक्ष विचारणा असम्भव है। जिस प्रकार मृत्यु के समय मनुष्य का स्थूल सम्पूर्ण संसार छूट जाता है, केवल अर्जित संस्कारों को लेकर ही वह नवीन जीवन प्राप्त करता है, हमें उसी तरह सामाजिक नवीन जीवन के लिए संसार की प्रकृति से सत्य के संस्कार तैयार कर लेने हैं, प्राचीन रूढ़ियों की स्थूलता को वहीं छोड़ देना है, उनके कारण हम जीर्ण वार्धक्य में अंचल हो रहे हैं। समाज का शब्दार्थ सार्थक नहीं कर पाते।

विवाह सामाजिक जीवन का पहला अध्याय है, सृष्टि के आदि-रस का आधार जीवन का स्वतन्त्र क्रम यहीं से जारी होता है। इसलिए यह उस समय तक सार्थक कदापि नहीं, जब तक कुमार और कुमारी की बुद्धि परिपक्व नहीं हुई, वे संसार

का उत्तरदायित्व नहीं समझ सके, माता-पिता तथा समाज की दृष्टि में स्वतन्त्र नहीं हुए। विवाह अपने शब्दार्थ से भी इसी उद्देश्य की पुष्टि करता है। वि+वह+घञ् द्वारा विवाह शब्द सिद्ध हुआ है। विशेषता के साथ ढोना, इसकी सीधी हिन्दी हुई। 'विशेषता के साथ' इतने में पूरी स्वतन्त्रता है। जैसी-जैसी विशेषताएँ ढोने के लिए आ सकें, उनके उपयोग करने की पूरी गुंजायश है। ढोने या वाह में धार्मिक, सामाजिक, नैतिक सभी प्रकार के भारवहन का अर्थ आता है। ऐसा विवाह पुरुष स्त्री को प्राप्त कर और स्त्री पुरुष को प्राप्त कर करती है। अब देखें, हमारे यहाँ जो विवाह होता है, उसके साथ इस शब्दार्थ की कहाँ तक संगति बैठती है। विवाह वर के बाप से नहीं होता, इसलिए इस कार्य में उसका उत्तरदायित्व बिलकुल ध्यान देने योग्य नहीं। उसके एक ही लड़का है, उसकी सम्पत्ति पर उसकी बहू का ही अधिकार होगा, कानूनन उसे भोजनपान का खर्च मिल सकता है, समाज के सब लोग इस कार्य से सहमत हैं, यह कुछ भी इस विवाह शब्द की सिद्धि नहीं कर सकता। बल्कि इस तरह विवाह की मौलिकता नष्ट होती है। विवाह इतना जोरदार शब्द है कि यह स्वयं स्वतन्त्रता का द्योतक है। इसके लिए केवल पुरुष और स्त्री की स्वतन्त्र शक्ति उत्तरदायी है। बालक-बालिका इस शब्द की सार्थकता नहीं करते। विशेष रूप से वहन करने का अधिकार उसी पुरुष और उसी स्त्री को है, जिसका पूरा-पूरा विकास हो चुका है, जो संसार को समझ गये हैं, और अपनी ही इच्छा से एक-दूसरे से मिलकर एक-दूसरे का उत्तरदायित्व लेते हुए धर्म, नीति और समाज आदि की उचित भावनाओं को स्वतन्त्र वृत्ति से ढोने को तैयार हैं। इसके बाद प्रतिज्ञा आदि को जगह मिलती है। मन्त्र-यन्त्र सब दिखलावे हैं—पिष्टपेषण। इसलिए, हमारे विचार से, विवाह की उम्र कुमार के लिए 25 से 30 साल तक ठीक है, और कुमारी के लिए 18 से 22 साल तक। इतनी उम्र तक दोनों का मानसिक तथा शारीरिक विकास हो जाता है, और वे अपने मनोनुकूल पति-पत्नी निर्वाचन कर सकते हैं। संसार के उत्तरदायित्व को भी वे अच्छी तरह समझ जाते हैं।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## चीनी महिलाओं का भारतीय आदर्श

बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ-साथ चीन में भारतीय संस्कृति और आदर्श का भी प्रचार हुआ था। चीन ने भारतीय संस्कृति को स्वीकृत कर अपनी ही महत्ता का परिचय दिया है। दोनों देशों में अशोक के बाद कई शताब्दियों तक साहित्यिक धारा जोरों से बहती रही। इस जड़वाद के युग में पश्चिमी भौतिकता तथा कुटिल राजनीतिक चालों से आक्रान्त चीन की मनुष्यता को बड़े-बड़े दुःखों का सामना करना पड़ा है। पर बराबर चीन का शत्रुओं के प्रति भी सभ्य बर्ताव रहा।

चीन की कुरीतियों का अनेक प्रकार से मजाक उड़ाया गया। उसकी एक बहुत ही प्रसिद्ध कथा है कि परों को छोटे करने के लिए वहाँ की महिलाओं को लोहे के तंग जूते पहनाये जाते हैं। श्रीचमनलाल इसके विरुद्ध कहते हैं। लोहे के तंग जूते

पहने हुए महिला को देखने की उनकी लालसा चीन में पूरी नहीं हुई। श्रीचमन-लाल ने यह भी कहा है कि चीन की महिलाओं की स्थिति वैसी ही ऊँची है, जैसी भारत की देवियों की। हिटलर के जर्मनी में तथा आधुनिक सभ्य जापान में महिलाओं की जैसी मनोवृत्ति देखने को मिलती है, चीन में उससे बहुत ऊँची भावनाएँ महिलाओं की हैं। चीन की महिलाएँ भारत की देवियों की तरह गृह-लक्ष्मियाँ होना अधिक पसन्द करती हैं।

इधर डॉ. सनयात सेन के द्वारा प्रजातन्त्र की स्थापना होने के बाद, गत 22 वर्षों में, चीन की देवियों में भी परिवर्तन हो गया है। वहाँ की महिलाएँ अब उस रूप में नहीं रहीं, जिसका विवरण योरपीय यात्री अपनी पुस्तकों में देते थे। अब वहाँ भी स्त्रियों के लिए जीवन के सभी द्वार मुक्त हो गये हैं, और प्रोफेसर, डॉक्टर वकील, बैरिस्टर, इंजीनियर आदि सभी रूपों में आपको चीन की महिलाएँ प्रत्यक्ष होंगी। इस नवीन प्रगति के जन्मदाता डॉ. सनयात सेन को चीन का बच्चा-बच्चा जानता है, फिर भी वहाँ की महिलाएँ उनकी देवता की तरह पूजा करती हैं।

श्रीचमनलाल को शिकागो के अन्तर्राष्ट्रीय भवन में एक प्रोफेसर चीनी महिला से बातचीत करने का अवसर मिला। उसने कहा कि चीन की उन्नति में स्त्रियों ने बराबर पुरुषों का साथ दिया है। विदेशियों ने प्राचीन प्रथा के अनुसार उनके पैरों में तंग जूते देखकर जो यह सोच लिया था कि उनका मस्तिष्क भी उसी तरह जकड़ा हुआ है, यह उनका भ्रम था। चीनी सास के बहू पर होनेवाले अत्याचारों का योरपियनों ने बहुत बढ़ाकर वर्णन किया है। इससे चीन की स्त्रियों की तारीफ ही हुई है। क्योंकि आज की बहू भी कल बहू की सास होती है। उसके अधिकार इस तरह समझ में आ जायेंगे। चीन की स्त्री का पहले भी पुरुष से पृथक अपना व्यक्तित्व रहता था। ग्रन्थ-रचना, कविता-लेखन, चित्रकला-शिल्प आदि में वह अपना ही नाम देती थी। योरप की महिलाओं की तरह मिसेज जॉन और मिसेज जॉनसन वह न थीं कि पति के नाम से प्रचलित हो। पति स्त्री की योग्यता को अपने भी सुयश का कारण समझता था। चीन की एक महिला ही सबसे बड़ी कवयित्री है। हजारों वर्ष बाद आज भी उसका नाम चीन में सगर्व लिया जाता है। उसका पति भी कवि था। पर दोनों में ईर्ष्या न होकर परम मैत्री थी। वह स्त्री साहित्याकाश की सर्वोज्ज्वल तारा है। उसकी मृत्यु होने पर देशभर में शोक मनाया गया था।

चीन की महिलाओं में इतना परिवर्तन हो जाने पर भी उनका प्रेम गृहस्थी के कामों की ओर ही अधिक है। वे पुरुषों की तरह घर के बाहर नौकरी आदि करके जीविकार्जन को घृणा की दृष्टि से देखती हैं। किसी ऐसे काम को जिससे दूसरे पुरुषों से बातचीत करनी पड़े, वे पसन्द नहीं करतीं। चीनी स्त्रियों का स्वभाव जन्म से मधुर, गर्वरहित होता है। श्रीचमनलाल को शिकागो में जहाँ दूसरे विभागों की स्त्रियों में वाचालता, चपलता तथा चतुरता चीजें बेचते समय खरीदारों से बात-चीत करने में मिली, वहाँ चीनी महिलाओं में उन्होंने बराबर शिष्टता और मृदुलता देखी। चीनी कन्याएँ ग्राहकों से बातचीत करते हुए संकोच करती थीं। इस कारण इनकी वैसी तारीफ नहीं हुई, न ज्यादा माल ये बेच सकीं। जापान की लड़कियों ने अपनी वाचालता से बहुत ज्यादा सामान बेचा। श्रीचमनलाल ने इसकी सूचना चीनी विभाग के मन्त्री को दी, तो उन्होंने कहा, चीन की स्त्रियाँ भारतीय स्त्रियों की ही तरह लजीली होती हैं।

चीन की स्त्रियों की लज्जा उनके मधुर स्त्रीत्व की विभूति है। वे अभी तक

पुरुषों से स्पर्द्धा करके व्यवसाय के क्षेत्र में अपने इस गुण को खो नहीं सकीं। मुमकिन, कुछ दिनों बाद उन्हें अभ्यास हो जाय, और संसार का तरीका उन्हें भी अख्तियार करना पड़े। पर आज तक जैसा देखने में आता है, चीन की स्त्री योरप की स्त्री की तरह पुरुष से स्पर्द्धाभाव रखना या अधिक स्वतन्त्रता पाना पसन्द न करेगी। चीन की एक सुन्दर अँगरेजी बोलनेवाली ग्रेजुएट लड़की ने श्रीचमनलाल से मुस्कराते हुए कहा—"हम विवाह को सर्वश्रेष्ठ मानती हैं। ख्याल रहे, चीन की स्त्री अपने घर में सर्वश्रेष्ठ है, और पूरे अधिकार रखती है।"

आजकल योरप, अमेरिका, इँगलैण्ड, जापान आदि सभी देशों में महिलाएँ दूकान पर बैठती हैं। पर चीन में इसका अभी बिलकुल प्रचलन नहीं हुआ। शंघाई जैसे बड़े शहर में भी कोई चीनी महिला दूकान पर नहीं बैठती।

घर के काम को ही चीन की स्त्रियाँ श्रेष्ठ समझती हैं। सुबह आप सब्जी, लकड़ी, कोयला, मांस आदि की दुकानों में जायँ, तो वहाँ सैकड़ों स्त्रियाँ एक-दो टोकरियाँ लिये हुए आपको मिलेंगी। सामान खरीदकर ले जाने में उन्हें झिझक नहीं, पर वे जापान की स्त्रियों की तरह गाड़ी नहीं खींचतीं। खेती के कामों में वे बड़ी मिहनत करती हैं। पर यह केवल अपनी गृहस्थी के सुधार के लिए। चीन के होटलों में दूसरे देशों की तरह लड़कियाँ न मिलेंगी। यहाँ चीनी लड़के काम करने के लिए रहते हैं। योरपियनों, अमेरिकनों और भारतीयों के यहाँ यही लड़के मिलेंगे। चीन की स्त्रियाँ महिलाओं की नर्स या सेविका होना मंजूर कर लेंगी, पर किसी पुरुष की सेवा के लिए वे तत्काल इन्कार कर देंगी। आजकल की चीनी लड़कियाँ भी, जिन्हें योरप की सभ्यता मालूम है, हाथ मिलाने तथा चुम्बन करने से नफरत करती हैं।

चीन की शिक्षित महिलाओं की वृत्ति अध्यापिका होने की ओर अधिक है। यह पद मर्यादा की दृष्टि से देखा जाता है। अध्यापिका होने पर लड़कियों की शादी जल्द होती है। छोटे बच्चों को वे बड़ी खूबी से शिक्षा दे सकती हैं। इसमें नामवरी हासिल हुई है। मैजिस्ट्रेट होना भी उन्हें पसन्द है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साड़ी की महिमा

गउन, सलवार, चुस्त पाजामा आदि भिन्न-भिन्न देश तथा भिन्न-भिन्न संस्कृति की महिलाओं के वस्त्र हैं। इन पहनाओं में भी भिन्न देश की महिलाओं की शिक्षा, संस्कृति, विकास, रुचि और सौन्दर्य-ज्ञान आदि के साथ उनकी भौतिक प्रकृति की परीक्षा की जा सकती है। इसी प्रकार भारत की देवियों का दीर्घ इतिहास उनकी साड़ी से मिला हुआ है। सैकड़ों परिवर्तन भारत ने देखे, पर देवियों की साड़ी की महिमा पहली-सी अचल-अटल है। सती, सीता, सावित्री, दमयन्ती, पद्मिनी आदि महाशक्तियों की कथाओं में उनकी शालीनता की शोभा साड़ी का उल्लेख मिलता है। आज पश्चिमी सभ्यता के प्रखर युग में भी उससे परिचित रहनेवाली देवियों ने अपनी अपार सौन्दर्य-ज्योति की साड़ी का परित्याग नहीं किया। 'विश्व-महिला-

सम्मेलन' में भारत की वर्तमान सरस्वती श्रीमती सरोजिनी नायडू साड़ी से ही सजी हुई गयी थीं, और अपनी किरणों-सी प्रखर, स्वच्छ, शुद्ध और प्रांजल अँगरेजी में अपर देशों की शिक्षिता महिलाओं को चमत्कृत किया था। आज शिक्षित-समाज भी अपने यहाँ महिलाओं के मुख्य वस्त्र के लिए साड़ी को ही पसन्द कर रहा है। उसकी आँखों को साड़ी से अधिक और किसी भी वस्त्र में शोभा नहीं दीख पड़ती।

जहाँ इतनी महिमा साड़ी धारण किये हुए है, वहाँ मुसलमान-शासन के बुरे फल के कारण पुरुषों में साड़ी की मर्यादा के प्रतिकूल अनेक प्रकार की शंकाएँ हो चली थीं, जिसका परिणाम देवियों के लिए अहितकर हो चला था। अभी कुछ दिन हुए, कन्याओं के सुप्रसिद्ध आइसाबेला थावर्न कॉलेज, लखनऊ में भाषण देते हुए पब्लिक इंस्ट्रक्शन, यू. पी. के डायरेक्टर ने कहा—"अभी पन्द्रह साल से ज्यादा न हुआ होगा, मैं भारत के एक सुप्रसिद्ध, जनता के हितैषी, विद्वान व्यक्ति से बालिका-विद्यालय के लिए चन्दा माँगने के उद्देश से मिला। विषय की चर्चा करने पर उन्होंने कहा—'क्या ? बालिका-विद्यालय के लिए चन्दा देना ! हरगिज नहीं। लड़कियाँ पहले ही से खराब होती हैं, फिर उन्हें पढ़ाकर तो और दसगुना अधिक खराब करना है।" इस प्रकार का उत्तर देनेवाले, मुमकिन है, अब भी हों। ऐसे आदमियों की कमी नहीं, जो कन्या का जन्म सुनकर सूख जाते हैं, और अपने को संसार का अभागा मनुष्य सोचने लगते हैं। यह भावना हमारे यहाँ मुसलमान-शासन के समय से आयी है।

पहले यहाँ पुत्र और कन्या एक ही दृष्टि से देखे जाते थे। पुरुष और स्त्री की इससे बड़ी विशेषता और क्या बतलायी जा सकती है कि वे एक-दूसरे के अर्धांग हैं। दोनों के बिना एक पूरा रूप, पूरा संसार नहीं तैयार होता। एक को बाहर के, दूसरी को भीतर के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। शिक्षा भी इस प्रकार दोनों तरफ की पूर्ण दी जाती थी। ललित कला में स्त्री ही आचार्या थी। गृहस्थी का पूरा विज्ञान-भाग उसी के हाथ में था। बुद्ध से जब पूछा गया कि तुम कैसी पत्नी पसन्द करते हो, तब उन्होंने कहा—"मुझे वह कुमारी पसन्द है, जो कविता लिखती हो, सुलक्षणा हो और सभी शास्त्रों में पटु।" हमारी देवियों की विद्वतता विश्वविश्रुत है। अभी 9वीं शताब्दी की बात है। वह भारत के इतिहास का पतनकाल कहा जा सकता है। पर उस समय भी महापण्डित मण्डन मिश्र की पत्नी उभयभारती दृष्टि-गोचर होती हैं। जिसके समकक्ष विद्वान आज तक संसार ने उत्पन्न नहीं किया, उस महाप्रतिभाशाली शंकराचार्य को भी पति से शास्त्रार्थ होने से पहले उन्होंने परास्त किया था—कम-से-कम, कुछ काल के लिए अपने अधिकार में पति को रख लिया था, जब तक शंकर कामशास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर नहीं लौटे। बाद को वही शास्त्रार्थ में निर्णायिका ठहरायी गयी थीं। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के कथोपकथन पढ़कर यह निश्चय हो जाता है कि बुद्धि तथा शिक्षा के विकास में हमारे यहाँ स्त्री को पुरुष के बराबर ही अधिकार प्राप्त थे। साड़ी और उत्तरीय का यह चिर सम्बन्ध ज्ञान में भी था। मैक्समूलर जिस प्रतिभा से मुग्ध थे, उसमें प्रकृति को भी स्थान प्राप्त है।

बालिकाओं तथा महिलाओं के प्रति पश्चिम का अगाध स्नेह आदर्श है। उनकी युक्ति [मुक्ति] के लिए उसने बहुत-कुछ किया है। फिर भी वहाँ की तमाम बातें ग्राह्य नहीं हो सकतीं। अवश्य स्त्रियों के स्पर्धाभाव का प्रचार यहाँ भी हुआ है, और दुर्गा-सप्तशती के पाठ से शक्ति का चमत्कार प्रत्यक्ष हो जाता है, और इसके मानने में कोई आपत्ति नहीं रहती कि देवियाँ शक्ति के विकास में पुरुषों को परास्त कर

सकती हैं; पर यह निश्चय है कि प्रकृति ने जिन्हें बुद्धि की श्रेष्ठ मानसिक सम्पत्ति देकर सुकुमारता के द्वारा सज्जित किया है, उनके गुणों का विकास लालित्य के भीतर से संस्कृति की शाश्वत परिणति के रूप से हो, तभी अच्छा है। कोमल-कठोर का यह सम्बन्ध सीता और राम के आदर्श-चरित्रों के रहते भारत से दूर न होगा। आज की शिक्षा का विकास इसी विचार से होना चाहिए। साड़ी की यही सर्वमान्य महिमा भारत की मूर्तिमती संस्कृति स्त्री है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## नेपाल पर इटेलियन यात्री

इटली की रॉयल एकेडेमी के वाइस प्रेसिडेण्ट मि. कार्लोफार्मोची और रॉयल एकेडेमी के सदस्य हिज एक्सलेंसी गुइसपटूसा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन के लिए तिब्बत और नेपाल गये थे। नेपाल की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है—"नेपाल देखकर हम मुग्ध हो गये। वही देश इस समय भारत में ऐसा है, जिसे देखकर हजारों वर्ष पहले की हिन्दू-सभ्यता का अनुमान किया जा सकता है। हजारों वर्ष पहले का हिन्दू-समाज जैसा मनोहर था, नेपाल में आज भी वैसा ही है। इसका कारण यह है कि यह विदेशी प्रभाव से मुक्त है। नेपाल की सभ्यता और संस्कृति, वहाँ के लोगों की पवित्रता और रहन-सहन तथा कला-कौशल देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। आत्मा में हिन्दू-संस्कृति की छाप दृढ़ रूप से पड़ती है।" नेपाल में उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया, और उनके कितने ही स्थलों के फोटोग्राफ लिये। हिन्दू-सभ्यता और संस्कृत-साहित्य में दर्शन-शास्त्र की जो अपार महत्ता है, उसका बड़ी मननशीलता से उन लोगों ने अध्ययन और अनुसन्धान किया। उनका कहना है, इस भावना की बुनियाद पर पश्चिम और पूर्व में बड़ी घनिष्ठता होगी, जो प्रेम इस तरह बढ़ेगा, वह दूसरी तरह नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा है कि पश्चिम देशवालों के लिए दुःख है कि वे पूर्व के विचारों को समझने की कोशिश नहीं करते। पश्चिम के लोग इन देशों के अनेकानेक देवी-देवताओं को देखकर भड़क जाते हैं, इनका अन्तर्निहित भाव नहीं समझते। पूर्व के ये अगणित देवता मनुष्यों के प्रतिनिधि के तौर पर हैं। इनके द्वारा पहले मनुष्यों के मानसिक विकास का पता चलता है। इनके द्वारा तरक्की करता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण विश्व का बोध कर सकता है। जिस तरह इटली पश्चिम का गुरु है, उसी तरह भारत पूर्व का। पश्चिम के लोग ईश की प्रार्थना पढ़ लेने को धर्म समझते हैं, पर पूर्व में इसका सम्बन्ध ध्यान द्वारा आत्मा से रहता है। वे लोग इटली में निश्चिन्त होकर गवेषणा करेंगे।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जनवरी, 1934 (सम्पादकीय। असंकलित]

## हमारे प्रोपागैण्डिस्ट

इन दिनों हिन्दी में प्रोपागैण्डा फिर जोर पकड़ रहा है। प्रयाग और कलकत्ता इसके केन्द्र हो रहे हैं। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्र और पत्रिकाएँ इसे आश्रय दे रही हैं। पहले हम लिख चुके हैं, यों भी यह बहुत मशहूर बात है, जिसे लिखना नहीं आता, वही बेसिर-पैर की हाँककर हल्ला मचाता है। इस तरह लोगों को आकर्षित कर पत्र तथा व्यक्ति का प्रचार किया जाता है, किसी के विरुद्ध, किसी के अनुकूल। हिन्दी के लिए इससे शोचनीय तथा हास्यास्पद दूसरी बात हो नहीं सकती कि प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक कहलानेवाले अपने पत्र में छपे प्रोपागैण्डा से भरे लेख की ऊपर से दो-चार सौ प्रतियाँ छपाकर हिन्दी के लेखकों, हितैषियों तथा सम्पादकों के पास भेजें, और वैसे तीन-तीन कौड़ीवाले लेख दूसरे पत्रों में भी, सम्पादकीय प्रशंसा के साथ, उद्धृत हों, इसलिए कि भेजनेवाले सम्पादकमहोदय ने छापनेवाले, उद्धृत करनेवाले, तारीफों के पुल बाँधनेवाले सम्पादक महोदय की वैसी ही बेसिर-पैर की तारीफ कर दी है, उन्हें विषय-विशेष का आचार्य कह दिया है, यद्यपि उस विषय के विशेषज्ञ और मर्मज्ञ दोनों कोरे हैं। पुनः किसी पत्र में आलोचना निकली, व्रजभाषा में केवल कच-कुच-कटाक्ष है। पर लेखक को व्रजभाषा के नाम के सिवा साहित्य का दमड़ी-भर भी ज्ञान है, कहीं पता नहीं। हम यह किसी द्वेष-भावना के वश होकर नहीं लिख रहे। हमारा उद्देश केवल ऐसे लेखकों के साहित्य से—मनोवृत्ति से है, लेखकों से नहीं। उनके व्यक्तित्व का हम वैसा ही अदब करते हैं, जैसा किसी भी ऊँचे व्यक्तित्ववाले का करते हैं। हमारा केवल यह विरोध है कि इस प्रकार विष उगलकर, अपने सभी श्रेष्ठ लेखकों को बुरा-भला कहकर वे साहित्य को तरक्की नहीं दे सकते। यदि हमें इतना भी मालूम होता कि ये लेखक अपने विषय पर अधिकारपूर्वक लिख रहे हैं, तो भी हम कुछ न कहते। कारण, सूक्ष्म दोष-दर्शन में भी ऊँची साहित्यिकता है, पर जब हमें यह ज्ञात होता है कि केवल प्रचार के लिए, नाम के लिए या किसी का बदनाम करने के लिए ऐसा किया जा रहा है, तब बड़ा दुःख होता है। यदि ये समझदार थोड़ी भी समझ से काम लें, तो साहित्य का बड़ा उपकार हो। हिन्दी-संसार को स्वयं कोई श्रेष्ठ वस्तु प्रदान न कर सकते हों, तो औरों को निरुत्साहित करने का कष्ट तो न उठाएँ।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 जून, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## 'कस्मै देवाय' और हिन्दी का नवयुग

'विशाल भारत' के सुयोग्य सम्पादक पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने 'कस्मै देवाय' एक लेख गत एप्रिल के 'विशाल भारत' में लिखकर प्रकाशित किया था। और, जैसा हालवाले, जून के 'विशाल भारत' में श्रीचन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार ने लिखा है, उससे मालूम होता है, चतुर्वेदीजी ने उसी लेख की एक हजार प्रतियाँ भी छापकर बँटवाई थीं। हमारे पास भी एक प्रति भेजने की कृपा की थी। श्री चन्द्रगुप्तजी के 'कस्मै देवाय पर एक दृष्टि' लेख में एक सच्चे कला-मर्मज्ञ की आवाज है। ऐसा ही उत्तर आधुनिक हिन्दी का उत्तम कलाकार देता। चन्द्रगुप्तजी के विवेचन में

वह सत्य है, जो पाठकों के मर्म को स्पर्श करता है। कलाकार की कला देखी जाती है। चतुर्वेदीजी ने चन्द्रगुप्तजी के उत्तर में जो कुछ लिखा है, उसका अधिकांश चक्रव्यूह के मार्ग से निकलने का रास्ता न जाननेवाले का इधर-उधर भटकना है। मजदूर और साधारण लोगों का पक्ष क्यों लिया जाय, जब हम यह विचार करेंगे, तब इसी से उच्चता साबित हो जायगी। मजदूरों का पक्ष इसीलिए तो लिया जायगा कि मजदूरों के साथ न्याय हो, उन्हें पेट-भर खाने को मिले, कष्ट के दिनों के लिए कुछ रखने को भी बच जाय, वे शिक्षित हों, समाज, देश, जाति तथा संसार के साथ मिलें, उससे सौहार्द करें। यहाँ इतने ही से देखिए, कला चढ़ती जा रही है—विकसित होती जा रही है, और बड़ी-से-बड़ी विशालता में परिणत। फिर यदि आज का कोई कवि या साहित्यिक प्रकृति की किसी साधारण वस्तु या विषय को इसी प्रकार परिपुष्ट करता हुआ कला का विकास दिखलाये, तो क्या आप ऐसा कह सकते हैं कि इस कार्य से आपके उस कार्य का साम्य न हुआ ?—गाने, नाचने, हारमोनियम बजाने, कविता, उपन्यास या प्रबन्ध लिखने में भी यही उत्कर्ष कला की व्याख्या प्राप्त करता है। अधूरा नाच स्वयं मजदूर है, उसकी पूर्णता हासिल करना मजदूर का सभ्य होना हुआ। फिर अगर आप विशेष जोर मजदूर-पक्ष के ही विषय पर देते हों, तो क्या आप कह सकते हैं कि हिन्दी के आधुनिक कलाकारों का उधर ध्यान नहीं गया ? आप जो इस भाव की धारा को हिन्दी में बहाना चाहते हैं, क्या आपको हिन्दी का आधुनिक साहित्य देखकर यह समझने का समय नहीं मिला कि यह धारा हिन्दी में नये युग के प्रारम्भ से बह रही है ?

'विशाल भारत' के इसी जूनवाले अंक में शास्त्राचार्य श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने कवीन्द्र रवीन्द्र की, गरीबों के प्रति सहानुभूति से ओत-प्रोत, विविध भावनाओं से भरी, एक उत्तम कविता का उद्धरण देकर 'कस्मै देवाय' का उत्तर-सा देते हुए बतलाया है कि कवि इस देव या इन देवों के लिए कहता है। द्विवेदीजी लिखते हैं—"कवि की ओजस्विनी वाणी ने जिस विराट गान की ओर इशारा किया था, वह सम्पादकजी के प्रश्न के लिए आज भी ज्वलन्त उत्तर है। भाग्यशाली है वह व्यक्ति, जिसने उस घोषणा के प्रायः आधी शताब्दी बाद भी कविवर की गम्भीर भाषा में उस गान को सुना है।···सचमुच वह व्यक्ति धन्य है, जिसने 'कस्मै देवाय ?' का उत्तर कविवर रवीन्द्रनाथ के मुख से सुना है।"

शास्त्राचार्य द्विवेदीजी को मालूम हो कि उन्हें एक उत्तर हिन्दी से भी खोजकर देना चाहिए था, क्योंकि कवीन्द्र का 'कस्मै देवाय ?' सम्पादकजी न समझकर भी खूब समझते हैं। द्विवेदीजी ने जो कविवर को समझकर भारत के किसी दूसरे को नहीं समझा, हम समझना चाहते हैं, यह क्या है— पुण्य या पाप ? पहले तो कह देना चाहिए कि कवीन्द्र की यही कविता, जिसका उद्धरण शास्त्राचार्य द्विवेदीजी ने दिया है, श्री निराला की लिखी 'रवीन्द्र-कविता-कानन' नाम की आलोचनात्मक पुस्तक में कई साल पहले आ चुकी है, और थोड़े-बहुत साहित्यिक देख भी चुके होंगे। पुनः पुराणों के एक-एक रूपक में कितनी विशाल भाव-राशि और महान दृश्य खुले हुए हैं, और उनका सत्य तथा वैसी ही मौलिक कल्पनाएँ आज की हिन्दी में कैसी चल रही हैं, कम-से-कम धन्य न होकर, ऐसे दो-एक उल्लेख समझाकर शास्त्राचार्यजी दूसरों को तो धन्य करते। आधुनिक साहित्य के अच्छे कवियों तथा लेखकों से अनेक उद्धरण मिलेंगे।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जून, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

# शिक्षादर्श पर रवीन्द्रनाथ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'भारतीय विश्वविद्यालय का शिक्षादर्श'— शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण भाषण कोलम्बो के रोटरीक्लब में, गत 17 मई को, हुआ। कवि ने शिक्षा के मूल-रहस्य को समझाते हुए कहा कि विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें उसका असली तत्त्व भुला दिया गया है। शिक्षा के मधुर तत्त्व की जगह भड़कीले भवन और पुस्तकें आदि बाहरी सामान मस्तिष्क में आ जाते हैं, जैसे संगीत को छोड़कर कोई बाजे खरीदे, और निगाह को खोकर चश्मे। विद्यार्थियों को मस्तिष्क की स्वतन्त्रता का उपादेय सारप्रद भोजन नहीं मिलता, केवल परीक्षा में पास होने के विचार चक्कर काटते रहते हैं। इसका फल यह होता है कि वासनाजन्य बुरे भाव मस्तिष्क में भर जाते हैं। शिक्षा का स्वाभाविक रंग उतर जाता है। संसार के संचालन के बुरे तर्क—बेईमानी, धूर्तता आदि स्थायी निवास कर लेते हैं।

आज जो विश्वविद्यालय केवल जीविकोपार्जन का ज्ञान दे रहे हैं, उनका इतना ही कार्य नहीं, उन्हें इस ज्ञान के देनेवाले कारखाने बनकर न रह जाना चाहिए। इससे भी बड़ा उनका उत्तरदायित्व है। उन्हें चाहिए कि सारे संसार में संस्कृति के शुद्ध बीज फैला दें। इस समय एक भी विश्वविद्यालय भारतवर्ष में ऐसा नहीं, जहाँ देश या विदेश के विद्यार्थी उत्कृष्ट भारतीय संस्कृति का प्रमाण बन सकता है। शिक्षा के लिए इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों को जानेवाले विद्यार्थियों ने वास्तव में अपना आत्म-सम्मान खो दिया है। दूसरे देशों की नकल करते हुए भारत के विश्वविद्यालय बड़ी-बड़ी उपाधियाँ दे डालते हैं। मस्तिष्क का इस प्रकार विकास होना चाहिए, जिससे संस्कृति का गर्व हो। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति का जो लोभ मस्तिष्क में पैदा होता है, वह अपमान का कारण बनता है। आजकल हमारे देश की शिक्षा उद्देश में जो असफल हो रही है, इसका यही कारण है। इसी तरह यदि शिक्षा चली, तो केवल किताबी ज्ञान की वृद्धि होगी।

स्कूली शिक्षा से ही अनुकरण का सूत्रपात होता है। अनुकरण का स्वाभाविक नियम है कि उससे बाहरी वस्तुएँ ता हाथ आती हैं, पर भीतर तक निगाह नहीं पहुँचती। हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि जो स्वयं अच्छी तरह शिक्षित नहीं है, वह कभी अच्छी शिक्षा नहीं दे सकता। जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपों को जला सकता है, वह दीपक नहीं, जो स्वयं गुल हो चुका है। ज्यों-का-त्यों केवल पाठ पढ़ाकर और उसका मतलब साधारण रीति से समझाकर शिक्षक विद्यार्थियों से विदा हो जाते हैं, यह सच्ची शिक्षा न हुई। इस तरह न तो विद्यार्थियों को उत्साह मिलता है, न प्रेरणा। इसीलिए उनकी मौलिकता दबती जाती है। ऐसी निस्सार शिक्षा के पीछे विद्यार्थियों का ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बर्बाद होता है। शिक्षक और शिष्य को एक ही जगह रहकर एक प्रकार का जीवन बिताना चाहिए। इस तरह शिष्य के मस्तिष्क में संस्कृति का विकास होगा। विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे एक-एक सप्रण संस्था बन जाएँ, और सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की बौद्धिक एकता को व्यक्त करें। कहते हैं, भारत में अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं, इसलिए बौद्धिक एकता नहीं हो सकती, यह गलत है। भाषाओं की भिन्नता योरप में भी है, पर वहाँ शिक्षा की एकता है।

पश्चिमी शिक्षा से हमें रोटियाँ भले ही मिल जायँ, पर उनसे दूर के प्रकाश

की तरह संस्कृति के भीतर से जीवन को संयमित करने के लिए हमें सत्य का दृश्य देखने को नहीं मिल सकता। पश्चिमी शिक्षा से हमें केवल किताबी ज्ञान हासिल हुआ है, जीवन के सूक्ष्म रहस्यों और उनके सौन्दर्य का ज्ञान हमें उससे नहीं हुआ। इसलिए हमें भारतीय संस्कृति का विकास करना चाहिए। यह पश्चिमी संस्कृति को रोकने के लिए नहीं, उसे मैत्री द्वारा सहायता पहुँचाने के लिए।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जून, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## किसान और उनका साहित्य

समय धीरे-धीरे बदल जाता है। पहले जिस भाव तथा कार्यों से देश और जाति की उन्नति होती है, बाद को उन्हीं में दोष आ जाते हैं। तब उन कार्यों को युग के अनुकूल बनना पड़ता है। ऋषियों का युद्ध बौद्ध-काल में न था। उसमें दोष आ गये थे, यहाँ तक कि भाषा भी बदल गयी थी। पर पुरानी लकीर के फकीरों ने उसे नहीं अपनाया, न युग के अनुसार भावों को ग्रहण कर अपना सुधार किया। इसलिए बुद्ध पैदा हुए। उन्होंने देश के साधारण लोगों के अनुकूल रास्ता निकाला। भाषा वही रक्खी, जो लोगों में प्रचलित थी। इसी प्रकार ब्राह्मण-धर्म के बाद भारत में क्षत्रिय-धर्म प्रबल हुआ। वैश्य-धर्म विदेश से आया, और आज ब्रिटेन की महिमा के रूप से संसार-भर में फैला हुआ है। ब्राह्मण-धर्म की दुर्बलता के कारण क्षात्र-धर्म का जोर बढ़ा, और अन्तिम महावीर नेपोलियन के पतन के बाद वैश्य-धर्म की विजय हुई। विज्ञान ने वैश्य-धर्म की ही वृद्धि की, जिसका आज तक संसार पर आधिपत्य है, और जो संसारव्यापी दरिद्रता का एकमात्र कारण है। इस प्रकार अब यह वैश्य-धर्म अपने तमाम विज्ञान के साथ होकर भी संसार की शान्ति को सहारा नहीं दे रहा—इसके भी दिन पूरे हो गये। नया उदाहरण रूस है, जिसने किसानों का राज्य स्थापित किया। आज संसार के बड़े-बड़े प्रायः सभी मनुष्य किसानों के युग का स्वागत कर रहे हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं, अब वैश्य-युग भी मनुष्यों के मन से दूर हो गया है—अब किसान या मजदूरों का युग है।

जब पहलेपहल मजदूरों की हड़तालें शुरू हुईं, विज्ञान की प्रखर उन्नति—बड़ी-बड़ी मिलों—के साथ-साथ साधारण लोगों की दरिद्रता भी द्रुतगति से बढ़ती गयी, तभी दूरदर्शी पण्डितों ने आगे चलकर होनेवाले मजदूर तथा किसानों के युग का अनुमान कर लिया था। भारत में महात्मा गाँधी की साधना इसी वैश्य-शक्ति के खिलाफ, पीड़ित, शूद्र, अछूत, मजदूर और किसान-शक्ति को उठाने के लिए हुई। देश के पेड़ को हरा-भरा करने के लिए उसकी जड़— किसानों—में जीवन डालना चाहिए, यह महात्माजी का मूल-मन्त्र है। इस विचार की पुष्टि भारत के राष्ट्रकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत पहले से करते आ रहे हैं। उनके काव्य में तो इसके प्रमाण हैं ही, 'श्रीनिकेतन' नाम की एक शाखा भी उनके 'शान्ति-निकेतन' के शिक्षा-क्रम से [में] सम्मिलित है। श्रीरामकृष्ण-मिशन ने भी किसानों की शिक्षा आदि का संगठन बंगाल में कर रक्खा है, और यह सर्वोत्तम है। दरिद्र-नारायणों की सेवा का कार्य देश में सबसे पहले स्वामी विवेकानन्दजी ने चलाया।

जब कहीं भी सेवा का भाव न था, उस समय बाढ़-पीड़ितों की सेवा के लिए रामकृष्ण-मिशन के संन्यासी और ब्रह्मचारी जाया करते थे। गाँव-गाँव किसानों को शिक्षा देते फिरने के लिए स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने गुरुभाइयों को लिखा है। आज यह संघ भारतव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी हो रहा है। बंगाल में, किसी गाँव में रहकर, इस संघ के कोई संन्यासी महाराज—जिन्होंने शिक्षा प्राप्त कर, ब्रह्मचर्य तथा संन्यास लेकर पहले अपने को शिक्षित कर लिया है—गाँव तथा पड़ोस के बालकों को प्राप्त धन के अनुसार बाकायदा छोटा या बड़ा भवन-निर्माण करके, उसमें या किराये के या कुछ दिनों के लिए मिले हुए मकान में शिक्षा दे रहे हैं; कहीं-कहीं बालिकाओं के लिए भी प्रबन्ध है, मदरसे की शिक्षा के साथ, कला-कौशल, दस्तकारी, सीना-पिरोना, कातना और कपड़ा बुनना भी सिखाया जाता है। इनके ठोस कामों की शायद ही कभी संवादपत्रों में आलोचना छपती है। अवश्य इनके अपने पत्रों में हाल छपता है। पर प्रचार द्वारा बड़े होकर लोगों के सामने आनेवाले नेताओं की तरह यहाँ के कार्यकर्ता संन्यासी और ब्रह्मचारी प्रसिद्ध नहीं हो सके। भिक्षा के पैसे से दवाएँ देकर दीन-दुखियों को रोगमुक्त करने का कार्य प्रायः प्रत्येक शाखा में प्रचलित है। लखनऊवाली शाखा में भी रामकृष्ण-मिशन गरीब बालकों के लिए नैश पाठशाला, सर्वसाधारण के वाचनालय और दीन-दुःखियों के लिए दवाखाना और चिकित्सालय चला रहा है। वर्तमान आन्दोलन के बाद से यह बात अच्छी तरह लोगों की समझ में आ गयी कि गरीब किसानों और मजदूरों का संगठन, सुधार किये बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता। महात्माजी का दौरा इसी उद्देश की पुष्टि के लिए हो रहा है। वह जहाँ-जहाँ जाते हैं, उनका कार्यक्रम किसानों को आदर्श की शिक्षा देता है। किस तरह रहना चाहिए, साधारण हालत में भी सफाई कहाँ तक चल सकती है, महात्माजी बिना प्रचार के इसका सुन्दर पाठ पढ़ा रहे हैं।

देश की सच्ची शक्ति इसी जगह है। जब तक किसानों और मजदूरों का उत्थान न होगा, तब तक सुख और शान्ति का केवल स्वप्न देखना है। परन्तु यह कार्य जितना सीधा दिखाई देता है, इसका करना उतना ही कठिन है। यहाँ उन कार्यकर्ताओं का त्याग है, जो अखबारों में नाम छपवाने के भूखे नहीं; उन पक्के सिद्धान्तवालों का काम है, जो सत्य ही अपने गरीब भाइयों को प्यार करते हैं; उन समझदारों की आवश्यकता है, जो जाति, वर्ण के अज्ञान को शिक्षा की अग्नि से जलाकर शुद्ध तथा समदर्शी हो गये हैं; उन सच्चरित्रों की जरूरत है, जिनकी महत्ता की छाप शिक्षा लेनेवालों पर पड़े।

कहीं-कहीं यह ग्राम-संगठन तथा किसानों के सुधार का काम जारी किया गया है। वहाँ रोज गाँव के रास्ते साफ किये जाते हैं। घूर बस्ती से काफी दूर डाले जाते हैं। रात्रि-पाठशालाएँ कायम की गयी हैं, और छोटे-मोटे पुस्तकालय भी खुले हैं। पर यह अवश्य है कि अभी किसान या उनके बालक ऐसे शिक्षित नहीं हो सके कि उन पुस्तकालयों की किताबें पढ़कर समझ सकें; पुनः वहाँ ऐसी किताबें भी दुर्लभ हैं, जो किसानों के फायदे की दृष्टि से लिखी गयी हों। जिस तरह गाँवों में किसानों की शिक्षा-दीक्षा जरूरी है, उसी तरह साहित्य में भी उनके योग्य साहित्य का निर्माण आवश्यक है। हमने इसका साद्यन्त विचार करके 'किसान कुसुमावली' नाम की एक पुस्तकमाला निकालने का निश्चय कर लिया है। इसमें अत्यन्त सीधी भाषा में अधिकारी विद्वानों द्वारा किसानों तथा श्रम-जीवियों के काम की किताबें लिखायी जायेंगी। उनकी कीमत भी बहुत साधारण

होगी। यह विचार रक्खा जायेगा कि सोम-चहर्रुम का विद्यार्थी उन पुस्तकों को पढ़ सके, ग्रौर उसके घरवाले वह भाषा ग्रौर भाव समझ सकें। रबी, गर्मी तथा बरसात की होनेवाली सभी फसलों का सुचारु वर्णन होगा। किस देशवाले किस प्रकार से ग्रधिक ग्रन्न उत्पन्न करते हैं, इसका सीधा, साफ सचित्र विवेचन होगा। दूसरे देशों के किसानों की दशा ग्रौर उनके सुधार का हाल इतिहास के रूप में होगा। कृषि को किस-किस तरह किन-किन कीड़ों ग्रौर किस-किस ग्रभाव से हानि होती है, इसका भी विवेचन रहेगा, बचत बतलायी जायेगी। किस खेती के लिए कौन सी खाद ग्रधिक उपयोगी होगी, देहात में प्रचलित खाद के ग्रलावा ग्रौर कौन-कौन-सी खादें बनाई जा सकती हैं, इनका भी हवाला होगा। घर-गृहस्थी के लिए सीना-पिरोना, दवा-दारू, पाक-रसायन, चारित्र्य-व्यवहार-कौशल ग्रादि-ग्रादि विषयों पर भी प्रकाश डाला जायेगा, ग्रौर यह विचार बराबर रहेगा कि हम साधारण पढ़े-लिखे किसान भाइयों के हित का साहित्य दे रहे हैं। साधारण कानून ग्रौर ग्रावश्यक राजनीति तथा साहित्य-धर्म ग्रादि पर भी सीधी भाषा में पुस्तकें लिखवायी जायेंगी। इसी प्रकार मिल के श्रमजीवियों के लिए भी, मिल, कारखाने, खरीद-फरोख्त, कर, भाव, कारण, मुनाफा ग्रादि की भिन्न-भिन्न व्यावसायिक ग्रावश्यक पुस्तकें लिखवाने का विचार है। हमें ग्राशा तथा विश्वास है, हमारे सहृदय देशवासियों की शुभकामना हमें सफल करेगी।

['सुधा', ग्रर्धमासिक, लखनऊ, 16 जुलाई, 1934 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में बंगाली मनोवृत्ति

बंगाली ग्रपनी प्रान्तीयता के लिए बदनाम हैं। परन्तु इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। वे एक प्रान्त में रहते हैं, ग्रौर उस प्रान्त का नाम है बंगाल। परन्तु हिन्दी-भाषा-भाषी तो किसी एक प्रान्त में नहीं रहते। वे तो सर्वत्र हिन्दुस्तान में रहते हैं। ग्रतएव राजनीतिक ग्रथवा साहित्यिक क्षेत्र में हिन्दुस्थानी-मनोवृत्ति यदि कोई वस्तु है, तो बंगाली मनोवृत्ति भी ग्रपना एक ग्रलग ग्रस्तित्व रखती है, ग्रौर समय-समय पर उसका परिचय भी हमें मिलता रहता है।

बंगला की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'विचित्रा' की ग्राषाढ़ की संख्या में श्री सुशीलकुमार वसु ने भारत की साधारण भाषा क्या होनी चाहिए, इस विषय पर ग्रपने विचार प्रकट किये हैं। ग्रापका कहना है कि महात्माजी तथा थोड़े-से ग्रन्य हिन्दी-भाषी नेताग्रों के प्रभाव से ही हिन्दी को यह ग्रसाधारण गौरव एवं सुयोग्य प्राप्त हुग्रा है कि वह ग्राज राष्ट्रभाषा बनने का दावा पेश कर रही है। ग्रन्यथा हिन्दी इस योग्य—राष्ट्रभाषा बनने के योग्य कदापि नहीं है। वसु महोदय कहते हैं कि हिन्दी के विषय में एक यह बात कही जाती है कि भारतवर्ष में हिन्दी बोलनेवालों ग्रौर समझनेवालों की संख्या सबसे ग्रधिक है। बंगाली नेता यदि चाहते, तो वे भी बंगला भाषा का ग्रधिकार प्रतिष्ठित करने की चेष्टा कर सकते थे। ऐसा न करके उन्होंने मातृभाषा के प्रति ग्रपने सहज कर्तव्य की

अवहेलना की है। वसु महोदय को इसकी भी शिकायत है।

हम बंगालियों की इस उदारता के लिए उन्हें बधाई देते हैं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के समक्ष उन्होंने कभी—जब से भारतवर्ष को एक राष्ट्र एवं एक भाषा में संगठित करने की भावना देश में जाग्रत हुई है, तब से लेकर आज तक—बंगला का दावा पेश नहीं किया, और न कभी इस विषय को लेकर व्यर्थ ही उछल-कूद ही मचायी है, यहाँ तक कि मातृभाषा के प्रति उनका जो सहज कर्तव्य था, उसकी भी उन्होंने कुछ परवा नहीं की। इसके लिए उन्हें कोटिशः धन्यवाद! हिन्दी की ओर से नहीं, हिन्दुस्थानी-मात्र की ओर से!

वसु महोदय की राय में बंगाली यदि चाहते, तो यह सहज में ही प्रमाणित कर सकते थे कि हिन्दी-भाषा-भाषियों की संख्या जितनी बतायी जाती है, वास्तव में उतनी नहीं, उससे बहुत कम है, यहाँ तक कि बंगला-भाषियों की अपेक्षा भी कम है। खूब! यह बिलकुल ही नया आविष्कार है, और वसु महोदय को वस्तु-स्थिति का सच्चा ज्ञान है, इसका परिचायक भी है। अभी हाल की सरकारी गणना के अनुसार हिन्दी बोलनेवालों की संख्या (12,12,54,898) एवं बंगला-भाषियों की संख्या (5,34,68,469) बतायी गयी है। सरकारी रिपोर्ट ज्यादा सच होनी चाहिए। हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या देश में सबसे अधिक है। यह बिलकुल ठीक भी है। इस विषय में आज तक किसी को सन्देह नहीं हुआ। अनुभव से भी बराबर यही पता चला है। रही सरकारी रिपोर्ट की बात, तो क्या हम इसे भी बंगालियों की उदारता समझें कि उनमें से अधिकांश ने गणना के समय अपनी मातृभाषा हिन्दी ही बतायी!

मातृभाषा का प्रेम तो बहुत स्वाभाविक चीज है। परन्तु किसी दूसरी भाषा के सम्बन्ध में गलत धारणा बनाना और उसका प्रचार भी करना मन की अस्वाभाविकता का परिचायक है। वसु महोदय ने हिन्दी के टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं। और उनका कथन है कि वे सब अंग एक-दूसरे से भिन्न हैं, जबकि वास्तव में वे परस्पर घुले-मिले हुए हैं। उनकी राय में पूर्वी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी से भिन्न है। बिहारी हिन्दी के अन्तर्गत नहीं है, वरन् सम्पूर्ण स्वतन्त्र भाषा है, एवं हिन्दी की अपेक्षा बंगला के साथ ही उसका सम्पर्क अधिकार है। और, हिन्दी के साथ उर्दू का पार्थक्य इतना अधिक है कि हिन्दी सीखकर कोई सहसा उर्दू समझने में समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार यह हिन्दी की दीनता सिद्ध करना चाहते हैं।

हमें ऐसा मालूम होता है कि लेखक को प्रान्तीय भाषाओं का जरा भी ज्ञान नहीं है, अथवा यदि है, तो उसे वह जान-बूझकर छिपा रहे हैं। भाषाशास्त्र के नियमों से भी वह अनभिज्ञ मालूम होते हैं। किसी भी प्रान्त में आप जाइए, प्रत्येक 100 मील के पश्चात भाषाभेद आपको स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेगा। संयुक्त-प्रान्त में कई बोलियाँ बोली जाती हैं। वसु महोदय को उन भाषाओं का ज्ञान होता, तो उन सबको वह निस्सन्देह हिन्दी से अलग करके यह बता देते कि हिन्दी बोलनेवाले वास्तव में बहुत ही थोड़े हैं। परन्तु हम उनसे पूछते हैं कि स्वयं बंगाल में क्या इस प्रकार का भाषा-भेद दृष्टिगोचर नहीं होता? क्या पूर्वी बंगला पश्चिमी बंगला से भिन्न नहीं है? और क्या अदालती एवं मुसलमानी बंगला और बंगाली बंगला में काफी प्रभेद नहीं है? और जरा वसु महोदय का बंगला-प्रेम तो देखिए कि जिस तर्क को लेकर वह हिन्दी की जड़ को काटना चाहते हैं, उसी के सहारे अपनी भाषा का पक्ष समर्थन कर रहे हैं। पूर्वी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी और उर्दू तो उनकी दृष्टि में

बिल्कुल ही पृथक् भाषाएँ हैं, परन्तु आसामी, उड़िया और बिहारी बंगला की बिलकुल सगी बहनें हैं। इस हिसाब से बंगला का पक्ष और भी प्रबल हो जाता है! बंगला-भाषा समझनेवालों की संख्या इस तरह बढ़ जाती है। परन्तु हिन्दी तो न उत्तर के लोग समझते हैं, न पश्चिम के, न बुन्देलखण्डी उसे समझ पाते हैं, न मुसलमान, न अवधी, न बिहारी और बंगालियों के लिए तो वह बिलकुल ही ग्रीक है। इस तरह की यह हिन्दी है क्या चीज इसे बंगाली ही समझ सकते हैं।

भारतवर्ष के लिए एक साधारण और चलित भाषा का निर्वाचन करते समय यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि भारत की प्रधान-भाषाओं में साहित्यिक उत्कर्ष किसका बड़ा है। इस विषय में हिन्दी किसी प्रान्तीय भाषा से पीछे नहीं है। यद्यपि हम मानते हैं कि बंगला-साहित्य कई दृष्टियों से औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, परन्तु प्राचीन हिन्दी-साहित्य का मुकाबला बंगला नहीं कर सकती। ब्रजभाषा का प्रभाव वैष्णव कवियों पर काफी पड़ा है। बंगला में एक रवीन्द्रनाथ हैं, हिन्दी में तुलसी, सूर, कबीर तीन हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी के प्रभाव से बगला ने तरक्की की, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि साहित्यिक उत्कर्ष के बल पर बंगला सारे देश की भाषा हो सकती है। द' अननजिओ पढ़ने के लिए हमें इटैलियन भाषा पढ़नी पड़े, तो इसका क्या यह आशय है कि इटैलियन भाषा को तुरन्त ही सारे योरप की Lingua Franca बना दिया जाना चाहिए।

देश की साधारण भाषा का सबसे पहला गुण तो यह होना चाहिए कि वह सरल हो, सुबोध हो, और सबसे अधिक बोली और समझी जा सकती हो। हिन्दी में यह गुण मौजूद है। वह कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक, थोड़े या बहुत रूप में, बोली और समझी जाती है। बंगला को यह सुविधा प्राप्त नहीं, अथवा कारणवश उसे यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी। इस स्थिति के लिए बंगाली खेद जरूर प्रकट कर सकते हैं। परन्तु और कोई उपाय न देखकर यदि वे यह कहें, जैसा कि वसु महोदय कहते हैं कि हिन्दी के स्थान पर सारे देश में अँगरेजी का व्यवहार होने से ज्यादा सुविधा होगी, तो हम कहेंगे कि ऐसा प्रस्ताव उपस्थित करके वह अपनी जबरदस्त मानसिक संकीर्णता का परिचय दे रहे हैं। हिन्दी यदि राष्ट्र-भाषा हो जायेगी, तो बंगालियों को इस बात का डर है कि बंगला-भाषा का महत्त्व उससे कम हो जायगा। परन्तु यह उनकी भूल है। हिन्दी के रहते हुए भी वे अपनी भाषा का महत्तम विकास कर सकते हैं। सभी प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के कार्य-संचालन के लिए देश को यदि एक भाषा के सूत्र में ग्रथित कर दिया जाय, और वह एक भाषा हिन्दी हो, तो इसमें उनका हर्ज क्या है ? परन्तु हिन्दी के स्थान पर इन बंगालियों को जब हम अँगरेजी का नाम लेते हुए सुनते हैं, तब हमें मजबूर होकर यही कहना पड़ता है कि ये लोग हर्बर्ट स्पेन्सर ने जिसे Bias of patriotism कहा है, उससे बुरी तरह ग्रस्त हो रहे हैं। समय आ गया है कि अपनी इस प्रवृत्ति को बंगाली अब त्याग दें।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 जुलाई, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

केवल गम्भीर विषयों की आलोचना जीवन के लिए जरूरी नहीं। मन को प्रफुल्ल करने के लिए खेल-कूद भी वैसा ही आवश्यक है। आज हम हिन्दोस्तानियों ने जीवन की सब तरफवाली बातों का ध्यान भुला दिया है। चिरकाल से चलते हुए अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया हममें ऐसी हुई कि आज हमने जीवन के मूल सूत्र को ही खो दिया है। हम ऐसा विचार नहीं कर सकते कि हमारी व्यक्तिगत या समष्टि-गत चारपाई का एक भी पाया टूट गया, तो बैठने और लेटने का काम नहीं चल सकता। जहाँ 'योगः कर्मसु कौशलम्' सिद्धान्त था, वहाँ केवल हाहाकार रह गया है, या दरिद्र समुदाय एकटक धन की ओर देख रहा है। सब जगह सुनने में एक ही बात आती है—बिना धन के कुछ नहीं होने का। पर थोड़े से सन्तुष्ट रहकर अधिक के लिए प्रयत्न करना, स्वास्थ्य को जीवन-संग्राम के योग्य बनाना, संसार में जो बचने की लड़ाई हो रही है, उसके लिए अपने को योग्यतम सिद्ध करना, हम लोगों में बहुत कम देख पड़ता है, विशेषतः हम हिन्दी-भाषियों में। अभी तक हममें जीवन की क्रियाशीलता नहीं पैदा हुई। जो कुछ स्कूल कॉलेजों में है, वह स्कूल-कॉलेजों के लिए है, उससे संसारी मनुष्य का जीवन नहीं सिद्ध होता।

दूसरे देशों की बात जाने दीजिए, जहाँ क्लबों का आज इतना महत्त्व हो गया है कि लोगों को गृहधर्म की महत्ता समझाकर जीवन बदलने का उपक्रम किया जा रहा है। यह भी समझ लेना चाहिए कि उन गृह छोड़नेवाले विदेशियों के लिए कोई नया देश जीतने को, प्रभावित करने को या अपने मुक्त जीवन की ओर खींचने को नहीं रह गया। इसीलिए वहाँ छोटे गृहधर्म की महत्ता प्रचलित हो रही है। हमारे देश के बढ़े हुए प्रान्तों में क्लब और खेल-कूद का उत्तरोत्तर महत्त्व बढ़ रहा है। लोगों की पारस्परिक प्रीति तो इस प्रकार बढ़ती ही है, बाहरी संसार के प्रति एक खिंचाव भी इससे पैदा होता है। एक प्रकार की शक्ति आती है। पुनः निर्दोष होकर एक साथ खेलने-कूदने, गाने-बजाने, साहित्यचर्चा करने और नाटक खेलने से खुले जीवन के आनन्द के साथ सुखद स्वास्थ्य की भी प्राप्ति होती है। इस तरह के क्लबों में अन्य प्रकार के व्यायाम और पुस्तकालय भी सम्मिलित होते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों तथा समुद्र के किनारे के कस्बों और शहरों में किश्ती आदि का भी प्रबन्ध रहता है। टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल आदि खेल तो होते ही हैं।

हमारे यहाँ आज क्रीड़ाप्रियता तीतर, बटेर, बुलबुल, मेढ़े और मुर्गों की लड़ाई में रह गयी है। सिर्फ अखाड़े का शौक प्रशंसनीय है। पर वह मूर्ख देहातियों के ही अधिकार में रह गया है, जिनके लिए तन्दुरुस्त होना पुलिस की टेढ़ी निगाह में पड़ना हो रहा है, और बल प्राप्त कर बुरी संगति में पड़कर वे अधिकांश में बिगड़ भी जाते हैं। शिक्षा के अभाव से, बल प्राप्त कर, दूसरों को देखकर सीना तानकर चलने लगते हैं। रामायणी समाज है, पर यहाँ रामायण का असली तथ्य तो कुछ हासिल नहीं होता, उल्टे सोलहवीं सदी के प्राचीन संस्कार प्रबल रूप धारण करते हैं। श्रोतागणों में जिसे देखिए, वही शरासन तानकर म्लेच्छों के संहार के लिए उद्यत रहता है। हमारे यहाँ एक खेल और है, जो बहुत प्रसिद्ध है। वह है पतंग उड़ाना।

आजकल योरप में दो महादेशों की स्पर्द्धा इसी खेल में चल रही है। यह स्पर्द्धा योरप और आस्ट्रेलिया में है—विशेषतः इंगलैण्ड और आस्ट्रेलिया में। योरप में

इंगलैण्ड ही क्रिकेट के लिए अधिक प्रसिद्ध है। कुछ वर्ष पहले आस्ट्रेलिया के ब्रैडमैन ने अपनी अद्भुत बैटिंग से संसार को मुग्ध कर दिया था, और इंगलैण्ड को परास्त। इन आस्ट्रेलियन वीरों ने, क्रिकेट में, संसार में आज तक रहे रेकार्ड में परिवर्तन किया था—अपना सर्वश्रेष्ठ रेकार्ड रक्खा था। इस समय वही टीम इंगलैण्ड में खेल रही है। अब तक तीन टैस्ट हो चुके हैं। पहले में आस्ट्रेलिया जीता, दूसरे में इंगलैण्ड, तीसरे में बराबरी रही। पहले टेस्ट की बात है, आस्ट्रेलियन टीम फाटक से घुस रही थी कि ब्रैडमैन की निगाह एक मजदूर पर पड़ी। उसके पास टिकट खरीदने के पैसे न थे, पर वह बार-बार फाटक से घुसने का प्रयत्न कर रहा था। ब्रैडमैन ने उसका हाथ पकड़ लिया, और बड़े स्नेह से उसे टिकटघर की तरफ ले जाकर अपने पैसे से टिकट खरीद दिया। मजदूर बड़ा खुश हुआ। ब्रैडमैन ने अब मजदूरों के खेल देखने के सुबीते के विचार से एक सार्वजनिक कोष खोल दिया है।

कुछ ही दिनों की बात है, जापान के चुने हुए खिलाड़ी इंगलैण्ड से क्रिकेट खेलने के लिए रवाना हुए थे। जहाज पर जापानी टीम के कैप्टेन को मालूम हुआ, जापानी टीम अभी इस योग्य नहीं हुई कि इंगलैण्ड की जोरदार टीम का मुकाबला कर सके। इससे कैप्टेन की मानसिक स्थिति बहुत खराब हो गयी, जापान इंगलैण्ड के मुकाबले हार जायगा, यह कल्पना उसे असह्य हो गयी। अन्त में एक चिट्ठी इसी आशय की लिखकर, जहाज से कूदकर, समुद्र में कूदकर उसने जान दे दी। क्रीड़ा के भीतर से देश के प्रति कितना बड़ा सम्मान पैदा होता है।

आस्ट्रेलियन टीम की बात है, इसी बार तीसरे मैच के समय आस्ट्रेलियन टीम के कुछ मुख्य खिलाड़ी बीमार थे, जिनमें ब्रैडमैन और चिपरफील्ड भी थे। यह एक साधारण बीमारी इंगलैण्ड में फैली हुई थी। इससे गले में दर्द होता है। पहले आस्ट्रेलियन टीम को फील्डिग करनी पड़ी। इंगलैण्ड के 627 रन हुए। चूँकि आस्ट्रेलियन टीम के अच्छे खिलाड़ी न थे, इसलिए टीम किसी तरह बराबरी की कोशिश कर रही थी। पर वह आशा न रही। खबर ब्रैडमैन के पास पहुँची, तो आस्ट्रेलिया की हार होगी, यह उससे सहा न गया। वह बिस्तर से उठकर मैदान में आया। उधर चिपरफील्ड बिस्तर पर पड़ा टेलीफोन हाथ में लिये खबर ले रहा था। ब्रैडमैन, जिसने कभी 200 रन किये थे, केवल 30 रन करके आउट हो गया। बराबरी की फिर उम्मीद न रही। यह देखकर चिपरफील्ड भी उठा, और ग्राउण्ड में आकर दाखिल हुआ। उसे देखकर दर्शकों के हर्ष का सागर उमड़ पड़ा। बीमार चिपरफील्ड बैट लेकर, जान की बाजी लगाकर खेलने लगा। उसका खेल देखकर लोगों में आतंक छा गया। उस होती हुई हार को चिपरफील्ड ने बराबर कर दिया। खेल खतम होने पर वह वीर वहाँ से फिर अस्पताल में दाखिल किया गया।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, 1 अगस्त, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हमारे साहित्य की रूपरेखा

हिन्दी-भाषियों को मालूम है, कुछ महीने हुए, मद्रास के हिन्दी-शिक्षित युवक और महिलाओं के एक दल ने हिन्दी-भाषी प्रान्तों का भ्रमण किया था। इस दल ने

प्रायः सारे हिन्दोस्तान का भ्रमण किया है। अब उस दल के सज्जन व्यक्तिगत-रूप से अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। इन्हीं विचारों में एक यह भी है कि हिन्दी (खड़ी बोली) में ऊँचे साहित्य का अभाव है। बंगाली भाइयों को हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि हिन्दी में ऊँचा साहित्य नहीं, यद्यपि बंगालियों में सर्वश्रेष्ठ भाषातत्त्ववेत्ता डा. सुनीतिकुमार चटर्जी महाशय आर्य-सभ्यता की रक्षा के लिए हिन्दी को ही योग्यतम भाषा मानते हैं, और हिन्दी बंगला की बड़ी बहन है, ऐसी ध्वनि वंगीय साहित्य-परिषद में सुन पड़ती है, और स्वामी माधवानन्दजी-जैसे बंगाली विद्वान प्राचीन बंगला के मुकाबले प्राचीन हिन्दी को ही अधिक महत्त्व देते हैं, और किसी-किसी बंगाली विद्वान ने यह सत्य भी जाहिर किया है कि व्यावसायिक संसार में हिन्दी की सजीवता दूसरी भाषा नहीं प्राप्त कर सकती। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि राष्ट्रभाषा के साथ ऊँचे साहित्य का कौन-सा सम्बन्ध है, जो कहें, इसके बिना उसकी सिद्धि असम्भव हो रही है। इसे हम बंगाली सज्जनों की प्रान्तीयता के अलावा एक दूसरी कमजोरी भी कहेंगे। पर यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि आधुनिक बंगला-साहित्य हिन्दी-साहित्य से ऊँचा है। कारण यह है कि बंगला पर बहुत दिनों से अँगरेजी का प्रभाव पड़ रहा है। किन्तु यदि हम इतिहास के सन्-संवत् के अनुसार दोनों के आधुनिक उन्नयन-क्रम की जाँच करेंगे, तो हमें मालूम होगा कि हिन्दी की गति बंगला से दूनी है, और जो ऊँचाई बंगला ने हासिल की है, उस तक पहुँचने के लिए वर्तमान हिन्दी-साहित्य को और तीस साल से अधिक समय न लगेगा, वैसे हिन्दी का पुराना साहित्य—ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य—तो बंगला के पुराने साहित्य के मुकाबले कहीं श्रेष्ठ है, कम न निकलेगा। हिन्दी में जिस तरह सनातनधर्मवालों का समाज प्रबल है, उसी तरह बंगला में भी है। केवल ब्राह्म-समाज के कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रदर्शन साहित्य की दृष्टि से अधिक मार्जित कहा जायगा, पर यहाँ उसी तरह आर्य-समाज का जोर है। यह निस्सन्देह है कि वहाँ ब्राह्म-समाज तथा परिवर्तित सनातन हिन्दू-समाज में आजवाली बातें आर्य-समाज से अधिक मिलती हैं।

बंगला को जिस तरह भाषा-विषयक सुविधा प्राप्त हुई है, हिन्दी को उसी तरह असुविधा। हिन्दी का अधिकांश भाग आपस की बातचीत में जिस भाषा का उपयोग करता है, वह पुस्तक की भाषा नहीं। बंगाल में भी भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं। पर वहाँ का एक विशाल भाग, जिसका केन्द्र कलकत्ता है, वही भाषा बोलता है, जो पुस्तकों में आज की बंगला के रूप से चल रही है, जिसमें नाटक खेले जाते हैं। हिन्दोस्तान के शहरों में जिस उर्दू को मुसलमानों की प्रचलित भाषा होने का अधिकार प्राप्त है, और माताएँ भी जिसमें बातचीत करती हैं, वह हिन्दुओं के घरों में हिन्दी रूप से बदलने लगी है—अरबी और फारसी की जगह संस्कृत तथा देशज शब्दों के प्रयोग बढ़ चले हैं। आशा की जाती है कि बहुत जल्द शुद्ध हिन्दी शहरों में माताओं की जबान बन जायगी।

इधर साहित्यिकवर्ग साहित्य की भी उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है। पर यहीं हमें सबसे बड़ी अड़चन देख पड़ती है। साहित्य की वृद्धि के मानी ये नहीं कि इससे साहित्य की व्यापकता और स्थितिशीलता भी सिद्ध हुई। यह निश्चय है कि अभी उस दिन तक भाषा का ही प्रश्न हल होता रहा है कि कौन-सी भाषा हिन्दी में स्थायी हो सकेगी, और ऐसी हालत में एकाएक बृहत साहित्य-ज्ञान का प्रकाशन असम्भव है, फिर जब समाज ने कोई परिवर्तन न किया हो। दस साल पहले तक राम और कृष्ण के साहित्य का ढर्रा रहा, यह अब भी है। पर अब कुछ दूसरे ढंग

की रचनाएँ होने लगी हैं। इनसे एक नवीनता अवश्य पैदा हुई है। पर समाज में विचारों का परिवर्तन जब तक नहीं होता, तब तक साहित्य को नवीन प्रगति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। देश के सम्बन्ध का भी कुछ साहित्य हमारे यहाँ है, पर वह भी कम-उम्र लड़के की तरह अपनी सत्ता पर जोर देकर दूसरों से बातचीत नहीं कर सकता। काव्य, नाटक और उपन्यासों में आशाजनक परिवर्तन हुए हैं। पर इन्हें अभी बहुत लम्बी मंजिल तय करनी है। राजनीतिक प्रगति से देश की जनता के मनोभाव जिस प्रकार बदलने लगे हैं, उन्हें देखते हुए यह निश्चय हो रहा है कि हमारे वर्तमान साहित्य की गति बहुत तेजी से बढ़ेगी। बहुत जल्द हिन्दी का दैन्य दूर होगा। राम और कृष्ण की जो व्याख्याएँ आज तक समाज में प्रचलित थीं, वे अपनी शुद्धता के लिए तो रहेंगी, पर उपकरणों के लिए बिलकुल नहीं। न आगे के राम तीर लेकर लोगों के आदर्श होनेवाले वीर रहेंगे, न दो शादियाँ करके दोनों बीवियों के साथ चैन करनेवाले कृष्ण की ही कोई सुनेगा, और न लड़ाई के समय 18 अध्यायवाली गीता का सुनाया जाना कोई आँखें बन्द करके मानेगा। सब रूपकों के तौर पर रहेंगे। मनुष्य का सच्चा साहित्य, सच्ची स्फूर्ति और सच्चा विकास तभी यहाँ से निर्गत होगा। आज जैसा साहित्यिक रुख देख पड़ता है, इससे हिन्दी की भविष्य-भावना अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। ये जो किरणें हिन्दी के साहित्याकाश में फूटी हैं, इनकी गति कितनी तेज होगी, यह कहना यद्यपि कठिन है, फिर भी हमें इस निश्चय में कोई सन्देह नहीं कि ये सहस्त्रों की संख्याओं में साथ-साथ चलकर बहुत जल्द अपनी पृथ्वी को ज्योतिर्मय करेंगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, 1 अगस्त, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## हिन्दू-मुस्लिम-समस्या

इस देश की मनुष्यता का निर्माण और हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न का हल होना एक अर्थ रखते हैं। हम किसी तरह बृहत संसार की ओर बढ़ नहीं सकते, इसका यही कारण है कि देश के मनुष्य का क्या रूप है, यह हम नहीं समझे। इसी देश से बृहत संसार की ओर अनेक मनुष्य, अनेक विद्यार्थी जाते हैं; पर वे वास्तव में बृहत संसार के लिए नहीं जाते, अपने छोटे संसार के लिए जाते हैं; क्योंकि वे हिन्दू और मुसलमान रहकर जाते हैं, और हिन्दू और मुसलमान रहकर ही लौटते हैं। जिस दीनता की पूर्ति के लिए शिक्षित होने के उद्देश से जाते हैं, योरप और अमेरिका के बाहरी बुरे संस्कारों को लेकर, उसी दीनता को बढ़ाकर लौटते हैं। यहाँ फिर वे हिन्दू हैं या मुसलमान। हाथ कुछ इल्लत साहबी की और लगी है। यह देश के मनुष्य की परिभाषा नहीं।

आज मुख्यतः देश दो भागों में बँटा हुआ है। इन्हीं दोनों का संघर्ष धर्म, राजनीति और समाज को प्रगति दे रहा है। यदि ये दोनों न रहें या न रहने का उपक्रम करें, तो ऐसे धर्म, राजनीति और समाज भी नहीं रह सकते। अपने अस्तित्व के लिए एक जितना सचेष्ट हो रहा है, दूसरा स्वभावतः उतना ही बल प्राप्त कर रहा है। हिन्दुओं के समाज ने कठोर आर्यत्व को ग्रहण किया, तो मुसल-

मान पहले से अधिक सतर्क होकर दल बढ़ाने की चिन्ता में लगे। पुनः अफगानिस्तान, फारिस, टर्की आदि देशों तक भी उनकी दृष्टि दौड़ने लगी। बीच में जो तीसरी शक्ति इन उभय शक्तियों के ऊपर है, उससे साम्य भाव पदा करने की इन दोनों में किसी ने न सोचा, बल्कि उसी की सहायता से अपने हकों की रक्षा करने लगे, जिन हकों की न रक्षा होने पर भी मनुष्य तथा मनुष्यत्व की रक्षा होती है। कृष्णजी का जुलूस यदि न निकले, तो कोई क्षति नहीं होती; रामलीला में यदि मनुष्य बन्दर बनकर न नाचें, तो मनुष्यत्व की रक्षा ही होती है, धन भी बचता है। उधर मुसलमानों के देश में, उस दिन तक छपता था, मसजिदें तोड़ी गयीं, और मुसलमानों के ही हाथों। पुरानेपन को दूर करने के लिए कुछ ही वर्षों के अन्दर मुसलमान राज्यों में क्या-क्या हुआ, यह संवादपत्रों के पाठक जानते हैं। केवल हमारे देश में यह धार्मिक भाव दोनों तरफ से इतना प्रबल रूप धारण किये हुए है। इसीलिए हम सच्चे मनुष्य नहीं बन पाते।

मनुष्य केवल मनुष्य, देश और संसार के लिए सोचता है, यहाँ की तरक्की उसी का सहारा चाहती है। धार्मिक लोग तो दूसरी दुनिया के, देवता या उनसे भी बढ़कर कुछ हैं। वे जो कुछ भी हों, जिस मनुष्य-देह में मुक्ति प्राप्त होती है, कहा गया है, उस मनुष्य-देह में वे नही रहते। उनका मनुष्यत्व संस्कारों की समष्टि है, और ऐसे संस्कार कभी मुक्ति-स्वरूपा नवीनता को नहीं प्राप्त होने देते।

नारीहरण, लड़कियों और बच्चों का भगाना, आरती और नमाज का झगड़ा, इस तरह के अनेक प्रतिबन्ध सामने आते हैं, जिनका दूरीकरण इसी अवस्था में नहीं हो सकता। क्योंकि यह अवस्था ही कमजोर है। यदि नमाज के समय आरती करने पर, बाजों के उच्च स्वर से हम प्रसन्न हों, और मुसलमान दुखी, तो भी यह हमारी एक कमजोरी हमारी प्रसन्नता के भीतर छिपी रह गयी। यदि आरती का समय टाल दिया गया, तो हमारे दुखी होने का प्रत्यक्ष कारण है। मुसलमान यदि इससे सुखी हों, तो यह दुर्बलताजन्य सुख ही कहा जायगा। यह कभी स्थायी नहीं हो सकता। मनुष्यता एक ऐसा गुण है, जिसमें ह्रास या वृद्धि नहीं होती। यदि कहें कि दल बढ़ाकर मुसलमान हिन्दुओं को दबाना या देश को मुसलमान कर लेना चाहते हैं, तो बड़ी ही तुच्छ धारणा है। जब मुसलमान इस देश के शासक थे, तब इतनी संख्या में न थे। जापान की जनसंख्या चीन की इतनी नहीं। इंगलैण्ड और भारत की भी जनसंख्या देखी जा सकती है। जो उपाय नीच, धूर्ततापूर्ण हैं, वे अपने ही अँधेरे में ढके हुए हतप्रभ हैं। क्रिश्चियन और मुसलमान एक-ही-एक मनुष्य की इतनी बड़ी-बड़ी संख्याएँ हैं। आज कितनी उदार और व्यापक भावनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क में होनी चाहिए, हमें उन्हीं का अनुशीलन कर मनुष्य होना है। जो घात-प्रतिघात आते हैं, वे मनुष्यता के रास्ते पर और जोरदार होकर आ सकते हैं।

हमारे समाज में वर्तमान मनुष्य-धर्म का व्यापक प्रचार अभी नहीं हुआ। देहात में तो पुराने भावों तथा आचार-विचारों का ही साम्राज्य है। शहरों में भी बहुत कम लोगों को नवीन ऊँचे विचारों से प्रेम है। इसीलिए अच्छे लेखकों की लिखी पुस्तकों का आशानुरूप प्रचार नहीं हो पाता। पुनः अर्द्ध-नवीनों में भी प्राचीनता के ही संस्कार दृढ़ हैं। ऐसी हालत में लोग उन्हीं भावनाओं का अनुसरण करते हैं, जिनका वे शताब्दियों से करते आये थे। यहाँ एक उदाहरण दिये बिना न रहा गया। जापान की जो इतनी जल्द तरक्की हुई, इसका कारण यह है कि जापान किसी प्राचीन संस्कार में बुरी तरह बँधा न था। जो भी जंगली जाति

होगी, वह नये संस्कार बहुत जल्द ग्रहण कर ले सकेगी। हमारे संस्कृत हिन्दू इतने जड़ हो गये हैं कि उनके संस्कार ही जीवन-रस के ग्रहण के मूल हो रहे हैं। यह न बदल सकनेवाली वृत्ति चेतन गुण नहीं, जड़ है। यही हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की भी जड़ है। जिन विचारों से विजित हिन्दू और विजयी मुसलमान पहले से इस देश में रहते आये हैं, वे ही विचार इस समय भी हिन्दू और मुसलमानों के हैं, बल्कि पुष्टि को बल मिलता जा रहा है। इन्हीं विचारों, इन्हीं धार्मिक भावनाओं में इन दोनों की मैत्री असम्भव है। देश का व्यापक मनुष्य इनमें से किसी प्रकार का नहीं। जब हिन्दू अपनी वर्तमान मनोवृत्ति को छोड़कर हर तरह के आदान-प्रदान में संसार के साथ साम्य-स्थापना करेंगे, उनके उच्च-नीच भेद मिटते जायेंगे, उनका संगठन प्रेम और सहानुभूति से भरकर बढ़ता जायगा, उनकी प्रान्तीयता मिटती रहेगी, वे वर्तमान वैज्ञानिकों की तरह विचारों की ऊँची भूमि पर अधिष्ठित रहने का प्रयत्न करेंगे, संसार की सभी नीतियों को व्यापक हित का रूप देना सीखेंगे, तब आज के मुसलमान भी आज के मुसलमान न रहेंगे। अगर रहे, तो इस उच्चता के मुकाबले रह नहीं सकते; क्योंकि यह युग ही व्यक्तिवाद का नहीं रहा। यहाँ व्यक्ति की अधिक-से-अधिक उन्नति तभी हो सकती है, जब वह व्यक्तिगत, पक्षपातपूर्ण न होगा। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद एक-एक आदर्श व्यक्ति रहेंगे, पर व्यक्ति के नियामक नहीं, उनकी तारीफ होगी, पर उनके पीछे जान देना मनुष्यता से दूर समझा जायगा। कारण, हर मनुष्य की वही कीमत है, जो राम-कृष्ण और ईसा-मुहम्मद की थी।

बड़े दुःख की बात है कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़कर अपने भाग्य का निर्णय करना चाहते हैं। इन दोनों की लड़ाई, संवादपत्रों में एक-दूसरे का पक्ष लेकर एक-दूसरे का पक्ष-समर्थन, प्रतिवाद, प्रतिकार की चेष्टा, आरती और नमाज के नियमों का दृढ़ीकरण आदि-आदि क्या यही साबित नहीं कर रहे कि हिन्दू और मुसलमान मनुष्यता से कितनी दूर हैं, और इस तरह रहकर कितनी दूर रहेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साहित्य तथा हमारे लेखकों का संकट

हम कई बार यह प्रकाश डाल चुके हैं कि अच्छी-अच्छी पुस्तकों के पढ़ने की ओर रुचि हुए बगैर साहित्य की श्री-वृद्धि न हो सकेगी। जो लोग उच्च शिक्षित हैं, आमदनी भी अच्छी है, वे हिन्दी की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देते। वे सैकड़ों रुपये अँगरेजी-किताबों में खर्च कर देते हैं, पर साल में चार रुपये की भी हिन्दी की पुस्तकें नहीं खरीदते। उलटे कहते हैं—"जनाब हिन्दी में है क्या? क्यों कोई व्यर्थ रुपये खर्च करे?" ऐसा उत्तर वे लोग कदापि न देंगे, जिन्हें कुछ भी अपने देश तथा जाति का विचार होगा। अँगरेजी वही समझते हैं, दूसरे नहीं, ऐसी तो कोई बात है नहीं, न यही कि हिन्दी के लेखक अँगरेजी-साहित्य के कोरे हुआ करते हैं। हिन्दी की अच्छी पुस्तकों में अँगरेजी की रद्दी पुस्तकों के इतना भी

ग्रानन्द नहीं, जो विलायत से भारत बिकने के लिए ग्राती हैं, ग्रौर बिक भी जाती हैं, यह हम मानने के लिए तैयार नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस गुण या दुर्गुण के कारण भारतीय नहीं चमकते, उसी के कारण उनका साहित्य भी मुरझाया हुग्रा होता है, तो इस कहने की ग्रपेक्षा कहनेवालों की जबान की तारीफ ज्यादा होगी, हमें पूरा विश्वास है। बंगला-साहित्य का हिन्दी से काफी ज्यादा प्रचार है, ग्रौर बंगाली हिन्दीवालों से ग्रँगरेजी भी ज्यादा जानते हैं। इसलिए ग्रँगरेजी हिन्दीवाली बात लज्जित करने की ग्रपेक्षा लज्जित होने के लिए होती है। किसी भी बंगाली रीडर के यहाँ बंगला के साधारण लेखकों की कृतियाँ मिलेंगी, बंगाली लेखकों ग्रौर कवियों की प्रगति तथा कृतियों से वह परिचित होंगे, बंगला-साहित्य की संस्कृति उनके यहाँ मिलेगी, पर हिन्दोस्तानी प्रोफेसर के यहाँ हिन्दी के ग्रच्छे-ग्रच्छे कवि ग्रौर लेखक भी न होंगे, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं कि उनके साहित्य की कैसी प्रगति है। कितने दुःख की बात है यह! किताब न खरीदेंगे, ऊपर से साहित्य को खरी-खोटी सुनायेंगे। जहाँ पढ़े-लिखे ग्रादमियों का यह हाल है, वहाँ साधारण शिक्षित जनों से क्या ग्राशा की जाय?

साहित्य की वृद्धि व्यापक सहयोग चाहती है। क्योंकि साहित्य का निर्माण समष्टि के लिए होता है। फिर ऊँचा साहित्य तो ऊँचे-ऊँचे व्यक्तियों के लिए ही होता है। यदि उन्हीं का उससे सहयोग न हुग्रा, तो उसके निर्माण का फल क्या हुग्रा?

हम जानते हैं, ग्रौर बहुत ग्रच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि हिन्दी के ऊँचे-ऊँचे कलाविद प्रशंसित साहित्यिकों के साथ हमारा सम्बन्ध रह चुका है, ग्रौर है, यदि उन उच्च साहित्यकारों की कृतियों का यही हाल रहा, ग्रौर हिन्दी के धनी तथा शिक्षित मनुष्यों से उनकी पुस्तकों से ग्रपना मानसिक ग्रादान-प्रदान न किया, तो साहित्य का एक युग के लिए पीछे चला जाना निश्चित है, इसी प्रकार उन कलाकारों का भी साहित्य-निर्माण से विमुख होना ग्रनिवार्य।

सभी घरानों में वैसी ही, बल्कि ग्रौर सुन्दर-सुन्दर साड़ियाँ पहनी जाती हैं, तेल, साबुन, इत्र, सेण्ट, पौडर ग्रादि खर्च होते हैं, मोटर की सैर होती है, पेट्रोल फुँकता है। इन सबकी माँगें पहले से बढ़ गयी हैं। पर ग्रफसोस है, जिन लोगों ने दारिद्र्य का घोर दुःख उठाकर भी सुन्दर साहित्य की रचना की, वे तुच्छातितुच्छ समझे गये, ग्रौर उनकी कृति दैनिक जीवन से ग्रलग, ग्रनावश्यक। उनकी किताबों के लिए पैसों का एकान्तभाव हुग्रा। ऐसे ही विवेक ग्रौर विचार से साहित्य का उद्धार होगा? एक विदेशी एक रूमाल भी यहाँ का न खरीदेगा। हम नाम लेकर नहीं लिख रहे, पर हिन्दी के प्रतिभाशाली ग्रनेक लेखकों ग्रौर कवियों को जानते हैं, जो इसी कारण ऊबकर ग्रब लिखना बन्द करनेवाले हैं, यों भी, उनसे जितनी ग्राशा की जाती थी, उतनी नहीं पूरी हुई, कारण, उनकी रचना बिकी नहीं, इसलिए प्रकाशक को दूसरी कृति लेने की हिम्मत नहीं हुई, न ग्रच्छे दामन मिलने के कारण, ग्रच्छा निर्वाह न हो सकने की वजह उन्होंने कुछ लिखा। ईश्वर कल्याण करे, इससे ग्रधिक कुछ कहा नहीं जाता। नाम लेकर लिखें, तो ग्राज हिन्दी के जितने बड़े-बड़े रत्न हैं, प्रायः सब ग्रा जाते हैं। यह दोष ग्रवश्य लेखक ग्रथवा प्रकाशक का नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। ग्रसंकलित]

## रूस का राष्ट्रसंघ में प्रवेश

आज सोविएट रूस संसार के राष्ट्रों का प्रकाश है। पहले किसी ने भी उसकी गति और लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया। जो लोग उत्थान के सम्पुटित कमल के लिए उसके उदय की आकांक्षा रखते थे, वे उद्दाम ऐश्वर्य के स्रोत पर तृण की तरह बहनेवाले वैषयिक नहीं —वसुन्धरा पर भी भूख से मरनेवाले, चिन्ता से उन्निद्र किसान थे। रूस की नवीन शक्ति को प्राचीन परम्परा के अनुकूल अनेक प्रकार के विरोधों के विज्ञप्ति वज्र चुपचाप सहते रहना पड़ा है। चुपचाप अपने ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए उसने उस प्रगति के द्वारा संसार के सुधारकों को, अशब्द आती हुई, फूलों का मुँह खोल देनेवाली ओस की तरह, उत्तर दिया है। आज अधिकांश विक्षिप्त उसी के विचारों के पक्ष में जाति की उद्धार-कल्पना में लीन हो रहे हैं। आज वे विरोधी राष्ट्र भी उसे मित्र मान लेने के लिए औत्सुक्य से तत्पर हैं।

विगत महायुद्ध के समय जार की राजगद्दी आबाद थी। रूस को जर्मनी के विरुद्ध लड़ना और शत्रु की टेढ़ी चाल में पड़कर क्षतिग्रस्त होना पड़ा था। पश्चात् जार का प्रभाव रूस की रक्तरंजित राजनीति के पश्चिम नभ में सूर्य की तरह अस्त हो गया। मित्र राष्ट्रों को कुछ हानि पहुँची, पर अपनी-अपनी दाढ़ी के तिनके निकालते हुए सब एक तरह उलझ-से गये। इधर रूस के कृत्यों का बड़ी तेजी से योरप और एशिया के सुधारवादी, राष्ट्रीय भावनावाले देशों में प्रभाव फैलने लगा, और कई राष्ट्र उसी शक्ति से बहुत कुछ पुष्ट हो भी चले। यह देखकर पहले से शक्त दूसरे राष्ट्रों ने रूस को जाति-महत्ता से च्युत हिन्दू की तरह राष्ट्र की पंक्ति से अलग कर दिया। रूस ने भी झुककर सलाम करने का नाम न लिया।

पर रूस विशाल देश है। स्वार्थ के विचार से मित्र राष्ट्रों को रुख मिलाने ही में कल्याण जान पड़ा। प्रायः दस वर्ष पूर्व उसके साथ बृहत, राष्ट्रों की व्यावसायिक सन्धि हुई।

पर राष्ट्रसंघ से रूस अब तक अलग ही रहा। राजनीति का कुछ ऐसा चक्र चला कि रूस की तरफ से सब-के-सब वक्र रहे। परन्तु प्रकृति किसी राजनीतिज्ञ या राष्ट्रसंघ की ब्याही हुई हिन्दू-बीवी नहीं, वह क्या कहते हैं नायिका-भेद में उसे, वह नायिका है, जो स्वतन्त्र रहती है। दैवयोग से जर्मनी और जापान राष्ट्रसंघ के छत्ते पर भनभनाते हुए अपनी ही शक्ति से फूलों से मधु लेकर, नया छत्ता रचकर रहने के विशद उद्देश के गौरव पंखों से उड़कर अलग हो गये। महाशय राष्ट्रसंघ को टुटरूटूँ-रूप अपनी ही आँखों अच्छा न जँचा। और बहुत-सी भीतरी राजनीतिक बातें भी हो सकती हैं। दलच्युत कथनक जर्मनी से जापान के लिए हृदय खोलकर मिलना सम्भव नहीं, क्योंकि 'पिया सात समंदर पार बसें' सार्थक है। पर महाशय रूस बिल्कुल पड़ोस में रहते हैं। अगर दोनों का प्रेम-सम्बन्ध सुदृढ़ हुआ, तो राष्ट्र-संघ के विशद अभिप्रायों का बागी, पुत्र रूप पैदा हो सकता है। उधर जापान भी रूस का पड़ोसी है। पड़ोसी-पड़ोसी दूरवालों की अपेक्षा लड़ते भी अधिक हैं, और मिलते भी दिल खोलकर हैं। इन कारणों से जातिच्युत रूस को राष्ट्रसंघ ने अपने में मिलाने की बात सोची। आपस की बातचीत में, बहस-मुबाहसे में अनेक प्रकार के अभिनय के पश्चात् फ्रांस की गहरी उदारता के फलस्वरूप रूस राष्ट्रसंघ में सम्मिलित कर लिया गया। रूस को इंगलैण्ड, फ्रांस आदि देशों की इज्जत हासिल

रहेगी, यह भी मंजूर हुआ। रूस के प्रतिनिधि मोशिए लिटविनाफ ने प्रतिनिधि होने के बाद यह फर्माया कि रूस को अपने आचार-विचारों की पूर्ण स्वाधीनता रहेगी।

इस दीर्घसूत्रता का यह परिणाम हुआ। अब रूस की इज्जत में किसी को शक नहीं रहा। इज्जत इस तरह हासिल की जाती है, रूस ने जैसी खूबी से साबित किया है, ईश्वर से हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि दूसरे मित्र राष्ट्र भी विश्व के कल्याण के लिए वही पथ और वैसी ही कला का पाथेय ग्रहण करें। हमें पूर्ण विश्वास है, इससे किसी प्रकार के उपद्रव की शंका न रह जायगी, और लोग शान्तिपूर्वक रह सकेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## राष्ट्रसंघ में रूस

इस विषय पर हम 'सुधा' में प्रकाश डाल चुके हैं कि रूस क्यों और कैसे राष्ट्रसंघ में आमन्त्रित हुआ, और गया। उसके जाने से राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी चहल-पहल रही, और हर्ष मनाया गया। जो रूस कभी राष्ट्रसंघ को लुटेरों की जमात कहता था, वह इस प्रकार राष्ट्रसंघ में जा डटेगा, यह किसी को आशा न थी। पुनः तारीफ करने और आँख दिखानेवाली उसकी द्वैध नीति का मजाक भी पत्रवालों ने काफी उड़ाया। जहाँ रूस के अपर राष्ट्रों के प्रति वे शब्द थे, वहाँ उससे [उसने] यह कहना शुरू किया है कि पहले राष्ट्रसंघ एक अत्याचारियों का संघटन था, पर अब उसके हृदय में शान्ति की सच्ची इच्छा पैदा हुई है; जर्मनी और जापान के निकल जाने से राष्ट्रसंघ शान्तिप्रिय हो गया है।

रूसी राजनीतिज्ञ कहते हैं कि फिर भी अभी राष्ट्रसंघ में बहुत-से दोष हैं, और रूस के मिलने से उनका निराकरण होना सम्भव है। रूस ने उनके दूर करने के अभिप्राय से ही राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मंजूर किया था। साथ-साथ रूस के पत्र 'इजवस्तिया' का कहना है कि रूस की लाल सेना ही संसार में शान्ति की स्थापना करने में समर्थ है।

पर राष्ट्रसंघ में स्विज-प्रतिनिधि ने रूस की बड़ी-बड़ी आलोचना की। केवल स्वीजरलैण्ड ही ऐसा निकला, जिसने रूस के राष्ट्रसंघ में आने का पहले जोरदार विरोध किया। उसके प्रतिनिधि मि. मोता का कहना हैकि हर क्षेत्र में—वह धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक कुछ भी हो—रूस हमारा विरोधी है। यह आत्मिक उन्नति नहीं मानता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुश्मन है। व्यक्तिगत जायदाद को भी नष्ट कर देता है। जबरदस्ती मिहनत कराकर खेतों का संघटन करता है। इसकी इच्छा है कि संसार को यह अपने साँचे में ढाले। अगर आज राष्ट्रसंघ की शिकायतें करना रूस ने बन्द कर दिया है, तो इसके मानी ये हैं कि इसके पीछे एक स्वार्थ लगा हुआ है, जिसका कारण हम पूर्वीय आकाश में जलते अक्षरों में लिखा हुआ देखेंगे।

अर्थात् जापान के साथ युद्ध छेड़ने के अभिप्राय से रूस ने यह सन्धि की है। पुर्तगाल और हालैण्ड के प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया। पर यह मालूम

होता है कि रूस की माँग के अनुसार उसे राष्ट्रसंघ में वही सम्मान प्राप्त होगा, जो इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली को है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## फिल्म-व्यवसाय, कला और हिन्दी

अर्थ की दृष्टि से सभी व्यवसाय अच्छे हैं। पर अर्थ के साथ पहले परमार्थ सम्बन्ध जोड़ा गया था, अब देश की भलाई का रहता है। यदि किसी व्यवसाय द्वारा देश की शक्ति का ह्रास होता हो, तो उसे या तो समझदार व्यवसायी न करेगा या करने से रोका जायगा। इन्हीं फिल्मों में हम देख चुके हैं, काले हब्शियों पर शान जमाने के इरादे गोरों ने अनेक प्रकार के मनोभाव तथा प्रक्रियाएँ प्रदर्शित की हैं। गोरों की हर बात में प्रधानता है। देश-विशेष में देखिए युद्ध की फिल्मों में उस देश की ही मार्के की वीरता दिखलायी जाती है, चाहे वह इतिहास तथा घटना की दृष्टि से सरासर झूठ हो। ऐसा देश की भलाई और उच्चता दिखलाने के लिए किया जाता है। इससे साधारण देशवासियों को प्रोत्साहन मिलता है, कुछ काल के लिए मस्तक अपनी महत्ता के विचार से ऊँचा उठ जाता है, दूसरे देशवाले भी अधिक संख्या में, मर्म को न समझने के कारण, उनसे प्रभावित हो जाते हैं। यहाँ, हम देखते हैं, व्यवसाय में भी एकदेशीय भावना, उपयोगितावाद, आत्मविज्ञापन आदि रहते हैं। हमारे यहाँ व्यवसाय का मूल ही नष्ट हो चुका है। हम व्यवसाय में किसी तरह स्वतन्त्र नहीं रहे। इस पराधीनता ने हमारी पारमार्थिक दृष्टि तो ले ही ली, देश की भलाईवाली कामना भी नष्ट कर दी। हम बहुतों को, जिन्हें हम अपना कहते हैं, अपने साथ मिलाकर, ऊँचा उठाते हुए चलना नहीं जानते, या जानते हुए भी रुपये के लालच से बाहरी और भीतरी दृष्टियों को खोकर केवल अपने ही सुख की सोचते हैं। प्रायः सभी व्यवसायों में हमारा यही हाल है। दूसरे हमसे, जिन्हें वे दूसरे देशवाले समझते हैं, छीनकर खाते हैं, हम आपस में एक-दूसरे से छीनकर। इससे हमारा व्यवसाय उपयोगिता में कितना महत्त्व रखता है, सहज ही अनुमेय है। और, इससे व्यावसायिक शक्ति का विकास कहाँ तक हो सकता है, यह भी सहज ही बोधगम्य।

देश की वर्तमान दशा जैसी है, उसे देखते हुए बड़े-बड़े मितव्यय लोगों का यह कहना है कि आमोद-प्रमोद में देश जितना खर्च करता है, उतना उसे आर्थिक दशा के विचार से न करना चाहिए; इससे वह और भी कमजोर होता जा रहा है, शारीरिक और नैतिक, दोनों रूपों से। शरीर और नीति से कमजोर आदमी में कोई दृढ़ता नहीं रह जाती। तब लक्ष्य की ओर बढ़ने की उसकी शक्ति भी जाती रहती है। वह, सूखे पत्ते की तरह, जिधर हवा का रुख हुआ, उधर ही उड़ता फिरता है। हमारे यहाँ आमोद-प्रमोद जिस प्रकार असंयमित हैं, मनुष्यों के सिर भी उसी प्रकार बहाव के फाट्ट और नारियल हो रहे हैं। बोलते हुए छायाचित्रों का व्यवसाय जो हिन्दी में इतना प्रसार पाता जा रहा है, इसका कारण अवश्य व्यवसायियों का राष्ट्रभाषा प्रेम कदापि नहीं। इसका कारण हिन्दी

के बाजार से अधिक रुपयों का वसूल होना है। बम्बई और कलकत्ते की मराठी, गुजराती और बंगला-मिली हिन्दी नट और नटियों की जबान से सुनकर उनके हिन्दी-प्रेम का परिताप हमें मालूम हो जाता है। फिर जो थोड़ा-सा परिचय हिन्दी में लिखा हुआ कहीं-कहीं निकलता है, उसे पढ़कर उस काकुले-पुर पेचोखम का पेचोखम निकालकर हिन्दी-भाषी भाषाविद् दर्शक हिन्दी की कामत-दराजी का भरम दूर कर लेते हैं। जैसी भाषा, उससे बढ़कर उच्चारण; और कला जगह-जगह चलती तलवार की चोटों से डरकर हमेशा चौखट के अन्दर। उपयोगिता आधुनिक साहित्योपदेशकों के भाषा-विज्ञान की तरह सार्वभौम कि ताँगेवाले भी बराबर आकर फायदा उठाते हैं। कुछ फिल्में अच्छी हैं, पर हिन्दी के लिए फिर भी बहुत-कुछ वहाँ अधूरा है।

हिन्दी-भाषी जनता के ही रुपये से फिल्म-व्यवसाय इस कसरत से चलता है, पर हिन्दी-भाषी नट-नटियों तथा लेखकों को लब्ध अर्थ का कितना हिस्सा प्राप्त होता है ? बहुत थोड़ा, नहीं के बराबर। यह ठीक है कि दूसरे प्रान्तों के मुकाबले हिन्दी के कलाविद पीछे हैं, पर ऐसे भी होंगे, जो समकक्ष और बढ़े हुए हों। न उनसे भाषण-कौशल सीखने की अपेक्षा की गयी, न उनके गाने की मीड़ ली गयीं, और तो क्या, शुद्ध हिन्दी लिखवाने का काम भी कीमती समझा गया। इण्डियन शेकशयर ने हिन्दी के किन्हीं अपर सम्राट की तरह उर्दू में लिख दिया, हिन्दी में अनुवाद कर करा लिया, नाटक बन गया। कहीं किसी दूसरे भाषाविद का लिखा अनुवादित कर लिया गया। किस्सा पहले डायरेक्टर महोदय की समझ में उतारने के लिए अँगरेजी में लिखा जाता है! इतनी वर्णसंकरता पार करके हिन्दी आती है। एक बार एक संसार प्रसिद्ध डायरेक्टर कलाविद और नट तथा उनकी वैसी ही नटी लखनऊ आये थे। नटी की प्रसिद्धि थी कि वह किसी महाराज वंश की या कुछ ऐसी ही थीं। साथ उनकी फिल्म भी आयी थी, जिसमें प्रिया-प्रियतम के रूप से दोनों उतरे थे। बड़े ठाट-बाट रहे। लाट साहब देखने गये। सम्भ न्यौता रहा होगा। अँगरेजी के पत्र की तारीफ करते हुए मूसलाधार खड़े हो गये। कुछ साहित्यिक भी गये। उक्त नट और नटी, दोनों अहलेजबाँ बंगाली हैं; पानी अँगरेजी का पूरा चढ़ा; अरसे तक विलायत रहे हैं; न हिन्दी कोई जबान, न उसके बोलनेवाले कोई जानकार, लगे बोलने; मालूम हो रहा था कि हाँ, बेपर की उड़ाना इसे कहते हैं। हिन्दी क्या थी, एक दफा बंगला से धकापेल होता, एक दफा अँगरेजी से मोर्चा डटता, तब कहीं पिटपिटाकर बाहर निकलती थी।

वही पुराना परमार्थ फिर आता है। वही सब साधनों की सिद्धि तक पहुँचाने में समर्थ है। उसे चाहे देश की भावना में बाँधिए, चाहे कला का विश्वजनीन रूप देकर सर्वव्यापी कर दीजिए। निष्कृति उसी के द्वारा होती है। उससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं, न नैतिक पतन की शंका है। परमार्थ अर्थ का ही विराट रूप है। वह अर्थ के साधन से परम होता है। यहीं कला का हम वह रूप देखते हैं, जो अर्थकरी होने पर भी आधिदैविक तथा पारमार्थिक है, क्रमशः जो ऊँचा उठाती गयी है, और अनेक आवर्तों से सजी हुई भी है। हमें फिल्मों में इतने उपदेश मिलते हैं कि जी ऊब जाता है। यह काम हम केवल चित्रण तथा भाषण-कौशल से निकाल सकते हैं। इतनी मारपीट होती है कि यथार्थ शौर्य का भाव दूर हो जाता है, हृदय में द्वेष, ईर्ष्या और प्रतिफलजन्य दुर्बल वृत्तियों की जलन होने लगती है। प्रेम में कामुकता इतनी होती है कि कुमारता या सुकुमारता नष्ट

हो जाती है। कथोपकथन ऐसे गिरे हुए होते हैं कि उनमें मुश्किल से कहीं साहित्यिक छटा मिलती है। देहात जाइए, और ध्यान से सुनिए, तो अच्छी-से-अच्छी साहित्यिक छटा देहातियों की बातों में दिखायी देगी। अच्छी चीज सरल भाषा में तैयार हो सकती है। हिन्दी के फिल्म-व्यवसायी जो इधर ध्यान नहीं देते, यह उनके अनुभव की कमी है। अच्छी चीज का बराबर आदर हुआ है। 'पूरन भक्त' तथा 'चण्डीदास' का काफी आदर हुआ है। यहाँ के नाटक बंगला की विशेषता लिए हुए भी अच्छे होते हैं। यदि सब तरफ की कमजोरियों को समझकर व्यवसायी तथा डायरेक्टर इस कला को ऊँचा उठाना चाहें, तो यह कोई मुश्किल काम नहीं, न हिन्दीवाले ऐसे कमजोर हैं कि उन्हें अच्छी-से-अच्छी इसलाह न दे सकते हों। अच्छे नाटकों की सफल अवतारणा द्वारा वे देश तथा समाज का कल्याण कर सकते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## कवीन्द्र रवीन्द्र और राष्ट्रभाषा

कुछ दिन हुए, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर मदरास गये थे। वहाँ उन्होंने विद्यार्थियों के सम्मुख एक व्याख्यान में कहा कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न कुछ भी महत्त्व नहीं रखता, मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि सारी प्रान्तीय भाषाएँ खूब उन्नति करें। प्रान्तीय भाषाओं के समुन्नत होने के विषय में दो सम्मतियाँ नहीं हो सकतीं—सभी ऐसा चाहते हैं। जो लोग भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्होंने तो सदा स्पष्ट शब्दों में यही कहा है कि प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति में बाधा न देकर, किसी प्रकार का रोड़ा न अटकाकर, एक राष्ट्रभाषा को विकसित करना चाहिए, क्योंकि हमारे-जैसे विशाल देश में यदि कोई ऐसी देशी भाषा हो सके, जिसमें एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियों से विचार-विनिमय कर सकें, तो राष्ट्रीय उन्नति में बड़ी सहायता मिले। इसी उद्देश को लेकर प्रायः तीस वर्ष से कुछ विचारवान नेता आन्दोलन करते आये हैं। जब से महात्मा गाँधी ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया है, तब से इस ओर बहुत-कुछ कार्य भी हुआ है। इससे पहले भी महाराष्ट्र तथा गुजरात-प्रान्तवालों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने व बनाने की आवाज उठायी थी, और अब तो प्रायः सभी प्रान्तों के लोगों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया है कि राष्ट्रभाषा का स्थान ग्रहण करने योग्य यदि कोई स्वदेशी भाषा है, तो वह हिन्दी ही है। आरम्भ ही से इस ओर हमारे बंगाली भाइयों की उदासीनता प्रकट होती रही है, यद्यपि उनमें भी कुछ ऐसे नेता अवश्य हुए हैं, और हैं, जो 'हिन्दी' की राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता स्वीकार कर चुके हैं, और इस ओर प्रयत्नशील भी रहे हैं। बंगालियों को बंगाल तथा बंगला-भाषा से विशेष प्रेम है, और अपने प्रान्त तथा अपनी मातृभाषा से प्रेम होना सर्वथा स्तुत्य भी है परन्तु यह प्रेम इतना संकुचित न होना चाहिए, जो दूसरे प्रान्त तथा दूसरी भाषा का उत्कर्ष देखकर बुद्धि को भ्रष्ट कर दे। जहाँ-जहाँ और जब-जब मौका मिला है, बंगालियों ने हिन्दी को नीचे ढकेलने

की कोशिश की है। यह हिन्दी का गौरव है कि इतना होने पर भी उसकी प्रधानता और लोकप्रियता में व्याघात नहीं पहुँचा। हम समझते हैं; यदि बंगला को राष्ट्र-भाषा का पद सुशोभित करने का सौभाग्य मिला होता, तो कविवर रवीन्द्रनाथ कदापि राष्ट्रभाषा के महत्त्व से इनकार न करते। क्या वह समझते हैं कि ऐसी भाषा की आवश्यकता ही नहीं, जिसमें एक मदरासी भाई एक पंजाबी से बात कर सके? यदि ऐसी भाषा न होती, तो वह किस प्रकार मदरासी विद्यार्थियों पर अपने विचार प्रकट करते। क्या अँगरेजी में विचार प्रकट करते समय हमारे कवीन्द्रजी इस बात को भूल गये थे कि वह न तो अपनी प्रान्तीय भाषा बंगला में बोल रहे हैं, और न श्रोताओं की प्रान्तीय भाषा तामिल इत्यादि में। फिर क्यों उन्होंने इस अनावश्यक और लचर विचार को अपने मुख से निकाला कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारे चित्त में उनके लिए बड़ा आदर है। उन्होंने संसार-भर में भारत का मुख उज्ज्वल किया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसी कारण से, इतने बड़े आदमी के मुँह से ऐसी थोथी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है। हम समझते हैं, न केवल राष्ट्रभाषा के महत्त्व का प्रश्न, बल्कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानते और बनाने का प्रश्न देश-भर के लोगों में इतना हृदयंगत हो गया है कि उसको हिलाने-डुलाने की सामर्थ्य अब किसी में नहीं है। कवीन्द्र-जैसे प्रभाव-शाली और सम्मानित नेताओं से आशा की जाती है कि वह उसे सहारा देकर और भी समुन्नत करेंगे, और किसी प्रसंग से भी ऐसे शब्द न निकालेंगे, जिनका असर बनते हुए काम को बिगाड़नेवाला हो।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1934 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## भारतेन्दु-अर्द्धशताब्दी

हिन्दी के विकास के इतिहास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपने अल्प जीवनकाल में हिन्दी की बड़ी सेवा की, और अपना नाम अमर कर गये। आधुनिककाल में हमारे साहित्य को कोई दूसरा भारतेन्दु के समान प्रतिभाशाली कवि तथा लेखक नहीं मिला, और न किसी दूसरे को इतनी प्रतिष्ठा और सम्मान ही प्राप्त हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन भी एक मूर्तिमान काव्य था। और, उनका रहन-सहन, सहृदयता और उदारता हमारे चित्त को इतना आकर्षित कर लेती है कि कभी-कभी तो उनका काव्य पढ़कर उसका उचित मूल्य निर्धारित करने की इच्छा ही नहीं रहती। जिस कवि के जीवन ने हमारे दिलों में इतना घर कर लिया हो, उसकी स्मृति बनाये रखना हमारा परम कर्तव्य है। जो कुछ भी भारतेन्दु का वास्तविक कार्य है, वही उनको अमर बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। उनके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सदा से हिन्दी-संसार ने उनका कृतज्ञतापूर्वक आदर किया है। हमें विश्वास है, सभी संस्थाएँ और हिन्दी-प्रेमी अर्द्धशताब्दी मनाने में पूर्ण योग देंगे, और अपने परम-प्रिय कवि की स्मृति में हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करेंगे। साथ-ही-साथ हम हिन्दी के सब वर्तमान हितैषियों तथा लेखकों से अनुरोध करते हैं कि भारतेन्दु-कृत मुख्य-

मुख्य ग्रन्थ अवश्य पढ़ें। हम लोगों में पढ़ने की रुचि दिन-पर-दिन कम होती जाती है। हम लोग पढ़ते कम हैं, बनते बहुत हैं। इसी कारण हमारे बहुत-से उदीयमान लेखक हिन्दी की प्रकृति से अनभिज्ञ होते जाते हैं, और उन्हें अपने भाव ऐसे शब्दों में प्रकट करने पड़ते हैं, जिनको समझने में पाठकों को कठिनता होती है —जो भाषा प्रौढ़त्व को प्राप्त हो चुकी है, उसके प्रौढ़त्व का लाभ उन्हें नहीं मिलता, और एक नवीन भाषा का अवांछित प्रादुर्भाव होता जाता है, जिसके प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने में काफी समय लगेगा। इस प्रकार पुराने और आधुनिक काल के आचार्यों की कृतियों का अनुशीलन नहीं करने से हम बड़े मूल्यवान समय का अपव्यय कर रहे हैं, और अपने घर की सम्पत्ति से उचित लाभ नहीं उठाते। हम सभी प्राचीन लेखकों पर रायजनी करने के लिए सदा तैयार रहते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं समझते कि उनका एक बार सत्यनिष्ठा के साथ अध्ययन तो कर लें। इस ढोंग से हिन्दी के स्थायी हित की हानि है, और इसे जितना शीघ्र हो सके, दूर करना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का कर्तव्य है। अर्द्धशताब्दी मनानेवालों को भारतेन्दु के ग्रन्थ भी एक बार पढ़ने का संकल्प अवश्य करना चाहिए। वे सब सुलभता से मिल सकते हैं, और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा भी, जिसके श्रेष्ठ प्रकाशन और प्रचार-कार्य से सभी साहित्य-संसार सुपरिचित है, एक नया संस्करण निकालने जा रही है। जहाँ हमें इस बात पर सन्तोष है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का पूरा-पूरा मान किया जाता है, वहाँ इसका खेद भी है कि उनके ग्रन्थों को बिना देखे-पढ़े ही उनकी प्रशंसा करने का रोग बढ़ता जाता है। आशा है, कुछ काल और व्यतीत हो जाने पर हम उनका उचित मूल्य निर्धारित कर सकेंगे, और उनको हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों और आचार्यों की मण्डली में उस स्थान पर प्रतिष्ठित कर देंगे, जो उनके योग्य है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उनका स्थान सदा ऊँचा रहेगा, और पक्षपात, प्रेम तथा अनभिज्ञता के कारण जो व्यर्थ की स्तुति कभी-कभी कर दी जाती है, उसके दूर होने पर भी वह हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## लखनऊ-विश्वविद्यालय और हिन्दी

पिछले महीने हम लखनऊ-विश्वविद्यालय में हिन्दी की अवहेलना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं, और बतला चुके हैं कि अभी तक यहाँ हिन्दी एम. ए.-परीक्षा तक स्वीकृत नहीं हो पायी है। इन प्रान्तों में केवल यही एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जहाँ अभी तक हिन्दी को उस स्थान के योग्य नहीं समझा गया है, जिसके योग्य उसे अन्य प्रान्तों के विश्वविद्यालय बहुत पहले समझ चुके हैं। इस सम्बन्ध में दो-एक बातें और भी जान लेना आवश्यक है। पहले, जब लखनऊ-विश्वविद्यालय स्थापित ही हुआ था, उर्दू-हिन्दी को बी. ए.-परीक्षा के लिए भी वह स्थान नहीं दिया गया था, जो अन्य भाषाओं तथा विषयों को प्राप्त था। कई वर्ष बाद हमारे प्रान्त की दोनों आधुनिक भाषाएँ इस योग्य समझी गयीं कि विश्वविद्यालय की नीची-से-नीची परीक्षा के लिए पाठ्य-विषय का पद पाने की

अधिकारिणी मान ली जायँ। इस सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ से और जैसे-जैसे हिन्दी-उर्दू का विरोध हुआ था, उसके जाननेवाले अभी तक मौजूद हैं। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं कि यदि उस समय लखनऊ-विश्वविद्यालय में हमारे प्रिय मित्र स्वर्गीय पं. बदरीनाथ भट्ट हिन्दी-अध्यापक न होते, तो शायद हिन्दी तो बिलकुल ही उठा दी गयी होती। स्वर्गीय भट्टजी की प्रतिभा और प्रभाव का ही दम था, जो हिन्दी का अस्तित्व यहाँ कायम रहा। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति में विरोध, कोर्ट में विरोध और—खेद और आश्चर्य की बात है—अन्य विश्व-विद्यालयों के हिन्दी-विभाग द्वारा उकसाया हुआ विरोध! खैर, इस अन्तिम विरोध के प्रसंग को इस समय यहीं रहने दीजिए, विश्वविद्यालय के कोर्ट तथा अन्य समितियों के विरोध का कुछ विश्लेषण सुन लीजिए। कुछ लोग तो इस विचार के हैं कि केवल अँगरेजी-भाषा का प्रचार होना चाहिए, उसमें विज्ञान तथा साहित्य के लिए सभी कुछ है, और व्यर्थ में ऐसी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन में समय नष्ट नहीं करना चाहिए, जिनमें आधुनिक विचार प्रकट करने के लिए शब्द भी नहीं और यदि शब्द गढ़ भी लिये जायँ, तो उन्हें पढ़ने-समझनेवाले नहीं। जिन लोगों के ऐसे विचार हों, और शुद्ध हृदय से प्रेरित हों, उनके साथ, उनकी कम-समझी के साथ कुछ सहनशीलता से काम लिया जा सकता है। और, आशा भी की जा सकती है कि कभी अवसर पाकर वह भी अपनी मातृभाषा का महत्त्व समझ जायँगे, और चूँकि हृदय के साफ हैं, ढंग पर भी आ जायँगे। परन्तु विरोधियों में एक किस्म और भी थी। अन्य प्रान्तों के निवासी ये लोग इस भाग्यहीन अवध-प्रान्त को शिक्षा देने के लिए कटि-बद्ध होकर, केवल उतना ही मासिक वेतन स्वीकार कर, जितना अन्यत्र कहीं भी न मिल सका, टूट पड़े हैं, और, इनको यह बात स्वप्न में भी गवारा नहीं कि हिन्दी को किसी प्रकार का महत्त्व दिया जाय। अपने प्रान्त में अपनी मातृभाषा के हिमायती हैं, उसकी उन्नति चाहते हैं, उसमें लिखते-पढ़ते हैं, अपने प्रान्त से बाहर अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की तथा कवि-कोविदों की प्रशंसा के पुल बाँधने को सर्वदा तत्पर रहते हैं, परन्तु यहाँ आकर यहाँ की मातृभाषा की उन्नति में रोड़े अटकाना अपना परम धर्म समझते हैं। हिन्दू-सभा के नेता बनते हैं; हिन्दुओं के अकिंचन स्वत्वों के लिए बड़ी-बड़ी युक्तियाँ देते हैं, लेकिन हिन्दी के अभ्युत्थान में हिन्दुओं का हित जरा भी नहीं मानते। शायद डरते हैं कि यदि हिन्दी का उत्कर्ष हो गया, तो उनकी उन्नत मातृभाषा के राष्ट्रभाषा बनने में एक बाधा और भी खड़ी हो जायगी। ऐसी ही कुछ विचार-तरंगें उनके मन में उठती होंगी। हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते कि वे क्या हैं, परन्तु इतना अवश्य सोच सकते हैं कि वे अवश्य संकीर्णता, नीचता और स्वार्थ की उपज हैं। लखनऊ-विश्वविद्यालय के कार्य-विवरण देखने से पता चलता है कि ऐसे लोगों ने हिन्दी के मार्ग में अड़ंगे लगाने में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। कभी किसी नियम की रोक लगायी, कभी प्रश्न को ही स्थगित कराकर हिन्दू-हितों को नष्ट होने से बचा लिया! सारांश यह कि हर पहलू पर लड़े, और हिन्दी-हित को आगे बढ़ने न दिया। कुछ स्वार्थरत हिन्दी-भाषियों ने भी उनका साथ दिया, क्योंकि यदि ऐसा न करते, तो अपना मतलब सिद्ध करने में उनकी सहायता कैसे मिलती! हम लोग, जो हिन्दी को विश्व-विद्यालयों में प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं, जरा सोचें, और आगे के लिए कुछ समझ-बूझकर अन्य प्रान्तवासियों को अपने यहाँ बुलावें। भविष्य में ऐसे आदमी ही बाहर से बुलाये जायँ, जो कम-से-कम 'जिसका खाना, उसका गाना' इस सिद्धान्त के माननेवाले तो हों; यह नहीं कि 'मियाँ की जूती, मियाँ का सर' करें।

हिन्दी की उन्नति के लिए अनिवार्य है कि हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक—सब विषयों के अध्यापक—हिन्दी पढ़े हों, हिन्दी जानते हों, और हिन्दी के हित-चिन्तक हों। हमारे लिए आवश्यक है कि हम यह आन्दोलन करें कि इसी प्रान्त के योग्य विद्वान हमारे विश्वविद्यालयों में अध्यापक बनाये जायँ। जो अन्य भाषाभाषी हैं, और हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते, उन्हें कभी कहीं नियुक्त न किया जाय, और यदि कहीं पहले से ही हों, तो उन्हें हटाने का प्रयत्न निर्भय और निस्संकोच होकर किया जाय। इस आन्दोलन को उठाने से उन लोगों के होश जल्दी ही ठिकाने आ जायँगे, जिन्होंने किसी कारण हिन्दी या उर्दू का विरोध करने का ठेका-सा ले लिया है। यदि वास्तव में हम चाहते है कि हिन्दी को उसके उपयुक्त आदर और सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित करें, तो हमारा यह कर्त्तव्य है—बुद्धिमानी का यह तकाजा है—कि केवल हिन्दी-हितैषी सज्जनों का ध्यान इस ओर आकर्षित कर ही चुप न हो जायँ, बल्कि उन शक्तिशाली व्यक्तियों की भी पूरी-पूरी खबर लें, जिनकी हिकमतअमली से हिन्दी को अपना अधिकृत स्थान नहीं मिलने पाता। इतना करने पर ही कहा जा सकेगा कि हिन्दी-भाषियों ने अपनी मातृभाषा के लिए वह सब कर दिया, जिसकी उनसे आशा थी, और जो उनका परम धर्म था। भक्तों की तरह कोरी भावनाओं के प्रदर्शन से कुछ होना नहीं। विरोध की जड़ काटिए, विरोधियों को निर्मूल कीजिए, तभी सब काम होगा।

हिन्दी की उन्नति के लिए एम. ए. में हिन्दी पढ़ायी जाने की व्यवस्था होने से यह अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक हिन्दी-भाषी हों। तभी तो विद्यार्थियों में अपनी मातृभाषा से प्रेम होगा, बड़े-से-बड़े विचार हिन्दी में प्रदर्शित करने की योग्यता आवेगी, और उच्च-से-उच्च साहित्य का प्रादुर्भाव हिन्दी में होने लगेगा। यदि अँगरेजी, इतिहास अथवा अर्थशास्त्र का अध्यापक हिन्दी-प्रेमी है, तो कहाँ तक उसके विद्यार्थी इन सब विषयों के नवीन-से-नवीन विचारों से अपनी मातृभाषा का भण्डार न भरेंगे। अब तो अध्यापकों से वे उसे तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखना सीखते हैं। अँगरेजी-साहित्य के भी जो विचार हिन्दी में दिखलायी पड़ते हैं, वे भी अँगरेजी के आचार्यों से सीखने-पढ़ने के बाद विद्यार्थीगण नहीं लिखते, या तो स्वयं अध्ययन करते हैं, या अपने हिन्दी-अध्यापकों से सुनते हैं। स्वयं अध्ययन करके पूर्णतया समझना कठिन है, और ऐसे अध्यापकों से, जो अँगरेजी-साहित्य में पारंगत नहीं, ज्ञान प्राप्त करना भयावह है। इसी कारण अँगरेजी विचारों की प्रायः छीछालेदर देखने को मिलती है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## कथानक का विकास और फिल्म-निर्देशन

किसी फिल्म की सफलता के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक मानी गयी है कि उसका कथानक शृंखलाहीन न हो। कथानक का उचित विकास डाइरेक्टर की प्रतिभा और अनुभव की सच्ची कसौटी पर निर्भर है। कथानक ही किसी चित्रपट को सफल या असफल बनाता है। क्रम से पृथक और प्रवाह से विमुख दृश्य, चाहे

वे कितने ही भड़कीले और सुन्दर क्यों न हों, चित्रपट के लिए किसी काम के नहीं समझे जाते। निर्माणशाला (Studio) के कार्यकर्ताओं की कुशलता का अन्दाजा चित्रपट के कथानक का विकासक्रम देखकर ही लगाया जा सकता है। हिन्दोस्तानी फिल्मों में प्रतिदिन दिखायी देनेवाली सैकड़ों अक्षम्य त्रुटियाँ हिन्दोस्तानी कम्पनियों के कार्यकर्ताओं की लापरवाही, जल्दबाजी और उत्तरदायित्वहीनता की परिचायक हैं। सचमुच ही भारतवर्ष के फिल्म-व्यवसाय के लिए यह बड़े ही कलंक की बात है।

कम्पनीवालों का यह कहना कि इतनी छोटी-छोटी भूलों पर ध्यान ही कौन देता है, बिलकुल व्यर्थ है। किसी भी समझदार दर्शक की आँखों से वे भूलें छिप नहीं सकतीं। हमारे विचार से ८५ प्रतिशत फिल्म-दर्शक उन भूलों को समझकर उन पर हँसते हैं। हाँ, ऐसे शहरों की, जहाँ सिनेमा का प्रचार प्रारम्भ ही हुआ हो, बात ही दूसरी है। वहाँ पर 'अन्धों में काना राजा' की दुहाई देते हुए सड़ी-गली फिल्में भी कुछ-न-कुछ कमा ही लेती हैं। दर्शक यद्यपि एक आलोचक की दृष्टि से फिल्म को भले ही न देखता हो, फिर भी उसे यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक-अमुक स्थानों पर कथानक की त्रुटियाँ आ गयी हैं। उसे यह तुरन्त ही जान पड़ता है कि फिल्म में एक अभाव, एक कमी, एक असत्यता है, जो कथानक के प्रवाह को नष्ट कर रही है, चाहे फिल्म कितनी ही सुन्दर और डाइरेक्शन की दृष्टि से उत्तम क्यों न हो। यही हाल दृश्यावली और सेटिंग्स का है, जिसकी पूर्णता किसी भी फिल्म के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी पर कथानक का मुख्य आधार रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथानक का विकास क्रमश: दो बातों पर अवलम्बित है, और निर्माणशाला के दो प्रमुख विभाग उस कार्य के उत्तरदायी रहते हैं—पहला है कला-निर्देशक (Art Director), और दूसरा है फिल्म-निर्देशक (Film Director)। हमने लेखक (Author) का उल्लेख जान-बूझकर छोड़ दिया, क्योंकि उसका फिल्म-जगत में कोई अस्तित्व ही नहीं, कोई स्थान ही नहीं। उसका कथानक निर्देशक के द्वारा परिवर्तित, परिवर्द्धित, संशोधित होकर संक्षेप में कट-पिटकर, सत्यनाश होकर सिनेमा के पर्दे पर आता है। इसलिए जब तक लेखक को फिल्म-निर्माण में स्वतन्त्रता से सम्मति देने का अधिकार नहीं प्राप्त होता, तब तक उसे कथानक के अच्छे या बुरे होने का उत्तरदायी ठहराना उसके साथ भयंकर अन्याय होगा! अस्तु।

प्रमुख विषय पर लौटते हुए हम पहले कला-निर्देशक के कार्य की ओर दृष्टि डालते हैं। जैसा पहले लिखा जा चुका है, सेटिंग्स की उपयुक्तता कथानक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कथानक में वर्णित दृश्यावली को पहले ही सोचकर तैयार कर लेना चाहिए, और उसका पूरा प्रबन्ध रखना चाहिए। कला-निर्देशक बाह्य एवं अन्तरंग दृश्यों को चित्रित करने के प्रथम यदि यह निश्चित कर ले कि उन दृश्यों का चुनाव सर्वोत्तम हो, तो वह सफलता पा सकता है। परन्तु आजकल हम देखते हैं कि बिलकुल उल्टी बात हो रही है। कला-निर्देशक केवल एक दिन का कामचलाऊ दृश्य सोच लेगा, और दूसरे दिन की चिन्ता न करेगा। कल की कल देखी जायगी, इस विचार के आते ही कथानक की श्रृंखलाहीनता का आरम्भ हो जाता है। दृश्यों का तारतम्य ठीक न रहने से फिल्म में कलात्मक त्रुटियों का होना अवश्यम्भावी है। कथानक का मुख्य भाग इस प्रकार कला-निर्देशक के हाथों नष्ट किया जाता है। दूसरे, हमारे आजकल के अधिकांश आर्ट-डाइरेक्टर किसी भी

दृश्य का चित्रण (Shooting) करते समय मनोवैज्ञानिक प्रभाव की ओर ध्यान नहीं देते। किसी एक सीन में भिन्न-भिन्न कार्यावस्थाओं (Stages of Action) का समावेश चित्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि कला-निर्देशक उनकी पृथक-पृथक क्रमागत सूची तैयार कर ले, और तब काम शुरू करे। भारतीय फिल्म-कम्पनियाँ इस विषय को कोई महत्त्व नहीं देतीं। और, यदि उनकी त्रुटियाँ बतलायी जाती हैं, तो उत्तर मिलता है—जल्दी में यह बात हो गयी, क्या किया जाय, समय नहीं था!

दूसरा उत्तरदायित्व है फिल्म-निर्देशक का, जो कथानक को इच्छानुसार रूप देकर फिल्म की सफलता या असफलता का कारण बनता है। कथानक में वर्णित पात्रों का चरित्र-चित्रण, अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का उचित चुनाव, उनको भाव-प्रदर्शन की शिक्षा देना आदि-आदि कार्य उसे करने पड़ते हैं। हिन्दोस्तानी फिल्मों में डाइरेक्टरों की योग्यता के विषय में कुछ कहने के बदले हम पाठकों से यही कहेंगे कि वे स्वयं ही फिल्मों को देखकर समझ लें। इस विषय की आलोचना ही व्यर्थ है। अच्छा और बुरा, दोनों का अस्तित्व प्रत्येक स्थान में होना अनिवार्य है। फिर भी हमारे अधिकांश चित्रपट अच्छे कहलाने की अपेक्षा बुरे ही कहलाते हैं। इसका कारण उचित डाइरेक्शन का अभाव है। कथानक को सँभालना और उसे जनरुचि के अनुकूल बनाना एक कुशल डाइरेक्टर का कार्य होता है। भारतीय फिल्मों में कहानियाँ इसीलिए अधिकांश में बुरी आती हैं, क्योंकि आजकल के डाइरेक्टरों की योग्यता सीमित है, और वे अपने कार्य के उत्तरदायित्व को नहीं समझते। उनका यह कार्य कथानक-लेखक के महत्त्व को छिपाये हुए है, किन्तु यह निश्चय है कि ज्यों-ज्यों देश में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों प्रतिष्ठित हिन्दी लेखक भी, अधिक आमदनी के लोभ के कारण, सिनेमा की ओर झुकेंगे, और तब सम्भव है कि कथानक-लेखक का पद डाइरेक्टर के पद से नीचा न रहकर ऊँचा हो जाय। भारतीय सिनेमा-व्यवसाय का भविष्य बहुत उज्ज्वल है और आगे चलकर वही कम्पनी सबसे अच्छी चलेगी, जिसमें धनिकों और प्रतिष्ठित कवि-कोविदों का सहयोग होगा। क्या इन प्रान्तों के रईस फिल्म-प्रेमी सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवियों का सहयोग प्राप्त करके कोई श्रेष्ठ फिल्म-कम्पनी खोलने का शीघ्र ही आयोजन करेंगे?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## साहित्य का प्रचार

जहाँ हिन्दी-विश्वविद्यालय-जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य की हमारे यहाँ कल्पना होती है, वहीं साहित्य के अनध्ययन को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। एक हिन्दी-विश्वविद्यालय जितना महत्त्व रखता है, एक उच्च कोटि का साहित्यिक उससे कहीं अधिक महत्त्व। प्रतिभा की पुष्टि पुस्तकों के प्रचार से होती है। यह निर्विवाद है कि प्रतिभाशाली साहित्यिकों के आने पर अनुकूल वातावरण आप तैयार हो जाता है, और आज हिन्दी की हितकामना से जो कार्य हो रहे हैं, इनके मूल में हमारे

प्रतिभाशाली साहित्यिकों की प्रेरणा निहित है। पर हमें जो स्थूल रूप इस समय देख पड़ता है, वह अत्यन्त असन्तोषजनक है। हिन्दी में जो अच्छे-अच्छे कवि, नाटककार, औपन्यासिक और निबन्ध-लेखक हैं, उन्होंने हिन्दी के पीछे तो अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, पर हिन्दी-भाषियों ने उनकी तरफ वैसा ध्यान नहीं दिया—शतांश भी नहीं। वे साहित्यिक इस समय जिस कठिनता का सामना कर रहे हैं, उसे देखकर किसी भी सहृदय की आँखों में आँसू आ जायँगे। चुपचाप वे आर्थिक कष्ट को सहन करते हुए साहित्य का निर्माण करते जा रहे हैं। बदले में उन्हें अनधिकारी साहित्यिकों से लांछन और असंस्कृत जनता से अनादर प्राप्त हो रहा है; उनकी कृतियों की जैसी बिक्री होनी चाहिए थी, नहीं होती, इसलिए उन्हें पारिश्रमिक जिस हिसाब से मिलना चाहिए था, नहीं मिलता, फल यह होता है कि उनके आर्थिक कष्ट दिन-पर-दिन बढ़ते जा रहे हैं। प्रकाशक उन्हें आर्थिक सहायता तभी दे सकता है, जब उनकी किताबों की बाजार में खपत हो। हमारे देश में धनी-मानी सज्जनों की कमी नहीं, पर भाषा-प्रेम उनमें बहुत थोड़ा है। जो कुछ है, वह अँगरेजी से है। सुघर मार्जित भाषा में लिखी, अच्छे भावों की हिन्दी-किताब उन्हें नहीं भाती, और वे ऐसे अपठित भी नहीं कि समझ न सकें, पर नहीं, वे अँगरेजी की पुस्तक खरीदेंगे, चाहे वह रद्दी-से-रद्दी क्यों न हो।

एक तो यह अड़चन है। उस पर तुर्रा यह कि 'नाम बड़े दर्शन थोड़े' वाले महाशय भी हैं, जो आचार्य द्विवेदीजीवाला अधिकार लेना चाहते हैं, पर अक्ल देखिए, तो तरस आये, बराबर सत्साहित्यिकों के विरुद्ध प्रचार करते जा रहे हैं। एक तो ऐसे ही जनता अन्धी, दूसरे जो कुछ आँख रखनेवाले हैं भी, उनकी आँखों में धूल झोंकने का काम आपने अख्तियार कर लिया है। अन्य भाषाओं के साहित्यिकों के तलवे चाटेंगे, दूसरों का प्रभाव हिन्दी-भाषियों पर, कतरे में दरिया बहाते हुए, छोड़ेंगे; पर अपने यहाँ के सच्चे, त्यागी, अध्यवसायी, दूरदर्शी, विद्वान साहित्यिकों की राह रोकेंगे। इसका कारण यह कि प्रतिभाशाली साहित्यिक इन भावी द्विवेदीजी महाराज को रोकते नहीं—इनका सच्चा रूप पहचानते हैं।

जनता अज्ञ होती है। उसे सुझाना पड़ता है। पुनः शिक्षितों में साहित्यिक प्रेम पैदा किया जाता है। महात्मा गाँधी को यह पता तो हो गया कि हिन्दी में अश्लील साहित्य का प्रचार बढ़ रहा है, यह अवश्य उनके हिन्दी-भाषी भक्तों—विशेषकर ऐसे ही भावी द्विवेदीजी महाराजों-से की कृपा का फल है। पर यह किसी ने न सुझाया कि हिन्दी के सत्साहित्य की इस प्रकार इन-इनसे, इतनी अभिवृद्धि हुई। यहाँ मनोभाव साफ पकड़ में आ जाता है। ऐसे आदमियों के अतिरिक्त कुछ शिक्षितों का दल और है, जो करता तो कुछ नहीं, पर बातें लम्बी-चौड़ी हाँकता है—"हिन्दी में क्या है! हिन्दीवाले जानते ही क्या हैं! साहित्य-साहित्य करते हैं, पर क्या जानते हैं, साहित्य किस चिड़िया का नाम है!" ये सब ऐसी इतर वृत्ति के ज्ञापक हैं, जिसका वर्णन नहीं। इसके सुधार के लिए हमें खण्डन-पक्ष को छोड़कर, दलबन्दी के भावों से अलग होकर मण्डन-पक्ष को ग्रहण करना होगा। दूषित वातावरण दोष-प्रदर्शन से नहीं नष्ट होता; सद्विवेचन ही उसे दूर कर सकता है। हम जानते हैं, यह समयसापेक्ष है, अभी इसके लिए कुछ देर है, अभी कितने ही सत्साहित्यिकों की बलि चढ़ेगी, तब कहीं लोग कुछ होश में आयँगे। पर फिर भी, उद्यम तो हमें अभी से करना चाहिए।

जो साहित्य उन्नत दशा में हो और बहुत तीव्र गति से और भी समुन्नत हो रहा हो, उसकी पठित जनता को ऐसा न होना चाहिए, उसे अपने साहित्य और

साहित्यिकों का गर्व होना चाहिए। उसे दूसरे साहित्यिकों से बातचीत में कदापि नतमस्तक न होना चाहिए। पहले जब रूसी साहित्य अधम दशा में था, फरांसीसी रूसवालों को नीच दृष्टि से देखते थे, जैसे जीता हुआ हारे हुए को देखता है। पर यह हालत जब बदली, धीरे-धीरे रूसी साहित्य ने टॉलसटॉय को जन्म दिया, तब उसकी और ही प्रतिष्ठा हो गयी। अब अपनी विशेषता के कारण यह संसारमान्य है। अँगरेजी भी फ्रेंच से प्रभावित थी। पर युग-प्रवर्तन में जब अँगरेजी साहित्यिकों ने निगाह बदली, तब उसका भी सम्मान बढ़वाया। यही हाल अमेरिका का रहा। इरविन के समय तक अमेरिका इंगलैण्ड के साहित्य से प्रभावित रहा। पर जब उसी अँगरेजी में उसने भी विशेषता पैदा की, तब उसकी दूसरी दशा हो गयी। किसी बंगाली से बातचीत कीजिए, वह अपने साहित्य, अपने साहित्यिकों और अपनी विशेषता के सामने दूसरों को तुच्छ समझेगा। अभी उस दिन की बात है; शायद एच. जी. वेल्स का लिखा 'विना शरीर का मनुष्य' (टाकी) हो रहा था। हमारे सामने एक बंगाली महिला बैठी थी। जब विना शरीरवाला मनुष्य भोजन करने लगा, तब उसने हँसते हुए अपने घरवालों से पूछा—"इसके शरीर नहीं है, तो यह खाता कैसे है?" कैसी चुभती आलोचना थी? इसका मतलब यह था कि यह आदमी जब कि गायब हो जाता है, तो इसके पेट में जो यह खाना गया, यह कैसे गायब हो जायगा? वहीं हिन्दीवाले मुँह फैलाये तअज्जुब की निगाह से देख रहे थे। इस प्रकार के मस्तिष्क के सृजन का श्रेय साहित्य को है, और तब, जब उचित रीति से उसका निर्माण और प्रचार किया जाय। बंगाल की महिलाएँ बंकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदन, गिरीशचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, डी. एल्. राय और शरच्चन्द्र-जैसे साहित्यिकों को पढ़कर वही वस्तु पाती हैं, जो संसार के सभ्यतम मनुष्य और महिलाएँ अपने-अपने साहित्य में। पर हिन्दी में आधुनिक उत्तम साहित्य की क्या दशा है? कोई कहता है, समझ में नहीं आता; कोई कहता है, कुछ है ही नहीं; कोई कहता है, अश्लील है। कोई विरोध करने पर ही तुला हुआ है। पर सत्य यह है कि हमारे प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ साहित्यिक सब तरह स्तुत्य हैं, उनको अधिकाधिक पढ़ना ही हिन्दी के मार्ग को प्रशस्त करना और राष्ट्रभाषा में मुखर होना है।

बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे वहाँ भी वकील, बैरिस्टर, डॉक्टर और उच्च कोटि के विद्वान, धनी-मानी, राजे-महाराजे हैं, पर हिन्दी की हित-चिन्तना की ओर उनका ध्यान नहीं। वे शिक्षा के द्वारा हुई संस्कृति को नहीं समझते। तीर-कमान लेकर ही राक्षसों के पीछे पड़े हैं, या भीम की गदा की राह देखते हैं। कितना ढोंग, कितना अज्ञान हिन्दी में पुज रहा है, कितना बड़ा अनादर आँख खोलनेवाले साहित्यिक पा रहे हैं!

अपनी भाषा और अपनी श्रेष्ठता का ज्ञान ही यथार्थ मनुष्यत्व है। हमारे ऊपर अनेक प्रकार के भूत सवार हैं। इन सबको दूर करने के लिए हमें गाँव-गाँव हिन्दी के वाचनालय खुलवाने और साथ ही प्रतिवर्ष यथाशक्ति हिन्दी की नवीन रचनाएँ खरीदकर अपनी और अपनी गृहदेवियों की संस्कृति को समयानुकूल करना चाहिए। इससे अपना, देश और समाज का कितना बड़ा कल्याण है, इसके समझाने की अपेक्षा अब नहीं रही, अपेक्षा सहयोग और कर्म की है। तभी हमारा कल्याण होगा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## सम्मेलन और महात्माजी

इस बार इन्दौर-सम्मेलन के सभापति महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में कई लेख हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक पं. लक्ष्मीधरजी वाजपेयी के लिखे, पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ लोगों ने वाजपेयीजी को प्रतिकूल उत्तर भी लिखे। कुछ उनके समर्थक भी रहे। प्रतिकूल उत्तर देनेवालों ने विषय की समीक्षा कम की। जिन्होंने वाजपेयीजी के विरोध में अपशब्द लिखे, उनका मनोभाव स्पष्ट है—वे महात्माजी के अनन्य भक्त हैं। जिन्होंने धन की प्राप्ति का लोभ-रूपी कलंक वाजपेयीजी के मत्थे मढ़ा, उन्होंने यह विचार नहीं किया कि यह धन वाजपेयीजी के यहाँ न पहुँचकर सम्मेलन के कोष में पहुँचता था। सम्मेलन वाजपेयीजी का घर नहीं।

'सुधा' में अन्यत्र वाजपेयीजी का नया लेख प्रकाशित है। हमें उनके वक्तव्य में अयौक्तिक कुछ नहीं मालूम दे रहा। यह अवश्य है कि महात्माजी के सम्बन्ध में इससे कुछ और मुलायम भाषा का प्रयोग ठीक होता। पर, जान पड़ता है, वाजपेयीजी के हृदय का सत्य प्रखर रूप से प्रकट हुआ है। वह अपने भावों को कृत्रिम शिष्टता की रंगामेजी से नहीं ढक सके।

उनका यह कहना ठीक है कि महात्माजी सम्मेलन के सभापति होकर गये थे। अर्थ सम्मेलन को भी चाहिए। प्रचार सम्मेलन के द्वारा आसाम और सिन्ध आदि प्रान्तों में किया जा सकता था। फिर महात्माजी ने मदरास के लिए ही इतना जोर क्यों दिया, और उस हालत में, जब दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा अपने पैरों खड़ी होकर अब सम्मेलन से स्वतन्त्र कर दी गयी है।

यह भी सत्य जान पड़ता है कि महात्माजी को उनके भक्तों ने जैसा सुझाया, वह सम्मेलन के अनुकूल न था।

महात्माजी ने जिन लोगों के नाम गिनाकर अपने भाषण में महत्त्व दिया है, वे महात्माजी के भक्त हो सकते हैं, पर हिन्दी-साहित्य में उनका कोई उल्लेख-योग्य स्थान नहीं। इससे हिन्दी-साहित्यिकों की दृष्टि में महात्माजी का सम्मान-वाला स्थान कुछ घट गया है। महात्माजी ने पं बनारसीदासजी चतुर्वेदी की सहायता से रामानन्द बाबू के 'विशाल भारत' निकालकर हिन्दी के प्रचार का जो उल्लेख किया है, वह महात्माजी की महत्ता का परिचायक तो है, पर दूरदर्शिता का नहीं। हमारा तो विचार है कि हिन्दी में बंगाली साहित्यिकों की धाक जमाने के विचार से रामानन्द बाबू ने बड़े परिश्रम से सम्पादक पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी को खोज निकाला है। चतुर्वेदीजी कुछ दिन श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के यहाँ भी रह चुके हैं। विशाल भारत या बृहत्तर भारत की कल्पना वहीं की है। पर 'विशाल भारत' के ज्ञान और विवेचन के सम्बन्ध में यदि बहस हो, तो पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी वहाँ मौन रहने के सिवा कुछ बोल भी सकते हैं, हमें ऐसा विश्वास नहीं, उन्होंने अब तक अपने इस ज्ञान का प्रदर्शन भी नहीं किया, यदि 'विशाल भारत' के मानी नेटाल नहीं।

महात्माजी ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन से भाषण करते हुए हिन्दी को तीसरा या इससे भी घटकर स्थान दिया है। यह असत्य होने के कारण श्रेष्ठ का अपमान है। प्राचीन व्रजभाषा हिन्दी को मिलाने पर प्रान्तीय कोई भाषा उसका मुकाबला नहीं कर सकती। फिर नवीन हिन्दी, खड़ी बोली के रूप में थोड़े दिनों से प्रचलित हुई है। इतने कम समय के अन्दर इसने जितनी

तरक्की की है, उतनी बंगला-मराठी, किसी ने नहीं की। यहाँ महात्माजी का विवेचन बहुत ही अधूरा जान पड़ता है। हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पी. सी. राय और जगदीशचन्द्र बोस नहीं, और ऐसे नाम और भी गिनाये जा सकते हैं, इसे हम महात्माजी की अधूरी जानकारी समझते हैं। यहाँ महात्माजी ने विज्ञापित मनुष्यों के विज्ञापन की ओर देखा है, प्रतिभा की ओर नहीं।

आज जो कवि आगे बढ़ते जा रहे हैं, महात्माजी ने उनके कार्यक्रम और रचनाओं को नहीं देखा। मुमकिन है, कुछ काल बाद अपने साहित्य में उनमें से किसी का, पूर्ण रूप से विज्ञापित हो जाने के बाद, वही स्थान हो, जो रवीन्द्रनाथ का है। आज भी हिन्दी की अनेक रचनाएँ स्पर्द्धा में बंगला की रचनाओं से घटकर न होंगी। यदि प्राचीन हिन्दी को लें तो तुलसी, सूर, बिहारी, कबीर आदि हिन्दी की तरफ हैं, जिनका काव्य सत्य दर्शन पर प्रतिष्ठित है। तुलसी के सामने किसी कवि को हिन्दीवाले मान जायँगे, यह आशा दुराशा-मात्र है। दूसरे विषयों में भी हिन्दी में अच्छी-अच्छी प्रतिभाएँ अंकुरित हो रही हैं। हमारा मतलब यह है कि महात्माजी के कहने का यह ढंग कुछ सराहनीय न रहा। इस बात को वह दूसरी तरह भी कह सकते थे, यदि उन्हें दूसरों को महत्त्व ही देना था।

अश्लील साहित्य के विषय में महात्माजी ने जो कहा कि हिन्दी में इसका प्रचार बढ़ रहा है, इससे उनकी हिन्दी-साहित्य की जानकारी और स्पष्ट हो जाती है। उन्हें यह तो लोगों ने सुझा दिया, पर यह न सुझाया कि हिन्दी नयी विशालता और नये रूप-रंगों से कहाँ तक पहुँची। फिर बंगला और गुजराती आदि भाषाओं में जो अश्लील साहित्य है, उसकी ओर भी तो महात्माजी का ध्यान आकर्षित करना चाहिए था। पर वह ऐसा क्यों करने लगे। पहली भाषा के सम्बन्ध में रामानन्द बाबू का ख्याल था, और दूसरी के सम्बन्ध में स्वयं महात्माजी का। वाजपेयीजी का इस सम्बन्ध का उल्लेख भी सत्य मालूम देता है।

इस प्रकार वाजपेयीजी का लेख हमें तथ्यपूर्ण जान पड़ता है। हम अपने मित्रों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने सम्बन्ध में कुछ सोचें। हमारी इज्जत तभी हो सकेगी, जब हम स्वयं समय की गति को समझते हुए, साहित्य को प्रश्रय देते हुए एक-दूसरे के मित्र होंगे, और अपनी सहायता करना सीखेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## इन्दौर का हिन्दी-विश्वविद्यालय

अपनी भाषा का विश्वविद्यालय हर एक जाति के लिए गौरव की बात है। यह सर्वमान्य बात है कि जाति को समुन्नत होने का सौभाग्य अपनी ही शिक्षा से प्राप्त होता है। कारण यह कि इससे जीवन के पुष्टिकारक खाद्य अपने ही भीतर से मिलते रहते हैं—बालकों का जातीय शरीर उन्हीं के अनुरूप तैयार होता है, फिर उसी के भीतर उन्हें विश्वात्मा के दर्शन होते हैं। दूसरी भाषा, दूसरी शिक्षा द्वारा —सूक्ष्म रूप से विचार करने पर मालूम होगा —बालकों, युवकों तथा पूर्ण जाति के आध्यात्मिक और आधिभौतिक, दोनों शरीरों को क्षति पहुँचती है, उनका आशानुकूल विकास नहीं हो पाता।

अभी हममें से अधिकांश पूर्ण शिक्षित भी इस तत्त्व को ठीक तौर से नहीं समझते। जिस तरह हम बाहरी स्वतन्त्रता अनेकानेक कारणों से खो बैठे हैं, जो हमारी जाति के पतन के इतिहास में गण्य हैं, उसी तरह शिक्षा द्वारा हमारा आत्मिक भाव भी नष्ट हो गया है। हम हर विषय का विचार अपनी बुद्धि से कम, उस शिक्षा के संस्कारों से अधिक करते हैं। आज जो परिवर्तन हमारे यहाँ लक्षित हो रहे हैं, वे उसी शिक्षा के संस्कार हैं, हमारे प्राणों के मौलिक रूप नहीं। हम दूसरे की नकल करते हैं, वह हमारी अपनी चीज नहीं। मुमकिन है, आज हम अपने समुन्नत होने के जो विचार प्रकट करते हैं, हमारी अपनी शिक्षा के शरीर और मस्तिष्क द्वारा कल वे विचार भिन्न रूप प्राप्त करें। जिस तरह छाँह में रहनेवाले पेड़ की बाढ़ रुक जाती है, वह मुरझाता हुआ एक दिन हमेशा के लिए सूख जाता है, उसी तरह दूसरी शिक्षा द्वारा प्रभावित जाति का जीवन।

पर इसके ये मानी नहीं कि दूसरी शिक्षा हमारे लिए जरूरी नहीं। बिना उसके हम अपनी शिक्षा-प्रगति का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। संसार में, पड़ोसी की दशा के ज्ञान की तरह, दूसरी शिक्षा से समुन्नत राष्ट्र का ज्ञान आवश्यक है। इससे अपनी दशा का सुधार भी होता है। दूसरे राष्ट्र की गतिविधि के अनुकूल अपने को रखने के लिए यह जरूरी है कि दूसरी भाषा की शिक्षा प्राप्त की जाय। जिस तरह दूसरी जगहों से खाद्य की प्राप्ति की जाती है, उसी तरह वास्तव में दूसरे की चाल देखकर अपनी चाल बढ़ायी जा सकती है। फिर हमारा आधुनिक साहित्य तो भौतिक समुन्नतिवाले साहित्य से बिलकुल खाली है। इसकी पूर्ति के लिए दूसरी शिक्षा निहायत जरूरी है।

व्यवसाय की तरह शिक्षा में भी आदान-प्रदान होता है। हमारे देश में यह भावना जाग्रत हो गयी है, और काम भी बहुत कुछ हो रहा है। भारत आध्यात्मिकता के लिए प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक तत्त्व का प्रसार योरप और अमेरिका में यहाँ के शिक्षित संन्यासी तथा विद्वान कर रहे हैं, जिस तरह यहाँ के छात्र पश्चिम में जाकर वहाँ की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। पर अभी यह कार्य पूर्णतः प्रशंसनीय नहीं। कारण, यहाँ के जो संन्यासी आध्यात्मिकता का प्रचार कर रहे हैं, वे आर्थिक कठिनाइयों से निश्चिन्त नहीं हो सके। देश की दरिद्रता के कारण, और, जो शिक्षार्थी वहाँ की शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे देश तथा अपनी भाषा का सविशेष उपकार नहीं कर पाते, या नहीं कर सकते, केवल अच्छी नौकरियाँ प्राप्त करना या अपने लिए अच्छे अर्थागम का उपाय कर लेना ही अन्त तक उनका उद्देश ठहरता है। इससे प्रगति रुकी हुई है। यही कार्य देश की समुन्नति की व्यापक भावना से और अच्छी तरह हो सकता था।

हर्ष की बात है कि यह व्यापक भावना हममें उत्तरोतर बढ़ती जा रही है। इन्दौर के हिन्दी-विश्वविद्यालय की कल्पना इसका एक उत्तम प्रमाण है। इसका श्रेय इन्दौर के मान्य नागरिक श्रद्धेय डा. सरजूप्रसादजी को है। इस विश्वविद्यालय के लिए आवश्यक मकान और धनादि के संग्रह की स्कीमें सोची जा चुकी हैं, और आशा की जाती है कि बहुत जल्द इस कल्पना को व्यावहारिक रूप प्राप्त होगा। इन्दौर-नरेश की इस विश्वविद्यालय के साथ पूरी सहानुभूति है। महाराजा साहब इस विशद उद्देश की पूर्ति का श्रेय प्राप्त करेंगे, इसमें शंका अणु-मात्र नहीं। भारत के व्यवसायियों के अग्रगण्य सेठ सर हुकुमचन्द इस मौके पर दान द्वारा अपना यश अक्षय करेंगे, और धन की सार्थकता की दूसरे धनिकों को शिक्षा देंगे, यह भी निस्सन्देह कहा जाता है। अपर धनी तथा मध्यवित्त जनता सहयोग के लिए

उद्ग्रीव है, यह हम प्रत्यक्ष कर चुके हैं। इन्दौर के शिक्षितों में साहित्य-प्रेम पूर्ण मात्रा में है, यह उनकी क्रियाशीलता से साबित हो चुका है। ऐसी दशा में आशा है, इस महान संकल्प का शीघ्र ही कार्यरूप देखने को मिलेगा।

इस विश्वविद्यालय के लिए सोची हुई सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ केवल साहित्य की ही नहीं, किन्तु व्यावसायिक, यान्त्रिक तथा कलात्मिका शिक्षा भी हिन्दी द्वारा दी जायगी। हिन्दी के माध्यम से इंजीनियरिंग तथा डॉक्टरी की शिक्षा की व्यवस्था करने पर यह विश्वविद्यालय भारत में अद्वितीय होगा, इसमें सन्देह नहीं।

इस तरह राष्ट्रभाषा को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त होगा, अपितु भाषा प्राणों के साथ मिलकर सृजन के नये क्षेत्रों में जिस वेग से प्रवाहित होगी, इसका अभी हम अनुमान नहीं कर सकते। जो हिन्दी अपने प्राचीन गौरव में प्रान्तीय भाषाओं की बड़ी बहन है, और आधुनिक प्रगति में दूसरी भाषाओं की गति से अधिक वेगवती, वह अपर प्रान्तों के अहम्मन्य विद्वानों को इस प्रकार पूरा उतरता हुआ उत्तर देगी। राष्ट्र की जो गुत्थियाँ अभी तक नहीं सुलझीं, जो प्रश्न उठ-उठकर रह गये हैं, इस विश्वविद्यालय के कार्य से वे अड़चनें दूर हो जायँगी, उनका उचित उत्तर प्राप्त होगा। आज भिन्न-भिन्न विषयों के सच्चे साहित्यिक तथा विद्वानों की जो अवहेलना अल्पज्ञों की अनधिकार चेष्टा से हो रही है, वह न होगी। मातृभाषा की शिक्षा से मातृभाषा-शक्ति का ठीक-ठीक विकास होगा, जिससे उत्तम और अधम के निर्णय में देर न होगी। इसके अतिरिक्त, आवश्यकता के बढ़ने पर, ऊँचे साहित्य का निर्माण भी होगा। प्रान्तीय लोगों में हिन्दी के प्रति इज्जत पैदा होगी। हिन्दी-भाषी जिस विशाल भूभाग के लोग एक दिन भारत के प्रति विषय के सूत्रधर रह चुके हैं, विरोधी शक्ति से लड़ते-लड़ते क्षीण होते हुए आज भिन्न-भाषा-भाषी विद्वानों की दृष्टि में मनुष्य भी न रह जायँ, यह सहन करने की बात नहीं, इसका बहुत शीघ्र हिन्दी-भाषियों को उचित उत्तर देना होगा। अस्तु, यह प्रस्तावित विश्वविद्यालय हिन्दी के भविष्य के बहुत बड़े गौरव का शुभचिह्न है। हम डा. सरजूप्रसादजी तथा इन्दौर के गण्यमान्य और साधारण जनों को पुनः-पुनः धन्यवाद देते हैं।

हम लोग जानते हैं, जापान की इस आशु उन्नति का कारण जापानियों की शिक्षा का माध्यम जापानी का होना है। उन्होंने बाहरी समस्त शिक्षा ग्रहण की, पर उसका प्रचलन अपनी भाषा द्वारा किया। इसका फल यह हुआ कि जापान का अपना मौलिक शरीर और मन निर्मित हुआ। वह पश्चिमी दम्भियों की ईंट का जवाब बराबर पत्थर से देने लगा, और इस प्रकार अपने अस्तित्व और शक्ति से उन्हें परिचित कर दिया। आज भी साम्य भाव की प्राप्ति, जापान को, दूसरे देशों के समाज में नहीं हुई। दूसरे देशवाले जापान को अपने से हीन समझते हैं। पर यह केवल एक जातिगत या धर्मगत ईर्ष्या है, भीतर से सब जापान का लोहा मानते हैं। जापान की शिक्षा का जो सुफल आज प्रत्यक्ष है, वही एक दिन हिन्दी-विश्वविद्यालय की शिक्षा से होगा, हमारा दृढ़ विश्वास है। इसकी सफलता देश के भिन्न-भिन्न भागों को प्रोत्साहन देगी। वहाँ के लोग भी इसके अनुकरण की चेष्टा करेंगे। इस तरह इस शिक्षा का उत्तरदायित्व और बढ़ेगा। लोगों में जातीयत्व के सच्चे बीज अंकुरित होंगे, शिक्षार्थी युवकों की नसों में दूसरा ही रक्त प्रवाहित होगा। एक दूसरी ही शोभा हिन्दी-भाषी भूभाग में दृष्ट होगी।

एक विषय चिन्तनीय है। इस विश्वविद्यालय के स्नातकों की सरकार की

दृष्टि में क्या इज्जत होगी, यह समझना है। यह प्रश्न साधारण नहीं, यदि इसे व्यापक रूप दिया जाय। हम देखते हैं, हमारे जो छात्र विदेशों से उपाधि धारण करके आते हैं, उनकी यहाँ वालों के मुकाबले अधिक इज्जत की जाती है। उन्हें पहले जगह मिलती है। हमारे देश में भी जो छोटे-मोटे जातीय विश्वविद्यालय या शिक्षणालय हैं, उनकी तथा वहाँ के स्नातकों की वह इज्जत नहीं, जो सरकारी कहे जानेवाले विश्वविद्यालयों और उनके स्नातकों की है। यदि जातीय शिक्षा द्वारा हिन्दी-विश्वविद्यालय भौतिक फायदे की तरफ से पीछे रहा, तो बहुत सम्भव है कि वहाँ विद्यार्थियों की अधिक संख्या न हो। सरकार तथा अपर विश्वविद्यालयों और प्रचलित शिक्षण-नीति से सहयोग करना होगा, इसी के भीतर से अपनी शिक्षा की प्रगति क्षिप्रतर की जा सकेगी। भारत की दशा वैसी नहीं, जैसी जापान की था। इसलिए भारत जापान का अन्धानुकरण नहीं कर सकता, उसे अपने ही अनुरूप शिक्षा का प्रसार करना होगा। इस विश्वविद्यालय का मुसलमान भाइयों पर भी प्रभाव पड़ेगा, और वे भी अपने चलने का अपना रास्ता निकालेंगे। हिन्दू-विश्वविद्यालय और अलीगढ़-युनिवर्सिटी इसका प्रमाण हैं। यह बात भी लाभप्रद न होगी।

पर सामने पहाड़ रहने पर भी रास्ता पार किया जाता है। यह प्रस्तावित हिन्दी-विश्वविद्यालय हमारी प्रगति का एक उत्तम सहायक है, इसकी सिद्धि के लिए हमें कटिबद्ध होना ही होगा। जहाँ भिन्न-भिन्न भावनाएँ बाधक होती हैं, वहाँ एक सहायक भावना भी होती है। जीवन का अस्तित्व विरोध से लड़ता हुआ कायम है। इस विश्वविद्यालय में, अनिवार्य विषय के तौर पर, प्रति विषय की विश्व-व्यापकता के सिद्धान्तों की शिक्षा रहनी चाहिए। यह प्रश्न मुश्किल है। पर इसके बिना आर्य-सभ्यता का ठीक-ठीक पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता। इसी शिक्षा से वर्तमान हिंदुत्व में भरी हुई संकीर्णता दूर होगी। हर एक विषय विश्वव्याप्त है। कला और विज्ञान की सार्थकता तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक शिक्षार्थी उस विषय के महत्त्व की तरह स्वयं भी आचार और व्यवहार में समस्त मानव-प्रकृति से न मिल जाय। जिस तरह कला और विज्ञान की शिक्षा और उपयोगिता समस्त संसार के लिए आवश्यक है, उसी तरह कलाविद भी समस्त देश और जातियों को प्रबुद्ध करनेवाला मनुष्य है। आर्य-संस्कृति के यही अर्थ हैं। मनुष्य भावना के भीतर ही छोटा और बड़ा बनता है। यदि प्रति विषय की व्यापकता की तरह मनुष्य के धर्म की व्यापकता भी शिक्षा द्वारा व्यावहारिक कर दी जाय, तो वह मनुष्य किसी जाति, भाषा या भाव के प्रति ईर्ष्या नहीं करता, न किसी में समा सकता है। दूसरे जो उस मनुष्य से भेदभाव रक्खेंगे, वे स्वयं छोटे रहेंगे। यह विशालता ही आर्य-संस्कृति है। अभी हममें बहुत कम ऐसे हैं, जो व्यवहार-रूप से इस संस्कृति को लिये हुए हैं। हिन्दी में तो बहुत ही कम, प्राय: नहीं के बराबर। जो हैं, वे आर्य-संस्कृति के बहुत ही अधूरे अर्थ रखते हैं। मनुष्य के मन की इस व्यापकता को साधारण आचरणों से लेकर बड़े-बड़े व्यवहारों तक दर्शाकर शिक्षार्थियों के जीवन का निर्माण करना बहुत आसान काम नहीं। इसी तरह इसका फल भी, यदि यह साधना की गयी, ऐसा नहीं, जो किसी जाति या संकीर्णता के पेट में पच जाय। इसी भावना के साथ शिक्षा का प्रसार हमारे देश को नयी शक्ति और नया जीवन देगा। विराट भावना से ओत-प्रोत मनुष्य आप अपनी महत्ता में स्थित होगा। यों स्वार्थ के संघर्ष से एक दूसरा उत्पात खड़ा होगा, और हम दूसरी उलझन में फँसेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

## रूस की स्त्रियाँ

रूस ने नारी-जीवन में एक क्रान्ति की लहर उत्पन्न की है। बोलशेविक क्रान्ति के पहले वहाँ स्त्रियों के साथ अत्यन्त अमानुषिकता का व्यवहार किया जाता था, उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय थी। रूस के याकुटस्क-प्रान्त में तो स्त्रियों के बेचने तक का व्यवसाय होता था। इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए हम यहाँ एक प्रकाशित लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

"रूस में याकुटस्क एक प्रान्त का नाम है। यह प्रान्त क्षेत्रफल के हिसाब से बहुत बड़ा है। इसी प्रान्त में पहले स्त्रियों के बेचने का व्यवसाय होता था। स्त्रियों का मूल्य, उनकी अवस्था और सुन्दरता के अनुसार, तीस-बत्तीस पौण्ड आटा से लेकर तीस-चालीस पौण्ड मक्खन तक होता था। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्रियाँ रूस के इस प्रान्त में थोड़े-से दामों अथवा नाज के बदले में मोल ले ली जाती थीं। इन खरीदी हुई स्त्रियों का उनके मालिकों के ऊपर कोई अधिकार न होता था। खरीदार मालिक उन्हें स्त्री बनाता, उनसे मजदूरी करवाता और भोजन-वस्त्र देकर उनका पालन-पोषण करता था। इसके पश्चात वह खरीदार, कुछ दिनों के पीछे, जब चाहता था, उस खरीदी हुई स्त्री को बेच सकता था। उस समय, जब लड़कियाँ अपने मा-बाप के यहाँ रहती थीं, उनको अपने जीवन का कुछ ज्ञान न होता था। वे नहीं जानती थीं कि कब, कहाँ और किसके हाथों बेच दी जायँगी, और इस प्रकार उनको अपने माता-पिता का घर छोड़कर चला जाना पड़ेगा। लड़कियों के माता-पिता उनके सयानी होने की प्रतीक्षा करते और सयानी हो जाने पर यथासम्भव अधिक मूल्य में बेचने का प्रयत्न करते थे। इन अभागिनी लड़कियों को अपने माता-पिता के घरों में भी कुछ सुख-सन्तोष का जीवन न मिलता था।"

रूस की वैवाहिक प्रथा और भी अधिक चिन्तनीय थी। लड़कियाँ अपने पिता के हाथों में कठपुतलियों की भाँति थीं। उन्हें अपने विवाह के सम्बन्ध में कोई भी अधिकार प्राप्त न था। पिता मनमाना धन लेकर जिनके साथ चाहे उनका विवाह कर देता, वे चूँ तक न कर सकती थीं। अपने वैवाहिक जीवन में उन्हें 'पति की मोल ली हुई दासी' की तरह रहना पड़ता था। खाना पकाना, पानी भरना, वस्त्र धोना, कपड़े सीना, बच्चों का पालन-पोषण करना और खेतों में काम करना—यही उनका रोज का कार्यक्रम था। सब प्रकार पति को प्रसन्न रखना उनका एक-मात्र लक्ष्य था। तनिक-से अपराध पर पुरुष उन्हें कड़े-से-कड़ा दण्ड दे सकते थे। वे कहीं भाग न सकती थीं। और, यदि भागतीं, तो पुलिस उन्हें पकड़कर पुनः पतियों के हाथों सुपुर्द कर देती थी। पुरुषों को विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद का पूर्ण अधिकार था। वे उन्हें तनिक-सी बात पर रुष्ट होकर त्याग सकते थे। विरोध करना तो दूर रहा, वे बेचारी निगाह भी ऊपर न कर सकती थीं। पुरुषों की इच्छा के सम्मुख उन्हें अपनी समस्त इच्छाओं की बलि दे देनी पड़ती थी।

इस नारकीय दाम्पत्य जीवन की दुरवस्थाओं के कारण समाज में सर्वत्र व्यभिचार बढ़ गया था—वे समाज की आँखों में धूल झोंक अपने सतीत्व को नष्ट करती थीं। व्यभिचार द्वारा उत्पन्न बच्चे नदी-नालों, तालाबों आदि प्रच्छन्न स्थानों में फेंक दिये जाते थे। वेश्यालयों के अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थान होते थे, जहाँ जवान, खूबसूरत बालिकाएँ घृणित उपायों द्वारा सतीत्व से भ्रष्ट की जाती थीं।

ऐसे गुप्त संकेत-स्थल 'Little Candle Club' के नाम से प्रख्यात थे। जब किसी स्त्री का दुश्चरित्र प्रकट हो जाता, तो वह अपने घर से निकाल दी जाती थी, परन्तु व्यभिचारी, कामान्ध युवकों को कोई भी दण्ड न मिलता था।

रूस के इस कुत्सित, अत्याचारपूर्ण जीवन का अन्त में अन्त होकर रहा। यहाँ की भीषण वोल्शेविक राज्य-क्रान्ति ने दीन-दलितों का ही उत्थान नहीं किया, वरन् वहाँ की स्त्रियों में भी अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी। आज रूस की स्त्रियों को संसार में अपना मस्तक ऊँचा करने का श्रेय प्राप्त है। उनकी नस-नस में विद्युत की-सी शक्ति प्रवाहित हो उठी है। क्रान्ति के पश्चात् सोवियट सरकार ने स्त्री-पुरुष के समान अधिकार घोषित किये। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार के लिए भरसक यत्न किया गया। उनमें जागृति उत्पन्न करने के लिए रूस में भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाएँ स्थापित की गयीं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ। उनकी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक उन्नति के लिए व्यायामशालाओं, क्लबों तथा पुस्तकालयों का आयोजन किया गया। देहातों में भी इन सब बातों का समुचित प्रबन्ध किया गया। कुछ ही दिनों में वहाँ की स्त्रियों का जीवन नवीन प्रस्फुटित कलियों की भाँति विकसित हो उठा। शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ स्कूलों, दफ्तरों, कारखानों तथा अन्य स्थानों में पुरुषों के साथ-साथ, समान रूप से, समुत्साहित हो कार्य करने लगीं। उनमें स्वाधीन होने और कर्मशील बनने की उत्कट अन्तर्भावना अंकुरित हो उठी। वे निर्भय तथा स्वावलम्बी होकर रहना पसन्द करने लगीं। प्रत्येक स्त्री पत्र-पत्रिकाओं का पढ़ना, भिन्न-भिन्न कार्यवाहियों में भाग लेना तथा वाचनालयों में जाना अपना अनिवार्य कार्य समझने लगी। देहात की स्त्रियों की उन्नति के लिए भी पूर्ण प्रयत्न किया गया। उनको सब प्रकार की सुविधाएँ दी गयीं। खेती की उन्नति के लिए कृषि-संस्थाएँ खोली गयीं, और नागरिक सभाओं तथा शासन-सम्बन्धी पंचायतों से उन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। फलतः देहातों में भी स्त्री-जीवन तथा स्त्री-व्यवसायों की व्यवस्था में नवीन स्फूर्ति पैदा हो गयी। कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों और लड़कियों की समुन्नति में भी काफी प्रयत्न किया गया। उनके लिए ट्रेड्स स्कूल खोले गये, जहाँ उन्हें कारखानों के काम में विशेष योग्यता प्राप्त करने का समुचित प्रबन्ध किया गया। आजकल तो वे कारखानों में काम करने के समय में से आधा समय निकालकर इन स्कूलों में काम सीखती हैं। उन्हें छात्रवृत्ति भी मिलती है। इन सुविधाओं के कारण वे स्त्रियाँ, जो मजदूरी करके कठिनता से अपना बसर करती थीं, अधिक उपकृत हुईं।

सोवियट सरकार ने स्त्रियों के घरेलू जीवन में भी एक क्रान्ति उपस्थित की है। स्त्रियों का बहुत-सा अमूल्य समय बाल-बच्चों के पालन-पोषण में ही चला जाता था, और वे अपने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को सुदृढ़ तथा समुन्नत नहीं बना सकती थीं। उनका बहुत-सा समय गार्हस्थिक चिन्ताओं में ही व्यतीत होता था। देश तथा समाज के लिए वे कुछ न कर सकती थीं। इस महान दोष से देश को मुक्त करने के लिए सोवियट सरकार ने बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। महात्मा लेनिन के कथनानुसार घर तथा बाहर, दोनों ही जिम्मेदारी स्त्री-पुरुष पर समान रूप से पड़ीं। स्त्रियों ने पुरुषों के समान अपने अधिकार प्राप्त किये, और अब रूस के कोने-कोने में साम्यवादी सिद्धान्त का प्रभाव दिखलायी पड़ रहा है। सोवियट सरकार ने देश में ऐसे आश्रम बनाये हैं, जहाँ देश के प्रत्येक बच्चे का पालन-पोषण अत्यन्त ध्यानपूर्वक होता है। हर एक स्त्री-पुरुष अपने बच्चे को, पैदा होते ही, आश्रम में भेज

देता है। वहाँ सब बच्चे स्वस्थ, नीरोग, शिक्षित तथा योग्य बनाये जाते हैं। माता-पिता स्वच्छन्दतापूर्वक अपना और काम देख सकते हैं। उन्हें अपने बच्चों के लालन-पालन की कोई भी फिक्र नहीं करनी पड़ती। रूस की नयी सरकार इन बच्चों को देश और समाज का अंग और उनकी स्थायी सम्पत्ति समझती है। यही कारण है, रूस की शक्ति दिन-पर-दिन बढ़ रही है। अब कोई युवती कौमार्य अवस्था में पुत्रवती हो जाने से तिरस्कृत नहीं की जाती। उसकी वह सन्तान भी शिशुगृह में सावधानी से पाली जाती और बड़ी होने पर उसी की सन्तान कहलाती है। उसे इस भूल के लिए आजीवन कष्ट नहीं झेलना पड़ता।

रूस की वर्तमान सोवियट सरकार ने वेश्यावृत्ति को अत्यन्त गर्हित कर्म करार दिया है। वह उसके विरुद्ध बड़ा प्रबल आन्दोलन कर रही है। समाजप्रेमी स्त्री-पुरुष उसको निर्मूल करने के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। रूस में स्वास्थ्य और सदाचार के प्रसार के लिए बड़ी-बड़ी सभाएँ कायम की गयी हैं। उन्हीं सभाओं के अन्तर्गत 'वेश्यावृत्ति-विरोधिनी केन्द्रीय समिति' (The central council'to combat prostitution) की स्थापना की गयी है। इसका फल यह हुआ कि अब रूस में वेश्याओं की संख्या दिन-पर-दिन घट रही है, और वेश्यावृत्ति की भावना भी धीरे-धीरे नष्ट हो रही है।

इस प्रकार रूस में शिक्षा, सभ्यता, देशप्रेम और सदासार [सदाचार] का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा है। सब स्त्री और पुरुष बिना किसी भेदभाव के सामूहिक रूप से सामाजिक तथा राष्ट्रीय नियन्त्रण में दत्तचित्त हो रहे हैं। वे लोग इस मूल-मन्त्र को समझ गये हैं कि—"पुरुष और स्त्री का जीवन पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण सहकारिता के भावों से ओत-प्रोत है।" तात्पर्य यह कि "स्त्री-पुरुष फूल और पौधे की भाँति परस्पर सम्बद्ध हैं। वे परस्पर विचारों की स्वाधीनता की निर्मल वायु में, प्रेम और समुन्नति की वर्षा और धूप में ही, पनप सकते हैं।" अतः हमारी भारतीय ललनाओं का यह कर्तव्य है कि वे भी रूस की स्त्रियों की भाँति उन्नतिशील बनें, और जहरीले अन्ध-परम्परा के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर वास्तविकता और शिक्षा की ओर अप्रतिहत वेग से अग्रसर हों, इसी में समाज तथा देश का कल्याण है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1935 (सम्पादकीय)। असंकलित]

# समीक्षाएँ

सुनते हैं, लखनऊ में हीजड़ों का ही बोलबाला है। ये हीजड़े किस दल में मिलाये जायँगे—पुरुष-पार्टी में या स्त्री-सोसाइटी में ? इनका अभी तक न हमारे दर्शन-कारों ने निर्णय किया और न योरप के विज्ञान-बुद्धुओं ने। प्रश्न उठाया जा चुका है। इसका फैसला न होने के कारण ही लखनऊ के साहित्य-सहोदरों को लिंग-निर्णय में बड़ी अड़चन होती है। कदाचित यही कारण है कि 'माधुरी'-सम्पादकों को कभी-कभी 'कड़ी परिश्रम' करते देखा जाता है।

बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए. कोषकार हैं। फिर क्या कहना ! जो कुछ कहें—जो कुछ पास कर दें, वही कोष में सुरक्षित हो जायगा। खाता न बही, जो आप कहें सो सही। नागरी-प्रचारिणी सभा की वार्षिक रिपोर्ट में आपका 'माधुरी और सरस्वती की होड़ाहोड़ी' का उल्लेख देख, 'पियक्कड़' घोड़ा-घोड़ी की तरह हिन-हिना पड़े !

'सरस्वती'-सम्पादक हुए नहीं कि द्विवेदीजी बनने का दावा दायर हो चला। द्विवेदीजी ने हिन्दी को मार्जित किया तो बख्शीजी उसे साफ कर रहे हैं। उसके गुनाहों को आप बखुशी बख्श देंगे। बखशीश की एक बानगी भी लीजिए :—

'सरस्वती', मई 1923, के विविध विषय में आपके नोट का शीर्षक तो है 'साहित्य में सुरुचि' परन्तु शुरू से अखीर तक देख जाइए, न उसमें कहीं साहित्य है और न सुरुचि। हाँ, बेसिर-पैर की बहुत-सी बातें उसमें आपको अवश्य मिल जायँगी। कभी तो आप कला का गला घोंटते हैं (यद्यपि कला-सम्बन्धी पश्चिमी नंगे चित्रों से ही आजकल सरस्वती की शोभा बढ़ायी जाती है), कभी अपने दार्श-निक विचारों के फन्दे में डालकर देशभक्तों को घसीटते हैं, कभी मधुर-रसोपासक भक्तकवियों का चेहरा बिगाड़ते हैं, कभी कुछ करते हैं, कभी कुछ। तत्त्व इसमें उतना ही है जितना 'घड़ी भर' की कथा में नहीं, 'पहर भर' के जो 'जो है सो' में रहता है। कभी तो आप अपने आचार्य के आसन पर से यह शिक्षा देने की कृपा करते हैं कि ".महत्ता देशभक्ति में नहीं, किन्तु देशभक्तों में है।" इसके दूसरे ही वाक्य में आप फर्माते हैं—"देशभक्ति का भाव देशभक्त से पृथक नहीं है।" खूब कहा ! पहले वाक्य में तो आपने महत्ता के दो आधार बतलाने की कृपा की—'देशभक्ति' और 'देशभक्त'; और बेचारी देशभक्ति को महत्ताच्युत करके, महत्ता का बोझ देशभक्तों के सिर पर लाद दिया,—यों देशभक्ति को देशभक्तों से पृथक प्रमाणित किया। परन्तु आपने अपने दूसरे ही वाक्य में देशभक्ति का भाव देश-भक्त में भरकर दोनों को एक कर दिया ! कभी पृथक, कभी एक ! पाठक, देखिए—यह सातवाँ दर्शन है। स्थानाभाव के कारण हमें अपने पाठकों को इस 'विचित्र दर्शन' के आनन्द से वंचित रखना पड़ा। अन्यथा, हम दिखलाते कि इस प्रकार के आपके मौलिक विचार पद-पद पर प्रकट होते हैं। इसी नोट में एक जगह आपने लिखा है, 'देशभक्ति के सुधा से'। 'लिंग' के दिव्य ज्ञान के लिए आपको धन्यवाद ! आपकी अन्तिम प्रार्थना है—"भगवान इन नेत्रवालों से अन्धों की रक्षा करे।" हमारी भी अन्तिम प्रार्थना है कि भगवान इन नेत्रवालों से अन्धों की रक्षा करे।

"श्री शारदा', ज्येष्ठ—1980, के साहित्य-संवाद में हिन्दू विश्वविद्यालय के

प्रोफेसर पण्डित बलदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्यिकों को एक नया संवाद सुनाते हुए लिखते हैं—"ठौर-ठौर पर गैरीबाल्डी की जीवन-घटनाओं में जो सार्वजनिक तथ्य 'बातें' —'सिद्धान्त'—छिपी हुई हैं, उनसे 'जो उपदेश' सर्वसाधारण के सामने रखा जा सकता है, 'वे' चलती भाषा में तुले हुए शब्दों में 'रखे गये हैं'।" अब प्रोफेसर बलदेवजी से हमारा यह प्रश्न है कि अगर आप अपने 'सिद्धान्त' के इधर-उधर दो लकीरें न खींचकर, 'छिपी' क्रिया को सिद्धान्त ही के अधीन रख देते तो क्या आपके सिद्धान्त में कोई बट्टा लग जाता? या आपके वाक्य का बल घट जाता? या उससे व्याकरण के आक्रमण का आपको कोई भय था? या यह एक नया ही तरीका निकला है? खैर, यह जो किया सो तो किया ही, परन्तु 'जो उपदेश' को एकवचन में रखकर उसके सर्वनाम-पद को 'वे' (तदनुसार क्रिया को 'रखे गये हैं') किस उपाय या सम्प्रदाय की बदौलत बना डाला? आपने औरों की भाषा की तो खूब धूल उड़ायी है, परन्तु अपनी भाषा की दुर्गति क्या हमें दिखाना चाहते थे? अगर आप विश्वविद्यालय के हिन्दी-प्रोफेसर हों—राम न करे ऐसा हो—तब तो हिन्दी और हिन्दी के विद्यार्थी कहीं के न रहेंगे। उधर सम्पादकों को किन शब्दों में धन्यवाद दें! वे तो पूँछ भर देखते हैं, पर उसे जरा उठाकर नहीं देखते कि नर है या मादा।

'मारवाड़ी-अग्रवाल', श्रावण—1980, की संख्या में श्री गंगाप्रसादजी भोतीका एम. ए. काव्यतीर्थ लिखते हैं—"...वह न तो अच्छी प्रकार विद्याभ्यास ही कर सकता है..." 'अच्छी तरह' का विचार आप 'अच्छी प्रकार' से प्रकट करते हैं। लेखक और सम्पादक दोनों बहादुर हैं। तभी तो पुरुष को जबरदस्ती जनाना बना डाला।

काशी के सहयोगी 'हिन्दी-केसरी' का लिंग-ज्ञान आजकल बहुत बढ़ गया है। उसने अपने किसी अग्रलेख में लिखा है—"...उन्हें राजयक्ष्मा हो गयी!" सहयोगी यदि एक बार 'नागरी-प्रचारिणी सभा' में जाकर बाबू श्यामसुन्दर दासजी का 'कोष' देख लेते तो अच्छा होता।

'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित बृहत कोष में, उसके सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास 'उल्लू सीधा करना' मुहावरे का उल्लेख करना बिलकुल भूल गये हैं। इससे हिन्दीवालों को अपना उल्लू सीधा करने में बड़ी अड़चन पड़ रही है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 सितम्बर, 1923। असंकलित]

## चाबुक-2

'सरस्वती', जुलाई 1923, विविध विषय, के प्रथम नोट में सम्पादक महोदय ने लिखा है—"तथापि प्रजापालक पदवी यथार्थ में उन्हीं के विषय में घटित होती थी।" क्या उनकी वह पदवी अब छिन गयी? क्या अब राम को कोई प्रजापालक नहीं कहता? अतीतकाल की आपकी 'घटित होती थी' क्रिया से तो यही अर्थ

सूचित होता है। क्रिया वर्तमानकाल की कर देते, 'थी' की जगह 'है' कर देते, तो आपका क्या बिगड़ जाता ?

आपके दूसरे नोट में है—"हिन्दी के कुछ प्रकाण्ड पण्डितों के लिए पाश्चात्य साहित्य की चर्चा हिन्दी के लिए अशुभ सूचना है।" पाश्चात्य साहित्य को खूब लिये-लिये फिरे ! कभी प्रकाण्ड पण्डितों के पास ले गये और कभी हिन्दी के पास। क्या पण्डितों के लिए यहाँ 'पिण्डदाने चतुर्थी' की व्यवस्था की है ? जो कुछ कहना था, 'पण्डितों के मत से' कह देते। कुछ और चलकर उसी नोट में आप लिखते हैं—"वे सभी लोगों के लिए पूज्य हैं।" 'लिए' के पीछे आप हाथ धोकर पड़ गये हैं। 'वे सभी लोगों के पूज्य हैं' लिखते तो क्या सरस्वती-सम्पादक का गौरव घट जाता ?

तीसरे नोट के अन्त में है—"असफलता भी उन्हें अपने निश्चय से नहीं डिगा सकती है।" आपके 'अपने' का व्यवहार विधि विरुद्ध है। इस वाक्य में कहीं विराम चिह्नों से शब्दार्थ के पृथक न होने के कारण, 'अपने' का सम्बन्ध, व्याकरण के नियमानुसार 'असफलता' से हो जाता है। फिर अर्थ का यथार्थ रूप क्या बन जाता है, पाठक स्वयं समझें। अगर आप 'अपने' न लिखते तो क्या आपके भाव में कोई अभाव रह जाता ?

चौथे नोट में लिखा है—"…एक सभा ने…सात-आठ हजार वर्ण और… उन्तालिस वर्णचिह्न स्वीकृत किया था (किये थे ?)।" विभक्तिहीन सात-आठ हजार कर्म रहने पर भी क्रिया को बहुवचन का मुँह नहीं दिखाया गया।

· पाँचवें नोट में मंगलाप्रसाद-पारितोषिक के निर्णायकों की सम्मतियाँ प्रकाशित की गयी हैं। अतः सम्पादक का अंश उसमें बहुत कम है। परन्तु जितना है उतना ही पाठकों के लिए भूलभुलैया का काम दे सकता है। पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री की सम्मति पर आप लिखते हैं—"फिर वे इतनी स्पष्ट हों कि उसे देखते ही लोग समझने लगें…।" शास्त्रीजी ने अपनी भाषा को अशुद्ध नहीं होने दिया। उन्होंने 'शैली' के स्थान पर 'वह' का प्रयोग करके, जो कुछ कहना था, स्पष्ट कह दिया। गिरे विचारे सरस्वती-सम्पादक, जिन्होंने 'बातों' का सर्वनाम 'वे' करके, अन्त को उसी वाक्य में, 'उन्हें' की जगह 'उसे' लिख मारा !

छठे नोट में है—"…मन्त्रिमण्डल ने नीच जातियों के (की ?) शिक्षा के सम्बन्ध में…एक पत्र प्रकाशित कराया है।"

सातवें नोट में है—"हमारे प्रान्त में मातृधर्म और बालचर्य्या की शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध में इस समय जो स्कीमें काम कर रही हैं उनके सम्बन्ध में सरकारी पब्लीसिटी-विभाग का यह कथन है।" पद-पद पर आप इतने 'सम्बन्ध' न जोड़ें। नहीं तो, सम्बन्धियों की संख्या बढ़ जायगी।

आठवें नोट में आपने पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के 'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास' का कुछ अंश उद्धृत किया है। उसी में एक जगह लिखा है—"उन्होंने हृदय के सौन्दर्य पर बड़ी ललित कविता की है।" 'हृदय के सौन्दर्य' से क्या मतलब ? दूसरी जगह फिर आप लिखते हैं—"जब वह (नायिका) हवा से भी इतनी हलकी हो गयी थी तो तितली का (के ?) पंख लगाकर अपने प्रियतम के पास क्यों नहीं चली गयी ?" क्या तितली एक ही पंख से उड़ती है ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 22 सितम्बर, 1923। असंकलित]

## चाबुक-3

सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी सितम्बर की 'प्रभा' के विचार-प्रवाह में 'प्यारे निरक्षर' को बड़ी भावुकता से चित्रित करते हुए—यह दोष नहीं यदि आपके लेख और टिप्पणियाँ भावुकता की मारी हुई रस की खोज में रसातल पहुँच जाती हैं या दूर की कौड़ी लाती हैं—लिखते हैं —'बूढ़े मुजरिम, मैं जब से तुझे जानने लगा हूँ...' वाह भई यह तो तुमने अच्छी शैली ढूँढ़ी! तुम्हारे 'तू तू' में 'गौरवे बहुवचनम्' की जगह 'सम्बोधने बहुवचनम्' की खासी बहार है! वर्ना 'बूढ़े मुजरिम' तशरीफ क्यों लाते ? हाँ, बूढ़े को 'बूढ़ा' कहो तो उसका अपमान होता है, क्यों न ?

'झाड़ू' लिखते हुए यार तुमने तो कई जगह झाड़ू ही फेरी है। यह लिखकर कि '...ज़ोर-ज़ोर से स्तोत्र की लकीरें पुकारने लगा' क्या कमाल किया है! चलो अब रास्ता साफ है। अब हम तुमको भी पुकारेंगे और 'प्रभा' न आयी तो 'प्रभा भी पुकारेंगे' और 'ज़ोर-ज़ोर स्तोत्र की लकीरें तो क्या विरामचिह्न भी पुकारेंगे।' हाँ एक बात और रह गयी। उसी विचार में नीचे लिखा है—"क्या तेरे इस पाखण्ड पर झाड़ू नहीं पड़नी चाहिए!" क्योंजी, यह 'झाड़ू पड़ना' कहाँ का मुहावरा है! हाँ, बंगला में इस झाड़ू या 'झाँटा' के कितने ही प्रयोग होते हैं, तो क्या तुम्हें भी बंगला की बू पसन्द है? अरे यार, यह वह बुखार है जो मर जाने पर भी एक सौ पाँच डिगरी बना ही रहता है। जबकि 'झाड़ू पड़ना' हिन्दी का मुहावरा नहीं, तो इसका सीधा अर्थ हुआ झाड़ू गिरना, अच्छा अब उस समूचे वाक्य का अर्थ तुम्हीं लगाकर देखो कि क्या मज़ा आता है।

कहीं-कहीं अव्ययों ने तो भावों तक का अपव्यय कर डाला है। प्रमाण यह लो —"पीड़ित नर-नारी घास की रोटी बनाकर खाते हैं। फिर भी वे मर जाते हैं।" 'फिर भी' को फाँसी-सी दी गयी है। वह कहता है, अगर आप मेरा पीछा नहीं छोड़ना चाहते तो मेरे शुद्धि-आन्दोलन पर ध्यान देकर अपने वाक्य को इस तरह लिखिए—'फिर भी वे नहीं जीते।' लोग घास-पात खाते हैं जीने ही के लिए, और जबकि जीने का अभाव दिखलाने के उद्देश्य से 'फिर भी' को घसीटा तो 'मरना' धातु से भावों का साम्य नष्ट न होने देना चाहिए था। पहले वाक्य की ध्वनि जीना है और दूसरे की उसका अभाव। अस्तु वह छिपी हुई ध्वनि तभी व्यक्त होगी, जब दूसरे वाक्य की एक ही क्रिया से भाव और अभाव दोनों का स्पष्टीकरण हो जायगा। अतएव 'फिर भी वे नहीं जीते' यह लिखना चाहिए था।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 20 अक्तूबर, 1923। **चाबुक** में संकलित]

## चाबुक-4

"रास्ता रोक के कह लूँगा जो कहना होगा।
क्या मिलोगे न कभी राह में आते जाते॥"

'माधुरी'-सम्पादक कई बार हिन्दी के कवियों का रोना रो चुके। उनकी रोनी सूरत की याद करके हम भी आँसू बहा रहे हैं। उनके और हमारे रोने में

फर्क इतना ही है कि उनके आँसू हिन्दी से भविष्य-कवियों की मुहर्रमी सूरत को देखकर नहीं थमते और हम हिन्दी के वर्तमान-भूत (यानी Present perfect tense वाले) कवियों को देखकर सिसकते हैं। परमात्मा हमें उनके अदब के नीचे दब मरने से बचावे।

सितम्बर की सरस्वती में पण्डित रामचरित उपाध्याय की 'सरलता' शीर्षक कविता को पढ़िए तो पहले तो उसके कर्ण-कर्कश शब्द ही आपके हृदय से सरलता को घसीटकर बाहर निकाल देंगे, फिर मौके-बेमौके आपको शब्दों के विकट विन्यास के थपेड़े भी सहने पड़ेंगे; अगर इतने पर भी आपके होश ठिकाने न हुए तो पूरी कविता पढ़ डालने से पहले ही आपको भविष्य-व्याधि से बचने के लिए दस ग्रेन 'कुनयन' या तो किसी 'परगेटिव पिल' का सेवन करना पड़ेगा, क्योंकि यह कविता इतने सहज ही हजम होने की नहीं।

आपकी कविता में कवित्व का तो कहीं पता नहीं, पर उपदेशों की भरमार और उनकी खासी बहार है। वक्र, वङ्क या टेढ़े-मेढ़े बन जाने के, आपकी कविता में एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। बानगी या नमूने के लिए लोग पहले हाथ बढ़ाते हैं, अतएव हमारे पाठक भी उदाहरण के रूप में नमूना देखने के लिए घबराते होंगे। अच्छा लीजिए, यह पहली बानगी—

"सरल सबल के साथ निबल भी प्रतिपल रहता कड़ा हुआ।"

इस पद्य को गद्य बनाइए तो ऐसा होगा—"सरल (और) सबल (मनुष्य) के साथ निर्बल (मनुष्य) भी (?) प्रतिपल कड़ा हुआ (!) रहता (है)।"

इस पद्य में 'हुआ' के साथ, एक तुक मिलाने के उद्देश्य से, ऐसी मनमानी की गयी है। शब्दों को प्राणों की तरह प्यार करनेवाले कवि कभी ऐसे बेदर्द भी होते हैं, इसके उदाहरण उपाध्यायजी की कविता में, आप जितने चाहें देख लीजिए। 'हुआ' के आगे 'बना' बैठाइए तो किसी तरह इस कविता की शुद्धि हो सकती है। परन्तु सच पूछिए तो आपके पद्य ऐसे होते हैं कि आप उनका चाहे जितना सुधार करें, गद्य में भी उनके उसी 'अष्टावक्र'-स्वरूप के दर्शन होते हैं। आपके उद्धृत-पद्य में 'भी' की भी बड़ी बुरी दशा है। वह शब्द तो समालोचकों की सहानुभूति पाने की आशा से कह रहा है—"गये दोनों जहाँ से खुदा की क़सम, न इधर के रहे न उधर के रहे।" इस 'भी' को आपने मात्राएँ पूरी करने के लिए रखा, तो वह अर्थ की असंगति की ओर इशारा करके आपसे बदला चुका रहा है। देखिए, यदि आप कहते हैं कि, "सबल के साथ निर्बल भी कड़ा बना रहता है," तो इस 'भी' के प्रयोग से सूचित होता है कि निर्बल के अतिरिक्त कोई और (मनुष्य) 'सबल के साथ कड़ा' बनने का इरादा रखता है; जैसे 'उनसे हम भी नहीं बोलते'; इस वाक्य में 'भी' का प्रयोग सूचित कर देता है कि हमारे अतिरिक्त कोई और है जो उनसे नहीं बोलता; अतएव उद्धृत-पद्य में 'भी' के प्रयोग से अर्थ की असंगति हो गयी है। यदि आप उससे ऐसा अर्थ निकालना चाहते हों—"निर्बल (होने पर) भी, सरल (और) सबल के साथ, (मनुष्य) प्रतिपल कड़ा बना रहता है," तो आपके भाव कुछ और हैं, और आपके शब्द कुछ और कह जाते हैं। उस रीति से 'भी' को तो एक 'ठौर' मिल जाता है, परन्तु आपका हुआ' ज्यों का त्यों 'हुआताही' रह जाता है।… यदि आपने प्रथम पंक्ति—"टेढ़े के अंकुश के वश में है करी बली भी पड़ा हुआ" के 'बली भी' का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए दूसरी पंक्ति में 'निबल भी' रख दिया है, तो इस शब्दयोजना से आपकी कविता-शक्ति को और नीचा देखना पड़ा।

"यदपि समय पाकर निजपालक को (का ?) भी वह दुख दाता है।"

'को' रखिए तो उधर 'दाता' को देता कर दीजिए, और यदि 'दाता' बेतुकी कह जाने के भय से अपना आसन न छोड़े तो 'को' की जगह 'का' बना दीजिए। "वक्र नखायुध जिस पशु को (के ?) है (हैं ?)", उपाध्यायजी 'है' लिखकर, इस एकवचन की क्रिया से साबित कर रहे हैं कि एक नखायुधवाला पशु भी है। अच्छा होता यदि आप उसका एक ही उदाहरण अपनी कविता में दे देते। 'का' और 'के' की जगह 'को' लिख मारने का आपको अभ्यास-सा पड़ गया है। कृपा करके क्या 'कोको' की करामात में कुछ कमी भी कीजिएगा ?

"बिना वक्र के बने कभी क्यों हो सकता मन स्थिर कैसे ?"

गद्य इसका यों होगा—"बिना वक्र के (आपका 'के' वाहियात है) बने कभी क्यों (?) कैसे (?) मन स्थिर हो सकता है ?" कभी के बाद 'क्यों' और 'कैसे' कमाल कर रहे हैं। बस कविता की हद हो गयी !

कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के हिन्दी-प्रोफेसर पण्डित सकलनारायण जी पाण्डेय काव्य-सांख्य-व्याकरणतीर्थ ने 'माधुरी' के किसी गत अंक में 'ही' शीर्षक एक प्रबन्ध लिखा है। प्रबन्ध विद्वत्तापूर्ण है। अगर उसमें कहीं कुछ कोर-कसर रह गयी है तो उसका कारण बस यह है कि प्रबन्ध लिखते समय 'सरस्वती' को उलट-पुलटकर बख्शीजी के 'ही, भी' के प्रयोग आपने नहीं देख लिये। आपको उदाहरणों से बड़ी सहायता मिलती। अगस्त की 'सरस्वती', विविध विषय, पृष्ठ 195, प्रथम कालम के दूसरे पैराग्राफ में लिखा है—"कोरम पूरा भी होता है तो भी सब न सही, अधिकांश भी मेम्बर नहीं आते।" पाठक ! 'भी' की भरमार देखी आपने ? क्यों भाई सम्पादक ! अगर ऐसा लिखते—"कोरम पूरा (भी) होता है तो भी अधिकांश मेम्बर नहीं आते," तो भला सम्पादनकला की 16 नहीं, 64 कलाओं में से कितनी कलाएँ घट जातीं ? जबकि 'अधिकांश' खुद कहता है कि मैं किसी पूर्ण विषय या वस्तु का सब नहीं, अधिक अंश हूँ, तो 'सब न सही' अकारण क्यों लिख मारा ? जान पड़ता है, अधिकांश के पीछे 'भी' जोड़ने के लिए 'सब न सही' को रगड़ डाला।

इसी संख्या के दूसरे नोट की 11वीं लाइन से शुरू करके लिखा है—"तब आजकल जैसे साधन भी न थे।" यहाँ तो 'जैसे' की कृपा से 'आजकल' और 'साधन' दोनों 'समवायः सखा मतः' हो गये हैं। यानी 'आजकल' और 'साधन' में फर्क बाल भर नहीं रह गया; जैसे—'आप जैसे उदाराशय मनुष्य संसार में कम हैं', इस वाक्य में 'आप' और 'उदाराशय मनुष्य', 'जैसे' की कृपा से भेदबुद्धिरहित हो गये हैं। यानी जो आप हैं, वही उदाराशय मनुष्य हैं। परन्तु सरस्वती-सम्पादक का जो 'आजकल' है, वही 'साधन' नहीं। अतएव सरस्वती-सम्पादक की लुटिया तभी डूबने से बचेगी जब 'आजकल' और 'जैसे' के बीच में एक 'के' जोड़ दिया जायगा।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 अक्तूबर, 1923। चाबुक में आंशिक रूप से संकलित]

## चाबुक-5

आश्विन की 'माधुरी' में एक लेख है 'लाहौर'। पढ़ने लगे तो पहली ही पंक्ति में धोखा खा गये। लिखा है—"पुरातन काल से चली आनेवाली पंजाब की राजधानी लाहौर ने जितने परिवर्तन देखे हैं...।" श्रीमती लाहौर के पैर बड़े मजबूत हैं क्योंकि वे पुरातन काल से चलती ही आ रही हैं; कहीं बैठी नहीं! विश्राम जरा भी नहीं किया! न जाने अभी कब तक चलना पड़े! उनसे प्रार्थना है, वे हिन्दी संसार में इस तरह मनमानी चाल न चलें। क्योंकि इस वन में बबूर के काँटों की कमी नहीं, छिद जायँगे तो निकालने में आफत होगी। उनके सपूत पंजाबी उन्हें चलाते हैं तो चलावें, पर लखनवी सम्पादक, नजाकत की राजधानी में रहने पर भी, इतने बेदर्द हो जायँ कि उन्हें चलने से न रोकें, यह बड़े परिताप की बात है।

'माधुरी' की इसी संख्या में 'क' नामक लेखक ने 'साहित्यालोचन' शीर्षक लेख में बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए. की 'साहित्यालोचन'-पुस्तक की आलोचना क्या की, व्यर्थ निन्दा लिखी है। 'साहित्यालोचन' भले ही 'साहित्य दर्पण' के जोड़ की पुस्तक न हो, पर वह कुछ नहीं है, यह वही कहेगा, जिसे साहित्य के किसी भी अंग का ज्ञान नहीं—साहित्य के नाम से जो बिलकुल कोरा है। 'माधुरी' के सम्पादकों को चाहिए था कि ऐसी आलोचना के लेखक का पूरा नाम दे देते। अच्छा अब 'क' महाशय के भाषा ज्ञान की भी थाह लीजिए। आप लिखते हैं—"मगर पिछले पाठकों को तो (!) इसके पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है?" 'तो' इस वाक्य में वैसे ही चमक रहा है 'हंस मध्ये वको यथा'। 'तो' की कोई आवश्यकता न थी। आप लिखते हैं—"सम्भव है, जो कुछ बाबूसाहब ने इस विषय में पढ़ा हो, उसको शायद (!) इसलिए कुछ संक्षेप में लिख लिया हो...।" आलोचना के लेखक महोदय! आप जब 'सम्भव' लिख चुके तो 'शायद' बेचारे को भला क्यों सजा दी? आपके सम्भवतासूचक वाक्य का अन्त ही न हो पाया और शेख 'शायद' मियाँ डट गये! सम्भवता का यह इतना डबल फोर्स क्यों?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 नवम्बर, 1923। **चाबुक में संकलित**]

## चाबुक-6

"सुन लीजे गोश-दिल से मेरे मुशफ़िक़ा य' अर्ज़।
मानिंद-बेद ग़ुस्सः से मत थरथराइये।।"—इंशा

लोग कहते हैं, इस समय 'माधुरी' हिन्दी-संसार की श्रेष्ठ पत्रिका है। दबी जुबान यही हम भी कहते और मानते हैं। खुलकर कुछ इसलिए नहीं कहते कि कहीं हमारी गुरुता का रंग न फीका पड़ जाय!

उसके इसी कार्तिक के अंक में अग्रलेख है 'भू-सम्पत्ति और भूमिकर'। लेख अच्छा है परन्तु उसकी हिन्दी में कुछ कसर रह गयी है। 412वें पृष्ठ के 5वें पैराग्राफ में, दूसरी लाइन से आरम्भ करके, लिखा है—

"और, करद को, जो एक पुरुष होता था, विक्रेय और आधान्य माना जा

चुका था।"

पहले तो लेखक महोदय को विना धन्यवाद दिये इसलिए नहीं रहा जाता कि उन्होंने 'करद' के परिचय में उसे 'पुरुष' बताकर, हम-जैसे अनधिकारियों का बड़ा ही उपकार किया है। सम्भव था, कोई 'करद' का अर्थ 'मर्द' न सोचकर कुछ और सोच लेता। और 'विक्रेय और आधान्य' की बात न पूछिए। 'करद' के साथ यह जोड़ा ऐसा चमक रहा है और प्रयोग भी ऐसा बामुहाविरा हुआ है कि देखते ही बनता है! 'करद को माना जा चुका था' कमाल भी कर रहा है, गजब भी ढा रहा है! तभी तो मारे आनन्द के कर्ता-कर्म-क्रिया में कोई भेदभाव नहीं रह गया—आनन्दपद अलापते हुए सभी अपने आपको भूल गये हैं!

आश्विन की 'माधुरी' के 11वें नोट में है—"अभी वारम्वार मार खाकर हिन्दू-जाति ने करवट बदली थी। जान पड़ता था, अबकी उसके चोट लगी है; वह अब अवश्य उठकर, यथासम्भव शीघ्र ही, तत्परता के साथ संगठित होकर, शक्ति की आराधना के साथ शान्ति, मैत्री, साम्य का साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।" वाह भई, तुमने इस पिछले पूरे दो हाथ के सेण्टेंस को जितना सुहावना बनाया, उतना ही 'सेण्टेंस' भी दिया। क्योंकि पहले तो 'जाति ने करवट बदली थी, उसके चोट लगी', फिर 'वह साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा'। जान पड़ता है, तुम 'जाति' को उभयलिंग मानते हो, क्यों न?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 8 दिसम्बर, 1923। **चाबुक** में संकलित]

## चाबुक-7

मार्गशीर्ष की 'माधुरी' का दूसरा नोट है 'मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का पुनीत कार्य'। इस पुनीत कार्य के लिए सम्पादक-युगल की आशाजनक भाषा बड़ी ही निराशा की दृष्टि से समालोचकों की कृपा-भिक्षा माँग रही है। आप लिखते हैं—"किन्तु हमें आशा है कि जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा न रखते हों, वे भी केवल 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए मद्रास पहुँचें (?)" क्यों पण्डित-युगल! "हमें आशा है…वे भी…मद्रास पहुँचें" (!) हरे हरे! आशाजनक वाक्य में 'पहुँचें' आदेशदात्री क्रिया!—अथवा आग्रह की सूचना! आप लोगों को तो इस वाक्य का सम्पादन यों करना चाहिए था—"किन्तु हमें आशा है, जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा नहीं रखते, वे भी, केवल 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए, मद्रास पहुँचेंगे।" क्या आप अपने वाक्य से इसका मिलान करके अर्थ-संगति की परीक्षा न लेंगे?

माधुरी के 11वें नोट में "आप स्वदेश को (!) गये थे।" क्यों पण्डितजी! "आप स्वदेश गये थे" में 'को' छूट जाने से क्या रस बिगड़ जाता है? या भाषा अशुद्ध हो जाती है? आप लिखते हैं—"आशा है, इस कार्य में (के लिए?) भारतवासी यथेष्ट आर्थिक सहायता देकर परलोकगत पियर्सन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में पश्चात्पद न होंगे।"

आपके 12वें नोट में है—"आपको योरप में भेजा था।" वाह महाशय!

कभी लिखते हैं—'स्वदेश को गये थे', और कभी—'योरप में भेजा था!' यहाँ 'योरप भेजा था' लिखते तो क्या लखनऊ की हिन्दी की नाक कट जाती?

आपके सुमन-संचय में कहीं-कहीं सुमन की जगह काँटे ही रह जाते हैं। सुमन की ओर मनुष्य को पहले दृष्टि ही आकर्षित करती है और सुमन के सौन्दर्य का आनन्दोपभोग पहले दृष्टि ही करती है। आपके इन सुमनों से जब दृष्टि लिपट जाती है, तब अज्ञतावश जो काँटे उनमें रह जाते हैं, वे बड़ी बेदर्दी से आँखों में छिद जाते हैं। जैसे, आपके चौथे सुमन में है—"मूल लेखक के नाम तक को भी (!) उड़ा देते हैं", यहाँ 'भी' एक वैसा ही काँटा रह गया है। यहाँ या तो 'तक' रखते और 'भी' को निकाल देते या 'भी' को रखकर 'तक' को अलग कर देते। दोनों एक साथ रहकर काँटे से भी बुरी तरह चुभते हैं।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 जनवरी, 1924। **चाबुक** में संकलित]

## चाबुक-8

हिन्दी में कुछ लिख लेना बाँयें हाथ का खेल समझा जाने लगा है। मजाक नहीं, यह बिलकुल सच बात है। अगर झूठ मानिए तो हिन्दी साहित्य का अध्ययन कीजिए, प्राचीन नहीं—वर्तमान—1923-24 का साहित्य, आपकी आँखें खुल जायँगी। जिन्हें कलम पकड़ने का शऊर नहीं—किसी दूकान में बैठे हुए ग्यारह डेढ़े 16॥ की रट लगाये रहते हैं, वे कहलाते हैं इस बीसवीं सदी के कविभूषण। और मातृभाषा पर अखण्ड प्रेम की बदौलत किसी अंग्रेज़ी स्कूल की सातवीं कक्षा से जो पाँच बार फेल होने का सार्टीफिकेट लेकर निकल आते हैं, वे होते हैं हिन्दी के सुलेखक। प्रत्येक सम्पादकों को प्रतिदिन इसके ढेरों प्रमाण मिलते रहते हैं। सैकड़ों चिट्ठियों में कहीं एक चिट्ठी शुद्ध निकलती है। और इधर जो हर रोज दर्जनों संवादपत्र और मासिकपत्र निकलने लगे हैं, उनमें हिन्दी की दुर्दशा की हद होती देख पड़ती है। 'माधुरी' जैसी पत्रिका के लेखकों का जब यह हाल है तो दूसरे की बात ही क्या!

'प्राचीन वंग-साहित्य पर हिन्दी का प्रभाव'-शीर्षक लेख में लेखक महोदय लिखते हैं—"यदि मिथिला-प्रदेश के हिन्दी महाकवि विद्यापति ठाकुर वंग-भाषा के आदिकवि होते, जैसा कि बहुत से बंगाली विद्वानों का मत है, तो यह प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं (!) कि बंगला पर हिन्दी का प्रभाव पड़ा है।" 'यदि' और 'तो' के संयुक्त वाक्यों में काल का कुछ भी विचार नहीं किया गया। एक की क्रिया भूतकाल की और दूसरे की वर्तमान काल की। 'है' लुप्त! 'नहीं' के बाद 'है' का प्रयोग हिन्दी में अक्सर नहीं किया जाता। कभी-कभी संयुक्त पदों में काल की उलटी चाल देखी जाती है, परन्तु यहाँ 'तो प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं' खटकता है। यह वाक्य यों लिखा जाना चाहिए था—'तो प्रमाणित करने की आवश्यकता न होती कि…'

भाद्रपद 1980 से 'श्रीशारदा' का सम्पादन अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा प्राप्त दो सज्जन, श्रीयुत मनहरकृष्ण गोवलकर, बी. ए., एल.-एल. बी. और श्रीयुत गणेश-प्रसाद भट्ट, बी. ए., एल.-एल. बी. करने लगे हैं। ये डबल बी. ए., एल.-एल. बी.

महोदय हिन्दी क्या लिखते हैं, उसके नाकों दम कर देते हैं। आपको विश्वास न हो तो हम प्रमाण पेश करते हैं, आप कृपापूर्वक देखते जाइए—राजनैतिक प्रगति के दूसरे काल में लिखा है—"अब समय आ गया है कि कांग्रेस एक दल मात्र की संस्था न हो (!) उसको इतनी (!) व्यापक होनी (!) चाहिए कि भिन्न-भिन्न दलवाले उसमें रहकर उसकी सेवा कर सकें।" सम्पादक महोदयों से हमारा नम्र निवेदन यह है कि वे सम्पादन करने के साथ ही हिन्दी के किसी विद्वान का लिखा व्याकरण भी पढ़ते जायँ। जब कि अभी तक आप लोगों को 'उसको होना चाहिए या होनी चाहिए' का प्रयोग नहीं मालूम तो परमात्मा जानें, किस तरह आप लोग इस इतनी बड़ी पत्रिका का सम्पादन करेंगे! सच पूछिए तो हिन्दी की कसौटी पर आपका शायद ही कोई वाक्य खरा उतरता है।

"महात्मा गाँधी के··· कार्यक्रम को पूर्ण करने···चेष्टा करें और जितने (!) शीघ्र हो सके···स्वराज्य प्राप्त करें।"

"जिसमें उसके···स्वराज्य प्राप्त करने की आज्ञा दी है।" (किसने?)

"मृत्यु में (!) यहाँ की पृथ्वी ने उन्हें अपने हृदयस्थल में स्थान दिया है।"

"महात्मा गाँधी के कारागार के (कारागार जाने के नहीं?) पश्चात", "यदि समाचार पत्र न मानें तो कांग्रेस के सदस्य उसका (उनका?) त्याग कर दें," आदि और भी अनेक पद जिनके उद्धरण स्थानाभाव के कारण नहीं दिये जा सके, ऐसे हैं जो किसी पत्रिका की शोभा ही नहीं बिगाड़ते, किन्तु हिन्दी की उन्नति के बाधक भी हैं।

आश्विन की 'श्रीशारदा' के प्रथम पृष्ठ पर 'किरीट' उपनामधारी किसी कवि-महोदय की एक कविता प्रकाशित हुई है। कविता के कालमों की सजावट देखकर मालूम हुआ कि 'कांचनजंघा' के साथ 'किरीट' जी का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि कविता किरीटनुमा है। शीर्षक है 'विजयाह्वान'। तुकबन्दी में फर्क बालभर नहीं रह गया। 'पास, हास' आदि अनुप्रास बड़े ढंग से रखे गये हैं। आजकल के तुक्कड़ तो बस अनुप्रास की पूँछ पकड़कर कविता-वैतरणी पार होते हैं, भाषा और भावों के संगठन पर चाहे पत्थर ही पड़े। उसमें एक जगह है—

"जो हम चिन्ता छोड़ मनाये (मनाते?) गये सदा उत्सव हर साल,
तो प्राचीन प्रथा में होगा क्यों कुछ परिवर्तन विकराल।"

इस कविता से तो बेहतर यह था कि यहाँ एक खासा लट्ठ का चित्र अंकित कर दिया जाता, तो लोग देखकर कुछ रसानुभव भी करते! एक जगह और लिखा है—

"समय चक्र का फेर बुरा है, हो जावे चाहे जो आज,
पर संशय का पात्र नहीं है, भारत के भविष्य का साज।"

ठीक है, आप कविता लिख रहे हैं या ज्योतिष उद्‌गीर्ण कर रहे हैं। अगर भविष्य के शब्द आपके पेट में आवश्यकता से अधिक चले गये हों तो कविजी! सावधान, कहीं हाज़मा न बिगड़ जाय। फिर 'वर्तमान' से 'चूरण' मिलने की आशा छोड़ देनी पड़ेगी। हमारी विनय पर ध्यान दीजिए—

"तुकबन्दी के लिए तुम्हें हम धन्यवाद देते कविराज,
किन्तु प्रार्थना, कविजी! रखना भाषा-भावों की भी लाज।"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 19 जनवरी, 1924। **चाबुक** में आंशिक रूप से संकलित]

इस बार, पौष की 'माधुरी' में, एक नोट निकला है, 'समालोचना का अधिकार'। माधुरी-सम्पादकों ने अपने आचार्य के आसन पर किसी अँगरेज साहित्यिक को प्रतिष्ठित करके, समालोचना के सम्बन्ध में पहले उन्हीं के उद्‌गारों को उद्‌धृत किया है। जिन अँगरेज-महोदय की उक्तियों को आप लोग 'बाबा-वचनं प्रमाणम्' समझकर दूसरों पर अपनी निस्सार सम्मति लादना चाहते हैं, उचित तो यह था कि आप लोग उनका नामोल्लेख भी कर देते। माधुरी में उद्‌धृत अँगरेज साहित्यिक के प्रमाण-वाक्य ये हैं—"समालोचना एक ऐसा काम है कि इसके द्वारा आदमी बहुत थोड़ा परिश्रम करके, बहुत कम कष्ट उठाकर, नाम पैदा कर लेता है, और भयानक हो उठता है। (क्यों ? किस समालोचना से मनुष्य नाम पैदा करता है ? क्या उस समालोचना में बेसिर-पैर की बातें रहती हैं ? अगर हाँ, तो उससे किसी का नाम नहीं होता, हाँ बदनामी जरूर होती है। अतएव आप उन नामी अँगरेज साहित्यिक से —यदि वे जीवित हैं —पूछिए, वह कौन-सी समालोचना है जिससे बिना परिश्रम के और बिना कष्ट उठाये मनुष्य स्वनामधन्य हो जाता है ?) प्रकृति देवी ने बहुत ही कम लोगों को सृष्टि करने की क्षमता दी है। (कारण ? यह कहाँ का दर्शन है ? और प्रकृति और मनुष्य में क्या भेद है, यह उनकी लिखी किसी पुस्तक से आप लोग बतला दें तो बड़ी कृपा होगी। हम भी समझ जायँगे, साहब बहादुर हिन्दू-दर्शनों से कोसों आगे बढ़ गये और मनुष्य को प्रकृति से भिन्न प्रमाणित कर दिया। परन्तु सम्पादकजी, कोई-कोई दर्शनकार कहते हैं, प्रकृति अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ मनुष्याकार में मौजूद है।) जो विद्याएँ केवल परिश्रम से ही प्राप्त हो सकती हैं, उनको प्राप्त करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ता है कि कोई इच्छापूर्वक उसे बरदाश्त करने के लिए राजी न होगा। (वाह ! जैसे प्रकृति का परिचय बिना प्राप्त किये ही आपने उसका हवाला लिख डाला और यों परिश्रम करने से मुँह छिपाया।) तथापि देखा जाता है कि हर एक आदमी दूसरे आदमी की रचना पर राय जाहिर कर सकता है। प्रकृति ने जिसे दुर्बल बनाया है, और आलसी स्वभाव ने जिसे मूढ़ बना रक्खा है, वह भी समालोचक बनकर अपने योग्यताभिमान को अखण्डित बनाये रख सकता है। (सम्पादकजी, यदि आपने उन साहित्यिक महोदय की उक्ति का अनुवाद किया है तो अंग्रेज़ी को आप हिन्दी साँचे में नहीं ला सके। 'बरदाश्त करने के लिए राजी न होगा' की जगह 'बरदाश्त करने के लिए राजी न होता' बैठाकर सम्पूर्ण वाक्य के भाव और अर्थ संगति की ओर ध्यान दीजिए। और जहाँ 'सकता सकता' लिख मारा है, वहाँ 'सकना' धातु का प्रयोग न होना चाहिए। वहाँ तो 'राय जाहिर करता है या कर देता है', 'अपने योग्यताभिमान को अखण्डित बनाये रखना चाहता है', लिखना था। साहब अपने कथन के प्रतिकूल शायद यह भी जानते हैं या जानते रहे होंगे कि कोई भी आलसी स्वभाव के शिथिल हाथों का गढ़ा मूढ़ यदि सच्ची समालोचना करता है —यदि उसकी युक्तियोजना विचार की एक मजबूत जंजीर सिद्ध होती है, तो वह सर्वथा मान्य है।)

नहीं मालूम, वह अकृतज्ञ कौन है जिसने साहित्य की दहलीज पर पैर रखते ही सम्पादक महोदयों के मुलाहिजे से मुँह मोड़ा—कर्तव्यपालन से बाज आया—पुराने साहित्य-सेवी की पगड़ी पर हाथ बढ़ाया। परन्तु सम्पादकयुगल जासूसी में बड़े ही सिद्ध निकले। क्योंकि पुराने साहित्यिक की पगड़ी उतारने के लिए बाँया

हाथ बढ़ानेवाले'—नहीं—वालों का पता लगा ही तो लिया। सुनिए, उनके कथनानुसार—नहीं लिखनानुसार, ये पगड़ी पर बाँया हाथ फेरनेवाले वही आलोचक हैं जो आपके यहाँ आपकी मर्जी के खिलाफ नौकरी के लिए अर्ज़ी लेकर जाते हैं और मूँछों पर ताव देते हुए घर चले आते हैं, या जिनकी कविता या कहानी नहीं छपती या जिनकी पुस्तक समालोचना के पवित्र नाम पर कलंक-कालिमा पोतनेवाली होती है, या जिन्हें कालिदास का ओहदा नहीं दिया जाता —आदि आदि। इनमें एक वे भी हैं जो 'भी' 'तक' की भूल दिखाकर किसी सुयोग्य की सारी योग्यता धूल में मिला देते हैं। बस, यहीं हमें कुछ कहना है। 'भी' और 'तक' की भूल यदि भूल है तो उसे दिखाना किसी की योग्यता को मिट्टी में मिलाना नहीं है, और 'माधुरी'-सम्पादक ऐसे लोगों को भले ही उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहें, पर साहित्य क्षेत्र में वे सदा आदरणीय समझे जायँगे। 'मतवाला' की किसी गत संख्या में आपका 'भी' और 'तक' का एक भद्दा प्रयोग दिखाया जा चुका है। तो क्या इससे आपकी योग्यता की जड़ उखाड़ डाली गयी ? एक अक्षर के इधर-उधर होने से अर्थ का कितना बड़ा अनर्थ हो जाता है, इसके प्रमाण के लिए आपको दूर न जाना होगा। 'रूप-नारायण' शब्द का प्रथम अक्षर अगर गलती से न लिखा जाय तो अवशिष्ट अक्षरों के अर्थ में कैसा अनर्थपात हो जाता है, इसका विचार पाठक स्वयं करके देखें। कच्चे समालोचकों पर 'माधुरी'-सम्पादक बेतरह बिगड़े हुए हैं; यहाँ तक नाराज हैं कि उनके कान मलकर शिष्टता का पाठ पढ़ाने के लिए सच्चे समालोचकों पर, आदेशदाता का सवाँग रचते हुए, व्यर्थ ही दबाव डाला है। 'माधुरी'-सम्पादक पण्डित रूपनारायण पाण्डेय के अनुवाद की थोड़ी-सी बानगी हम यहाँ पेश करते हैं। समालोचक प्रवर समालोचना करने के पहले ज़रा सोच लें, जिन महाशय ने एक दूसरी भाषा के भावों की ऐसी हत्या की—बिना समझे ही कुछ-का-कुछ लिख मारा, उन्हें सच्ची समालोचना के सम्बन्ध में आचार्य के आसन पर से सम्मति-प्रदान करने का क्या अधिकार है ?

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय की अनुवादित पुस्तक 'बहता हुआ फूल' के पहले परिच्छेद की संक्षिप्त आलोचना हम कर चुके हैं। अब कुछ पंक्तियों में दूसरे परिच्छेद के सिर्फ दो पैराग्राफों की भाषा और भावों को पाण्डेयजी के अनुवाद-चातुर्य का प्रमाण देने के विचार से सच्चे समालोचकों के सामने पेश करते हैं।

मूल बंगला में है—"एकखानि एति मिहि काठिर विचित्र बुननेर मछलन्देर मादुर।" जिसका पाण्डेयजी ने अनुवाद किया—"एक बढ़िया मुलायम बिछौने से शोभित चटाई।" यहाँ 'एक' की जगह 'एक' और 'मादुर' की जगह 'चटाई,' बस यही दो शब्द यथार्थ अनुवाद के रूप में आये हैं, बाकी कुल शब्द पाण्डेयजी के जोड़े हुए हैं। 'बंगला' का अर्थ कुछ और है और अनुवाद का अर्थ कुछ और। क्या इसी को अनुवाद कहते हैं ? बंगला का यथार्थ अर्थ है—"एक बहुत ही बारीक सीकों की विचित्र ढंग से बिनी बढ़िया चटाई ('मछलेन्दर मादुर' सीतलपाटी को भी कहते हैं)।" पाण्डेयजी ! आपने 'बढ़िया मुलायम बिछौने से शोभित' इतना बड़ा वाक्यांश इसमें कहाँ से जोड़ दिया ?

"कापड़ेर उपरे कोमरे गामछा जड़ाइया" का अनुवाद है—"आँचल कमर से लपेटे।" मूल में आँचल का कहीं नाम तक नहीं है, पर पण्डितजी ने कमर से आँचल लपेट ही तो दिया ! 'गमछा' का मतलब आप 'आँचल' से निकालते हैं ! क्या 'गमछा' शब्द आपको हिन्दी-कोष में नहीं मिला ?

"गिन्निर गलाय खूब मोटा हेंसोहार" का अनुवाद हुआ "उसके गले में बहुत मोटी सोने की हँसली है।" पाण्डेयजी, 'हेंसोहार' और 'सोने की हँसली' में जमीन-आसमान का अन्तर है। हँसली के आकार का हार कभी हँसली नहीं हो जाता। "हाँसलिर मट प्रकाण्ड अनन्त" का अनुवाद किया "नक्काशीदार अनन्त !" हँसली की तरह मोटा होने ही से बंगाली उस अनन्त को बहुत मोटा समझते हैं। आपने अकारण 'नक्काशीदार' बैठा दिया है। अगर आपको हिन्दीवालों की सुविधा का खयाल था तो वह अनुवाद न करना था जिसमें हिन्दी समाज से बिलकुल भिन्न चरित्र के पात्र-पात्रियों का चित्रण किया गया है। यदि अनुवाद में रहन-सहन, आचार-विचार और साज-सज्जा बदल दिये गये तो एक दूसरे समाज के चरित्र-चित्रण का कितना अंश बच जाता है ? "पाये एक गाछा मोटा बाँकमल" का अनुवाद कर डाला "पैरों में कड़े और बल पड़े हैं !" 'बल पड़े हैं' कहाँ पा गये, भगवन् !

बंगला में है "कांकले चार-आंगुल चवड़ा चन्द्रहार" और आप लिखते हैं "वक्षःस्थल में चार अंगुल चौड़ा चन्द्रहार !" भाव के कलेजे में कटार भोंक दिया ! पण्डितजी, दूसरों के कान मलने का इरादा जरा देर के लिए छोड़ दीजिए, और अपने कानों के कीड़े झाड़कर सुनिए; 'कांकले' का अर्थ 'वक्षःस्थल में' नहीं है, बंगला में 'कटि' को 'कांकल' कहते हैं; और 'चन्द्रहार' कहते हैं 'करधनी' को। 'कमर में चार अंगुल चौड़ी करधनी' की जगह 'वक्षःस्थल में चार अंगुल चौड़ा चन्द्रहार' लिख मारा ! हिन्दी में चन्द्रहार भले ही वक्षःस्थल पर लटकाया जाता हो, पर बंगाल में कमर से ऊपर उसकी पहुँच नहीं होती; वह सदा गुरु नितम्बों ही की शोभा बढ़ाता है। पण्डितजी, क्या आप ऐसी ही सर्वज्ञता के बल पर दूसरों के कान मलकर शिष्टाचार का पाठ पढ़ाइएगा ? यदि हाँ, तो बतलाइए, ऐसी भद्दी भूलों के लिए आप स्वयं क्या सजा कबूल करते हैं ? आपने जैसा लिखा है, आपके लिए तो वह कान मलनेवाली सजा भी यथेष्ट नहीं होती।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 जनवरी, 1924। असंकलित]

## चाबुक-10

'सरस्वती' हिन्दी की सर्वोत्तम पत्रिका है। पूज्यपाद द्विवेदीजी के परिश्रम से वह अँगरेजी के 'माडर्न रिव्यू' और बंगला के 'प्रवासी' आदि प्रतिष्ठित-पत्रों के जोड़ की हो गयी है। उसकी भाषा भी हिन्दी के लिए आदर्श है। जब तक द्विवेदीजी उसके सम्पादक थे तब तक उसकी भाषा कितनी सुन्दर और निर्दोष होती थी, यह हिन्दी के सभी पाठकों को विदित है। इसमें सन्देह नहीं कि, सभी पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी नहीं हो सकते; परन्तु फिर भी, किसी सुयोग्य पुरुषरत्न द्वारा जिस आसन की प्रतिष्ठा हो जाती है, उस पर उनके पश्चात चाहे जिसे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हो, वह आदर और सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है। अतएव हिन्दी-संसार बख्शीजी को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। परन्तु हमें यह लिखते हुए दुःख हो रहा है कि बख्शीजी की भाषा को हम हिन्दी की आदर्श भाषा नहीं मान सके। हमें उनकी भाषा में, उसके पद-प्रकरण में, एक नहीं—अनेक, यत्र-तत्र

नहीं,—प्रायः सर्वत्र दोष-ही-दोष देख पड़ते हैं। सम्भव है, यह हमारी अल्पज्ञता के कारण हो, और यह भी सम्भव है कि सी. पी. (मध्यभारत) की हिन्दी भी कुछ ऐसी ही होती हो।

मार्च 1924 की 'सरस्वती' के दूसरे नोट के चौथे पैराग्राफ में है—"अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गयी है कि उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है।"

इस पर निवेदन यह है कि, 'उनकी स्थिति उन्नत होने के कारण उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है,' यदि इस प्रकार से भाव प्रकट किया जाता तो 'पड़ सकता है' क्रिया का प्रयोग शुद्ध माना जा सकता था; परन्तु, जबकि 'इतनी ऊँची' की उन्नत दशा समझाने के लिए एक दूसरे वाक्य (clause) की सहायता ली गयी तो 'पड़ सकता है' इस क्रिया का प्रयोग उस वाक्य में न होना चाहिए था। वहाँ, इतनी बड़ी समापिका क्रिया की आवश्यकता न थी। वहाँ तो एक ऐसी क्रिया की आवश्यकता थी जो किसी विशेषण या परिचय रूप में व्यवहृत होने की सूचना स्वयं देती। हमारी मन्दबुद्धि के अनुसार तो वहाँ 'पड़ सकता है' नहीं, 'पड़े' या 'पड़ सके' क्रिया का व्यवहार होना चाहिए था। सम्पूर्ण वाक्य इस तरह होता है—'अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गयी है कि उनके कहने का प्रभाव पड़े या पड़ सके।'

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 अप्रैल, 1924। **चाबुक** में संकलित]

## चाबुक-11

अप्रैल की 'सरस्वती' के विविध विषय में 9 नोट हैं। सभी एक से एक बढ़कर पहेलियाँ हैं। आधुनिक युग के विशेषत्व और दर्शन-धर्म-काव्य-इतिहास-अर्थशास्त्र-प्राणिशास्त्र-कला-संगीतशास्त्र की गतियों पर जो प्रकाश डाला गया है, उसमें सम्पादक महोदय का सर्वशास्त्र-पारदर्शी कहलाने का उद्देश्य भले ही सिद्ध हो जाय—ऐसी गम्भीर गवेषणा, साधारण पाठकों की समझ में न आने के कारण, भले ही प्रशंसनीय कहलाये, परन्तु वास्तव में, आपके इन वेदवाक्यों में सार कुछ भी नहीं है। आपकी इस अनधिकार-चेष्टा पर वही विद्वान हँसेंगे जिनके सामने, शब्दों के विकट व्यूह में छिपाये जाने पर भी, आपके भाव अपने यथार्थ रूप को छिपा न सकेंगे। स्थानाभाव है, अतएव हम आपके 'दर्शन की गति' शीर्षक नोट की ही आलोचना करते हैं।

आपका शीर्षक है 'दर्शन की गति', परन्तु आप दर्शन को पाश्चात्य 'फिलासफी' शब्द मानकर उसका अर्थ बतलाते हैं 'ज्ञानलिप्सा'। अँगरेजी में फिलासफी का अर्थ ज्ञानलिप्सा (The search for wisdom) ठीक है, परन्तु संस्कृत में दर्शन का अर्थ ज्ञानलिप्सा नहीं, इस स्थल में उसका अर्थ है 'उपलब्धि'। और तो दर्शन (दृश्-अनट) खुद अपना सीधा अर्थ जाहिर कर देता है। 'ज्ञानलिप्सा' में अज्ञता है और 'दर्शन' या 'उपलब्धि' में बोध। दोनों के अर्थ एक-दूसरे के सर्वथा विरोधी हैं।

आप लिखते हैं—"दर्शनशास्त्र के विकाश में इसी ज्ञानलिप्सा ने, इसी

'जिज्ञासा ने काम किया है। हिन्दू-शास्त्रकारों ने अधिकारियों को ही ज्ञान देने के लिए आदेश दिया है। ये अधिकारी जिज्ञासु ही हैं।" जी हाँ, जिज्ञासु हैं; तो क्या जिज्ञासा या जिज्ञासा का अधिकार 'दर्शन' हो गया? दर्शनशास्त्र के विकाश में जिज्ञासा झलकती है या उपलब्धि अथवा सत्य अनुभव? 'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्' 'स तु दीर्घकालनैरन्तरर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि:' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्' आदि दर्शन-वाक्यों में जिज्ञासा सूचित होती है या उपलब्धि-—सत्यज्ञान?

(क्रमशः)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 मई, 1924। असंकलित]

## चाबुक-12

आप लिखते हैं—"सच तो यह है कि जिन तथ्यों पर समाज का अस्तित्व निर्भर है उनका अस्तित्व दर्शन-शास्त्र पर अवलम्बित है। यहीं धर्म और दर्शन-शास्त्र का सम्मिलन होता है, यहीं समाजनीति और व्यक्तिनीति का सामञ्जस्य होता है और यहीं राजनीति आचार-शास्त्र का अनुगमन करती है।" समाज के अस्तित्व को दर्शन-शास्त्र पर अवलम्बित बतलाने के साथ-साथ, उद्धरण देकर आपको प्रमाणित करना था कि 'स्मृति' की अमुक व्यवस्था 'दर्शन' के अमुक सूत्र के अनुसार की गयी है। यदि आप 'सरस्वती' के पाठकों को ऐसे अद्भुत विचारों की सीधी-टेढ़ी गलियाँ न झँकायें तो बड़ी कृपा हो। 'यहीं' लिखकर, आप धर्म, दर्शन, समाजनीति, व्यक्तिनीति, राजनीति, आचार-शास्त्र का महासम्मेलन कर डालते हैं, अच्छा करें, पर इतना तो बतलायें कि वह 'यहीं' है किस जगह की सूचना? यदि दर्शन-शास्त्र के मानस-पुत्र, समाज को रोके रहनेवाले, आपके अज्ञात तथ्य ही को, व्याकरण-शास्त्र की आज्ञा से, 'यहीं' का आसन मिलता है, तो यह तो बतलाइए—एक बार 'दर्शन' को 'तथ्यों' का उत्पत्ति-कारण बतलाकर, फिर उसी दर्शन का तथ्यमय 'यहीं' में किस उपाय से सम्मेलन कर डालते हैं? जबकि 'यहीं' के द्वारा सामाजिक आधार या समाजनीति की ही सूचना मिलती है, अर्थात सामाजिक तथ्यों के स्थान पर अधिकरण के रूप से 'यहीं' का प्रयोग होता है, तो उस 'यहीं' (समाजशास्त्र या सामाजिक तथ्यों) में, समाजनीति और व्यक्तिनीति का कैसे सम्मिलन करते हैं? आपका 'यहीं' खुद समाजनीति के स्थान में आया है, तो समाजनीति में ही समाजनीति का सम्मिलन कैसा? आपके वाक्य और अर्थ में, भिन्न धर्मों का मेल दिखना ही सौन्दर्य है, परन्तु कभी वे इस तरह पृथक हो जाते हैं कि मेल होता ही नहीं और कभी उनमें भिन्नता ही नहीं रह जाती कि भिन्नता का मेल देखकर पाठकों को आनन्द हो—जैसे समाजनीति में समाजनीति का मेल!

अगस्ट कोम्ट के मत का बहुत-कुछ भाव 'सरस्वती'-सम्पादक के उद्धृत वाक्य में मिलता है। विचारमार्ग से योरप में जिसे फिलासफी कहते हैं, हम उसे साधारण विचार से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते। अगस्ट कोम्ट ने सामाजिक, राजनीतिक और पुरोहिती प्रथाओं के सुधार आदि पर बहुत-कुछ लिखा है। विश्वप्रजावाद (Cormopolitanism) और समाजतन्त्रवाद (Socialism) के जैसे भाव कविवर रवीन्द्रनाथ के हैं, वैसे ही उनके भी। कविवर रवीन्द्रनाथ की तरह, अगस्ट

कोम्ट भी अपने 'पॉलटिक पॉजिटिव' नामक ग्रन्थ में विश्वमानवधर्म के स्वप्न देखते हैं। 'Ceur' नामक ग्रन्थ में मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान आपने बहिःप्रकृति द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की है। कभी आप मनुष्य को प्रकृति से समझते हैं और कभी प्रकृति को मनुष्य से। अस्तु अपने इसी भाव से प्रेरित होकर आप विश्वमानव की उपासना में तत्पर हो जाते और विश्वमानव की पूजा में मनुष्यों को सभी चिन्ताएँ —सारी चेष्टाएँ लगा देने के लिए उत्साहित करते हुए भविष्य की शासन-शृंखला को सामाजिक साम्राज्य (Sociocracy) में परिवर्तित करने की आज्ञा देते हैं। इसी सामाजिक साम्राज्य को वे एक स्थायी संघ मानते हैं और यहीं दुनिया भर के भाव एकत्र कर देते हैं। कैसी कल्पना है? इसी जगह बख्शीजी का भी महा-सम्मेलन होता है। बख्शीजी का पूर्वोद्धृत 'यहीं' इसी जगह की सूचना है। आप इसी सामाजिक छप्पर की थुन्नियों को दर्शन के मजबूत विचार बतलाते हुए, झप-कियों में सब भाव, सब शास्त्र, सारी नीतियाँ समेटकर आराम से सो जाते हैं और साहित्य-संगीत-कला-आदि के कितने ही स्वप्न, एक ही नींद में, देख लेते हैं!

अब ऐसे साम्यवाद—विश्वमानववाद का जरा परिणाम भी देख लीजिए। कोई वाद भारत के लिए नयी बात नहीं है। बौद्ध-धर्म का उद्देश साम्यवाद ही था। परन्तु जिसने दलबन्दी हटाने की चेष्टा की, वह खुद एक दल में बँध गया। इस तरह साम्यवाद में वैषम्यवाद पैदा हो गया। यही बात फ्रेंच विप्लव में भी पायी जाती है। जिस वैषम्य को दूर करने के लिए खून की नदियाँ बहायी गयीं, वही वैषम्य अब दूसरे आकार में दिखायी दे रहा है। जन्मगत अधिकार से हटा तो अब वही वैषम्य धनगत अधिकार में आ डटा। ऐसी प्रतिकूल युक्तियों पर अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं, न समय ही है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 मई, 1924। असंकलित]

## चाबुक-13

जिन पत्रों को कोई कौड़ी के मोल नहीं पूछता, उनके सम्पादक पत्र की प्रसिद्धि के लिए किसी प्रतिष्ठित पत्र या किसी प्रतिष्ठित मनुष्य के विरोध में लिखना आरम्भ कर देते हैं। 'कवीन्द्र' के सम्पादक भी अब उक्त नीति पर कलम चलाने का दुस्साहस कर रहे हैं। उसके सम्पादक हैं कोई स्वामी नारायणानन्द सरस्वती। आप 'स्वामी' भी हैं और 'सरस्वती' भी हैं। आपके 'स्वामी'-त्व का पता आपके विकारग्रस्त लेख और भद्दी तुकबन्दियाँ देती हैं और 'सरस्वती'-त्व का पता 'कवीन्द्र' का प्रथम अंक—विशेषतः उसका 'चेतानाम्'। अतएव आपके पाण्डित्य के विषय में अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। आपके पत्र के तीसरे अंक की टिप्पणियों में जो वाहियात बातें लिखी गयी हैं, उन पर विशेष कुछ लिखना अपने ही वक्त को बरबाद करना है। एक जगह आपने लिखा है—"जैसे एक योग साधक जरा भी असावधानी करने से अपने प्राणों तक पर आफत लाद देता है, ठीक उसी प्रकार यदि छायावाद की कविता सिद्ध न हुई तो वह कवि महाशय को भी ले डूबेगी (!)।" 'तो वह भी कवि महाशय को ले डूबती है' न लिखकर जिस तरह आप व्याकरण को ले डूबे। बीसियों जगह 'छायावाद की काव्य, छायावाद की

काव्य' लिख मारा है। जिन दो पंक्तियों का आपने उद्धरण दिया है, उन्हें समझने के लिए इतने उतावले न होकर अगले जन्म तक के लिए धैर्य रखिए, क्योंकि 'भवति विज्ञतमः क्रमशो जनः'। आपके पूर्वोद्धृत वाक्यों से प्रमाणित होता है कि योगभ्रष्ट होकर योगसम्बन्धी आफतों का आपने खूब ज्ञानसंचय किया है। देखें, अब 'कवीन्द्र' में कविताभ्रष्ट होकर आप कितना ज्ञानोपार्जन करते हैं। 'सरस्वती' को तो प्रथम दर्शन में ही 'चेतानाम्' लिखकर चेतनाः ष्ट कर चुके !

'छायावाद' पर आपने जो कुछ लिखा है, उसे पढ़कर हमें एक देहाती कहावत याद आ गयी। किसी लड़के ने अपने पिता से कहा था, "बाबूजी, मैं भी 'फफीम' खाऊँगा।" पिता ने जवाब दिया, "बेटा, पहले नाम सीख लो, फिर 'फफीम' खाना !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 अगस्त, 1924। असंकलित]

## कसौटी-1

इधर कुछ दिनों से पण्डित नारायणप्रसाद 'बेताब' की ओर हिन्दी-संसार की उँगली उसी प्रकार उठती है, जैसे अँधेरी रात में किसी अदेख भूत की ओर उसकी डरावनी सूरत के नाम ही से घबराये हुए बालक डरने और डराने का इशारा करते और आपस में एक-दूसरे को डरी निगाहों से देखते हैं। परन्तु वही जब कुछ बड़े होते हैं, उनमें कुछ बुद्धि का विकास होता है, सर आलिवर लाज जैसे विद्वानों द्वारा समर्थित पश्चिमी पिशाचमत और पूर्वीय योगियों का योगिनीवाद आदि वे पढ़ते और मनन करते हैं, तब उन्हें अपनी बालप्रकृति पर हँसी आती है।

आज से कई साल पहले—जब 'सरस्वती' के सम्पादक हिन्दी के धुरन्धर आचार्य विद्यावयोवृद्ध पूज्यपाद पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, 'सरस्वती' के, पुस्तक-परिचय के आरम्भ ही में 'बेताब'जी की प्रासपुंज-पुस्तक की समालोचना हमने पढ़ी थी। वह समालोचना इतनी अच्छी थी कि उसके कुछ शब्द हमें अभी तक याद हैं। हमें अपनी स्मरणशक्ति पर पूर्ण विश्वास है। उस आलोचना में 'बेताब'जी के इस मत का कि कविता में क्रिया का अन्त में आना ही ठीक है, द्विवेदीजी ने विरोध किया था। आपने लिखा था—"भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती", इस कविता-वाक्य में 'गूंजे' ने भारती के सौभाग्यभाण्ड को कहाँ तक फोड़ फेंका ? और शायद द्विवेदीजी ने अपने मत की पुष्टि में गोस्वामीजी का भी कोई पद्यांश उद्धृत किया था; साथ ही, 'बेताब'जी से उनके लिखे हुए, 'क्यूँ, ज्यूँ, त्यूँ' को धता बताने और 'सम्वाय' लिखना छोड़ देने की प्रार्थना की थी। इन दो-चार छोड़ने योग्य विषयों का विरोध करने पर भी द्विवेदीजी की लेखिनी ने उनकी जितनी प्रशंसा की, उतनी उसने शायद ही किसी दूसरे की की होगी; उसने यहाँ तक लिखा—

क्रियेत चेत् साधुविभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।

परन्तु जब 'बेताब'जी की एक दूसरी पुस्तक 'पद्य-परीक्षा' निकली और किसी मित्र से लेकर हमने उसे पढ़ा, तब जगह-जगह पर असाधु भाषा में किये

गये अयोग्य आक्षेपों को पढ़कर हमें बड़ा दुःख हुआ। आपकी दृष्टि में सभी धान बाईस पसेरी बिकते हैं। कवियों को आप थोड़ी भी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते। पिंगल की फाँसी से जरा भी किसी का गला छूटा कि आपने धर दबाया। फिर तो उलटी-सीधी सुनाते-सुनाते जब तक आप बेताब न हो जायँ, किसी का पिण्ड नहीं छोड़ सकते। समझ में नहीं आता कि इस पद्य-परीक्षा में परखते तो हैं आप किसी की कविता को परन्तु उदाहरणस्वरूप द्विवेदीजी को क्यों पेश करते हैं। आपको चाहिए था कि उनकी कविता में भी कहीं छन्दोभंग या यतिभंग दोष दिखाते। आपने जिसे काफिया की गलती बताया वह गलती नहीं, पुष्ट अर्थ-संगति के आगे वह बिलकुल दब जाती है। वहाँ भाव प्रधान है, काफिया प्रधान नहीं, भले ही काफिया को प्रधान समझते रहें। अपरन्तु, यदि आपकी पद्य-परीक्षा पक्षपात-पतित नहीं तो आपने उसमें कहीं-कहीं किसी-किसी की प्रशंसा में ऐसा क्यों लिखा कि कवि मस्त होकर मजमून बाँधता है, 11/13 की गिनती नहीं करता।

आपकी पद्य-परीक्षा पढ़ लेने पर हमारी बड़ी इच्छा हुई कि आपकी कोई पद्य-पुस्तक पढ़ें। अल्फ्रेड कम्पनी में आपके नाटक हम देख चुके थे। कई बार मन-ही-मन रोये भी। परन्तु मारे डर के खुलकर नहीं रो सके थे। आज रोते हैं; विश्वास है, आवाज आप तक पहुँच जायगी।

आपका महाभारत नाटक हम देख चुके थे। आज उसी की एक छपी पुस्तक हमें पढ़ने को मिली। उसे पढ़ने लगे तो 'बेताब'जी की भाषा, भाव और छन्द की दुर्दशा देखकर तबियत बिगड़ गयी।

रुक्मिणी और सत्यभामा दोनों आपस में श्रीकृष्ण के लिए लड़ रही हैं। इस लड़ाई में कर्कशता नहीं, मधुरता है। रुक्मिणी की उक्ति है—

"दूध समान अमोल कपोल तो (?) हंस समान हैं (?) नन्ददुलारे।
काह न हंस निवास करें निस वासर क्षीर (छीर ?) समुद्र किनारे॥
श्याम (अर्थात ?) भये घनश्याम पधारत आपके (?) मन्दिर जात सकारे।
लख करें उठना उठने उठने कब देत हैं (?) नैन तिहारे॥"

पद्य-परीक्षा में यदि आपने कवियों को कुछ भी स्वतन्त्रता दी होती तो आपके कुल दोष क्षम्य समझे जाते। परन्तु जिस दृष्टि से आपने उनका दोषोद्घाटन किया, उसी से आपके 'तो', 'हैं' 'आपके' शब्द का 'के' और अन्तिम 'हैं' ह्रस्व होने चाहिए, अर्थात 'तो' यदि 'त' होता, 'हैं' यदि 'हँ' होता, 'आपके' यदि 'आपक' होता तो आपका छन्द छन्द की परीक्षा में पास हो जाता। आपके छन्द की तीसरी पंक्ति का अर्थ आप ही समझते होंगे, औरों के लिए तो आपने यह शब्दों का चक्रव्यूह ही रचकर रख दिया है। हम नहीं कह सकते, यदि अभिमन्यु जैसा दुःसाहसी शब्दशास्त्री इसका भेद कर सके, परन्तु इतना तो हम अवश्य कहेंगे कि प्राणघातक सातवें द्वार की तरह इसमें भी कोई ऐसा पेंच है जिसमें गला फँसा तो शास्त्रीजी भी चुल्लू भर पानी के लिए तरसेंगे। जान पड़ता है, आपने 'उठना उठने' में अद्भुत रस का समावेश किया है, न ? आपने 'प्रासपुंज' लिखकर और लोगों की 'काफिया की गलती' बतलाते हुए प्रास की अच्छी योग्यता अर्जित की, तभी तो 'कौन' का काफ़िया 'नौन' रखा।

आप सत्यभामा से कहलाते हैं—"मनमोहन प्यारे कभी मेरे 'भुवन' में आते ही नहीं ?" क्यों पण्डितजी, क्या आप 'भुवन' और 'भवन' को एक समझते हैं ? यहाँ तो आप दही के धोखे कपास खा गये।

सत्यभामा गाती है—

"कोई प्रीति की रीति बता दो नई।
करके जतन मैं तो हार गई॥"

यह वही तोमर छन्द है जिसमें गोस्वामीजी ने लिखा है—

"वहु दाम सँवारहि धाम यती।
विषया हरि लीन गई बिरती॥"

परन्तु 16 मात्राओं की जगह आपकी पहली पंक्ति में 20 मात्राएँ हैं और दूसरी में सिर्फ 17 मात्राएँ! धन्यवाद है अल्फ्रेड कम्पनी के गवैयों को जो ऐसे भी गानों को स्वर में भाँजकर ताल में चौकस उतार देते हैं। अगर आप गीत को कव्वाली कहें, जैसे कि—"गोलोक निवासी व्यास प्रभु, उस लोक कि राह बता देना," तो भी वही 16/16 मात्राओं की आवश्यकता है। 'बेताब'जी, आप संगीत के नाम से कोरे ही जान पड़ते हैं। क्योंकि आपकी इन (आठ चौक) बत्तीस पंक्तियों में से न तो कोई पंक्ति छन्द-शास्त्र के नियमानुसार ठीक है और न इसमें संगीत-शास्त्र के समविषम का ही कहीं पता है। इसी में एक जगह आप लिखते हैं—"इसी मोहनी मन्त्र का जाप करो।" क्यों 'बेताब'जी, आपने 'जाप' लिखा तो लिखा, और छन्द चौपट हो गया तो बला से, परन्तु यह 'मोहनी मन्त्र' क्यों लिखा?—आपका मतलब कहीं अर्द्धनारीश्वर का तमाशा दिखाने से तो नहीं है? फिर आप लिखते हैं—

"नहीं लाभ समय कुसमय से कभी।
ढिग् आत न इन्हीं के भय से कभी।"

यह आपकी कवि-प्रतिभा की हद है। न छन्द है, न भाषा है, न भाव है; क्या है, यह 'बेताब' जी ही कहें तो कह सकते हैं। आगे आपने लिखा है—

"ये हैं कामलता की सुरंग कली।
मैं कटेली हूँ कंटकी सूलमयी।"

छन्दोभंग की बात तो हम पहले ही लिख चुके कि छन्द एक भी शुद्ध नहीं। भाव और भाषा भी देखते जाइए। 'सुरंग' को अगर छोड़ भी दें तो 'कटेली' और 'कंटकी' रास्ता रोककर खड़ी हो जाती हैं और कहती हैं—"हमें छोड़कर कहाँ जाते हो? इतनी मिहनत करके आये तो हमारे शूल और भाले के दो-चार वार तो झेलो।"

(क्रमशः)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 नवम्बर, 1923। असंकलित]

## कसौटी-2

इस आलोच्य पुस्तक में आपकी लिखी उर्दू-फारसी की बहरों की खासी बहार है। बहरे हज़ज मुसल्लम मुसब्बाम फाईलुन् मफ़ाईलुन् मफ़ाईलुन् मफ़ाईलां-साकिन-मुतहर्रिक आदि की सार्थकता सिद्ध करते हुए आप इनमें से अनेक छन्दों को शुद्ध प्रमाणित कर देंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं; न छन्द की टाँग टूटने पायेगी, न नाड़ी छूटने पायेगी, न यति महाराज स्खलितमति होकर दूसरे के घर में घुसेंगे, न सड़ी टहनियों की काट-छाँट करने के लिए माली बनने की जरूरत होगी और न जख्म पर

मरहम-पट्टी करने के लिए डाक्टर को फीस देनी पड़गी। अगर कुछ करना होगा तो वह यह कि खड़ी बोली में (यानी वर्तमान हिन्दी में) स्वरों के (और सभी अक्षरों के) उच्चारण का शुद्ध रूप बदल देना पड़ेगा। क्योंकि, बिना ऐसा किये, साकिन और मुतहर्रिक का 'गड़बड़झाला' बेचारे हिन्दीवालों की समझ में नहीं आ सकता। उदाहरण—

"रूपट्टा पोंछता रहता 'है' हरदम 'किसके' गालों को"

यहाँ 'है' और 'के' के 'ऐ' और 'ए' को हिन्दीवाले दीर्घ ही पढ़ेंगे। क्योंकि उनको ऐसी ही शिक्षा मिली है, उनकी जुबान उन स्वरों को दीर्घ पढ़ते-पढ़ते मज गयी है। अब आप जरा गौर फरमायें, 'है' और 'किसके' के दीर्घस्वरों को यदि लोग दीर्घ पढ़ेंगे तो आपके छन्द की क्या दशा होगी ! इस दृष्टि से, दो-एक को छोड़कर, आपके प्रायः सभी छन्द अशुद्ध हैं। हाँ, आपके काफ़िये की मजबूत टाँग को चौकड़ी भरते देख लोग जरूर चौकन्ने हो जाते हैं। हिन्दी में आपका यह छन्द शुद्ध पढ़ा जा सकता है—

"फिटकरी, को, बताते हो, कि मिस्री की डली है ये"

इसका पूर्वार्द्ध भी हिन्दी में शुद्ध पढ़ा जा सकता है, परन्तु 'मफ़ाईलुन्' की लपेट में यतियों के खो जाने से उसके प्राण कठिन संकट में पड़ गये हैं। वह यह है—

"गढ़े में भे, ड़ भोली भे, ड़ के पीछे, चली है ये"

युधिष्ठिर की उक्ति में 'बेताब'जी का एक मनहर छन्द देखिए—

"जिस जगदीश्वर ने बनकर नरसिंह,
हिरनाकुशको मार प्रह्लाद को तारा है।
जिसने क्षीर सिन्धु में कछुवे का रूप लेके,
पीठ पे सुमेरु जैसा पर्वत सहारा है।
जिसने तीन डगों में नाप लिये तीन लोक,
जिसने रामरूप से रावण को मारा है।
उसी परम आत्मा ने पापियों के मारने को,
भक्तों के उबारने को कृष्ण रूप धारा है।"

'बेताब'जी आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान हैं। इसीलिए गढ़े में पैर पड़ते देर नहीं लगती। इस मनहर छन्द में 'दोय विषमनि बीच सम पद राखिये ना' से बचने के लिए कहीं तो आपने विभक्ति को शब्द से सटाकर लिखा है और कहीं उसे शब्द से अलग कर दिया है। फिर भी 'डगोंमें' की विभक्ति को हटाना आप भूल ही गये और 'दोय विषमनि बीच समपद' आ ही गया। यह भी अच्छी रही, कहीं तो विभक्ति को हटाते हैं और कहीं सटाते हैं। 'जिसने क्षीर-सिन्धु में' लिखकर आपने 'में' को अलग कर दिया और उसके साथ छन्द को विषमता के अगाध 'सिन्धु' में डूबने से बचा लिया। छन्द की प्राणरक्षा का उपाय तो खूब किया, परन्तु आपकी इस कारीगरी से किसी को आपकी कवित्वशक्ति का परिचय नहीं मिला।

(क्रमशः)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 दिसम्बर, 1923। असंकलित]

शिशुपाल वध के समय धोखे से कृष्ण की उँगली कट गयी थी। जल्दबाजी में धोखा सभी से हो जाता है। उँगली के कट जाने पर द्रौपदी ने अपनी नयी साड़ी फाड़कर उसकी धज्जी उँगुली में बाँध दी थी। उसके सच्चे भाव की तारीफ करते हुए कृष्ण कहते हैं :—

भाव सच्चा काम मरहमसे जियादा कर गया।
जख्म क्या दिल भी मेरा, तेरे वचन से भर गया॥

यह गीतिका छन्द है। 'बेताब'जी अपनी इस पुस्तक में छन्दों के नाम भी लिखते गये हैं। इसलिए हमें छन्दशास्त्र के सागर-मन्थन में वैसी कुछ दिक्कत नहीं उठानी पड़ी; अगर देवों की शक्ल के होते तो भी गनीमत थी; हम 'बेताब'जी को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, क्योंकि दानवाकार पिंगलशास्त्र की डरावनी सूरत देखने से उन्होंने हमें बचा लिया है। 'बेताब'जी के इस गीतिका छन्द में जरा-सी कसर रह गयी है। पहली पंक्ति के 'मरहमसे' में यति 'म' के बाद ही आती है, अतएव 'से' विभक्ति 'मरहम' से अलग हो जाती है। परन्तु यह बहुत बड़ा कुसूर नहीं। इसे हम क्षम्य समझते हैं। केवल दूसरी लाइन में 'मेरा' को 'मरा' पढ़ना पड़ता है। पद्य-परीक्षा में 'बेताब'जी ने ही यह कानून पास कर दिया है कि या तो अर्थ को शुद्ध मानिए या छन्द और पिंगलशास्त्र को। अतएव 'बेताब'जी से प्रार्थना है कि वे अपनी दूसरी पंक्ति को इस तरह पढ़ें, अन्यथा उस पर पिंगलशास्त्र की हत्या का अपराध लगाया जायगा :—

जख्म क्या, दिल भी मरा, तेरे वचन से भर गया।

इस तरह पढ़ेंगे तो अर्थ की असंगति का भी विशेष भय न रह जायगा।

गीतिका छन्द के वजन पर उर्दू का 'रमल मुसम्मन, महज़ूफ़—फ़ाइलातुन् फ़ाइलातुन्, फ़ाइलातुन्, फ़ाइलुन् छन्द' पूरा उतरता है। 'बेताब'जी भी विद्वत्ता दिखाने से बाज नहीं आये। उन्होंने अपनी गीतिका के साथ उसे भी रख दिया है, परन्तु आपको उर्दू छन्द का नाम लिख देना चाहिए था। क्योंकि पूर्वोक्त ढंग के दूसरे छन्द में जहाँ व्यंजन के अन्त में स्वर आया है, उस स्थल को आप उर्दू कायदे से ही शुद्ध प्रमाणित कर सकेंगे ऐसे विकारों का विकट सिद्धान्त बेचारे हिन्दी-वाले भला कब समझ सकते हैं?

आपके दूसरे छन्द में कृष्ण की उक्ति है—

"है नजर श्रद्धापे, और इस प्रेम पर, इस मानपर।
कम हैं इस धज्जी से जो मैं थान छुन दूँ थान पर॥"

यहाँ 'और+इस' का उर्दू क़ायदे से 'औरिस' पढ़ा जायगा। इस तरह उसकी एक मात्रा घट जायगी तभी छन्द शुद्ध होगा। परन्तु हिन्दीवालों के सुभीते के लिए भी आपको कुछ ध्यान देना चाहिए था। हिन्दी में ऐसे स्थलों पर लोग 'औ'इस' लिखते हैं। दूसरे, आपके 'है नजर श्रद्धापे', इस अंश के 'पे' को 'फाइलातुन्' की 'इ' में आ जाने के कारण, उर्दूवाले भले ही ह्रस्व पढ़ें, किन्तु हिन्दीवाले तो इसे दीर्घ ही पढ़ेंगे। अगर आप ह्रस्व पढ़ाना चाहें तो आपको 'है नजर श्रद्धा प' लिखना चाहिए था। अन्तिम पद के लिए भी यही एतराज है।

मनहर छन्द में, "छछिया भर छाछपे" लिखकर आप-जैसे पिंगलाचार्य भी दो विषमों के बीच में समपद रख देते हैं, यह बड़ी ही लज्जा की बात है। 'हारोंमें' और 'तारोंमें' के साथ आपने 'नारोंमें' भी अच्छा जोड़ा। अभी तक तो हम 'नर'

का स्त्रीलिंग 'नारी' ही जानते थे, आपने 'नारा' या 'नार' एक नया शब्द बतलाया। 'नार' और 'नारा' का हम दूसरा ही अर्थ जानते हैं। हमें आशा है, आप व्रजभाषा की शरण लेकर गंगा-मदार का जोड़ा सिद्ध करने की चेष्टा न करेंगे।

(क्रमशः)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 15 दिसम्बर, 1923। असंकलित]

## कसौटी-4

'बेताब'जी ने विदुर से एक दोहा कहलाया है। सुनिए—

"उदय हुआ जब आनकर पूर्वजन्मका पाप।
सम्पत सब चम्पत हुई रह गये आपहि आप॥"

क्यों पण्डितजी! आपके दोहे के चौथे चरण में 11 मात्राओं की जगह 12 मात्राएँ कैसे हो गयीं? कहीं हर्फइल्लत तो नहीं है? किसी शब्द बेचारे को अलिफेवस्ल का सान्निपातिक विकार तो नहीं हो गया? आप हमारी राय लें तो जिस कानून के बल पर 'आपही' को आपने 'आपहि' बना डाला है, उसी का गला घोंटते हुए 'रह गये' को 'रह गय' कर देना चाहिए था। आप जैसे पिंगलशास्त्र के शरीर-रक्षकों (Body-guard) के लिए क्या यह बड़ी बात थी? दूसरों के लिए तो आप कहते ही हैं कि या तो पिंगलशास्त्र का नियम मानिए या शब्दशास्त्र के पीछे चलिए; तो भला अपने लिए आप इस कानून की पाबन्दी क्यों भूले जाते हैं?

विदुर भीष्म से कहते हैं—"पितामह! ऐसे-ऐसे अज्ञानी लड़कों को समझाने से क्या लाभ है?" पण्डितजी—ओ पण्डितजी! व्यासजी और गणेशजी को बाँयें रखकर तमाम महाभारत तो आपने लिख डाला, पर भीष्म विदुर के कौन होते थे, इसकी इतनी बड़ी भूल आपसे कैसे हो गयी जो भीष्म को विदुर का 'पितामह' बना डाला? क्या आपके महाभारत के अनुसार हम भीष्म को सचमुच विदुर का 'पितामह' मान लें? पण्डितजी, दूसरे तो उन्हें 'चचा' बतलाते हैं।

और महाशय, आपकी भाषा क्या है, भूलों की पिटारी है। जरा गौर फरमाइए, पिंगलशास्त्र को छोड़कर कुछ दिनों के लिए शब्दशास्त्र के पन्ने उलटिए और "हम दिल्ली में रहते हैं, टकसाली भाषा बोलते हैं, बामुहाविरा हिन्दी लिखते हैं" ऐसे गर्व को गंगा में बहाकर, जिन वीरों ने वर्षों हिन्दी की सेवा की है, उन्हीं की लिखी पुस्तकों को पढ़कर अपने भाषाज्ञान को मार्जित कीजिए। शुद्ध हिन्दी आप तभी लिख सकेंगे। देखिए आप लिखते हैं—"बाप की बराबर" "ये सब-कुछ तो आपने हारा" "कौन-सी (किस?) चीज पर" "आखिर तो पासों के मेरे साथ प्रीति है" "है महाराज वही पहला ही (!) दाँव", "क्यूँ क्या इन्होंने उसे दाँव पर हारीं नहीं है" "हारी है, मगर एक बेहोश आदमी ने" "वो (द्रौपदी) यहाँ आने की अधिकारी (!) नहीं है"—और कहाँ तक लिखें, ये भूलें जो सर्वथा अक्षम्य हैं आपकी पुस्तक के सिर्फ 29वें और 30वें सफे की हैं, 'शक्ती'—'पंक्ती' आदि भूलें छोड़ दी गयी हैं। आपकी 87 पृष्ठों की पुस्तक के 31 $\frac{1}{8}$वें पृष्ठ तक की

आलोचना की गयी, और वह भी साधारण रीति से। जरूरत पड़ने पर आपकी समालोचना फिर कभी की जायगी।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 दिसम्बर, 1923। असंकलित]

## कसौटी-5

"रास्ता रोक के कह लूँगा जो कहना होगा।
क्या मिलोगे न कभी राह में आते जाते॥"

हिन्दी में आजकल जितने ग्रन्थरत्न निकल-निकलकर पाठकों की दृष्टि में चकाचौंध लगा देते हैं, उनमें से 3/4 अंश अनुवादित ग्रन्थों का होता है। कोई-कोई ग्रन्थ, हिन्दी अक्षरों में लिखे जाने पर भी, कोट-पैण्ट डाटे और हैट लगाये खासा स्वाँग-सा भरकर, हिन्दी के मैदान की हवा खाते फिरते हैं; कोई-कोई, आधी जनानी सूरत बनाये, स्लीपर चटकाते हुए, ललित-लवंग-लता की-सी सुकुमार दृष्टि से हिन्दी-भाषियों के पुरुषत्व को पीड़ा पहुँचाया करते हैं। जिस तरह बहिःसंसार में अँगरेजी, बंगाली, मराठी, गुजराती, पारसी—आदि कितनी ही जातियाँ भिन्न-भिन्न रूपों से अपने वैचित्र्य के दृश्य दिखलाती हैं, उसी तरह हिन्दी-संसार में भी समझिए।

अभी कुछ दिन हुए बंगला के एक ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। मूल पुस्तक बंगला के श्रेष्ठ उपन्यास लेखक बाबू शरतचन्द्र चटोपाध्याय की लिखी है, नाम है 'चरित्रहीन'। इसके हिन्दी के अनुवादक हैं 'शरत बाबू के एक मित्र'। मालूम नहीं, 'शरत बाबू के एक मित्र' ने अपना पूरा नाम पुस्तक में क्यों नहीं लिखा। अस्तु, अधिक मुखबन्ध की आवश्यकता नहीं, जरा अनुवाद का आनन्द लूटिए।

अनुवाद का चमत्कार दिखलाने के पहले, हम अनुवाद के नियमों पर कुछ निवेदन करना चाहते हैं। एक बार मैं अपने व्यक्त रूप से, हिन्दी के धुरन्धर आचार्य पूज्यवाद पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के दर्शन करने गया था। एकाएक अनुवाद का प्रसंग चल पड़ा। मैंने उनसे उसके नियम पूछे। द्विवेदीजी ने कहा, उभय भाषाओं पर अनुवादक का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। उभय भाषाओं के मुहावरे बिना जाने अनुवाद में सफलता नहीं होती। दूसरे, अनुवाद के लिए यह कोई नियम नहीं कि मूल पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद किया जाय; परन्तु यह भी ठीक नहीं कि मूल की अर्थध्वनि कुछ और हो और अनुवाद की कुछ और। अनुवादक को सर्वदा मूल के अर्थ पर ध्यान रखना चाहिए। उसी अर्थ को दूसरी भाषा में परिस्फुट कर देने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि मूल में कोई चमत्कार हो तो अनुवाद में चमत्कार दिखलाना चाहिए। मूल की भाषा में यदि किसी ऐसे मुहावरे (Idiom) का प्रयोग आ गया हो जिसकी ओर स्वभावतः पाठक खिंच जायँ तो अनुवाद भी उसी ढंग का करना चाहिए। सारांश यह कि मूल की भाषा और भावों से अनुवाद की भाषा और भावों को शिथिल न होने देना चाहिए। यही अच्छे अनुवाद और सफल अनुवादक के लक्षण हैं। बहुत जगह एक भाषा का मुहावरा दूसरी भाषा में नहीं आता। वहाँ अपनी साधारण भाषा में किसी दूसरे ढंग से, और कुछ नहीं तो केवल भाषा सौष्ठव ही दिखा देना चाहिए। अदि अनुवादक दब गया—मूलभाषा को पढ़कर उसके भाव-गाम्भीर्य पर अपना अधिकार न जमा सका तो उसे सफलता

नहीं हो सकती।

अच्छा तो अब 'शरत बाबू के मित्र' का अनुवाद देखिए। मूल में है—"किन्तु एखन कथा हईतेछे से एक जायगाय चुप करिया बसिया थाकिते पारा जाय ना किछु बला आवश्यक। एक जनेर दिके चाहिया बलिलेन, किछु बला चाई हे! सभापति सेजे सभार उद्देश्य सम्बन्ध एके बारे अंध थाका त आमार काछे भाल टेके ना, कि बल बल तोमरा?" इसका अनुवाद है—"लेकिन बात यह थी कि यहाँ चुपचाप बैठना मुश्किल था। कुछ-न-कुछ बोलना जरूरी था। एक आदमी की ओर इशारा करके बोले—'अरे भई कुछ कहो भी तो! सभापति का स्वाँग भर सभा के उद्देश के सम्बन्ध में बिलकुल अनभिज्ञ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम लोगों की क्या राय है?' "

इस अनुवाद में शरत बाबू के मित्र को ही जब ऐसा धोखा हो गया, तब भला दूसरे अनुवादक, जो कोसों दूर रहते हैं, अनुवाद करते समय किन-किन कठिनाइयों का सामना न करते होंगे? शरत बाबू ने यदि उद्धृत उतना अंश एक अलग पैराग्राफ में लिखा—और यही उचित था, तो उनके अनुवादक मित्र ने, 'किन्तु' से पैराग्राफ का आरम्भ हुआ देख, उस शब्द के संयोजक गुण के कायल होकर, उसके लिए अलग पैराग्राफ की सृष्टि न करके उसे पिछले ही पैराग्राफ के साथ जोड़ दिया! फल यह हुआ कि अर्थ में महा अनर्थ पैदा हो गया। शरत बाबू के वाक्यों की ध्वनि एक विशेष अर्थ की ओर इशारा करती है तो अनुवाद की ध्वनि में एक दूसरी ही तान उठ रही है!

बात यह है कि कुछ लड़के उपेन्द्र को सभापति बनाने के लिए उनके पास आये हैं, और छात्र मण्डली प्राय: उपेन्द्र को ही सभापति चुनती है, क्योंकि छात्र-जीवन में उपेन्द्र सफलतापूर्वक परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए थे, इसलिए लड़के अब भी उनका सम्मान करते हैं। अस्तु, उपेन्द्र छात्रों से सभा का उद्देश्य पूछते हैं ताकि सभापति के आसन पर से, उनसे, उस विषय पर पहले ही से तैयार होकर कुछ कह सकें। इसी बात का समर्थन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—"एखन कथा एइ हइतेछे जे, एई जायगाटिते शुधु चुप करिया बसिया थाका जाय ना—किछु बला आवश्यक।" इसकी अर्थ-ध्वनि यह है, "परन्तु (इस समय बात यह है कि) इस आसन पर चुपचाप बैठा तो जाता नहीं—कुछ बोलना ही पड़ता है।" इसके पश्चात ग्रन्थकार उपेन्द्र की ओर मुड़ते हैं। कहते हैं—"(अतएव उपेन्द्र) एक आदमी की ओर इशारा करके बोले—'किछु बला चाइते हे।'—'(मुझे) कुछ कहना भी तो चाहिए।' "—इसका अनुवाद करते हुए शरत बाबू के मित्र लिखते हैं—"अरे भाई कुछ कहो भी तो।" अब देखिए, 'मुझे कुछ कहना भी तो चाहिए,' और 'अरे भाई कुछ कहो भी तो', इन दोनों के अर्थ में कितना अन्तर है? उपेन्द्र के वाक्य में शरत बाबू उपेन्द्र की अभिज्ञता सूचित करते हैं, उनके मित्र अपने अनुवाद में उपेन्द्र जैसे विद्वान की अज्ञता!

आरम्भ में ही, आपके अनुवाद में है—"...जो कुछ करना है उन सबका (?) अनुष्ठान भी उन्हीं को करना पड़ेगा।" शरत बाबू के मित्र! उधर 'जो कुछ' एक वचन और इधर सर्वनाम 'उन सब' बहुवचन किस उपाय से आपने बना डाला?

(अपूर्ण)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 मई, 1924। **चाबुक में संकलित**]

'दाँतेर हासी' का अनुवाद है 'दन्तहास्य'। हिन्दी में यह एक नया आविष्कार है। अब तक दन्तकथा का ही प्रयोग देख पड़ता था। 'दाँत' और 'हँसी' इन दोनों शब्दों पर देववाणी की मुहर लगाकर शरत बाबू के मित्र ने खतरे से अलग होने का उपाय भी खूब सोचा। जिस तरह गम्योत्प्रेक्षा का एक अलग लक्षण बतलाने के पश्चात लाला भगवानदीनजी ने नीचे सूचित कर दिया है कि सब प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ गम्योत्प्रेक्षा हो सकती हैं, उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि अट्टहास्य, विकटहास्य, उच्चहास्य आदि हास्य के जितने बन्धुवान्धव हैं, दन्तहास्य में उन सबको जगह मिल जाती है। कारण, कैसा ही हास्य क्यों न हो, उससे दाँत जरूर निकल पड़ते हैं। बहस एक मृदु या मन्द हास्य के लिए हो सकती है। परन्तु ओष्ठहास्य यदि कृपा करके जरा द्वार खोल दें तो उसे भी दन्तहास्य का आसन मिल जाय।

अनुवाद के चौथे पृष्ठ में है, 'लिखने-पढ़ने ने मुझी को पकड़ रक्खा था।' हम इस तरह के लिखने-पढ़ने का विरोध नहीं करते। परन्तु 'सरस्वती' के किसी अंक में किसी लेखक महोदय ने अपने मित्र सम्पादक के पत्रों से ऊबकर उनकी एक चिट्ठी ही छपा दी थी। सम्पादक के पत्र में लिखने-पढ़ने की चर्चा के सिवा और रहता ही क्या? उस पत्र में एक वाक्य इस ढंग का था—"आपके लेख न लिखने ने मुझे तंग कर डाला।"

एक जगह है—"जाड़े का घाम पीठ पर सहकर सिर पर चादर लपेटे इन लोगों की मजलिस खूब जमी हुई थी।" यह यथार्थ रूपान्तर है। रूपान्तर होने के कारण ही यहाँ हिन्दी का स्वरूप कुछ बिगड़ गया है। वह 'सहकर' की जगह जरा सिकुड़ जाती है। अनुवादकों का अत्याचार कहाँ तक सहे? सिर पर चादर लपेटे और पीठ पर जाड़े का घाम सहते हुए लोग मजलिस में डटे रहें तो उसे भी कुछ आनन्द हो। जब पहले-पहल हमने उस वाक्य को पढ़ा तब बड़े चक्कर में आये, कुछ समझ में ही न आया। सोचा, घाम से तप रही है पीठ और चादर लपेटा सिर पर!—यह कैसा? यह वाक्य तो वैसा ही है जैसा कि, पीठ पर डण्डे सहकर सिर पर मरहम लगाये हुए विश्वनाथ रोने लगे।

जब मूल पुस्तक से मिलाया तब उसका भाव समझ में आया। मूल में है "गम्भीर रात पर्यन्त चूलोचूली करते थाकेन" और अनुवाद में है "रात को 12 बजे तक वादानुवाद किया करते हैं।" मूल में न रहने पर भी अनुवाद में रात के 12 बज जाते हैं। खैर, यह कोई ऐसी भूल नहीं; परन्तु 'चूलोचूली' से अनुवादक महोदय क्यों किनारा कर गये, कुछ समझ में न आया। शरत् बाबू के मित्र को मित्र से भाव समझ लेना चाहिए था। 'चूलोचूली' 'वादानुवाद' नहीं, 'चूलोचूली' के लिए हिन्दी में है 'बाल की खाल निकालना'। यदि 'चूलोचूली करते थाकेन' का अनुवाद 'बाल की खाल निकालते रहते हैं' किया जाता तो मूल की तरह अनुवाद में भी चमत्कार आ जाता।

(अपूर्ण)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 मई, 1924। **चाबुक में संकलित**]

मूल में है—"वास्तविक तोर ये रूप सन्दिग्ध प्रकृति, ताते सन्देह होतेइ पारे, तुइ ईश्वर पर्यन्त मानिसने।" इसका अनुवाद है—"असल में मेरी जैसी सन्दिग्ध प्रकृति है, उससे एक सन्देह होना स्वाभाविक ही है कि तू ईश्वर तक को नहीं मानता।" मूल में तो है 'तेरी सन्दिग्ध प्रकृति' परन्तु अनुवाद में है 'मेरी सन्दिग्ध प्रकृति'। हमें शंका होती है, यह अर्थ का महाअनर्थ पाठक समझेंगे कैसे? कहाँ उपेन्द्र, बड़े जेठे की तरह, सतीश के सन्देह के कारण उसे समझाते हैं, कहाँ वह कुल सन्देह शरत बाबू के मित्र की कृपा से उलटकर उपेन्द्र ही पर सवार हो जाता है। ऐसी भूल प्रूफ देखने की गलती से हो जाया करती है। परन्तु अनुवादक महाशय जहाँ लिखते हैं—'उससे एक सन्देह होना स्वाभाविक ही है,' इस जगह 'एक' आपका कहाँ मिल जाता है, कुछ समझ में नहीं आता। यह 'एक' है भी कितना भद्दा! 'एक सन्देह होना' नहीं, 'यह सन्देह होना' चाहिए था।

"सतीश…बोलिलो, हा अदृष्ट! ईश्वर मानिने? भयंकर मानी।" इसका अनुवाद है—"सतीश ने…कहा—हाय! भाग्य! ईश्वर को नहीं मानता। बड़े जोरों से मानता हूँ।" बंगला में, 'भयंकर मानी' के 'भयंकर' शब्द का प्रयोग बामुहाविरा है, और 'भयंकर' कहकर बनावटी भय के साथ-साथ सतीश मीठी चुटकी भी ले रहा है। परन्तु अनुवाद में न कहीं मुहाविरा है, न कहीं मीठी चुटकी। हाँ 'बड़े जोरों से' में 'गँवारपन' का बल अवश्य सूचित हो रहा है। दूसरे 'बड़े जोरों से मानना' हिन्दी का मुहाविरा नहीं। 'बेहद मानना', 'हद से ज्यादा जानना', "आवश्यकता से अधिक मानना' न जाने और कितने हैं। इनसे अगर दिल्लगी के भाव में कोई कोर-कसर रही जाती हो तो वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम न लगाकर कोई आश्चर्यसूचक, आनन्दसूचक, हर्षातिरेकसूचक, एकमात्र चिह्न, ! , लगा देते।

"अब तक कलह के जो मेघ मूर्तिमान हो रहे थे वे सब इस हँसी की आँधी में ऐसे उड़े कि पता ही न लगे।" इस अनुवाद में अन्त का 'लगे' 'लगा' बनना चाहता है। मूल के 'उड़श रहिल ना' से भी 'लगा' ही लगता है। 'तमाकेर जन्य हाँका-हाँकी करिते लागिलो' का अनुवाद है 'तम्बाकू के लिए शोर करने लगा'। 'हाँकाहाँकी' का भाव यहाँ 'शोर करने' से बिगड़ जाता है। जोर-जोर से पुकारना ही बहुत है। 'जे अन्धकार सेई अन्धकार' का अनुवाद है 'जो अन्धकार है वह अन्धकार ही है' (!) क्यों नहीं!

'मेझेर ऊपर' का अनुवाद 'चटाई पर' किया गया है। 'मेझ' 'चटाई' नहीं, 'floor' है—बिलकुल जमीन। आपका अनुवाद है—"उम्र अन्दाजन बाईस-तेईस वर्ष के लगभग होगी"। जब 'अन्दाजन' लिख चुके तब 'लगभग' क्यों लादा?

इस 'चरित्रहीन' उपन्यास की प्रधान-पात्री 'सावित्री' है। यह पढ़ी-लिखी है। किसी अच्छे कुल की लड़की है। परन्तु अब समाज की दृष्टि में पतित है। तमाम संसार में उसके लिए अपना कोई नहीं। घर-द्वार-बन्धुबान्धव बहुत पहले ही छूट चुके हैं। अलग एक मकान में रहती है। मेस में काम करती है, उसी से जीविका चलती है। युक्तप्रदेश की महरियों और मजदूरिनों से बंगाल की 'झी' में बड़ा अन्तर है। भाव एक ही है। परन्तु शब्दगत जो लावण्य 'झी' शब्द में है, वह महरी और मजदूरिन में नहीं। बंगाल में 'कन्या' के अर्थ में 'झी' शब्द का प्रयोग करते हैं। मालूम नहीं 'झी' शब्द 'दुहितृ' का अपभ्रष्ट रूप है या 'धात्री' का। कुछ भी हो, है यह शब्द श्रुतिमधुर और भावकोमल। इस

शब्द में कुछ Romance भी है। इसका यथार्थ भाव 'मजदूरिन' में नहीं आता। मजदूरिन में न लावण्य है, न कोमलता है, न अपनापन है, न Romance है। अस्तु। सावित्री का परिचय देते हुए शरत बाबू लिखते हैं— 'सावित्री मेसेर झी एवं गृहिणी।' इसका अनुवाद करते हुए शरत बाबू के मित्र लिखते हैं—'सावित्री मेस की मजदूरिन भी है और घर की मालकिन भी।' चरित्रहीन जैसे रोमैन्टिक उपन्यास की प्रधान-पात्री को, प्रथम परिचय में ही, मजदूरिन बतलाना, अनुवादक की रोमैन्सहीनता का परिचय है। जिस तरह शरत बाबू के मित्र ने 'मेस' शब्द को अपनाया है, अच्छा होता यदि उसी प्रकार 'झी' शब्द को भी अपनाते। 'झी' के परिचय में एक छोटा-सा नोट लिख देते तो पाठक मतलब समझ जाते। इतनी बड़ी नायिका को 'मजदूरिन' के रूप में लाना अच्छा नहीं हुआ। पढ़नेवालों की रुचि बिगड़ जाती है। सतीश जैसे अच्छे खानदान के युवक को 'मजदूरिन' से प्रेम करते देख पाठकों की रुचि भ्रष्ट हो जाती है। रोमैन्स के बदले उनमें एक वीभत्स भाव भर जाता है। 'मजदूरिन' से तो 'दासी' शब्द अच्छा था। भाव दोनों के एक होने पर भी शब्द लालित्य की दृष्टि में बराबर नहीं हैं। और चाहे जिस तरह आप 'झी' का भाव प्रकट करते, परन्तु मजदूरिन का वीभत्स श्रृंगार पाठकों को न दिखाना था।

(अपूर्ण)

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 मई, 1924। **चाबुक** में संकलित]

## कसौटी-8

मूल पुस्तक में शरत बाबू लिखते हैं—'शुभ कर्म्मेर गोड़ातेइ टुकोना बोलछि।' इसका अनुवाद है—"शुभ कार्य के आरम्भ में ही गोलमाल मत करो, कहे देता हूँ।" 'टुकोना' का अर्थ 'गोलमाल मत करो' किया गया है। समझ में नहीं आता, शरत बाबू के मित्र शरत बाबू से मिलते हैं तो किस भाषा में बातचात करते हैं। यदि बंगला में करते होंगे, और बहुत सम्भव है बंगला में ही करते हों— क्योंकि 'गुह्यमाख्याति पृच्छति' प्रीति-लक्षणों में हीशामिल हैं, तो क्या वे 'टुकोना' जैसे प्रचलित बंगला-शब्द का भी अर्थ न जानते होंगे ? थोड़ी देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि नहीं जानते बंगला,—इस बीसवीं सदी की सभ्यता के अनुसार दुभाषिये की सहायता से भी मित्रता की रस्में सोलहो आने पूरी उतार दी जा सकती हैं, तो क्या उनके साधारण हिन्दी-ज्ञान में भी कोई अधूरापन है ? अगर 'टुकोना' को हम 'टोको न' बना दें तो यह 'न' के साथ ठेठ हिन्दी की 'टोको' क्रिया बन जाती है। 'टुकोना' यानी 'न टोको' या 'मत टोको'; पर 'गोलमाल मत करो' लिखकर तो 'मत टोको' के साथ ज्यादती करना ही होता है। 'टोकना' बेचारा 'गोलमाल करना' क्या जाने ? उसके तो जरा जुबान हिलाने ही से शुभकर्म पर आफत टूट पड़ती है, गोलमाल करे तब तो प्रलय हो जाये।

लिखा है—'देश के कितने ही दरिद्र हैजे में पड़कर चौपट हो जाते हैं।' हाँ, देश के कितने ही दरिद्र हैजे में चौपट हो जाते हैं। अगर हम लिखें, राम न करे अनुवादक महाशय हैजे में पड़ें, तो अनुवादक महाशय को अपने साथ हैजा शब्द देखकर जितना कष्ट होगा, हमें 'हैजे' के साथ 'पड़कर' देखकर भी उतना ही कष्ट

हो रहा है। दूसरा आक्षेप यह है कि शरत बाबू तो हैजे में गरीबों को उजाड़ रहे हैं, परन्तु अनुवादक महाशय गरीबों को हैजे में डालकर चौपट कर रहे हैं। अच्छा है, कीजिए जो जी में आये।

'क्षणकाल परे तामाक साजिया' का अनुवाद है, 'पलभर के बाद तामाकू भर लायी।' 'पलभर' का प्रयोग शीघ्रताबोधक अर्थ में ही किया जाता है, जैसे—हम पलभर में यह काम कर सकते हैं। जहाँ 'पलभर' का इशारा पलभर के विलम्ब की ओर होता है, वहाँ 'पलभर के बाद' का ऐसा प्रयोग ठीक नहीं। 'पलभर के बाद तामाकू भर लायी,' यहाँ 'पलभर के बाद' खटकता है। इसके समानार्थ के वाक्यांश हिन्दी में बहुत-से हैं।

"सावित्री बोलिलो, आज मिथ्ये कामाइ करलेन।

सतीश कहिलो, एइटेइ सत्य! आमार घातटा किछु स्वतन्त्र, ताइमाझे माझे एरूप ना करले असुख होये पड़े।" इसका अनुवाद—

"सावित्री बोली—'आप झूठमूठ बैठे रह गये।'

सतीश—'सच है। मेरा ढंग ही कुछ निराला है। इसी से कभी-कभी ऐसा न करने से तबीयत खराब हो जाती है।'"

यहाँ हमारा मतलब सिर्फ सतीश के 'सच है' वाक्य से है। इसका सम्बन्ध दिखाने के लिए ही आगे और पीछे का उतना अंश हमने उद्धृत किया है। पहले तो इतना ही कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि मूल के 'एइटेइ सत्य' का 'सच है' अनुवाद सर्वथा भ्रमपूर्ण है; 'एइटेइ सत्य' का यथार्थ अनुवाद है 'यही सच है'; इस वाक्य में 'एइटेइ' में जोर (emphasis) दिया गया है,—जैसे 'यह' में जोर देने पर 'ही' आ जाता है, और तब उसका रूप 'यही' हो जाता है। जब किसी वाक्य के किसी शब्द पर जोर दिया जाता है, तब वही शब्द उस वाक्य का मुख्य शब्द हो जाता है—उसी पर पाठकों का ध्यान अधिक आकृष्ट होता है। शरत बाबू ने 'एइटेइ सत्य' (यही सच है) लिखा तो उनका 'एइटेइ' भाषा-विज्ञान के अनुसार एक विशेष अर्थ रखता है। परन्तु अनुवादक महोदय ने इसे बिल्कुल छोड़ दिया है। इस स्थल पर अनुवादक महाशय का अर्थ, भाव में, महा अनर्थ पैदा कर रहा है; भाव का तार, बिना सम के रुके संगीत की तरह, एकाएक टूटकर कानों में कटुता की तीव्र झनकार भर देता है। अब विचारणीय यह है कि शरत बाबू यदि सतीश से 'एइटेइ सत्य' (यही सच है) कहलाते हैं तो उस 'एइटेइ' (यही) का प्रयोग पहले के किस शब्द या वाक्य के सर्वनाम के रूप से किया गया है। हमने सावित्री की उक्ति उद्धृत कर दी है। सावित्री के उद्धृत प्रथम वाक्य पढ़ने पर 'एइटेइ' की आवश्यकता समझ में आ जाती है। सावित्री कहती है—'आज मिथ्ये कामाइ करलेन।' इस वाक्य में जोर 'मिथ्ये' शब्द पर है। इसीलिए सतीश उसके उत्तर में कहता है—'एइटेइ (=मिथ्या कामाइ कराइ) सत्य' अर्थात जिसे तुम मिथ्या समझती हो वही सत्य है। यहाँ मिथ्या के विशेषण के रूप से 'यही' का प्रयोग किया गया है, और मिथ्या और सत्य का जोड़ा मिलाकर—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से शरत बाबू ने सतीश के वाक्य में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। परन्तु अनुवादक महोदय की कृपा से, चमत्कार तो दूर रहा, मूल का अर्थ भी गायब हो जाता है! अनुवाद के 'सच है' से सावित्री के वाक्य की ही पुष्टि होती है, किन्तु उसकी मिथ्या को सच साबित करने का भाव जड़समेत उखड़ जाता है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जून, 1924। **चाबुक में संकलित**]

# बहता हुआ फूल

'मतवाला' के पिछले अंकों में पण्डित रूपनारायण पाण्डेय की अनुवादअज्ञता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। रूपनारायणजी को बंगला से अनुवाद करने में बहुत-कुछ प्रशंसा मिल चुकी है। परन्तु हमारा विश्वास है कि रूपनारायणजी के अनुवाद की जब जाँच की जायेगी तो जितनी उनकी अनुवाद के कारण प्रशंसा हुई है, उतनी ही निन्दा भी होगी, क्योंकि आपका अनुवाद ऐसा ही दोषदुष्ट होता है। अनुवाद का सत्य वही समझता है, मौलिक-ग्रन्थ का चमत्कार उसी की दृष्टि में अपनी शोभनीय सृष्टि रख सकता है, अनुवाद और मूल दोनो की भाषाओं पर जिसका पूर्ण अधिकार है। इस सम्बन्ध में हम अपना मत पहले लिख चुके हैं। हम हिन्दी संसार के सामने बंगला के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद की आलोचना और उसकी त्रुटियाँ केवल इसलिए रखते जाते हैं कि पाठकों की रुचि अनुवादित किस्से-कहानियों से हट जाये। वे चाहे हिन्दी की मौलिक अधूरी पुस्तकें पढ़ें, पर अनुवाद कभी न पढ़ें। और जिन लोगों को अनुवाद करने का रोग है, वे अनुवाद करके जीविकार्जन भले ही करते रहें, परन्तु हिन्दी-संसार उन्हें पेट पालनेवाले अनुवादक ही समझे; उनके सिर पर साहित्यसेवा और हिन्दी के प्रभूत उपकार की पगड़ी लपेटकर, उन्हें सातवें आसमान पर चढ़ाने की उदारता न दिखावे। इससे हिन्दीमाता का कितना अपमान होता है—दूसरे प्रान्त के लोगों के सामने हिन्दीसेवियों को किस तरह आँखें नीची करनी पड़ती हैं—जब अनुवादकों की प्रशंसा पर घृणा करके दूसरे प्रान्तों के लोग अपनी भाषा, अपने ग्रन्थ और अपने लेखकों की प्रशंसा करते हुए हिन्दीसेवकों को हास्यमिश्रित नीच तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं। तब बिचारे निर्दोष साहित्यिकों की क्या दशा होती है, यह वही समझते हैं जिन पर कभी ऐसी विपत्ति एकाएक टूट पड़ती है। हिन्दी-साहित्य-संसार से हम विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वह एक साधारण मूल पुस्तक के लेखक की जितनी प्रशंसा करे उसका शतांश भी अनुवादक की न करे। जब तक उसके हृदय में इस बात की जड़ नहीं जम जायेगी तब तक उसे साहित्य के अपर क्षेत्र में हमेशा नीचा देखना पड़ेगा। मूल लेखक की कृति साधारण होने पर भी हिन्दी के लिए अपनी चीज है। उसमें सुचारु रूप से प्रतिबिम्बित न होने पर भी जिस चित्र की अस्पष्ट झलक देख पड़ती है, उससे अपने ही स्वरूप का पता चलता है—उसी को देखकर हम अपना स्वरूप सुधार सकते हैं, हमारा शृंगार उसी के द्वारा सँवर सकता है। अतएव पुस्तक सर्वांग सुन्दर न होने पर भी यदि मौलिक है तो उसके लेखक की जितनी प्रशंसा होनी चाहिए, वह जितनी सम्मान-प्राप्ति का अधिकारी है, एक अनुवादक उसके शतांश का भी नहीं। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि अनुवाद होना ही नहीं चाहिए। नहीं, अनुवाद की आवश्यकता हर एक साहित्य में होती है और बिना अनुवाद के एक साहित्य दूसरे साहित्य की राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से परिचित हो ही नहीं सकता; अधिकन्तु, संसार-प्रगति से अज्ञ बना रहता है। अतएव हिन्दी में भी अनुवाद की आवश्यकता है। परन्तु अब तक इस आवश्यकता की पूर्ति जिस उपाय से होती गयी है, उसमें कुछ परिवर्तन होना चाहिए। काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा'-

जैसी प्रतिष्ठित संस्थाएँ योग्य मनुष्य चुनकर अनुवाद का काम करावें तो उस अनुवाद पर विद्वान-मण्डली का विश्वास भी हो और साहित्य से गन्दगी भी दूर हो। हमें विश्वास है, हिन्दी के आचार्य, संस्थाओं के संचालक, हिन्दी के प्रकाशक और हिन्दी के लेखक हमारी प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

सच्चा अनुवाद करने के लिए कितने बड़े ज्ञान की आवश्यकता है, यह वही समझते हैं जो भाषाविज्ञान के अधिकारी कहलाते हैं। जिन्हें शुद्ध अपनी भाषा भी लिखना नहीं आता वे यदि दूसरी भाषा में आचार्य बने घूमें, तो उनकी इस अहम्मन्यता को सच्चे मर्मज्ञ क्या समझेंगे, उन्हें इसका भी ख्याल नहीं होता! मूल के साथ रूपनारायणजी के कुछ अंश उद्धृत करके हम इस आलोचना को समाप्त करते हैं।

मूल में है—"रानी बोलिलेन, 'ना ना, विपिन आमार सोनार चाँद छेले, और शरीरे एतोटुकु दोष नाई।' " इसका अनुवाद है—"बड़ी बहू ने कहा, 'ना-ना, मेरा विपिन वैसा लड़का नहीं है, वह हजार-दो हजार में एक लड़का है। उसके चाल-चलन में रत्ती भर दोष नहीं।' "

यहाँ रूपनारायणजी का 'ना-ना' अशुद्ध और देहाती है। शुद्ध हिन्दी के अनुसार 'नहीं-नहीं' होना चाहिए। कुछ लोग ऐसे स्थलों में 'ना' प्रयोग करते हैं, परन्तु है यह बड़ा भद्दा प्रयोग। यहाँ दूसरी जगह भी पाण्डेयजी चूके हैं, परन्तु ऐसी त्रुटियाँ क्षम्य हैं।

"अमनि रानीर कथार सूत्र धरिया बामा बोलिया उठिलो" का अनुवाद है—"वैसे ही बहू रानी के स्वर में स्वर मिलाकर वामा बोल उठी।" अनुवादक महाशय शायद नहीं जानते थे कि "कथार सूत्र धरिया" 'स्वर में स्वर मिलाना' नहीं।

मूल में है—"दादा बाबूर साधु चरित्तिरता आर एक बार करे बोलते," इसका अनुवाद है—"बड़े बबुआ का चाल-चलन तो ऐसा अच्छा है कि वैसा किसी भी लड़के का न होगा", और आपका अनुवाद भी इतना वाहियात है कि एसा किसी भी अनुवादक का न होगा। पाण्डेयजी '( एतो भालो ) ता आर एक बार करे बोलते' इस तरह के मुहाविरों पर इतनी बेदरदी से हाथ साफ न किया करें तो बड़ी कृपा हो।

"किन्तु बापू रात-दिन सुधुपड़ा आर पड़ा, ये कि रकम बाई!" इसका अनुवाद है—"लेकिन लिखने-पढ़ने की ऐसी धुन सवार रहती है कि और किसी तरफ ध्यान ही नहीं देते! रात-दिन पढ़ने में ही लगे रहते हैं।" पाण्डेयजी यह आप अनुवाद कर रहे हैं या विस्तारपूर्वक इसका भाष्य लिख रहे हैं?

"नइले जाबोलो, ता बोलो बापू; और बुद्धि-शुद्धि आछे, एक एकटा कथा बोले भालो", इसका अनुवाद है—"लेकिन ईमान की बात तो यह है कि बात पते की कहती है और सबसे (!) समझदार (!!) भी है।" क्यों न हो, जब आप जैसे समझदार अनुवादक मिल गये।

"खुड़ी माँ अन्दरेर दिके फिरिलेन" का अनुवाद है "चाची अम्मा वहाँ से चल दीं।" (!!!)

"खुड़ी माँ कातर स्वरे बोलिलेन—'ए बाड़ी ते आमार ओ आर बेशी दिन टिकते होबे ना भट्टाचार्य मोशाय, तार परिचय आमि ओ यथेएटई पाच्छी' " का अनुवाद है—"चाची अम्मा ने कातर स्वर से कहा, 'भट्टाचार्यजी, इस घर में मैं भी अधिक दिन तक नहीं टिकने पाऊँगी। इसका परिचय भी मुझे यथेष्ट मिल रहा

है।' " 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' लिखकर पाण्डेयजी चूक गये। "इसका परिचय भी मुझे यथेष्ट मिल रहा है।" नहीं, मूल का अर्थ कुछ और है। मूल का अर्थ है —"मुझे भी यथेष्ट परिचय मिल रहा है।" पाण्डेयजी, आपने अपनी 'माधुरी' के नोट में 'ही' 'भी' के इधर-उधर हो जाने पर आक्षेप किया था। जरा देखिए, एक 'भी' के इधर-उधर होने से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है। अनुवाद छोड़कर साहित्य की बारीकियों पर विचार करने के लिए शायद आपको अभी समय नहीं मिला, देखिए, मूल में भी 'आमिओ' है।

"बुद्धि भ्रष्ट होते (!) देखकर", "तुम्हारे ऊपर (नीचे नहीं ?)···अत्याचार नहीं कर सकेगा।" इस तरह की सैकड़ों भूलें हैं।

"इहार पर नव किशोर निर्विवादे ग्रामेर स्कूल होइते माइनर पास कोरिया वृत्तिपाइलो", इसका अनुवाद है—"इसके बाद नव किशोर ने बिना किसी विवाद के (!!!) गाँव के स्कूल से माइनर-परीक्षा पास करके वृत्ति पायी।" मूल में 'निर्विवाद' है, फिर क्या, अनुवाद में 'बिना किसी विवाद के' होना ही चाहिए ! पण्डितजी, वहाँ 'निर्विवाद' का मतलब है 'अनायास'। आप इतना तो समझते हैं कि बेचारे विद्यार्थी को क्या पड़ी थी, जो विवाद करके पास करता। 'निर्विवाद' बंगला में निर्दोष व्यंग का भी बोधक है। "नवकिशोरेर एई कथाय तारक एके बारे क्षेपिया गिया विषम तर्क जुड़िया दितो", इसका अनुवाद है— "नव किशोर की बात से तारक एकदम पागल-सा हो उठा और उसने घोर तर्क ठान लिया।" 'दितो' और 'दिया'! काल के भाव में महाअकाल पड़ गया है।

"विपिनेर पिता हरिविहारी हालका छिपछिपे छोटोखाटो गौरवर्ण लोकटी", इसका अनुवाद है—"विपिन के पिता हरिविहारी इकहरे लम्बे डील के (जी नहीं, छोटे डील के या नाटे) और गोरे थे।"

"ताहा देर भावप्रवण तरुणहृदय आगुनेर फुलकीर मत नई स्वाधीन आनन्देर उज्ज्वलाय क्षणे-क्षणे आपनादिग के चारि दिके विकीर्ण करिते थाकितो।" अनुवाद —"उसका भावप्रवण तरुण हृदय सिक रही फुलकी (रोटी) की तरह ही स्वाधीन आनन्द से फूल-फूल उठता था।" खूब ! पण्डितजी, जान पड़ता है जिस समय आप अनुवाद कर रहे थे, उस समय भूख बड़े जोरों की लगी थी, नहीं तो रोटी क्यों सेंकते ? यहाँ न कहीं रोटी है, न दाल; 'फुलकी' है, सो वह भी चिनगारी, रोटी नहीं। 'चिनगारी' की जगह 'रोटी सेंकना' आप ही जैसे स्वयं-सिद्ध अनुवादक का काम है ! कल्पना भी कैसी ! मूल में तो है—'विकीर्ण करिते थाकितो' और अनुवाद में 'फूल-फूल उठता था'! चिनगारी रोटी थोड़े ही है जो फूल-फूल उठेगी ? मूल के 'विकीर्ण करिते थाकितो' से चिनगारी का भाव ही व्यक्त होता है, 'फूल-फूल उठना' रूपनारायणजी की 'रोटी' के लिए ही उपयुक्त है। अच्छा है, सेंकिए रोटी।

[ 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 28 जून, 1924। **चाबुक** में संकलित]

## जीव-विज्ञान

लेखक और प्रकाशक—पं. बलदेवप्रसाद मिश्र एम. ए., एल. एल. बी., एम. आर. ए. एस.; पृष्ठ-संख्या ४२४; छपाई-सफाई उत्तम; आरम्भ में श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह महोदय का नेत्ररंजक चित्र और भूमिका के बाद ग्रन्थकर्त्ता का; मूल्य सजिल्द का ३); पं. बलभद्रप्रसाद मिश्र, जेनरल कंट्रेक्टर, राजनाँदगाँव, सी. पी. से प्राप्त।

यह मानव-शास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थ है। लेखक ने इसे जिज्ञासा-प्रकरण, परिभाषा-प्रकरण, शरीर-प्रकरण, बुद्धि-प्रकरण, मन-प्रकरण, चित्त-प्रकरण, अहंकार-प्रकरण और उपसंहार-परिशिष्ट आदि 9 भागों में विभाजित कर दिया है। विषय-विभाग सुन्दर है। विचार-शृंखला उत्तम और बोधगम्य है। लेखक ने पाश्चात्य और प्राच्य, दोनों शास्त्रों के अध्ययन और साधु-महात्माओं के सत्संग से ग्रन्थ की सामग्री इकट्ठा की है। शैली और मीमांसा से भी जान पड़ता है कि लेखक महोदय विषय का मर्म समझते हैं। उनकी निजी अनुभूति के कारण ग्रन्थ की महत्ता विशेष बढ़ गयी है। ऐसे गहन विषय को बड़ी सरल और सुबोध भाषा में समझाया गया है। ग्रन्थ अपने ढंग का उत्तम है। छात्रों और मानव-तत्त्व-जिज्ञासुओं के बड़े काम का है।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1929। असंकलित]

## अद्वैतवाद

लेखक—पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.; प्रकाशक—कला-कार्यालय, प्रयाग; मूल्य १॥); कागज साधारण; छपाई-सफाई उत्तम।

पहले हम 'माधुरी' में अद्वैतवाद पर उपाध्यायजी की शंकाएँ देख चुके हैं। भूमिका में उपाध्यायजी ने जैसा लिखा है, अद्वैतवाद के मानने में उन्हें अनेक प्रकार की अड़चनें हैं, जिनका निपटारा होना असम्भव है। वह संसार में नानात्व को देखते हैं, विचार करने पर नानात्व को मानने के लिए मजबूर होते हैं। यद्यपि शंकराचार्यजी की विद्वत्ता के वह प्रशंसक हैं, तथापि अद्वैतवाद के मानने में उन्हें संकोच है।

पहली वात तो यह है कि अद्वैतवाद मानने-न माननेवाला ज्ञान नहीं, यह अनुभवसापेक्ष है। जिन न माननेवाले श्रीरामानुजाचार्य, माधवाचार्य आदि परवर्ती आचार्यों की आपने चर्चा की है, वे अद्वैतवाद की श्रेणी तक पहुँच नहीं सके। वे भक्त थे। इसलिए उनका दर्शन 'माया' के फाटक को बिलकुल पार नहीं कर जाता। देश का मस्तिष्क इतना दृढ़ नहीं था कि वह शंकर के महान व्यार्ग-धर्म की धारणा कर सकता। उसे एक सरल-कोमल धर्म की जरूरत थी। श्रीरामानुजाचार्य तथा माधवाचार्य के द्वारा उसकी वह जरूरत पूरी हुई। श्रीशंकराचार्य वेदों के (ज्ञान-काण्ड के) उद्धार के लिए आये थे, उन्हें बौद्धों से लड़ना था। इसलिए उन्होंने बृहत्तम विश्लेषण का सहारा लिया (अवश्य पहले से सोचकर नहीं, यह उनका कार्य क्रमशः स्वाभाविक ही हुआ)। अद्वैतवाद की धारणा गृही लोग नहीं कर सकते।

कारण, उन्हें व्यष्टि में रहना पड़ता है, उनकी निगाह में पुतले का ज्ञान बना रहता है, वे संसार में रहते हैं, उनके बाल-बच्चे होते हैं, उन्हें अपने शरीर के रहने का भी बोध है। इसलिए परवर्ती काल में उनके लायक धर्म भी तैयार हो गया। यही कारण है कि उपाध्यायजी को एक में अनेकता सूझती है। वह अपनी तैयारी कर लें, संसार का बाहरी कोई लगाव न रहे, जिससे एक कर्तव्य की प्रेरणा प्रतिक्षण उन्हें बहिर्मुखी करती रहे, फिर चिन्तन करें एकान्त में, उनमें बाहर का लगाव छूटेगा, तो मन का ज्ञान में नाश होते-होते केवल ज्ञान ही रह जायेगा, जो अड़चनें हैं, वे न रहेंगी। तभी अद्वैत की यथार्थ उपलब्धि हो सकती है। 'पूर्णात् पूर्णमादाय' का तत्त्व तभी समझ में आ सकेगा।

अभी जो बाह्य तथा आभ्यन्तर भ्रम भीतर है, वही बहुरूप से भटका रहा है। एक ज्ञान के सिवा किसी भी वस्तु-विषय की चाह के रहते अद्वैत की अनुभूति नहीं हो सकती। भोग के रहते पूर्णता नहीं मिल सकती। खण्ड-ज्ञान ही मिलते रहेंगे, अनेकानेक प्रकार से—

"He who owns a little, can never pass through Maya's gate."

एक जगह उपाध्यायजी लिखते हैं, यदि मायावादियों के अनुसार सब संसार मिथ्या ही होता, तो व्यवहार दशा में भी हम किसी को मिथ्या और किसी को सत्य न कहते। उपाध्यायजी को मालूम कर लेना चाहिए, वह खण्ड सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। एक सीढ़ी और चढ़ने से वह मिथ्या भी जान पड़ता है। यहाँ शास्त्र के वाक्य ही प्रमाण-स्वरूप पेश किये जायेंगे। कारण, एक को साबित करने की चेष्टा ही गलत है, अयौक्तिक है; साबित करने के समय एक नहीं रहता, साबित करनेवाला, उसका विषय तथा दोनों के बीच का अन्तर आ जाता है। तीन से फिर बहु हो जाते हैं। दूसरी बात यह कि चाहे लेखनी का संसरण हो, या मस्तिष्क का संसरण, जिसके बिना भावना की गति नहीं होती—कुछ कहा या लिखा नहीं जा सकता, संसार का ही द्योतक है—उससे बहुत बन जाते हैं, इसलिए एक कभी साबित नहीं किया जा सकता। शंकर ने उसे अलंकारोक्तियों से समझाया है, और उन्हीं अलंकारोक्तियों को पकड़कर पीछे रामानुज आदि ने उन उक्तियों की सत्ता स्वीकार कर, उन्हें सांसारिक सत्य करार देकर, विशिष्टाद्वैतवाद की नींव मजबूत की है। जैसे उपाध्यायजी ने मरीचिका और जल का हाल लिखा है। ये सब शंकर की ही उक्तियाँ हैं, पीछे रामानुज ने इन्हें ही पकड़-पकड़कर संसार का अस्तित्व साबित किया है, और जीव-जगत को रखकर उसे (ईश्वर को) सबसे बड़ा माना है। शंकर यहाँ जल को ब्रह्मरूप में लेते हैं, और मरीचिका को मायारूप में, और कहते हैं, जिस तरह मरीचिका में पानी देख पड़ता है, पर पानी नहीं, वैसे ही संसार देख जो पड़ता है, वह नहीं है। मरीचिका के लोप के साथ तमाम संसार का लोप हुआ, जल रहा, वह ब्रह्मरूप है। अब ब्रह्मरूप हुए जल को खींचकर संसार में क्यों ले जाते हैं?—संसार का सम्बन्ध तो उन्होंने मरीचिका के साथ जोड़ा है। उपाध्यायजी ने भी यही जल-मरीचिकावाली बात कही है। पर वह शंकर का मतलब नहीं समझे। शंकर समझाते किस तरह? बिना ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता के तो एक बात भी नहीं निकलती—उसे 'अवाङ्मनसोऽगोचरम्' कहा भी है। रूपकों द्वारा ही उन्हें उस सत्य की झलक लोगों को दिखलानी पड़ी है। रही बात शास्त्र-प्रमाण का। यह अगर आप मानें, तो पतंजलि ने योगसूत्र के पहले ही पृष्ठ में, वृत्ति का बयान करते हुए, 'प्रमाण' (सत्य-ज्ञान, खण्ड-ज्ञान, जल-सत्य, व्यवहार-

सत्य) को भी वृत्ति ही माना है, जो भ्रामक है।

एक जगह आप लिखते हैं—"जिसके द्वारा 'मीयते', 'ज्ञायते', ज्ञान प्राप्त होता है, उसका नाम है 'माया'। यहाँ माया को प्रज्ञाप्रदा कहा गया है। प्रज्ञाप्रदा या बुद्धि देनेवाली वस्तु कदापि अविद्या नहीं हो सकती।" आपको मालूम हो, इस 'ज्ञायते' के अर्थ पदार्थज्ञान के प्राप्त होने के हैं, ब्रह्मज्ञान के नहीं। जैसे जल से आपको सत्य मिलता है, व्यवहार में सत्य पाते हैं। यही वह ज्ञान का फल है, जिसे खाकर मनुष्यों का आदिम जोड़ा स्वर्ग से च्युत हुआ—सत्य से विच्छिन्न हुआ। स्पष्ट है, जल को सत्य माननेवाला ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता। ज्ञानफल के खाने के रूपक में भी यही सत्य है। प्रज्ञा ही है, जो इतनी छानबीन में डालकर भटका देती है। अतः वह मायावाद से परे नहीं। यही हाल 'बुद्धि' का भी है, 'माया' के अर्थ में जिसका उपयोग आपको मिलता है। शंकर ने इसीलिए कहा है—

"मनो बुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहम्।"

(मैं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नहीं हूँ।) माया के राज्य में सबसे उत्तम कोटि बुद्धि है। पर ज्ञान के नजदीक (हमारा मतलब पूर्ण ज्ञान से है) वह भ्रम है, मिथ्या है, नश्वर है, चंचल है।

उपाध्यायजी विद्वान मनुष्य हैं। उन्होंने इस पुस्तक में अपनी छानबीन पर जितना जोर दिया है, इससे उनका दयानन्दीपन प्रचण्ड हो उठा है। पर अद्वैतवाद की निगाह से विद्या भी भ्रम है। जिस समय उपाध्यायजी को ऐसी उपलब्धि हो कि मैं कुछ नहीं जानता, वह अपने को अद्वैतवाद के वर्णज्ञान का अधिकारी हुआ शिशु समझ लें और श्रद्धा के साथ किसी त्यागी महापुरुष से मिलें, तो अद्वैतवाद का अनुभव, साधना के पश्चात, उन्हें हो सकता है। ऐसी ही शास्त्रों की सम्मति है। अगर केवल विवाद करना है, तो उनकी ध्वनियों की अनेक प्रतिध्वनियाँ होंगी, इसके लिए वह निश्चिन्त रहें।

यह पुस्तक समझवालों के मनोरंजन के लिए बड़े काम की है; नासमझों के बहकाने की विचित्र युक्तियों की मरीचिका। मनुष्य स्वभावतः संसारप्रिय होता है। यदि किसी को देर तक संसार के समाजों में टायँ-टायँ करके फिस्स कर देना हो, तो वे जरूर इस पुस्तक को पढ़ें। हम नहीं कह सकते, हमने यह सब लिखकर कितनी बड़ी धृष्टता की है; पर इस आलोचना के लिए हम उपाध्यायजी से वारम्वार हाथ जोड़कर क्षमाप्रार्थना करने के लिए तैयार हैं। कारण, कुछ भला नहीं, तो कुछ बुरा भी नहीं। आखिर दोनों माया ही हैं—मिथ्या और भ्रम !!!

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। असंकलित]

## तुलसी-सतसई
## (सुबोधिनी टीकायुक्त)

टीकाकार, हिन्दी-साहित्यरत्न पं. रामचन्द्र द्विवेदी; प्रकाशक—सरस्वती-भण्डार, पटना; मूल्य सादी २) सजिल्द २॥)।

गोस्वामी तुलसीदासजी की 46 सफे की जीवनी सहित 272 सफे में सात

सर्गों की इस पुस्तक में गोस्वामीजी के दोहों का संग्रह किया गया है। हर एक दोहे के नीचे टीकाकार की टीका भी है। छपाई-सफाई अच्छी है। भक्त तथा साहित्य-प्रेमियों के काम की चीज है। टीका तथा गोस्वामीजी की जीवनी में लेखक की भाषा पढ़कर प्रसन्नता हुई। टीका से अर्थ साफ खुल जाते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। असंकलित]

## गीतावली

संग्रहकार—पाण्डेय रामावतार शर्मा बी. ए. (आनर्ज), विशारद; प्रकाशक—सरस्वती-भण्डार, पटना; मूल्य १।)।

यह गोस्वामी तुलसीदासजी की गीतावली है, जिसमें सातों काण्ड रामायण की कथा गीतों में, भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में वर्णित है। पृष्ठ संख्या ३२+१६७+६२ है। शुरू में गोस्वामीजी की जीवनी, पश्चात गीत हैं। सातों काण्ड अलग-अलग क्रमबद्ध। तदनन्तर कठिन शब्दों के अर्थ तथा टीका। छपाई-सफाई उत्तम है। पुस्तकें दोनों बड़े काम की हैं। विद्यार्थियों के लिए, जिनके कोर्स में हों, विशेष सुविधाजनक हैं। अपर सज्जन भी इनसे लाभ उठा सकते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। असंकलित]

## नवीन बीन (या नदीमे दीन)

लेखक—लाला भगवानदीन; प्रकाशक—हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय; मूल्य २); सजिल्द-सचित्र।

यह दीनजी के 42 पद्यों का संग्रह है। कई इकरंगे चित्र भी हैं। छपाई-सफाई प्रशंसनीय। आरम्भ में बाबू शिवपूजन सहाय की लिखी एक छोटी-सी भूमिका 'परिचय' के तौर पर है। दीनजी हिन्दी में अपना एक स्थान रखते हैं। उनकी कविताएँ हिन्दी के पत्रों में निकलती रहती हैं। अधिकांश लोग उनकी रचना पसन्द करते हैं। गेटअप, कागज, छपाई-सफाई, चित्र सभी सुन्दर हैं और कविताएँ भी दीनजी को देखते हुए अधिक सुन्दरी। पुराने लोग इस पुस्तक के लिए 2) रुपया खर्च कर सकें, जो [तो] जरूर पढ़ें; पर नये लोग, यह किताब मुफ्त भी बाँटी जाय, तो न छुएँ; क्योंकि बाबू शिवपूजन सहाय ने इस उद्धरण से कविता का चमत्कार दिखलाया है—

"कैधों स्वर्ण-सैल को खदेरे फिरै नीलाचल।"

हमारा विश्वास है, इस तरह की पंक्तियाँ नवीन साहित्यिकों को खदेड़ती फिरेंगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। असंकलित]

## बोलचाल

प्रणेता—पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय, साहित्यरत्न (हरिऔध); प्रकाशक—खड्गविलास-प्रेस, बाँकीपुर; सजिल्द, दाम नहीं लिखा, शायद खड्गविलास प्रेस को लिखने से यह मुफ्त मिले। पृष्ठ सं. ५०० के कुछ ऊपर। सम्भव है, दाम दिखाकर दूसरों को डराया न गया हो।

बड़े महत्त्व की पुस्तक है। आरम्भ में ढाई सौ सफे का एक प्रबन्ध है, जिसमें बड़ी सरलता तथा प्रांजलता के साथ 'बोलचाल' पर उपाध्यायजी ने विवेचन किया है। उपाध्यायजी का गद्य उच्च श्रेणी का हुआ करता है। पढ़ने में किसी प्रकार की झुँझलाहट, खीझ नहीं होती। कवि की भाषा में भावों के रत्नों का प्रकाश भरती जाती है, जैसे वसन्तकाल की प्रसन्न-स्वच्छ-सलिला नदी निशीथ के ज्योत्स्ना लोक के भीतर से चुपचाप, अनर्गल, सौन्दर्य के सिन्धु की ओर प्रवाहित होती चली जा रही हो। किसी को आनन्द लेना हो, तो चुपचाप बैठकर इस आनन्द की गंगा का सौन्दर्य देख ले। भूमिका में बोलचाल, नखसिख, मुहावरे आदि की जमीन पर जो युक्तियों के बेल-बूटे जड़े हैं, वे भाषा तथा भावों के बाग में नवागत वसन्त की समीर के स्पर्श से काँप-काँपकर खिलती हुई कलियों की ही तरह खुल रहे हैं। यह जरूर है कि 'To see God is to see/As God sees.' में जो गम्भीरता है, चिरकाल तक भावना की जो एक गहन छाप दिल में पड़ी हुई अपना असर पैदा करती रहती है, आत्मा को प्रभावित कर रखती है, उपाध्यायजी की भाषा में वह सामर्थ्य नहीं। भाषा उद्धरणों के प्रकाश से पीछे जान पड़ती है। सेठजी की तोंद की तरह उद्धरण भाषा के आगे-आगे चलते हैं। इस भूमिका में यह एक बड़ा दोष आ गया है। यदि इतने उद्धरण न दिये जाते, तो उपाध्यायजी की विद्वत्ता की चाँदनी और फैलती। इनके सामने वह अपराह्न की धूप में चाँद की तरह फीकी पड़ गयी है। भले आदमी को उतना ही बोझ उठाना चाहिए, जिससे अपने को तथा दूसरे देखनेवालों को बुरा न मालूम हो; दूसरे समझें, अपना ही भार वहन कर रहा है, वाहक नहीं। कुछ हो, पुस्तक अमूल्य है। मुहावरों का इतना अच्छा संकलन, ऐसे सरस ढंग से, उपाध्यायजी-जैसे हिन्दी के महाकवि ही कर सकते हैं। यों मुहावरे याद नहीं होते। पर छन्दोबद्ध हो जाने के कारण अब इनका प्रचार हिन्दी में बहुत जल्द हो जायगा। विद्यार्थियों तथा हिन्दी के अपर प्रान्त के शिक्षार्थियों के लिए बड़े लाभ की पुस्तक है। कवि की लिखी ललित-भाषा तथा संगीतमय छन्द के भीतर से मुहावरे का जौहर अच्छा खुल पड़ा है। परन्तु कहीं-कहीं छन्द की चिरकीनी टाँग को खींच-खाँचकर बराबर करते समय मुहावरे ने मुँह बिगाड़ दिया है। ऐसा न होना था—

> है जिसे कुछ भी समझ वह और की—
> राह में काँटा कभी बोता नहीं;
> कर किसी से बेसबब उपरा-चढ़ी
> आँख पर चढ़ना भला होता नहीं।

'चढ़ा-ऊपरी' है, 'उपरा-चढ़ी' नहीं। चढ़ा-ऊपरी का अपभ्रष्ट रूप 'उपरा-चढ़ी' हो गया होगा, उपाध्यायजी के उधर। 'राह में काँटे कभी बोता नहीं' दुरुस्त है। एकवचन का प्रयोग ऐसे स्थल पर ठीक नहीं। मुहावरा रटाने के वक्त—कोश में रखने के समय 'काँटा बोना' ठीक है; पर प्रयोग में 'काँटे बोना' ही अच्छा लगता है। जिन्हें यह एतराज हो कि 'आँख पर चढ़ना' भी फिर 'आँखों पर चढ़ना'

होना चाहिए, उनसे यह कहना है कि दोनों प्रयोग ठीक हैं। जब एकवचन है, तब आँख के मानी 'दृष्टि' कर लेना चाहिए। पर 'आँख की किरकिरी' है, 'आँखों की किरकिरी' नहीं। कारण, 'किरकिरी' एक ही आँख में पड़ा करती है।

जो कलेजा पसीज ही न सका,
तो किया रात-रात-भर रो क्या।
मैल जो धुल सका नहीं मन का,
आँख आँसू से धो किया तो क्या।

एक शेर याद आया—

तुम्हारी याद में हर वक्त हम तो रोते हैं
बजाय पानी आँसुओं से मुँह को धोते हैं।

आँखों की कलियों को आँसुओं के ओसकणों से धोना अधिक न्याय-संगत है। प्रयोगों की ऐसी अनेक गल्तियाँ हो गयी हैं। एक बार कोई देहाती लखनऊ आये। आपने किसी मिठाईवाले से फर्माया, 'चार पइसे की जलेबी देव।' उसने जवाब दिया—'मेरे यहाँ चार पैसे की जलेबी नहीं बनती।' इस 'बोलचाल' में 'चार पैसे की जलेबी' की कमी नहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। **चयन** में संकलित]

## काला-पहाड़

अनुवादक—पं. जनार्दन मिश्र 'परमेश'; प्रकाशक—आनन्द-पुस्तकमाला-कार्यालय, पूर्णिया; मूल्य २।); छपाई तथा कागज बहुत साधारण; पृष्ठ संख्या ४०० से कुछ ऊपर।

काला-पहाड़ का आत्मचरित बंगाल में बहुत प्रसिद्ध है। यह पहले हिन्दू थे। फिर मुसलमान हो गये थे। मुसलमान होने के बाद इन्होंने देव-मन्दिरों पर बड़ा अत्याचार किया था। इसका कारण हिन्दुओं की संकीर्णता का बदला लेना था। हमने बंगला में काला-पहाड़ नाटक देखा था। यह पुस्तक उपन्यास का अनुवाद है। नाटक से और इससे बड़ा अन्तर है। कई जगह घटनाएँ भी नहीं मिलतीं। नाटक में और है, उपन्यास में और। नाटक में धार्मिक काला-पहाड़ धोखे से धर्मभ्रष्ट होते हैं। अनुवाद अच्छा हुआ है। पढ़ने में चित्त लगता है। कथाक्रम रोचक है ही। उपन्यास में बढ़ाया बहुत गया है। कल्पना से भी बहुत-कुछ सहारा लिया गया है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। असंकलित]

## भ्रमित पथिक

लेखक—पं. सद्गुरुशरण अवस्थी बी. ए.; प्रकाशक—अभ्युदय-प्रेस, प्रयाग; मूल्य १।।); छपाई-कागज साधारण; पृष्ठ संख्या ३०० के लगभग।

अपने प्रयास पर लिखते हुए अवस्थीजी कहते हैं—"मैंने सारी पुस्तक समाप्त हो जाने के पश्चात पढ़ी, तो मुझे एक प्रकार से नयी-सी मालूम हुई। कई स्थल तो ऐसे प्रतीत हुए कि मानो मैंने कभी उन्हें पढ़ा ही नहीं। सम्भव है, पाठकों को इस पर सहसा विश्वास न हो (ऐसा ही हमारा भी अनुमान है।—'निराला'), मुझे स्वयं भी अपनी विस्मरण-बुद्धि पर हँसी आती है (आपको स्वयं भी हँसी आती है ?—क्यों न आवे, जब कि आप भी गद्य-काव्य लिखनेवाले निकले।—'नि.')। कुछ स्थल तो मुझे ऐसे मिले, जिनका प्रसंग बार-बार स्मरण करने से उनकी याद आ गयी ('आ गयी' ? 'आयी' नहीं, गद्य-काव्य ठहरा।—'नि.') परन्तु कुछ भागों का तो बिलकुल स्मरण ही नहीं आया (कैसे आता ? आप गद्य-काव्य लिख रहे थे या दिल्लगी कर रहे थे ?—'नि.')। वे ऐसे नये प्रतीत होते थे, मानो उनका लेखक मैं हूँ ही नहीं—यह इसलिए नहीं कि वे स्थल बहुत सुन्दर अथवा कला की दृष्टि से अत्युत्तम हैं (इस तरह अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू वही बनते हैं, जिन्हें कला का बिलकुल ज्ञान नहीं।—'नि.') वरन् इसलिए कि मुझे उनमें स्वकीयता का सर्वथा अभाव-सा प्रतीत होता था।" ('अभाव-सा' बिलकुल अभाव नहीं तथा कहीं-कहीं खुदा की छाप पड़ी है। मेरी समझ में तो बिलकुल अभाव है, और पूरी किताब स्वर्गीय आत्मा ने लिखी है, आप भावावेश के मारे बेहोश हो गये थे और आपको यन्त्र बनाकर स्वर्गीय आत्मा ने यह किताब लिख दी—उन्हें हिन्दी में गद्य-काव्य का उद्धार करना था—धन्य हैं आप, धन्य हैं !—'नि.')

आपके आदरणीय मित्र, आप ही की तरह कानपुर-सनातनधर्म-कॉलेज के एक दूसरे प्रोफेसर, पं. हरदत्त शर्मा एम. ए. भी बहुत बहके हैं। पढ़िए—"हमारे पथिक भी आटा ही खाते थे, कुछ भूसा तो फाँकते न थे, जो कामोद्यान से विना केलि किये निकल जायँ।" ('जायँ' या 'जाते' ? यह एक प्रोफेसर की भाषा है, जो आर्ट में मास्टर हैं। दूसरी गलती, क्या भूसा फाँकने या खानेवाले [बैल] कामोद्यान से विना केलि किये ही निकल जाते हैं ?—'नि.')

जरा इस भ्रमित पथिक की भाषा देखिए—

"परिस्थितियाँ नितान्त परिवर्तित प्रतीत होने लगीं। मेरी स्थिति उस झटित-उद्बोधित, अर्द्ध निद्रित, स्वल्प-मुकुलित-नयन-व्यक्ति की भाँति थी, जिसका सूक्ष्म-तम कौशेयतन्तुनिर्मित, सद्यः अनुभूत स्वप्नजाल उद्बोधन के झटके से उलझ गया हो। स्मरण-मन्दिर अन्धकारमय था। चिरानुभूति क्रीड़ास्थली के पूर्वपरिचित अभिनेताओं के नवीन संस्करणों का ज्ञान भी मुझे न था। सौख शायनिकों को भी मैं पहचान न सका। हाँ, एक सहचरी का विस्मरण न हुआ था। उसी ने इस नवीन संस्करण को अर्वाचीन वातावरण के प्रांगण में नृत्य करने के लिए पुष्ट किया। मेरी निरन्तर अटनशीलता ही इस सहचरी की प्रसवकारिणी है।" (और पैरों की पीड़ा उसकी गर्भपीड़ा रही होगी ?—'नि.')

देखा आपने यह गद्य-काव्य ? यह हमारे गदाधर के गद्य-काव्य से बढ़ा-चढ़ा है। गदाधर आजकल विशेषांक का सम्पादन करने लगे हैं, और यह सब गद्य-काव्य के बल पर।

आजकल दुनिया बहुत दूर चली गयी है। पर हिन्दी में अभी ऐसी ही कला-बाजियाँ होती रहती हैं। पुस्तक किसी काम की नहीं। 'जितनी सुन्दरियों ने मुझे छला है, वे सब डाकिनी थीं'—'चार पइसे की जलेबी देव' का संस्कार इतनी शीघ्रता से छूट जायेगा ? प्लॉट क्या तमाशा है ? सहस्रजनी के पढ़ने से आखिर

आनन्द तो मिलता है; यहाँ तो स्कायर गद्य-काव्य है—चारों तरफ गदगदाता हुआ।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। असंकलित]

## कबीर-ग्रन्थावली

सम्पादक—बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए.; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य ३); छपाई-सफाई उत्तम; पृष्ठ-संख्या चार सौ से कुछ ऊपर; आकार बड़ा; कागज साधारण।

भूमिका के साथ एक प्रस्तावना सत्तर से कुछ ऊपर सफे की है। बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने जैसा लिखा है, उससे मालूम हुआ, काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' में 2 प्रतियाँ हस्तलिखित थीं, जिनमें 320 वर्ष का एक-दूसरी से अन्तर होते हुए भी पाठभेद ज्यादा न था। हालवाली में पुरानी से 131 दोहे और 5 पद अधिक थे। अस्तु, इनके आधार पर एक संग्रह के निकालने का निश्चय किया गया। पहले यह कार्य पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय के सिपुर्द किया गया था। पर उन्हें समय नहीं मिला, अत: आपने परिश्रम करके यह संग्रह छपाया है। संग्रह में कठिन शब्दों के अर्थ दे दिये जाते, तो अच्छा होता। पर शायद आपको इतने परिश्रम के लिए समय नहीं मिला।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। असंकलित]

## राष्ट्रीय डंका अथवा स्वदेशी खादी

सम्पादक—श्री चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु, प्रकाशक—हिन्दू-समाज-सुधार-कार्यालय, सआदतगंज रोड, लखनऊ; मूल्य –) धर्मार्थ ३ =) सैकड़ा।

यह 16 पृष्ठ की पुस्तिका, जिसके आवरण-पृष्ठ पर राष्ट्रपति जवाहरलाल का सुन्दर चित्र है, हिन्दू-समाज-सुधार-माला की 15वीं संख्या है। इसमें नये-पुराने चुने हुए सरल, मधुर तथा उत्साहवर्द्धक 17 गाने हैं, जो साधारण जनता में प्रभाव करनेवाले हैं। जैसे—

भारत का डंका आलम में बजवाया वीर जवाहर ने
स्वाधीन बनो, स्वाधीन बनो, समझाया वीर जवाहर ने

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। असंकलित]

## भावुक

लेखक—राय कृष्णदास; छपाई-सफाई उत्तम; पृष्ठ संख्या ६०; सजिल्द; प्रकाशक—भारती-भण्डार, बनारस सिटी; मूल्य ।।)।

यह राय कृष्णदासजी की कुछ कविताओं का संग्रह है। पद्य मनोहर भावमय हैं। कुछ संगीतात्मक हैं, जिनकी स्वरलिपि भी पीछे दी गयी है। ये पद्य 'सरस्वती', 'माधुरी', 'प्रतिभा' और 'इन्दु' आदि पत्रों में निकल चुके हैं। भाषा पुष्ट तथा शुद्ध, भाव प्रांजल और सरस हैं—

"तव निवास है सीप अतल-तल में सागर के;
हैं प्रवाल के विपुल जाल भूषक जिस घर के।
पर है तेरा स्नेह दूर गगन-स्थित घन से;
स्थिति से क्या, वह मिला हुआ है तेरे मन से।
उसके लिए निवास छोड़ देती है अपना;
ऊपर आती मग्न-भाव-सुख को कर सपना।
अतल-निवासिनि, हृदय खोल जल पर तिरती है;
मारी-मारी तरल तरंगों में फिरती है।
प्रेम-नीर की झड़ी लगा देता नव घन है;
छक जाता पर एक बूँद से तेरा मन है।
इस सुख से हो मत्त किन्तु क्या तू गृह तजती ?
नहीं, नहीं, फिर लौट उसे मोती से सजती।"

कैसी सुन्दर भावपूर्ण कविता है ! हमने शायद 'सरस्वती' में इसे पढ़ा था।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930। असंकलित]

## काकली

लेखक—कौशलेन्द्र राठौर; सजिल्द; पृष्ठ-संख्या ५२; छपाई-सफाई उत्तम; प्रकाशक—रामसिंह राठौर, राजसदन, मैनपुरी, यू. पी.; मूल्य १।।); शुरू में लेखक का एक चित्र है।

इसकी भूमिका 'माधुरी' के सम्पादक पं. कृष्णबिहारीमिश्र बी. ए., एल-एल. बी. ने लिखी है। प्रारम्भ में आचार्य द्विवेदीजी का एक हृदयोद्गार दिया गया है, जिसमें आचार्य का कथन है—"आपमें कवित्व का बीज स्पष्ट देख पड़ता है।" अन्त में कविवर 'सनेहीजी' की सम्मति है—"काकली रसिक हृदयों में रस प्लावित कर देती है।" फिर पीछे एक रिसर्च-स्कॉलर की छानबीन दी गयी है। इस पुस्तिका की बालिका-कली के रूप पर जहाँ तीन-तीन प्रसिद्ध साहित्य-वृद्ध क्षुब्ध-मुग्ध-लुब्ध हैं, वहाँ दूसरे की गृध्र-दृष्टि क्रुद्ध होकर क्यों पड़े ? शायद नजर लग जाय। एक उदाहरण—

"रक्त जल होकर बहा है आँसुओं के मिस,
सूखा है कलेवर उसासों की बयार से;
प्राण हुए भार मनोवेदना के भार से हैं;
ऊब गया जी है जग-कष्ट कारागार से।

'कौशलेन्द्र' दुख ही बदा है जब भाग्य में तो,
होगा न भला किसी के प्रेम-व्यवहार से;
रोना याद आयेगा, पिघलने लगेगा मन,
कोई मत देखना हमारी ओर प्यार से।"

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930। असंकलित]

## समाज

लेखक—पं. छविनाथ पाण्डेय बी. ए., एल-एल. बी.; प्रकाशक—साहित्य-सेवक-कार्यालय, ब्रह्मनाल, काशी; पृष्ठ-संख्या ११२; छपाई-सफाई अच्छी; मूल्य ॥ = )।

भूमिका के दो शब्द बाबू शिवपूजनसहायजी ने लिखे हैं। प्रस्तुत पुस्तक समाज के वर्तमान आधार पर लिखी गयी है। हिन्दू-कुरीतियों का उल्लेख और सुधार, इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। बहुत दिनों के बाद छविनाथजी की यह कृति देखने का मिली है। हिन्दू-समाज की कई समस्याओं पर विचार किया गया है। नेकीरामं का पार्ट जगह-जगह बहुत लम्बा हो गया है। नाटक अच्छा है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930। असंकलित]

## बिपता

लेखिका—उमा नेहरू; प्रकाशक—हिन्दोस्तान-प्रेस, इलाहाबाद; छपाई-सफाई उत्तम; मूल्य नहीं लिखा।

यह नाटक जान मेजफील्ड के 'ट्राजिडी ऑफ नैन' का अनुवाद है। विदुषी लेखिका का कहना है कि ईसाइयों की सरल भाषा के अनुरूप ही अनुवाद की भाषा रक्खी गयी है। एक सिलेबुल की किताबों की तरह चूरुड्रामा की भाषा है, जो यहाँ के ईसाइयों के अनुकूल भी है और रोचक भी। यथा—

डिक—मेरी प्यारी, मैं तुझे अपनाऊँगा। अभी, अभी, आज ही रात को—इन सबसे कह दूँगा।

नैन—चाहे जो कुछ हो जाय? चाहे मैं तुम्हें बता भी दूँ—जो मुझे तुमसे कहना है?

डिक—वह कुछ भी हो—अब तो बस आज ही रात को। आज ही। बाजे-वाले के आते ही।

नैन—हाय मेरे प्यारे!

डिक—मैं सबके सामने तुम्हें अपनाऊँगा। एक-एक के सामने।

नैन—मुझे अपना लोगे!

डिक—मुझे फिर से प्यार कर ले।

मेरी प्यारी···"मोहे सैयाँ मिलन की आस दरवजवा ठाढ़ी रही" धाँएँ—धाँएँ—धाँएँ (दरवाजा पीटते हैं)।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930। असंकलित]

## उपनिषद्-सुधा

रचयिता—स्वर्गीय बाबू जयनारायणजी; प्रकाशक—पं. हरिशंकर विद्यार्थी, प्रताप-प्रेस, कानपुर; मूल्य २)। कागज तथा छपाई-सफाई साधारण। पृष्ठ संख्या ४४० के इधर-उधर।

आरम्भ में, भूमिका लिखते हुए, प्रयाग-विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक साहित्याचार्य पं. रघुवर शास्त्री एम. ए., एम. ओ. एल., काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ महाशय ने उपनिषदों के इतिहास तथा प्रकाश में आने का जो परिचय दिया है, वह बड़ा ही सुन्दर, विद्वत्तापूर्ण, सारगर्भ तथा मनोहर है। उपनिषदों के सम्बन्ध की यह छानबीन इतिहास की दृष्टि से तो कोई बड़ी बात नहीं थी, पर उनकी उपयोगिता तथा स्थाननिर्णय पर शास्त्रीजी ने जो अभिमत जाहिर किया है, वह अत्यन्त विशद तथा उनके निर्मल उपनिषद-ज्ञान का सुखप्रद प्रमाण हो रहा है। हिन्दुओं के उत्कर्ष का सर्वोत्तम साहित्य उपनिषद ही हैं। उनका साधारण जनों में अधिकाधिक प्रचार देश तथा जाति के कल्याण का सर्वोत्तम साधन है। प्रस्तुत पुस्तक में उपनिषद-वाक्यावली का सरल हिन्दी में पद्यानुवाद किया गया है, जिससे पढ़ने की रुचि बढ़ती है। पुस्तक में चुने हुए 52 उपनिषदों का भाषान्तर किया गया है। पद्य-बन्ध किसी अच्छे उत्तरदायी कवि से दिखा लिये जाते, तो कहीं-कहीं भाषा में जो खटकनेवाली अशुद्धियाँ, स्खलन आदि रह गये हैं, उनका निराकरण हो जाता। पुस्तक के लेखक तथा प्रकाशक को धन्यवाद।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## भगवद्गीता की समालोचना

श्रीमत् परमहंस सोऽहं स्वामी-प्रणीत; अनुवादक—पं. गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री; प्रकाशक—श्री सूर्यकान्त वन्द्योपाध्याय बी. एल., नं. ३८ सदानन्द बाजार, स्वयं-भाति-पुस्तकालय, काशी। मूल्य २) सजिल्द। छपाई कागज साधारणत: अच्छा। पृष्ठ संख्या ३३२।

पुस्तक आलोचनात्मक है। श्रीमत् परमहंस सोऽहं-स्वामी गीता-ज्ञान के अधिकारी पुरुष हैं। उनकी की हुई आलोचना अच्छी ही होगी, यह धारणा पहले ही बँध जाती है। पढ़ने पर यह विचार दृढ़ हो जाता है। स्वामीजी की समालोचना बड़ी विशद तथा उनके सत्य ज्ञानानुभव की पूर्ण परिचायिका है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते" आदि, इस श्रुति-वाक्य में अपर तटस्थ रहकर देखनेवाले पक्षी के रूपक में आत्मा की जीवात्मा में व्यापकता दिखलाते हुए

स्वामीजी ने इसके मूल-तत्त्व का बड़ी उत्तम रीति से प्रदर्शन कर दिया है। गीता की इतनी अच्छी आलोचना हमें इधर नहीं मिली। यह मुक्त आलोचना है। केवल विषय का सम्बन्ध लेकर चलती है। भाषा बड़ी साफ तथा प्रशस्त है। गीता के प्रेमी सज्जन यह पुस्तक एक बार अवश्य देखें।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## अरुणोदय

लेखक—पं. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी. ए.; सम्पादक—जगद्गुरु श्रीमान सच्चिदानन्द शर्मा। छपाई-कागज़ साधारण; पृष्ठ-संख्या २८२; मूल्य २) ऐसी रद्दी छपाई और कागजों के इतने ही पृष्ठों के लिए बहुत अधिक हो गया है।

पहले मैं समझता था, मेरे मित्र एकमात्र अर्जुन चमार जो प्रतिदिन मेरे यहाँ हिन्दी पढ़ने के लिए आया करते हैं, 'गुणा' को 'गुड़' कहकर उच्चारण में अधिक मिठास लाने के प्रवर्तक हैं। पर क्रमशः मेरा यह भ्रम दूर हो रहा है। हिन्दी में अनेक प्रवर्तक होते जा रहे हैं। इस पुस्तक के भूमिका-लेखक श्रीमान सच्चिदानन्द शर्मा रस, भाव तथा भाषा सबके प्रवर्तक हैं। आत्मप्रसाद की भाषा ठहरी, फिर क्या, "ऊँचे उरोज उलारि-उलारि चमारी चना धना लागी पछोरन"! गिरीश-जी के सभी चरित्र शिथिल हैं। उपन्यास में पढ़ाई की मिहनत भी नहीं वसूल होती। गिरीशजी के गद्य की बड़ी तारीफ सुनी थी, पर भाषा क्या, बेरी-बेरी रोग है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## भूली बात

लेखक—पं. विनोदशंकर व्यास; प्रकाशक—पुस्तक-मन्दिर, काशी। छपाई-सफाई-कागज बढ़िया। पृष्ठ संख्या १२०; मूल्य ।)।

यह वाणी-विनोद-पुस्तकमाला की दूसरी संख्या है। विनोदजी छोटी-छोटी कहानियाँ इधर कई साल से लिख रहे हैं, और इस तरफ उन्हें सफलता मिली है। सीधी भाषा, सुन्दर भाव। जहाँ कहीं प्रयत्न असफल हुआ है, वहाँ ज्यादा बुरा नहीं लगता। कारण, वह हिन्दी ही के भीतर से किया गया प्रयास भविष्य के सफल शिल्प की वर्तमान असफलता है, प्रयत्न में सूक्ष्म सौन्दर्य और लघुता ले आने का कारण। पुस्तक में 9 कहानियों का संग्रह है। जहाँ नयी भावना वैसी ही भाषा के भीतर से एक छोटे झरने की तरह फूटकर बह चली है, वहाँ उसकी उज्ज्वलता, स्वच्छता देखकर जी खुश हो जाता है। चित्रण में सहानुभूति है, भावों में स्थिरता।

पर "उसका सौन्दर्य दरिद्रता से प्रणय-भिक्षा माँग रहा था।" यहाँ वरदान शाप बन रहा है। प्लाटों में भी भावातिरेक की मृगी है, कहीं-कहीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास

लेखक—पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र; प्रकाशक—साहित्य-सेवक-कार्यालय, ब्रह्मनाल, काशी; मूल्य ।–); पृष्ठ संख्या ५२; छपाई-कागज साधारण और अच्छा।

लेखक ने हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर लिखी गयी कुछ हिन्दी की और कुछ अँगरेजी की पुस्तकों के आधार पर यह प्रबन्ध-पुस्तिका लिखी है। हिन्दी के नाटकों के लिए इतना ही बहुत नहीं। इसमें नाट्य-साहित्य के विकास की बड़ी-बड़ी बातें नहीं हैं, जो उसके भविष्य का निर्माण करें।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास

लेखक—श्रीयुत कन्हैयालाल; प्रकाशक—श्रीयुत वीरबलसिंह, पीठ-स्थविर, काशी-विद्यापीठ, काशी; पृष्ठ संख्या तीन सौ के लगभग, छपाई-सफाई तथा कागज अत्युत्तम; मूल्य २)।

आजकल देश में जिस अँगरेजी शिक्षा का जोर है, इसकी नींव पहले सरकार तथा विदेशी व्यापारियों के खाता-पत्र आदि लिखने के उद्देश्य से, क्लर्क तैयार करने के इरादे पर, डाली गयी थी। पर विश्वविद्यालय क्रमश: जिस अधिकता से पास-शुदह छात्रों की संख्या बढ़ाने लगे, उतनी ही अधिक माँग सरकार तथा मर्चेण्ट-हौसों में न रह गयी। फलत: अकर्मण्य पठितों की संख्या बढ़ने लगी। साइंस के मास्टर केवल किताबों के ज्ञान में बँधे रह गये। साधनों के अभाव से देश की तथा अपनी तरक्की के लिए नये-नये आविष्कार न कर सके। अत: शिक्षा का सदुपयोग नहीं हुआ। डॉक्टर भी इसी तरह विदेशी यन्त्रों तथा दवाओं के बेचनेवाले पैदा होने लगे। आर्ट में अपने यहाँ की कला का अभाव और रानी एलिजाबेथ के समय की साहित्य-साधना की चर्चा जोरों पर होने लगी। इंजीनियर एंजिन तैयार करने के लिए नहीं, साफ करने के लिए होते गये। वकील उसी तरह कानून की सत्ता पर विचार करने, उसकी उपयोगिता की वृद्धि के लिए नहीं, कानूनों को रटकर अभियोग के दफा-निर्देश के लिए हुए। इस प्रकार शिक्षा की सार्वभौमिक पराधीनता रही। बेकार शिक्षितों की संख्या भी बहुत ज्यादा बढ़ गयी। यह सब देखकर देश के स्वतन्त्र मस्तिष्कवाले मनुष्यों में शिक्षा के सुधार की भावनाएँ पैदा होने लगीं। विद्यार्थियों को विद्या के उचित लक्ष्य की ओर ले चलने की प्रेरणा से

उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालयों की नींव डाली। वहाँ की शिक्षा में राष्ट्रीयता के साथ-साथ विद्यार्थियों के भीतर आत्मनिर्भरता के भाव भरने का क्रम रक्खा गया। प्रस्तुत पुस्तक उसी का इतिहास है।

मुख्य-मुख्य सत्रह शिक्षालयों के उल्लेख से इसकी शान बढ़ायी गयी है। सबका इतिहास तथा कार्यक्रम भी दिया गया है। पुस्तक इतनी सुन्दर है, भाषा, भाव, निबाह—सब इतने साफ, मार्जित तथा मनोहर हैं, जिनका उल्लेख करने में हम पूर्णत: असमर्थ हैं। काशी-विद्यापीठ-शिक्षा-परिषद के निश्चय तथा आदेशानुसार वहीं के उप-पीठस्थविर श्रीयुत कन्हैयालालजी ने इस अमूल्य पुस्तक की रचना की है। हिन्दी के भाग्य को सराहिए, जो ऐसे सुबोध लेखक और ऐसी प्रांजल भाषा में लिखी गयी पुस्तक भी वह दे सकती है।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। असंकलित]

## श्री-श्री चैतन्य चरितावली (खण्ड 1)

लेखक—श्री. प्रभुदत्त ब्रह्मचारी; प्रकाशक—श्री. घनश्यामदास, गीता-प्रेस, गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या-३०५; चार तिरंगे चित्र; मूल्य ।।।=) सादी; सजिल्द १=); छपाई-सफाई, कागज अच्छा।

गीता-प्रेस सस्ते में अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का प्रकाशन करता है। यह पुस्तक भी पृष्ठ-संख्या तथा रंगीन चित्रों को देखते हुए काफी सस्ती है। विषय की महत्ता और रोचकता का क्या कहना! एक महापुरुष का पूरा इतिहास ज्ञात होता है। श्रीचैतन्यदेव बंगाल में अवतार माने जाते हैं। उनका एक साहित्य ही बंगला में अलग है। लेखक ने सुन्दर भाषा में महाप्रभु का जीवन-वृत्तान्त लिखा है। महाप्रभु के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रंगीन चित्र आकर्षक हैं। पुस्तक पाँच खण्डों में समाप्त हुई है। ऐसे साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि से हिन्दी का गौरव बढ़ेगा। मौलिक लेखकों को पुष्ट साहित्य की रचना में विचारों की सहायता प्राप्त होगी। ऐसे पवित्र साहित्य का घरों के भीतर तथा बाहर सर्वत्र प्रचार होना चाहिए।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933। असंकलित]

## हिन्दी-दासबोध

रचयिता—समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी (छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु); अनुवादक—बाबू रामचन्द्र वर्मा; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस-सिटी; मूल्य २); पृष्ठ संख्या ४७३; सजिल्द; कागज और छपाई-सफाई साधारणत: अच्छी; समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी का एक चित्र भी प्रारम्भ में दिया गया है।

पुस्तक विचार तथा ज्ञान की खान है। धर्म-साहित्य के अनेकानेक विचार

इसमें एकत्र हैं। अनुवादक बाबू रामचन्द्रजी लिखते हैं—"श्री समर्थ केवल बड़े महात्मा और साधु ही नहीं थे, बल्कि बहुत बड़े विद्वान्, कवि, राजनीतिज्ञ और अनुभवी भी थे। श्री समर्थ को कितने अधिक विषयों का और कितना अधिक ज्ञान था, इसका परिचय पाठकों को इस दासबोध के पढ़ने से ही मिल जायगा। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ उन्होंने शिवाजी महाराज के लिए बनाया था पर यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह सारे संसार के लिए परम उपयोगी तथा कल्याणकारी है। यदि विषयों के विचार से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का विश्वकोष ही है।" बाबू रामचन्द्रजी ने बहुत ठीक लिखा है। संसार के मूल-कारण पर इतने प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टियाँ इसमें पड़ी हैं कि कुछ छूट गया, ऐसा नहीं जान पड़ता। वर्माजी हिन्दी के प्रसिद्ध अनुवादक हैं। भाषा परिमार्जित तथा मनोहर है। हमें विश्वास है, इस पुस्तक को पढ़कर हिन्दी-प्रेमी सज्जन श्री समर्थ स्वामी रामदासजी के पवित्र विचारों से परिचय प्राप्त करेंगे।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1933। असंकलित]

## आत्मोत्सर्ग

लेखक—श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; मूल्य दस आने सजिल्द; छपाई-सफ़ाई और कागज उत्तम; पृष्ठ-संख्या १००।

यह काव्य-पुस्तक श्रद्धेय श्री विद्यार्थीजी के प्रख्यात बलिदान पर है। 'सुधा' में यह कविता छप चुकी है। शुरू में पूज्य महात्माजी के लिखे हुए महत्त्वपूर्ण दो पैराग्राफ वरेण्य विद्यार्थीजी पर हैं।

श्री सियारामशरणजी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं। इस प्रभावोत्पादक दिव्य विषय पर उनकी लेखनी ने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। आदरणीय अमर विद्यार्थीजी के स्वभाव से जिन्हें परिचय है, उनके साथ मिलने-जुलने का शुभ अल्प-काल भी जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे काव्य के भीतर पूज्य विद्यार्थीजी को ही सजीव, चलते-फिरते, परदुःख-परिचय प्राप्त करते हुए, ओजस्विनी हिन्दी में पार्श्व-स्थिति की जड़ निष्प्राणता को जलाकर लोगों को विशदोद्देश लक्ष्य की ओर ले चलते हुए देखेंगे। उनका हृदय अमृत-स्नेह से भर जायगा, उनकी स्मृति में राष्ट्र और साहित्य की तेजःपुंज, सक्रिय, शिष्ट, आडम्बरशून्य दिव्य मूर्ति जाग्रत होगी। जिन लोगों से विद्यार्थीजी का स्नेह सूत्र था, वे यह अमूल्य काव्य-पुस्तिका साद्यन्त पढ़ नहीं सकते—आँसू बार-बार बाधक होंगे। फिर भी, हमारे आदर्श नेता-साहित्यिक की यह दिव्य भाषा-विभूति से युक्त पुस्तिका हिन्दी-भाषियों के हर घर को ध्वनित करेगी, प्राणों में वैसी ही शक्ति पैदा करेगी, विश्वास है। कैसी पंक्तियाँ हैं ये—

साथी सज्जन् मुसलमान ने
शान्ति-हेतु बहु यत्न किया;
"भागो, जान बचाओ" कहकर
पीछे उनको खींच लिया।

× ×

"छोड़ो" तनकर कहा उन्होंने
"छोड़ो मुझे, यहीं हूँ मैं;
नहीं भागना सीखा मैंने
वह नामर्द नहीं हूँ मैं।"

× ×

सहज सुरभि शुचिता थी उसमें
और एक था अपना रंग;
फिर भी था पशुबल विहीन वह
कुसुम-रूप ही कोमल अंग।

× ×

लट्ठ-लाठियाँ, भाले-बल्लम
बरस पड़े उनके ऊपर;
पूर्णहुति हो गयी हुतात्मा
तत्क्षण दीख पड़ा भू पर।

× ×

हीन हुई दिनकर की आभा
सान्ध्य गगन में होकर दीन;
हेतु विना जाने ही सहसा
सुहृदों के मन हुए मलीन!

× ×

होता रहा शोध ही उनका
तीन रात्रियाँ हुईं गता;
भैरव-घाट, जाह्नवी-तट पर
सहसा शव का लगा पता।

× ×

चादर दूर की गयी मुख से—
ऐं, गणेशजी हैं ये ही?
हैं ये ही, मानें किस मन से;
वे पुनीत पुण्य-स्नेही?

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 1 नवम्बर, 1933। असंकलित]

## स्वामी रामतीर्थजी महाराज का जीवन-चरित

लेखक और सम्पादक—श्रीमन्नारायण स्वामीजी महाराज; प्रकाशक—श्री राम-तीर्थ-पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या ६५२; कागज रूखा, जिल्द मामूली २॥); कागज चिकना, जिल्द बढ़िया ३)।

स्वामी राम के कई, उनके सहायकों के तथा एक फारसी-लिपि का, इस प्रकार चित्रों द्वारा भी पुस्तक सुशोभित है।

स्वामी रामतीर्थ ग्राधुनिक युग के एक श्रेष्ठ रत्न हैं। पश्चिमोत्तर भारत में उनकी तरह का यथार्थ भारतीय ब्रिटिश राज्यकाल में नहीं पैदा हुआ। वह विद्वान होकर अपने जीवन में विद्या के धातु-जन्य विशद अर्थ को सार्थक करनेवाले महापुरुष थे। इस तरफ उन्हीं में सच्ची ऋषि-प्रतिभा विकसित हुई थी। उनके प्रकाश से एक दिन संसार चमत्कृत हो गया था। देश तथा विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों, रवीन्द्रनाथ-प्रमुख कवियों, महाशय एण्ड्रूज-सदृश उच्च पुरुषों के द्वारा उनकी प्रशंसा हो चुकी है। नर-श्रेष्ठ एण्ड्रूज जहाँ रवीन्द्रनाथ को काव्य का महान कलाविद मानते हैं, वहाँ स्वामी रामतीर्थजी को उन्होंने कविता की जीवित मूर्ति लिखा है। स्वामी राम का ही आदर्श हम भारतीयों का सर्वोत्तम आदर्श है। उनके विस्तृत जीवन-चरित की हिन्दी को तीव्र आवश्यकता थी। उनके पट्ट-शिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी महाराज ने इसकी स्तुत्य पूर्ति करके हिन्दी भाषियों का प्रभूत उपकार किया है।

पुस्तक चार खण्डों में लिखी गयी है। प्रथम खण्ड में ऑक्टोबर, 1873 से अगस्त, 1898 तक—स्वामी राम का जन्म, पितृ-परिचय, कुल, बाल-विवाह, साधारण तथा उच्च शिक्षा, बाधाएँ और अतिक्रमण, विद्यार्थी-राम को झण्डू हलवाई का मदद देना, बी. ए. और एम. ए. में दिनचर्या, पास होना, जन्म-सिद्ध वैराग्य, नौकरी, त्याग की उमंगें, दर्शन, उत्तराखण्ड में वास आदि—का रोचक वर्णन है। दूसरे खण्ड में अगस्त, 1898 से दिसम्बर, 1898 तक राम के मानसिक विचार, यात्राएँ आदि का 148 पृष्ठों में दिग्दर्शन कराया गया है। तीसरा खण्ड जनवरी, 1889 से 1896 तक के जीवनेतिहास से रंजित है। इसमें राम के हिमालय-वास और भ्रमण, पुत्र-पत्नी आदि का वृत्तान्त, विभिन्न स्थानों, देश और अमेरिका-मिस्र आदि विदेशों की यात्रा आदि अनेक विषय लगभग ढाई सौ सफों में लिखे हैं। चौथे खण्ड के पूर्वार्द्ध में भिन्न-भिन्न लेखकों और कवियों द्वारा राम पर लिखे गये लेख और कविताएँ हैं, उत्तरार्द्ध में राम की मस्तानी रचनाएँ आदि।

पुस्तक बड़ी रोचक है। अच्छे-से-अच्छे उपन्यास में राम का यह लोकोत्तर चरित्र नहीं मिल सकता। पढ़ने में बड़ा दिल लगता है, जैसे एक जादू चल रहा हो। राम हिन्दी-साहित्य-सम्राट् गो. तुलसीदासजी के वंशज थे, पढ़कर आँखें छलछला आईं—कैसा प्राचीन और नवीन का सामंजस्य रहा! यह पुस्तक इतने बड़े ज्ञानी, कवि, महापुरुष का आधार लेकर हिन्दी-भाषियों के प्राणों की वस्तु हो गयी है। स्त्री-पुरुष, हर एक को इसकी एक प्रति पास रखनी चाहिए। हर लाइब्रेरी में इसका होना जरूरी है। यह पुस्तक मनुष्य के मनोबल को धो देने के लिए मनोरंजन की उठती लहरोंवाली गंगा है, जिसकी शान्ति की व्याख्या केवल अनुभवगम्य है। जीवनमुक्त महाकवि बादशाह राम का कविता द्वारा दिया हुआ उपदेश नवीन युग का सर्वोत्तम विकास है—

"गम दूर, मिटा रश्क, न गुस्सा न तमन्ना,
पलटेगा घड़ी-पल में नया ढंगे-जमाना।
आजाद है, आजाद है, आजाद है, हर एक,
दिल शाद है, क्या खूब उड़ा तंगे जमाना।
लो काठ की हँड़िया से निभे भी तो कहाँ तक,
अग्नी तो जला ज्ञान की दे संगे जमाना।
आती है जहाँ में शहे-मशरक की सवारी,
मिटता है सियाही का अभी जंगे-जमाना।

वही जो इधर खार उधर है गुले खंदाँ,
हो दंग जो यूँ जान लें नौरंगे जमाना।
देता है तुम्हें राम भरा जाम य' पी लो,
सुनवायगा आहंग नये चंगे-जमाना।"

उत्तर-भारत के इस नवीन युग के सन्देशवाहक, साक्षात राम, का यह जीवन-चरित्र घर-घर रहना जरूरी है।

['सुधा', अर्धमासिक, लखनऊ, 16 मई, 1934। असंकलित]

## सीकर

कवयित्री—श्रीमती तारा पाण्डे; प्रकाशक—देवेन्द्र चन्द्र, विद्याभास्कर बुक डिपो, चौक, बनारस सिटी; मूल्य ।।।); छपाई-सफाई-कागज उत्तम। कवयित्री और उनकी स्वर्गीया माता के एक-एक चित्र। आठ पृष्ठों का परिचय कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त का लिखा हुआ।

कविता के क्षेत्र में श्रीमती तारा के संस्कृत मधुर चरण-क्षेप परिचित हैं। उनकी जीवनी से ज्ञात होता है कि उन्हें किसी आधुनिक शिक्षणालय में तालीम नहीं मिली। घर रहकर विद्याभ्यास किया है। उनके यहाँ प्राचीन प्रथा का दृढ़ निरीक्षण था। फिर भी उनके हृदय में काव्य का अंकुर उगा, और आशानुरूप पवित्र सिंचन पाकर पल्लवित हुआ। करुणा भारतीय देवियों की श्रेष्ठ विभूति है। इस शब्द से देवी सीता का स्मरण हो आता है—'कारुण्यामृतवर्षिणीं हरिहरब्रह्मादिभिर्वन्दिताम्', जिन्हें कवि ने नमस्कार किया था। चित्र में कवयित्री की दुःख-रेखाएँ उनकी आन्तरिक पीड़ा को प्रत्यक्ष करा देती हैं। सब प्रकार निश्चिन्त, सुख की गोद में सात्त्विक भावना को लिये हुए भी वह निराश कारुण्य में डूबी रहती हैं। सोचता हूँ, तो करुणा स्वभावसिद्ध-सी मालूम देती है।

श्रीमती तारा खड़ी बोली की कवि हैं। उनकी पंक्तियाँ जैसे दूध से घुली हों, इतनी उज्ज्वल मालूम देती हैं। सारल्य पंक्ति-पंक्ति से टपकता है। विशुद्ध खड़ी बोली देखकर मन मुग्ध हो जाता है। इनकी काव्य में यही प्रशंसनीय विशेषता है। भाव कहीं-कहीं तो बहुत ही अच्छी तरह, भाषा की लता के ऊपर निकले फूल जैसे खुल रहे हैं। सन्ध्या-दीप पर कवयित्री—

"अरे, सन्ध्या के पहले दीप!
झलकते हो तुम मुक्ताकार;
तुम्हीं मेरे जीवन की ज्योति,
जगमगाते परदे के पार।"

इसकी सादगी, भाषा का मार्जन-सारल्य और भाव का स्पष्ट प्रकाश श्रीमती तारा के तारक-हृदय का स्वयं श्रेष्ठ परिचय है।

शैशव की कल्पना का एक चित्र—

"मा! जो नीले नभ के ऊपर
होती थी नित उजियाली;
आज बादलों के घर में है
छिपी हमारी दीवाली!

लाल-लाल हैं, कहीं सुनहले,
श्वेत कहीं हैं श्याम अनूप;
पर्वत-जैसे, कहीं भवन-से,
मा, देखो बादल का रूप!
नन्हे-नन्हे चमक रहे हैं,
उज्ज्वल जैसी होती सीप!
ओ मा! ये तो जगमग करते—
बादल के घर छोटे दीप!
मा! क्या रावण की वह लंका,
सचमुच, सोने ही की थी?
जैसा बादल का यह घर है,
क्या सचमुच ऐसी ही थी?"

इन पंक्तियों की शोभा और ऐश्वर्य देखते ही बनता है।

स्थल तथा समय के संकोच के कारण मैं विशेष रूप से मित्रों को तृप्त न कर सका। पर मैं अनुरोध करता हूँ, वे अपनी गृहदेवियों तथा बहनों को 'सीकर' की एक-एक प्रति खरीदकर अवश्य पुस्कृत [पुरस्कृत] करें; इससे उनकी शोभा में वृद्धि होगी, मन प्रफुल्ल होगा।

श्रीमती तारा को चाहिए कि हताश न होकर अपनी बहनों को और उत्कृष्ट रचनाएँ देने योग्य स्वास्थ्य प्राप्त कर लें। उनसे हमें शुभ-से-शुभ आशाएँ हैं। उनकी प्रतिभा सक्षम है। उनकी रचनाओं को हम हृदय से आदर-स्नेह देते हैं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1935। असंकलित]

## निशीथिनी

रचयिता—श्रीप्रणयेश शुक्ल; प्रकाशक—श्रीयुत आर. एम. त्रिपाठी, कानपुर; छपाई-सफाई और कागज उत्तम; कागज की मोटी जिल्द; मूल्य ॥।)।

यह कवि श्रीप्रणयेश शुक्ल की रचनाओं का संग्रह है। पद्य खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में है। 18 पृष्ठों की एक भूमिका कवि श्री अभिराम शर्मा की लिखी हुई साथ है। यह काव्य-पुस्तक 'अभिराम-पुस्तकमाला' की द्वितीय छवि है। अभिरामजी और प्रणयेश के सम्बद्ध नाम से एक काव्य-पुस्तक पहले प्रकाशित हो चुकी है। उसमें मुक्त संगीत थे।

खड़ी बोली के काव्य-साहित्य को प्रगति देने में इन दोनों कवियों को सुयोग प्राप्त है। इनकी रचनाएँ सुन्दर और पढ़ने का ढंग मधुर है। काव्य के बीज इनमें अंकुरित हैं; आगे वे जैसे पल्लवित हों, फूलें-फलें। आकाश से गिरते समय बीज-रूप वर्षा के जल-बिन्दु सभी बराबर हैं, नीचे नालों और छोटी-बड़ी नदियों में स्वभावत: सिमटकर छोटी और बड़ी व्याख्या प्राप्त करते हैं। शिक्षा और अध्यवसाय का जितना प्रशस्त मार्ग निर्मित होगा, उतनी ही ग्राहिकाशक्ति बढ़ेगी—उतने ही बिन्दु सिमटकर एक पथ से प्रवाहित होंगे—कवि उतना ही बड़ा कहा जायगा।

'आकर्षण' पर प्रणयेशजी की उक्ति का मुलाहजा फर्माएँ—

"आनन्दाश्रु उमड़े अपार देख मैंने जाना,
चातक पै चित्त-चोर ने की कृपा-कोर है;
सुन्दर सुरीला स्वर तेरा सुन पाया ज्यों ही,
मैंने जाना पिक करता अधिक शोर है!
नीरज-से तन पर सोहै नील-अम्बर सो—
मैंने जाना मम हृद-वन का ये मोर है;
यह अवलोक पल-भर भी न रोक सका,
मेरा मन खिंच गया बस तेरी ओर है।"

सुन्दर रचना है। यह उक्ति भक्त की उसके आराध्य पर हो सकती है। उमड़े हुए आँसुओं के भाव में चातक-मन को स्वाती-बूँद का मिलना, स्वर सुनकर कोयल की याद करना, कमल-देह पर नीलाम्बर देखकर मोर समझना आदि से मेघ के घिरने की पूरी छवि सामने आती है। यह काव्य-क्षेत्र पर सच्चा प्रयत्न है, सफलता की लता को खिलाने का। एक चित्र और—

"मान-अपमान का किसे है बतलाओ ध्यान,
जग से विरक्त हो तुम्हारे कहलायेंगे!
छाया बन डोलेंगे तुम्हारे संग बन-बन,
मधुप तुम्हारे गुन-गुन गुन गायेंगे!
'प्रणयेश' तरल-तरंगित पियूष-प्याले,
हम भी पियेंगे और तुमको पिलायेंगे!
तुम मुसकाते हुए देखना हमारी ओर,
हम बलिहार उस छवि पर जायेंगे!"

सुन्दर भाव है, और खड़ी बोली पुष्ट, पर सरल सौन्दर्य में है। अवश्य 'पियूष' 'पीयूष' ठीक है। इस तरह छन्द भी नहीं टूटता। पहले उद्धरण से इसका भाव अधिक पुष्ट हुआ है।

प्रणयेशजी की रचनाओं को पढ़ने पर हृदय में काव्य की सच्ची मूर्ति अंकित होती है, और कवि की निरहंकारिता-मृदुल प्रलेप स्निग्ध कर देता है। यदि उत्तरोत्तर वह बढ़ते गये, तो उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार सफलता होगी।

उनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ भी अच्छी हैं। पर उतनी नहीं, जितनी खड़ी बोली की। मैं खड़ी बोली की तरफदारी नहीं कर रहा। ब्रजभाषा में ऐसे अच्छे-अच्छे छन्द हैं कि उसकी स्पर्धा नहीं की जा सकती। फिर भी प्रणयेशजी के छन्द एसे नहीं, जो न जँचते हों; काफी अच्छे लगते हैं। मनोरंजन की उनमें भी यथेष्ट शक्ति है। एक उदाहरण देता हूँ—

"वे रवि-इन्दु विलोकनि तैं
मन-सिन्धु में बुंद-सुधा बरसावत;
हास-विलासन मैं रस-रास
प्रकासन मैं बिजुरीन गिरावत।
भौंह मरोरनि मैं चहुँओरनि—
सों 'प्रणयेश' वे ज्वाल जरावत;
वे पँखुरीन गयंद चढ़ावत,
वे अँगुरीन पै विश्व नचावत!"

यद्यपि पहली अवस्था में शृंगार के सजे चित्रों की ओर अधिक ध्यान रहता

है, फिर भी प्रणयेशजी ने साधारण भाव पर भी प्रयत्न किया है। कवि की दृष्टि साफ शीशे की तरह है; जो चित्र उसके सामने आता है, उसी का उस पर बिम्ब पड़ जाता है। आशा है, साधारण ग्राम्य जीवन प्रणयेशजी 'मजूरनी' की तरह खींचने की कोशिश करेंगे। ऐसे चित्र साहित्य को अधिक-से-अधिक संख्यक चाहिए। इनके चित्रण में सादगी ही कला है। देखने में मामूली होने पर भी वस्तुतः यह दुष्कर है। भाषा मुहावरेदार, सीधी। इधर कवियों का ध्यान कम गया है। प्रणयेशजी की साधना का विषय भी है। 'मजूरनी' के दो-चार दृश्य पेश करता हूँ—

"लिये भग्नाशाओं का भार
टोकरी में अपनी भरपूर
लड़खड़ाती चलती जा रही
पास होकर भी मंजिल दूर।
कोड़ की स्मृति, बालव सुकुमार
कि जिसका अक्षय मीठा प्यार
दिलाता था रह-रहकर याद
वेदना - जनित हर्ष सविषाद।
कभी श्रम-अथक परिश्रम किये
व्यथाओं की कटु मदिरा पिये
कार्य में ही रहती चित दिये
'बिलग' अपना जीवन-पट सिये !
छिपाये उर में हाहाकार
समझती भी असार संसार
मानवोचित सारा व्यवहार
स्वप्न था उसे स्वप्न साकार !"

इस तरह की कविता में केवल यथार्थ चित्रण, विना अलंकारों के, ज्यादा खुलता है। यह कविता प्रणयेशजी से अच्छी नहीं बन पड़ी। चौथा बन्द सुन्दर है। इस तरह के चित्रण से साहित्य को बहुत-कुछ मिलता है, और ग्राम्य जीवन साहित्य का मूल है। 'यद्दृष्टं तल्लिखितम्' यह एक बहुत बड़ी कला है। इसमें सबकुछ रहता है।

'निशीथिनी' के पाठ से मुझे यथेष्ट रसपान करने को मिला; अच्छी-अच्छी तस्वीरें देखने को मिलीं; वह मेरे लिए केवल काली रात नहीं रही।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1935। असंकलित]

## रिसाला अजायबुल इल्म अर्थात भगवत ज्ञान के विचित्र रहस्य

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब वेदी-कृत; प्रकाशक—श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; छपाई-सफाई उत्तम; कागज साधारणतः अच्छा; पृष्ठ संख्या १५१।

इस पुस्तक में आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंहजी के उपदेश हैं। 'निवेदन',

'भूमिका' और 'प्रस्तावना' तीन सज्जनों ने लिखी हैं। परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्ट-शिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी की भूमिका पढ़ने पर इसके प्रकाशन की बात मालूम होगी। आप लिखते हैं—"बम्बई के शुद्ध-चित्त व पवित्रात्मा रामभक्त मियाँ रोशन मुहम्मद साहिब दर्शनार्थ लेखक को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लखनऊ आ पहुँचे। उक्त बाबा नगीनासिंह साहब की रचित पुस्तक वेदानुवचन ने इनके हृदय को पहले ही से रँग रक्खा था, और स्वामी रामतीर्थ की मस्ती-भरी पुस्तकों के अध्ययन ने इनके चित्त को पूर्णतया प्रफुल्लित कर रक्खा था। दो-चार दिन सत्संग करने के बाद जब उनके आगे रिसाला अजाय-बुल इल्म की बातचीत हुई, तो उनके चित्त में इस ग्रन्थ के पढ़ने की रुचि व उमंग उमड़ पड़ी। और, यह ग्रन्थ कुछ दिन के लिए अध्ययनार्थ उन्हें देना पड़ा। चूँकि प्रकाशित पुस्तक में अनेक अशुद्धियाँ थीं, जो स्थान-स्थान पर संशोधित की गयी थीं, तथापि अधिक संशोधन की आवश्यकता रखती थीं, इसलिए उक्त मियाँ साहिब से अनुरोध किया गया कि अध्ययन करते समय जहाँ-जहाँ इस ग्रन्थ में शब्दों का संशोधन उचित दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वह भी कर दिया जाय। इस पर मियाँ साहिब ने न केवल उक्त संशोधन ही किया, बल्कि आरम्भ से अन्त तक इसकी शुद्ध लिपि लिखकर मुझ लेखक के पास भेज दी, ताकि इसकी पुनरावृत्ति में लेखक को दिक्कत न पड़े।" श्रीमन्नारायण स्वामी और भी लिखते हैं—"ग्रन्थ के विषय में केवल इतना लिख देना पर्याप्त न होगा कि वेदान्त-विषय पर भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनेक पुस्तकें पढ़ डालीं, परन्तु गम्भीर-से-गम्भीर रहस्यों को खोलने में और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संशयों को दूर करने में जिस प्रकार यह ग्रन्थ युक्ति-युक्त, विचार की श्रेणी से बद्ध और सरलता से पूर्ण पाया गया, अभी तक कोई अन्य ग्रन्थ देखने और सुनने में नहीं आया।"

इससे पुस्तक-विषयक दो सत्य मालूम हुए। एक उसके प्रकाशन के सम्बन्ध में, दूसरा उसके महत्त्व के विषय में। दूसरे सत्य से मैं सहमत नहीं। भिन्न-भिन्न भाषाओं की बात जाने दीजिए, हिन्दी में ही स्वामी विवेकानन्दजी की अनुवादित किताबें इससे अधिक विचारपुष्ट तथा विवेचन की उत्तम शृंखला लिये हुए हैं। स्वामी नारायणजी ने जो इस पुस्तक के पाठ से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संशयों के दूर होने की बात लिखी है, यह भी एक तमाशा-सा लगता है। किसी विषय की पुष्टि जितनी जबरदस्त होती है, उसका विरोध भी उतना ही पायदार हुआ करता है; वह चाहे किया न जाय, पर साथ रहता अवश्य है। इसीलिए सत्य को अव्यक्ता, वाणी और मन के द्वारा न समझा-समझाया जानेवाला कहा है।

फिर भी यह पुस्तक विषय के महत्त्व को देखते हुए निहायत अच्छी है। वेदान्त-ज्ञान महात्माओं का विषय है। वे सत्य के बहुत नजदीक पहुँचे हुए होते हैं। बाबा नगीनासिंहजी साहब ने उपदेशों द्वारा अपने ही अनुभव जाहिर किये हैं। सच्चा दर्शन हृदय की भाषा में अच्छा खुला है। उपदेश लोगों के बड़े काम के हैं। संसार का दाह इनके पाठ से कुछ काल के लिए प्रशमित होगा, और मन सच्चिदानन्द शाश्वत सत्ता में लीन। हमें विश्वास है, आस्तिक भक्त तथा ज्ञानी मनुष्य इस पुस्तक का आदर करेंगे।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935। असंकलित]

## शूल-फूल

कवि—श्री नरेन्द्र बी. ए.; प्रकाशक—साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या लगभग १००; आकार छोटा; सजिल्द; कागज, छपाई-सफाई उत्तम; मूल्य ।।)।

इधर बिहार-मध्यप्रान्त-युक्तप्रान्तादि हिन्दी-भाषी प्रदेशों के अनेक कवि अपनी नवीन रचनाओं के कोमल दलों की हिन्दी की उर्वरा भूमि में अंकुरित हुए हैं। श्री नरेन्द्र उन्हीं में से एक युक्तप्रान्तीय कवि हैं। यह 'शूल-फूल' नवयुवक कवि नरेन्द्र की प्रारम्भिक रचनाओं का संग्रह है। प्राक्कथन प्रयाग विश्वविद्यालय के अँगरेजी-विभाग के प्रधानाध्यापक पं. अमरनाथ झा का लिखा हुआ है। आपने लिखा है—"श्री नरेन्द्र में कवित्व-शक्ति है, प्रतिभा है, शब्दों पर आधिपत्य है। पदों में लालित्य है, और भाव-चमत्कार है।" 'शूल-फूल' के पढ़ने पर मेरी भी ऐसी ही राय हुई। प्राथमिक रचनाओं में, हाथ सधा न होने के कारण, शक्ति के स्फुरण से, साध्य चित्त की रेखाएँ कम्पित होकर कुछ बिगड़ जाती हैं; 'शूल-फूल' में कहीं-कहीं ऐसा हुआ है; इसका 'शूल-फूल' नाम इसलिए सार्थक, कवि के कल्पित सारल्य-सत्य का परिचायक है। यह 37 रचनाओं का संग्रह है। रचनाएँ लहरी, बन्धन, वर्षाश्री, निद्रा, भिखारिन, वेश्या, कंगाल, चिता आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर हैं। शूल की व्याख्या, इस संग्रह की पहली रचना शूल-फूल में नरेन्द्रजी ने जैसी की है, वह फूल की सौन्दर्य-महत्ता से भी बढ़ गयी है—

"मेरी डाली के शूल-फूल !  
सखि, नित्य विकसते जीवन में  
सुख-दुख, दुख-सुख के शूल-फूल !  
ये फूल फूल बहलाते मन  
सखि, शूल बधते जब मृदुतन;  
जब भूल फूल में जाता मन  
ये शूल जगा देते जीवन,—  
मेरी डाली के शूल-फूल—  
चिर - सहचर प्राण सहोदर हैं  
जीवन - डाली के शूल - फूल !"

शूल का जीवन जगा देना चमत्कार-पूर्ण है।

'शिव-स्तुति' में ओजस्विता के दर्शन होते हैं—

"नाचो रुद्र, नृत्य प्रलयंकर !—  
नाचो ताण्डव नृत्य भयंकर !!  
डर से डोले डगमग अवनी,  
सिहरे सागर, काँपे अम्बर !"

ऐसी रचनाओं की तरफ नरेन्द्रजी कुछ अधिक ध्यान दें, तो और अच्छा हो। भाषा को उठाने के लिए ओजस्विता पहले आवश्यक है। कविता का वह रूप सबसे मनोहर कहलाता है, जिसमें वज्र की गर्जना और ज्योति दोनों मिली हुई होती है। छोटी-छोटी ध्वनियों के रूप मन पर स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ते (मेरा मतलब काव्य-विचारवाली ध्वनि नहीं)। 'शूल-फूल' में सुन्दर रचनाएँ हैं, पर नरेन्द्रजी को इधर और आगे बढ़ना होगा—

"क्षुद्र रूप कोथा जाय बातासे उबिया
दुइ - चारि पलकेर पर।"
(रवीन्द्रनाथ)

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935। असंकलित]

## सोहाग की डिबिया

लेखक—पं. तारादत्त उप्रेती, प्रकाशक—नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ; कागज और छपाई-सफाई उत्तम, रंगीन चित्र पाँच, दो सादे—एक लेखक का, दूसरा जिन्हें पुस्तक समर्पित की गयी है—नवलकिशोर इस्टेट के मालिक श्री रामकुमारजी भार्गव का; पृष्ठ-संख्या १८६; मूल्य १), जिल्ददार १।)।

यह उप्रेतीजी की लिखी 'सोहाग की डिबिया' 9 मौलिक कहानियों का संग्रह है। भूमिका हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिक डॉ. हेमचन्द्र जोशी की लिखी हुई। डॉ. जोशी की शब्दावली में जो ओजस्विता है, वह भूमिका-लेखक के निर्भूमि विचारों का भ्रम-प्रदर्शन नहीं, कहानियाँ पढ़ने पर मालूम होता है, कहानियों की स्रोतस्वती पर पुल का काम करती है। डॉ. जोशी लिखते हैं—"उनकी प्रत्येक कहानी में पवित्रता की एक विशेष धारा बहती है, जो उनमें नयी चमक ला देती है। इससे सब कहानियों में एक ऐसी सरल मधुरता आ गयी है, जो हिन्दी में दुर्लभ है। इसके साथ-साथ लेखक ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि प्रत्येक कहानी में उन युवक-युवतियों का वर्णन हो, जो किसी भी समाज के रत्न गिने जायँ। इसका अर्थ यह नहीं कि उप्रेतीजी ने पापी हिन्दू-समाज की बुराइयों को अछूता छोड़ दिया है। उन पर भी तीव्र भाषा में आग के गोले बरसाये हैं कि वे भस्म हो जायँ।"

डॉ. जोशी का कहना सच है। उप्रेतीजी ने कहानियाँ नहीं लिखीं, हिन्दू-समाज को दिल्ली के 9 लड्डू दिये हैं। इनका मोह छोड़ना समाज के लिए प्रकृति से परे की बात है। ऐसी कहानियों को पढ़कर वर्तमान समाज का कोई भी सुरुचिसम्पन्न मनुष्य यह नहीं कह सकता कि ऐसी 'सोहाग की डिबिया' वह नहीं चाहता। इसमें देवियों की जो चाह, सेवा और श्रद्धा उनके पतियों के प्रति प्रकट हुई है, वह देव-लोक में भी दुर्लभ है। कविता की ऐसी ही भावमयी मूर्तियाँ समाज चाहता है। उप्रेतीजी ने समाज के मर्म को खोलकर रख दिया है। इसमें एक जगह है—"वर और वधू दोनों ने हिन्दू-धर्म-शास्त्रानुसार विवाह-मण्डप के नीचे बैठकर अग्नि एवं गो-ब्राह्मण के समक्ष वेद-मन्त्रों के उच्चारण द्वारा, आजीवन प्रेम-सूत्र में बँधे रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करने की शपथपूर्वक गम्भीर प्रतिज्ञा की।" इस भारतीय भावना की उप्रेतीजी ने खूब पुष्टि की है।

उनकी 'अछूत' कहानी में प्रभावती साक्षात देवी है। वह इस लोक में परलोक की प्रतिमा है। अछूत सुखिया के प्रति उसकी सहानुभूति वैसी ही है, जैसी मन्दिर की देवी की भक्तों पर स्नेह-दृष्टि। वह उसके बीमार बच्चे के लिए जो कुछ करती है, वह स्वर्गलोक की देवी भी नहीं कर सकती। वैद्यजी की तस्वीर ऐसी खींची है कि शब्दौषधि द्वारा वैद्यजी की दवा की जरूरत नहीं।

इस संग्रह में 'विमाता' मुझे सबसे अच्छी कहानी मालूम दी। इसमें मनोहर

बाबू की पहली स्त्री से हुए बच्चे प्रकाश की, विमाता के अनादर से, अन्त में मृत्यु हो जाती है। प्रकाश का चित्रण पाठक को रुला देता है—

"छोटा बबुआ प्रकाश को बहुत ही प्यारा लगता था, लेकिन विमाता के भय से वह उसे जी-भरकर खिला भी न सकता था। एक दिन बबुआ पालने में लेटा हुआ था, दुलारी भोजन बना रही थी। प्रकाश ने मुस्कराते हुए शिशु को देखा, उसको उसे गोद में लेने की प्रबल इच्छा हो उठी। धीरे-धीरे पास जाकर उसने पालने में से बबुआ को उठा लिया, किन्तु उसके दुर्बल हाथ उसे सँभाल न सके। बबुआ पालने में ही गद्दे पर गिर पड़ा और रोने लगा। दुलारी उसके रोने का शब्द सुनकर दौड़ी हुई आयी। प्रकाश अपराधी की नाई कमरे के एक कोने में जा खड़ा हुआ। दुलारी ने बबुआ को रोता हुआ छोड़कर प्रकाश को पीटना शुरू किया।" ऐसे चित्र इस संग्रह में अनेक हैं। मैं उप्रेतीजी को चित्रण-कुशल अवश्य कहूँगा। मुझे आशा है, ऐसी कहानियों द्वारा समाज के हृदय में पैठकर वह उचित शिक्षा के कारण बनेंगे।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1935। असंकलित]

## कामायनी

रचयिता—कविवर श्री जयशंकरजी 'प्रसाद'; प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या २६४; छपाई-सफाई अत्युत्तम; सजिल्द; मूल्य ३)।

'कामायनी' रहस्यवाद का प्रथम महाकाव्य है। सृष्टि के रहस्य पर मुख्य दो विचारधाराएँ हैं; एक भारतीय, दूसरी पाश्चात्य—डारविन-कृत। भारतीय विचार मनस्तत्त्व प्रधान है, डारविन का, जीव-जन्तुओं के विकास-क्रम को दिखाता हुआ। भारतीय विचार जहाँ मन को अवलम्ब स्वरूप लेता है—जड़ जगत को छोड़ देता है, वहाँ, उस क्रम को, जड़त्व में अध्यस्त मनुष्य नहीं समझ पाते। इसी प्रकार डारविन जहाँ जल में मल को प्राप्त कर सृष्टि का क्रम तैयार करता है, वहाँ विवेचक शंका करते हुए अविश्वास करते हैं कि निर्मल जल में इस मल का कारण कहाँ से आ गया। वास्तव में सृष्टि-तत्त्व के समझने के लिए माया की व्याख्या सबसे उत्तम है, यद्यपि हजारों वर्षों से आज तक बहुत कम लोगों की समझ में यह आयी है। इसी सृष्टि-तत्त्व का रूपक के आधार पर पुराणों में वर्णन आया है, जहाँ कश्यप, दिति और अदिति आदि की कथा है। पुनः देवता-विशेष की तारीफ में भी उसी देवता की सृष्टि हुई--वही सृष्टि का प्रधान है, कहा गया है। यहाँ, सब जगह, भिन्न-भिन्न शब्दार्थ की व्यापकता में समस्त सृष्टि है, ऐसा समझना पड़ता है। नहीं तो गड़बड़ी होती है। इसी प्रकार मनु से मनुष्य या मानव की उत्पत्ति हुई, ऐसा कहा गया है। मनु 'मन्' से बना है। 'मन्' की पैदा करने की ताकत—'मनु' बना देने की शक्ति—पर संसार के मनुष्यों को जितना भी तअज्जुब हो, व्याकरणशास्त्र को बिलकुल नहीं; इसी तरह 'मनुष्य' और 'मानव' 'मनु' के बच्चे हैं, व्याकरण मानता है। कविवर 'प्रसाद' मनु और श्रद्धा (कामायनी) को स्थूल रूप में भी मानते हैं। कवि प्राचीन इतिहास के जानकार हैं। इसलिए केवल रूपक पर नहीं रह सके।

स्थूल जगत को सामने देखते हुए, स्थूल रूप से ही, 'घटना' कहकर—वेद और ब्राह्मण के अनेक उद्धरण देकर उन्होंने मनु और श्रद्धा के देह की पुष्टि की है, और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राप्त कथानुकूल वर्णनों से इस महाकाव्य की रचना की।

हिन्दी के युगान्तर साहित्य के जो तीन प्रजापति हैं, उनमें प्रसादजी एक 'श्रद्धा-देवो वै मनुः' हैं। बाकी दो स्वर्गीय प्रेमचन्दजी और बाबू मैथिलीशरणजी। कवि-वर प्रसाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा हिन्दी में क्या चमत्कार पैदा कर चुकी है, इसके परिचय की आवश्यकता नहीं। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रबन्ध और आलोचनाओं की अल्पता और विस्तार के भीतर से उनकी जिस प्रधान भावना का स्रोत बहा है, आज हिन्दी के विशाल क्षेत्र पर उसी का कलरव अधिक सुनायी दे रहा है। साहित्य का उनका रहस्यवादी या छायावादी पक्ष एक ओर करने पर हिन्दी का अष्टवज्र सम्मेलन होता है और प्रसादजी इसके सर्वमान्य प्रधान। 'कामायनी' ऐसे कवि की रचना है।

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह!
नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन।

क्या कहना है!—ऊपर बर्फ-ही-बर्फ, नीचे केवल जल!—फिर भी एक ही तत्त्व की प्रधानता!—उसे जड़ कहो या चेतन!—ये 'कामायनी' की पहली आठ पंक्तियाँ हैं। कवि ने कामायनी का सार-तत्त्व इन पंक्तियों में रख दिया है—उसे जड़ कहो या चेतन!—मनस्तत्त्व की सृष्टि कहो या जड़-जगत् की;—मनुष्य को चिन्मय रूप से सृष्टि मानो या स्थूल रूप से। 'मैकबेथ' के प्रारम्भ में महाकवि शेक्सपीयर ने नाटक का पूरा भाव जैसे एक गीत में दरसा दिया है, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का पूरा तत्त्व कवि-कुल-गुरु कालिदास ने जैसे 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या'-वाले पद्य में बाँध दिया है, वैसे ही वर्तमान युग के प्रवर्तक कविश्रेष्ठ प्रसादजी ने उद्धृत आठ पंक्तियों में मानव-सृष्टि-तत्त्व की अपूर्व रचना 'कामायनी' की व्याख्या-सी कर दी है।

'कामायनी' की कथा प्रसादजी ने बड़े अच्छे आधार पर खड़ी की है। वैदिक काल में महाभूकम्प हुआ था, जब पंचनद के पास से समुद्र हटा, हिमालय उठा, भारत का नया रूप तैयार हुआ। तब तक आर्य-संस्कृति का विस्तार हो गया था। पर ऋषि दिव्य भाव में रहते थे। बुद्धि के द्वारा मानव-भाव में आकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं चाहते थे। वैवस्वत मनु प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने मानव-पन को अपनाया—बुद्धि का प्राधान्य माना। इसका कारण वही भौतिक भीषण उत्पात है, जिससे सृष्टि एक प्रकार से नष्ट हो गयी। बुद्धि के द्वारा मनु के मनुष्यों को प्रकृति से लड़कर विजय प्राप्त करने की ओर सम्मुखीन किया, मुमकिन, इसी भाव से वह मनुष्यों के जनक माने गये हों। धातुगत भाव से और अर्थ भी आते हैं, पर यह अधिक संगत मालूम देता है, कम-से-कम यहाँ। मनु के मनुष्य बनाने की यह कथा बड़े अच्छे ढंग से प्रसादजी ने वर्णित की है। मनु पहाड़ी प्रान्त में हैं, जब प्राकृतिक भीषण उत्पात होता है। श्रद्धा नाम की एक युवती से उनकी

मुलाकात होती है। वह उसके स्नेह-पाश में बँध जाते हैं। उत्पात कम होने पर वह आर्य-भूमि की ओर चलते हैं; वह सारस्वत प्रदेश उजड़ा मिलता है। वहीं इड़ा से इनकी मुलाकात होती है। इड़ा बुद्धि की देवी है। इड़ा की सहायता से मनु उजड़ा प्रदेश आबाद करते हैं। संस्कृति नये रूप में चमकती है। मानव मानव बनता है। पर मनुष्य के रूप से मद में आकर मनु इड़ा पर अधिकार करना चाहते हैं, जिससे उनका पतन होता है। इस समय श्रद्धा आती है। मनु को शान्ति मिलती है।

इस कथा को महाकाव्य 'कामायनी' में कविवर प्रसादजी की लेखनी जिन रूपों में चित्रित करती है, देखते ही बनते हैं। ऐसी किताब, मनुष्यमन का इतना अच्छा चित्र, जिस समझदारी के साथ चित्रित हुआ, मैंने हिन्दी और बंगला के नवीन साहित्य में नहीं देखा। काव्य के सुन्दर-से-सुन्दर पद इसमें हैं। कुल पन्द्रह प्रकरणों में यह महाकाव्य समाप्त हुआ है। मैं इसकी विस्तृत आलोचना अन्य लेख में दे रहा हूँ, इसलिए इसे यहीं समाप्त करता हूँ।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1937। **चयन** में संकलित]

## होमियोपैथिक चारुचिकित्सा
## (स्त्री व बालरोग)

लेखक और प्रकाशक—डा. बाबा सी. सी. सरकार एम. एम. बी. प्रोफेसर, होमियोपैथिक मेडिकल कालेज, लखनऊ। साधारण संस्करण २॥), सजिल्द ३); पृष्ठ-संख्या प्राय: ४५०। छपाई-सफाई साधारण अच्छी। डॉ. सी. सी. सरकार, होमियोपैथिक-चारुचिकित्सा-कार्यालय, यदुनाथ सान्याल रोड, लखनऊ को लिखने पर मिलेगी।

आज होमियोपैथिक चिकित्सा का संसार भर में प्रचलन है। घरेलू चिकित्सा के रूप से इसी का घर-घर प्रवेश है; यों बाजार में भी इसने अन्य चिकित्साओं की तरह अपनी जड़ जमा ली है। इसके बड़े-बड़े डाक्टर हो रहे हैं। उनकी संघशक्ति सुप्रतिष्ठित मानी जाती है। उनकी सभा-समितियाँ होती हैं और आपस में वे अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। यदि चिकित्सा संसार के अपर भागों में ही नहीं, भारत में भी पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गयी है। यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं में इसके अनेकानेक अनुवाद निकल चुके हैं। हिन्दी में भी कुछ प्रकाशित-अप्रकाशित अनुवाद हैं, जिनका मुझे अच्छा ज्ञान है। अनुवादकों में मेरे मित्र भी हैं।

डा. सरकार से, लखनऊ रहते समय, इस विषय पर मेरी बातचीत हुई। उनके एतद्विषयक सूक्ष्म बोध से खिंचकर उनका अनुवाद-कार्य देखने के लिए मैं उनके यहाँ गया, और उनके परिश्रम और मनन का निरीक्षण कर प्रभावित हुआ। उन्होंने अन्यान्य अनुवादों में जो गलतियाँ दिखायीं, वे सही मालूम दीं। पुन: हिन्दी-भाषी प्रान्तों में होमियोपैथिक चिकित्सा की कमी पर उनकी आवेशभरी बातचीत मेरी आँखों में उनकी दक्षता, लगन, प्रेम और शक्ति का चित्र खींच रही थी। नि:सन्देह उन्हें अपने विषय का ऊँचा अध्ययन और अनुभव है।

इस चिकित्सा पर डा. सरकार की यह दूसरी पुस्तक है। पहली पुस्तक, इस

चिकित्सा का पहला भाग, ज्वर पर है। उसकी हिन्दी और अँगरेजी के पत्रों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। आपकी दूसरी पुस्तक भी यथेष्ठ प्रशंसित हुई है। इस पुस्तक के पाँच भाग आप निकालेंगे। एक यह प्रकाशित है, दूसरा छप रहा है।

आपकी पुस्तक केवल अनुवाद नहीं। इसमें आपका अपना वैज्ञानिक निरूपण है, जिससे साधारण-से-साधारण पढ़े-लिखे लोग और देवियाँ अच्छी तरह अपने रोग को समझकर इलाज कर सकें, उनका ज्ञान भी वृद्धि प्राप्त करे। केवल रोग और लक्षण ही नहीं लिखे गये, उनके स्वरूप का वैज्ञानिक निर्णय भी किया गया है, और उसी उपाय से विधान बतलाया गया है। इसमें डा. सरकार का अनुभव और मननशीलता ही प्रधान है। मैंने डा. सरकार के पास पुस्तक के खरीदारों के पत्र भी देखे, जिनमें प्रेषकों ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है और लिखा है कि ऐसी पुस्तक के लिए वे आपके कृतज्ञ हैं। उन्होंने हिन्दी की इस विषय की पुस्तकों की निन्दा भी की है। मैं समझता हूँ, जहाँ अधिक व्यय करके भी लोग अधूरा इलाज पाते हैं, वहाँ डा. सरकार के विधान अवश्य ही आदृत होने चाहिए। इससे अर्थ और स्वास्थ्य दोनों का कल्याण है। डा. सरकार की किताब उनके सूक्ष्म विवेचन और निरूपणों से कितने अधिक महत्त्व की है, यह मैं इतने से शब्दों में नहीं कह सकता। हिन्दी-भाषी सर्वसाधारण इसे मँगाकर, सत्य की परीक्षा कर अत्यधिक उपकृत होंगे, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। उनकी आधुनिक संस्कृति, शिक्षा, ज्ञान, स्वास्थ्य और अर्थ वृद्धि प्राप्त करे, मैं हृदय से चाहता हूँ। देवियाँ अवश्य इस पुस्तक से लाभ उठायें।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1939। असंकलित]

## श्रीरामकृष्ण-आश्रम, धन्तोली, की पुस्तकें

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव की युगावतार के रूप से आज समस्त संसार में पूजा होती है। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द चरित्र और विकास में भारत के सच्चे प्रतिनिधि और आदर्श नेता हैं। जड़वाद के प्राबल्य के साथ-साथ भारत में श्रीरामकृष्ण से चेतनता की तरंग उठती है, और स्वामी विवेकानन्द द्वारा समस्त संसार में व्याप्त हो जाती है। जड़वाद अपने लक्ष्य से गिर जाता है, जहाँ उसका लक्ष्य जड़ होता है। चेतनवाद अपने लक्ष्य में चेतन को रखकर गिरता नहीं, पुनः वह जड़ का विरोध नहीं करता; क्योंकि उसके स्वभाव में ही विरोध नहीं। चेतन के आश्रय से जड़ की भी उन्नति हुई है, होती है। इसका हम यहाँ अधिक विवेचन नहीं करेंगे। भारतीयता की यही विजय है कि वह मनुष्य को उसकी सुविधा देती हुई, विकास करती हुई, उसे उस लक्ष्य पर पहुँचाती है, जहाँ जड़वाद की पहुँच नहीं। लेकिन शिक्षा, संस्कार, संग आदि के कारण, इस तरफ़ से भारतीयों की ही आँखें बन्द होती जा रही हैं; वे कारण तक न पहुँचकर, केवल कार्य देखकर प्रभावित हो रहे हैं। इस समय देश की ऐसी हीन दशा है, फिर भी देश के त्यागी युवक, विद्याध्ययन कर, स्वामी विवेकानन्दजी के प्रतिष्ठित रामकृष्ण-मिशन में आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करके देश तथा विश्व की सेवा के लिए अधिक-से अधिक संख्या में निकल रहे हैं। इस देश की सेवा-शुश्रूषा सबसे पहले रामकृष्ण-आश्रम ने शुरू की।

ज्ञानकाण्ड का सही-सही रूप लोगों के सामने इसी ने सबसे पहले रक्खा। स्वामी विवेकानन्दजी देश के कितने महान पुरुष थे, यह हिन्दीभाषी बहुत कम लोग जानते हैं। जिन्होंने स्वामीजी की अँगरेजी किताबें या दूसरे प्रकाशकों के निकाले हुए हिन्दी-अनुवाद देखे हैं, वे थोड़ा-बहुत जानते हैं; फिर भी उन पर स्वामीजी की प्रसिद्धि का और विद्वत्ता का जितना प्रभाव है, उतना उनके विषय-विवेचन का नहीं।

यह बड़ी खुशी की बात है कि स्वामी भास्करेश्वरानन्दजी, अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी. परमहंस श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी श्रीविवेकानन्दजी के साहित्य का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। इससे पहले रामकृष्ण-मिशन के विद्वान संन्यासी स्वामी माधवानन्दजी ने 'समन्वय' नाम का सुन्दर मासिक अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, से निकाला था। मुझे ढाई साल तक स्वामीजी के सहयोग में पत्र का काम करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। मैं स्वामीजी की हिन्दीका —उनके सहृदय महत्तम व्यक्तित्व का— उनकी विद्वत्ता और चरित्र का भक्त हूँ। ऐसी प्रतिभा मैंने नहीं देखी। लेकिन बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि इतने सुन्दर सुसम्पादित विवेचनापूर्ण पत्र का हिन्दी में प्रचार नहीं हुआ। कुछ साल तक घाटा बर्दाश्त करते हुए आश्रम ने पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया। कुछ दिनों के बाद स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई, उस समय के रामकृष्ण-मिशन के प्रेसिडेण्ट स्वर्गीय स्वामी शिवानन्दजी महाराज की आज्ञा से स्वामी भास्करेश्वरानन्दजी ने धन्तोली, नागपुर, से हिन्दी में रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य का प्रकाशन शुरू किया। हिन्दीभाषियों के लिए स्वामीजीयों की देख-रेख से निकले हुए रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य की एकान्त आवश्यकता है। स्वामीजी ने इस प्रकाशन से हिन्दी की एक कमी पूरी की।

**श्रीरामकृष्ण-लीलामृत**—(दो भागों में) अनुवादक—पं. द्वारकानाथ तिवारी बी. ए., एल-एल. बी.; प्राक्कथन महात्मा गाँधी द्वारा लिखा हुआ; पृष्ठ-संख्या प्रथम भाग ३३७, दूसरा भाग ३९० ; मूल्य प्रथम भाग का १। = ) ; दूसरे भाग का १।।); सजिल्द। छपाई-सफ़ाई और कागज साधारण अच्छा; श्रीरामकृष्ण-आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी. को लिखने से पुस्तक मिलेगी।

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव का ऐसा जीवन-चरित्र हिन्दी में न था। प्रस्तुत पुस्तक स्वर्गीय श्री ना. रा. पराँजपे की लिखी मराठी-पुस्तक का अनुवाद है। मराठी पुस्तक की सामग्री श्रीरामकृष्ण के अत्यन्त प्रामाणिक जीवनचरित—उन महापुरुष के एक मुख्य शिष्य स्वामी शारदानन्दजी महाराज की लिखी बंगला-पुस्तक 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग'—से ली गयी है। इसके अलावा कई अँगरेजी और बंगला-पुस्तकों का आधार लिया गया है।

महात्मा गाँधी अपने प्राक्कथन में लिखते हैं—"श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन-चरित्र धर्म के व्यावहारिक आचरण का विवरण है। उनका जीवन-चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने देखने की शक्ति देता है। उनके चरित्र को पढ़नेवाला मनुष्य इस निश्चय को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता कि केवल ईश्वर ही सत्य है और शेष सब मिथ्या-भ्रम है। श्रीरामकृष्ण ईश्वरत्व की सजीव मूर्ति थे।…इस सन्देहवादी युग में श्रीरामकृष्ण सजीव और प्रज्वलित धार्मिक विश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप हैं। इसी उदाहरण के कारण ऐसे सहस्रों स्त्री-पुरुषों की आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई है, जिन्हें अन्यथा आध्यात्मिक प्रकाश से वंचित रहना पड़ता।… मेरी यही प्रार्थना है कि उनका दिव्य प्रेम इस जीवन-चरित्र के सभी पाठकों को

ग्रन्तःस्फूर्ति दे।"

प्रस्तुत पुस्तक के दोनों भाग श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला के 11वाँ-12वाँ पुष्प हैं। प्रथम भाग में श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि 'कामारपुकुर' गाँव और उनके माता-पिता का परिचय, उनकी माता चन्द्रादेवी के ग्रनुभव, उनका जन्म, बालचरित्र और पितृवियोग, उनकी किशोरावस्था, यौवन का ग्रारम्भ, साधकभाव का ग्रारम्भ, रानी रासमणि और दक्षिणेश्वर, पुजारी-पद-ग्रहण, व्याकुलता और प्रथम दर्शन, मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण, साधना और दिव्य उन्माद, प्रथम चार वर्ष की ग्रन्य घटनाएँ, विवाह और पुनरागमन, भैरवी ब्राह्मणी का ग्रागमन, वैष्णवचरण और गौरी पण्डित का वृत्तान्त, क्षुधा और गात्रदाह, ब्राह्मणी चन्द्र और गिरिजा का वृत्तान्त, तन्त्रशास्त्र का संक्षिप्त परिचय, श्रीरामकृष्ण का तन्त्र-साधन, जटाधारी और वात्सल्य-भाव-साधन, भिन्न-भिन्न साधुसम्प्रदाय, पद्म-लोचन और नारायण शास्त्री, मधुरभावसाधन ग्रादि विषय हैं।

द्वितीय भाग में रामकृष्ण का वेदान्तसाधन, इस्लामधर्म और जन्मभूमिदर्शन, श्रीरामकृष्ण की तीर्थयात्रा, हृदयराम का वृत्तान्त, मथुर की मृत्यु और षोडशीपूजा, साधकभावसम्बन्धी कुछ और बातें, श्रीरामकृष्ण का गुरुभाव, ग्रसाधारण गुणोत्कर्ष, श्रीरामकृष्ण की शिष्यपरीक्षा, श्रीरामकृष्ण का शिष्य-प्रेम, श्रीरामकृष्ण की शिक्षणपद्धति, श्रीरामकृष्ण की विषय-प्रतिपादन करने की शैली, श्रीरामकृष्ण और श्रीकेशवचन्द्र सेन, ब्राह्म-समाज और श्रीरामकृष्ण, मणिमोहन मल्लिक के घर में ब्रह्मोत्सव, श्रीरामकृष्ण के पास भक्तमण्डली का ग्रागमन, नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) का परिचय, श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ, पानीहाटी का महोत्सव, कलकत्ते में श्रीरामकृष्ण का ग्रागमन, श्रीरामकृष्ण का श्यामपुकुर में निवास, काशीपुर में ग्रन्तिम दिन और महासमाधि ग्रादि विषय हैं।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध, जीवनचरितोपम है। श्रीरामकृष्ण का जीवन, उनकी लीला यहाँ के साधारण जनों के ग्रस्थिमज्जागत भाव हैं, पढ़कर नयी स्फूर्ति पाते हैं, जिनसे वास्तव में मनुष्य ही नयी शक्ति से भर जाता है। ऐसी पुस्तक का प्रति पुस्तकालय, प्रति वाचनालय, प्रति संस्था और प्रति घर रहना ग्रावश्यक है। रामकृष्ण नवीन धर्मसमूह के जीवित सिद्धान्त हैं। मनुष्य उनकी लीला पढ़कर, उनमें रहकर, स्वयं धर्मसमन्वय बनता है। भारत को ऐसे महापुरुष की जैसी ग्रावश्यकता थी, भारतीयों को उनके चरितपाठ की, साधना की, सिद्धि की वैसी ही ग्रावश्यकता है।

**प्राच्य और पाश्चात्य**—लेखक—स्वामी विवेकानन्द, प्रकाशक—पूर्वोक्त, छपाई-सफाई ग्रच्छी। मूल्य ग्राठ ग्राने।

ग्रनुवादक का नाम नहीं। प्रकाशक ने निवेदन में लिखा है—"यह मूल बंगला में लिखी हुई पुस्तक का ग्रकृत्रिम और ग्रक्षरशः ग्रनुवाद है। हिन्दू-राष्ट्र-निर्माण के परिपोषक विचारों का विवेकपूर्ण विवेचन इस पुस्तक में ग्रत्यन्त सुलभ और स्फूर्तिदायिनी भाषा में किया है।"

इस पुस्तक में वर्तमान भारत का बाहरी रूप, पाश्चात्य की दृष्टि में प्राच्य, प्राच्य की दृष्टि में पाश्चात्य, प्रत्येक जाति के विभिन्न जीवनोद्देश्य, प्राच्य का उद्देश्य मुक्ति और पाश्चात्य का धर्म, प्राच्य जाति ईसू और पाश्चात्य जाति कृष्ण के उपदेश का ग्रनुसरण करते हैं, स्वधर्म की रक्षा ही जातीय कल्याण का उपाय है, फ्रांसीसी, ग्रँगरेज और हिन्दुग्रों के दृष्टान्त से उक्त तत्त्व का समर्थन, धर्म के ग्रलावे और किसी दूसरी चीज से भारत के जातीय जीवन की प्रतिष्ठा ग्रसम्भव

है, शक्तिमान पुरुष ही सब समाजों का परिचालक है, पाश्चात्य देशों में राजनीति के नाम पर दिन में लूट, मनुष्य बनिये, पाश्चात्य जाति के गुणों को साँचे में ढाल-कर लेना होगा, वर्ण-भेद का कारण, आर्य जाति, आर्य जाति का गठन और वर्ण, हिन्दू और आर्य, प्राच्य और पाश्चात्य की साधारण भिन्नताएँ, पाश्चात्य देश-वासियों का धर्म शक्तिपूजा है, फ्रांस-पेरिस, भारतवर्षीय सभी सम्प्रदायों की मूलभित्तिस्वरूप परिणामवाद, पाश्चात्यमत से समाज का क्रमविकास, कृषक-जीवन, विवाह का आदितत्त्व, कृषिजीवी देवता और मृगयाजीवी असुरों का सम्बन्ध आदि विषयों पर स्वामी विवेकानन्दजी की सच्ची विचारधारा अँधेरे पर किरण का काम करती है। मालूम देने लगता है, वे जो कुछ कह रहे हैं, इससे बेहतरीन तरीका हमारी भलाई का दूसरा नहीं हो सकता। जहाँ हिन्दू शब्द से जड़ जाति का बोध होता है, वहाँ सुसंस्कृत सभी भारतवासियों का अधिकार समझना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ऐसे मनुष्य नहीं थे, जो एक को ठगकर दूसरे को देते। उन्होंने आदमियत को निगाह में रखते हुए भारतीयता का तत्त्व समझाया है। यों मनुष्यमात्र को वे ऊँचे ज्ञान का अधिकारी समझते हैं—हस्ती किसी की भी नहीं मिटाना चाहते। यह पुस्तक स्वामी विवेकानन्दजी की बहुत ही प्रसिद्ध पुस्तकों में से है। अनुवाद में शुरू में जब भी संस्कृतबहुल शब्द काफ़ी आये हैं, फिर भी यह अंश थोड़ा है, बाद का अनुवाद समझते हुए साधारण पठित जनों को भी दिक्कत नहीं होगी। स्वामीजी के लिखने का ढंग कितना रोचक होता है, लिखना अनावश्यक है।

**आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**—लेखक—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक—श्रीमधुसूदन एम. ए., एल-एल. बी., प्रकाशक—पूर्वोक्त, छपाई-सफाई अच्छी, स्वामी विवेकानन्दजी की ध्यानमूर्ति के साथ। मूल्य ॥)।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्दजी के अमेरिका में दिये हुए कुछ भाषणों का अनुवाद है। पहले भाषण में आत्मानुभूति की सीढ़ियाँ, दूसरे में व्यवहार्य आत्मबोध की सूचनाएँ, तीसरे में मन का सामर्थ्य (राजयोग), चौथे में स्फुट गोप्य (ज्ञानयोग), पाँचवें में भक्ति और उपासना (भक्तियोग), छठे में कर्म तथा उसका रहस्य (कर्मयोग) है। स्वामी विवेकानन्दजी की विषय-प्रतिपादनशैली अद्भुत होती है। वह जैसी सरल, वैसी ही तीव्र और मर्मस्पर्शिनी होती है। विषय का उत्थापन, संचालन, प्रतिपादन वगैरह स्वामी विवेकानन्दजी की पुस्तकों से कोई सीख ले। अद्भुत ऐन्द्रजालिक शक्ति है उनमें। इस छोटी-सी पुस्तक में बड़ी सहूलियत से आत्मानुभूति का प्रसंग—योग, ज्ञान, भक्ति, कर्म—समझाया गया है। थोड़े में सबकुछ। अनुवाद की भाषा बड़ी सुन्दर हुई है। हमें विश्वास है, हिन्दीभाषी जनता अधिक संख्या में पुस्तक पढ़ेगी।

**प्रेमयोग**—लेखक—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक—पं. द्वारकानाथ तिवारी बी. ए., एल-एल. बी., प्रकाशक—पूर्वोक्त, छपाई-सफाई अच्छी, स्वामीजी के एक सुन्दर चित्र के साथ, मूल्य ॥)।

प्रेमयोग में पूर्व साधना, प्रथम सोपान या भक्ति की प्रथम सीढ़ियाँ, भक्ति के आचार्य, प्रतिभा की आवश्यकता, प्रतिभा के भेद, इष्ट, पूर्वभक्ति और पराभक्ति आदि विषय बड़ी सहृदयता से समझाये गये हैं। भक्तों के बड़े काम की पुस्तक है। भक्ति का विज्ञान स्वामीजी की वाणी से परिस्फुट हो गया है। अनुवाद की भाषा सरल, सरस और प्रांजल है।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1940। **चयन** में आंशिक रूप से संकलित]

लेखिका—श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा; प्रकाशक—चौधरी राजेन्द्रशंकर, युग-मन्दिर, उन्नाव; छपाई-सफाई और कागज उत्तम; पृष्ठ-संख्या १२०; मूल्य एक रुपया।

यह किताब श्रीमती सुमित्राकुमारीजी की 11 कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ मौलिक और बिलकुल नया रुख लिये हुए हैं। एक प्रतिष्ठित परिवार की महिला के कलम से ये जो मनोभाव इन कहानियों में निकले और परिपुष्ट हुए हैं, एकाएक एक पुराने पाठक को तअज्जुब में डाल देते हैं। प्रेम के सम्बन्ध में बदलती हुई धारणा में महिलाओं की प्रतिनिधि की हैसियत से, कवयित्री सुमित्राकुमारी ने बड़ी निर्भीकता दिखलायी है। स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष के विचार शुद्ध हों—अशुद्ध, प्राचीन हों—नवीन, स्त्री के विचार के सामने मान्य नहीं हो सकते। यद्यपि योरप में एक सदी पहले से क्रिश्चियन आदर्श की नारी का मजाक उड़ाना शुरू हो गया था—नारी-स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द की गयी थी; और, वैज्ञानिक युग की प्रतिष्ठा के साथ-साथ स्त्रियों के स्वातन्त्र्य का महत्त्व बढ़ा था, फिर भी कल तक हिन्दोस्तान में ऐसी बात न थी। साहित्य के पृष्ठों में नारी का जो रूप था, वह बहुत-कुछ प्राचीन सम्बन्ध लिये हुए ही था। एक घटना याद आती है; विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ को किसी आधुनिक तरुणी ने, जो अपने को कवि की नातिन समझती थी, एक चिट्ठी लिखी थी। लिखा था, आपने अपनी कहानियों और उपन्यासों में जितनी स्त्रियों के चित्रण किये हैं, उनमें कोई भी चित्रण आधुनिक नारी की नजर में सही नहीं।—आप आधुनिका को समझ नहीं पाये। रवीन्द्रनाथ बरदाश्त करने-वाले मनुष्य नहीं। इस पर उन्होंने एक लम्बी कविता लिखी। उसकी दो पंक्तियाँ हैं—

"आधुनिका जारे बले तारे आॅमी चिनि जे।
तारी काछे कवियशे बारो आना ऋणी जे।"

(जिसे आधुनिका कहते हैं, उसे मैं पहचानता जो हूँ, उसी के पास कवियश में बारह आना ऋणी हूँ।)

वास्तव में, यह रवीन्द्रनाथ की भूल है। उनकी आधुनिका वैसी नहीं, जैसी के लिए उनकी नातिन ने लिखा था।

बात यह कि भारतवर्ष की नारियों की व्यापक रूप से निगाह बदली हुई है। हिन्दी-भाषिणी महिलाओं की तरफ से सुमित्राजी ने इन कहानियों में महिला-समाज की दृष्टि रक्खी है। इस पुस्तक का मेरे विचार में यही महत्त्व-रूप है और ध्यान देने योग्य।

विद्वान भूमिका-लेखक श्री रामविलास शर्मा लिखते हैं—"भारतीय दाम्पत्य जीवन का...प्रश्न अपनी विचित्र कटुता के साथ बार-बार इन कहानियों में पाठक के सामने आवेगा। उनमें इसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि समस्या पूरी तरह सुलझ गयी है, लेकिन यह भी क्या कम है कि उसकी विकट उलझन का हमें इतना सजीव चित्रण मिलता है! अधिकांश नये लेखक-लेखिकाओं की रचनाओं में एक अतृप्त आकांक्षा का आभास तो रहता है पर निर्जीव होकर, जैसे वे अपनी पराजय को अपने गले लगाये रखना चाहते हैं।...वैसी रचनाओं से यह पुस्तक भिन्न है।" इससे मैं सहमत हूँ।

पुस्तिका की भाषा प्रगतिशील है। हमारे यहाँ बहुत-से प्रगतिशील लेखक हैं, जिनमें कुछ की ही भाषा प्रगतिशील कही जा सकती है। अँगरेजी-साहित्य में श्यली-कीट्स से वाइल्ड तक जिस भावप्रधान भाषा की अनेकानेक तरंगें देखने को मिलती हैं, वह बाद को बदल जाती है यथार्थता लेकर, और यही महायुद्ध के बाद बिलकुल नयी रूपरेखा से सामने आती है। सुमित्राजी की भाषा में कल्पना काफी है, शायद उनके कवि होने के कारण, पर भाषा में यथार्थत्व के दर्शन अच्छी तरह होते हैं।

प्रायः सभी कहानियों में एक नारी से भिन्न पुरुष या बहुप्रेम की कथा वर्णित है। प्रेम की दार्शनिक व्याख्या भी है। पर (दाम्पत्य) सुख के सम्बन्ध में जैसा लेखिका ने एक जगह स्वयं लिखा है—"दुनिया इतने सुख की जगह नहीं है, जितना मनुष्य सोचता है।" मुझे बिलकुल सत्य मालूम देता है। इसीलिए यहाँ प्रेम, सुख निवृत्तिमूलक रक्खे गये हैं। फिर भी मैं ऐसी प्रगति का हृदय से स्वागत करता हूँ। मुझे आशा है, हिन्दीभाषी जनता इस पुस्तक से अपने घर की महिलाओं की मानसिक स्थिति समझेगी। और कर सके तो यथोचित करेगी, नहीं तो देवियाँ तो कमर कसकर तैयार हैं ही। मैं कवयित्री लेखिका को ऐसे मुक्त विचारों के लिए धन्यवाद देता हूँ।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1941। असंकलित]

ooo

7?797

निराला

## सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

**जन्म** : 21 फरवरी, 1899 (स्थान : बंगाल के मेदिनीपुर जिले का महिषादल नामक देशी राज्य। मूल निवास : उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले का गढ़ाकोला नामक गाँव) **मृत्यु** : 15 अक्टूबर, 1961 (दारागंज, इलाहाबाद) **शिक्षा** : हाई स्कूल तक। हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्राप्त किया। **वृत्ति** : प्रायः 1918 ई० से लेकर 1922 ई० के मध्य तक महिषादल राज्य की सेवा में। उसके बाद से सम्पादन, स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। 1922-23 ई० में 'समन्वय' (मासिक, कलकत्ता) का सम्पादन। 1923 ई० के अगस्त से 'मतवाला'-मण्डल में। 'मतवाला' से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में 1929 ई० के मध्य तक बना रहा। इस बीच स्वतन्त्र लेखन और बाजार का काम' भी करते रहे। कलकत्ता छोड़ा तो लखनऊ आये, जहाँ गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय और वहाँ से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 ई० के मध्य तक सम्बद्ध रहे। प्रायः 1940 ई० तक लखनऊ में। तत्पश्चात् कभी इलाहाबाद और कभी उन्नाव में। 1942-43 ई० से स्थायी रूप में इलाहाबाद में रहकर स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। **साहित्य** : पहली प्रकाशित कविता : 'जन्मभूमि' ('प्रभा', मासिक, कानपुर, जून, 1920)। पहला प्रकाशित निबन्ध : 'बंगभाषा का उच्चारण' ('सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920)। पहली प्रकाशित पुस्तक : **अनामिका** (1923 ई०)। प्रमुख कृतियाँ : **परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली** (कविता), **अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा** (उपन्यास), **लिली, चतुरी चमार** (कहानी), **रवीन्द्र-कविता-कानन, प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, चयन, संग्रह** (निबन्ध) और **महाभारत** (पुराकथा)।

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला;
ढहा और तन टूट चुका है,
पर जिसका माथा न झुका है;
शिथिल त्वचा, ढलढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय पताका—
यह कवि है अपनी जनता का।

रामविलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली - पटना